कल्याण-साधनांक

प्रथम खण्ड

श्रीहरिः

साधनाङ्ककी विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

कविता

संकलित

चित्र-सूची

सुनहरी

बहुरंगे

इकरंगे

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ६५)

वर्ष १५ } गोरखपुर, अगस्त १९४० सौर श्रावण १९९७ { संख्या १
पूर्ण संख्या १६९

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

हे प्रभो ! त्रयी (वेदमार्ग), सांख्य, योग, पाशुपत मत, वैष्णव मत सभी आपकी प्राप्तिके ही मार्ग हैं । रुचि-वैचित्र्यके कारण ही 'यह श्रेष्ठ है, वह हितकारी है' इस प्रकार उनमें पृथक्ता प्रतीत होती है । हे प्रभो ! जैसे समस्त नदी-नालोंका जल समुद्रमें ही जाता है, वैसे ही सीधे-टेढ़े सभी साधन-मार्गोंसे यात्रा करनेवाले मनुष्योंके गन्तव्य स्थान एकमात्र आप ही हैं ।

कल्याणकारी सङ्कल्प

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जो जागते हुए पुरुषका दूर चला जाता है और सोते हुए पुरुषका वैसे ही निकट आ जाता है, जो परमात्माके साक्षात्कारका प्रधान साधन है, जो भूत, भविष्य, वर्तमान, सन्निकृष्ट और व्यवहित पदार्थोंका एकमात्र ज्ञाता है और जो विषयोंका ज्ञान प्राप्त करनेवाले श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका एकमात्र प्रकाशक और प्रवर्तक है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ॥१॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

कर्मनिष्ठ एवं धीर विद्वान् जिसके द्वारा यज्ञिय पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करके यज्ञमें कर्मोंका विस्तार करते हैं, जो इन्द्रियोंका पूर्वज अथवा आत्मस्वरूप है, जो पूज्य है और समस्त प्रजाके हृदयमें निवास करता है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ॥२॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जो विशेष प्रकारके ज्ञानका कारण है, जो सामान्य ज्ञानका कारण है, जो धैर्यरूप है, जो समस्त प्रजाके हृदयमें रहकर उनकी समस्त इन्द्रियोंको प्रकाशित करता है, जो स्थूलशरीरकी मृत्यु होनेपर भी अमर रहता है और जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ॥३॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्
परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जिस अमृतस्वरूप मनके द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्यत्सम्बन्धी सभी वस्तुएँ ग्रहण की जाती हैं और जिसके द्वारा सात होतावाला अग्निष्टोम यज्ञ सम्पन्न होता है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ॥४॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन्
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिꣳश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जिस मनमें रथचक्रकी नाभिमें अरोंके समान ऋग्वेद और सामवेद प्रतिष्ठित हैं तथा जिसमें यजुर्वेद प्रतिष्ठित है, जिसमें प्रजाका सब पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाला सम्पूर्ण ज्ञान ओतप्रोत है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ॥५॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्या-
न्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

श्रेष्ठ सारथि जैसे घोड़ोंका सञ्चालन और रासके द्वारा घोड़ोंका नियन्त्रण करता है, वैसे ही जो प्राणियोंका सञ्चालन तथा नियन्त्रण करनेवाला है, जो हृदयमें रहता है, जो कभी बूढ़ा नहीं होता और जो अत्यन्त वेगवान् है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ॥६॥

(यजुर्वेदसंहिता ३४।१—६)

सच्ची साधना

(लेखक—श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध')

(चौपदे)

है दृगोंकी ज्योति जीवन-सहचरी।
लोकके आलोककी है वर्तिका॥
है दिखाती दृश्य सबके भव्यतम।
दृष्टिके व्यापारकी है व्यंजिका॥ १॥

किन्तु अन्तर्ज्योति है अति उज्ज्वला।
ज्ञान गरिमाकी अलौकिक मूर्ति है॥
वर विचार, विवेककी है पुत्तली।
दिव्यतम अनुभूतियोंकी पूर्ति है॥ २॥

जब दृगोंकी ज्योति अन्तर्ज्योतिकी
है बनी रहती प्रकृत अनुगामिनी,
प्रति दिवसके सर्व कार्य-कलापकी
जब उसे वह मानती है स्वामिनी॥ ३॥

है तभी मिलती उसे सद्वृत्ति वह,
है जिसे कहते प्रकृत आराधना॥
उस समय त्रिभुवन दिखाता दिव्य है।
है सफलता लाभ करती साधना॥ ४॥

दीखती है सब जगह विभुता लसी।
है विभूति विराजती सर्वत्र ही॥
दृष्टि है संसारमें अवलोकती
सत्यता, शिवता सुधाधारा बही॥ ५॥

हो प्रभूत प्रफुल्ल विस्तृत व्योममें
भूतभावन-विभव हैं अवलोकते॥
भव-विकासकका विकास सुभग नयन
हैं सुविकसित लोकमध्य विलोकते॥ ६॥

कान जो बातें सुनें सद्वृत्तिकी।
दिव्य रस उनके रसायन जो बनें॥
पूत चरितावलि पुनीत पद्यावली-
प्रेममें जो वे सरसतासे सनें॥ ७॥

हों खड़े सुन धर्मकी अवहेलना।
बंद हों न किसी करुण स्वरके लिये॥
जो खुलें हितपूत सुननेको सिरे।
तृप्त हों न कभी कथामृतके पिये॥ ८॥

क्यों उन्हें मिलती न तो सब सिद्धियाँ।
क्यों न वे कृतकृत्य होते सर्वथा॥
क्यों न होते सबहितोंके हेतु वे।
स्वकर्तव्यविहीन होते अन्यथा॥ ९॥

रह सहायक योगसे सत्कर्मकी।
सर्वदा सद्गंधकी [illegible] रहे॥
उच्च है तो उच्चताका ध्यान रख।
नाक कहला नाक नाक बनी रहे॥ १०॥

है दयाके पात्र होते पापरत,
साधकर यह वह कभी सिकुड़े नहीं॥
वह सदा निर्मल बनी इतनी रहे,
जो उसे कोई कभी पकड़े नहीं॥ ११॥

साँसकी गतिमें असुविधा हो नहीं।
वह भले ही साँसतें कितनी सहे॥
ध्वनि भरी उसमें रहे हरिनामकी।
इस तरहसे बोलती जो वह रहे॥ १२॥

नासिका तो धर्म-कर्म-उपासिका।
बन बनेगी सर्वथा उपयोगिनी॥
और होगा सार्थक उसका सृजन।
जायगी सहयोगिनी सभी गिनी॥ १३॥

फूल जो मुँहसे सदा झड़ते रहे।
हो सुभासिका मधुर वचनावली॥
जीभ मोहन मंत्र मंजु समीरसे।
जो खिलाती ही रहे जीकी कली॥ १४॥

जो वदन अरविन्द बनते ही रहें
रस-पिपासित मधुप मानसके लिये॥
ध्वंस करनेको तिमिर अज्ञानका
ज्ञानदीपक बाल हैं जिसने दिये॥ १५॥

लोकका हित कर सफलता लाभ कर
जिस वदनपर है विलसती वर हँसी॥
है दमकती कान्ति जिसपर कीर्तिकी।
लालिमा जिसपर सुकृतिकी है लसी॥ १६॥

सत्सङ्गके कुछ क्षण

जिज्ञासु—भगवन् ! वैदिक, तान्त्रिक आदि जो अनेक प्रकारकी साधनाएँ हैं, उनमेंसे किसका अधिकारी कौन है ?

गुरु—इससे पहले यह जाननेकी आवश्यकता होगी कि इन साधनाओंका स्वरूप क्या है। हमें तान्त्रिक, वैदिक—ऐसे किसी नामका आग्रह क्यों होना चाहिये, कोई भी साधना पद्धति और दृष्टिकोणके भेदसे तान्त्रिकी या वैदिकी हो सकती है। इस प्रश्नका सीधे-सीधे उत्तर दे देनेसे किसी विशेष प्रयोजनकी पूर्ति नहीं होगी। जैसे दहरविद्याको लो। यह एक वैदिक साधना है। यदि पूछा जाय कि इसका अधिकारी कौन है, तो इसका सीधा उत्तर तो यही होगा कि जो हृदयाकाशमें चित्त समाहित करनेकी योग्यता रखता है। परन्तु इस प्रकारकी योग्यता तो अन्यान्य साधनाओंमें भी अपेक्षित है ही, इसलिये इस उत्तरसे कोई वास्तविक समाधान नहीं होता। वस्तुतः सभी प्रकारकी साधनाओंमें अन्य साधनाओंका संसर्ग भी रहता ही है। किसी विशेष दृष्टिकी प्रधानताके कारण ही उसका कोई विशेष नाम पड़ जाता है। जैसे पृथिवीमें आकाशादि अन्य भूत भी रहते ही हैं, तथापि पृथिवीतत्त्वकी प्रधानता होनेके कारण ही उसे पृथिवी कहा जाता है। ऐसी ही बात ज्ञान, भक्ति और कर्मादिके विषयमें भी है। इनमें भी ज्ञानमें भक्ति और कर्म, भक्तिमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ममें ज्ञान और भक्ति रहते ही हैं। इसके सिवा एक बात और है। जिसकी जिस प्रकारकी निष्ठा होती है, उसे अन्य साधनाएँ उसीकी अङ्गभूत और तद्रूप ही जान पड़ती हैं। कर्मकी दृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञान और भक्ति भी कर्मके सिवा और क्या हैं ? श्रवण-कीर्तनादि जो भक्तिके नौ भेद हैं, वे सब कर्म ही हैं। ज्ञानके साधन—श्रवण, मनन और निदिध्यासन भी कर्म ही हैं; श्रवण ऐन्द्रियिक कर्म है, मनन मानसिक कर्म है और निदिध्यासन बौद्ध कर्म है। इसी प्रकार प्रत्येक साधनामें प्रत्येकका समावेश हो सकता है। वस्तुतः लक्ष्य तो सबका एक ही है। उस एक ही लक्ष्यको अपने-अपने दृष्टिकोणके अनुसार विभिन्न प्रकारसे देखनेके कारण यह केवल प्रणालियोंका ही भेद है। जिस प्रकार इस मकानके ही यदि भिन्न दिशाओंसे फोटो लिये जायँ तो वे एक ही मकानके चित्र होनेपर भी न जाननेवालोंको विभिन्न जान पड़ेंगे। परन्तु जिसने इसे देख लिया है, वह तो जान ही लेगा कि इन सबमें एक ही मकान है। इसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म एक ही तत्त्व है और वह सर्वथा निर्विभाग है, तो भी उसके सत्, चित्, आनन्द—ये तीन नाम क्यों ? इसका कारण यही है कि कर्मी उसे सद्रूपसे देखता है, ज्ञानी चिद्रूपसे देखता है और भक्त आनन्दरूपसे। परन्तु जिसने किसी भी साधनपद्धतिका आश्रय लेकर उसका साक्षात्कार कर लिया है, उसे वह युगपत् सच्चिदानन्द जान पड़ता है। उसका किसी भी पद्धतिसे विरोध नहीं रहता।

जिज्ञासु—ठीक है, परन्तु जब साधनपद्धतियोंका भेद है तो उनके अधिकारियोंमें भी भेद तो होना ही चाहिये।

गुरु—अधिकारियोंमें भेद तो होता है; परन्तु कौन किस साधनाका अधिकारी है, इसका निर्णय कौन करेगा ?

जिज्ञासु—गुरु।

गुरु—ठीक है, तब इस विषयमें हमारे चर्चा करनेसे क्या लाभ ? शिष्यके अधिकारका निश्चय तो गुरु ही कर सकता है। हमने तो पहले बताया है कि सभी प्रकारकी साधनाओंमें अन्य साधनाओंका भी समावेश रहता ही है। इस प्रकार सभी सब प्रकारकी साधनाओंके अधिकारी हो सकते हैं। परन्तु किसको किस पद्धतिका आश्रय लेनेसे शीघ्रतर तत्त्वकी उपलब्धि होगी, इसका निर्णय तो गुरुदेव ही कर सकते हैं। जिसको जो मार्ग अभीष्ट होता है, वह उसीको प्रधानता देता है। तथापि उसके साधनरूपसे वह अन्य मार्गोंको भी स्वीकार कर ही लेता है। ज्ञानमार्गी भक्तिको ज्ञानका साधन मानते हैं, यह बात प्रसिद्ध ही है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते' तथा भगवान् शङ्कराचार्यजी भी कहते हैं—'मोक्षसाधनसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।' इसी प्रकार भक्तिमार्गी ज्ञानको भक्तिका साधन मानते हैं, और शास्त्रोंमें उनके इस सिद्धान्तका समर्थन करनेवाले भी अनेकों प्रमाण मिलते हैं।

जिज्ञासु—ऐसे कौन प्रमाण हैं, जिनमें ज्ञानको भक्तिका साधन बताया गया है ?

गुरु—ऐसे तो बहुत प्रमाण बताये जा सकते हैं; परन्तु ज्ञान और भक्तिकी साध्य-साधकतामें जो यह पारस्परिक मतभेद है, उसका कारण दूसरा है। ज्ञानी भक्तिको जिस ज्ञानका साधन मानते हैं, वह उस ज्ञानसे भिन्न है जिसे भक्त भक्तिका साधन मानते हैं; और भक्त जिस भक्तिको ज्ञानका साध्य मानते हैं, वह भी ज्ञानियोंकी मानी हुई साधनरूपा

आवश्यक साधन

'कल्याण'के पाठक बड़े-बड़े संतोंके अनुभूत वचनोंसे यह जान चुके हैं कि मनुष्यजीवनका परम लक्ष्य 'श्रीभगवान्'को या उनके 'अनन्यप्रेम'को प्राप्त करना है। वस्तुतः मुक्ति, मोक्ष, ज्ञान, सनातन शान्ति, परम आनन्द आदि सब इसीके पर्याय हैं। जीवन बहुत थोड़ा है और वह भी अनेक बाधा-विघ्नोंसे भरा हुआ है। आजकल तो चारों ओरसे ही विघ्न-बाधाओंकी और दुःख-कष्टोंकी मानो बाढ़-सी आ रही है। ऐसे आपद्-विपद्से पूर्ण क्षुद्र जीवनमें जो मनुष्य शीघ्र-से-शीघ्र अपने लक्ष्यकी ओर ध्यान देकर सावधानीके साथ चलकर अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है, वही बुद्धिमान् है, उसीका जन्म सार्थक है और उसीका मनुष्यजीवन सफल है। याद रखना चाहिये, यह मनुष्यजीवन यदि यों ही व्यर्थकी बातोंमें बीत गया तो पीछे पछतानेके सिवा और कोई उपाय नहीं रह जायगा। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपनी स्थितिपर विचार करके इस ओर लग जाना चाहिये। जो लगे हुए हैं, वे आगे बढ़ें, जो अभी नहीं लगे हैं, वे लगें और जल्दी लगें। आजकल मौत बहुत सस्ती हो रही है। कुछ लोग तो कहते हैं कि बहुत ही शीघ्र पृथ्वीमें मनुष्योंकी संख्या आधीसे भी अधिक घट जायगी। उस घटनेवाली मनुष्यसंख्यामें हम-लोग भी तो होंगे। इसलिये और भी शीघ्र सजग होकर लग जाना चाहिये। विशेष कुछ न हो तो नीचे लिखे नियमोंका पालन स्वयं विश्वासपूर्वक करना चाहिये तथा अपने इष्ट-मित्रों-से करवाना चाहिये। रोज अपनी रिपोर्ट लिखनी चाहिये और यदि हो सके तो अपने कुछ मित्रोंकी एक मण्डली बना-कर उसमें परस्पर रिपोर्ट सुनानी चाहिये और नियम टूटनेपर दण्डविधान करना चाहिये। दण्ड पैसोंका न होकर नाम-जप आदि किसी साधनका ही होना चाहिये, जिसमें आगेसे नियम न टूटे और उत्साह भी न घटे। मण्डली हो, तो दण्डमें जबरदस्ती या पक्षपात न हो, इस बातका पूरा ध्यान रहे।

१–सूर्योदयसे पहले जग जाना।

२–प्रातःकाल जगते ही भगवान्का स्मरण करना।

३–दोनों समय भगवान्की प्रार्थना करना या सन्ध्या करके गायत्रीका जाप करना।

४–कम-से-कम २१६०० भगवन्नामोंका जप नित्य कर लेना।

५–कम-से-कम आध घण्टे उपनिषद्, गीता, रामायण या अन्य किसी भी पारमार्थिक ग्रन्थ या संतवाणीका स्वाध्याय करना या सत्सङ्ग करना।

६–जानकर किसीका बुरा न करना।

७–जानकर झूठ न बोलना।

८–पुरुष हो तो परस्त्रीको और स्त्री हो तो परपुरुष-को बुरी नजरसे न देखना।

९–किसीकी निन्दा करनेसे बचना।

१०–भोजन, फलाहार और जलपानके समय भगवान्को याद करना। उन्हें मन-ही-मन अर्पण करके खाना-पीना।

११–दूसरेके हककी किसी चीजको न लेना, न उसपर मनको ही चलने देना।

१२–अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन कुछ दान करना।

१३–हँसी-मजाक न करना।

१४–माता-पिता आदि बड़ोंको रोज प्रणाम करना।

१५–सब जीवोंमें भगवान् हैं, सारा जगत् भगवान्से भरा है, सारा जगत् भगवान्से ही निकला है, भगवान्में ही है, इस बातको याद रखनेकी चेष्टा करना।

१६–क्रोधके त्यागका अभ्यास करना। क्रोध आनेपर प्रत्येक बार सौ बार भगवान्का नाम लेकर उसका प्रायश्चित्त करना।

१७–किसी भी जीवसे घृणा न करना।

१८–सोनेके समय प्रतिदिन भगवान्का स्मरण करना।

१९–प्रतिज्ञापूर्वक नियमोंका पालन करना। और किसी नियमके टूट जानेपर दण्डकी व्यवस्था करना।

२०–नियमोंके पालनका ब्यौरा रोज लिखना।

यदि भगवत्प्राप्तिके लिये इन नियमोंके पालनका साधन होता रहेगा तो आशा है भगवत्कृपासे बहुत शीघ्र अन्तःकरणकी शुद्धि होगी और आप भगवान्के प्रेमपथपर अग्रसर एक सच्चे साधक हो सकेंगे। साधनाङ्कमें बहुत तरहके साधनोंका वर्णन पढ़ने-को मिलेगा और वे सभी साधन अधिकारभेदसे उत्तम हैं, परन्तु अन्तःकरणकी शुद्धि प्रायः सभी साधनोंमें आवश्यक है, इस-लिये इन साधनोंका अभ्यास सभीको करना चाहिये। इनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होगी और फिर यही परम साधन बनकर भगवत्प्राप्तिमें मुख्य हेतु बन जायँगे।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

कुछ उपयोगी साधन

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

साधन शब्दका अर्थ बहुत ही व्यापक है। परन्तु वास्तविक साधन तो उसे ही समझना चाहिये जो परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला हो। परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें अनेकों प्रकारके साधन बतलाये गये हैं। उनमें सुगमतापूर्वक हो सकनेवाले कुछ सरल साधनोंका उल्लेख यहाँ किया जाता है। विवेकदृष्टिसे विचार करनेपर सारे साधन ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा—इन दोनों निष्ठाओंके अन्तर्गत आ जाते हैं। जीवात्मा और परमात्माकी एकताके आधारपर होनेवाले जितने भी साधन हैं, वे सब ज्ञाननिष्ठाके अन्तर्गत हैं तथा जीवात्मा और परमात्माके भेदके आधारपर होनेवाले योगनिष्ठाके अन्तर्गत हैं। इसी बातको लक्ष्यमें रखते हुए भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अभेदनिष्ठाको सांख्य, संन्यास अथवा ज्ञानयोगके नामसे कहा है और भेदनिष्ठाको योग, कर्मयोग तथा भक्तियोग आदि नामोंसे। श्रीमद्भागवतमें भी अभेद और भेदनिष्ठाओंका विशद वर्णन है। इसी प्रकार गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें ज्ञानदीपकके नामसे अभेदनिष्ठाका और भक्तिमणिके नामसे भेदनिष्ठाका वर्णन किया है।

वेद और उपनिषदोंके 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य अभेदनिष्ठा (अभेदज्ञान) का प्रतिपादन करते हैं और 'द्वा सुपर्णा' आदि श्रुतियाँ भेदनिष्ठाका प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि वैदिक सनातनधर्मके प्रायः सभी आर्ष ग्रन्थोंमें भेदनिष्ठा और अभेदनिष्ठाका ही भेदोपासना और अभेदोपासना आदि अनेकों नामोंसे वर्णन किया गया है। इन्हीं दोनों निष्ठाओंके आधारपर यहाँ कुछ साधनोंका वर्णन किया जाता है।

अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना

नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ अनुभव किया जाता है एवं मनसे जो कुछ चिन्तन किया जाता है, अनुभव और चिन्तन करनेवाले इन्द्रियों और मनके सहित उस सम्पूर्ण दृश्यको नाशवान्, क्षणभङ्गुर और स्वप्नवत् समझकर उसका अभाव करना अर्थात् उसे अनित्य होनेके कारण असत् समझकर उससे रहित हो जाना और जिस बुद्धिवृत्तिके द्वारा सबका अभाव किया जाता है उस वृत्तिका त्याग करके उससे भी रहित हो जानेपर द्रष्टाका जो केवल चिन्मयस्वरूप बच रहता है अर्थात् दृश्यमात्रका अभाव हो जानेपर चिन्तन करनेवाला जो द्रष्टा शेष बच जाता है उसमें स्थित होना ही अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना है। इस उपासनारूप साधनसे दृश्य, दर्शनका बाध हो जाता है और द्रष्टाका परब्रह्म परमात्माके साथ तादात्म्य हो जाता है। यही परमात्माकी प्राप्ति है। जैसे घटाकाश और महाकाशके बीच व्यवधानरूप केवल घटकी आकृति ही भेद-दर्शनमें हेतु है इसी प्रकार जड दृश्यमात्र जीवात्मा और परमात्माके भेद-दर्शनमें हेतु है। जब यथार्थ ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण दृश्य और दर्शनका बाध हो जाता है, तब स्वभावतः ही जीवात्मा परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जैसे घटके फूट जानेपर घटाकाशस्थानीय आकाश महाकाशके साथ एक हो जाता है उसी प्रकार जीवात्माका सच्चिदानन्दघन परमात्माके साथ एकीभाव हो जाता है अर्थात् वह अभेदरूपसे ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

चराचररूप ब्रह्मकी उपासना—

जो भी कुछ चर-अचर, जड-चेतन संसार है, वह सब परमात्मासे ही उत्पन्न है, परमात्मामें ही स्थित है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है, इसलिये वस्तुतः परमात्मस्वरूप ही है।

जो पुरुष इस सम्पूर्ण संसारको परमात्माका स्वरूप समझकर परमात्मभावसे इसकी उपासना करता है, वह परमात्माको ही प्राप्त होता है।

यह उपासना भेद और अभेद दोनों ही दृष्टियोंसे की जा सकती है। भेददृष्टिवाला साधक समझता है कि जो कुछ है सो परमात्मा है और मैं उसका सेवक हूँ। जैसे गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

> सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
> मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

और अभेद दृष्टिवाला साधक सारे संसारको एवं अपने-आपको भी परमात्माका स्वरूप मानता है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

> **बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।** (१३।१५)

'परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है।'

> **यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।**
> **तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥** (१३।३०)

'जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

इस प्रकार इस सम्पूर्ण दृश्यमात्रको परमात्माका स्वरूप मानकर उसकी उपासना करते-करते साधककी सर्वत्र समबुद्धि हो जाती है और वह राग-द्वेषरहित होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

सङ्कल्पब्रह्मकी उपासना

सङ्कल्पब्रह्मकी उपासनामें जो भी कुछ अच्छे या बुरे सङ्कल्प मनमें उठते हैं उनको ब्रह्म मानकर उपासना की जाती है। इस प्रकार मनमें उठनेवाले प्रत्येक सङ्कल्पको ब्रह्म मानकर उपासना करनेवालेके लिये कोई भी सङ्कल्प (स्फुरणा) विघ्नकारक नहीं होते तथा उनमें समबुद्धि हो जानेके कारण अनुकूल और प्रतिकूल सङ्कल्पोंमें राग-द्वेष नहीं होता।

सङ्कल्पमात्रमें निरन्तर ब्रह्माकारवृत्ति बनी रहनेके कारण साधकको विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

शब्दब्रह्मकी उपासना

शब्दब्रह्मकी उपासना करनेवालेको जो भी कुछ भला या बुरा शब्द सुनायी देता है उसे वह ब्रह्म मानकर उपासना करता है। ब्रह्म सम और एक है, इसलिये साधककी शब्द-मात्रमें समबुद्धि हो जाती है। अतएव वह अनुकूल और प्रतिकूल शब्दोंमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे रहित हो जाता है। कोई उसकी स्तुति या निन्दा करता है तो इससे उसके चित्तमें कोई विकार नहीं होता। शब्दमात्रको ब्रह्म माननेके कारण उसकी वृत्ति हर समय ब्रह्माकार बनी रहती है, जिससे उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

निःस्वार्थ कर्म-साधन

स्वार्थ (स्व-अर्थ) का अभिप्राय है—'अपने लिये' अपने व्यक्तिगत लाभके लिये, और निःस्वार्थका अर्थ है—'अपने लिये नहीं' अर्थात् दूसरों (समष्टि) के हितके लिये। साधारण मनुष्य यज्ञ, दान, तप, सेवा, तीर्थ, व्रत, उपवास, कृषि, वाणिज्य, खान-पान, शौच-स्नान, लेन-देन आदि जो कुछ भी कर्म करता है, किसी-न-किसी व्यक्तिगत स्वार्थको लेकर ही करता है। जैसे क्रय-विक्रय करनेवाला लोभी व्यापारी दूकान खोलनेके समयसे लेकर उसे बंद करनेतक दिनभर जो भी कुछ क्रय-विक्रय, लेन-देन आदि व्यापार करता है, सबमें उसका लक्ष्य हर समय यही रहता है कि अधिक-से-अधिक रुपये पैदा हों। जिसमें जरा भी अर्थकी हानि होती हो, ऐसा कोई भी काम वह जान-बूझकर कभी नहीं करना चाहता। इसी प्रकार यज्ञ, दान, तपादि कार्य करनेवाले सकामी लोग धन, स्त्री, पुत्र आदि इहलौकिक और स्वर्गादि पारलौकिक भोगोंकी कामनासे ही उन कामोंमें प्रवृत्त होते हैं।

यह स्वार्थ इतना व्यापक है कि किसी भी छोटे-से-छोटे कामका आरम्भ करनेके समय मनुष्य यही सोचता है कि इसके करनेसे मुझे व्यक्तिगत क्या लाभ होगा? किसी लाभका निश्चय करके ही वह कार्यमें प्रवृत्त होता है। बिना प्रयोजन एक पैंड भी चलना नहीं चाहता। उसके मनमें पद-पदपर स्वार्थकी भावना भरी रहती है। इसी स्वार्थ-बुद्धिसे मनुष्यको बार-बार दुःखरूप संसारचक्रमें भटकना पड़ता है। अतएव यथार्थ कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको स्वार्थरहित होकर लोक-हितके लिये ही कर्म करने चाहिये। जैसे स्वार्थी मनुष्य प्रत्येक कामके आरम्भमें यह सोचता है कि मुझे इसमें क्या लाभ होगा, ऐसे ही निःस्वार्थी पुरुषके मनमें यह भाव होना चाहिये कि इससे अन्य प्राणियोंका क्या हित होगा। जिस कामके आरम्भमें संसारका हित सोचकर प्रवृत्त हुआ जाता है, वही निष्काम कर्म है।

बहुत-से सज्जन लोकोपकारके कामोंमें धन-सम्पत्ति और शरीरके आरामका त्याग करते हैं और यह बहुत उत्तम है, परन्तु वे जो इसके बदलेमें मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा चाहते हैं, इससे उनका वह त्याग निःस्वार्थ नहीं रह जाता। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी कामनासे शुभ कर्म करनेवाले लोग अवश्य ही शुभ कर्म न करनेवालोंकी अपेक्षा तो बहुत ही अच्छे हैं, किन्तु वास्तविक कल्याणमें तो उनकी यह कामना भी बाधक ही है। और यदि कहीं राग-द्वेषके वश होना पड़ा तब तो इस कामनासे पतन भी हो सकता है। अतएव वास्तविक हित चाहनेवाले पुरुषको मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छाका भी सर्वथा त्याग करके विशुद्ध निःस्वार्थभावसे ही लोक-हितार्थ कर्म करने चाहिये।

कुछ सज्जन मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गकी इच्छाका भी त्याग करके केवल अपने आत्माके उद्धारकी इच्छासे यज्ञ, दान, तप, सेवा, सत्सङ्ग और व्यापार आदि शास्त्र-विहित कर्म करते हैं। यद्यपि इस प्रकार कर्म करनेवाले लोग उपर्युक्त सभी साधकोंसे श्रेष्ठ हैं, तथापि केवल अपने ही आत्माके उद्धारकी यह इच्छा भी मुक्तिरूप स्वार्थ-बुद्धिके कारण कभी-कभी मोहमें डालकर साधकको कर्तव्य-च्युत कर देती है। कहीं-कहीं तो यह राग-द्वेषको उत्पन्न करके साधकका पतन भी कर डालती है। इसलिये केवल अपने उद्धारकी इच्छा न रखकर सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके उद्देश्यसे ही मनुष्यको शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्त होना चाहिये। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे कर्म करनेवाला मनुष्य सहज ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

संसारका हित चाहनेवाले ऐसे दयालु भक्तोंके सम्बन्धमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने तो यहाँतक कहा है—

मोरें मन प्रभु अस बिसवासा। राम तें अधिक राम कर दासा॥

इसका कुछ रहस्य निम्नलिखित दृष्टान्तके द्वारा समझना चाहिये।

भगवान्‌के एक भक्त जगत्‌के परम हितैषी थे। वे सदा-

सर्वदा जगत्‌के हितमें रत रहा करते थे। इसके फलस्वरूप एक दिन भगवान् स्वयं उनको दर्शन देनेके लिये उनके सामने प्रकट हुए और बोले—'तुम्हारी जो इच्छा हो वही वर माँगो।'

भक्तने कहा—'भगवन्! आपकी मुझपर जो अनन्त कृपा है, इससे बढ़कर और कौन-सी वस्तु है, जिसकी मैं याचना करूँ—आपकी कृपासे मुझे किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है।'

भगवान्‌ने विशेष आग्रहपूर्वक कहा—'मेरे सन्तोषके लिये तुम्हें कुछ तो अवश्य ही माँगना चाहिये।'

भक्तने कहा—'प्रभो! यदि आपका इतना आग्रह है तो मैं यही चाहता हूँ कि मेरे मनमें यदि कुछ माँगनेकी इच्छा हो तो आप उसका सर्वथा विनाश कर दीजिये।'

भगवान् बोले—'यह तो तुमने कुछ भी नहीं माँगा। मेरी प्रसन्नताके लिये तुम्हें अवश्य कुछ माँगना पड़ेगा। तुम जो चाहो सो माँग सकते हो।'

भक्तने कहा—'जब आप इतना बाध्य करते हैं तो मैं यह माँगता हूँ कि आप संसारके सभी जीवोंका कल्याण कर दीजिये।'

भगवान्‌ने कहा—'यदि सब जीवोंका कल्याण कर दिया जाय तो उनके किये हुए पापोंका फल कौन भोगेगा?'

भक्तने कहा—'प्रभो! सबके पापोंका फल मुझे भुगता दीजिये।'

भगवान् बोले—'तुम-सरीखे भक्तको सब जीवोंके पापोंका दण्ड कैसे भुगताया जा सकता है?'

भक्तने कहा—'तो फिर सबको क्षमा कर दीजिये।'

भगवान्‌ने कहा—'इस प्रकार सबको पापोंका फल न भुगताकर उन्हें क्षमा कर देना तो असम्भव है।'

भक्तने कहा—'भगवन्! आप तो असम्भवको भी सम्भव करनेवाले सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं। आपके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है।'

भगवान्‌ने कहा—'इस प्रकार करनेके लिये मैं असमर्थ हूँ।'

भक्तने कहा—'यदि आप अपनेको असमर्थ कहते हैं, तो फिर आपने इच्छानुसार वर माँगनेके लिये इतना आग्रह क्यों किया था? आपको स्त्री, पुत्र, धन, मान-बड़ाई, स्वर्ग, मोक्ष आदि किसी एक वस्तुके माँगनेके लिये कहना चाहिये था। जो इच्छा हो सो माँगनेका वचन देनेपर तो याचककी माँग पूरी करनी ही चाहिये।'

भगवान्‌ने कहा—'भाई! मेरी हार और तुम्हारी जीत हुई। मैं भक्तोंके सामने सदा ही हारा हुआ हूँ।'

भक्तने कहा—'प्रभो! हार तो मेरी हुई। जीत तो तब होती जब आप सबका कल्याण कर देते।'

भगवान्‌ने कहा—'तुम्हारे इस निःस्वार्थभावसे मैं अति प्रसन्न हुआ हूँ। मैं तुम्हें यह वर देता हूँ कि जो कोई भी तुम्हारा दर्शन, स्पर्श और चिन्तन आदि करेगा, उसका भी कल्याण हो जायगा।'

इस प्रकार संसारका कल्याण चाहनेवाले निःस्वार्थ भक्तको विनोदमें भगवान्‌से भी बढ़कर कहना कोई अत्युक्ति नहीं है। अतएव कल्याणकामी पुरुषोंको निःस्वार्थभावसे लोक-हितार्थ ही सारे कर्म करने चाहिये।

सेवा-साधन

धन-सम्पत्ति, शारीरिक सुख और मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदिको न चाहते हुए ममता, आसक्ति और अहङ्कारसे रहित होकर मन, वाणी, शरीर और धनके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत होकर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना 'सेवा-साधन' कहलाता है। इस साधनसे साधकके चित्तमें निर्मलता और प्रसन्नता होकर उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

उपर्युक्त प्रकारकी सेवा-साधना तीन प्रकारके भावोंसे की जा सकती है—एक ही ईश्वरकी सन्तान होनेके कारण सबको अपना 'बन्धु' मानते हुए, आत्मदृष्टिसे सबको अपना 'स्वरूप' समझते हुए, और परमात्मा ही सब भूतोंके हृदयमें स्थित है इसलिये सबको साक्षात् 'परमेश्वर' समझते हुए। इन तीनों भावोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। बन्धुभावसे होनेवाली सेवामें एक दूसरेके प्रति पर-बुद्धि होनेके कारण राग-द्वेषवश कभी झगड़ा भी हो सकता है, परन्तु आत्मभावमें इसकी सम्भावना नहीं है, अतः बन्धुभावसे की हुई सेवाकी अपेक्षा आत्मभावसे की हुई सेवा उत्तम है। आत्मभावसे की हुई सेवाकी अपेक्षा भी परमात्मभावसे की हुई सेवा उत्तम है, क्योंकि मनुष्य अपने इष्टकी सेवाके लिये प्रसन्नता-पूर्वक अपने प्राणोंका भी बलिदान कर सकता है। तीनों प्रकारके भावोंसे की हुई सेवाका परिणाम एक होनेपर भी भगवत्प्राप्तिमें शीघ्रताकी दृष्टिसे ही उत्तरोत्तर श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है।

उत्तम देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर जो न्यायानुकूल सेवा की जाती है, वही सेवा महत्त्वपूर्ण होती है। जैसे—अन्य देशोंकी अपेक्षा आर्यावर्त देश उत्तम माना गया है, उसमें भी काशी आदि तीर्थ अधिक उत्तम माने गये हैं। परन्तु यदि काशी आदि तीर्थोंमें अन्नकी फसल अच्छी हो और मगध आदि देशोंमें भयङ्कर अकाल पड़ा हो तो अन्नदानके लिये काशीकी अपेक्षा मगध अधिक उपयुक्त देश है। इसी प्रकार यद्यपि साधारण कालकी अपेक्षा एकादशी, पूर्णिमा, सोमवती, व्यतिपात, ग्रहण और पर्वकाल दानके लिये श्रेष्ठ हैं तथापि यदि अन्य कालमें अन्नके बिना प्राणी मरते हों तो पर्वकालकी अपेक्षा भी वह

पर्वातिरिक्त काल अन्नदानके लिये श्रेष्ठ काल है। पात्रके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। जिस प्राणीके द्वारा जितना अधिक उपकार होता है, उतना ही वह सेवाका अधिक पात्र है। जैसे कीड़े, चींटी आदिकी अपेक्षा पशु आदि, पशुओंमें भी अन्य पशुओंकी अपेक्षा गाय आदि, पशुओंकी अपेक्षा मनुष्य, मनुष्योंमें भी दूसरोंकी अपेक्षा उत्तम गुण और आचरणवाले पुरुष सेवाके विशेष पात्र हैं। उदाहरणके लिये—यदि देशमें बाढ़ या अकाल आदिके कारण प्राणी भूखों मर रहे हों और साधकके पास थोड़ा-सा परिमित अन्न हो तो ऐसी स्थितिमें पूर्वमें बतलाये हुए प्राणियोंकी अपेक्षा बादमें बतलाये हुए उत्तरोत्तर सेवाके अधिक पात्र हैं, क्योंकि उनके द्वारा उत्तरोत्तर लोकोपकार अधिक होता है। परन्तु इसमें भी यह बात है कि जिसके पास अन्नका जितना अधिक अभाव हो उतना ही उसे अधिक पात्र समझना चाहिये। जैसे—किसी देशमें अकाल होनेपर भी गायोंके लिये चारेकी कमी न हो पर कुत्ते भूखों मरते हों तो वहाँ कुत्ते ही अधिक पात्र हैं। इसी प्रकार सबके विषयमें समझना चाहिये। प्यासेको पानी, नङ्गोंको वस्त्र, बीमारको औषध और आतुरको अभयदान आदिके विषयमें भी यही बात समझनी चाहिये।

परन्तु विशेष ध्यान देनेकी बात तो यह है कि सेवा-साधनमें क्रियाकी अपेक्षा भावकी प्रधानता है। स्त्री-पुत्र, धन-मान, बड़ाई-प्रतिष्ठा और स्वर्गादिकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तत्परताके साथ आजीवन किये हुए उपर्युक्त विशाल सेवा-कार्यकी अपेक्षा ममता, आसक्ति और अहङ्कारसे रहित होकर निःस्वार्थभावसे की हुई थोड़ी सेवा भी अधिक मूल्यवाली होती है।

पञ्च महायज्ञ-साधन

पञ्च महायज्ञसे हमारे नित्यके पापोंका प्रायश्चित्त तो होता ही है, यदि स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ इनका साधन किया जाय तो इनसे भगवत्प्राप्ति भी हो जाती है।

ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ), पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ (बलिवैश्व) और मनुष्ययज्ञ—ये पञ्च महायज्ञ कहलाते हैं।* जिस कर्मसे बहुतोंकी तृप्ति हो उसे यज्ञ कहते हैं और जिससे सारे संसारकी तृप्ति हो उसे महायज्ञ कहते हैं। इस दृष्टिसे इनका महत्त्व बहुत अधिक है।

देवयज्ञसे मुख्यतासे देवताओंकी, ऋषियज्ञसे ऋषियोंकी, पितृयज्ञसे पितरोंकी, मनुष्ययज्ञसे मनुष्योंकी और भूतयज्ञसे भूतोंकी तृप्ति होती है और गौणरूपसे इनके द्वारा सारे संसारकी तृप्ति होती है। वैदिक सनातनधर्मके इन महायज्ञोंमें सम्पूर्ण संसारके जीवोंके हितके लिये जैसा दया और उदारतापूर्ण स्वार्थ-त्यागका भाव भरा है, वैसा अन्य धर्मोंमें देखनेमें नहीं आता।

वेद और शास्त्रोंका पठन-पाठन जगत्के हितार्थ ऋषियोंको सन्तुष्ट करनेके लिये ही किया जाता है, अपने स्वार्थके लिये नहीं। सन्ध्योपासनमें भी 'पश्येम शरदः' आदिमें सबके हितकी ही प्रार्थना की गयी है। और इसी प्रकार गायत्रीमन्त्रमें स्तुति और ध्यान बतलाकर सभीकी बुद्धियोंको सत्कार्यमें लगानेकी प्रार्थना की गयी है।

पितृतर्पणमें भी देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर एवं सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको जलदान करनेकी विधि है। यहाँतक कि पहाड़, वनस्पति और शत्रु आदिको भी जल देकर तृप्त किया जाता है।

देवयज्ञमें अग्निमें आहुति दी जाती है। वह सूर्यको प्राप्त होती है और सूर्यसे वृष्टि और वृष्टिसे अन्न और प्रजाकी उत्पत्ति होती है।†

भूतयज्ञसे भी सारे प्राणियोंकी तृप्ति होती है। इसको बलिवैश्वदेव भी कहते हैं, क्योंकि इसमें सारे विश्वके लिये बलि दी जाती है।

मनुष्ययज्ञमें घर आये हुए अतिथिका सत्कार करके उसे विधिपूर्वक यथाशक्ति भोजन कराया जाता है।‡ यदि भोजन करानेकी सामर्थ्य न हो तो उसे बैठनेके लिये जगह, आसन, जल और मीठे वचनोंका दान तो गृहस्थको अवश्य ही करना चाहिये।§

उपर्युक्त पाँच प्रकारके महायज्ञोंपर ऋषियोंने बहुत

---

* अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥
(मनु० ३। ७०)

वेद-शास्त्रका पठन-पाठन एवं सन्ध्योपासन, गायत्री-जप आदि ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ) है, नित्य श्राद्ध-तर्पण पितृयज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव भूतयज्ञ है और अतिथि-सत्कार मनुष्ययज्ञ है।

† अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥
(मनु० ३। ७६)

‡ सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥
(मनु० ३। ९९)

§ तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥
(मनु० ३। १०१)

जोर दिया है। अतएव स्वाध्यायसे ऋषियोंका, हवनसे देवताओंका, तर्पण और श्राद्धसे पितरोंका, अन्नसे मनुष्योंका और बलिकर्मसे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका यथायोग्य सत्कार करना चाहिये।* इस प्रकार जो मनुष्य नित्य सब प्राणियोंका सत्कार करता है वह तेजोमय मूर्ति धारणकर सरल अर्चिमार्गके द्वारा परमधामको प्राप्त होता है।† इसके विपरीत जो मनुष्य दूसरोंको भोजन न देकर केवल अपने ही उदर-पोषणके लिये भोजन बनाता है, वह पापात्मा मनुष्य पाप ही खाता है। सबको भोजन देनेके बाद शेष बचा हुआ अन्न यज्ञशिष्ट होनेके कारण अमृतके तुल्य है, इसलिये ऐसे अन्नको ही सज्जनोंके खाने योग्य कहा गया है।‡

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अध्याय ३ श्लोक १३ में भी प्रायः ऐसी ही बात कही है।§

उपर्युक्त सभी महायज्ञोंका तात्पर्य है सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंकी अन्न और जलके द्वारा सेवा करना एवं अध्ययन-अध्यापन, जप, उपासना आदि स्वाध्यायद्वारा सबका हित चाहना। अपने स्वार्थके त्यागकी बात तो पद-पदमें बतलायी गयी है।

हवनके और बलिवैश्वदेवके मन्त्रोंमें भी स्वार्थत्यागकी ही बात कही गयी है। जैसे 'ॐ इन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्राय न मम। ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, इदं ब्रह्मणे न मम।' इस न ममका अभिप्राय यह है कि यह आहुति इन्द्रके लिये दी जाती है, इसका फल मैं नहीं चाहता। यह आहुति ब्रह्माके लिये दी जाती है, इसका फल मैं नहीं चाहता। अन्य मन्त्रोंमें भी इसी प्रकारके त्यागकी बात जगह-जगहपर कही गयी है। इन सबसे यही शिक्षा मिलती है कि मनुष्य-को अपने स्वार्थका त्याग करके संसारके हितके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये।

सम्पूर्ण संसारके प्राणियोंमें एक मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो प्राणीमात्रकी सेवा कर सकता है। अन्य प्राणियोंके द्वारा भी जगत्का बहुत उपकार होता है, किन्तु सबकी सेवा तो केवल मनुष्य ही कर सकता है। मनुष्यका शरीर खान-पान, ऐश-आराम और भोग भोगनेके लिये नहीं मिला है। ये सब तो अन्य योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं। मनुष्यका जन्म तो प्राणीमात्रके हितकी चेष्टा करनेके लिये ही मिला है। अतएव सब लोगोंको चाहिये कि अपने तन, मन और धनद्वारा निःस्वार्थभावसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवाके लिये तत्परतासे चेष्टा करें। और इस प्रकार प्राणीमात्रमें विराजित भगवान्की सेवा करके उनको प्राप्त कर सफल-जीवन हों।

विषय-हवनरूप साधन

इन्द्रियोंके विषयोंको राग-द्वेषरहित होकर इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रूप आदिका श्रवण, स्पर्श और दर्शन आदि करते समय अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंमें राग-द्वेषरहित होकर उनका न्यायोचित सेवन करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और उसमें 'प्रसाद'का अनुभव होता है। उस 'प्रसाद'से सारे दुःखोंका नाश होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। परन्तु जबतक इन्द्रियाँ और मन वशमें नहीं होते और भोगोंमें वैराग्य नहीं होता, तबतक अनुकूल पदार्थके सेवनसे राग और हर्ष एवं प्रतिकूलके सेवनसे द्वेष और दुःख होता है। अतएव सम्पूर्ण पदार्थोंको नाशवान् और क्षणभङ्गुर समझकर न्यायसे प्राप्त हुए पदार्थोंका विवेक और वैराग्ययुक्त बुद्धिके द्वारा समभावसे ग्रहण करना चाहिये। श्रवण, दर्शन, भोजनादि कार्य रसबुद्धिका त्याग करके कर्तव्यबुद्धिसे भगवत्प्राप्तिके लिये करने चाहिये। इन पदार्थोंमें ऐशो-आराम, मौज-शौक, स्वाद-सुख और इन्द्रियतृप्ति, रमणीयता या भोग-बुद्धिकी भावना ही मनुष्यके मनमें विकार उत्पन्न करके उसका पतन करनेवाली होती है। उपर्युक्त दोषोंसे रहित होकर विवेक और वैराग्ययुक्त बुद्धिके द्वारा किये जानेवाले इन्द्रियोंके विषय-सेवनसे तो हवनके लिये अग्निमें डाले हुए ईंधनकी तरह वे सब पदार्थ अपने आप ही भस्म हो जाते हैं। फिर उनकी कोई भी सत्ता या प्रभाव नहीं रह जाता। इस प्रकार साधन करते-करते अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर सारे दुःखों और पापोंका अभाव होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिर और अचल स्थिति हो जाती है अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

* स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄञ्छ्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥
(मनु० ३। ८१)

† एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिः पथर्जुना॥
(मनु० ३। ९३)

‡ अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते॥
(मनु० ३। ११८)

§ यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(गीता ३। १३)

महात्माओंका आज्ञापालनरूपी साधन

जो पुरुष महात्माओंके* पास जाकर उनके उपदेशको सुनकर उसके अनुसार साधन करता है, उसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥
(१३ । २५)

'परन्तु दूसरे जो पुरुष स्वयं इस प्रकार (ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग) न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर तदनुसार उपासना करते हैं, वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

अतएव जो पुरुष श्रद्धा-भक्तिपूर्वक महात्माओंकी आज्ञाका पालन करता है, उसका कल्याण हो जाता है। शास्त्रोंमें इसके अनेक उदाहरण भी मिलते हैं।

महाभारत आदिपर्वके तीसरे अध्यायमें २०से ३२ श्लोक-तक आयोदधौम्य और उनके शिष्य पाञ्चालदेशीय आरुणिकी कथा है। वहाँ लिखा है कि शिष्यको गुरुने खेतमें जाकर खेतकी मेंड बाँधनेकी आज्ञा दी। शिष्य जब चेष्टा करनेपर भी मिट्टीसे मेंड न बाँध सका तब उसने स्वयं जलके प्रवाहके सामने सोकर जलको रोक लिया। जब शाम-तक वह घर न लौटा तो गुरु उसे खोजते हुए खेतमें आये और पुकारने लगे। उनकी आवाज सुनकर आरुणि उठा और जाकर सामने खड़ा हो गया। मिट्टीके स्थानपर खुद उसके पड़नेकी बात जानकर धौम्यमुनि उसकी आज्ञापालन-परायणताको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने वरदान दिया कि तुमने जो मेरी आज्ञाका पालन किया है, इससे तुम्हारा कल्याण हो जायगा। समस्त वेद और धर्मशास्त्रोंका ज्ञान तुम्हें बिना ही पढ़े अपने आप हो जायगा।† इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद्‌के अध्याय ४, खण्ड ४से ९ में भी एक कथा आती है। हारिद्रुमत गौतम ऋषिने अपने शिष्य सत्यकाम जाबालका उपनयनसंस्कार करके उसे ४०० कृश और दुर्बल गायोंको वनमें ले जाकर चरानेकी आज्ञा दी। शिष्यने गुरुका भाव समझकर यह कहा कि जब इन गायोंकी संख्या पूरी १००० हो जायगी, तब मैं लौट आऊँगा।

कई वर्ष बीतनेपर एक दिन एक साँड़ने उससे कहा कि अब हम पूरे हजार हो गये हैं, तुम हमें गुरुके पास ले चलो। सत्यकाम जब उन्हें लेकर आने लगा तो गुरुकृपासे उसे साँड़, अग्नि, हंस और मद्गु (जलचर पक्षी) ने मार्गमें ही ब्रह्मका उपदेश दे दिया। जब वह घर लौटा तो उसे देखकर गुरुने कहा—'तुम तो ब्रह्मवेत्ता-से प्रतीत हो रहे हो, तुमको उपदेश किसने दिया?' सत्यकामने रास्तेकी सच्ची-सच्ची घटना बतलाकर कहा—'मैं अब आपके द्वारा उपदेश प्राप्त करना चाहता हूँ।' महर्षि गौतमने उसे पुनः अक्षरशः वही ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया जो उसे रास्तेमें प्राप्त हुआ था।

इसी प्रकारके और भी अनेक उदाहरण शास्त्रोंमें आते हैं, जिनमें महात्माओंके आज्ञापालनमात्रसे ही शिष्योंका कल्याण हुआ है।

'महात्माओंके आज्ञापालनसे परम कल्याण हो इसमें तो कहना ही क्या है, उनका दर्शन, स्पर्श और चिन्तन भी कल्याणका परम कारण होता है।

देवर्षि नारदजीने कहा है—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च । (नारदभक्तिसूत्र ३९)

'महात्मा पुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

महात्माओंका मिलना कठिन है, मिलनेपर उन्हें पहचानना कठिन है, परन्तु न पहचाननेपर भी उनका मिलना व्यर्थ नहीं होता, वह महान् कल्याणकारक होता है। जैसे सूर्यको न जानकर भी यदि कोई सूर्यके सामने आ जाय तो उसकी सरदी दूर हो जाती है। यह सूर्यका स्वाभाविक गुण है। इसी प्रकार महात्माओंका मिलन अपने स्वाभाविक वस्तुगुणसे ही मनुष्योंको तारनेवाला होता है।

अतएव महात्माओंके सङ्ग और उनके आज्ञापालनसे सबको लाभ उठाना चाहिये।

---

* ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी कोई भी पुरुष जो गीता अध्याय १२ श्लोक १३ से १९ और अध्याय १४ श्लोक २२ से २५ में वर्णित लक्षणोंसे युक्त हो, उसीको महात्मा समझना चाहिये।

† यस्माच्च त्वया मद्वचनमनुष्ठितं तस्माच्छ्रेयोऽवाप्स्यसि ।
सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति ॥
(महा० आ० प० ३ । ३२)

सत्य-साधना

प्रेम-धर्मकी रीति

(लेखक—श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी)

जगतमें दुःख भरे नाना ।

प्रेमधर्मकी रीति समझकर, सब-सहते आना ॥ जगतमें दुःख भरे नाना ॥ टेक ॥

सरल सत्य शिव सुन्दर कहना,
हिलमिल करके सबमें रहना ।
अपनी नीची ओर देखकर, धीरज-धन पाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ १ ॥

वे भी हैं पृथ्वीके ऊपर,
जिनको जीना भी है दूभर ।
उनकी हालतमें हमदर्दी, दिलसे दिखलाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ २ ॥

अन्न-वस्त्रमें क्यों दुविधा हो,
इनकी तो सबको सुविधा हो ।
भूखे या बेकार बन्धुको हिम्मत पहुँचाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ३ ॥

यदि तन-धन-जनसे विहीन हम,
पर मनसे क्यों बनें दीन हम ?
भला न सोचा अगर किसीका—बुरा न सुझवाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ४ ॥

जितना हो दुनियाको देना,
बदलेमें कम-से-कम लेना ।
जग-हितमें सर्वस्व मुक्त कर, सत्य मोक्ष पाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ५ ॥

ये सब कंचन-कामिनिवाले,
क्षणभरको बनते मतवाले ।
पर यह तो भीतर तृष्णाकी, भट्टी भड़काना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ६ ॥

कण-भर सुख है, मण-भर दुख है,
विषय-वासनाका यह रुख है ।
हाय-हाय मचती रहती है, चैन नहीं पाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ७ ॥

काम भोग अनुकूल न पायें,
पर तृष्णाको नहीं बढ़ायें ।
इच्छा ईंधन सदा अनलमें, यह न भूल जाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ८ ॥

जीवन जलत-बुझत दीवट है,
जल-घटकोंका यंत्र रँहट है ।
भरता है रीता होनेको, रीता भर जाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ९ ॥

झूठे वैभव पर क्यों फूला,
यह तो ऊँचा-नीचा झूला ।
धन-यौवनके चंचल-बलपर, कभी न इतराना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१०॥

नीति-सहित कर्तव्य निभाना,
अपने-अपने खेल दिखाना ।
संन्यासी हों या गृहस्थ हों, रंक हों कि राना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥११॥

उठना गिरना हँसना रोना,
पर चिन्तामें कभी न सोना ।
कर्मबंधके बीज न बोना, सत्य-योग-ध्याना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१२॥

ईश्वर एक, भरा हम सबमें,
श्रद्धा रहे राम या रबमें ।
'सबके सुखमें अपने सुख' का तत्त्व न बिसराना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१३॥

दिव्य गुणोंकी कीर्ति बढ़ाना,
जग-जीवनको स्वर्ग बनाना ।
दुनियाका नंदन वन फूले, वह रस बरसाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१४॥

जीवन्मुक्ति-मर्म समझाना,
हृदयोंको स्थितप्रज्ञ बनाना ।
सदा सत्यमय प्रेम-मंत्रके अमर-गीत गाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१५॥

सब ही शास्त्र बने हैं सच्चे,
किन्तु समझनेमें हम कच्चे ।
पक्षपातका रंग चढ़ाकर, क्यों भ्रम फैलाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१६॥

अविवेकी चक्कर खाता है,
तब लड़ना भिड़ना भाता है ।
रागद्वेषसे वैर बसाकर, धर्म न लजवाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१७॥

सब धर्मोंने रस बरसाया,
पाप-अनलका ताप बुझाया।
वह रस भी अब तपा अनलसे, अंग न जलवाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१८॥

जाति-भेद हैं इतने सारे,
बने सभी सुविधार्थ हमारे।
मानवताका भाव भूल क्यों मदमें मस्ताना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१९॥

धर्म-पंथमें भेद भले हों,
पर अपवाद विरोध टले हों।
एक सूत्रमें विविध पुष्पकी, माला पिरवाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२०॥

नैतिक नियमोंका पाबंदी,
संत स्वतंत्र सदा आनंदी।
पर पर-पीड़ामें उसको भी, आँसू बह आना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२१॥

युक्त अहार-विहार सदा हो,
फिर भी होना रोग बदा हो।
इस जीवनका नहीं भरोसा, मनको समझाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२२॥

हर हालतमें हों सम भावी,
बनें धर्मके सच्चे दावी।
सभी अवस्थाएँ अस्थिर हैं, हरदम गम खाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२३॥

कोई हो ऐसा अन्यायी,
बन जाये जगको दुखदायी।
उसे बचाना प्राण-मोह है, यह न दया लाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२४॥

विनयी सत्य-अहिंसक होना,
पर भौतिक भी शक्ति न खोना।
परके सिरपर किन्तु शांतिकी नींद नहीं आना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२५॥

मनको सीधे पंथ चलाना,
यथा-लाभ संतुष्ट बनाना।
पर-हित करके आत्म-प्रशंसक गर्व नहीं लाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२६॥

छल प्रपंच पाखंड भुलाना,
दुःस्वार्थोंका दम्भ मिटाना।
भेद दिखा करके भोलोंको, कभी न बहकाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२७॥

भूलें महामोहकी मस्ती,
बस जाये फिर उजड़ी बस्ती।
हितकर मनहर सद् भावोंका सरवर लहराना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२८॥

ये सब नभके मेघ रसीले,
इन्द्र-धनुष हैं विविध रँगीले।
ऐसा ही बस अपना मन हो, मैल नहीं लाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२९॥

इन सफेद आँखोंमें लाली,
उसमें भी है फीकी काली।
भिन्न-भिन्न मिल जायँ स्नेहसे, सुंदरता पाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥३०॥

यह हलकी-सी जीभ हमारी,
रस चखती है भारी-भारी।
पर क्यों इतनी विशद बुद्धिने, तत्त्व न पहचाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥३१॥

ज्वालामुख भूकम्प प्रलय सब,
ये संकट आ जाते जब-तब।
एक दिवस हमको मरना है, फिर क्यों घबराना ?
जगतमें दुःख भरे नाना ॥३२॥

यह तो प्रकृति-देविकी लीला,
क्षण-क्षणमें संघर्षण-शीला।
यथाशक्ति सहयोग परस्पर लेना दिलवाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥३३॥

आधा नर है आधी नारी,
मानव-रथ दो-चक्र-विहारी।
एक दूसरेके उपकारी, पूरक कहलाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥३४॥

पूर्ण ब्रह्मका ध्रुव प्रकाश है,
क्यों किसका जीवन निराश है।
सच्चे बनकर चिदानन्दमें आप समा जाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥३५॥

अन्तस्तलमें फैली माया,
द्रोह-मोहका घन तम छाया।
सत्य-प्रेमके 'सूर्यचंद' की किरणें चमकाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥३६॥

प्रेम-धर्मकी रीति समझकर, सब सहते जाना।
जगतमें दुःख भरे नाना ॥

सबसे पहली साधना

(लेखक—स्वामीजी श्रीतपोवनजी महाराज)

सबसे पहले मनुष्यको मनुष्य बननेके लिये साधना करनी चाहिये । मनुष्यके आकारमात्रसे ही कोई मनुष्य नहीं हो सकता । आकारके साथ ही उसमें मनुष्योचित गुण भी होने चाहिये । जिसमें मनुष्यके गुण विद्यमान हैं, वही वस्तुतः 'मनुष्य' शब्दका वाच्य हो सकता है । पशु-मनुष्य, मनुष्य-मनुष्य, और देव-मनुष्य—इस प्रकार स्थूलरूपसे मनुष्यके तीन विभाग किये जा सकते हैं । सच कहा जाय तो किसी-किसी अंशमें तो मनुष्य पशुसे भी निकृष्टतर जन्तु है । आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि चेष्टाएँ पशुओंमें प्रकृतिके अनुसार नियमपूर्वक परिमितरूपमें हुआ करती हैं । पशु अपने आन्तरिक भावको किसी भी प्रकारसे छिपानेका प्रयत्न नहीं करते । भीतर क्रोध होता है तो बाहर भी क्रोध प्रकट करते हैं । उनके मनमें विषाद होता है तो चेहरेपर भी आ जाता है । अंदर भूख-प्यास होती है तो वे बाहर भी वैसी ही चेष्टा करते हैं । परन्तु यह मनुष्य-जन्तु तो ऐसा है कि उसके भीतर रागकी आग धधकती रहती है, पर बाहरसे बड़ा विरक्त बन जाता है । चित्त क्रोधसे आकुल होनेपर भी बाहरसे प्रेम दिखलाता है । मन शोकसागरमें डूबा रहता है, परन्तु बाहर सर्वथा अशोक और हर्षका स्वाँग भरता है और अंदरसे पक्का नास्तिक होनेपर भी बाहर पूरा आस्तिक और धर्मोपदेशक बन बैठता है । इस प्रकारकी अप्राकृतिक जालसाजियोंके और अनियमित भोगलिप्साओंके कारण यह मनुष्य-जन्तु पशुओंकी श्रेणीमें भी स्थान न पाकर उनसे भी नीचा जीवन व्यतीत करता है ।

कहना न होगा कि धर्म और अधर्मका ज्ञान न होनेके कारण जगत्में केवल इन्द्रियसम्बन्धी व्यवहार करनेवाले पशु-मनुष्यकी अपेक्षा भी वह भोगपरायण और दम्भी मनुष्य अत्यन्त निकृष्ट है, जो प्रकृतिसिद्ध भोगोंके अतिरिक्त नाना प्रकारके कृत्रिम और महान् अनर्थकारी भोगोंका लोलुप होकर उन्हींकी प्राप्तिके उपायोंमें लगा रहता है तथा धर्मध्वजी बनकर अपने वाग्जालसे लोगोंको ठगा करता है । पशुमें कृत्याकृत्यका ज्ञान नहीं होता । यही उसमें मुख्य दोष है । इसीलिये जिस मनुष्यमें कृत्याकृत्यका ज्ञान नहीं होता, वह पशु-मनुष्य कहलाता है । परन्तु उपर्युक्त मनुष्य तो अनेकों प्रकारके महान् अक्षन्तव्य दोषोंसे दूषित है । पढ़े-लिखे, पण्डित और बुद्धिमान् होनेका अभिमान रखनेवाले लोग ही अधिकतर इस नीच श्रेणीके भूषण देखनेमें आते हैं । सीधे-सादे पशुतुल्य गँवार मनुष्योंमें तो इस अनर्थकारिणी नीच कलाका विकास ही नहीं होता ।

इसलिये मनुष्यको सबसे पहले मनुष्यत्व प्राप्त करनेकी साधना करनी चाहिये । प्राचीन समयमें गुरुकुलवास, गुरु-शुश्रूषा, सदाचार-निष्ठा आदि ऐसी उत्तम-उत्तम वैदिक प्रथाएँ थीं कि उनके प्रभावसे मनुष्यमें आप ही मनुष्यत्वका विकास हो जाता था । उस समय मनुष्यत्वके लिये विशेष साधना करनेकी आवश्यकता नहीं थी । आजकल तो, हेतु कुछ भी क्यों न हो, मनुष्य अपने मनुष्यत्वको ही खो रहा है । और जब मनुष्यमें मनुष्यत्व ही न हो तब फिर वह दिव्य-गुण-सम्पन्न देव-मनुष्य तो हो ही कैसे सकता है ! ईश्वराराधन, ईश्वरभक्ति, अध्यात्म-विचार तथा ध्यान और समाधि आदि ऊँची दिव्य साधनाएँ ऐसे पतित मनुष्योंके द्वारा कैसे सम्पादित हो सकती हैं ?

'नाविरतो दुश्चरितात् ।'

—इत्यादि श्रुतियाँ दुराचरण और दुर्गुणोंसे रहित उत्तम पुरुषोंका ही अध्यात्मसाधनामें अधिकार बतलाती हैं । कर्म, योग, भक्ति और ज्ञानसम्बन्धी वैदिक, तान्त्रिक अथवा पौराणिक अध्यात्मसाधना श्रेष्ठ सदाचारी पुरुष ही कर सकते हैं । हठ, दुराग्रह या कौतूहलपूर्वक अनधिकार चेष्टा करनेसे क्या फल हो सकता है ?

अतएव हे मनुष्य ! तुम पहले मनुष्य बनो ! मनुष्यत्वके लिये जिन साधनाओंकी आवश्यकता है, पहले उन्हींको करो । धर्मका ज्ञान न हो तो सत्पुरुषोंकी सङ्गतिसे पहले उसे प्राप्त करो । धर्मज्ञान हो तो उसमें श्रद्धा और निष्ठा करके तदनुकूल आचरण करो । शुद्ध आचरण ही मनुष्यत्व-के मापनेका मानदण्ड है ।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

—इस उक्तिको सदा याद रक्खो । तथा—

'सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न

प्रमदितव्यम्। सत्यं वद। धर्मं चर। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि।'

—इत्यादि श्रुतिवचनोंके अनुसार सत्य, धर्म, दया, दान, समता, मैत्री, तप, शम, दम, सन्तोष, धैर्य, स्थैर्य, क्षमा, शौच, आर्जव (मन, वाणी और शरीरकी सरलता—एकरूपता), ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, गुरुभक्ति, मातृभक्ति, पितृभक्ति, देशभक्ति, दीनसेवा आदि श्रेष्ठ गुणोंका उपार्जन करके सच्चे धर्मनिष्ठ सदाचारी मनुष्य बनो। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी, भरत, लक्ष्मण, युधिष्ठिर एवं सीता, सावित्री आदि ऐतिहासिक उत्तम-उत्तम पुरुषरत्न और स्त्रीरत्नोंके जीवनको सामने रखकर अपनेको उसीके अनुसार सच्चा और श्रेष्ठ मनुष्य बनानेकी चेष्टा करो।

उत्तम मनुष्य ही ईश्वर-प्राप्तिकी दिव्य ईश्वरीय साधना करनेका अधिकारी होता है। इसलिये प्रकाण्ड ताण्डव छोड़कर अर्थात् बड़े-बड़े ईश्वरभक्त और ब्रह्मज्ञानियोंके देवपूज्य और देवदुर्लभ उच्च स्थानोंपर आरोहण करनेकी उत्सुकता त्यागकर सबसे पहले मनुष्यत्वको प्राप्त करनेकी सच्ची साधना करो। धर्माचरणरूपी यह धार्मिक साधना ही अध्यात्म-मन्दिरपर चढ़नेके लिये पहली सीढ़ी है। इसलिये यही सबसे पहली साधना है।

साधनकी अनिवार्य आवश्यकता

'उत्तिष्ठध्वं जागृध्वमग्निमिच्छध्वं भारताः।'

—श्रुति

'बुद्धिमानो! उठो, जागो और भगवत्प्राप्तिकी इच्छा करो।'

विचारशील मनुष्यके सामने सबसे पहले यह प्रश्न आता है कि हमें क्या चाहिये? और जो चाहिये, उसके लिये हमें क्या करना चाहिये। पहले उद्देश्यका निश्चय, तत्पश्चात् उसकी साधनाका निश्चय होता है। मनुष्य कुछ-न-कुछ चाहता है। कोई धन-सम्पत्ति चाहता है, कोई स्त्री-पुत्र चाहता है, कोई मान-प्रतिष्ठा और कीर्ति चाहता है, कोई सुन्दर शरीर चाहता है और कोई चाहता है अप्रतिहत शासन। इस चाहके और भी अनेकों नाम-रूप हो सकते हैं। परन्तु ये भी जीवनके उद्देश्य नहीं, क्योंकि इनके द्वारा भी सुख ही चाहा जाता है। यदि ये दुःखके कारण बन जायँ तो इनके भी परित्यागकी इच्छा होती है और परित्याग कर दिया जाता है। इसलिये यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि मनुष्य-जीवनका लक्ष्य परम सुखकी प्राप्ति है—ऐसी प्राप्ति, जिसमें किसी प्रकारकी सीमा, अन्तराय अथवा विच्छेद न हो—चाहे वह संग्रहसे हो चाहे त्यागसे। यही कारण है कि मनुष्य जिसको सुख समझता है उसको प्राप्त करनेके लिये दौड़ पड़ता है, सम्पूर्ण शक्तिसे उसके लिये प्रयत्न करता है। इस प्रयत्नका नाम ही साधना है।

साधारण मानव-समाजकी ओर दृष्टि डाली जाय तो यह प्रत्यक्ष ही दीख पड़ता है कि सभी किसी-न-किसी साधनमें लगे हुए हैं। ऐसा होनेपर भी वे दुःखी हैं, निराश हैं और साधना करके जिस आत्मतुष्टिका अनुभव करना चाहिये उससे वञ्चित हैं। इसका कारण क्या है? शान्त और गम्भीर चित्तसे विचार करनेपर जान पड़ता है कि जीवनका उद्देश्य निश्चय करनेमें ही उन्होंने भूल की है। धधकती हुई आगको शीतल मणि-खण्ड समझकर गोदमें उठा लेना जैसे सुखका कारण नहीं हो सकता, विषको अमृत समझकर पीना जैसे अमरत्वका कारण नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही विनाशी वस्तुओंको सुख समझकर अपनानेसे सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जिन स्थूल और जड वस्तुओंमें सुखकी कल्पना करके साधारण मनुष्य जी-तोड़ परिश्रम कर रहे हैं, उनकी प्राप्ति होनेपर भी सुख नहीं मिलता; क्योंकि उनमें सुख है ही नहीं। इसीसे वे दुःखी हैं और तबतक उनका दुःख नहीं मिट सकता, जबतक सुखके वास्तविक स्थानका पता लगा कर वे उसको प्राप्त नहीं कर लेते।

वास्तविक सुख क्या है? इसका एकमात्र उत्तर है—परमात्मा। क्योंकि संसारमें जब कभी इच्छाओंके शान्त हो जानेपर यत्किञ्चित् सुखकी अनुभूति होती है और कई बार कई कारणोंसे होती है तब इस निश्चयका कारण मिल जाता है कि इन समस्त छिट-पुट सुखोंका अवश्य ही कोई-न-कोई भाण्डार है। उसीका नाम तो परमात्मा है। एक ऐसी सत्ता है, जो समस्त परिवर्तनोंमें सदा एकरस है। एक ऐसा ज्ञान है जो सम्पूर्ण ज्ञानोंका उद्गम है, जिसमें अज्ञानका लेश भी नहीं है। एक ऐसा आनन्द है, जिसका निर्वचन मन और

वाणीसे मौन होकर ही किया जाता है और जिसके आस्वादन-में आस्वाद्य और आस्वादकका भेद नहीं रहता। वह मधुरातिमधुर, नित्यनूतन, परम मनोहर, सत्य परमात्मा ही तो है। उसको देखे विना आँखें अतृप्त ही रहेंगी। उसके विना हृदयकी सेज सूनी ही रहेगी, उसका आलिङ्गन प्राप्त किये विना बाँहें फैली ही रहेंगी। तात्पर्य यह कि उसको प्राप्त करनेमें ही जीव-जीवनकी पूर्णता है और जिस जीवनका वह लक्ष्य है, वही सच्चा जीवन है। इस सच्चे जीवनका नाम ही साधन है। जिन्हें यह साधन प्राप्त है, साध्य भी उन्हें प्राप्त ही है। क्योंकि साधन ही साध्य है और वही सिद्धि भी है। यही वास्तविक सुख है।

जीव पूर्वतन संस्कारोंसे इतना जकड़ गया है कि वह संज्ञाहीन, मूर्च्छित अथवा सुषुप्त हो गया है। वह भगवदीय प्रेरणा और शक्तिका अनुभव करनेमें असमर्थ है। क्योंकि इस समय जो अन्तःकरण जागरित रहकर कार्यकारी हो रहा है, वह वासनाओंके पुञ्जके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसीसे प्रेरित होकर साधारण मनुष्य उन्मत्तकी भाँति लक्ष्य-हीन प्रयत्न कर रहे हैं, जिनके कारण बन्धन और भी दृढ़ होता जा रहा है। यही कारण है कि अधिकांश अपनेको स्थूलशरीर मानकर इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली सम्भावनाओंके प्रवाहमें बह रहे हैं। इस जडताको, अन्धगतिको और बन्धनको नष्ट करना होगा। यह सत्य है कि यह बन्धन बहुत ही निष्ठुर है, तथापि इसको काट डालनेमें कोई सन्देह नहीं है। भगवान्‌की अनन्त शक्ति और कृपाका आश्रय लेकर क्या नहीं किया जा सकता ? अन्तमें भागवत सत्ताकी विजय निश्चित है।

वासनाओंसे सञ्चालित होते रहनेके कारण चित्तमें इतनी पराधीनता आ गयी है कि इनसे मुक्त होनेका प्रयत्न प्रारम्भ करनेमें और उसको चालू रखनेमें कई बार अपनी ही वृत्तियाँ बाधक हो जाती हैं और यह असम्भव मालूम होने लगता है कि मेरी इस साधनासे भी कुछ सिद्धि-लाभ हो सकता है। अवश्य ही यह ठीक है कि सारा चराचर जगत् कर्मसूत्रसे बँधा हुआ है और यह वर्तमान जीवन और इसकी प्रवृत्तियाँ प्रारब्धके द्वारा ही परिचालित होती हैं; परन्तु यही सोचकर पुरुषकार अथवा साधनसे विमुख हो जाना, अपनी आध्यात्मिक उन्नतिको भी प्रारब्धपर छोड़ बैठना, बहुत बड़ी कमज़ोरी है—बल्कि यों कहें कि यह अपने ही हाथों अपने-आपकी हत्या है। भला, जिस साधनसे अपने-आपकी उपलब्धि होती है उसीको प्रारब्धके हाथों सौंप देना आत्मघात नहीं तो और क्या है ?

विचार करनेकी बात है कि जिस प्रारब्धके भरोसे हम अपने जीवनका उज्ज्वल भविष्य अन्धकारमें डाल देते हैं, उसका मूल क्या है ? पूर्वजन्मोंके पुरुषकारको ही तो प्रारब्ध कहते हैं। हमारे पूर्वजन्मके कर्म अच्छे थे या बुरे, साधक थे या बाधक—इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है ? मान लें कि वे साधनके विरोधी थे तो क्या हमें इस जन्ममें भी उनसे लड़कर आगेके लिये साधनके अनुकूल प्रारब्ध नहीं बनाना चाहिये ? क्या उन्हीं कर्मोंके चक्रमें पिसते रहकर जन्म-जन्म उन्हींकी गुलामी करनी चाहिये ? जिसमें ज़रा भी जीवन है, वह कभी ऐसी पराधीनता स्वीकार नहीं कर सकता। यदि यह मानें कि मेरे पूर्वजन्मोंके कर्म, जिनसे प्रारब्धका निर्माण हुआ है, साधनके अनुकूल ही थे तो क्या उनकी सहायताके लिये वैसे ही और भी कर्म करके उनकी प्रगतिको बढ़ाना नहीं चाहिये ? तात्पर्य यह कि प्रारब्ध चाहे अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल, दोनों ही हालतोंमें हमें अपने जीवनके उद्देश्यको पूर्ण करनेके लिये अथक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है।

कभी-कभी ऐसा देखनेमें आता है कि जो वर्षोंसे साधनामें लगे हैं, उन्हें सिद्धि नहीं प्राप्त होती और जिन्होंने बहुत ही थोड़ा परिश्रम किया है, उन्हें थोड़े ही दिनोंमें बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसका कारण क्या है ? पूर्वजन्मके संस्कार ही इसमें प्रधान कारण हैं। जिनके संस्कार साधनाके अनुकूल किन्तु प्रसुप्त थे और अब साधनाके संयोगसे जागृत हो उठते हैं, उन्हें अविलम्ब सिद्धि मिल जाती है। जिनके संस्कार नहीं थे या कम थे, उनकी साधना धीरे-धीरे पूर्वसञ्चित कर्मोंके भाण्डारसे सामग्री संग्रह करती है और समय आनेपर, तैयारी पूरी होनेपर साधनाकी अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, जिसमें पूर्व संस्कार भस्म हो जाते हैं और वह नित्य सिद्ध वस्तु, जो विभिन्न संस्कारोंसे अलिप्त, अस्पृष्ट और अनाकलित है, प्रकट हो जाती है तथा जीव अल्पसे महान् हो जाता है। संस्कारोंसे विजड़ित होनेके कारण ही जीवकी दृष्टि अशुद्ध हो गयी है। वह जो कुछ देखता है, संस्काराक्रान्त दृष्टिसे ही देखता है। इसीसे सत्य भी उसके चश्मेके रंगमें रँगा हुआ ही दीखता है। परमात्माकी बात तो अलग रही, वह अपने आपको ही दूसरे रंगमें रँगा हुआ देखता है। संस्कारोंके इस चश्मेको, दृष्टिके एक-एक दोषको ढूँढ़-ढूँढ़कर निकाल फेंकना होगा। सत्य कर्म-संस्कारोंकी अभिव्यक्ति नहीं है। इनके धो-बहानेपर

जो अवशेष रह जाता है, जो धोनेवालेका मूल स्वरूप है, जो धोनेवालेके धुल जानेपर भी रहता है, वही सत्य है और उसको ढूँढ़ निकालना ही साधना है। यह स्वयं ही करना होगा। जो आलस्य और प्रमादके भावोंसे अभिभूत हो रहे हैं, उनका अच्छा प्रारब्ध भी बाँझ हो जायगा; क्योंकि साधनाके साथ संघर्ष हुए बिना वह फलप्रसू नहीं हुआ करता। प्रारब्धरूपी बीजके अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होनेके लिये साधना एक सुसमृद्ध उर्वर क्षेत्र है और इसको तैयार करना साधकके अधीन है।

जीवका धर्म है साधना, और भगवान्‌का धर्म है कृपा। जीव जब अपने धर्मका पालन करता है, तभी वह भगवद्धर्मका अनुभव कर सकता है। जो स्वधर्मका पालन नहीं करता, वह दूसरेसे धर्मपालनकी आशा रक्खे—यह उपहासास्पद बात है। इसमें सन्देह नहीं कि भगवान्‌की कृपा चर-अचर, व्यक्त-अव्यक्त और जीव-अजीव—सबपर एकरस एवं अहैतुक है, उसके लिये देश, काल अथवा वस्तुका भेद नहीं है, वह अनादि कालसे अनन्त कालतक एकरस बरसती रहती है, बरसना ही उसका स्वभाव है और इस प्रकार बरसती रहती है कि जो कुछ है, वह सब उस कृपाका एक कणमात्र है; परन्तु इस सत्यका साक्षात्कार साधनाके बिना नहीं होता। हम कुछ न करें, कुछ न सोचें, परन्तु हमारी नस-नसमें कृपाकी विद्युत्-शक्ति दौड़ रही हो, हमारे रग-रगमें वही सुधा-मधुर धारा प्रवाहित हो रही हो, हमारे प्राणोंमें उसीका शक्ति-सञ्चार हो तथा मन, बुद्धि, अहङ्कार—जो कुछ मैं हूँ—उसीमें डूब-उतरा रहे हों, हमारी यह स्थिति बाह्य दृष्टिसे साधना न होनेपर भी परम साधना है। और मैं तो कहता हूँ, यही सबसे बड़ी सिद्धि है। यदि इससे बड़ी कोई सिद्धि हो तो वह हमें नहीं चाहिये। परन्तु इस अनुभूतिके बिना कृपाका नाम लेकर हाथपर हाथ धरके बैठ रहना आत्मवञ्चना है। स्त्रीके लिये, पुत्रके लिये, शरीरके लिये, मनोरञ्जनके लिये प्रयत्न हो अथवा आलस्यको ही सुख मानकर पड़े रहें, परन्तु साधनकी चर्चा चलनेपर अपनी अकर्मण्यता और आलस्यप्रियताके समर्थनमें भगवत्कृपाका नाम ले लें या उसके नामपर सन्तोष कर लें—साधना-जगत्‌में यह एक अमार्जनीय अपराध है।

सूर्यका स्वभाव है कि वह अपनी आलोक-रश्मियोंके विस्तारसे निखिल जगत्‌में नवीन चेतना और स्फूर्तिका सञ्चार करता रहे। यदि नेत्र-दोषके कारण कोई उस प्रकाशको नहीं ग्रहण कर सके तो यह सूर्यका वैषम्य नहीं, नेत्रके रोगीका ही दोष है। इसी प्रकार भगवत्कृपा होनेपर भी, रहनेपर भी, उसको अनुभव कर सकनेकी योग्यताका अभाव दूर करना होगा। हमें साधनाके द्वारा अपने अन्तःकरणमें ऐसी पात्रता और क्षमताको उद्दीप्त करना पड़ेगा, जिसके द्वारा हम उस एकरस कृपाका अनुभव करनेमें समर्थ हो सकें। सूर्यका प्रकाश तो कोयले और आतशी शीशेपर समानरूपसे ही पड़ता है, परन्तु कोयलेपर उसका बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है और आतशी शीशेके संयोगसे वह प्रज्वलित हो उठता है। यही बात भगवत्कृपाके सम्बन्धमें भी है। उसकी अनुभूतिके लिये साधनाके संघर्षसे चमकते हुए निर्मल और उज्ज्वल अन्तःकरणकी आवश्यकता है।

कौन नहीं जानता कि अग्नि सर्वव्यापक है। आकाशमें फैले हुए नन्हे-नन्हे जल-कण और प्रलयकी आगको भी बुझा देनेकी शक्ति रखनेवाली समुद्रकी उत्ताल तरङ्गें भी अव्यक्त अग्निसे शून्य नहीं हैं। यह सत्य है। परन्तु इस व्यापक अग्निके द्वारा न तो घरका अँधेरा ही दूर किया जा सकता है और न भोजन ही तैयार किया जा सकता है। यदि हम ऐसा करना चाहते हैं तो हमें साधन-सामग्रीसे अव्यक्त अग्निको व्यक्त करना पड़ता है, व्यापक अग्निको एक घेरेमें प्रज्वलित करना पड़ता है। यदि हम भगवत्कृपाके द्वारा अपने हृदयमें प्रकाश और आनन्दका अनुभव करना चाहते हैं तो हमें साधन-सामग्रीसे उसको ऐसा बनाना ही पड़ेगा कि वह उस अव्यक्त और व्यापक कृपाको मूर्त्तरूपमें अनुभव कर सके। इसीसे यह देखा गया है कि भगवत्कृपापर जिनका जितना अधिक विश्वास है, वे उतना ही अधिक साधनामें संलग्न होते हैं। वे एक क्षणके लिये भी भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा और उसकी अनुभूति नहीं छोड़ते, छोड़ नहीं सकते; क्योंकि उनका जीवन कृपामय अतएव साधनमय हो गया है।

हृदयके अन्तर्देशमें परमात्मा और उसके बहिर्देशमें स्थूल प्रपञ्च है। दोनोंके मध्यमें स्थित हृदय जब स्थूल प्रपञ्चका चिन्तन करता है तब क्रमशः जडभावापन्न हो जाता है और जब अन्तःस्थित चित्स्वरूप परमात्माका चिन्तन करता है, तब चिद्भावापन्न हो जाता है। हृदयको जडताके दलदलसे निकालकर चिद्भूमिपर प्रतिष्ठित करनेका प्रयत्न ही साधना है। इस प्रयत्नमें अनेकों प्रकारके स्तर और भूमिकाएँ सहज-रूपसे ही आती हैं। कई साधक पहले जन्मोंमें उनमेंसे बहुत-

सी अथवा कुछ भूमिकाएँ पार कर चुके होते हैं, इसलिये वर्तमान जन्ममें उन्हें उसके आगेकी ही साधना करनी पड़ती है। अधिकारभेदका भी यही कारण है। इसीसे भिन्न-भिन्न साधकोंके लिये अलग-अलग साधनाओंका निर्देश है। एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट की जाती है।

मान लीजिये, दो व्यक्ति भयङ्कर धूपमें घूम रहे हैं। एकको लू लग जाती है और एकको थोड़ी-सी गरमीका ही अनुभव होता है। पहलेको ज्वर हो आता है, दूसरा स्वस्थ रहता है। एक ही धूपका इन दोनोंपर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। इसका कारण क्या है? यही कारण है कि इनके शरीरमें रहनेवाली धातुएँ एक-सी नहीं हैं। एकमें धातु-साम्य है तो दूसरेमें वैषम्य। इसीसे एक ही धूपके दो फल होते हैं। इसी प्रकार किसीका अभिमान स्थूलशरीरमें है तो किसीका सूक्ष्मशरीरमें। इसके भी अनेकों स्तर होते हैं। जो जिस स्तरकी साधनाको पार कर चुका है, वह उसके लिये सहज होता है और जो अभी दूर है, उसमें प्रवृत्ति ही नहीं होती। जिस स्तरमें उसका अभिमान है, वहींसे साधना प्रारम्भ होती है। मनको निषिद्ध कर्मोंसे हटाकर विहित कर्मोंके स्तरमें लाना पड़ता है। विहित कर्मोंमें भी जबतक ऐहलौकिक काम्य कर्म होते हैं, तबतक स्थूलशरीरका ही अभिमान काम करता रहता है। पारलौकिक कामना होनेपर सूक्ष्मशरीरका जागरण प्रारम्भ होता है और निष्कामताके साथ ही अन्तःकरणकी शुद्धि होने लगती है। यह निष्कामता भी शारीरिक कर्मके साथ, मानसिक कर्मके साथ और दोनोंसे रहित—तीन प्रकारकी होती है। पहलेका नाम कर्मयोग, दूसरेका नाम भक्तियोग और तीसरेका नाम ज्ञानयोग है। जब अन्तःकरण शारीरिक और मानसिक कर्मोंसे रहित होकर निस्सङ्कल्प जागरित रहने लगता है, तब उसे विशुद्ध सत्त्व कहते हैं। समाधियोंके समस्त भेद इसीके अन्तर्गत हैं। इसीमें वास्तविक ज्ञानका उदय होता है, जो कि स्वयं परमात्मा है। इसके पहले अपनी वासनाएँ ही, जो कि अनादि कालसे अगणित रूपोंमें दबी पड़ी रहती हैं, नाना प्रकारके रूप धारण करके आती हैं। समस्त संस्कारोंके धुल जानेपर ही परम सत्यका साक्षात्कार सम्भव है। उनको धो डालना ही साधनाओंका काम है। इनमेंसे और इनके अतिरिक्त और भी विभिन्न स्तरोंमेंसे जो जिस स्तरमें पहुँचा हुआ साधक होगा, उसको उससे भी ऊपर उठनेके लिये साधनाकी आवश्यकता होगी—चाहे उस साधनाका रूप जो भी हो।

ज्ञान साधनाका विरोधी नहीं है। वह तो उसमें रहनेवाले अज्ञानमात्रका ही विरोधी है। अज्ञानका नाश करके साधनाओंके स्वरूपकी रक्षा करनेमें ज्ञानका जो महत्त्व है, वह कोई अनुभवी महापुरुष ही जान सकता है। साधनाओंमेंसे नीच-ऊँच भावको निकालकर विभिन्न रुचि, प्रवृत्ति और अधिकारवालोंके लिये सबको सम श्रेणीमें कर देना ज्ञानदृष्टिका ही काम है। इसलिये ज्ञानसम्पन्न पुरुष कभी किसी भी साधनाका विरोध नहीं करते और जैसे दूसरे साधकोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक साधनाएँ होती हैं, वैसे ही ज्ञानीके शरीरसे भी सहज रूपमें हुआ करती हैं। प्रमाद और आलस्य तो अज्ञानके कार्य हैं, जो आदर्श महात्मामें रह ही नहीं सकते। इसीसे ज्ञानके पूर्वकालमें उन्हें जिन साधनोंका अभ्यास हो जाता है, उन्हींका शरीरके त्यागपर्यन्त सदा अनुष्ठान होता रहता है। जहाँ आलस्य, प्रमाद अथवा कायक्लेशके कारण जान-बूझकर साधनोंका परित्याग किया जाता है, वहाँ तो विशुद्ध ज्ञान ही नहीं है। और ऐसी स्थितिमें दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो ही नहीं सकती।

साधनामें प्रवृत्ति ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिको लक्ष्य करके होती है। जबतक लक्ष्यकी सिद्धि न हो, तबतक साधनासे निवृत्त हो जाना कायरता है। सुख और दुःख अन्तःकरणमें होते हैं। इसलिये अन्तःकरणको ऐसी स्थितिमें ले जाना साधनाका काम है, जिसमें उनका अनुभव ही नहीं होता। ज्ञानाभासका आश्रय लेकर अन्तःकरणको सुख-दुःखमें पड़ा रहने देना अज्ञान है। ऐसा निस्सङ्कल्प अन्तःकरण, जिसमें सुख और दुःख दोनोंके प्रति समत्व है अथवा उनकी प्राप्ति और विघातके लिये कोई स्पन्दन नहीं है, जीवन्मुक्तका अन्तःकरण है; और यदि ज्ञान नहीं भी हुआ है तो साधनकी चरम सीमा अवश्य है। इसीसे ज्ञानप्राप्ति और ज्ञानरक्षा अर्थात् जीवन्मुक्तिका सुख अनुभव करनेके लिये ज्ञानसिद्धान्तमें भी साधनाकी अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार की गयी है।

क्षीण हो रहा है क्षण-क्षण यह मनुष्य-जीवन। काल

निगल जाना चाहता है अभी-अभी ! सारा संसार विनाशकी ओर द्रुतगतिसे दौड़ रहा है। एक ओर यह दृश्य है तो दूसरी ओर परमानन्दस्वरूप प्रभु हमें अपनी गोदमें लेनेके लिये न जाने कबसे प्रतीक्षा कर रहे हैं और अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। अज्ञान-निद्रामें सोया हुआ यह जीव यदि जग जाय तो यह अपनेको परमात्माकी गोदमें, उनके स्वरूपमें ही पाकर निहाल हो जाय और स्वप्नकी सारी विभीषिकाएँ निर्मूल होकर लीलाके रूपमें दीखने लगें। यह जागरण ही साधना है और यह करना ही होगा।

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।'

'उठो, जागो और बड़ोंके पास जाकर जानो।'

शा.

साधकका परम धर्म

(लेखक—श्रीदादा धर्माधिकारी)

साधक वह है, जिसने अपने साध्यतक पहुँचनेके लिये एक निश्चित मार्ग सोच-समझकर निर्धारित कर लिया हो। उसका साध्य तो निश्चित है ही। लेकिन इसके अतिरिक्त उस साध्यकी प्राप्तिका साधन भी निश्चित है। साधन-निश्चय और साधननिष्ठा ही साधककी विशेषता है। कई लोग यह कहते पाये जाते हैं कि 'साधननिष्ठाकी आवश्यकता नहीं है। एक ही साध्यके अनेक साधन हो सकते हैं और होते भी हैं। अपनी शक्ति तथा देश-काल-परिस्थितिके अनुसार जब जो साधन सुलभ हो, उस वक्त उसका प्रयोग करना चाहिये। 'साधनानामनेकता'—लोकमान्य तिलक-जैसे ज्ञानवान् कर्मयोगीका दिया हुआ सूत्र है।'

दूसरे कुछ लोग 'End justfies the means' वाली अंग्रेजी कहावतका अनुवाद करते हुए कहते हैं, 'साध्यशुद्धौ साधनशुद्धिः'। वे कहते हैं, 'हमारा उद्देश्य और हमारी नीयत पवित्र होनी चाहिये। उस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये हम किन साधनोंको काममें लाते हैं, इसकी छान-बीन करना अनावश्यक एवं अप्रस्तुत है। धर्मका सम्बन्ध मनुष्यके उद्देश्य और अभिप्रायसे है, न कि उसकी बाह्य कृतियोंसे। धर्मकी गति स्थूल और बाह्य नहीं है। इसलिये साधनको महत्त्व देना साध्यको भुला देनेके बराबर है।'

ये दोनों पक्ष तर्कदुष्ट हैं। दोनोंमें गहरे तथा सूक्ष्म विचारका अभाव है। शास्त्रीय दृष्टि तो इनमें नामको भी नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर सबसे पहले साध्य और साधनका अपरिहार्य सम्बन्ध ध्यानमें आयेगा। ईश्वरकी इस सृष्टिमें सर्वत्र नियति और व्यवस्था पायी जाती है। हम जिसे 'संयोग' या 'आकस्मिक घटना' कहते हैं, उसके पीछे भी सृष्टिके कुछ शाश्वत और अबाधित नियम होते हैं। इसीलिये श्रीअरविन्दने कहींपर कहा है—'In the dispensation of an Almighty Providence nothing happens by accident.' शायद उन्होंने इन्हीं शब्दोंमें न कहा हो, लेकिन इसी अर्थके शब्दोंमें कहा है।

इस सृष्टिमें साध्य-साधनका भी एक अपरिहार्य और अबाधित सम्बन्ध पाया जाता है। चाहे जिस साधनसे चाहे जो साध्य प्राप्त होता हुआ नहीं पाया जाता। अगर ऐसा होता तो सृष्टिमें कोई व्यवहार ही सम्भव न होता, जीवनकी गति कुण्ठित हो जाती और अनवस्था-प्रसङ्ग आ जाता। सृष्टिमें कार्य-कारण-सम्बन्ध किसी-न-किसी रूपमें सर्वत्र विद्यमान है। इसीलिये हमारा जीवन और उसके आनुषङ्गिक व्यवहार चल सकते हैं। साध्य और साधनका भी ऐसा ही कार्य-कारण-सम्बन्ध है। हर किसी कारणमेंसे हर कोई कार्य निष्पन्न नहीं होता। पानी या तेल बिलोनेसे मक्खन नहीं निकलता। अगर मक्खनकी आवश्यकता हो तो दूध या दही ही बिलोना पड़ेगा। दही बिलोनेकी विधियाँ या उपकरण अनेक हो सकते हैं। लेकिन मुख्य साधन तो एक ही होगा—दूध या दही बिलोना।

साध्य निश्चित करनेके बाद साधननिश्चय क्रमप्राप्त है। साधननिश्चयकी सबसे पहली शर्त यह है कि वह साध्यानुकूल हो यानी उसमें हमारा अभीष्ट साध्य प्राप्त करानेकी शक्ति सन्निहित हो। अगर उसमें यह शक्ति न हो तो वह साधन बेकार है और उसे स्वीकार करना जडता तथा मूढ़ताका लक्षण है।

मतलब यह कि साध्यविवेक और साध्यनिर्णयका जितना महत्त्व है, उतना ही महत्त्व साधनविवेक और साधननिर्णयका भी है। साधन भी दो प्रकारके होते हैं—एक साक्षात् या

प्रत्यक्ष और दूसरा सहायक या अप्रत्यक्ष। प्रत्येक साध्यका साक्षात् या प्रत्यक्ष साधन खोजकर उसका नैष्ठिक आचरण करना साधकका विशिष्ट धर्म है। इसीमें उसका साधकत्व है। साधकदृष्टिकी यह विशेषता है कि वह साध्य-साधनके अचूक सम्बन्धको देखनेकी अविरत चेष्टा करती है। साध्य और साधनके अपरिहार्य सम्बन्धका पहला लक्षण यह है कि उन दोनोंमें स्पष्ट साधर्म्य होना चाहिये। साधनमें साध्यको प्रकट करनेकी शक्ति होनी चाहिये। 'कथमसतः सज्जायेत ?' —यह प्राचीन शास्त्रकारोंका नियम यहाँपर भी लागू होता है। जिस साधनमें साध्य उत्पन्न करनेकी शक्ति न हो, अर्थात् जिसमें साध्य बीजरूपमें विद्यमान न हो, या अधिक स्पष्ट भाषामें कहें तो जिस साधनमें साध्यकी विशेषताएँ मौजूद न हों—वह साधन उपयोगी नहीं है। इस दृष्टिसे 'साधनानाम् अनेकता'का अर्थ 'साधनानाम् अविवेकः' या 'साधनानाम् अनिश्चयः' नहीं है। क्योंकि किसी भी साधनका कुशलता-पूर्वक प्रयोग तभी हो सकता है, जब कि उसका स्वीकार विचारपूर्वक किया गया हो और उसका हमारे निर्दिष्ट साध्यसे स्वाभाविक सम्बन्ध हो। जो साधक इस मूलभूत सिद्धान्तको भूलेगा, उसकी बुद्धि अव्यवसायात्मिका हो जायगी। वह अपनी बहुशाख बुद्धिकी अनन्त गुत्थियोंमें और अनन्त साधनोंमें उलझकर गुमराह हो जायगा।

साधननिश्चयमें साध्य-साधनके अनिवार्य सम्बन्धके बाद साधकको अपने अधिकारका विचार करना चाहिये। अधिकार-में दो अंश हैं। एक अर्थित्व और दूसरा योग्यता। अर्थित्व-से मतलब है एक निश्चित उद्देश्य सिद्ध करनेकी उत्कट अभिलाषा। जहाँ अभिलाषा या अर्थित्व ही न हो, वहाँ कोई साधन खोजने या अपनानेका सवाल ही नहीं उठता— 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।' दूसरा अंश है योग्यता। साधककी शक्ति और परिस्थितिसे उसकी योग्यता मर्यादित होती है। इसलिये अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार प्रत्यक्ष साधनतक पहुँचनेके अनेक उपसाधन हो सकते हैं। परन्तु इन उपसाधनोंपर भी वे ही नियम लागू होते हैं जो कि मुख्य साधनपर। अर्थात् ये उपसाधन भी मुख्य साधनके अनुरूप होने चाहिये और उनमेंसे किसी एकको ही अपने अधिकारके अनुसार अपनाकर उसका एकाग्रतासे अनुष्ठान करना चाहिये।

एकाग्रता और निःसन्दिग्धता साधकबुद्धिके आवश्यक गुण हैं। साधकके मनमें जबतक साधनके विषयमें सन्देह रहेगा, तबतक वह अपनी सारी शक्ति लगाकर उसका आचरण नहीं कर सकता। मनःपूर्वकता और हार्दिकता कार्य-कुशलताकी कुञ्जी है। इसलिये साधकको अपने साधनमें इतना लीन हो जाना चाहिये कि उसे साध्यकी भी सुध न रहे। क्योंकि वह यह तो जानता ही है कि साधनकी पराकाष्ठा ही साध्यप्राप्ति है। रास्तेका अन्तिम बिन्दु ही तो मुकाम है न ? साधनकी परिपक्व अवस्थाका ही तो नाम साध्य है न ! 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' कहकर ऋषिने ब्रह्मप्राप्तिका साधन बतलाया। लेकिन इतनेहीसे उसे सन्तोष नहीं हुआ। इसलिये उसने साध्य-साधनका अभेद निर्दिष्ट करनेके लिये उक्त सूत्रमें 'तपो ब्रह्मेति' यह अंश और जोड़ दिया। जो साधक अपनी साधनामें उत्कटतासे जुट गये, उन्होंने उसीमें साध्यप्राप्तिका अमित आनन्द पाया। साध्य और सिद्धि दौड़कर उनके पीछे आयी और उनके जीवनमें घुल-मिल गयी, लेकिन उन्हें उसका पता भी न चला। वे तो साधना-के सात्त्विक आनन्दसे मतवाले हो रहे थे। प्रह्लादसे जब कहा गया कि 'मनमाना वरदान माँग ले' तो उसने कहा कि 'जो मुक्तिके लिये भक्ति करता है 'स वै वणिक्'। मैं कोई सौदागर नहीं हूँ। भक्ति तो मेरा स्वभाव है।' तुकारामने कहा, 'मैं मुक्ति-भुक्ति नहीं चाहता, मुझे तो साधनामें ही आनन्द आता है।' पुण्डलीकके पीछे स्वयं मुक्तिदाता आकर खड़े हो गये तो भी साधननिरत पुण्डलीकने नम्रतासे कहा कि 'इस वक्त मैं मुड़कर भी नहीं देख सकता। सेवामें लगा हूँ।'

यह है साधनपरायणताकी चरम सीमा। ये भक्तश्रेष्ठ जानते थे कि जिस साधनाकी बदौलत हमें सिद्धि प्राप्त हुई है, उसकी महिमा अपरम्पार है। यह अविवेकी 'साधन-आग्रह' या 'साधनवाद' नहीं है। इसमें साधनको ही साध्यके सिंहासनपर हठात् बैठानेका मूढ़ प्रयास नहीं है। यह तो साध्य और साधनका वैज्ञानिक सम्बन्ध जानकर उसके अनुसार सारी शक्तियाँ साधनपर एकाग्र करनेका शास्त्रशुद्ध और युक्तिसङ्गत मार्ग है। साधनैकनिष्ठा ही साधकका परम धर्म है। इसीलिये स्वामी विवेकानन्दने कहा है, 'Take care of the means and the end will take care of itself.' और इस युगका अद्वितीय साधक गांधी कहता है, 'I believe that ultimately the means and the end are convertible terms.' (साधन और साध्य ऐसे शब्द हैं जो अन्ततः एक दूसरेमें परिवर्तित किये जा सकते हैं।)

यदि 'End justifies the means' (अर्थात् साधनकी निकृष्टताको साध्यकी सिद्धि उत्कृष्ट बना देती है); इसका अर्थ यह हो कि अशुद्ध साधनसे भी शुद्ध साध्य प्राप्त हो सकता है तो वह अपसिद्धान्त है। हमें उसका अर्थ ऐसा करना चाहिये कि 'जो साधन साध्यके अनुकूल हो, वही उपयुक्त है'। यदि 'साधनानाम् अनेकता' का अर्थ 'साधनानाम् अनियमः' हो तो वह भी भयानक अपसिद्धान्त है। एक समय एक ही साधनका सम्यक् और नैष्ठिक अनुष्ठान हो सकता है। भिन्न-भिन्न अविरुद्ध साधनोंका सह-अनुष्ठान एक परिमित सीमातक ही सम्भव और इष्ट हो सकता है। विरुद्ध साधनोंका सह-अनुष्ठान न तो सम्भव है और न वाञ्छनीय ही।

हमारे राष्ट्रिय साध्यके साधननिर्णयमें गांधीजीकी यही भूमिका रही है।

सदाचार-साधनकी परमावश्यकता

(लेखक—स्वामीजी श्रीनारदानन्दजी महाराज)

सत्पुरुषोंद्वारा प्रमाणित आचरण ही सदाचार है। सत्य, अहिंसा आदि दैवी गुणोंसे युक्त पुरुष ही सत्पुरुष है। सत्पुरुषको साधु और असत्पुरुषको असाधु कहा जाता है। संसारमें दो ही प्रकारके पुरुष कहे गये हैं। भले-बुरे, सज्जन-दुर्जन, पुण्यात्मा-पापी, सुर-असुर, संत-असंत, सदाचारी और दुराचारी नामोंसे लोकमें और शास्त्रोंमें मनुष्योंको दो ही विभागोंमें विभाजित किया गया है—'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।'

श्रीगीताजीमें दैवी सम्पद्से युक्त पुरुषको ही देव कहा गया है। दैवी सम्पद्का वर्णन करते हुए १६ वें अध्यायमें सम्पूर्ण सदाचारके लक्षण दिये गये हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

सदाचारी अर्थात् दैवी प्रकृतिवाला पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है और दुराचारी अर्थात् आसुरीप्रकृतिवाला बन्धनमें पड़ा रहता है—'दैवी संपद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।' श्रीरामायणजीमें भी श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है—

संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥

ताते सुर सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहि परसु बदन यह दंड॥

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

सदाचारी पुरुषोंकी संख्या और शक्ति जैसे-जैसे क्षीण होती जाती है, वैसे-ही-वैसे संसारमें घोर अशान्ति बढ़ती जाती है और बिना समय ही प्रलयका-सा सङ्कट आ उपस्थित होता है। ऐसे समयमें संत-सुर-रक्षक श्रीजगदीश किसी महापुरुषके द्वारा सदाचारकी रक्षा तथा वृद्धि करवाकर शान्तिकी स्थापना करते हैं और विशेष आवश्यकता होनेपर स्वयं अवतरित होकर स्वयं उत्तम पुरुषोंके आचरण करके सारे जगत्को सदाचारकी शिक्षा देकर और संसारमें पूर्ण शान्तिका साम्राज्य स्थापित करके अन्तर्हित हो जाते हैं।

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

सदाचारकी स्थापना प्राणिमात्रके लिये कल्याणप्रद है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ आचरण करनेके कारण ही मर्यादापुरुषोत्तम कहलाये। सदाचारी पुरुषोंको परिणाममें सुख तथा दुराचारी पुरुषोंको दुःख हमेशा मिलता रहा है। सभी इतिहास-पुराण इसके साक्षी हैं। अतएव वर्तमान कालमें भी प्रत्येक समाजमें सदाचारकी स्थापनासे ही सुख-शान्ति मिल सकती है। प्रायः यह सभीके

अनुभवमें आ रहा है कि सदाचारी पुरुषके प्रति सबकी श्रद्धा होती है और श्रद्धेय पुरुषका ही प्रभाव संसारमें अधिक समयतक टिकता है । कला-कौशल, भौतिकविद्या, अथवा शारीरिक बलका प्रभाव क्षणिक होता है ।

जो मन, वाणी और शरीरसे सदाचारी है वही सदाचारी है । केवल वाणी या क्रियाका सदाचार दम्भमें परिणत हो जाता है, जिसके प्रकट होते ही पुरुष घृणाका पात्र बन जाता है और परिणाममें दुःखभोग करता है ।

जिस समय श्रीहनूमान्‌जी लंकामें संत-असंतोंकी परीक्षा कर रहे थे, उन्हें प्रथम ऐसा प्रतीत हुआ कि यहाँके निवासी सभी सदाचारी हैं; कारण यह कि सबके यहाँ वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप नित्य होता था और पुनः हार्दिक श्रद्धा देखनेपर ज्ञात हुआ कि सब लंकानिवासी अहिंसा, सत्य और दयासे शून्य हैं ।

दया, शौच और सत्य, अहिंसा आदि दैवीगुणोंका अभाव देखकर हनूमान्‌जीने निश्चय कर लिया कि ये सभी राक्षस हैं, इनसे मैत्री करनेसे अवश्य हानि है । अधिक खोजनेपर एक गृह राम-नामसे अंकित मिला तथा रामनामका उच्चारण करते विभीषण मिले और जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि इनका मन भी शुद्ध है, ये दया, शौच आदि दैवीगुणोंसे संयुक्त हैं, और साधु हैं, तभी हनूमान्‌जीने एक विभीषणको अपना सहायक बनाना निश्चय किया ।

राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा । हृदयँ हरष कपि सज्जन चीन्हा ॥
एहि सन हठि करिहउँ पहिचानी । साधु ते होइ न कारज हानी ॥

अहिंसा, सत्य, शौच, दया इत्यादि गुणोंका स्थान अन्तःकरणमें है और इन दैवीगुणोंकी परीक्षा दैवीप्रकृतिसम्पन्न शुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष ही कर सकता है । सदाचारके अन्तरङ्ग साधन ही मुख्य हैं, बहिरङ्ग गौण हैं । बहिरङ्ग साधन सरल होनेके कारण उनमें सबकी अतिशीघ्र प्रवृत्ति होती है । बहिरङ्ग गौण साधनोंका लक्ष्य अन्तरङ्ग अहिंसा, सत्य आदिकी वृद्धि करना है—इस बातको भूल जानेके कारण और आसुरी प्रकृति न त्यागनेके कारण प्रायः बहिरङ्ग साधन दम्भमें परिणत हो जाते हैं । कालनेमिके बहिरङ्ग साधन उत्तम साधुके समान थे । वेष, क्रिया, वाणीमें वह पूरा साधु प्रतीत होता था । परन्तु आसुरी प्रकृति हृदयस्थ होनेके कारण श्रीहनूमान्‌जीने उसका वध करनेमें संकोच न किया । आसुरी प्रकृतिवालोंको बाह्य आचरणोंके कारण प्रथम पूजित, पुनः भ्रष्ट और नष्ट होते देखकर बहिरङ्ग साधनोंपर जनताकी घोर अश्रद्धा हो गयी है तथा जिन ग्रन्थोंने बहिरङ्ग साधनोंकी महिमा गायी है, उनके वचनोंमें विश्वास कम हो गया है ! यदि शास्त्रमर्मज्ञ, अनुभवी, गुणातीत पथ-प्रदर्शकके द्वारा बहिरङ्ग साधनोंमें लगे हुए साधकको शनैः-शनैः अन्तरङ्ग साधनोंकी ओर अग्रसर करके एवं साधनाके सफल होनेपर सफलताके अभिमानसे सुरक्षित किया जाय तो साधक कृतकृत्य हो सकता है । ऐसा एक ही साधक सहस्रों नास्तिकोंको आस्तिक बना सकता है । जब श्रीनारदजीको अपने साधनमें सिद्धि देखकर अभिमान हुआ, भगवान्‌ने लीला करके उस अभिमानको दूर करके उन्हें कृतकृत्य किया । श्रीकाकभुशुण्डिजी पूर्वजन्ममें शूद्र-शरीर पाकर नाम-जप तो करते ही थे, परन्तु नीतिकी और सदाचारकी आवश्यकता नहीं समझते थे । इसी कारण गुरुके उपदेशकी बार-बार अवहेलना करते थे ।

गुरु नित मोहि प्रबोध दुखित देखि आचरन मम ।
मोहि उपजइ अति क्रोध दंभिहि नीति कि भावई ॥

शङ्कर भगवान् भी इस अनीतिको सहन न कर सके और उन्होंने अन्तमें दण्ड देकर ही इस अभिमान और अनीतिसे काकभुशुण्डिजीको मुक्त किया ।

तमोगुणीको तमोगुणी पदार्थ ही प्रिय होते हैं और तमोगुणी पदार्थोंके सेवनसे तमोगुण ही बढ़ता है, जिससे बन्धन और दृढ़ हो जाता है । जब कभी तमोगुणी पुरुष रजोगुणी पुरुषके प्रभावसे प्रभावित हो जाता है, तब वह रजोगुणी पदार्थोंका सेवन करता है । रजोगुणी पदार्थोंके सेवनसे वह कुछ समयमें रजोगुणी बन जाता है और ऐसा रजोगुणी पुरुष आगे चलकर सात्त्विक पुरुषके प्रभावसे प्रभावित होकर सात्त्विक पदार्थोंका सेवन करने लगता है और कुछ समयतक लगातार सात्त्विक पदार्थोंके सेवनसे सत्त्वगुणी बन जाता है । सत्त्वगुणी पुरुष ही ज्ञान और भक्तिके साधनोंमें प्रवृत्त होकर गुणातीत अथवा जीवन्मुक्त हो जाता है और सब प्रकारके संशयोंसे छूट जाता है । शास्त्रोंमें गुणातीतको ही स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त, ज्ञानी या जीवन्मुक्त आदि नामोंसे सम्बोधित किया गया है । इनके लक्षणोंमें कोई खास भेद नहीं पाया जाता—

स्थितप्रज्ञ—यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(गीता २ । ५७)

भगवद्भक्त—तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥
(गीता १२ । १९)

गुणातीत— मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
(गीता १४ । २५)

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥
(गीता १४ । १९)

जीवन्मुक्त— यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥
(गीता ५ । २८)

सदाचारके द्वारा ही तमोगुणीसे रजोगुणी बनता है और क्रमशः सदाचारके पालनसे रजोगुणीसे सत्त्वगुणी और सत्त्वगुणीसे गुणातीत बन जाता है । श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके तेरहवें अध्यायमें लिखा है कि गुणपरिवर्तनमें दस पदार्थ कारण होते हैं । गुणपरिवर्तनसे आचरणमें और स्वभावमें परिवर्तन होता है, क्योंकि कारणके सुधरनेसे कार्य स्वतः ठीक हो जायगा । वे दस पदार्थ ये हैं—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च ।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥

'शास्त्र, जल, जनसमुदाय, स्थान, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दस पदार्थ गुणपरिवर्तनमें हेतु हैं ।'

ये पदार्थ सत्त्वगुणी, तमोगुणी और रजोगुणी—तीनों प्रकारके होते हैं, जिनकी पहचान संतों तथा सद्ग्रन्थोंद्वारा हो सकती है ।

साधनमार्गमें उन्नति चाहनेवालेके लिये परमावश्यक है कि वह सदाचारकी निरन्तर वृद्धि करते हुए तमोगुणी और रजोगुणी पदार्थोंको छोड़कर सत्त्वगुणी पदार्थोंका ही सेवन करता रहे । इस प्रकार राजसी और तामसी प्रकृतिवाले पुरुष सात्त्विक बन सकते हैं । जिन पुरुषोंको यह भ्रम हो कि तामसी या राजसी प्रकृतिवाले पुरुषोंके स्वभावमें परिवर्तन हो ही नहीं सकता, वे इस साधनको आचरणमें लावें तो उनका भ्रम दूर हो सकता है । वर्तमानमें अनेकों साधक इसके प्रयोगसे सुधर गये हैं और सुधर रहे हैं । दुर्गुणोंको छुड़ानेके लिये अपराधियोंको दण्ड देनेके बजाय यदि इन दस पदार्थोंका संशोधन करके सेवन कराया जाय तो दुर्गुणी भी सदाचारी बन सकते हैं । सदाचारके साधनके प्रचारसे संसारमें सुख-शान्तिकी बहुत कुछ वृद्धि शीघ्र हो सकती है । सदाचारका प्रचार सदाचारी पुरुष ही कर सकते हैं । सदाचारके प्रचारकी प्रत्येक समाजमें परम आवश्यकता है ।

योगचतुष्टय

(लेखक—एक एकान्तवासी महात्मा)

(१)

मन्त्रयोग

योगसाधनका रहस्य दर्शनोंमें महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनमें, महर्षि भरद्वाजकृत कर्ममीमांसादर्शनमें और मन्त्रयोगसंहिता, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता, राजयोगसंहिता तथा पुराणोंमें और तन्त्रोंमें विस्तृतरूपसे वर्णित है । योगसाधनकी चार अलग-अलग शैलियाँ हैं । उनमें मन्त्रयोग प्रथम है । उसके महर्षि नारद, पुलस्त्य, गर्ग, वाल्मीकि, भृगु, बृहस्पति आदि आचार्य हुए हैं ।

मन्त्रयोगका सिद्धान्त यह है कि परमात्मासे भाव, भावसे नाम-रूप और उसका विकार तथा विलासमय यह संसार है । इसलिये जिस क्रमके अनुसार सृष्टि हुई है, उसके विपरीत मार्गसे ही लय होगा, यह निश्चय है । अर्थात् परमात्मासे भाव और भावसे नाम-रूपद्वारा जब सृष्टि हुई है, जिससे समस्त जीव संसार-बन्धनमें आ गये हैं, तो यदि मुक्तिलाभ करना हो तो प्रथम नाम-रूपका आश्रय लेकर, नाम-रूपसे भावमें और भावसे भावग्राही परमात्मामें चित्तवृत्तिका लय होनेपर ही मुक्ति होगी । इसलिये नारदादि महर्षियोंने नाम और रूपके अवलम्बनसे साधनकी विधियाँ बतलायी हैं; इसीका नाम मन्त्रयोग है । यथा योगशास्त्रमें:—

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात् ।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः ॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते ।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते ॥
नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः ।
अविद्याग्रसिताश्चैव तादृक्प्रकृतिवैभवात् ॥
आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिं चानुसृत्य वै ।
नामरूपात्मनोः शब्दभावयोरवलम्बनात् ॥

'सृष्टि नाम-रूपात्मक होनेके कारण नाम-रूपके अवलम्बनसे ही साधक सृष्टिके बन्धनसे अतीत होकर मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। जिस भूमिपर मनुष्य गिरता है, उसी भूमिके अवलम्बनसे वह पुनः उठ सकता है—यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। नाम-रूपात्मक विषय जीवको बन्धनयुक्त करते हैं, नाम-रूपात्मक प्रकृति-वैभवसे जीव अविद्याग्रस्त हुए रहते हैं; अतः अपनी-अपनी सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्तिकी गतिके अनुसार नाममय शब्द तथा भावमय रूपके अवलम्बनसे जो योगसाधन किया जाय, उसको मन्त्रयोग कहते हैं।' मन्त्रयोगका विस्तार और महिमा सबसे अधिक है। हिंदू-जातिकी मूर्त्तिपूजा और पीठविज्ञान मन्त्रयोगके अनुसार ही सिद्ध होते हैं। मन्त्रयोग-साधन-प्रणालीके अनेक अङ्ग हैं। उनमेंसे मन्त्रयोगके ग्रन्थोंमें निम्नलिखित अङ्ग मुख्य बतलाये हैं।

> **भवन्ति मन्त्रयोगस्य षोडशाङ्गानि निश्चितम्।**
> **यथा सुधांशोर्जायन्ते कलाः षोडश शोभनाः॥**
> **भक्तिः शुद्धिश्चासनं च पञ्चाङ्गस्यापि सेवनम्।**
> **आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि॥**
> **प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः।**
> **यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश॥**

'चन्द्रकी सोलह कलाओंकी तरह मन्त्रयोग भी सोलह अङ्गोंसे पूर्ण है। ये सोलह अङ्ग इस प्रकार हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पञ्चाङ्गसेवन, आचार, धारणा, दिव्यदेश-सेवन, प्राणक्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, जप, ध्यान और समाधि।' नाना शास्त्रोंमें इन सोलह अङ्गोंका विस्तृत वर्णन पाया जाता है। भक्तिका विस्तार तो सभी भक्ति-शास्त्रोंमें पाया जाता है। शुद्धिके अनेक भेद हैं। यथा—किस दिशामें मुख करके साधन करना चाहिये, यह दिक्शुद्धि है; कैसे स्थानमें बैठकर साधन करना चाहिये, यह स्थान-शुद्धि है; स्नानादिद्वारा शरीरशुद्धि और प्राणायामादिद्वारा मनःशुद्धि होती है। कैसे आसनपर बैठना चाहिये- जैसे कि चैलासन, मृगचर्मासन, कुशासनादि—यह आसन-शुद्धि है। अपने इष्टकी गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदय—ये पाँचों पञ्चाङ्ग कहाते हैं। आचारके तन्त्र और पुराणोंमें अनेक भेद कहे गये हैं। मनको बाहर मूर्त्ति आदिमें लगानेसे अथवा शरीरके भीतर स्थान-विशेषोंमें मनके स्थिर रखनेको धारणा कहते हैं। जिन सोलह प्रकारके स्थानोंमें पीठ बनाकर पूजा की जाती है, उनको दिव्यदेश कहते हैं। यथा—मूर्धास्थान, हृदयस्थान, नाभिस्थान, घट, पट, पाषाणादिकी मूर्त्तियाँ, स्थण्डिल, यन्त्र आदि। मन्त्रशास्त्रमें प्राणायामोंके अतिरिक्त शरीरके नाना स्थानोंमें प्राणको ले जाकर साधन करनेकी आज्ञा है। ये सब साधन प्राणक्रिया कहलाते हैं। न्यास आदि इसीके अन्तर्गत हैं। मन्त्रयोगमें अपने-अपने इष्टदेवके प्रसन्न करनेकी जो चेष्टाएँ हैं, वे मुद्रा कहाती हैं; यथा—शङ्खमुद्रा, योनिमुद्रा आदि। पदार्थविशेषद्वारा इष्टदेवका तर्पण किया जाता है। अग्निमें आहुति देनेको हवन कहते हैं। बलि तीन प्रकारकी होती है—यथा आत्मबलि अहङ्कारादिकी। इन्द्रियोंकी बलि तथा काम-क्रोधादिकी बलि, ये सब अन्तर्बलि हैं। बहिर्बलिमें सात्त्विक बलि फलादिकी और राजसिक-तामसिक बलि पशुकी होती है। अन्तर्याग और बहिर्यागभेदसे याग दो प्रकारका होता है। अपने इष्टके नामके जपको जप कहते हैं। जप भी वाचनिक, उपांशु और मानसिकभेदसे तीन प्रकारका होता है। इष्टके रूपके ध्यानको मनके द्वारा करनेसे जो साधन होता है, उसको 'ध्यान' कहते हैं। इष्टके रूपका ध्यान करते-करते अपनेको भूल जानेसे जो एक अवस्था होती है, उसे मन्त्रयोगमें 'महाबोध-समाधि' कहते हैं। यही मन्त्रयोगसमाधि है।

(२)
हठयोग

जैसे मन्त्रयोगके साधनोंमें नाम-रूपके अवलम्बनसे साधनकी विशेषता है, उसी प्रकार केवल स्थूलशरीरके अधिक अवलम्बनसे चित्तवृत्तिनिरोध करके योगसाधनकी प्रणाली हठयोगमें चलायी गयी है। महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌के निकट पहुँचनेके लिये साधनकी आठ पैड़ियाँ बतलायी गयी हैं। ये उत्तरोत्तर एक दूसरेसे ऊँची हैं। बहिरिन्द्रियोंपर प्रभाव रखनेको 'यम' कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंपर प्रभाव रखनेको 'नियम' कहते हैं। योगसाधनके लायक शरीर बनानेको 'आसन' कहते हैं। प्राण और अपान वायुपर प्रभाव डालकर उनको योगसाधनोपयोगी बनानेको 'प्राणायाम' कहते हैं। मनको बाहरसे खींचकर भीतरकी ओर लानेको 'प्रत्याहार' कहते हैं। भीतरमें मनको ठहरा रखनेको 'धारणा' कहते हैं। इष्टरूपी ध्येयमें मनके लगा रखनेको 'ध्यान' कहते हैं और इष्टमें मनको लीन करके अपनेको भूल जानेको 'समाधि' कहते हैं। यही 'अष्टाङ्गयोग' का सार है। इनमेंसे चार अङ्ग बाहरके हैं और चार अङ्ग भीतरके हैं। इन

आठोंका बहुत कुछ विस्तार है। उन विस्तारोंमेंसे मन्त्र, हठ, लय और राज—इन चार श्रेणीके साधनोंमें इन आठों अङ्गोंमेंसे किसीमें किसी अङ्गपर अधिक ध्यान दिया है और किसी-किसी साधनमें किसी-किसी दूसरे अङ्गपर विशेष ध्यान दिया है। शास्त्रोंमें कहा गया है कि महर्षि मार्कण्डेय, भरद्वाज, मरीचि, जैमिनि, पाराशर, भृगु, विश्वामित्र आदिकी कृपासे इस कल्पमें हठयोगका विस्तार हुआ है। जब देखा जाता है कि सूक्ष्मशरीरके तीव्र संस्कारसे उत्पन्न हुए कर्मोंके भोगका आश्रयरूपी जीवका स्थूलशरीर बनता है, अर्थात् सूक्ष्मशरीरके भावके अनुरूप ही स्थूलशरीरका संघटन होता है तथा सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर एक ही सम्बन्धयुक्त होकर रहते हैं, तब इसमें क्या बाधा है कि स्थूलशरीरके कार्योंके द्वारा सूक्ष्मशरीरपर आधिपत्य नहीं किया जा सकता? फलतः अधिकारिविशेषके लिये स्थूलशरीरप्रधान योगक्रियाओंका आविष्कार योगशास्त्र-में किया गया है, जिनके द्वारा साधक प्रथम अवस्थामें स्थूलशरीरकी क्रियाओंका साधन करता हुआ स्थूलशरीरपर सम्पूर्ण आधिपत्य कर लेता है और क्रमशः उस शक्तिको अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्मशरीरको वशमें लाकर चित्तवृत्तिनिरोधके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होता है। इसी योगप्रणालीको हठयोग कहते हैं।

मन्त्रयोगमें जिस प्रकार भावपूर्ण स्थूल ध्यानकी विधि है, हठयोगमें वैसे ही ज्योतिःकल्पनारूप ज्योतिर्ध्यान करने-की विधि रक्खी गयी है। अन्तर्जगत्‌के पवित्र भावोंको आश्रय करके जिस प्रकार नाना देव-देवियोंके ध्यानके लिये मन्त्रयोगमें उपदेश है, उसी प्रकार परमात्माको सब ज्योतियों-का ज्योतिःस्वरूप जानकर उनके ज्योतिर्मय रूपकी कल्पना करके ध्यानका अभ्यास करनेकी व्यवस्था हठयोगमें है। मन्त्रयोग-समाधिमें नाम-रूपोंकी सहायतासे समाधि-लाभ करनेकी साधन-प्रणाली वर्णित है और हठयोगमें वायुनिरोध-के द्वारा मनका निरोध करके समाधिलाभ करनेकी विधि है। मन्त्रयोग-समाधिको 'महाभाव' और हठयोग-समाधिको 'महाबोध' समाधि कहा जाता है। हठयोगके अङ्गोंका वर्णन इस प्रकार है:—

> षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः।
> ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य॥

'षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि—हठयोगके ये सात अङ्ग हैं।' इन सब अङ्गोंके क्रमानुसार साधनद्वारा क्या-क्या फलप्राप्ति होती है, उसका योगशास्त्रमें वर्णन है—

> षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम्।
> मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
> प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनः।
> समाधिना त्वलिप्तत्वं मुक्तिरेव न संशयः॥

'षट्कर्मद्वारा शरीरशोधन, आसनके द्वारा दृढ़ता, मुद्राके द्वारा स्थिरता, प्रत्याहारसे धीरता, प्राणायाम-साधन-द्वारा लाघव, ध्यानद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष और समाधिद्वारा निर्लिप्तता तथा मुक्तिलाभ अवश्य होता है।' इन सब मानसिक और आध्यात्मिक लाभोंके सिवा हठयोगके प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्गके साधनद्वारा शारीरिक स्वास्थ्यविषयक भी विशेष लाभ होता है, जो योगिराज श्रीगुरुदेवसे जानने योग्य है। धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपाल-भाति—ये छहों क्रियाएँ षट्कर्मकी कहलाती हैं। हठयोगके अनुसार बैठकर साधन करनेके कुल तैंतीस आसन माने गये हैं। उनकी क्रियाएँ अलग-अलग हैं। हठयोगके अनुसार आठ प्रकारके प्राणायामकी क्रिया कही गयी है। उनके नाम सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली हैं। इसी प्रकार हठयोगमें पचीस मुद्रासाधनकी विधि पायी जाती है। ये सब मुद्राएँ वायु और मनको स्थिर करनेवाली होती हैं। प्रत्याहारमें भी ये मुद्राएँ मदद करती हैं तथा ध्यानसिद्धि और समाधि देनेमें भी मदद करती हैं, जो हठयोगका अन्तिम साधन है।

(३)
लययोग

अङ्गिरा, याज्ञवल्क्य, कपिल, पतञ्जलि, वसिष्ठ, कश्यप और वेदव्यास आदि पूज्यचरण महर्षियोंकी कृपासे परम मङ्गलकारी तथा मन-वाणीसे अगोचर ब्रह्मपद-प्राप्तिके कारण-भूत लययोगका सिद्धान्त संसारमें प्रकट हुआ है।

प्रकृति-पुरुषके शृङ्गारसे उत्पन्न हुए ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों एक ही हैं। समष्टि और व्यष्टि-सम्बन्धसे ब्रह्माण्ड और पिण्ड एकत्व-सम्बन्धसे युक्त हैं। अतः ऋषि, देवता, पितर, ग्रह, नक्षत्र, राशि, प्रकृति, पुरुष सबका स्थान समानरूपसे ब्रह्माण्ड और पिण्डमें है। पिण्डज्ञानसे ब्रह्माण्ड-ज्ञान हो सकता है। श्रीगुरूपदेशद्वारा शक्तिसहित पिण्डका ज्ञान लाभ करनेके अनन्तर सुकौशलपूर्ण क्रियाद्वारा प्रकृति-

को पुरुषमें लय करनेसे लययोग कहलाता है। पुरुषका स्थान सहस्रारमें है और कुलकुण्डलिनीनाम्नी महाशक्ति आधारपद्ममें प्रसुप्त हो रही है। उसके सुप्त रहनेसे ही बहिर्मुखी सृष्टिक्रिया होती है। योगाङ्गद्वारा उसको जाग्रत् करके पुरुषके पास ले जाकर लय कर देनेपर योगी कृतकृत्य होता है, इसीका नाम 'लययोग' है।

योगशास्त्रमें इसके नौ अङ्ग बतलाये गये हैं। यथा—

अङ्गानि लययोगस्य नवैवेति पुराविदः।
यमश्च नियमश्चैव स्थूलसूक्ष्मक्रिये तथा॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानञ्चापि लयक्रिया।
समाधिश्च नवाङ्गानि लययोगस्य निश्चितम्॥
स्थूलदेहप्रधाना वै क्रिया स्थूलाभिधीयते।
वायुप्रधाना सूक्ष्मा स्याद्ध्यानं बिन्दुमयं भवेत्॥
ध्यानमेतद्धि परमं लययोगसहायकम्।
लययोगानुकूला हि सूक्ष्मा या लभ्यते क्रिया॥
जीवन्मुक्तोपदेशेन प्रोक्ता सा हि लयक्रिया।
लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली॥
प्रबुद्ध्य तस्मिन् पुरुषे लीयते नात्र संशयः।
शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधकः॥
लयक्रियायाः संसिद्धौ लयबोधः प्रजायते।
समाधिर्येन नितरां कृतकृत्यो हि साधकः॥

'योगतत्त्वज्ञ महर्षियोंने लययोगके नौ अङ्ग वर्णन किये हैं। यम, नियम, स्थूल क्रिया, सूक्ष्म क्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि—ये नौ अङ्ग लययोगके हैं। स्थूलशरीरप्रधान क्रियाको 'स्थूल क्रिया' और वायुप्रधान क्रियाको 'सूक्ष्म क्रिया' कहते हैं। बिन्दुमय प्रकृति-पुरुषात्मक ध्यानको 'बिन्दुध्यान' कहते हैं। यह ध्यान लययोगका परम सहायक है। लययोगानुकूल अति सूक्ष्म सर्वोत्तम क्रिया, जो केवल जीवन्मुक्त योगियोंके उपदेशसे ही प्राप्त होती है, 'लयक्रिया' कहाती है। लयक्रियाओंके साधनद्वारा प्रसुप्त कुलकुण्डलिनी-नामक महाशक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्ममें लीन होती है। इनकी सहायतासे जीव शिवत्वको प्राप्त होता है। लयक्रियाकी सिद्धिसे महालयरूपी समाधिकी उपलब्धि होती है, जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है।'

बहिरिन्द्रियोंको वशमें लानेके साधनको 'यम' कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंको वशमें लानेके साधनको 'नियम' कहते हैं। हठयोगकी तरह तैंतीस आसनोंमेंसे कुछ आसनोंका साधन, पचीस मुद्राओंमेंसे कुछ थोड़ी-सी मुद्राओंका साधन—ये सब लययोगकी 'स्थूल क्रिया' कहाती हैं। उसी प्रकार हठयोगके आठ प्राणायामोंमेंसे थोड़े-से प्राणायाम और स्वरोदय आदिकी क्रियाएँ लययोगके अनुसार 'सूक्ष्म क्रिया' कहाती हैं। स्वरोदयके द्वारा बहुत-सी सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। लययोगका पञ्चम साधन प्रत्याहार है, जो केवल मनकी सहायतासे किया जाता है। प्रत्याहारकी सिद्धि प्रारम्भ होते ही योगी नादका सुनना प्रारम्भ कर देता है। लय-योगके आठवें अङ्गमें योगी शरीरके अंदरके षट्चक्रोंको जानता और उनकी सहायतासे साधनका अभ्यास करता है। योगाचार्योंका मत है कि मेरुदण्डके नीचेसे लेकर मस्तकके ऊपरतक सात ऐसे स्थान हैं, जिनकी सहायतासे योगी प्रकृति-शक्तिको नीचेसे ले जाकर सातवें सहस्रदलके स्थानमें शिव-शक्तिका संयोग करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस चक्रकी क्रियाके पूर्ण होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति होती है। यह साधन धारणा-साधनसे प्रारम्भ होकर समाधि-सिद्धितक सहायता करता है। लययोगके ध्यानका नाम 'बिन्दुध्यान' है। इस प्रकारसे योगी साधन करते-करते प्रकृतिके सूक्ष्म रूपका बिन्दुरूपमें दर्शन करता है। उसीका ध्यान बढ़ाते-बढ़ाते और उसके साथ लययोगकी कुछ और भी लयक्रिया जो गुरुमुखसे प्राप्त होती है, उसका साधन करते-करते योगी अन्तिम क्रिया समाधिकी प्राप्ति कर लेता है। लययोगकी समाधिका नाम महालय है। लययोगकी विशेषताके सम्बन्धसे स्वरोदयकी क्रियाएँ, षट्-चक्रके भेदनकी क्रियाएँ और अन्यान्य लयक्रियाएँ—जैसे व्योमजयी, प्रभाजयी, सुरभिजयी, अजया आदि—हैं, जिनके विषयमें लययोगसंहितामें निम्नलिखित वर्णन है—

सूक्ष्मा योगक्रिया या स्याद् ध्यानसिद्धिं प्रसाध्य वै।
समाधिसिद्धौ साहाय्यं विदधाति निरन्तरम्॥
दिव्यभावयुता गोप्या दुष्प्राप्या सा लयक्रिया।
महर्षिभिर्विनिर्दिष्टा योगमार्गप्रवर्तकैः॥
लयक्रिया प्राणभूता लययोगस्य साधने।
समाधिसिद्धिदा प्रोक्ता योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥
षट्चक्रं षोडशाधाराद्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
पीठानि चोनपञ्चाशज्ज्ञात्वा सिद्धिरवाप्यते॥
समाधिसिद्धिर्ध्यानस्य सिद्धिश्चाप्यनया भवेद्।
आत्मप्रत्यक्षतां याति चैतया योगविज्जनः॥

'जो सूक्ष्म योगक्रियाएँ ध्यानकी सिद्धि कराकर साधककी

समाधिसिद्धिमें सहायक होती हैं, उन अलौकिक भावपूर्ण अति गोप्य और अति दुर्लभ उक्त क्रियाओंका महर्षियोंने लय-क्रियाके नामसे वर्णन किया है । लयक्रिया ही लययोगका प्राण है और समाधिसिद्धिका कारण है । षट्चक्र, षोडश आधारसे अतीत व्योमपञ्चक और उन्चास पीठ—इनको जाननेसे लययोगमें सिद्धि प्राप्त होती है । लयक्रियाके द्वारा ध्यानसिद्धि, समाधिसिद्धि होती है और आत्मसाक्षात्कार होता है ।'

मन्त्रयोगमें जैसे रूपकल्पनाद्वारा ध्यान किया जाता है, हठयोगमें जैसे भगवान्‌का ज्योतिःकल्पनाद्वारा ध्यान किया जाता है, लययोगमें वैसी कल्पना नहीं की जाती । लययोग-का योगी योगसाधनके द्वारा अन्तर्जगत्‌में एक अलौकिक बिन्दुका दर्शन करता है । उसीको स्थिर रखकर उसीमें परमात्मा-के ध्यान करनेको 'बिन्दुध्यान' कहते हैं । यह लययोगकी विशेषता है । लययोगकी दूसरी विशेषता यह है कि लय-योगी यदि चाहे तो सारे ब्रह्माण्डको अपने शरीरमें देख सकता है, क्योंकि लययोगसिद्धान्तके अनुसार समष्टिरूपी ब्रह्माण्डका व्यष्टिरूपी मनुष्यपिण्ड पूरा नमूना है । लययोगकी सहायता-से ही प्राचीन कालके पूज्यपाद महर्षिगण इस मृत्युलोकमें बैठकर सारे ब्रह्माण्डका पता लगा सकते थे ।

राजयोग

सब योगसाधनोंका राजा होनेसे इसको राजयोग कहते हैं । स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है—'राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः ।' राजयोगके लक्षणके विषयमें और उसके साधन-क्रमके विषयमें शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है—

सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता ।
तत्सहायात्साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः ॥
अन्तःकरणभेदास्तु मनो बुद्धिरहङ्कृतिः ।
चित्तञ्चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः ॥
तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते ।
विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातनम् ॥
दृश्यद्रष्ट्रोश्च सम्बन्धात्सृष्टिर्भवति शाश्वती ।
चाञ्चल्यं चित्तवृत्तीनां हेतुमत्र विदुर्बुधाः ॥
वृत्तीर्जित्वा राजयोगः स्वस्वरूपं प्रकाशयेत् ।
विचारबुद्धेः प्राधान्यं राजयोगस्य साधने ॥
ब्रह्मध्यानं हि तद्ध्यानं समाधिर्निर्विकल्पकः ।
तेनोपलब्धसिद्धिर्हि जीवन्मुक्तः प्रकथ्यते ॥
उपलब्धमहाभावा महाबोधान्विताश्च या ।
महालये प्रपन्नाश्च तत्त्वज्ञानावलम्बतः ॥
योगिनो राजयोगस्य भूमिमासादयन्ति ते ।
योगसाधनमूर्द्धन्यो राजयोगोऽभिधीयते ॥

'सृष्टि, स्थिति और लयका कारण अन्तःकरण ही है; उसकी सहायतासे जिसका साधन किया जाता है, उसको राजयोग कहते हैं । मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये अन्तःकरणके चार भेद हैं । अन्तःकरण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है । अन्तःकरणरूपी कारण दृश्यसे जगद्रूपी कार्य दृश्य-का कार्य-कारण सम्बन्ध है । दृश्यसे द्रष्टाका सम्बन्ध स्थापित होनेपर सृष्टि होती है । चित्तवृत्तिका चाञ्चल्य ही इसका कारण है । वृत्तिजयपूर्वक स्व-स्वरूपका प्रकाश करना राजयोग कहलाता है । राजयोगसाधनमें विचारबुद्धिका प्राधान्य रहता है । विचार-शक्तिकी पूर्णताद्वारा राजयोगका साधन होता है । राजयोगके ध्यानको 'ब्रह्मध्यान' कहते हैं । राजयोगकी समाधिको 'निर्विकल्प समाधि' कहते हैं । राजयोगसे सिद्धि-प्राप्त महात्माका नाम 'जीवन्मुक्त' है । महाभाव (मन्त्रयोगकी समाधि)-प्राप्त योगी, महाबोध (हठयोगकी समाधि)-प्राप्त योगी वा महालय (लययोगकी समाधि)-प्राप्त योगी तत्त्वज्ञानकी सहायतासे राजयोग-भूमिमें अग्रसर होते हैं । राजयोग सब योगसाधनोंमें श्रेष्ठ है और साधनकी चरम सीमा है, इस कारण इसको राजयोग कहते हैं ।'

राजयोगके साधनोंको भी शास्त्रोंमें सोलह अङ्गोंमें विभक्त करके वर्णन किया गया है, वे निम्नलिखित हैं—

कलाषोडशकोपेतराजयोगस्य षोडश ।
सप्त चाङ्गानि विद्यन्ते सप्तज्ञानानुसारतः ॥
विचारमुख्यं तज्ज्ञेयं साधनं बहु तस्य च ।
धारणाङ्गे द्विधा ज्ञेये ब्रह्मप्रकृतिभेदतः ॥
ध्यानस्य त्रीणि चाङ्गानि विदुः पूर्वे महर्षयः ।
ब्रह्मध्यानं विराड्ध्यानं चेशध्यानं यथाक्रमम् ॥
ब्रह्मध्याने समाप्यन्ते ध्यानान्यन्यानि निश्चितम् ।
चत्वार्यङ्गानि जायन्ते समाधेरिति योगिनः ॥
सविचारं द्विधाभूतं निर्विचारं तथा पुनः ।
इत्थं संसाधनं राजयोगस्याङ्गानि षोडश ॥
कृतकृत्यो भवत्याशु राजयोगपरो नरः ।
मन्त्रे हठे लये चैव सिद्धिमासाद्य यत्नतः ।
पूर्णाधिकारमाप्नोति राजयोगपरो नरः ॥

'षोडशकलासे पूर्ण राजयोगके षोडश अङ्ग हैं । सप्तज्ञान-

भूमिकाओंके अनुसार सात अङ्ग हैं। ये सब विचारप्रधान हैं। उनके साधन अनेक प्रकारके हैं। धारणाके अङ्ग दो हैं—एक प्रकृतिधारणा और दूसरी ब्रह्मधारणा। ध्यानके अङ्ग तीन हैं—विराट्-ध्यान, ईशध्यान और ब्रह्मध्यान। ब्रह्मध्यानमें ही सबकी परिसमाप्ति है और समाधिके चार अङ्ग हैं—दो सविचार और दो निर्विचार। इस प्रकारसे राजयोगके षोडश अङ्गोंके साधनद्वारा राजयोगी कृतकृत्य होता है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग—इन तीनोंमें सिद्धिलाभके अनन्तर अथवा किसी एकमें सिद्धिलाभ करनेके अनन्तर साधकको राजयोगका पूर्णाधिकार प्राप्त होता है।' राजयोगसंहितामें लिखा है—

साधनं राजयोगस्य धारणाध्यानभूमितः।
आरभ्यते समाधिर्हि साधनं तस्य मुख्यतः॥
समाधिभूमौ प्रथमं वितर्कः किल जायते।
ततो विचार आनन्दानुगता तत्परा मता।
अस्मितानुगता नाम ततोऽवस्था प्रजायते॥
विशेषलिङ्गं त्वविशेषलिङ्गं
लिङ्गं तथालिङ्गमिति प्रभेदान्।
वदन्ति दृश्यस्य समाधिभूमि-
विवेचनायां पटवो मुनीन्द्राः॥
हेया अलिङ्गपर्यन्ता ब्रह्माहमिति या मतिः।
निर्विकल्पे समाधौ हि न सा तिष्ठति निश्चितम्॥
द्वैतभावास्तु निखिला विकल्पश्च तथा पुनः।
क्षीयन्ते यत्र सा ज्ञेया तुरीयेति दशा बुधैः॥
समाधिसाधनं शास्त्राभ्यासतो न हि लभ्यते।
गुरोर्विज्ञाततत्त्वात्तु प्राप्तुं शक्यमिति ध्रुवम्॥

'राजयोगका साधन प्रथमावस्थामें धारणा और ध्यानभूमिसे प्रारम्भ होता है और राजयोगकी साधनभूमि प्रधानतः समाधिभूमि ही है। समाधिभूमिमें पहले वितर्क रहता है। तदनन्तर अग्रसर होनेपर विचार रहता है। उससे आगेकी अवस्थाका नाम आनन्दानुगत अवस्था है और उससे आगेकी अवस्थाका नाम अस्मितानुगत अवस्था है। विशेषलिङ्ग, अविशेषलिङ्ग, लिङ्ग और अलिङ्ग—ये चार भेद दृश्यके हैं। अलिङ्गतक त्यागने योग्य हैं। मैं ब्रह्म हूँ, यह भाव भी निर्विकल्प समाधिमें नहीं रहता। कोई द्वैतभाव अथवा कोई विकल्प जब शेष न रहे, वही तुरीयावस्था है। समाधिभूमिका साधनक्रम शास्त्रमें ज्ञात नहीं हो सकता। जिनको अपरोक्षानुभूति हुई है, ऐसे जीवन्मुक्त गुरु ही उसका भेद बतला सकते हैं।'

राजयोगके साधन-क्रमकी समालोचना करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रथम परम भाग्यवान् राजयोगी दर्शनोक्त सप्तज्ञानभूमियोंको, एकके बाद दूसरीको, इस तरह क्रमशः अतिक्रम करता हुआ, जैसे मनुष्य सोपानद्वारा छतपर चढ़ जाता है, उसी प्रकार सप्तज्ञानभूमियोंका रहस्य समझ जाता है। यही राजयोगोक्त १६ अङ्गोंमेंसे प्रथम सप्ताङ्गका साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह सौभाग्यवान् योगी सत् और चित्-भावपूर्ण प्रकृति-पुरुषात्मक दो राज्यके दर्शन करके उनकी धारणासे अनन्तरूपमय प्रपञ्चकी विस्मृति-सम्पादन करनेमें समर्थ होता है। यही राजयोगके अष्टम और नवम अङ्गका साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह योगिराज परिणामशील प्रकृतिके स्वरूपको सम्पूर्णरूपसे जानकर ब्रह्म, ईश या विराट्रूपमें अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका दर्शन करके ध्यानभूमिकी पराकाष्ठामें पहुँच जाता है। यही राजयोगोक्त १६ अङ्गोंमेंसे दशम, एकादश और द्वादश अङ्गका साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह परम भाग्यवान् योगाचार्य यथाक्रम वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत—इन चारों आत्मज्ञानयुक्त (ये चारों समाधिकी दशा पूर्वकथित मन्त्र-हठ-लययोगोक्त महाभाव, महाबोध, महालय समाधिसे विभिन्न हैं) समाधि-दशाओंको अतिक्रमण करते हुए स्वस्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। इसी दशाको जीवन्मुक्त-दशा कहते हैं। यही सब प्रकारके योग-साधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासना-राज्यकी परिधि है और यही वेदान्तका चरम सिद्धान्त है।

योगका सोपान

(लेखक—स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

मनुष्य केवल इस लोकका ही नागरिक नहीं है, बल्कि अनेक लोकोंका है। केवल इसी लोकमें सङ्कटों और प्रलोभनोंका उसे सामना नहीं करना पड़ता, प्रत्युत अन्य लोकोंमें भी करना पड़ता है। यही कारण है कि योगशास्त्र यह बतलाता है कि साधक पहले अपने-आपको शुद्ध कर ले, अपनी इन्द्रियोंको वशमें करे, अपनी सब इच्छाओंको दूर कर दे और यममें स्थित हो और तब मूलाधारमें स्थित सुप्त कुण्डलिनीशक्तिको जगानेकी चेष्टा करे। आसन, बन्ध, मुद्रा और प्राणायामके द्वारा चित्तको शुद्ध करनेसे पहले ही यदि कुण्डलिनी जाग जाय तो अन्य लोकोंके प्रलोभन उसके सामने आ उपस्थित होंगे और उनका परिहार कर सकनेका-सा मनोबल उसमें न रहनेसे उसका बहुत ही बुरा पतन होगा। योग-सोपानकी जिस ऊँची पैड़ीपर वह गिरनेसे पहले था, वहाँतक भी पहुँचना उसके लिये फिर बहुत ही कठिन होगा। इसलिये साधनामें पहला काम यह है कि साधक अपने-आपको शुद्ध करे। जप, कीर्तन तथा सतत निःस्वार्थ सेवाके द्वारा जब वह पूर्ण शुद्धि लाभ कर लेगा तब कुण्डलिनी आप ही जाग उठेगी और सहस्रारमें स्थित कैलासपति ज्ञान, आनन्द और शान्तिके निधान भगवान् शिवका साक्षात्कार करनेको चल पड़ेगी।

योगकी सीढ़ीपर चढ़नेवाले बहुत-से साधक ऊँचाईकी एक हदतक पहुँचकर वहीं रुक जाते हैं। स्वर्ग, गन्धर्वलोक आदि उच्च लोकोंके मोह उन्हें वशीभूत करके मार्गसे भ्रष्ट कर देते हैं। साधक अपने विवेकको खोकर स्वर्गके भोगोंमें अपने-आपको भुला देते हैं। इन उच्च लोकोंके अधिवासी अनेक प्रकारोंसे साधकोंको लुभाते हैं। साधकसे कहते हैं—'हे योगी! हम तुम्हारे तप, वैराग्य, अभ्यास और दैवी गुणोंसे बहुत ही प्रसन्न हुए हैं। यही लोक, जहाँ तुम अपने पुण्यप्रताप और तपोबलसे आये हो, तुम्हारा परम विश्रामस्थान है। हम सब तुम्हारे दास हैं; जो इच्छा या आज्ञा करोगे, हम सब उसीका पालन करेंगे। स्वर्गका यह दिव्य रथ तुम्हारी सवारीके लिये है। इसपर बैठकर तुम जहाँ चाहो, जा सकते हो। ये स्वर्गकी अप्सराएँ हैं, जो तुम्हारी सेवा करेंगी। स्वर्गीय सङ्गीत सुनाकर ये तुम्हें प्रसन्न करेंगी। यह कल्पवृक्ष है, जो तुम्हारी सब इच्छाओंको पूर्ण करेगा। इस सुवर्णपात्रमें यह स्वर्गका सोमरस है, जिसे पानकर तुम अमर होओगे। यहीं यह परमानन्द-सरोवर है, जिसमें तुम स्वच्छन्दताके साथ विहर सकते हो।' देवोंके इन मधुर, मिष्ट, पुष्पित भाषणोंसे असावधान योगी अपने मार्गसे भ्रष्ट हो जाता है। मिथ्या तुष्टिसे ही वह सन्तुष्ट होता और यह समझता है कि हम योगकी पराकाष्ठाको पहुँच गये। इस तरह यह प्रलोभनोंके वशीभूत होता है और उसकी शक्ति इतस्ततः बिखर जाती है। ज्यों ही उसका पुण्यबल समाप्त होता है, त्यों ही वह इस भूलोकमें उतर आता है। तब उसे फिरसे इस अध्यात्म-सोपानकी चढ़ाई आरम्भ करनी पड़ती है। परन्तु पूर्ण विरक्त योगी, जिसका विवेक सुदृढ है, देवताओंकी इन मीठी बातोंका टका-सा जवाब सुना देता है और धीरताके साथ अपने अध्यात्मपथपर आगे बढ़ता है और जबतक योग-सोपानकी अन्तिम पैड़ी या ज्ञानपर्वतके उच्चतम शिखर अथवा निर्विकल्प समाधितक नहीं पहुँच जाता, तबतक कहीं भी नहीं रुकता। वह खूब अच्छी तरहसे जानता है कि स्वर्गके भोग मायिक, क्षणिक और निःसार हैं, इस लोकके भोगोंसे उनका किञ्चित् भी अधिक मूल्य नहीं है। स्वर्गके भोग बहुत सूक्ष्म, बहुत ही अधिक मादक और अतिशय होते हैं। इस कारण असावधान साधक, जिसका विवेक और वैराग्य अत्यन्त तीव्र और दृढ़ नहीं है, इन उच्च लोकोंके प्रलोभनोंमें अनायास फँस जाता है। इस भूलोकमें भी, उदाहरणार्थ पश्चिमके देशों और अमेरिकामें—जहाँ कुबेरका भाण्डार भरा है—लोग इन्द्रियोंके सूक्ष्म और आत्यन्तिक भोगोंमें लिप्त रहते हैं। इन्द्रियोंके विविध विरुद्धाचरण और उपद्रवकी वृत्तियोंको तुष्ट करनेके लिये वहाँके वैज्ञानिक प्रतिदिन ही नवीन-नवीन आविष्कार, इन्द्रिय-सुखके नये-नये प्रकार सामने ला रहे हैं। हिन्दुस्तानका कोई संयमी, सादे रहन-सहनका मनुष्य भी जब अमेरिका या यूरोपमें कुछ दिन रह जाता है तो एक दूसरा ही जीव बन जाता है। वह वहाँके प्रलोभनोंमें फँस जाता है। यह मायाका चमत्कार है, प्रलोभनका प्रभाव है, उद्दण्ड इन्द्रियोंका विलक्षण वेग है। परन्तु जिस मनुष्यका विवेक सुदृढ है, वैराग्य प्रखर है, बुद्धि स्थिर है, जिसके अंदर मोक्षकी इच्छाकी आग जल रही है, वह यथार्थमें सुखी हो सकता है, जीवनके परम लक्ष्यतक पहुँच सकता है, परमानन्द-धामको पा सकता या अनन्तके अथाह दर्शन कर सकता है।

नवधा भक्तिमें नौ विधियाँ या पैड़ियाँ हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन। श्रीभगवान्‌की लीलाओंको सुनना श्रवण है। उनके नामोंका गान करना कीर्तन है। उनका स्मरण स्मरण है। उनके चरणोंकी सम्मार्जनादि सेवा पादसेवन है। उन्हें पुष्पादि चढ़ाना अर्चन है। दण्डवत् साष्टाङ्ग प्रणाम करना वन्दन है। हम उनके सेवक हैं, ऐसा भाव धारण करना दास्य है। उनसे मैत्री-भाव रखना सख्य है। अपने-आपको समर्पित कर देना या शरणागत होना आत्मनिवेदन है।

श्रद्धा, विश्वास, भक्ति, रुचि (भगवन्नामके जप और गानमें), निष्ठा, रति, स्थायिभाव (प्रेममें स्थिरता) और महाभाव (प्रेममय अथवा परम प्रेम)—ये प्रेम-सोपान या भक्तियोगकी आठ पैड़ियाँ हैं। श्रद्धा, भक्ति, पूजा और तादात्म्य-भक्तियोगके चार पड़ाव हैं। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—ये भक्तोंकी मुक्तिके चार रूप हैं।

प्राणको वशमें करके योगी धीरे-धीरे योगकी सीढ़ीपर चढ़ता है और चढ़ाईमें भिन्न-भिन्न चक्रोंमें ठहरकर विश्राम करता है। एक चक्रसे दूसरे चक्रमें, दूसरेसे तीसरेमें जाता है और प्रत्येक चक्रमें वहाँके विशेष आनन्द और शक्तिका अनुभव करता है और अन्तमें सहस्रदल कमलमें भगवान् शिवके साथ समरस होकर निर्विकल्प समाधिमें प्रवेश करता है। इस सोपानकी सात पैड़ियाँ जो सात चक्र हैं, वे ये हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार।

हठयोगमें प्राणायामकी चार अवस्थाएँ हैं—आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्त्यवस्था।

नादयोग या लययोगमें योगी सिद्धासन या पद्मासन अथवा सुखासनसे बैठकर षण्मुखी (वैष्णवी) मुद्राका साधन करता और दाहिने कानसे अनाहत नाद सुनता है। इस प्रकार जो नाद उसे सुन पड़ता है, उससे बाहरके शब्दोंके लिये उसके कान बहिरे हो जाते हैं। पहले-पहल समुद्रका गरजना, मेघोंकी गड़गड़ाहट, नगारेके शब्द-जैसा गर्जन सुन पड़ता है, फिर मध्य अवस्थामें घण्टानाद, वंशीध्वनि, वीणाके स्वर अथवा मधु-मक्खियोंकी भनभनाहट-जैसा प्रतीत होता है। योगी अपना ध्यान स्थूल शब्दसे हटाकर सूक्ष्ममें और सूक्ष्म शब्दसे हटाकर स्थूलमें लगा सकता है।

मन जब किसी एक शब्दपर स्थिर हो जाता है, तब वह उसीमें स्थित होकर उसीमें लीन हो जाता है। मन शब्दके साथ वैसे ही एक हो जाता है जैसे दूधके साथ पानी; और तब बड़ी शीघ्रतासे सनातन ब्रह्ममें लीन हो जाता है। योगी इस अनाहत नाद या शब्दपर अपने मनको एकाग्र करनेका सतत अभ्यास करे। इससे नाद मनका विनाश कर देता है। शब्द अक्षरमें लीन होता है और अन्तमें योगी अशब्द परब्रह्म अर्थात् सनातन आनन्दके परम धामको प्राप्त होता है।

अष्टाङ्गयोगकी सीढ़ीकी आठ पैड़ियाँ या आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम अपने-आपको वशमें रखना है। नियम नित्य धर्म अथवा नित्यकी आध्यात्मिक दिनचर्याका पालन है। आसन शरीरको विशेष स्थितिमें रखना है। प्राणायाम प्राणकी गतिको वशमें करना है। प्रत्याहार इन्द्रियोंको विषयोंसे खींचकर लौटाना है। धारणा एकाग्रता है। ध्यान एकाग्र होकर ध्येयविषयमें स्थिर होना है। समाधि परम बोध है।

महर्षि पतञ्जलिके राजयोगकी समाधि सात प्रकारकी है—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, सास्मिता, सानन्द और असम्प्रज्ञात। प्रथम छः प्रकारकी समाधि सविकल्प समाधि है और सातवीं निर्विकल्प। राजयोगकी मधुमती, मधुप्रतीक, विशोका और संस्कारशेष प्रभृति विविध भूमिकाएँ हैं। क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ, एकाग्र और निरोध—ये पाँच राजयोगमें मनकी भूमिकाएँ हैं।

ज्ञानयोग-सोपानकी सात पैड़ियाँ अथवा सात भूमिकाएँ हैं—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुरीया। शुभेच्छा संसार-सागरके पार होकर आत्मज्ञान लाभ करनेकी समुचित इच्छा है। ब्रह्मके स्वरूपका अनुसन्धान विचारणा है। मनका सूक्ष्म होना तनुमानसा है। विशुद्धता सत्त्वापत्ति है। असङ्ग—अनासक्ति असंसक्ति है। तत्त्वमसि आदि महावाक्योंका मनन-निदिध्यासन पदार्थाभावनी है। परम बोध तुरीया है। स्फुरणा, हर्ष, आदेश, प्रत्यक्ष और परमानन्द—ज्ञानयोगमें आध्यात्मिक अनुभूतिकी पाँच भूमिकाएँ हैं। तमस्, भ्रम, अनन्ताकाश, प्रकाश और अनन्त अद्वयबोध भी ज्ञानयोगकी अनुभूतिकी विशेष भूमिकाएँ हैं।

शुद्धि, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, एकीभाव और लय—वेदान्तसाधनाकी छः अवस्थाएँ हैं। शब्दानुविद्ध, शब्दाननु-

विद्ध, दृश्यानुविद्ध, दृश्याननुविद्ध, बाह्य निर्विकल्प, आन्तर निर्विकल्प, अद्वैतभावनारूप समाधि, अद्वैतावस्थानरूप समाधि—ये वेदान्तियोंकी विभिन्न प्रकारकी समाधियाँ हैं। पहली चार समाधियाँ सविकल्प हैं और अन्तिम चार निर्विकल्प।

कर्मयोगी सतत निष्काम कर्मके द्वारा अपने चित्तको शुद्ध करता है। उसका यह कर्मार्चन नारायणभाव या आत्मभावसे होता है। उसके कर्ममें उसकी फलाकाङ्क्षा नहीं होती। वह अहङ्काररहित होकर कर्म करता है। वह यह अनुभव करता है कि मैं केवल एक निमित्त अथवा भगवान्‌के हाथोंमें एक करणमात्र हूँ। वह अपने सब कर्म और उनके फल भगवान्‌को समर्पित करता है। वह प्रत्येक कर्ममें अपनी नीयतकी जाँच करता और उसे स्वार्थरहित बनाता है। सबके मुखोंकी ओर देखते हुए वह ईश्वरको देखता है। अन्तःस्थित ईश्वरकी ही उसे सर्वत्र प्रतीति होती है। वह यह समझता है कि सारा विश्व विश्वपतिका आविर्भाव है, सारा विश्व वृन्दावन है। प्रत्येक स्थितिके अनुकूल बननेका वह अभ्यासी होता है। जो कुछ शरीरतः, अन्तःकरणतः और अध्यात्मतः उसके पास है उसे वह सबको बाँटकर लेता है। शरीरनिर्वाहमात्रके लिये जो कुछ आवश्यक है, उतनी ही सामग्री वह अपने पास रखता है। ब्रह्मचर्यके पालनमें वह बड़ी कड़ाई रखता है। कर्म करते हुए वह मनसा 'ब्रह्मार्पण' करता रहता है। वह अपने सब कर्म भगवान्‌को अर्पण करता है और सोते समय भगवान्‌से इस प्रकार प्रार्थना करता है कि 'हे भगवन्! आज जो कुछ मैंने किया, तुम्हारे लिये किया है। उसे तुम प्रसन्न होकर स्वीकार करो।' इस प्रकार वह अपने कर्मोंके फलोंको जलाता है और कर्मोंसे नहीं बँधता। कर्ममें वह मुक्तिलाभ करता है। निष्काम कर्मयोगके द्वारा उसका चित्त शुद्ध होता है और चित्तशुद्धिसे वह आत्मज्ञानको प्राप्त होता है। देशसेवा, समाजसेवा, दीनसेवा, रुग्णसेवा, मातृ-पितृ-सेवा, गुरुसेवा, सत्पुरुषसेवा—ये सब सेवाएँ कर्मयोग हैं।

गीताके मतसे योगी अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छः मास—इस अर्चिरादि मार्गसे ब्रह्मलोकको जाता है। उपनिषद् कहते हैं कि 'देवयानसे योगी अग्निलोकको, वायुलोकको, वरुणलोकको, इन्द्रलोकको, प्रजापतिलोकको और ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है।' (कठोपनिषद् १-३) छान्दोग्योपनिषद्‌में कहा है कि 'योगी आदित्यलोकसे चन्द्रलोकको जाता है, चन्द्रलोकसे द्युलोकको; वहाँसे अमानव पुरुष उसे ब्रह्मके समीप ले जाता है।'

मनुष्योंके स्वभाव, गुण, अधिकार भिन्न-भिन्न हैं, इस कारण योगमार्ग भी भिन्न-भिन्न हैं; पर गन्तव्यस्थान एक ही है। अन्तमें सब योगी एक ही स्थानमें आ जाते हैं। परम अनुभूति सब साधकोंकी अन्तमें एक-सी ही होती है। यह परानुभूति व्यष्टि पुरुषका परम पुरुषमें लय होना, ब्रह्मके परम धामको प्राप्त होना है।

किसी भी योगमार्गमें एक-एक पैड़ीपर मजबूतीसे पैर रखनेके बाद ही दूसरी पैड़ीपर चढ़ना होता है। इसी क्रमसे योगकी सबसे ऊँची अन्तिम पैड़ीपर मनुष्य पहुँचता है। इस काममें कोई अधीर न हो। अधीरतासे साधकका पैर फिसलता है और उसका उन्नति-क्रम बुरी तरहसे रुक जाता है।

इसलिये ईश्वर करे आप सब लोग योगमें दृढ़ हों और धीरताके साथ निर्विकल्प समाधिके शिखरतक पहुँच जायँ और परमात्म-मिलनके द्वारा परमानन्दके भागी हों।

नामका प्रताप

देखौ नाम प्रताप से सिला तिरै जल बीच॥
सिला तिरै जल बीच सेत में कटक उतारी।
नामहिं के परताप बानरन लंका जारी॥
नामहिं के परताप जहर मीरा ने खाई।
नामहिं के परताप बाल पहलाद बचाई॥
पलटू हरि जस ना सुनै ता को कहिये नीच।
देखौ नाम प्रताप से सिला तिरै जल बीच॥

—पलटू

साधन-तत्त्व

(लेखक—आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी महाराज)

साधन-तत्त्वके ज्ञानसे पूर्व साध्य-तत्त्वका कुछ परिज्ञान होना परमावश्यक है। साधक जिस वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा करता है, उसे साध्य कहते हैं। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' की उक्तिके अनुसार वाञ्छित वस्तुएँ विभिन्न प्रकारकी हो सकती हैं, किन्तु मूलवाञ्छा सबकी एक ही है—यथा 'सुखं मे भूयात्, दुःखं मे मा भूत्' अर्थात् सुख मुझको हो, दुःख न हो। तात्पर्य यह है कि संसारमें एक कीटाणुसे लेकर ब्रह्मातक सब सुखप्राप्तिकी ही इच्छा करते हैं। अतएव सबका प्रधान साध्य सुख ही है। इस सुखरूप साध्यका स्वरूप ही प्रथम विवेचनीय है।

कुछ लोगोंका कहना है कि दुःखके अभावका नाम ही सुख है, किन्तु यह बात नहीं है। सुख और दुःख, ये दोनों भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र वेदनाएँ (feelings) हैं; जैसा कि कहा गया है—'अनुकूलतया वेदनीयं सुखम्, प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्।' अर्थात् जो वेदना हमको प्रीतिकर प्रतीत हो, उसे सुख कहते हैं और जो अप्रीतिकर हो, उसे दुःख कहते हैं। वास्तवमें किसी वस्तुविशेषमें सुख-दुःख नहीं होता, क्योंकि एक ही वस्तु किसीको सुखदायक और किसीको दुःखदायक होती है। इन दोनोंमें सुख ही सर्ववाञ्छनीय है, अतः यही साध्यस्वरूप है।

यह अनुकूल वेदनात्मक साध्यस्वरूप सुख दो वस्तुओंके सम्मिलनसे उत्पन्न होता है और वस्तुसंयोगकी विभिन्नतासे तीन प्रकारका होता है—१ जड-जड-संयोगजन्य सुख, २ जड-चेतन-संयोगजन्य सुख, ३ चेतन-चेतन-संयोगजन्य सुख।

१—जड-जड-संयोगजन्य वह सुख है, जो हमारी जडेन्द्रियोंके साथ उनके जड विषयोंका संयोग होनेपर होता है। यह सुख अनित्य एवं नाशवान् होता है; क्योंकि जिन दो वस्तुओंके संयोगसे यह उत्पन्न होता है, वे इन्द्रिय और उनके विषय दोनों ही अनित्य एवं नाशवान् हैं। अतएव यह सुख नित्य और अविनाशी जीवका वास्तविक साध्य होनेके अयोग्य है।

२—जड-चेतन-संयोगजन्य सुख वह है, जो हमारे जडीय मन और चेतन आत्माके संयोगसे समाधिकालमें उत्पन्न होता है। यह सुख पूर्वापेक्षया अधिक कालतक स्थायी होनेके कारण किसी सीमातक साध्यरूपसे ग्रहण किया जा सकता है; किन्तु यह भी संयुक्त वस्तुओंमेंसे एक (मन) के अनित्य एवं विनाशी होनेके कारण नित्य जीवका नित्य साध्य नहीं हो सकता।

३—चेतन-चेतन-संयोगजन्य सुख वह है, जो चेतनघन परमात्माके साथ चेतन-कण जीवात्माका संयोग होनेपर होता है। ये संयुक्त तत्त्व दोनों ही नित्य एवं सत्य हैं; अतएव इनके संयोगसे जो सुख होता है, वही नित्य जीवके नित्य साध्य स्वरूपसे स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ इसी सुखको साध्यरूपसे स्वीकार कर साधन-तत्त्वका निर्णय किया जायगा।

साधक साध्यकी प्राप्तिके लिये जो प्रयत्न करता है, उसे साधन कहते हैं। इस साधनको दूसरे शब्दोंमें पथ या मार्ग भी कहते हैं। यह मार्ग प्रक्रियाभेदसे दो प्रकारका होता है—एक आरोही मार्ग, दूसरा अवरोही मार्ग। आरोही मार्ग उस प्रक्रियाका नाम है, जिसके द्वारा साधकको अपने साध्य-तक स्वयं पहुँचना पड़ता है। यह प्रक्रिया अत्यन्त कठिन एवं भयाकुल है। अवरोही मार्ग उस पद्धतिका नाम है, जिसमें साध्य वस्तु साधकके समीप सहजमें आ जाती है। यह अति सरल एवं निर्भय है। यह विषय नीचेके इस दृष्टान्तसे स्पष्ट हो जायगा—

कल्पना करो कि एक बहुत बड़ा आमका वृक्ष है; उसकी सबसे ऊपरकी शाखामें एक पका हुआ फल लगा है, जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं। उसकी प्राप्तिके लिये हम दो ही उपाय कर सकते हैं। एक तो हम स्वयं वृक्षपर चढ़ें और सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंको अतिक्रम करके उस फलको प्राप्त करें। इसको आरोही मार्ग कहते हैं। और दूसरा यह है कि बिना किसी विघ्न-बाधाके वह फल सहजमें हमतक आ जाय। जैसा कि प्रायः देखा जाता है कि कोई-कोई लोग एक लंबे बाँसमें जालीकी थैली बाँधकर नीचेसे ही उस फलको तोड़कर और थैलीमें धरकर धीरेसे उतार लेते हैं। इसको अवरोही मार्ग कहते हैं।

इन दोनों मार्गोंमेंसे वर्तमान युगके साधकोंकी परिस्थिति-के अनुसार कौन-सा सुगम है, यह बात निष्पक्ष होकर

विचारनेसे सहज ही ज्ञात हो जायगी कि द्वितीय अर्थात् अवरोही मार्ग ही सब प्रकारसे सुन्दर और अभय है। आरोही मार्गमें पतनका भय है, जैसा कि ब्रह्मादि देवताओं-ने श्रीभगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा हैः—

> येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
> स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
> आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
> पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥

'हे कमलनयन ! तुम्हारे प्रति भक्तिभाव अस्त होनेके कारण जिनकी बुद्धि अशुद्ध हो गयी है, ऐसे मुक्ताभिमानी मनुष्य बड़ी कठिनतासे परम पदतक चढ़कर भी नीचे गिर जाते हैं; क्योंकि उन्होंने आपके चरणारविन्दोंका आदर नहीं किया है।' इसीके आगे अवरोही मार्गकी निर्भयता कही गयी हैः—

> तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
> भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।
> त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
> विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो ॥

'हे प्रभो ! हे माधव ! आपके जिन भक्तोंका प्रेम आपमें बँधा हुआ है, वे उक्त प्रकारके मुक्ताभिमानी मनुष्यों-की तरह अपने मार्गसे कभी भ्रष्ट नहीं होते; वे तो आपके द्वारा रक्षित होकर विघ्नकारियोंके अधिपतियोंके मस्तकपर (पैर रखकर) निर्भय होकर विचरते रहते हैं।'

इन स्तुतिवाक्योंसे उक्त दोनों मार्गोंका तारतम्य स्पष्ट ही ज्ञात हो रहा है। और इनसे यह भी सिद्ध हो रहा है कि एकमात्र भगवद्भक्ति ही अवरोही मार्ग या सर्वसुलभ साधन है। इस भक्ति-साधनकी व्यापकता एवं महिमाका वर्णन इस छोटे-से निबन्धमें नहीं किया जा सकता—इसके लिये श्रीमद्-भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत आदि भक्ति-ग्रन्थोंकी आलोचना करनी चाहिये। यहाँ तो केवल इसका प्रकारमात्र दर्शित किया जायगा।

प्रथम तो भक्ति ही दो प्रकारकी है—एक शुद्धा भक्ति, दूसरी विद्धा भक्ति। जिसका श्रीभगवान्‌के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, वह शुद्धा भक्ति कहलाती है और जिसका सम्बन्ध देवतान्तरोंके साथ है, वह विद्धा भक्ति कही जाती है। यहाँ विद्धा भक्तिकी आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं है, इस समय केवल शुद्धा भक्ति ही विवेचनीय है।

साधकके स्थितिभेदके अनुसार शुद्धा भक्तिका साधन दो प्रकारका है—एक जडदेहगत साधन, दूसरा चिद्देहगत। मायाबद्ध जीवकी जबतक देहात्मबुद्धि रहेगी, तबतक उसे जडदेहगत साधन ही करना होगा और जब इसका अनुष्ठान करते-करते मायामुक्त होकर वह भागवत तनु-लाभ करेगा, तब उसे चिद्देहगत भक्तिसाधनका अधिकार प्राप्त होगा।

जडदेहगत साधन भी दो प्रकारका है—एक स्थूल-देहगत, दूसरा सूक्ष्मदेहगत। विशेष-विशेष जडीय स्थूल स्थलोंमें श्रीभगवान्‌का अधिष्ठान मानकर उनमें तादात्म्यबोध-से श्रद्धापूर्वक जो जडीय स्थूल वस्तुओंसे भगवत्पूजन सम्पन्न किया जाता है, वह स्थूलदेहगत भक्तिसाधन है और जो मनोमयी भगवत्प्रतिमाका मनःकल्पित वस्तुओंसे अर्चन किया जाता है, वह सूक्ष्मदेहगत भक्तिसाधन है।

वैसे तो इन दोनों प्रकारके साधनोंका क्रिया-कलाप सब समान ही होता है, परन्तु साधककी देश-काल-वस्तुगत परिस्थितिके अनुसार अन्तर केवल इतना हो जाता है कि स्थूलदेहगत साधनमें कई प्रकारकी बाधाएँ आ जाती हैं और सूक्ष्मदेहगत साधनमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती। जैसे हम किसी वस्तुविशेषको पूजनके समय श्रीभगवान्‌के अर्पण करना चाहते हैं, किन्तु वह वस्तु इस देशमें उत्पन्न नहीं होती या इस कालमें उत्पन्न नहीं होती या उत्पन्न होनेपर भी धनाभावके कारण उसको प्राप्त करनेमें हम असमर्थ होते हैं तो हम उसे अर्पण नहीं कर सकते। मनोराज्यमें किसी भी वाञ्छित वस्तुका प्राप्त करना असम्भव नहीं है, प्रत्युत वहाँ असम्भव भी सम्भव हो जाता है। इसीसे साधन-तत्त्वके विशेषज्ञोंने स्थूलदेहगत साधनकी अपेक्षा सूक्ष्मदेहगत साधन (मानसिक उपासना) को उत्तम बताया है।

चिद्देहगत भक्ति-साधनका व्यापार बड़ा ही विचित्र और अलौकिक है। अलौकिक इसे इसलिये कहते हैं कि प्रथम तो चिद्देहमें स्थूल-सूक्ष्मका कोई भेद नहीं है; दूसरे, इसमें देह-देहीका भी अन्तर नहीं है—जो देह है वही देही है, जो देही है वही देह है। यही साधककी विदेहावस्था है। इस अवस्थामें भक्तिका साधन जडीय स्थूल-सूक्ष्म देहके समान क्रियात्मक या विचारात्मक नहीं होता, भावात्मक होता है। अर्थात् इसमें भक्तिका साधन स्वतःसिद्ध स्वरूपगत एक धर्मविशेष होता है। चिद्देहगत और जडदेहगत भक्ति-साधनमें

इतना अन्तर होता है कि पहलेमें साधककी स्वतः प्रवृत्ति होती है और दूसरेमें परतः प्रवृत्ति होती है । अर्थात् पहलेमें अनुराग प्रबल होता है और दूसरेमें शास्त्र-शासन प्रबल होता है । यही कारण है कि चिद्देहगत भक्ति-साधनकी शास्त्रविधि अभीतक कोई लिपिबद्ध नहीं हुई है और न हो ही सकती है । इस साधनकी विचित्रता यह है कि यह और साधनोंकी तरह अपना फल उत्पन्न कर निरस्त नहीं होता; सिद्धावस्थामें भी यह उसी तरह प्रवृत्त रहता है, जिस तरह साधनावस्थामें रहता है । इसका कारण यह है कि इसमें साध्य और साधन दोनों अभिन्न हैं । तात्पर्य यह है कि इस अवस्थामें साधकके साधन-कालमें जो वस्तु साधनका काम देती है, वही वस्तु सिद्धि-कालमें आस्वादनका काम देती है । इस विषयका अनुमोदन श्रीमद्भागवतके इस श्लोकसे स्पष्ट होता है:—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥

अर्थात् 'जो मायाकी ग्रन्थिसे मुक्त आत्मामें रमण करनेवाले मुनिगण हैं, वे भी उरुक्रम भगवान्‌में अहैतुकी भक्तिका साधन करते हैं; क्योंकि श्रीहरिके गुण ही ऐसे हैं ।'

साधन-तत्त्वका विवेचन एक विस्तृत विषय है । 'कल्याण' का कलेवर विपुल होनेपर भी स्थानका संकोच है, अतएव इस लघुतम लेखमें सुयोग्य सम्पादक महोदयके अनुरोधानुसार विवेचनीय विषयका केवल परिचयमात्र कराया गया है । जिन साधकोंको इस विषयमें विशेष जिज्ञासा हो, उन्हें साधन-तत्त्वके किन्हीं विशेषज्ञ गुरुदेवकी शरण ग्रहण करनी चाहिये । वे ही कृपाकर साधकके अधिकारानुरूप तत्त्वोपदेश देकर किसी सरल साधन-पथका प्रदर्शन करा देंगे ।

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।'

सच्ची साधना क्या है ?

(लेखक—डा० श्रीभगवानदासजी, एम्० ए०, डी० लिट्०)

'सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥'—मनुः
धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रिवर्गोऽभ्युदयः स्मृतः ।
चतुर्थः पुरुषार्थस्तु मोक्षो निःश्रेयसं तथा ॥
साधयेद्या चतुर्वर्गं सैवास्ति ननु साधना ।
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य श्रान्त्वा त्रिष्वाश्रमेष्वपि ।
त्रिवर्गं साधयित्वा तैराश्रमैश्चरमं विशेत् ॥
अन्यथा वर्त्तमानस्तु न साधनोत्येकमप्यसौ ।
'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य तान्येवं 'मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥' मनुः
'अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य च सत्प्रजाः ।
अनिष्ट्वा चोत्तमैर्यज्ञैर्मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥' मनुः
'एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।' गीता
'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।' गीता
'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'—गीता
'तज्जपस्तदर्थभावनम्'—योगसूत्र

धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्गका नाम अभ्युदय है; मोक्षको निःश्रेयस भी कहते हैं, क्योंकि उससे बढ़कर और कोई श्रेयस् नहीं । वेदमें अर्थात् सत्यज्ञान, वेदान्त, वेदके शास्त्रमें बताया है कि मानव जीवको पहले प्रवृत्तिमार्गमें रहकर, प्रवृत्त कर्म करके, त्रिवर्गका साधन करना चाहिये; और फिर चतुर्थ वर्ग मोक्षका । जिस 'साधना'से ये चारों पुरुषार्थ सधें—सिद्ध हों, वही तो सच्ची साधना है । अन्य साधनाएँ प्रायः धोखा देनेवाली हैं । यह सच्ची साधना क्या है ? यह है प्रजापति, प्रजावत्सल, सर्वज्ञानमय भगवान् मनुकी आदिष्ट-निर्दिष्ट पद्धती; क्रमशः एक आश्रमसे दूसरेमें, दूसरेसे तीसरेमें जाय; ब्रह्मचर्यमें सच्चा ज्ञान सीखे, गृहस्थीमें उत्तम प्रजाका उत्पादन, पालन-पोषण करे (उतनी ही सन्ततिका उत्पादन करे, जितनेका पालन-पोषण अच्छी तरह कर सके; क्योंकि वेदोंमें यह भी कहा है कि 'बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यते', 'बहुप्रजाः निर्ऋतिमाविवेश'); वनस्थीमें पारमार्थिक ज्ञानका यज्ञ मुख्यतः तथा अन्य जनताहितकर सार्वजनिक कर्मरूपी यज्ञ करे; फिर सब व्यवहारोंका न्यास करके संन्यासाश्रममें परमात्मध्यान करे । इस क्रमके विरुद्ध जो आचरण करता है, तीनों आश्रमोंमें क्रमसे ऋषि-पितृ-देवके तीन ऋण नहीं चुकाता तथा अर्थ-काम-धर्मका अर्जन नहीं करता और बालब्रह्मचारी या बालसंन्यासी आदि बनना चाहता है, वह प्रायः अधः—नीचे गिरता है । अर्थकी भावना करके जप करना उत्तम यज्ञ है ।

साधनाका मनोवैज्ञानिक आधार

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०)

तन धम सुखिया कोइ न देखा, जो देखा सो दुखिया रे ।
चंद्र दुखी है, सूर्य दुखी है, भरमत निसि दिन जाया रे ॥
ब्रह्मा और प्रजापति दुखिया, जिन यह जग सिरजाया रे ।
हाटो दुखिया, बाटो दुखिया, क्या गिरस्थ बैरागी रे ॥
शुक्राचार्य जनम के दुखिया, माया गर्व न त्यागी रे ।
धूत दुखी, अवधूत दुखी हैं, रंक दुखी धन रीता रे ॥
कहै कबीर वोही नर सुखिया, जो यह मन को जीता रे ॥

'साधना' एक आध्यात्मिक शब्द है । साधनाके द्वारा साधक आनन्द और सुखकी प्राप्तिकी आशा करता है । आनन्द और सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसके विषयमें अध्यात्मवाद और जडवादमें भारी अन्तर है । संसारके सभी प्राणी सुखकी आशा करते हैं और सुखकी खोजमें ही अनेक प्रकारके यत्न किया करते हैं, किन्तु स्थायी सुख किसीको प्राप्त नहीं होता । ज्यों ही हम सुखका स्पर्श करते हैं, त्यों ही वह अभावमें विलीन हो जाता है । जैसा कविवर कीट्सने कहा है—

At a touch sweet pleasure melteth.
Like unto bubbles when rain pelteth.

(जिस तरह बूँदके पड़ते हुए उसके धक्केसे पानीका बबूला फूट जाता है, उसी तरह स्पर्शमात्रसे ही सुख अभावमें विलीन हो जाता है ।) जब हमें किसी इच्छित वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है तो हम आनन्दसे फूल उठते हैं; जब वह हमारे हाथसे चली जाती है तो हम शोकातुर हो जाते हैं । इतना ही नहीं; इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होनेपर मनमें आनन्दकी स्थिति थोड़ी देरतक रहती है; फिर अपने-आप ही मनमें बेचैनी पैदा हो जाती है । इस स्थितिको शोपेनहर महाशयने अपने सारगर्भित वाक्यमें यह कहकर प्रदर्शित किया है कि मनुष्यका मन सदा दुःख और बेचैनीकी अवस्थामें ही इधर-से-उधर झूलता रहता है (Human mind swings backward and forward between ennui and pain.)

इस दुःख और बेचैनीको हटानेके लिये भौतिक विचार-वाले तत्त्ववेत्ताओंने यह मार्ग प्रदर्शित किया है कि हमें सदा ही अनेक प्रकारके सुखोंका संग्रह करते रहना चाहिये । हमें अपने-आपको ऐसा बनाना चाहिये कि जिससे हम अपने मनको संसारके हजारों कार्योंमें व्यस्त रख सकें, ताकि हमें दुःख और सुखके सम्बन्धमें विचार करनेका अवसर ही न रहे । बरट्रैंड रसेल (Bertrand Russel) महाशयने अपनी पुस्तक 'कांक्वेस्ट ऑव हैपीनेस' (Conquest of Happiness) में यही दिखलाया है कि मनुष्य अपने-आपको सदा किसी-न-किसी व्यवसायमें लगा करके ही सुखी रह सकता है । इसी प्रकारका सिद्धान्त १८वीं शताब्दीमें बैन्थम महाशयने इँग्लैंडमें प्रचलित किया था ।

इस प्रकारकी भौतिकताको इँग्लैंडके प्रसिद्ध लेखक कालिर्थनने शैतानका राज्य (Reign of Belzebub) कहा है । हमें एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे देखना है कि वास्तवमें सुखकी खोज साधनाके द्वारा करनी चाहिये अथवा भौतिक प्रकारसे । साधना करनेवाले व्यक्तिको आज संसारके लोग प्रायः मन्दबुद्धि समझते हैं । हम देखते हैं कि साधक निरर्थक ही अपने शरीरको त्रास दिया करता है और अनेक प्रकारसे अपने-आपको संसारके सुखोंसे वञ्चित करता है । क्या ऐसा करना निरी भूल है ? मनोविज्ञान इस विषयमें क्या कहता है ?

मनोविज्ञान भौतिक विज्ञानोंके समान ही एक विज्ञान है, अतएव आध्यात्मिकताकी पुष्टि करना मनोवैज्ञानिकके लिये कठिन है; तथापि कुछ मनोविज्ञानियोंने ऐसी मौलिक बात कही है, जिससे हमें यह ज्ञात हो सकता है कि हमें सुखकी खोज कहाँ करनी चाहिये । उनमेंसे एक विलियम जेम्सद्वारा कथित आनन्दका सिद्धान्त है । विलियम जेम्सने इस विषयको एक फारमूलेमें बतलाया है—

"आनन्द$=\frac{\text{लाभ}}{\text{तृष्णा}}$ $\left(\text{Satisfaction}=\frac{\text{Achievement}}{\text{Expectation}}\right)$

यदि किसी मनुष्यका किसी विषयमें लाभ अधिक हो और उसकी आशा (तृष्णा) कम हो तो उसको आनन्द अधिक होगा । यदि उसकी तृष्णा या आशा अधिक हो और लाभ कम तो आनन्द कम होगा । हम आनन्दकी वृद्धि लाभको बढ़ाकर अथवा आशाको

कम करके कर सकते हैं। यदि लाभको इतना कम किया जाय कि शून्य हो जाय तो हमारा आनन्द शून्य हो जायगा, किन्तु यदि लाभको जैसा-का-तैसा रखते हुए आशाको शून्य कर दिया जाय तो हमारा आनन्द अनन्तानन्द हो जायगा। अर्थात् जिसे ब्रह्मानन्द कहा गया है, उसकी प्राप्ति इस गणितके फारमूलेके अनुसार आशा या तृष्णाकी शून्यतासे ही सिद्ध होती है। विलियम जेम्स महाशय स्वयं उपर्युक्त निष्कर्षपर नहीं पहुँचे हैं, किन्तु उनके दिये हुए मनोवैज्ञानिक फारमूलेसे हम गणितविज्ञानकी सहायतासे इस निष्कर्षपर सरलतासे पहुँच सकते हैं। जिसकी बुद्धि कुशाग्र है, उसे यह सत्य हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाना चाहिये।

अब प्रश्न यह है कि हम आशाकी शून्यता कैसे प्राप्त करें। यह सहज ही प्राप्त नहीं हो जाती। संसारके सभी मनीषियोंने तृष्णा या आशाकी शून्यतामें आनन्द और सुखकी प्राप्तिका उपाय बताया है। इस तृष्णाकी शून्यताके लिये साधनाकी आवश्यकता है। आशा या तृष्णा मनकी तरङ्गें हैं। विचलित मन आशा और तृष्णामय होता है। प्रशान्त मन आशा और तृष्णासे रहित होता है। इस प्रशान्त स्थितिको प्राप्त करनेके लिये नित्यकी साधना आवश्यक होती है। मन वायुके समान वेगवान् है; परन्तु अभ्यास और वैराग्यके द्वारा वह नियन्त्रणमें लाया जा सकता है। श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥*

क्या अभ्यासके आध्यात्मिक सत्यका भी कोई मनोवैज्ञानिक आधार है? अभ्यासके द्वारा प्राणिमात्रके स्वभावमें इतना परिवर्तन होता है कि वह एक नये प्रकारका प्राणी बन जाता है। जो शेर अनेक वर्षोंतक पिंजड़ेमें रह आता है, वह पिंजड़े-का दरवाज़ा खुलनेपर भी पिंजड़ेसे नहीं भागता; यदि उसे बाहर निकाल भी दिया जाता है तो भी वह फिर पिंजड़ेमें ही घुसता है। जिन क़ैदियोंका जन्म क़ैदमें ही बीतता है, वे जब क़ैदसे मुक्त होते हैं तब भी क़ैदमें ही जानेको तरसते हैं। अभ्यासके कारण ही मील-मील गहरी खानोंमें काम करनेवाले आदमी उन खानोंमें आनन्दसे जीवन बिता ले जाते हैं और अभ्यासके कारण ही ज्वालामुखी पर्वतोंपर रहनेवाले लोग तथा सदा वायुयानमें उड़नेवाले वायुयानचालक निर्भयताके साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनका प्राणान्त किसी क्षण हो सकता है, इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती। अभ्यासके द्वारा गणितज्ञ एक ही प्रश्नको विचारते-विचारते ऐसे समाधिस्थ हो जाते हैं कि खाना-पीनातक उन्हें भूल जाता है और चलते-फिरते भी वे अपने विचारमें ही विचरा करते हैं। हमारा मन अभ्यासके द्वारा इस प्रकारसे नियन्त्रित किया जा सकता है। हम जिधर उसे चाहें ले जा सकते हैं। हम जिस परिस्थितिमें अपने आपको रखना चाहें, रख सकते हैं। जिस स्थितिसे हमें अभ्यास हो जाता है, उसमें हमें आनन्द आने लगता है। अतएव किसी परिस्थितिको आनन्दमय बनाना अभ्यासपर निर्भर करता है। यदि हमारा मन हमारे पूर्ण नियन्त्रणमें है तो हम सभी अवस्थाओंमें अनन्त आनन्दका उपभोग कर सकते हैं। मन अभ्याससे वशमें आता है।

मनको वशमें लानेका अभ्यास अनेक प्रकारका होता है। इन अभ्यासोंका नाम साधना कहा गया है। जिस व्यक्तिने अपने मनको पहलेसे ही शान्ति-अशान्ति, मान-अपमान, सुख-दुःखसे निर्लिप्त बना लिया है, वही निर्विघ्न शान्तिमें स्थित रह सकता है*। जो व्यक्ति काम-क्रोधके वेगोंको सह सकता है वही वास्तविक सुखी है†।

जब हम अपने मनको दुःखोंके सहनेके लिये पहलेसे तैयार कर लेते हैं तो दुःखोंके आनेपर हम विचलितमन नहीं होते। संसारकी कोई भी परिस्थिति एक-सी नहीं रहती। परिस्थितियों-में परिवर्तन सदा होते ही रहते हैं, जो व्यक्ति इन परिवर्तनोंसे नहीं डरता, प्रतिकूल परिस्थिति पाकर जिसके मनको किसी प्रकारका उद्वेग नहीं होता, वही एकरस आनन्द और शान्ति-का उपभोग कर सकता है। ऐसा ही व्यक्ति अध्यात्मतत्त्वका वास्तविक चिन्तन कर सकता है। सत्यान्वेषणके लिये मनका अनुद्विग्न होना आवश्यक है; बिना मनको वशमें किये सत्यका

* योगसूत्रमें कहा है—अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

* समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
—गीता

† शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥
—गीता

चिन्तन सम्भव नहीं । अतएव मनको वशमें करनेकी साधना ही सत्यकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है ।

कितने साधु-संन्यासी, यती-योगी मनको वशमें करनेके लिये हठयोगका अभ्यास करते हैं । ऐसे योगियोंके ऊपर प्रायः आधुनिक सभ्यतामें पले लोग हँसा करते हैं । इस प्रकारकी चेष्टाओंको वे मन्दबुद्धिका परिचायक मानते हैं । किन्तु यदि हम संसारके बड़े-बड़े महात्माओंकी जीवनियोंको देखें और हठयोगकी साधनाका मनोविज्ञानकी दृष्टिसे विवेचन करें तो हम पायेंगे कि हठयोग सही मार्गपर है ।

यूनानका एक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता डायोजिनीज़, जो कि सुकरातका चेला था, अपना जीवन एक नादमें ही बिता लेता था । वह अपने रहनेके लिये घर बाँधना आवश्यक नहीं समझता था । एक बार किसी युवकने उसे एक पत्थरकी मूर्त्तिसे देरतक भीख माँगते देखा । उस युवकने पूछा 'डायोजिनीज़ ! भला, पत्थरकी मूर्त्तिसे तुम क्यों भीख माँगते हो ? क्या वह तुमको भीख दे देगी ?' डायोजिनीज़ने उत्तर दिया, 'मैं इस मूर्त्तिसे भीख माँगकर किसी पुरुषके भीख न देनेपर शान्त चित्त रहनेका अभ्यास कर रहा हूँ ।' भिक्षा माँगना वास्तवमें त्यागियों और योगियोंके लिये एक साधना है । जो गाली दे और तिरस्कार करे, उसको भी योगी आशीर्वाद ही देता है । जिस योगीका चित्त ऐसी अवस्थामें विचलित हो जाता है, वह योगसे गिर जाता है ।

श्रीरामकृष्ण परमहंसजी 'टाका माटी' का अभ्यास समय-समयपर करते थे । एक हाथमें रुपया लेते और दूसरेमें मिट्टी और 'टाका माटी, टाका माटी' कई बार कहते-कहते दोनोंको फेंक देते थे । इस प्रकारका अभ्यास मनुष्यको पैसेके प्रलोभनमें पड़नेसे बचाता है । स्वामी रामतीर्थको सेव बहुत ही प्रिय थे, उनका मन बार-बार कोई गम्भीर विचार करते हुए सेवोंके ऊपर चला जाता था । एक दिन स्वामीजीने कुछ सेव लाकर अपने सामनेके आलेमें रख दिये, इसलिये कि सदा उनकी नजर उन्हींके ऊपर पड़े । मन बार-बार सेवकी ओर जाता था और वे बार-बार उसे खींचकर दूसरी ओर लगाते थे । इस प्रकार आठ दिनतक युद्ध चला, तबतक सेव सड़ गये; तब वे फेंक दिये गये । इस अभ्यासका परिणाम यह हुआ कि फिर उनका मन सेवोंकी ओर कोई महत्त्वपूर्ण विचार करते समय नहीं जाता था । इस प्रकारका अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है । जिस चीजपर बार-बार मन जाय, उससे मनको रोकनेके लिये यदि हठ करके अभ्यास किया जाय तो फिर मन उस वस्तुपर नहीं जाता । इतना ही नहीं, वह फिर दूसरी वस्तुओंपर जानेसे भी सरलतासे रोका जा सकता है ।

आधुनिक चित्त-विश्लेषण-विज्ञानकी कुछ खोजें ऐसी हैं, जिनसे उपर्युक्त अभ्यास किसी मानसिक स्वास्थ्यके लिये लाभप्रद नहीं जँचता । मनको हठसे रोकनेवाले व्यक्ति मानसिक और शारीरिक रोगोंके शिकार बनते हैं । हमारी वास्तविक आन्तरिक इच्छाओंका अवरोध हमारे अदृश्य मनमें अनेक प्रकारकी ग्रन्थियाँ (complex) उत्पन्न कर देता है, जिनके कारण उन्माद, बेचैनी, विस्मृति, हिस्टीरिया आदि अनेक रोग पैदा हो जाते हैं । अतएव कोई-कोई मनोवैज्ञानिक हमारी पाशविक प्रवृत्तियोंका अवरोध करना हमारे लिये हानिकर बतलाते हैं ।

किन्तु यह उनकी एक भूल है । ग्रन्थियाँ उन वासनाओं और भावनाओंके अवरोधसे पैदा होती हैं, जो अविचारसे दबायी जाती हैं । जिन वासनाओंके दबानेका कारण विचार है, उनसे मनमें ग्रन्थियोंका पड़ना सम्भव नहीं । विवश होकर, प्रतिकूल वातावरणके कारण जो इच्छाएँ तृप्त नहीं होतीं, वे ही स्वप्न, उन्माद इत्यादिका कारण होती हैं । स्वेच्छामूलक आत्मनियन्त्रण कदापि आत्मविनाशक नहीं हो सकता ।

दूसरे, चित्त-विश्लेषण-विज्ञानकी खोजोंसे यह भी पता चलता है कि जो व्यक्ति अपनी नैतिक बुद्धि (super-ego) की आज्ञाकी अवहेलना करता है, उसे भी अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक क्लेश होते हैं । यदि किसी प्रकारका व्यभिचार करना हमारी नैतिक बुद्धिके प्रतिकूल है तो ऐसा कार्य हमारी पाशविक वासनाको तृप्त करनेवाला होनेपर भी मनमें अशान्ति लावेगा । हमारी नैतिक बुद्धि सदा हमें कोसा करेगी, जिसके कारण हम कदापि शान्तचित्त नहीं रह सकेंगे । पाप दुःखदायी होता है और पुण्य सुखदायी, इस कथनके मूलमें मनोवैज्ञानिक सत्य निहित है ।

मनका नियन्त्रण दो प्रकारसे किया जा सकता है । एक उसकी गतिका मार्ग परिवर्तन करनेसे और दूसरे उसे गतिहीन कर देनेसे । योगसूत्रोंमें वृत्तिहीन अवस्था ही योगाभ्यासका लक्ष्य बतलाया है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।' जहाँ चित्तवृत्तिका निवारण हुआ कि आत्मस्वरूपकी प्राप्ति निश्चित ही है । इससे पहले यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान और धारणाद्वारा

मनकी गति एक ओर लगायी जाती है। ये सब साधन हमें सविकल्प समाधितक पहुँचाते हैं, निर्विकल्प समाधि इसके परे है।

मनोविज्ञानके अनुसार मनको गतिहीन करना सम्भव नहीं। जैसे कि साइकिलपर चढ़ा हुआ मनुष्य साइकिलको रोककर एक ही जगह नहीं रह सकता, उसे सदा गतिमान् बनना पड़ता है, इसी तरह मनुष्यका मन सदा गतिमान् है। किन्तु जिस तरह हम साइकिलको एक ओर न ले जाकर दूसरी ओर ले जा सकते हैं, इसी तरह हम मनको भी एक ओर न ले जाकर दूसरी ओर लगा सकते हैं। मन कुछ-न-कुछ करता ही रहेगा, उसे कुछ काम देते रहना चाहिये।

इस मनोवैज्ञानिक सत्यको गीताकारने भली प्रकारसे समझा था। इसलिये गीतामें कर्मयोग और भक्तियोगको ही मनको वशमें करनेके श्रेष्ठ उपाय बतलाया गया है। निर्गुण और सगुण दोनों ही उपासनाएँ प्रशंसनीय हैं, फिर भी भगवान् श्रीकृष्णने गीताके बारहवें अध्यायमें* सगुण ब्रह्मकी उपासनाको अधिक श्रेष्ठ माना है। वास्तवमें जब अखिल संसारमें एक ही तत्त्व व्याप्त है† तो सबकी सेवा करना ही ब्रह्मभावको प्राप्त होना है। यदि हमें आस्तिक बुद्धि प्राप्त हो गयी है तो मनोविज्ञानकी दृष्टिसे मनसे लड़ना व्यर्थ है। हमें मनको योग्य कार्यमें लगाना चाहिये। सभी काम उस एक ही सत्ताके स्फुरणमात्र हैं। यह जानकर जो कुछ भी हम करते हैं, वह परमात्माकी पूजा ही है।

> जहँ जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जोइ जोइ करूँ सो पूजा।
> सहज समाधि सदा उर राखूँ, भाव मिटा दूँ दूजा॥

मनको शून्यतामें विलीन करना सम्भव नहीं। मन जबतक मनरूपमें है, वह गतिशील ही रहेगा। अध्यात्म-दृष्टिसे मन अविद्याका कार्य है। द्वैतबुद्धि ही अविद्या है। इस द्वैतबुद्धिका निवारण ज्ञानसे होता है। द्वैतबुद्धिका नाश होनेपर मन अपने-आप विलीन हो जाता है। अर्थात् जबतक हमें अद्वैत-तत्त्वका ज्ञान नहीं होता, मनका अवरोध करना उसे काष्ठलोष्ठवत् बनानेकी चेष्टा करना है। मनमें चैतन्यका आभास होनेके कारण ही वह चञ्चल है। जबतक शुद्ध चैतन्यकी प्राप्ति नहीं होती, मनका इधर-उधर दौड़ना स्वाभाविक है। वास्तवमें मनकी इस दौड़-धूपका अन्तिम प्रयोजन आत्मानन्द प्राप्त करना ही है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि स्थायी सुखका होना साधनापर ही निर्भर है। यह साधना मनको वशमें करना है और मनको वशमें करनेका सरल उपाय उसे परमात्माके हेतु निरन्तर भले कामोंमें लगाये रखना है। जहाँतक मनोविज्ञान इस कथनकी सत्यताको प्रमाणित करता है, उसके सिद्धान्तोंका उल्लेख किया गया। किन्तु साधनाकी उपयोगिताके विचारमें अन्तिम प्रयोजन अपरोक्षानुभव ही हो सकता है; मनोविज्ञान उसका स्थान ग्रहण नहीं कर सकता।

---

* मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

—गीता

मुझमें (भगवान्‌में) मन लगाकर निरन्तर मेरे भजनमें लगे हुए जो भक्तजन अत्यन्त श्रद्धाके साथ मुझ सगुणको भजते हैं, वे मेरे मतमें अति उत्तम योगी हैं। परन्तु जो पुरुष इन्द्रियसमूहको भलीभाँति वशमें करके अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, अक्षर ब्रह्मको भजते हैं, वे सब भूतोंके हितमें रत और सबमें समभावसे युक्त योगी भी मुझ (भगवान्) को ही प्राप्त होते हैं। उन अव्यक्त ब्रह्ममें लगे हुए पुरुषोंके साधनमें क्लेश विशेष है, क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।

† ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।

—ईशावास्योपनिषद्

सहज साधन

(लेखक—अध्यापक श्रीधीरेन्द्रकृष्ण मुखोपाध्याय, एम्० ए०)

स्वास्थ्य-चिकित्सकका यह काम है कि वह पहले रोगका निदान करे और पीछे औषध दे। हमलोग इस संसारके वासी भी अस्वस्थ ही तो हैं। हमारी अस्वस्थता क्या है? हम 'स्व' में स्थित नहीं हैं, इसी कारण 'अस्वस्थ' हैं, रोगी हैं, अनेकानेक कष्टों और यन्त्रणाओंको झेलते हुए मृत्युपथमें ही चल रहे हैं। रोग, शोक, दुःख, दारिद्र्य, अकालमृत्यु, अपमृत्यु, हाहाकार यही तो सारा संसार है। अशान्ति, अभाव, अनाचार, अत्याचार, कलह, ईर्ष्या, द्वेषका ही तो दावानल चारों ओर धधक रहा है। इसकी गाथा, इस भव-रोगकी कथा धर्मपथके पथिकों और मोक्षमार्गके यात्रियोंको पहले समझ लेनी होगी। कारण, दुःखसागरका मन्थन न करनेसे आनन्द और अमृतका पता नहीं चल सकता। जो दुःख हमें कष्ट दे रहा है, वही हमें सुखका पता भी बता देगा। दुःखमें विना गिरे बहिर्मुख जीव अन्तर्मुख नहीं होता। इस दुःख-सागरमें गिरकर ही सुरथ और समाधि माँको पहचान सके। इसी विषादके अनलमें गिरनेपर ही 'गीतामृतं महत्' श्रीभगवान्‌के मुखसे इस पृथिवीपर आया। इस विषाद-सिन्धुको मथकर ही भागवत-कौस्तुभ पाया गया, जिसने भारतको समुज्ज्वल किया। धर्मके पथपर चलनेके लिये दुःखका बोध होना जरूरी है, सर्वबोधके पूर्व विषादयोग है। हमलोग दुःखमें गिरनेपर ही भगवान्‌को पुकारते हैं, ऐश्वर्यमें उन्हें भूल जाते हैं। इसीलिये कुन्तीमाताने भगवान्‌से यह प्रार्थना की थी कि 'हमें दुःख दो, जिसमें तुम्हारा स्मरण बना रहे।' बहिर्मुख भगवद्विमुख जीवका उद्धार करनेके लिये ही भगवान् हमें दुःख दिया करते हैं।

स्वरूपच्युति ही हमारे दुःखका कारण है। परमात्मस्वरूप श्रीभगवान्‌को भुलाकर जीव स्वयं प्रभु बन बैठा है और अपने सच्चिदानन्दस्वरूपको खोकर अनात्मा—अहङ्कार-विमूढात्मा बनकर अनन्त कर्मजालमें फँसा इस दुःखसागरमें डूब रहा है। इस दुःखसागरसे उद्धार पानेके तीन मार्ग ऋषियोंने बतलाये हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति। ये तीनों मार्ग वस्तुतः सर्वथा भिन्न नहीं हैं। ज्ञानमें सामान्यतः कर्म और भक्ति मिली हुई है, कर्ममें भक्ति और ज्ञान मिला है और भक्तिमें ज्ञान और कर्म सम्मिश्रित है। इन तीन मार्गोंके त्रिविध अधिकारका भी एक विचार है। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धमें भगवान् बतलाते हैं कि 'संसारमें जो लोग आसक्त हैं उनके लिये कर्मयोगका मार्ग प्रशस्त है, संसारसे जो विरक्त हैं उनके लिये ज्ञानयोग और जो अधिक आसक्त भी नहीं हैं और विरक्त भी नहीं हैं, उनके लिये भक्तियोग है।' सब प्रकारके ऐहिक-पारलौकिक भोगोंसे जब मन विरक्त होता है; निषिद्धवर्जनपूर्वक नित्य-नैमित्तिक कर्मद्वारा जब चित्त विशुद्ध होता है; शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधानरूप षट्सम्पत्तिसे सम्पन्न होकर जब साधक केवल एक परमात्मवस्तुकी प्राप्तिके लिये व्याकुल हो उठता है तब वह ज्ञानमार्गका अधिकारी होता है। अधिकारके विना ज्ञानकी चर्चा केवल ज्ञानका विडम्बन है। इस कलिमें कर्मकाण्डका भी यथाविहित होना अत्यन्त दुर्लभ है। आत्मशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, मन्त्रशुद्धि, स्थानशुद्धि आदिका भी कोई उपाय है? मन्त्रके स्वर और वर्णके उच्चारणमें किञ्चित् भी दोष होनेसे वह वाग्वज्र बनकर यजमानको नष्ट कर देता है। विधिहीन कर्मसे कर्ताका विनाश होता है। कर्मकाण्डमें शूद्रका तो कोई अधिकार है ही नहीं; पर आज ब्राह्मण भी जिस दुरवस्थामें जा गिरे हैं, उसमें उन्हें भी कहाँतक इसका अधिकार है—यह विचारणीय है। ऐसी अवस्थामें हमलोगोंको अपना अधिकार जानकर उसी योगमें मन लगाना चाहिये।

हमलोगोंके अपराधोंकी कोई सीमा नहीं है। श्रीभगवान्‌की करुणा भी असीम है। यह जानकर हमें शरणागतिरूप भक्तियोगका ही अवलम्बन करना चाहिये। इसमें वेदज्ञ ब्राह्मणसे लेकर शूद्र, म्लेच्छ, यवनतक सबका अधिकार है। इसमें कोई प्रत्यवाय नहीं, कोई भय नहीं। सहज, सरल, सुगम पथ है। इसलिये—

'तस्मात् सर्वेषामधिकारिणामनधिकारिणां भक्तियोग एव प्रशस्यते। भक्तियोगो निरुपद्रवः। भक्तियोगान्मुक्तिः। चतुर्मुखादीनां सर्वेषां विना विष्णुभक्त्या कल्पकोटिभिर्मोक्षो न विद्यते। कारणेन विना कार्यं नोदेति। भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते। तस्मात्त्वमपि सर्वोपायान् परित्यज्य भक्तिनिष्ठो भव। भक्तिनिष्ठो भव। मदुपासकः सर्वोत्कृष्टः स भवति। मदुपासकः परं ब्रह्म भवति।' (श्रीभक्तिपारिजातः)

अर्थात् 'अधिकारी, अनधिकारी सबके लिये ही भक्तियोग प्रशस्त है। निरुपद्रव है। मुक्तिका देनेवाला है। चतुर्मुखादि सबका मोक्ष विष्णुभक्तिके बिना नहीं होता। भक्तिके बिना ब्रह्मज्ञान कदापि नहीं होता। इसलिये तुम भी सब उपायोंका परित्याग कर भक्तिनिष्ठ होओ। भक्तिनिष्ठ होओ। मेरा उपासक सबसे उत्कृष्ट होता है। मेरा उपासक परब्रह्म होता है।'

न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः॥
नृणां जन्मसहस्रेण भक्तौ प्रीतिर्हि जायते।
कलौ भक्तिः कलौ भक्तिर्भक्त्या कृष्णः पुरः स्थितः॥

(श्रीमद्भागवत-माहात्म्य २।१८-१९)

अर्थात् 'तपसे, वेदोंसे, ज्ञानसे या कर्मसे, इनमेंसे किसीसे भी श्रीहरि नहीं मिलते, मिलते हैं भक्तिसे; और इसके प्रमाण हैं गोपिकाएँ। सहस्रों जन्मोंकी साधसे भक्तिमें प्रीति उत्पन्न होती है। कलिमें केवल भक्ति ही है, भक्तिसे ही श्रीकृष्ण सम्मुख उपस्थित होते हैं।'

इसलिये 'भक्तिरेकैव सिद्धिदा'—केवल एक भक्ति ही सिद्धि देनेवाली है।

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥

'विषयोंसे विवश होनेवाला अजितेन्द्रिय मनुष्य मेरा भक्त होनेपर प्रगल्भा भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंके वशीभूत नहीं होता।'

भगवान्‌की शरणमें जो कोई जाता है, वह अभय हो जाता है। भगवान् स्वयं कहते हैं कि 'जो कोई दीन होकर मुझे पुकारता और कहता है कि मैं तुम्हारा हूँ, उसे मैं सबसे अभय कर देता हूँ, यही मेरा व्रत है।'

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

श्रीभगवान्‌की ओर किञ्चित् भी आकर्षण हो, उनके चरणोंमें लेशमात्र भी रति हो तो इसे उनकी महती कृपाका प्रसाद समझना चाहिये। इस प्रसादका यत्नपूर्वक रक्षण, पोषण और संवर्द्धन करना आवश्यक है। इसका साधन सत्सङ्गके करने और दुस्सङ्गको छोड़नेसे होता है। जो लोग धर्मसे द्वेष करते, देव-द्विजोंकी उपेक्षा करते, शौच-सदाचारमें अनास्था रखते हैं, उनका सङ्ग ही दुःसङ्ग है। इससे भक्तको सदा सावधान रहना चाहिये। दुष्ट सर्पसे जिस तरह मनुष्य दूर भागता है, उसी तरह भक्त भी अभक्तके सङ्गसे भागता है—'पलायेवाभक्तसंसर्गाद्दुष्टात्सर्पाद्यथा नरः'; क्योंकि—

आलापाद् गात्रसंस्पर्शाच्छयनात्सहभोजनात्।
सञ्चरन्ति हि पापानि तैलबिन्दुरिवाम्भसा॥

'भाषणसे, शरीरस्पर्शसे, एक साथ सोनेसे, एक साथ बैठकर भोजन करनेसे पाप एकसे दूसरेमें प्रवेश कर जलमें तैलके बिन्दुके समान फैलते हैं।' गुण-दोष सबके संसर्गज हुआ ही करते हैं, इसलिये भक्तलोग सदा सत्पुरुषोंके सङ्गकी ही इच्छा करते हैं। सत्सङ्ग बड़े पुण्यसे प्राप्त होता है। कहते हैं—

यदा पुण्यविशेषेण लभते सङ्गतिं सताम्।
मद्भक्तानां सुशान्तानां तदा मद्विषया मतिः॥
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा दुर्लभा जायते ततः।
ततः स्वरूपविज्ञानमनायासेन जायते॥

(श्रीभक्तिपारिजात)

अर्थात् 'जब विशेष पुण्यके प्रभावसे मनुष्य मेरे भक्त और सुशान्त सत्पुरुषोंका सङ्ग लाभ करता है, तभी उसके मेरे विषयकी बुद्धि उपजती है। पीछे मेरे कथाश्रवणमें उसकी उत्कट श्रद्धा होती है और उससे फिर अनायास ही उसमें मेरा स्वरूपविज्ञान उत्पन्न होता है।'

साधुसङ्ग, सत्सङ्ग या भक्तसङ्ग अत्यन्त दुर्लभ है। जहाँ जब मिले, उसे अपना अहोभाग्य समझना चाहिये। पर जब जहाँ इसकी सुलभता न हो, वहाँ सद्ग्रन्थोंका सङ्ग तो अवश्य ही करना चाहिये। प्रतिदिन ही व्यास-वाल्मीकि आदिके ग्रन्थोंका पाठ होना ही चाहिये। इन ग्रन्थोंके पठनसे हृदय पवित्र होता है, प्राण आनन्द-रससे अभिषिक्त होते हैं, शुष्क नीरस हृदय भी भक्तिभावसे भर आता है। भक्तिके विषयमें श्रीमद्भागवत-जैसा दूसरा ग्रन्थ नहीं है—'निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्। पिबत भागवतं रसमालयम्'।

श्रीमद्भागवतके समान अध्यात्मरामायण भी भक्तिविषयक अति उपादेय ग्रन्थ है। रामायण, महाभारत, भागवत,

अध्यात्मरामायण प्रभृति सद्ग्रन्थ हमारे जन्म-जन्मान्तरोंके पापोंको नष्ट करनेमें प्रज्वलित अग्निका काम करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीचण्डीसप्तशती, श्रीदेवीभागवत आदिके पाठ सब पाशविक वृत्तियोंको नष्ट करके सब पाशोंसे मुक्त करनेवाले हैं। वाल्मीकिके अवतार तुलसीदास, कृत्तिवास और काशीराम आदिके ग्रन्थ ही तो उत्तर भारतमें हिन्दू-धर्मको जीवित रक्खे हुए हैं। भगवद्भक्तिमें सत्सङ्गके समान सहायक और कोई नहीं। सत्पुरुषोंका सङ्ग न मिले तो सद्ग्रन्थोंके पाठके द्वारा श्रीभगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण और अवतारकी कथा बार-बार श्रवण करनी चाहिये। इससे चित्त शुद्ध होता और भगवद्भावकी सृष्टि और पुष्टि होती है।

शास्त्रोंका कथन है—

'अत्यन्तोत्कृष्टसुकृतपरिपाकवशात् सद्भिः सङ्गो जायते। तस्माद्विधिनिषेधविवेको भवति। ततः सदाचारप्रवृत्तिर्जायते। सदाचारादखिलदुरितक्षयो भवति। तस्मादन्तःकरणमतिविमलं भवति। ततः सद्गुरुकटाक्षमन्तःकरणमाकाङ्क्षति। यथा जात्यन्धस्य रूपज्ञानं न विद्यते तथा गुरूपदेशेन विना कल्पकोटिभिः तत्त्वज्ञानं न विद्यते। तस्मात् सद्गुरुकृपाकटाक्षलेशविशेषेणाचिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति। यदा सद्गुरुकटाक्षो भवति तदा भगवत्कथाश्रवणध्यानादौ श्रद्धा जायते। तस्माद् हृदयस्थितानादिदुर्वासनाग्रन्थिविनाशो भवति। ततो हृदयस्थिताः कामाः सर्वे नश्यन्ति। तस्माद् हृदयपुण्डरीककर्णिकायां परमात्माविर्भावो भवति।'

अर्थात् 'अत्यन्त उत्कृष्ट पुण्यके परिपाकसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है; उससे विधि-निषेधका विवेक उत्पन्न होता है। विवेकसे सदाचारमें प्रवृत्ति होती है। सदाचारसे सब पापोंका क्षय होता है। तब अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है। तब सद्गुरुकटाक्ष पानेकी इच्छा अन्तःकरणमें होती है। जन्मान्ध व्यक्तिको जैसे रूपका बोध नहीं होता, वैसे ही गुरुके उपदेश बिना कोटि कल्पोंमें भी किसीको तत्त्वका ज्ञान नहीं होता। सद्गुरुकी कृपादृष्टिके लेशमात्रसे तुरंत तत्त्वज्ञान होता है। जब सद्गुरुकी कृपादृष्टि पड़ जाती है, तब भगवत्कथाश्रवण-ध्यानादिमें श्रद्धा उत्पन्न होती है। उससे हृदयस्थित अनादि दुर्वासनाग्रन्थिका विनाश होता है। उससे हृदयस्थित सब काम नष्ट होते हैं। तब उससे हृत्पद्मकी कर्णिकामें परमात्माका आविर्भाव होता है।'

सद्गुरुकृपाके बिना साधनराज्यमें कोई व्यक्ति प्रवेश नहीं कर सकता। जिस विधिसे सद्गुरु शिष्यको साधन-राज्यमें प्रवेश करनेका अधिकार देते हैं, उसीको दीक्षा कहते हैं। दीक्षासे दिव्य ज्ञान होता और पापका क्षय हो जाता है, इसीलिये उसे दीक्षा कहते हैं।

> दिव्यज्ञानं यतो दद्यात्कुर्यात्पापस्य संक्षयम्।
> तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः॥
> दीक्षामूलं जपं सर्वं दीक्षामूलं परं तपः।
> दीक्षामाश्रित्य निवसेद्यत्र कुत्राश्रमे वसन्॥
>
> × × × ×
>
> देवि दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः।
> तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत्॥
>
> × × × ×
>
> उपपातकलक्षाणि महापातककोटयः।
> क्षणाद्दहति देवेशि दीक्षा हि विधिना कृता॥

अर्थात् 'जप-तप सबका मूल दीक्षा है; जहाँ-कहीं जिस किसी आश्रममें भी दीक्षाका आश्रय करके ही रहना चाहिये। दीक्षाके बिना सिद्धि नहीं मिलती, सद्गति नहीं प्राप्त होती। इसलिये हर उपायसे गुरुके द्वारा दीक्षित होना चाहिये। विधिपूर्वक दीक्षा होनेसे वह दीक्षा एक क्षणमें लाखों उपपातक और करोड़ों महापातक जला डालती है।'

अग्निसे ही अग्नि प्रज्वलित होता है। सद्गुरुसे प्राप्त मन्त्र अग्निके समान पापराशिको जलाकर शिष्यका मुक्तिद्वार उन्मुक्त कर देता है। ग्रन्थोंके पठन-पाठनसे केवल शब्द-पाण्डित्य बढ़ सकता है, पर प्रत्यक्ष क्रियाका बोध सद्गुरु-कृपाके बिना नहीं हो सकता। सद्गुरुकी प्राप्तिके लिये जो कुछ करना पड़ता है, उसका हमलोगोंको कुछ भी ध्यान नहीं है। पाषाणमें भी प्राणप्रतिष्ठा करनेसे देवताका आगमन होता है। आचार्यकी उपासना करनेसे अज्ञातवस्तु अवश्य ही मिलेगी। एकलव्यने द्रोणाचार्यकी मृन्मयी प्रतिमाको पूजकर साधनबलसे अस्त्रशिक्षामें असाधारण दक्षता लाभ की और हमलोग गुरु न मिलनेके बहाने अपने आध्यात्मिक उन्नति-पथका द्वार ही बंद रक्खे हुए हैं। आदर्श गुरु मिलनेके पूर्व अपने आपको आदर्श शिष्य बनाना पड़ता है। श्रीसद्गुरु ही भगवान्, गुरु और मन्त्र तीनोंमें हैं। जिन्हें ऐसे सद्गुरुकी कृपा प्राप्त हुई, उनके लिये और कुछ भी प्राप्तव्य

नहीं है। भगवान् ही श्रीसद्गुरुरूपसे सत् शिष्यके सामने आविर्भूत हुआ करते हैं।

इस युगमें कृच्छ्रतपादि कठोर साधना करनेकी सामर्थ्य जीवमें नहीं रह गयी। श्रीभगवान्‌की शरण लेकर उनके चरणोंमें अपनी आँखें लगाकर प्रार्थना करनेके सिवा जीवके लिये और कोई उपाय नहीं है। यह उपाय सहज, सरल, सुगम है। शास्त्र ही भगवान्‌की वाणी हैं; शास्त्र ही भागवती तनु हैं; अतः शास्त्रानुयायी जीवन ही उन्हें प्राप्त करनेका सहज उपाय है। जिस किसी वर्णमें हमारा जन्म हुआ हो, हमारी जैसी भी अवस्था हो, शौच-सदाचारका अवलम्बन कर अपने धर्मका पालन करते रहें, इसीसे भगवान् प्रसन्न होंगे। श्रीभगवत्-प्रीति ही हमारा परम धर्म है। उनका प्रीत होना ही हमारा परम कल्याण है। ब्राह्मण-सन्तान ब्राह्मण-धर्म पालन करें, शौच-सदाचार-सत्य-अहिंसा-शम-दम-तपःसमन्वित हों, त्रिसन्ध्योपासन करें, शास्त्रचर्चा और जपादि कर्मोंमें नियुक्त हों, कुलगुरुसे कुलमन्त्रकी दीक्षा लेकर सन्ध्या-जपादि करें, पुराणादि पाठ करें, सत्य, शौच, शास्त्रसेवादि अवलम्बन करें और सभी वर्ण सदा श्रीभगवन्नाम-महामन्त्रका जप करें, उच्चस्वरसे हरिनामसङ्कीर्तन करें। इस साधनासे भगवान् प्रसन्न होंगे और कभी-न-कभी सद्गुरुरूपसे आविर्भूत होकर साधकको कृतार्थ करेंगे।

कलिमें नाम-साधन ही सहज साधन है, यही महा-साधना है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।

कलियुगी जीवोंके कल्याणका साधन

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार॥
एहिं कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥
रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुनग्रामहि॥
—श्रीरामचरितमानस

यह 'दीन' लेखक पाठक महानुभावोंसे सर्वप्रथम उपर्युक्त पदोंमें आये हुए 'यह' तथा एहिं शब्दपर विचार करनेके लिये विनम्र प्रार्थना करता है। श्रीमानस-ग्रन्थके रचयिता गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने बार-बार 'यह कलिकाल, एहिं कलिकाल' का प्रत्यक्ष अङ्गुल्यानिर्देश करके निश्चयपूर्वक यह सिद्धान्त स्थिर कर दिया है कि इस वर्तमान घोर कलिकालमें श्रीभगवान्‌के नाम और यश (चरित्र) को छोड़कर दूसरे जितने भी साधन हैं, उनमेंसे किसीसे भी सिद्धि नहीं हो सकती, वे सभी साधन अनुभव करके देखे जा चुके हैं। श्रीगोस्वामिपादने अपने अनुभवकी बातको बिनयपत्रिकाके भी निम्नलिखित पदोंमें व्यक्त कर दिया है। यथा—

'एहिं कलिकाल सकल साधनतरु है श्रम फलनि फरो सो' ॥१७३॥

'ग्रसे कलि-रोग जोग-संजम-समाधि रे।
राम-नाम छाँड़ि जो भरोसो करै और रे।
तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे' ॥६६॥

'जोग, जाग, जप, बिराग, तप, सुतीरथ अटत।
बाँधिबेको भव-गयंद रेनुकी रजु बटत॥
परिहरि सुरमनि सुनाम गुंजा लखि लटत।
लालच लघु तेरो लखि तुलसी तोहि हटत' ॥१२९॥

'साधन बिनु सिद्धि सकल बिकल लोग लपत।
कलिजुग बर बनिज बिपुल नाम-नगर खपत' ॥१३०॥

'बिस्वास एक राम-नाम को।
ब्रत तीरथ तप सुनि सहमत, पचि मरै, करै तन छाम को।
करम-जाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दामको।
ग्यान बिराग जाग जप तप, भय लोभ मोह मद कामको' ॥१५५॥

'राम-नामके जपे जाइ जियकी जरनि।
कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भये,
जैसे तम नासिबेको चित्रके तरनि॥
करम-कलाप परिताप-पाप साने सब,
ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि।

जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ग्यान,
बचन बिसेष बेष, कहूँ न करनि ॥
राम-नामको प्रताप हर कहैं, जपैं आप,
जुग-जुग जानैं जग, बेदहूँ बरनि' ॥१८४॥

'नाना पथ निरबानके, नाना बिधान बहु भाँति ।
तुलसी तू मेरे कहे जपु राम-नाम दिन राति' ॥१९२॥

'जपहि नाम रघुनाथको, चरचा दूसरी न चालु' ॥१९३॥

'संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो ।
अपनो भलो राम-नामहि ते तुलसिहि समुझि परो' ॥२२६॥

'प्रिय राम नाम ते जाहि न रामो ।
ताको भलो कठिन कलिकालहुँ आदि-मध्य-परिनामो' ॥२२८॥

'राम जपु जीह ! जानि, प्रीति सों प्रतीति मानि,
राम-नाम जपे जैहै जियकी जरनि ।
राम-नाम सों रहनि, राम-नाम की कहनि,
कुटिल कलि-मल सोक-संकट हरनि' ॥२४७॥

'संभु-सिखवन रसनहूँ नित राम-नामहि घोसु ।
दंभहूँ कलि नाम-कुंभज सोच-सागर-सोसु' ॥१५९॥

इसी प्रकार बिनयपत्रिकाके और भी बहुत-से पदोंमें तथा गीतावली, दोहावली, कवितावली, बरवै रामायण आदि समस्त तुलसीरचित ग्रन्थोंमें इस घोर कलिकालके लिये केवल भगवन्नाम और यशको ही सर्वोत्तम एवं सफल साधन ठहराकर दूसरे सब साधनोंको निस्सार तथा निष्फल सिद्ध करनेके अनुभवयुक्त प्रमाण दिये हुए हैं, जिन सबको उद्धृत करनेसे लेख बड़ा हो जायगा। इसलिये इस वर्तमान कलियुगमें जन्म पाये हुए हम सभी मनुष्योंको उपर्युक्त 'एहिं कलिकाल' के ही निर्दिष्ट भावपर विचार करना चाहिये। हमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके सामर्थ्यसे अपने सामर्थ्यकी तुलना करनी चाहिये। यदि हममें उनसे अधिक वैराग्य, ज्ञान, ध्यानादिकी साधन-सामग्री नहीं हो, तब तो यही उचित है कि वर्तमान युगके उन निकटतम आचार्यने (श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने) अपने अनुभवसे जो निर्णय किया है, उसीपर हम दृढ़ विश्वास कर लें और निर्भयतापूर्वक उन्हींके बताये मार्गपर चलकर सर्वसुलभ साधन भगवन्नाम-यशके जप-कीर्तनद्वारा विना प्रयास संसार-सागरसे पार हो जायँ। श्रीमानसके ये वचन कितने स्पष्ट हैं !—

सुनु ब्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार ।
गुनउ बहुत कलिजुग कर बिनु प्रयास निस्तार ॥

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग ।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग ॥
कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

—उत्तरकाण्ड १०२ क, ख; १०३ क

यहाँ साधारणतः यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जगत्‌में जब अनेकों आचार्योंने अनेकों साधन-मार्ग बतलाये हैं, तब हम कलियुगी जीवोंकी गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीसे ही क्या घनिष्ठता है ? हम क्यों उन्हींसे अपनी तुलना करें और उन्हींके अनुभवोंको अपने लिये उपयोगी मानें। इसके उत्तरमें भी यह 'दीन' लेखक उसी 'एहिं' शब्दपर विचार करनेकी प्रार्थना करता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके साथ हम कलियुगी जीवोंकी घनिष्ठताका सम्बन्ध जोड़नेवाला वही 'एहिं' शब्द है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि सत्ययुग, त्रेता अथवा द्वापरमें जन्म ग्रहण किये हुए श्रीतुलसीदासजीका यह कथन नहीं है। कलियुग भी अनेकों व्यतीत हो चुके, उन बीते हुए कलियुगोंमें जन्म ग्रहण किये हुए श्रीतुलसीदासजीका भी यह कथन नहीं है; बल्कि वह अनुभवयुक्त कथन उन श्रीतुलसीदासजीका है, जो इसी वर्तमान कलियुगमें, जिसमें हम सबका जन्म हुआ है, कुछ ही वर्षों पूर्व जन्म ले चुके हैं; जिन्होंने अपना सारा जीवन ही हमारे-जैसे कलि-कुटिल जीवोंके उद्धारार्थ परोपकारकी भेंट चढ़ा दिया था और इसीलिये जिन ब्रह्मभूत आत्माका इस कलियुगमें अवतार हुआ था। यथा—

'कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीक तुलसी भयो' ।

—श्रीनाभादासकृत भक्तमाल

'उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना' ॥

—श्रीरामचरितमानस

अस्तु, महर्षि वाल्मीकिजीकी ब्रह्मभूत आत्माने गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके रूपमें अवतार लेकर हमारे कल्याणके निमित्त हमसे कुछ ही दिनों पहले इस कलियुगके दुःख-द्वन्द्वोंका साक्षात् अनुभव किया और फिर यह विचार किया कि—

'कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना' ॥

—श्रीरामचरितमानस

इस प्रकार कलियुगी जीवोंके साधन-पुरुषार्थका विचार करके डंकेकी चोटसे यह सिद्धान्त उद्‌घोषित किया गया—

'एहिं कलिकाल न साधन दूजा'।
'यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार'।
—श्रीरामचरितमानस

'एहिं कलिकाल सकल साधन तरु है श्रम फलनि फरो सो'।
—विनयपत्रिका

फिर इस कलिकालमें जो साधन फलीभूत हो सकता है उस सुलभ, सुखद और सच्चे साधनकी दुंदुभी बजायी गयी। हम यहाँ केवल उन मूल वचनोंको ही उद्‌धृत कर देना चाहते हैं। यथा—

'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू'॥
'कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना'॥
'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं'॥
'सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम समेत गाव गुनग्रामहि॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं'॥

कलिमल समन दमन मन राम सुजस सुखमूल।
सादर सुनहिं जे तिन्ह पर राम रहहिं अनुकूल॥
कठिन काल मल कोस धर्म न ग्यान न जोग जप।
परिहरि सकल भरोस रामहि भजहिं ते चतुर नर॥
—श्रीरामचरितमानस

न मिटै भव संकट दुर्घट है तप तीरथ जन्म अनेक घटो।
कलिमें न बिराग न ग्यान कहूँ, सब लागत फोकट झूठ जटो॥
नट ज्यों जनि पेट कुपेटक कोटिक चेटक कौतुक ठाट ठटो।
तुलसी जो सदा सुख चाहिअ तो रसना निसि बासर राम रटो॥
—कवितावली

काल कराल बिलोकहु होइ सचेत।
रामनाम जपु तुलसी प्रीति समेत॥
कलि नहिं ग्यान बिराग न जोग समाधि।
रामनाम जपु तुलसी नित निरुपाधि॥
तप तीरथ मख दान नेम उपबास।
सब ते अधिक नाम जपु तुलसीदास॥
—बरवै रामायण

राम नामको अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गएँ कछु हाथ नहिं अंक रहें दसगून॥
रामनाम अवलंब बिनु परमारथकी आस।
बरषत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥
—दोहावली

इससे अधिक सुन्दर और स्पष्ट उपदेश और क्या हो सकते हैं?

सियावर रामचन्द्रकी जय!

शरीरकी गति

कबीर गर्ब न कीजिये, काल गहे कर केस।
ना जानौं कित मारिहै, क्या घर क्या परदेस॥
हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी, केस जरै ज्यों घास।
सब जग जरता देखि करि, भये कबीर उदास॥
झूँठे सुख को सुख कहैं, मानत हैं मन मोद।
जगत चबैना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद॥
पानी केरा बुदबुदा, अस मानुसकी जात।
देखत ही छिप जायगी, ज्यों तारा परभात॥
रात गँवाई सोय करि, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय॥
—कबीर

श्रीभगवन्नाम-साधन

(क्या नामाभास मानना नामापराध करना है ?)

(लेखक—श्री'स्वान्तःसुखाय')

'मङ्गलभवन अमङ्गलहारी'का परम पावन एक ही नाम परम कल्याणकारी है, एक ही नामसे भवसिन्धु सूख जाता है—'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।' एक नाममें इतनी पापनाशक शक्ति है जितना पाप संसारका कोई भी, किसी प्रदेश और कालका भी महान्-से-महान् पापी नहीं कर सकता—इस प्रकार श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त वचनोंसे तथा अन्यान्य संत-वाणियोंसे जहाँ एक ओर नाम महाराजकी महिमा प्रकट होती है, वहाँ दूसरी ओर यह देखकर कि प्रतिदिन नामकी लक्ष मालिका पूर्ण करनेपर भी कितने लोग अपने व्यावहारिक जीवनमें टस-से-मस नहीं होते, जहाँ थे वहीं पड़े दीखते हैं, उनमें दैवी गुणोंके सञ्चार तथा आसुरी गुणोंके परिहारका कोई व्यक्त लक्षण नहीं दिखलायी पड़ता। इस अवस्थामें यह सन्देह भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता कि जिस नामकी महिमा ऊपर कही गयी है वह क्या कोई दूसरा नाम है। कारण, यदि वह वही होता, जिसकी लक्ष मालिका पूरी की जाती है तो परिणाम दृष्टि-गोचर क्यों नहीं होता ? परिणाम दृष्टिगोचर न होनेकी दशामें क्या यह मान लें कि वस्तुतः नामके सम्बन्धकी ये उक्तियाँ भूतार्थवाद नहीं, केवल अर्थवाद हैं ? पर ऐसा मानना नामके दशापराधोंमेंसे एक महान् अपराध करना है। फलतः, शास्त्र-श्रद्धालु ऐसा नहीं कर सकते। अतएव इस शङ्काका समाधान दूसरे प्रकारसे होना चाहिये। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि नामाभासकी कल्पनाका उदय इसी शङ्काके समाधानस्वरूप हुआ है। अर्थात् जिस नामका अभ्यास साधारण साधक करते हैं वह वास्तविक 'नाम' नहीं है, 'नामाभास' है। इस प्रकार उपर्युक्त असङ्गतिका निराकरण हो जाता है।

परन्तु नामाभासकी यह कल्पना जिस दोषको हटानेके लिये की जाती है, उसीको पुनः प्रकारान्तरसे ला खड़ा कर देती है। साधारण साधक पूर्ण नाम-रसानुभूतिके पूर्व जिस नामका अभ्यास करता है वह वास्तविक नाम नहीं, नामाभास है—इसके यवनोपाख्यान-जैसे धोखेमें, अज्ञाततया, अश्रद्धया, हेलनया नामोच्चारणकी फलश्रुतिमें वास्तविक आस्था न होकर अर्थवादकी ही भावना हो सकती है। अर्थात् दूसरे शब्दोंमें, 'नामाभासकी कल्पना नामापराध है' ऐसा निष्कर्ष निकलता है। फिर मूल सन्देहका निराकरण कैसे हो ?

इसके लिये यवनोपाख्यानवर्णित नाम और तज्जन्य कल्याणके स्वरूप तथा इन दोनोंसे उसके उससे पूर्व जीवनके सम्बन्धका स्पष्टीकरण आवश्यक है। यवनद्वारा उच्चारित नाममें श्रद्धा एवं विश्वास तथा दिव्यभावनाकी तो बात ही क्या, उसे यह भी बोध नहीं था कि 'राम'नामका कोई भगवान् भी है। वहाँ तो जापककी भावनाकी रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। वहाँ नामकी स्वरूपभूत शक्तिका एकान्त परिचय मिलता है। यवनके मुखसे उच्चारित 'राम' उसके भगवान्का नाम नहीं है, प्रत्युत उसके अश्लीलोद्गारका एक अंशमात्र है। उस अश्लीलोद्गारके अवयवभूत भगवन्नामकी महिमा ऐसी कि साक्षात् श्रीभगवान्के पार्षद आकर उसे वैकुण्ठ ले जाते हैं ! रही उसके पूर्वजीवनकी बात। इसके सम्बन्धमें भगवत्-पार्षदोंसे यमदूतोंने जो उसका चरित्रचित्रण किया है, वही पर्याप्त है। कौन ऐसा पाप था कि जिसको उसने नहीं किया था—

उपर्युक्त विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कोई अन्य अलौकिक दिव्य नाम दैवीगुणसम्पन्न व्यक्तिद्वारा श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उच्चारित होनेसे नहीं, प्रत्युत यही नित्यका श्रुत-उच्चारित-चिन्तित कोई भी भगवन्नामद्योतक शब्द ही परम कल्याणकारी है। फलतः हमारी मूल शङ्का सिद्धान्ततः नहीं है, पर व्यवहारके कुछ आकर्षक उज्ज्वलाङ्गोंको परमार्थके साथ मिश्रीभूत करनेका फल है। अर्थात् दैवीगुणोंके प्रति जीवमात्रका स्वाभाविक श्रद्धा-आदर-भाव है। फलतः वह नहीं चाहता कि किसी आसुरीसम्पत्तिसम्पन्न व्यक्तिको वही दिव्य गति प्राप्त हो जाय, जो दिव्य गुणवालोंको होती है। यह पक्षपात, यह अनुदारता, यह वणिग्वृत्ति इतनी अस्वाभाविक और प्रबल हो जाती है कि वह दिव्य गुण और परमार्थको यदि एक नहीं तो इतना घनिष्ठ सम्बन्धी मानने लगता है,

मनवाने लगता है कि दिव्य गुणोंके बिना परमार्थकी प्राप्ति शक्य ही नहीं, असम्भव-सी है। पर यदि यही वास्तविक बात होती तो भगवान्‌के प्रति ये उद्गार कैसे निकलते—

'ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं' ॥

नामके सम्बन्धमें तो ऐसे उद्गार भी पूरे नहीं पड़ते, क्योंकि 'नामीसे नाम बड़ा है।' यह सब श्रुति-स्मृति-शास्त्र-पुराण-संतकी टेर है। फिर तो—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥
पापिउ जा कर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं ॥

—का क्या स्वारस्य होगा? इसमें सन्देह नहीं कि दिव्य-गुणसम्पन्नता नामाभिरुचि बढ़ाने तथा उससे शाततया लाभान्वित होनेके लिये अनिवार्य है। पर इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि दिव्यगुणसम्पन्नता नामप्रभावका कारण है। इसके विरुद्ध, नाम महाराज कार्य-कारणातीत अति दिव्य हैं। वह अपनी महिमामें विराजते हैं, उन्हें किसीकी अपेक्षा नहीं। उनमें यह शक्ति है कि वे परम पापी और परम पुण्यात्माको समान गति दे सकते हैं, देते हैं, दिये हैं, देंगे। केवल उनको ग्रहण करना चाहिये, यही एक शर्त है। यह अवश्य है कि दिव्यगुणसम्पन्नतासे ग्रहण अधिक सम्भव एवं सहज हो जाता है। पर जीवनमें जिसने एक बार भी ग्रहण कर लिया, उसके परम कल्याणकी रजिस्ट्री हो गयी, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।

जहाँतक परम कल्याणका सम्बन्ध है, वहाँतक तो यही नाम एक बार भी किसीके द्वारा भी किसी स्थान या समयमें भी उच्चारित हो तो वह परम कल्याण कर ही देता है। परम कल्याणकी साक्षात् अनुभूतिमें दिव्यासुरगुणसम्पन्नताके तारतम्यसे अन्तर पड़ सकता है। दिव्यगुणसम्पन्न जीते ही मुक्त हो सकता है, आसुरगुणसम्पन्न मरणके पश्चात् मुक्त होता है। अथवा यह भी हो सकता है कि दो-एक जीवनका व्यवधान और भी पड़ जाय, परन्तु अन्तिम मरणके पश्चात् उसकी मुक्ति होती ही है।

एक और भी प्रमुख भेद है, केवल कल्याण ही परम वाञ्छनीय नहीं है, कल्याणकी अधिकाधिक निरन्तर अनुभूति उससे भी बढ़कर है। कल्याण तो भगवान्‌के नाम-रूप-लीलाधाममेंसे एक या कइयोंके ग्रहणसे हो ही जाता है, पर उसके बाद भी भजनका सुख शेष रहता है। प्रभुकी साक्षात् प्राप्तिके अनन्तर सुग्रीवके ये शब्द—

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती ॥

—इसीके इंगित हैं। और भी, यदि कल्याण ही परम ध्येय होता तो जीव उसे छोड़कर आता ही क्यों? कल्याणरूप तो था ही, है ही, रहेगा ही। जीवने उस अवस्थाका त्याग केवल भजन-सुखके लिये किया था और उसकी प्राप्ति दिव्यगुणसम्पन्नतापूर्वक नाम-स्मरणसे सहज ही हो सकती है।

नामकी महिमा, गुणकारिता आदिमें अनेक 'किन्तु', 'परन्तु' लगानेका एक और भी कारण है, इसीके परिणाम-स्वरूप नामके साथ अन्यान्य बन्धन लगा दिये जाते हैं। परमार्थकी कल्पना हममेंसे सर्वोत्कृष्ट जीवोंका भी सर्वस्व है। सभी श्रेय और प्रेयकी परिसमाप्ति उसमें ही होती है। वही परमार्थ केवल एक बार किसी भी भगवन्नामके भाव-कुभाव, इच्छा-अनिच्छा, श्रद्धा-अश्रद्धापूर्वक जैसे-तैसे उच्चारित करनेसे अनायास सहज प्राप्त हो जाता है—इस बातको प्राविड-प्राणायामी अन्य साधन-मार्ग एवं मार्गी सहज उदार हृदयसे स्वीकार नहीं कर पाते। उनके मनमें सहज ही प्रश्न उठता है—जिस परमार्थको बड़े-बड़े उद्भट, क्रियाशील, सद्गुरु-शरणागत, योगी, वयोवृद्ध विद्वान् आजीवन चेष्टा करनेपर जन्म-जन्मान्तरोंमें भी उपार्जित नहीं कर सकते, उसको लवार्धमें लिया गया एक भगवन्नाम प्राप्त करा दे—यह क्या समझकी और कैसे हृदयकी ग्राह्य बात हो सकती है? कदापि नहीं। पर शास्त्रोंकी उक्तियोंपर हड़ताल लगाकर अपनेपर ही कुठाराघात कैसे करें? इसलिये वे उस सिद्धान्तको तो अस्वीकार कर नहीं सकते, पर अपने व्यावधानिक 'किन्तु', 'परन्तु'से इसको इतना दुरूह और अगम्य बना देते हैं कि श्रुति भगवतीने सर्वथा सन्तप्त, असहाय, निरालम्ब दीनोंके लिये नामोच्चारणद्वारा कल्याणप्राप्तिकी जो घोषणा की है, उस प्रभुदत्त आश्वासनमें सहज आस्था करनेमें ये बड़े बाधक होते हैं। और इनके माध्यमसे उन दीनोंके अन्तःकरणमें भी नामसम्बन्धी ये धारणाएँ स्थान पा जाती हैं। फलतः बेचारे नाम-पारस-मणि पाकर भी दीन-दुखी ही रहते हैं। इन उद्भटोंने सकृदुच्चारित कल्याणदायी नामके सम्बन्धमें ऐसे-ऐसे नियम लगा दिये हैं कि अमुक विधिसे, अमुक आसनसे, अमुक संख्यामें, अमुक नाम कल्याण-कारी होता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि नाम भगवान् वाञ्छाकल्पतरु हैं, सबकी सब तरहकी वाञ्छाओंको पूर्ण

करते हैं। फलतः जब कोई मनमें धारता है कि अमुक नाम, अमुक प्रकारसे कल्याणकारी होगा तो नाम महाराज कहते हैं 'एवमस्तु, तुम्हारा कल्याण मेरे स्वरूपभूत स्वभावके विरुद्ध तुम्हारी विधिकी पूर्णतापर ही होगा।' यही कारण है कि सद्यः नामकी महिमा प्रकट नहीं होती।

फलतः जो नामसम्बन्धी सम्पूर्ण शास्त्रकथित एवं व्यवहार-प्रचलित नामापराधोंको यहाँतककी उनकी धारणाको बलात् हटाकर इसमें स्थित हो जाता है कि जैसे तैसे सकृदुच्चारित नाम ही कल्याणकारी है, उसका कल्याण ध्रुव है। नामके सम्बन्धमें कोई भी बोध, कोई भी धारणा न हो—जैसे यवनकी थी, तो नामकी महिमा तत्काल दीखती है। अथवा कोई कल्पना हो भी तो यह कि नामशक्तिको रोकनेवाला कुछ भी नहीं है, तो भी सद्यः प्रकट होती है। परन्तु नाममें ऐसा विश्वास स्वल्प पुण्यवानोंको नहीं होता। कहा भी है—

महाप्रसादे गोविन्दे हरेर्नाम्नि तथा गुरौ।
स्वल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते॥

प्रसङ्गतः यहाँ एक दुरूह प्रश्न उपस्थित होता है। क्या नामके सम्बन्धमें नामापराध भी न मानें? फिर इस लेखका प्रयोजन क्या? सचमुच बात तो ऐसी ही है। नाम-सम्बन्धी अन्य कुधारणाएँ तो नामापराधकी कल्पनासे हटती हैं और नामापराधकी मान्यतारूपी कुधारणा उसके भी परित्यागसे। उस विषयमें 'येन त्यजसि तत्त्यज' की उक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती है। और वस्तुतः नामापराध मानना अन्तिम नामापराध है। जबतक नामापराधकी भावना है तबतक नामकी महिमाको समझ नहीं सकते; तबतक वही दशा है, जैसे सूर्यके सम्मुख उपस्थित होनेकी बात कहना और साथ ही शीत और अन्धकारका अनुभव भी करना। और भी यदि नामापराध वास्तविक होता तो स्वयं नामद्वारा ही उसकी निवृत्ति शक्य नहीं बतलायी जाती। जैसे—तीर्थापराध वज्रलेप होकर उस तीर्थद्वारा नहीं मिटता, वैसे ही नामापराध भी नामद्वारा नहीं हटता।

अन्तमें एक और बातकी ओर ध्यान दिलाकर लेख समाप्त किया जायगा। शास्त्रों और संतोंकी कृपासे साधारणतः भारतवासियों और विशेषतः धर्म-विश्वासियोंमें परम कल्याण-कारी नामका इतना अधिक प्रचार है कि वह अमूल्य—बेमोल, कौड़ीका तीन प्रतीत होता है। जैसे सर्वत्र व्यापक होनेके नाते आकाश और वायुका महत्त्व बिना विचारके साधारणतः नहीं प्रतीत होता, उसी प्रकार नाम भी 'कुछ नहीं' के बराबर स्थान पाता है। 'केवल नाम लेनेसे क्या होगा?' 'खाली नाम क्या कर सकेगा?' आदि उद्गार इसीके व्यञ्जक हैं। पर यहाँ बड़ी भूल होती है। यह 'केवल' या 'खाली' नाम सचमुच अमूल्य है—सर्वोपरि अति मूल्यवान् है। विचारना चाहिये कि चौरासी लाख योनियोंके अनन्त कोटि जन्मोंके अनन्तर मनुष्ययोनि प्राप्त होती है, उसमें भी वर्तमान संसारके लगभग पौने दो अरब मनुष्योंमेंसे कितनोंको 'परम मधुर मुमङ्गल नाम, राधेकृष्ण सीताराम' की कर्णद्वारा प्राप्ति है। इस दृष्टिसे हम कितने भाग्यशाली हैं, कितना विशेषाधिकार मिला हुआ है—इसकी ओर ध्यान नहीं देनेके कारण ही हम 'केवल नाम', 'खाली नाम' कहकर नाम भगवान्की उपेक्षा करते हैं। सचमुच नाम खाली नहीं है; इसका साधारण, कम-से-कम मूल्य है अनन्तकोटि जन्मोंकी अनुभूतिके अनन्तर परम प्रभु नामीकी असीम कृपा। सोचिये तो सही, नाम महाराज कितने मूल्यवान् हैं—और तो क्या, स्वयं नामीको ही वशमें कर लेते हैं! केवल मनगढ़ंत बात नहीं है। प्रमाण देखिये—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपनें बस करि राखेउ रामू॥

और अन्तमें—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

बोलिये प्रेमसे नाम महाराजकी जय!

हरिकी आश करो

हरि-सा हीरा छाड़ि कै, करै आन की आस।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भासै रैदास॥

—रैदास

कीर्तनका सविशेष वर्णन

(लेखक—रायबहादुर पंड्या श्रीबैजनाथजी)

मैं यहाँ एक वास्तविक घटनाका हाल लिखता हूँ। मेरे एक परिचित मित्र कुछ साधना करते हैं। उन्हें अन्तरमें आदेश हुआ कि, 'तुम अमुक तीर्थको जाओ, वहाँ तुम्हें कुछ अनुभव होगा।' वह श्रीकृष्णका तीर्थस्थान था। वहाँ जाकर मन्दिरमें दर्शन कर बैठकर धीरे-धीरे कीर्तन करनेपर उन्हें ऐसा भान होने लगा कि मूर्तिमेंसे श्रीकृष्ण निकलकर मेरे साथ नाचते हैं। इनको अपने शरीरकी सुध न रही। ये श्रीकृष्णके साथ बहुत ऊँचे लोकमें गये—जहाँ इनके कपड़े, शरीरके अवयव, बाल आदि सब गिर पड़े और ये केवल प्रकाशके रूपमें रह गये। वहाँ इतना आनन्द था कि वहाँसे लौटनेका मन नहीं होता था। पर कुछ कालके पश्चात् इन्हें लौटा दिया गया। लौटनेपर बाह्य चेतनामें सब मनुष्योंमें श्रीकृष्णका ही भान होता था। तबसे इन्हें इस प्रकारका अनुभव कीर्तनमें बार-बार होता है और उस ऊँचे लोकमें इनसे पूछा जाता है कि क्या तुम जगत्‌की सेवाके लिये इस आनन्दका त्याग करनेको तैयार हो। उन्हें यह भी कहा जाता है कि ये ऊँचे अनुभव करानेका हेतु यह है कि तुम जगत्‌में जाकर यह बताओ कि सच्चे कीर्तनमें इस प्रकारकी समाधिकी अवस्थाको प्राप्त होना चाहिये। उस आनन्दको छोड़नेकी तो इच्छा कभी हो ही नहीं सकती। पर जग-सेवाके लिये उसे त्यागना आवश्यक होता है। इसलिये इनसे कहा जाता है कि 'तुम्हारा कर्तव्य जगत्‌में जाकर जगत्कल्याणार्थ चेष्टा करना है, न कि उस आनन्द-दशामें रहना।'

यदि किसीको इस कीर्तनके विषयमें कुछ पूछना हो तो उत्तरके लिये टिकट आनेपर उत्तर देनेका प्रयत्न किया जायगा।

साधनका मनोवैज्ञानिक रहस्य

(लेखक—डॉ० श्रीदुर्गाशंकरजी नागर)

संसारमें मनुष्य घड़ीके पेण्डुलमके समान कभी प्रसन्नता, कभी अप्रसन्नता, कभी सुख, कभी दुःख, कभी उन्नति, कभी अवनतिके संयोग और वियोगके अधीन होकर हिलोरे खाया करता है। अनेक अवस्थाओंमें इधर-से-उधर लुढ़कता रहता है। सैकड़ों बार घबरानेके और उद्विग्न होनेके मौके आते रहते हैं। समय सदा एक-सा किसीका नहीं रहता, सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुखका चक्र फिरता ही रहता है।

आजकल मनुष्यका जीवन ऐसा भाररूप हो गया है कि एक क्षण भी चित्त स्थिर और शान्त नहीं रहता। यह बात अनुभवसे सिद्ध है कि जो लोग किसी साधनका अभ्यास नहीं करते, उनका अन्तःकरण इन्द्रियोंके साथ सम्बद्ध रहता है। अन्तःकरण, मस्तिष्क, ज्ञानतन्तु, गतितन्तु और शरीर—सब तदात्मवत् होकर रहते हैं। ज्ञानतन्तु और शरीरमें बाह्य कारणसे क्षोभ उत्पन्न होते ही अन्तःकरणको पहुँचता है और अन्तःकरणमें जो एक जातिकी वृत्तिका प्रवाह रहता है, वह खण्डित हो जाता है और विजातीय वृत्तिका प्रवाह प्रबलतासे चलने लगता है।

बाह्य उपाधि अन्तरकी अस्थिरता तभीतक प्रकट कर सकती है जबतक कि शरीर, इन्द्रिय और प्राणद्वारा अन्तःकरणका अस्थिरताजनक स्वभाव बना हुआ है। किन्तु जिनके अन्तःकरणकी भावनामय व्यापारकी वृत्ति अन्तर्बाह्य स्थूल-सूक्ष्म साधनद्वारा स्थिर हो जाती है और अस्थिरता पैदा करनेवाले हेतुओंका लगभग अभाव अथवा शिथिलता हो जाती है, उनके चित्त अडोल और अकम्प हो जाते हैं और प्रतिकूलता तथा परिस्थिति उनके ध्येयसे उन्हें विचलित नहीं कर सकती।

जिस प्रकार मोम-जैसी मुलायम वस्तुपर मोहर दबानेसे उस पदार्थकी प्रतिकृति (छाप) उस वस्तुपर अङ्कित हो जाती है किन्तु पाषाण और लोहेकी वस्तुपर उसका (Impression) इम्प्रेशन नहीं होता, उसी प्रकार जिन

मनुष्योंने स्थिरता प्राप्त करनेके किसी साधनका अवलम्बन नहीं किया है उनका चित्त दुर्बल होता है और उनके मनपर प्रत्येक प्रसङ्गकी छाप पड़ती है, किन्तु जिनका मन साधन-सम्पन्न होकर दृढ़ हो गया है उनके मनपर उसकी इच्छाके बिना किसी भी प्रसंग या प्रतिकूलताका प्रभाव नहीं पड़ सकता। व्यावहारिक जगत्‌में हम देखते हैं कि जिनका मन किसी एक विषयमें तल्लीन हो जाता है अर्थात् एकाग्र हो जाता है, उनके मनपर वातावरणका लेशमात्र भी असर नहीं होता और न दूसरे विषयोंकी उनके मनपर छाप पड़ती है।

वर्तमान शिक्षाप्रणालीमें एक बड़ा भारी दोष यह है कि चेतन मन (Conscious mind) का लक्ष्य रखकर ही प्रवृत्ति हो रही है किन्तु उच्च नीतिका और आध्यात्मिकताका जीवनके व्यवहारमें अभाव दिखायी दे रहा है। चेतन मन (Conscious mind) का साम्राज्य होनेसे अन्तर्मन (Sub-conscious mind) मृतप्राय हो जाता है। जाग्रत् मनसे व्यवहार करनेवाले बड़े विचारशील माने जाते हैं किन्तु हमेशा संशयी बने रहते हैं। इनमें आन्तरिक प्रसन्नताका अभाव रहता है। आत्मविश्वास एवं ईश्वरके प्रति श्रद्धाका लोप हो जाता है। श्रद्धा, भक्ति और प्रेमका अभाव हो जाता है। वे शुष्क तर्क-वितर्कमें ही गोते खाते रहते हैं। जरा-जरा-सी बातपर आपेसे बाहर हो जाते हैं। जरा-सी विपत्ति आनेपर आकाश-पाताल एक कर देते हैं। बाह्य जगत्‌की प्रत्येक घटनाका इनके दुर्बल चित्तपर अप्रतिहत प्रभाव पड़ता है और थोड़ा अधिक श्रम करनेसे या रोगसे आक्रान्त होनेपर (Emotional and nervous break down) स्नायविक दुर्बलता अर्थात् मज्जातन्तुकी व्याधि होकर इनकी (Will-Power) इच्छाशक्तिका ह्रास हो जाता है और इनका ज्ञानतन्तुव्यूह (Nervous System) और मस्तिष्क इतना कमजोर हो जाता है कि ये रात-दिन अशान्त और परेशान रहते हैं और किसी भी तरह जीवनको अन्त करनेकी सोचते रहते हैं और कोई-कोई तो पागल हो जाते हैं। यह बुद्धिकी पराकाष्ठा है।

साधनका नाम लेते ही कई लोग चौंक जाते हैं। उपासना करनेवाले और संयमका साधन करनेवालेके विषयमें कई बार ऐसा देखनेमें आता है कि अमुक मनुष्यने हनूमान् या देवीकी साधना या उपासना की और वह पागल हो गया। अमुक मनुष्यने भैरवकी साधना की और उसको चित्तभ्रम हो गया। अमुकने हठयोगका अभ्यास किया और उसको हृद्रोग हो गया। अमुकने प्राणायामका अभ्यास किया, उसको अमुक रोग हो गया। अमुकका मुद्राके प्रयोगसे उच्चाटन हो गया। वर्षभरमें बहुत-से साधनभ्रष्ट हमारे यहाँ आते हैं, जिन्हें वास्तवमें हानि हुई होती है, किन्तु इसमें उन्हींका दोष है।

वास्तवमें उपासककी अनधिकार चेष्टा ही इस प्रकारकी स्थितिका कारण है। कामनाओंके वशीभूत होकर ये उपासनामें प्रवृत्त होते हैं। इनका चेतन मन (Conscious mind) सुशिक्षित नहीं होता। कामनाओंकी सिद्धिके लिये लौकिक उपाय भी दौड़-धूपके साथ करते हैं और निष्फल होनेपर साधनमें लगते हैं। इनका चेतन मन (Conscious mind) निरुत्साह हो जाता है और कामनाके विचार सतत उठते रहते हैं और इनके अन्तर्मन (Sub-conscious mind) के गर्भभागमें प्रविष्ट हो जाते हैं।

चेतन मन और अन्तर्मनके अन्य व्यापार बन्द हो जाते हैं और दुर्दशाग्रस्त विह्वल मनकी स्थितिमें ये साधन आरम्भ करते हैं और अन्तर्मनमें प्रवेश करते ही अन्तर्मनकी कामना-पिशाची इनको दबोच लेती है और इनका चित्त भ्रमित हो जाता है या ये पागल हो जाते हैं। चेतन मनकी सत्ता तो पहलेसे ही लोप हुई होती है, इसलिये ये जाग्रत् मनसे कुछ विचार ही नहीं कर सकते। किसी-किसीको धार्मिक उन्माद (Religious mania) हो जाता है।

दूसरे लोग जो प्राणायाम आदिकी क्रियाओंको दोष देते हैं, वे अपनी क्रियाके धुनमें घंटों अभ्यास करते हैं और जाग्रत्-अवस्थामें आते ही बड़ा कष्ट अनुभव करते हैं।

अन्तर्मनको ही प्रधानता देनेसे इस प्रकारकी दुर्गति होती है।

यदि हम किसीसे भी यह प्रश्न करें कि सब लोग संसारमें क्या चाहते हैं तो वह यही उत्तर देगा कि सब कोई शान्ति और आनन्द चाहते हैं। शान्ति और आनन्द प्राप्त करनेके लिये सारा जगत् दौड़ लगा रहा है। शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति सफलतासे होती है और सफलता किसी साधनका दीर्घ कालतक अवलम्बन करनेसे ही प्राप्त हो सकती है।

जिनमें निश्चयबल या सङ्कल्पबल दुर्बल होता है और जिनके मनमें भय, शङ्का, सन्देहके विचार उठते हैं उनको अन्तर्बल मजबूत और दृढ़ करनेके लिये, चित्त स्थिर करनेके लिये साधन करना परम आवश्यक है। अन्तःकरणका स्वभाव ही चलायमान है। साधनद्वारा ही हम अपने अन्तःकरणमें फेर-फार कर सकते हैं। अन्तःकरणमें दृढ़ जमे हुए संस्कारको निर्मूल करनेके लिये साधनकी आवश्यकता है।

हमें संसारमें क्या करना चाहिये, हम संसारमें क्यों उत्पन्न किये गये हैं—यह बात ठीक तरह हम उसी समय समझ सकते हैं, जब हम कुछ देरके लिये संसारसे अलग हटकर अपनेको और संसारको देख सकें। ऐसी अवस्था तभी प्राप्त होती है, जब चित्त स्थिर हो जाता है और संकल्पबल दृढ़ हो जाता है। शान्त और स्थिर अवस्था प्राप्त करनेके पाश्चात्य और पौरस्त्य सरल साधनोंका यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है, जिनके थोड़े दिनोंके अभ्याससे ही साधकको अपनेमें विलक्षण परिवर्तन दृष्टिगोचर होगा और साधक अयोग्य प्रभावसे बच जायगा।

पाश्चात्त्य साधन

एकाग्रता (Concentration)

कई मनुष्योंकी व्यर्थ चेष्टा करनेकी, बिना प्रयोजन अङ्ग सञ्चालन करनेकी आदत पड़ जाती है और दुर्बल ज्ञानतन्तुवाले या जिनका मस्तिष्क विकृत हो गया है या विलपावर (इच्छाशक्ति) मन्द हो गयी है, उनमें भी ये आदतें पायी जाती हैं। नाखून कुतरना, अँगुलियाँ चटखाना, मूँछ मरोड़ना, हाथ-पाँवोंका हिलाना, सिर खुजलाना, मुँह बिगाड़ना, आँखें टिमटिमाना, कोई भी चीज पड़ी हुई हो उसको उठाकर टुकड़े कर देना आदि हरकतोंसे (Dissipation of energy) प्राणशक्ति निरर्थक नष्ट होती है। मनुष्य अपने ऊपर अधिकार खो देता है और उसका चित्त विक्षिप्त हो जाता है और एकाग्रता भंग हो जाती है। चित्तको एकाग्र करना सीखना हो तो सर्वप्रथम अपने शरीरपर अधिकार करो। (A would-be psychologist must first learn not to make any movement of the body without any reason) जो व्यक्ति शक्तिसम्पन्न बनना चाहता है, उसे सर्वप्रथम यह सीखना चाहिये कि वह निष्प्रयोजन अपने शरीरका अङ्ग-सञ्चालन न होने दे।

जो मनुष्य क्षणमें रुष्ट और क्षणमें तुष्ट हो जाता है, उसका अपने मनपर अधिकार नहीं हो पाता। अपने विचार और भावनाका निरीक्षण करो। तुम्हारे मनमें कितने निरर्थक भाव और विचार उठते हैं, इसका विचार करो। जिस प्रकार एक ग्लासमें पड़ी हुई बारूद किसी उपयोगकी नहीं किन्तु उसको बन्दूककी नालमें संयम करनेसे एकाग्रता होते ही तत्काल प्राणहरण करनेका सामर्थ्य उसमें आ जाता है, उसी प्रकार एकाग्र किये हुए विचार शक्तिवाले होते हैं और निरर्थक विचार फालतू होते हैं।

जब चाहे किसी विषयपर विचार लगाया जा सके और जब चाहे किसी विषयसे विचार हटाया जा सके, यह बलवान् मनका लक्षण है। जिसका मन भटकता रहता है, वह अपनी शक्तियोंको बरबाद करता रहता है। जो वस्तु, जो कार्य हमारे सामने हो, उसपर देखने, सुनने और विचारनेकी सारी वृत्तियोंको लगा देना ही एकाग्रता है। विचारको एक ही वस्तुपर अथवा कार्यपर एक ही स्थानपर निरन्तर (Undivided attention) अनन्यासक्त ध्यानसे रोक रखना ही एकाग्रताकी कुंजी है। यह सदा स्मरण रक्खो कि सामनेकी वस्तुपर जो एकाग्रता कर सकता है, वही सब जगह कर सकता है। जो अपने शरीर और मनपर अधिकार रख सकता है, वही एकाग्रताका अभ्यास कर सकता है।

मानस चित्रकल्पना (Visualization)

मानस-शास्त्रका यह सिद्धान्त है कि जिसका चित्र हम अपने मनमें अखण्ड आरूढ़ रखते हैं, परिणाममें हमारे व्यावहारिक जीवनमें वही प्रत्यक्ष हो जाता है। जिस प्रकारका हमारा अन्तर्जीवन होता है, उसी प्रकारकी वस्तुओंका हमारे बाह्य जीवनमें आकर्षण होता है। हम लोह-चुम्बकके समान हैं; जैसे लोह-चुम्बक लोहेको अपनी ओर खींचता है, उसी प्रकार हम भी अपने सदृश पदार्थोंका आकर्षण करते हैं।

जब अमुक चित्रकी मनमें रचना होती है तब उस चित्रके समान ही विचार उत्पन्न होते हैं। ये विचार मनसे बाहर प्रकट होते हैं और सारे शरीरमें व्याप्त हो जाते हैं और हमारी इच्छा, उद्देश्य और मनोवृत्तिमें फेर-फार कर देते हैं।

पूर्ण आरोग्य और बलका चित्र मनमें दीर्घकालतक आरूढ़ रहे तो चाहे जैसा हठीला रोग भी नष्ट हो जाता है और शरीर पूर्ण आरोग्यमय बन जाता है।

मानसिक चित्र कोई ऐसी एक वस्तु नहीं है कि व्यवहार-में जैसे हम स्थूल पदार्थोंको देखते हैं, उसे भी देख सकें। यह तो एक कल्पना, विचार अथवा भावना है और बुद्धि-वृत्तिसे ही हम उसको देख सकते हैं।

यदि तुम्हारा शरीर कृश और दुर्बल है और तुम मोटे-ताजे बनना चाहते हो तो उसी तरहका ध्यान करके अपना मानस चित्र देखो। अगर तुम्हारा शरीर बहुत स्थूल है और तुम अपनी चरबी छाँटना चाहते हो तो वैसा ही अपने मनके नेत्रोंसे अपने सुन्दर, सुडौल शरीरको देखो। यदि मानसिक और आत्मिक शक्तिकी अभिवृद्धि चाहते हो तो मानसिक शक्ति और आत्मिक शक्तिके सद्गुणोंसे अपने मस्तिष्कको भरा हुआ देखो। इस सिद्धान्तको फालतू समझकर मत उड़ा दो। इसके अंदर प्रकृतिका एक बड़ा सिद्धान्त भरा हुआ है। जिस तरहका तुम अपना मानसिक चित्र देखोगे, वैसे ही बन जाओगे।

एकान्तमें नित्य एक-एक करके स्मरण करके स्मृतिपट-पर नित्य इष्ट मानसिक चित्र उपस्थित करनेसे बड़ा लाभ होगा। कोई पदार्थ जो तुम्हारे सामने हो, उसको बारीकीसे छोटे-से-छोटे अंशको देखो। अब नेत्र मूँदकर उस पदार्थको ज्यों-का-त्यों अपने भीतर मानसिक दृष्टिसे देखो; फिर नेत्र खोलकर देखो कि किन-किन अंशोंको तुम भूल गये हो। पुनः दूसरे दिन अभ्यास करो। पाँच मिनिट नित्य अभ्यास लगानेसे कुछ दिनोंमें स्मरणशक्ति तीव्र होने लगेगी।

इच्छाशक्ति (Will-Power)

मानस-शास्त्रका यह नियम है कि जो जैसा अपनेको समझता है, वह वैसा ही बन जाता है। सुननेमें तो यह बात आश्चर्य-सी मालूम होती है, परन्तु वास्तवमें है बिलकुल सत्य। जो बात बार-बार मनमें चला करे, वह विश्वासके रूपमें बदल जाती है और अपने मन और शरीरके सम्बन्धमें जैसा जिसका विश्वास होता है वैसे ही लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इस प्रकार बार-बार दुहरानेके लिये जिस वाक्यका उपयोग होता है, उसे (Auto-suggestion) आत्म-द्योतन कहते हैं।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

जैसी जिसकी भावना होती है, वैसी ही सिद्धि होती है। तीव्र इच्छाशक्तिको जाग्रत् करनेका सर्वोत्तम उपाय आत्म-द्योतन या सूचना है। मनोविज्ञानाचार्य एमीलोका कथन है कि रात्रिको सोते समय अन्तर्मनमें जिस भावनाका चिन्तन करते हुए हम निद्रामें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार हमारे जीवनका निर्माण होता है। अन्तर्मन हमारी स्मरणशक्तिका भाण्डार है। इसमें जीवनके प्रत्येक क्षणमें होनेवाली घटना तथावत् अङ्कित रहती है।

प्रत्येक भावना जो हमारे मनमें आती है, उसको यदि अन्तर्मन (Sub-conscious mind) की अचेतन वृत्ति ग्रहण कर लेती है तो वह सत्यस्थ होकर हमारे जीवनकी एक स्थायी वृत्ति हो जाती है।

इस सिद्धान्तके नियमानुसार भावनाओंका प्रभाव हमारे मन, विचार, प्रवृत्ति, शारीरिक संगठन तथा उसके कार्योंपर अवश्य पड़ता है।

आनन्द, सुख, शान्ति, आरोग्य, उत्साह, श्रद्धा, सामर्थ्य, बल आदिकी भावना अन्तर्मनमें भर सकते हो और यही भावनाएँ सत्य होकर तुम्हारे जीवनको उच्च बना सकती हैं।

जो कुछ तुम्हारी इच्छा हो, आवश्यकता हो—जैसे तुम्हें बल प्राप्त करना है तो 'मैं बलवान् हूँ' इस सबल भावनाको रात्रिको सोते समय बार-बार दोहराया करो। या इच्छाशक्ति (विल-पावर) को उन्नत करना हो तो निम्न सूचनाओंको दोहराते हुए निद्रामें प्रवेश करो—

'मेरी इच्छाशक्ति बलवती है। मैं सब कुछ कर सकता हूँ। अतः मैं अवश्य करूँगा। यही मेरे जीवनके मन्त्र हैं। मैं दुःख और विपत्तियोंसे कभी नहीं डरता। मैं निर्भय हूँ। मैं अपनी समस्त शक्तियोंको केवल इच्छाशक्तिको बलवती बनानेमें लगाता हूँ। शरीर और मनपर मेरा पूर्ण अधिकार है। मेरा स्वभाव परम शान्त और स्थिर है।'

इस अभ्याससे थोड़े ही दिनोंमें तुम्हारे शरीर और मनमें आश्चर्यमय उन्नति होगी और इच्छाशक्तिके बढ़नेसे तुम्हारा स्वभाव तुम्हारे वशमें आ जायगा।

पौरस्त्य साधन

पाश्चात्त्य मानस-शास्त्रियोंने बाहरी एकाग्रताके लिये कल्पना, एकाग्रता और इच्छाशक्तिको उन्नत करनेके उपाय बतलाये हैं, जिनसे हम इस संसारमें सफल जीवन व्यतीत

कर सकते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञानी रात्रिको सोते समय बाह्य मनको विरोधी विचारसे रहित करके इष्ट विचारोंमें तन्मय होकर, जिस स्थितिको प्राप्त करना हो, अन्तर्मनमें प्रवेश करनेका आदेश देते हैं।

हमारे प्राचीन ऋषि सद्भावको स्थिर करनेके लिये सन्धिके समय सन्ध्या करनेका महत्त्व बतलाते हैं। (१) प्रातःकालकी सन्धि, (२) मध्याह्नकालकी सन्धि और (३) सायंकालकी सन्धि—इन तीनों समयपर मनुष्य दत्तचित्त होकर किसी सद्भावको अन्तःस्थित करेगा तो वही जाग्रत् रहेगा और उसीका प्रवाह दिनभर प्रवाहित होगा। सन्धिके समय जिस प्रकारके भाव पैदा हो जाते हैं, उसका असर प्रधानरूपसे अगली सन्धितक रहता है। प्रातःकालमें सर्वप्रथम शौच और स्नानके पश्चात् सन्ध्या करनेकी ही आज्ञा वेदमें दी गयी है—'अहरहः स्नात्वा सन्ध्यामुपासीत।' क्योंकि उस समय सांसारिक व्यवहारके भाव कुछ नहीं होते और मस्तिष्कके केन्द्र और नाड़ी-केन्द्र सब ग्रहणशील अवस्थामें होते हैं और उत्तम संस्कार दृढ़तासे अङ्कित हो जाते हैं—क्योंकि प्रकृति इस समय अपनी समरूपताकी अवस्थामें रहती है। सत्, रज, तम—इन तीनों गुणोंकी हलचल बंद रहती है। इसीलिये जप, ध्यान, धारणादि क्रिया करनेके लिये सन्धिकालका इतना महत्त्व बतलाया है।

इस सन्धिकालमें (Rhythmic Harmony) एक लयबद्ध महान् राग स्वाभाविकरूपसे सारे विश्वमें प्रवृत्त रहता है। जो लोग इस समय संसारके जंजालसे—चित्तको निरन्तर क्षोभ पैदा करनेवाले प्रसङ्गोंसे अलग होकर कुछ समय एकान्तमें जाकर सन्ध्याके अनुष्ठानमें अपने अन्तरके एक रागको विश्वके एक महान् रागसे सम्बद्ध करते हैं, वे बाहरी और भीतरी दोनों प्रकारकी एकाग्रता सम्पादन करते हैं और व्यवहार तथा परमार्थ दोनोंमें आश्चर्यकारक उन्नति करते हैं। प्रातःकाल, सायंकाल, मध्याह्नकाल या रात्रिको सोते समय—जिस समय अनुकूलता हो, नित्य नियमित समय एवं नियत स्थानपर सुखसे मेरुदण्डको सीधा करके आलथी-पालथी मारकर बैठ जाओ और शरीरको बिल्कुल सीधा रक्खो। ठोड़ी, सिर और शरीर सीधा रहे। दोनों हाथोंको जंघाओंपर सीधे धर लो, आँख बंद कर लो और नेत्रोंको मूँदे हुए दोनों भौंहोंके बीच दृष्टि जमाओ। बिखरे हुए विचारोंको खींचकर और सब इन्द्रियोंको अपने विषयोंसे हटाकर अपने अन्तरके एक रागपर स्थिर करो। दस-बीस बार गहरे श्वास-प्रश्वास लो अर्थात् दीर्घ श्वास-प्रश्वास करो। ध्यान करते समय मक्खी अथवा मच्छर काटे तो सहन कर लो और अङ्ग-प्रत्यङ्गको बिल्कुल नहीं हिलने दो।

अपने मनसे द्वेष, अनुत्साह, दीनता, दुर्बलता, रोग, एवं अधमताके विचारोंको बाहर हटा दो। अपने अभ्यासगृहके किवाड़ बंद करके ध्यानके लिये बैठो। ध्यानके समय कोई विक्षेप न करे, इस प्रकारकी व्यवस्था करो। प्रत्येक स्नायुको शिथिल करो। प्रत्येक ज्ञानतन्तुके तानको मुलायम कर दो। शरीर और मन दोनोंको शिथिल करो। भूतकाल, वर्तमानकाल तथा भविष्यकालकी सब सांसारिक चिन्ताओंको छोड़कर मनकी प्रशान्त स्थितिमें प्रवेश करो। जैसे शान्तिके महासागरमें गोता लगा रहे हो, इस प्रकार शान्तिमें तल्लीन हो जाओ। 'सारे विश्वमें एक रागके आन्दोलन चल रहे हैं, उस प्रवाहको मैं अपनेमें ग्रहण कर रहा हूँ'—ऐसी भावना करते हुए हृदयाकाशमें अपनी भावनाको स्थिर करो, यही परमात्मप्रदेश है। यही सम्पूर्ण सुखमय आध्यात्मिक जगत् है। इस दिव्य जगत्में प्रवेश करना ही मनुष्यमात्रका कर्तव्य है।

इस अनन्त जगत्के अणु-अणुमें यह सुखमय जगत् व्याप्त है। यह सर्वका कारण है। चैतन्यमय है। इन चैतन्यमय विचारोंमें तन्मय हो जाओ—

'मैं चैतन्यस्वरूप हूँ। मैं जीवन-तत्त्वसे परिपूर्ण हूँ। परमात्मजीवनसे आरोग्य, शान्ति, पूर्णताका मेरे शरीरके अणु-अणुमें सञ्चार हो रहा है। मैं परमतत्त्वमें लीन हो रहा हूँ। वह सर्वव्यापक है और अन्तर्बाह्य परिपूर्ण है। मैं सर्वदुःखोंसे, दोषोंसे, व्याधियोंसे अन्तर्बाह्यमुक्त हो गया हूँ।'

विश्व-व्यवस्थापक सत्ताके साथ इस प्रकार अभेद-सम्बन्ध स्थापित करनेसे हममें अमर्याद आध्यात्मिक बल प्रकट होता है। फिर जगत्की कोई स्थिति हमारे अन्तःकरणको चलायमान नहीं कर सकती। इस प्रकार परमात्माका नित्य अखण्ड अनुसन्धान करनेसे और उनमें तन्मय होनेसे जीवनमें तत्क्षण परिवर्तन हो जाता है। हमारी आत्मा परमात्माके अधिक-अधिक निकट सम्बन्धमें आने लगती है और हमारा शरीर, मन और आत्मा—सब परमात्माकार हो जाते हैं और दुःखरूप संसारके स्थानपर सुखका महासागररूप संसार दिखायी देता है।

न जले मार्जनं सन्ध्या न मन्त्रोच्चारणादिभिः।
सन्धीयते परब्रह्म सा सन्ध्या सद्भिरुच्यते॥
(देवीभागवत)

'केवल शरीरपर जल छिड़कनेसे अथवा केवल मन्त्रोच्चारण कर लेनेसे सन्ध्या नहीं होती। जिस अवस्थामें परात्पर तत्त्वसे एकता हो जाय, सत्पुरुषोंने उसे सन्ध्या कहा है।'

इस प्रकार इस सरल सन्ध्याके अनुष्ठानमें अपने चित्तको स्थिर करनेका अभ्यास नित्य करोगे तो इन्द्रिय, प्राण और मन आत्माके अनुकूल व्यवहार करने लगेंगे। मज्जातन्तुजाल (Nervous System) दृढ़ हो जायगा। रोगप्रतिबन्धक-शक्ति दृढ़ होगी। आधि-व्याधि तुमपर आक्रमण नहीं कर सकेंगी और न चित्तक्षोभ या विक्षेप तुम्हें तंग करेंगे। आत्माको परमात्मामें लीन करनेसे या परम तत्त्वमें तन्मय करनेसे जीव, प्रकृति, ब्रह्मका रहस्य समझमें आयेगा। सब साधनोंका प्रकाशक मुख्य साधन यही है और एकाग्रता सम्पादन करना ही इसकी एकमात्र कुंजी है। सर्वसिद्धियोंका मूल मन्त्र एकाग्रता है और एकाग्रता शक्तिका रहस्य साधन है।

ईश्वर-दर्शनका साधन

(लेखक—पू० पण्डित श्रीशिवदत्तजी शर्मा)

'समस्त शक्तियोंका भाण्डार, समस्त विश्वका सञ्चालक, समस्त चेतनाओंका झरना परमात्मा है'—इस सत्यको मान लेनेसे और इसीपर ध्यान करनेसे तुम्हारे और उसके बीचमें जितने पर्दे हैं, एक-एक करके सब हट जायँगे और एक दिन तुम और वह एक हो जाओगे। यही प्रथम सत्य है।

'शिव' शब्दका अर्थ ईश्वर है और सुख, शान्ति, आनन्द तथा ऐश्वर्यका नाम भी शिव है। यदि तुम पहले शिवको प्राप्त कर लोगे तो दूसरे शिव आप-से-आप तुम्हें प्राप्त हो जायँगे।

एक महात्माने इसी बातको बहुत स्पष्ट शब्दोंमें इस प्रकार कहा है कि यदि तुम्हें किसी भी संसारी वस्तुकी आवश्यकता हो तो संसारके स्वामीसे मिलो और उससे माँगो, क्योंकि यह संसार उसीकी मिलकियत है।

दूसरा सत्य आत्मा है। आत्माका वाचक 'मैं' है। इस 'मैं' के अंदर ही प्रथम सत्यको प्राप्त कर लेनेकी शक्ति छिपी हुई है अथवा इस दूसरे सत्यमें ही पहला सत्य छिपा हुआ है।

तात्पर्य यह है कि पहले तुम्हें दोनों सत्य समझ लेनेकी जरूरत है। वह और मैं (ईश्वर और जीव)—इसीका नाम द्वैतवाद है। फिर जैसे-जैसे ध्यानका अभ्यास बढ़ता जायगा, वैसे-ही-वैसे यह द्वैत-भावना क्षीण होती जायगी और यह 'मैं' भूलता जायगा। जिस समय 'मैं' बिलकुल भूलकर इसके परेकी अवस्थामें स्थिति हो जाती है, उसी अवस्थाका नाम अद्वैत-अवस्था है।

वही सबसे ऊँची अवस्था है। यहाँ पहुँचनेवालेको प्रेम, जीवन, शक्ति, बुद्धि, आरोग्य, प्रसन्नता—ये सब प्राप्त हो जाते हैं। पहुँचे हुए सिद्ध पुरुषके यही लक्षण हैं। दुखी पुरुषोंके दुःखोंको मिटानेमें ही सिद्ध पुरुष अपनी सिद्धियोंका उपयोग करते हैं।

इस अवस्थाको प्राप्त करनेके पाश्चात्त्य उपाय

रात-दिनमें किसी समय एकान्तमें बैठकर पहले कई दीर्घ श्वास-प्रश्वास करो। फिर शान्तिसे ऐसा भान करो कि एक ऐसी वस्तु सब जगह भरी हुई है जो सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, आनन्दका समुद्र है—वह मेरे भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे, सर्वत्र पूर्ण है।

उस समय तुम्हारी अवस्था बड़ी शान्त हो जायगी। उस समय एकाग्रता होनेसे नये-नये विचार उठते हैं और वे सभी विचार लाभदायक होते हैं। यदि तुम्हारे कुछ पेचीदे विचार हों तो उन्हें सुलझानेका उस समय यत्न करो।

सब मनुष्योंमें परमात्मा हैं। परमात्मा समस्त शक्तियोंके भाण्डार हैं। परमात्माके पास पहुँचनेका मार्ग ध्यान है। ध्यानके द्वारा मनुष्योंकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो सकती हैं। यही पाश्चात्त्य मनोविज्ञानका निचोड़ है।

परन्तु प्राच्य प्रणालीमें ईश्वर-दर्शनका विषय जैसा महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार उसका मार्ग भी 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथः'—छुरेकी धारा-सा तेज और दुर्गम है। विरले ही साहसी और भाग्यवान् जन वहाँ पहुँच पाते हैं।

पञ्चकोष

प्राच्य प्रणालीमें ईश्वर-दर्शनके लिये पहले पञ्चकोषों-का ज्ञान होना आवश्यक है। तदनन्तर उनमें ध्यानद्वारा

प्रवेश करना चाहिये। पञ्चकोष ये हैं—(१) अन्नमय, (२) प्राणमय, (३) मनोमय, (४) विज्ञानमय तथा (५) आनन्दमय। यहाँ इनका संक्षिप्त विवेचन दिया जाता है—

(१) पहले शुचि होकर एकान्त देशमें बैठकर विश्वमें बिखरी हुई वृत्तियोंको खींचकर अपने स्थूलशरीरपर लगाना चाहिये। यह शरीर क्या है ? रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्रका बना हुआ एक पुतला है। ये सातों धातु अन्नसे बनी हुई हैं, इसलिये इस पुतलेका नाम अन्नमय कोष है।

अब अन्नमय कोषके भीतर घुसो। वहाँ दूसरा प्राणमय कोष है। प्राण दस हैं—प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय। इन्हीं दस प्राणोंके द्वारा शरीर और मनके सारे व्यापार चलते हैं। इस प्रकार ध्यान करनेको प्राणमय कोषमें प्रवेश करना कहते हैं।

उसके आगे मनोमय कोष है। वहाँ मनके साथ पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। उससे आगे विज्ञानमय कोष है, जहाँ बुद्धिके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं; और पाँचवाँ आनन्दमय कोष है। वहाँ आनन्दकी प्रतीति होती है।

इस प्रकार एक-एक कोषका ध्यान करते हुए आगे बढ़ते जाना चाहिये। आनन्दमय कोषमें पहुँचनेपर आनन्द क्या वस्तु है, इसका अनुभव होता है—आनन्द प्राप्त होता है।

अब अपने हृदय-देशमें, अङ्गुष्ठ-परिमाण दहराकाशमें अणु-परिमाण लिङ्गशरीरका ध्यान करो। यह लिङ्गशरीर सत्रह तत्त्वोंका बना हुआ है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, मन और बुद्धि। इसी लिङ्ग-शरीरके भीतर यह जीवात्मा रहता है, जिसका वाचक 'मैं' है।

जिसे हम 'मैं' कहते हैं, वह इसी लिङ्गशरीरके अंदर रहनेवाला जीवात्मा है। जिस समय कोई मनुष्य ध्यानद्वारा वहाँ पहुँच जाता है अर्थात् अपने असली स्वरूपमें पहुँच जाता है, उस समय उसका बाह्य भान बिलकुल नष्ट हो जाता है। यही उसकी पहचान है।

यह जीवात्मा ईश्वरका मन्दिर है। इसतक पहुँचना मानो ईश्वरके मन्दिरके द्वारपर पहुँच जाना है। अब यदि ईश्वर-दर्शन करना है तो मन्दिरके अंदर प्रवेश करना चाहिये।

जैसे हम (जीवात्मा) इस स्थूलशरीरमें रहते हैं, उसी प्रकार ईश्वर हमारे भीतर रहता है; इसलिये परमात्मा-के दर्शनाभिलाषीको पहले पञ्चकोषोंके ध्यानक्रमसे जीवात्मा-तक पहुँचना चाहिये। फिर जीवात्माके भीतर (अपने-आपके भीतर) ध्यानद्वारा प्रवेश करना चाहिये, तब वहाँ परमात्माके दर्शन हो सकते हैं।

यह प्रक्रिया कठिन अवश्य है, पर ईश्वर-दर्शन कुछ दाल-भातका खाना भी नहीं है। अनेक जन्मोंका पुण्य उदय होनेपर ही मनुष्यकी ईश्वरकी ओर किञ्चित् प्रवृत्ति होती है। ऐसे महान् उद्देश्यकी सिद्धिके लिये महान् प्रयत्न-की ही आवश्यकता है।

यह विषय बड़ा गहन और गूढ़ है। लिखा-पढ़ीमें इतना ही आ सकता है। अधिक जानकारीके लिये किसी जानकार व्यक्तिके साथ प्रत्यक्ष सत्सङ्ग करना चाहिये।

काम क्रोध लोभ मोह मद, तजि भज हरि को नाम।
निस्चै सहजो मुक्ति हो, लहै अमरपुर धाम॥
कामी मति भिष्ट सदा, चलै चाल बिपरीत।
सील नहीं सहजो कहै, नैनन माहिं अनीत॥

—सहजोबाई

मोक्षका मुख्य साधन–भक्ति

(लेखक—पं॰ श्रीविनायक नारायण जोशी साखरे महाराज)

'शङ्करः शङ्कराचार्यः' कहकर जैसे श्रीमत् शङ्कराचार्यको साक्षात् श्रीशङ्कर ही कहा गया है, वैसे ही 'ज्ञानेशो भगवान् विष्णुः' कहकर ज्ञानेश्वर महाराजको साक्षात् श्रीविष्णुका अवतार बताया गया है। श्रीमत् शङ्कराचार्यने जिस तत्त्वका अर्थात् 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' का प्रतिपादन किया है, उसीको ज्ञानेश्वर महाराजने भी अपने 'ज्ञानेश्वरी', 'अमृतानुभव' और 'पासष्टी' ग्रन्थोंमें उपपत्तिसहित विशद किया है। अद्वैत आत्मतत्त्व समझनेके लिये वेद-शास्त्राध्ययनका जो अधिकार और बुद्धिका जो विकास अपेक्षित है, वह सब जीवोंके लिये सुलभ नहीं है। अतः श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अपने ज्ञानेश्वरी ग्रन्थमें यह सिद्ध किया है कि वेद-शास्त्रादि वाक्योंपर जिन लोगोंकी श्रद्धा है और जिनके अंदर तीव्र मुमुक्षा है, उनके लिये मुख्य साधन भगवद्भक्ति है।

ज्ञानेश्वरीके सोलहवें अध्यायमें भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन! जो कोई अपना कल्याण चाहता हो वह वेदोंकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन न करे। यहाँतक कि वेद-शास्त्र यदि सर्वैश्वर्यसम्पन्न सार्वभौम राज्यका त्याग करनेको कहें तो कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषको वह त्याग अवश्य करना चाहिये। शास्त्र यदि विषपान भी करनेको कहें तो विषपानमें ही अपना कल्याण जाने। वेदोंमें जिस किसीकी ऐसी अनन्य निष्ठा हो, उसके लिये अनिष्ट नामकी कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। जबतक मुमुक्षु पुरुषको ब्रह्मके साथ अपना ऐक्य बोध न हो तबतक श्रुतिका कभी त्याग न करे, श्रुत्येकशरण होकर आत्मानन्द लाभ करे।

श्रुतिका मुख्य सिद्धान्त क्या है, यह गीताके ९ वें अध्यायके इन श्लोकोंकी टीकाके प्रसंगसे बतलाते हैं—

> मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
> मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
> न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्॥

ज्ञानेश्वर महाराज भगवान्से कहलाते हैं कि 'हे अर्जुन! प्रकृतिके परे मेरा जो मायारहित विशुद्ध परमात्मस्वरूप है, उसमें यदि तुम अपनी कल्पनाको छोड़कर देखो तो परमात्मस्वरूपमें भूतोंका रहना सत्य नहीं है। कारण, सारा दृश्य-जगत् मैं हूँ। जगत्के अनादि संस्कारसे जीवोंकी आँखोंपर संकल्पका जो क्षणस्थायी सायंकालीन मन्दान्धकार छा गया है, उससे उनकी दृष्टि अर्थात् उनका ज्ञान आच्छादित हो गया है, इसीलिये एकमेवाद्वितीय अखण्ड ब्रह्मसत्तामें उन्हें नानात्व भासित हो रहा है। संकल्पकी यह सायंवेला टल जाय तो जगद्रहित परमात्मा अपने अखण्ड स्वरूपमें हैं ही। मन्दान्धकारमें पुष्पमालापर होनेवाला सर्पभ्रम जब निवृत्त होता है तब जैसे पुष्पमालाका सर्परूप नहीं रह जाता, वैसे ही परमात्मस्वरूपके अंदर जगत् वस्तुतः नहीं है, जो देख पड़ता है, वह देखनेवालेकी कल्पनाका आरोप है। पर्वतके समीप की जानेवाली ध्वनि जो प्रतिध्वनित होती है, वह पर्वतकी ध्वनि नहीं होती, अपनी ध्वनिकी ही प्रतिध्वनि होती है। दर्पणमें जो मुखड़ा देख पड़ता है वह दर्पणमें नहीं होता, अपने मुखका ही तो प्रतिबिम्ब होता है। इसी प्रकार शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूपमें जो भिन्न-भिन्न भूत देख पड़ते हैं, वे देखनेवालेके संकल्पसे ही देख पड़ते हैं। भूतोंकी कल्पना करनेवाली यह प्रकृति यदि ब्रह्मविचारसे नष्ट हो जाय तो स्वगत सजातीय-विजातीयभेदशून्य विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही अवशिष्ट देख पड़े। विशुद्ध परमात्मस्वरूपमें भूतोंकी उत्पत्ति सम्भावित ही नहीं है। इसलिये मेरे अंदर न भूत हैं और न भूतोंके अंदर मैं हूँ। इसलिये अब तुम इन्द्रियोंके कपाट बन्द करके अर्थात् इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करके इस ज्ञानका आनन्द अनुभव करो!'

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनमें पहले अध्यासवाद बतलाकर अजातवाद स्थापित किया गया है। अजातवाद एकाएक किसीकी समझमें नहीं आता। रज्जु-सर्प और शुक्तिका-रजतादि दृष्टान्तोंसे अध्यासवाद मन्दबुद्धि मनुष्यकी भी समझमें आ जाता है और अध्यासवादका ही और भी सूक्ष्म विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सीपमें भासमान रजत रजत-प्रतीतिके पूर्व नहीं था, सीपका ज्ञान होनेपर नहीं रहता—यही नहीं, बल्कि जिस समय रजतकी प्रतीति हो रही थी उस समय भी रजत नहीं था। इस प्रकार अध्यस्त रजतका त्रिकालमें अत्यन्ताभाव ही देख पड़ता है। इसीको अजातवाद कहते हैं। इस विचारमें जिस बुद्धिका प्रवेश नहीं हो पाता, उसके लिये

श्रेष्ठ मोक्षसाधन सगुणोपासन ही है—जिसके फलस्वरूप उसे भगवत्प्रसादसे ब्रह्मात्मैक्यज्ञान प्राप्त हो जाता है।

इस सगुणोपासना या भक्तिके विवरणसे ज्ञानेश्वरीके अनेक स्थल परिपूर्ण हैं। उनमेंसे कुछ प्रसंगोंके अवतरण आगे दिये जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

'हे अर्जुन! जो सरल भावुक भक्त मुझ परमेश्वरको जानकर अपने अहङ्कारको चूर करते और अपने सब कर्मोंके द्वारा मेरा भजन-पूजन करते हैं, वे देही होकर भी देहमें नहीं रहते, मेरे स्वरूपमें ही रमते हैं। जैसे वे मेरे स्वरूपमें रहते हैं, वैसे ही मैं भी उनके हृदयमें सम्पूर्णरूपसे निवास करता हूँ। जैसे वटवृक्ष उत्पन्न होनेके पूर्व अपने सम्पूर्ण शाखादि विस्तारके साथ वटबीजमें गुप्त रहता है और वटबीज भी जैसे वटवृक्षमें सर्वतः व्यापक रहता है, वैसे ही भक्त और भगवान्—इस नाम-भेदके रहते हुए भी, मैं जो कुछ हूँ वही वे मेरे भक्त हैं।'' 'उन भक्तोंका मन मद्भावनामें ही सन्निहित रहता है। मनका इन्द्रियके द्वारा जिस वस्तुके साथ सम्बन्ध होता है, मन उसी वस्तुका आकार धारण कर लेता है—तदाकार हो जाता है। उसी प्रकार मेरे भक्तोंका मन मुझमें रत रहनेसे मद्रूप ही हो जाता है। जो भक्त प्रेमभावसे तथा अनन्यभावसे मुझे भजते हैं, वे मत्स्वरूप हो जाते हैं—इसमें आश्चर्य ही क्या? मेरा भक्त किसी जातिका हो, उसका कुछ भी आचरण हो, पापियोंमें सबसे बड़ा पापी भी वह क्यों न हो—उसने जब अपना जीवन भक्तिकी वेदीपर रख दिया, तब उसे मेरा स्वरूप प्राप्त हुए बिना रह ही नहीं सकता। पहले वह चाहे कितना भी बड़ा दुराचारी रहा हो, अन्तमें तो वह मेरा भक्त हुआ; इसलिये वही सर्वोत्तम है। किसी महाजलप्रवाहमें कोई कूद पड़ा और लोगोंने समझा कि यह तो डूब मरा; पर जीकर जब वहाँसे अपने घर-गाँवको लौट आया तब सबका यह निश्चय कि वह डूब गया, व्यर्थ ही तो हुआ। उसी प्रकार दुराचारका परित्याग कर जिसने अपना सारा जीवन भगवद्भक्तिमें लगा दिया उसके सब पाप उस भक्तिसे नष्ट हो गये, अनुताप-तीर्थमें स्नान कर वह मेरे स्वरूपमें आ मिला। पिछला कोई भी दोष फिर उसमें नहीं रहता। यही नहीं, जिस कुलमें उसका जन्म हुआ रहता है वही कुल पवित्र समझो, उसीसे उस कुलकी कुलीनता जानो। मनुष्यजन्मका फल, सच पूछो तो, उसीको मिला; सब शास्त्रोंको उसीने तो जाना, सब तप उसीने तो किये। उसके अन्तःकरणमें मेरी ही आस्था है, मेरा ही प्रेम है। वह सब कर्मोंसे उत्तीर्ण हुआ, इसमें सन्देह ही क्या है। कारण, उसने मन, बुद्धि, चित्त, शरीरके सब व्यापार मत्स्वरूपनिष्ठाकी मञ्जूषामें रखकर मुझे अर्पण कर दिये।'

(ज्ञानेश्वरी अ० ९। ४०८–४२४)

भगवान् अपने ऐसे अनन्य भक्तको कितना प्यार करते हैं, यह आगे बतलाते हैं—

'अनन्यचित्तसे जो मेरा अनुचिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनकी सेवा मैं ही करता हूँ। कारण, उनका चित्त जब सब तरफसे बटुर कर मेरी भक्तिमें लगा तब उसी क्षण उनका सारा भार मुझपर आ पड़ा। अतः उन्हें जो-जो कुछ करना होता है, वह सब मुझे ही करना पड़ता है। जिन शिशु-पक्षियोंके अभी पंख नहीं निकले हैं उन्हें खिलाने-पिलानेका उपाय जैसे उनकी माँको करना पड़ता है अथवा भूख-प्यासका लगना भी जो बच्चे नहीं जानते उनकी सारी चिन्ता उनकी माताको ही करनी पड़ती है, उसी प्रकार समस्त जीवन-प्राणसे जो भक्त मेरी भक्तिमें लग जाते हैं उनका सारा भार मैं वहन करता हूँ। उनकी सब इच्छाएँ, सब भावनाएँ मैं पूर्ण करता हूँ। देहाभिमान है तो संसार-साधन ही, पर वे इसे मुझ श्रीहरिकी उपासनामें लगाते हैं। संसारके सारे अनात्मपदार्थोंका लोभ त्यागकर वे मत्स्वरूपके लोभी होते हैं। उनमें वैषयिक काम नहीं होता, उनमें मेरी प्रीति होती है। वे संसारको मानो चीन्हते-पहचानते ही नहीं। वे शास्त्रोंको पढ़ते-सुनते हैं मेरे लिये, मन्त्रपाठ करते हैं मेरे लिये। अपने शरीरकी सब चेष्टाओंद्वारा वे मेरा ही भजन करते हैं।'

(ज्ञानेश्वरी अ० ९। ३३७–३४३)

भक्तिके उपाय और प्रकारके विषयमें आगे कहते हैं—

'भक्तोंका अपना आपा मुझे अर्पण कर देना ही मेरी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है, इस बातको हे अर्जुन! तुम ध्यानमें रक्खो। अन्य किसी उपायसे मत्स्वरूपलाभ नहीं हो सकता। वेदोंसे अधिक ज्ञानसम्पन्न भला, कौन हो सकता है? सहस्रजिह्व शेषसे अधिक बोलनेकी शक्ति भला किसमें है? पर उस शेषको मेरा बिछावन होकर रहना पड़ा और वेदोंको 'नेति-नेति' कहकर लौट जाना पड़ा। सनकादि मेरे पीछे पागल हो रहे। योगीश्वर श्रीशङ्करको अपने तपोबलसे शान्ति नहीं मिली और उन्होंने मत्पादोद्भवा गङ्गाको अपने मस्तकपर धारण किया। तात्पर्य, जो मत्स्वरूपको प्राप्त होना

चाहते हों, वे धन-मानादिकी बड़ाई छोड़ दें, व्युत्पत्ति-ज्ञान भुला दें, देहाभिमान त्याग दें, संसारमें सर्वत्र विनम्र होकर रहें; तो ही मुझे पा सकते हैं। मैं भक्तकी केवल निर्मल भक्तिका ही आदर करता हूँ। मैं जाति-पाँति नहीं देखता; जो मुझे भजता है, वह चाहे किसी जातिका हो—मैं उसके घर सदा मेहमान बना रहता हूँ। किसी निमित्तसे जिसका चित्त मुझमें लग जाता है, उसे मत्स्वरूपलाभ होता ही है। यह वस्तुस्वभाव है। स्पर्शमणिको कोई क्रोधवश फोड़ डालनेके लिये उसपर लोहेका हथौड़ा चलावे तो स्पर्श होनेके साथ ही वह लोहा सोना हो जायगा। गोपियाँ काम-बुद्धिसे ही मेरे पास आयी थीं, पर प्राप्त हो गयीं मेरे स्वरूपको। भयसे कंस और द्वेषसे शिशुपालादि मच्चित्त होकर मद्रूप हो गये। माता-पिता-बन्धु-बान्धव-सम्बन्धसे वसुदेव-देवकी और यादव मद्रूप हुए। किसीका भी चित्त किसी प्रकार मेरे स्वरूपमें लग जाय, उसे अवश्य मेरी प्राप्ति होगी।'

(ज्ञानेश्वरी अ० ९। ३६२—४७४)

फिर द्वादशाध्यायकी टीकामें श्रीज्ञानेश्वर महाराज भगवान्‌के भक्तप्रेमका वर्णन करते हैं। भगवान् कहते हैं—

'हे अर्जुन! मैं अपने प्रेमी भक्तोंके पीछे कितना पागल हो जाता हूँ, कहाँतक बतलाऊँ! मैं उन्हें अपने सिरपर लेकर नाचता हूँ।' अर्जुन पूछता है, 'वह कौन-सा भक्त है, जिसे आप सिरपर लेकर नाचते हैं?' भगवान् इसका उत्तर देते हैं, 'मुक्ति नामकी जो चौथी पुरुषार्थसिद्धि है, उसे अपने हाथमें रक्खे भक्तिमार्गपर चलनेवाले भोले-भाले भावुकोंको जो बाँटता फिरता है, कैवल्यमोक्षका मानो जो स्वामी है, चाहे जिसे उसका दान करता या अपने ही पास रख छोड़ता है—इतने बड़े ऐश्वर्यका स्वामी होकर भी जो सदा जलके समान नम्र, निरभिमान बना रहता है, उसे मैं प्रणाम करता हूँ, उसे मुकुट बनाकर अपने मस्तकपर रखता हूँ, उसके चरणतल निरन्तर अपने हृदयमें धारे रहता हूँ, उस भक्तके गुण मेरे अलङ्कार बनते हैं और मैं उनसे अलङ्कृत होता हूँ। अपने कानोंसे मैं उसकी कीर्ति सुना करता हूँ। अर्जुन! मेरा जो अरूप स्वरूप है, उसमें चक्षुरादि इन्द्रिय कहाँ? पर अपने भक्तको आँखें भरकर देखनेके लिये मैं आँखें बना लेता हूँ। मेरे हाथमें जो कमल है उसे मैंने अपने सूँघनेके लिये नहीं, बल्कि जहाँ कहीं मेरा भक्त मिले, उसे तुरत चढ़ानेके लिये रक्खा है। मैंने दो और दो—चार हाथ जो अपने बना लिये हैं वे भी चारों हाथोंसे भक्तको आलिङ्गन करनेके लिये हैं। भक्तसङ्गके परम सुखके लिये ही विदेह होकर भी मुझे देह धारण करनी पड़ती है। अधिक क्या बतलाऊँ! भक्तसे मेरा जो स्नेह है, उसकी कोई उपमा नहीं है। और तो क्या, मेरे भक्तोंके चरित्रोंको जो श्रवण करते और उनके गुणोंको बखानते हैं, वे भी मेरे प्राणाधिक प्रिय होते हैं।'

इस प्रकार ज्ञानेश्वर महाराजने कितने ही स्थानोंमें भक्तिकी महिमाका बड़ा ही मनोहर वर्णन करके सगुणभक्तिकी अत्यन्त सरस श्रेष्ठता दरसायी है, इसीको मुख्य साधन बताया है। भाग्यबलसे जिसे यह भक्ति-साधन प्राप्त हो गया, उसके लिये मोक्ष क्या दूर है?

भगवान्‌का विरह

दरिया हरि किरपा करी, बिरहा दिया पठाय।
यह बिरहा मेरे साधको, सोता लिया जगाय॥
बिरह बियापी देहमें, किया निरंतर बास।
ताला बेली जीवमें, सिसके साँस उसाँस॥
दरिया बिरही साधका तन पीला मन सूख।
रैन न आवै नींदड़ी, दिवस न लागे भूख॥
बिरहिन पिउके कारने, ढूँढ़न बनखँड जाय।
निसि बीती पिउ ना मिला, दरद रहा लपटाय॥

—दरिया साहेब

अभ्युदय और निःश्रेयसके साधन

(लेखक—श्रीनारायण स्वामीजी)

अभ्युदय लोकोन्नति और निःश्रेयस परलोकोन्नति अथवा मोक्ष या ईश्वर-प्राप्तिको कहते हैं। लोकोन्नति परलोकोन्नतिका साधन हुआ करती है। इसलिये लोककी उपेक्षा न करके उसे इस प्रकार काममें लाना चाहिये कि वह परलोककी उन्नतिका साधन बन जाय। इस सम्बन्धमें वेदमें एक जगह कहा गया है—

> विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह ।
> अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥
> (यजुर्वेद ४० । १४)

अर्थात् 'विद्या (ज्ञान) और अविद्या (ज्ञानेतर—कर्म) दोनोंको जो साथ-साथ काममें लाता है, अर्थात् न ज्ञानकी उपेक्षा करता है और न कर्मकी, वह कर्मके द्वारा मृत्युको पार करके ज्ञानके द्वारा अमरताको प्राप्त करता है।' यहाँ वेदने असन्दिग्ध शब्दोंमें बतला दिया है कि मनुष्यका धर्म ज्ञान उपलब्ध करके उसके अनुकूल कर्म करना है। वेदने इस ज्ञान और कर्मका उद्देश्य मृत्युके सबसे बड़े बन्धनको पार करना बतलाया है। छोटे-छोटे बन्धनोंको पार करता हुआ ही मनुष्य बड़े बन्धनको पार किया करता है। इसलिये लोककी उन्नतिके लिये मनुष्य ज्ञान और कर्मको इस प्रकार यहाँ काममें लावे जिससे लोकके छोटे-मोटे बन्धन बराबर शिथिल होते रहें। ऐसा होनेपर ही लोकोन्नति परलोकोन्नतिका साधन बना करती है और मनुष्य इन छोटे-मोटे बन्धनोंको दूर करते हुए इस योग्य हो जाता है कि बड़े-से बड़े मौतके बन्धनको भी दूर कर सके। और ऐसा हो जानेपर वह अपने परलोकको भी उन्नत कर लिया करता है। यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिये कि मोक्ष अथवा ईश्वर-प्राप्ति मनुष्यको दो बातें प्राप्त कराया करती है—(१) मौतके बन्धनसे छुटकारा (२) आनन्द। इनमेंसे पहली बात निर्गुण और दूसरी बात सगुणोपासनाका फल हुआ करती है। जब मनुष्य ईश्वरके निर्गुणताप्रदर्शक गुणोंका चिन्तन करता है कि ईश्वर अजर है, अमर है, अभय है—इत्यादि, तो इससे उसके भीतर भी निर्गुणता आती है और वह भी निमित्तसे ही क्यों न हो, अजर, अमर और अभय हो जाया करता है। और जब वह ईश्वरकी सगुणताका चिन्तन करता है कि ईश्वर सच्चिदानन्द है, न्यायकारी है, दयालु है—इत्यादि, तो उसके भीतर नैमित्तिक रीतिहीसे क्यों न हो, सच्चिदानन्द आदि गुणोंका संयोग-सम्बन्धवत् समावेश हो जाया करता है। और इस प्रकार मनुष्यको मोक्षके दोनों पहलू प्राप्त हो जाते हैं। यह तो जीवनोद्देश्यका स्थूल ढाँचा हुआ। यह ढाँचा किन साधनों-से बना करता है, उसपर थोड़ा विचार करना चाहिये।

साधन

योगदर्शनमें वर्णित 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' की शिक्षाके अनुसार मनुष्यको ईश्वरके गुणवाचक नामोंका जप करके अपने भीतर उनमेंसे अनेकका समावेश करना चाहिये, जिससे वह कम-से-कम इतना शक्तिसम्पन्न अवश्य हो जाय कि अपने अंदरसे अहङ्कारको निकाल सके। अहङ्कारकी उत्पत्तिसे जगत्में व्यष्टित्वका समावेश होता है, मनुष्यके भीतर भी अहङ्कारकी कुछ मात्रा आ जानेसे मेरे और तेरेपनका भाव (ममता) पैदा हो जाता है। ईश्वर प्रकारकी दृष्टिसे परिच्छिन्न नहीं अपितु विभु है। इस ममताकी उत्पत्तिका फल यह होता है कि ज्यों-ज्यों यह बढ़ती है, मनुष्य ईश्वरसे दूर होता जाता है। जगत् बेशक अहङ्कारसे उत्पन्न होता और अहङ्कारसे ही उसकी स्थिति भी बनी रहती है। परन्तु जब मनुष्य ईश्वरकी ओर चलनेका इरादा करता है तो उसके लिये आवश्यक हो जाता है कि अहङ्कारसे अपना पीछा छुड़ावे। अहङ्कारसे पीछा छुड़ानेका तरीका अपनेको भुला देनेमें निहित है। अपनेको किस प्रकार भुलावे? इसके लिये प्रेम और भक्तिका आश्रय लेनेकी ज़रूरत है। जब मनुष्य ईश्वरको अपने प्रियतमके रूपमें देख-कर उसके प्रेम और उत्कृष्ट प्रेमकी चरम सीमामें अपनेको पहुँचा देता है तब वह प्रभुप्रेममें इतना लीन हो जाता है कि उसे अपनी सुध-बुध भी नहीं रह जाती। इस दरजेपर पहुँच जानेपर अहङ्कार, ममता या मेरे-तेरेपनके भाव उसे व्यथित नहीं कर सकते। इसी अवस्थाके लिये कवियोंने लिखा है—

> जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाय।
> प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाय॥

अथवा—

बेखुदी छा जाय ऐसी, दिलसे मिट जावे खुदी[1]।
उनके मिलनेका तरीका अपने खो जानेमें है॥

इस अवस्थापर पहुँच जानेपर यह नहीं हो सकता कि उपासक अथवा प्रेमीकी सत्ता न रहती हो; वह रहती अवश्य है, परन्तु प्रियतममें लवलीन हो जानेसे उसे हर जगह वही दिखायी देने लगता है—'जिधर देखता हूँ, उधर तू-ही-तू है।' न उसे अपनी सुध रहती है न दूसरोंकी। योगदर्शन-की परिभाषामें इसीको चित्तकी वृत्तियोंका निरोध कहा जाता है। तात्पर्य इसका यह है कि चित्तकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं और बाहर सारी माया अहङ्कारकी ही हुआ करती है, इसलिये उन वृत्तियोंके निरुद्ध हो जानेका फल यह हुआ कि चित्तका सम्बन्ध अहङ्कारसे बाकी न रहा। इस सम्बन्धके बाकी न रहनेसे आत्माका सम्बन्ध भी चित्तसे टूट-सा जाता है और इस सम्बन्धके टूट जानेसे आत्मा अपने भीतर काम करने लगता है और यही अवस्था है जिसमें आत्म-साक्षात्कार और परमात्म-साक्षात्कार हुआ करता है। यही अवस्था है, जिसे स्वाद चखनेकी अवस्थासे उपमा दिया करते हैं। यहाँ जो स्वाद आता है, उसे कोई ज़बानसे कह नहीं सकता। उपनिषदोंने इसीके लिये कहा है—

'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥'

तत्त्वंपदार्थ-शोधन

(लेखक—स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज)

साधनेषु समस्तेषु तत्त्वम्पदार्थशोधनम्।
श्रुत्या प्रोक्तं प्रमुख्यं वै स्मृत्या युक्त्यावधार्यताम्॥

साधन-राज्यमें तत्त्वंपदार्थ-शोधनको प्रमुख स्थान प्राप्त है, यह श्रुतिकी सूक्ति है। परिशोधित 'तत्' पदार्थ तथा 'त्वं' पदार्थके अभेदनिश्चयके लिये श्रुति, स्मृति तथा तदनुकूल युक्तिकी शरण लेनी चाहिये।

समस्त साधन एवं तत्प्रतिपादक शास्त्रका सार है जीव-ब्रह्मकी एकरूपता। यही साधकका चरम लक्ष्य है, साध्य-सिद्धि है। जीवात्मा और परमात्माकी एकताके बोधक वैदिक वाक्य 'महावाक्य' नामसे व्यवहृत होते हैं। इनमें 'तत्त्वमसि' विशेष प्रसिद्ध और प्रचलित है। गुरु शिष्यको उपदेश देते हैं, 'तत्त्वमसि' तू वही (परब्रह्म) है। अनन्तर श्रुति, स्मृति और युक्तिद्वारा मनन करनेपर श्रोताके अन्तःकरणमें 'अहं ब्रह्मास्मि', मैं (वही) परब्रह्म हूँ—इस प्रकार ब्रह्मापरोक्षानुभव-का उदय होता है। इसीलिये 'तत्त्वमसि' को उपदेश-महा-वाक्य एवं 'अहं ब्रह्मास्मि' को अनुभवात्मक महावाक्य कहा जाता है।

महावाक्यसे जीव-ब्रह्मकी एकताका अखण्डार्थ-बोध होनेके लिये उसके पदार्थज्ञानकी अपेक्षा है। पदार्थज्ञानके अनन्तर वाक्यार्थज्ञान होता है। 'तत्त्वमसि' महावाक्यके तत्, त्वम्, असि—ये तीन पद हैं। 'तत्' पदका अर्थ है सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, आनन्दमय परमात्मा। 'त्वं' पदका अर्थ है अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, दुःखमय जीवात्मा। 'असि' पद दोनोंकी एकताका सूचक है। परन्तु आनन्दमयत्वादिविशिष्ट 'तत्' पदार्थकी और दुःखमयत्वादिविशिष्ट 'त्वं' पदार्थकी एकता अत्यन्त विरुद्ध है। अतः इनके शोधनद्वारा एकताका समन्वय करना है।

पद (शब्द) में अपने अर्थका बोध करानेकी जो सामर्थ्य है, उसे वृत्ति कहते हैं। वह शक्तिवृत्ति, व्यञ्जनावृत्ति तथा लक्षणावृत्ति-भेदसे तीन प्रकार की है। वृत्तिभेदसे अर्थभेद भी होता है। शक्तिसे प्रतीत होनेवाले अर्थको शक्य, व्यञ्जनासे व्यङ्ग्य और लक्षणासे प्रतीत होनेवालेको लक्ष्य कहते हैं।

शब्दके स्वाभाविक अर्थका भान जिस सामर्थ्यसे होता है, उसे शक्ति और उसके द्वारा प्रतीत हुए अर्थको शक्यार्थ कहते हैं। उदाहरण—'भक्ता भजन्ति भगवन्तम्', भक्त भगवान्का भजन करते हैं।

शब्दसे स्वाभाविक अर्थके सर्वथा विपरीत अर्थकी प्रतीति होती हो तो उस विपरीत अर्थकी प्रत्यायक सामर्थ्यको व्यञ्जना तथा उस विपरीत अर्थको व्यङ्ग्यार्थ कहा है। किसी-किसी मतमें इसका लक्षणामें अन्तर्भाव करके दो ही वृत्तियाँ मानी गयी हैं। उदाहरण—'विषं भुङ्क्ष्व', जहर खा लो। कोई सरल व्यक्ति शत्रुके बहकावेमें भूलकर उसका दिया

१. निरहङ्कारता। २. अहङ्कार।

भोजन खानेको तैयार है। अन्य जानकार सज्जन उसे सावधान करते हैं कि 'विषं भुङ्क्ष्व' अर्थात् शत्रुके हाथका उत्तम-से-उत्तम भोजन पानेकी अपेक्षा विष खाना कहीं अच्छा है। यहाँ 'विषं भुङ्क्ष्व' के स्वाभाविक अर्थसे (शक्यार्थसे) सर्वथा विपरीत अर्थका भान कराना है कि शत्रुके हाथसे कुछ भी मत खाओ। अधिक स्पष्टताके निमित्त अन्य उदाहरण—एक मनुष्य दूसरेसे व्यङ्ग्यरूपमें कह रहा है, आप बड़े महात्मा हैं! यहाँ 'महात्मा' पदके स्वाभाविक अर्थ 'महान् आत्मा' के सर्वथा विरुद्ध अर्थ 'आप वास्तवमें दुष्टात्मा हैं' की प्रतीति होती है।

कभी-कभी तात्पर्यविशेषसे प्रयुक्त पद अथवा पदसमुदाय-(वाक्य)-से सांकेतिक अर्थका भान होता है। उसकी प्रत्यायक सामर्थ्यको लक्षणा तथा उस अर्थको लक्ष्य कहते हैं। लक्षणाके तीन प्रकार हैं—'जहल्लक्षणा', 'अजहल्लक्षणा' और 'जहदजहल्लक्षणा।' इसके अर्थ (लक्ष्यार्थ) को भी तीन तरहका होना पड़ता है। विषय गहन होनेके कारण दुरूह है, सरल करनेका यथासाध्य प्रयत्न किया जायगा। अध्यात्मविषयमें, विशेषतः लक्षणाद्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्यके लक्ष्यार्थनिश्चयमें अनेक शङ्काओंको अवकाश हो सकता है। जिज्ञासुओंको अपने निकटके मर्मज्ञोंद्वारा समाधान करा लेना चाहिये।

जहाँ शब्दके स्वाभाविक (शक्य) अर्थका त्यागकर उसके विरुद्ध अर्थका ग्रहण किया जाय, वहाँ 'जहल्लक्षणा' मानी जाती है। उदाहरण—'गङ्गायां घोषः' गङ्गामें घोषियोंके घर (ग्वालोंका गाँव) हैं। यहाँ 'गङ्गा' शब्दका स्वाभाविक अर्थ है महाराज भगीरथके परिश्रमसे इस भारतभूमि पर उतरा हुआ दिव्य जल-प्रवाह। उसमें घोषका बसना असम्भव है, अतः वक्ताके संकेतानुसार 'गङ्गा' शब्दके स्वाभाविक अर्थका त्याग कर उसके विरुद्ध सांकेतिक अर्थ 'गङ्गातट'का ग्रहण किया जाता है। तटपर घोषका बसना सम्भव हो जाता है। 'गङ्गायाम्' कहनेका सांकेतिक तात्पर्य भी संघटित हो जाता है कि 'प्रवाहके एकदम समीप होनेके कारण जैसी पवित्रता, शीतलता आदि प्रवाह (गङ्गा) में है वैसी ही घोषमें भी है। यहाँ 'गङ्गा'पदके शक्यार्थ 'जल'के स्थानपर उससे विरुद्ध लक्ष्यार्थ 'स्थल'का ग्रहण है।

जहाँ शब्दके स्वाभाविक अर्थका त्याग न होता हो, किन्तु उसके साथ अन्य अधिक अर्थका ग्रहण करना पड़ता हो, वहाँ 'अजहल्लक्षणा' होती है। उदाहरण—'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्', कौओंसे दही बचाना। यहाँ 'काक' शब्दके स्वाभाविक अर्थ कौओंका त्याग न कर उसके साथ दधिको हानि पहुँचानेवाले चूहे, कुत्ते आदि अन्य अधिक अर्थका भी ग्रहण करना पड़ता है; क्योंकि तमाम जीव-जन्तुओंसे दधिकी रक्षा अपेक्षित है, इसीमें सांकेतिक तात्पर्य है।

जहाँ शब्दार्थके विरुद्ध (विशेषण) भागका त्याग और अविरुद्ध (विशेष्य) भागका ग्रहण किया जाय, वहाँ 'जहदजहल्लक्षणा' होती है; इसे 'भागत्यागलक्षणा' भी कहते हैं। उदाहरण—'सोऽयं देवदत्तः', यह वही देवदत्त है। दस वर्ष पूर्व बदरीनारायणमें वस्त्राभूषणविभूषित, हृष्टपुष्ट, डाँडीपर सवार, यात्रामें खूब दान-पुण्य करनेवाले जिस देवदत्त नामक मनुष्यको देखा था, उसीको आज रामेश्वरमें फटे चिथड़ोंसे ढका, रोगी, पैर घिसते, भीख माँगते देखकर द्रष्टा बोल उठा—अरे, यह वही है। यहाँ 'यह' और 'वह'के साथ देवदत्तकी एकता दिखलायी गयी है। परन्तु वह तब सम्भव हो सकती है, जब कि 'यह' तथा 'वह' के परस्पर विरुद्ध विशेषणोंका त्याग एवं अविरुद्ध विशेष्यका ग्रहण किया जाय। यह काम 'भागत्यागलक्षणा'का है। 'यह'का निःकृष्टावस्थाभाग और 'वह'का उत्कृष्टावस्थाभाग निकाल दिया जाता है, तो एक अभिन्न देवदत्त व्यक्तिका बोध हो जाता है।

प्रकृत 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें उपदिष्ट तत्त्वंपदार्थशोधनमें शक्तिवृत्तिसे काम नहीं चलता। 'तत्'पदके शक्यार्थ एवं 'त्वं'पदके शक्यार्थकी एकता अत्यन्त विरुद्ध है, यह बात पूर्वमें कही गयी है। उपदेशावसर होनेसे व्यञ्जनावृत्तिको स्थान ही नहीं है। शेष रह जाती है लक्षणा। इससे तत्त्वंपदार्थशोधन हो जाय तो अच्छी बात है।

प्रथमतः जहल्लक्षणा प्रस्तुत है; परन्तु वह अभीष्ट सिद्ध न कर सकेगी। उसमें स्वाभाविक अर्थका त्याग और विरुद्धका ग्रहण होता है, जैसा कि उदाहरणमें स्पष्ट हो चुका है। यहाँ 'तत्' पदके स्वाभाविक अर्थ सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और आनन्दमयादिका त्याग कर उसके स्थानमें उससे विरुद्ध अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं दुःखमयादिका ग्रहण किया जाय तो 'तत्त्वमसि'के अर्थ होंगे—हे शिष्य! तू अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और निरा दुःखमय तत्पदार्थ है। ऐसा तो वह प्रथम भी मानता था, उपदेशने क्या अपूर्वता की? दूसरे यह भी सम्भव नहीं कि 'तत्' पदका अर्थ कोरा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति तथा दुःखमय हो।

दूसरी अजहल्लक्षणा भी उपयोगी न हो सकेगी । उसमें स्वाभाविक अर्थके साथ और अधिक अर्थका ग्रहण है। जहाँ स्वाभाविक अर्थमें ही अनिवार्य विरोध घुसा हुआ है, वहाँ और अधिक अर्थ ग्रहण करनेपर विरोध कम होना तो दूर रहा, प्रत्युत बढ़ ही जायगा । 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' में यदि कौओंसे ही दधिरक्षा न हो सकती हो, तो अन्य जीव-जन्तुओंसे कैसे हो सकेगी ? जब कौओंका ही परिचय न हो सका, तो अन्य दध्युपघातक प्राणियोंका परिचय कैसे होगा ? सुतरां दधिरक्षा खटाईमें पड़ जायगी । वैसे ही 'तत्त्वमसि' में तत्त्वंपदार्थका ही समन्वय नहीं हो सकता तो अन्य अधिक अर्थका किस प्रकार हो सकेगा ? जहाँ तत्त्वंपदार्थके स्वाभाविक अर्थका ही स्वरूपपरिचय नहीं हो सकता, वहाँ अन्य अधिक अर्थकी खिचड़ी पकानेसे विशेष उलझन बढ़नेके अतिरिक्त और क्या हो सकेगा ? अतएव तत्त्वंपदार्थका समन्वय असम्भव हो जायगा । इस प्रकार तत्त्वंपदार्थशोधनमें इस अजहल्लक्षणाका भी उपयोग नहीं है ।

अब चलिये जहदजहल्लक्षणा (भागत्यागलक्षणा) की शरण । यह साध्य सिद्ध कर देगी । इसमें विरुद्ध भागका त्याग और अविरुद्ध भागका ग्रहण करना होता है । 'तत्'पदके स्वाभाविक अर्थ (शक्यार्थ) सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, आनन्दमय परमात्माके तथा 'त्वं'पदके शक्यार्थ अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, दुःखमय जीवात्माके परस्परविरुद्ध विशेषण भागोंको अलग कर दीजिये । परमात्मामेंसे परम भाव निकल गया, शुद्ध आत्मा रह गया । जीवात्मासे जीवभाव छूट गया, आत्मामात्र रह गया । 'असि'पदने दोनोंकी एकता बोधित कर दी । अब 'तत्त्वमसि' के अर्थ समन्वित (तत्त्वंपदार्थके शोधन) हो गये । गुरुने उपदेश किया 'तत्त्वमसि'—वत्स ! तू वही है, तेरा आत्मचेतन ब्रह्मचेतन ही है । उपदेशानन्तर शिष्य मनन करता है, 'तत्'पदके अर्थ परमात्माके मायाकृत विशेषणोंको हटा-हटाकर निर्विशेष चेतनको परिशेष कर लेता है । जीवात्मामेंसे भी अविद्याकृत विशेषणोंको निकाल फेंकना जारी कर देता है, जीवभावकी पतझड़का धावा बोल देता है, एक-एक करके समस्त उपाधियोंका खात्मा कर डालता है और अशेष अविद्याविरहित अपने आपको निःशेष मायाविवर्जित अखण्डैकरस निर्विशेष ब्रह्मचेतनानन्दसागरके निकट खड़ा पा लेता है । तब उसके अन्तस्तलमें गहरी-गहरी "अ" "हं" "ब्र" "ह्मा" "स्मि"—इस प्रकार अनुभवात्मकवृत्ति स्फुरित हो आती है । वह अधिक खड़ा नहीं रह सकता, विशेष विलम्ब नहीं सह सकता । दीप दीख गया, फिर पतंगा अलग रह जाय—यह नयी बात नहीं हो सकती । उसने अपनेको होम दिया । जलकी बूँद सागरमें बरस पड़ी, बूँदभाव खो गया, सागरभाव उद्वेलित हो उठा । जीवभाव झड़ गया, ब्रह्मभाव उमड़ आया । वह निरञ्जनमें रञ्जित हो रहा । उसका तुच्छ 'अहम्' 'ब्रह्माहम्'में घुल-मिल गया, एकमेक हो गया । साधन सफल हुए, साधना पूरी हुई, सर्वत्र साध्य-ही-साध्य व्याप रहा । उसके आगे-पीछे, अगल-बगल, दायें-बायें, ऊपर-नीचे, अंदर-बाहर ब्रह्मानन्द ही भरा पड़ा है ।

राम-राम कहो

राम कहो राम कहो, राम कहो बावरे ।
अवसर न चूक भोंदू, पायो भलो दाँव रे ॥
जिन तोको तन दीन्हो, ताको न भजन कीन्हो ।
जनम सिरानो जात, लोहे कैसो ताव रे ॥
रामजीको गाय गाय, रामजीको रिझाव रे ।
रामजीके चरन कमल, चित्त माहिं लाव रे ॥
कहत मलूकदास, छोड़ दे तैं झूठी आस ।
आनँद मगन होइ के, हरि गुन गाव रे ॥

—मलूकदासजी

भगवान्‌के सम्बन्धमें साधनोंका सामर्थ्य

(लेखक—'कविशिरोमणि' देवर्षि भट्ट श्रीमथुरानाथजी शास्त्री)

'घन बयार, मझधार मह नैया भँवर मझार ।
करुनाधार ! उबारिये निज कर है पतवार ॥'

अपने प्राणप्रेष्ठके विरहमें व्याकुल हुई व्रजगोपिकाओंने भगवान्‌के खोजनेके लिये कोई कसर न की । अपनी जानमें यमुनातटका एक-एक स्थान छान डाला । सामने जो कोई मिला, उससे पूछा—यहाँतक कि पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, जो कोई भी दिखायी दिया, उसीसे भगवान्‌का पता पूछा । उनके हृदयमें भगवान्‌का अप्रतिरोधनीय असामान्य अनुराग था । भगवान्‌की प्राप्तिके लिये वे घर-द्वार, सम्बन्धी-स्वजन, सब कुछ छोड़ चुकी थीं । यहाँतक कि लौकिक-पारलौकिक मर्यादाओंपर भी उनकी दृष्टि न थी । एकमात्र भगवान् ही उनकी प्राप्तिके लक्ष्य थे । उन्हीं प्राणप्रियतमका वियोग, और फिर वह भी ऐसे समयमें जब कि उनकी सब मनोवृत्तियाँ उत्तेजित होकर अपने प्रियतमके एकान्त अभिमुख हो रही थीं ! फिर भला, विकलता क्यों न हो ? विरहाग्निसे हृदय संतप्त हो रहा था । प्रेम और तज्जनित व्याकुलताका यह हाल था कि उनका एक-एक अवयव, रोम-रोम, भगवान्‌के दर्शनके लिये लालायित था । भला, गोपिकाओंके अनुरागकी कोई सीमा है ? उनकी प्रीतिकी तुलना किसी अन्यसे की ही नहीं जा सकती, प्रत्युत प्रीतिके विषयमें उन्हींकी उपमा सब जगह दी जाती है—'यथा व्रजगोपिकानाम्' ।

भगवदनुरागके कारण उनकी भाग्यवत्ताको देवता भी सराहते हैं और चाहते हैं कि वृन्दावनमें वृक्ष, लता, गुल्म आदिमें ही हमारा जन्म हो जाय—जिससे कि आते-जाते समय गोपिकाओंकी चरण-रज तो हमारे मस्तकपर पड़ जाय[1] । वही असामान्य अनुरागिणी गोपिकाएँ भगवान्‌की प्राप्तिके लिये पूर्ण यत्न कर चुकीं, पर आप न मिले । प्रेम और विरहमें विह्वल होकर वे कभी भगवान्‌के चरित्रोंको गाती थीं तो कभी प्रलाप करती थीं । अन्तमें तो यह दशा हुई कि विरह-व्याकुलताके कारण रोने लगीं—'रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः' । परन्तु इसपर भी उनके उपाय और यत्नोंसे कुछ न हुआ । करुणावरुणालय भगवान्‌को ही जब उनकी हालतपर दया आयी, तब 'तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः'—उनकी प्रणय-परीक्षापर हँसते हुए भगवान् उनके ही मध्यमें प्रकट हुए ।

इस कथाकी सङ्गति कई तरहसे लगायी जाती है और सब जानते भी हैं; किन्तु क्या इस घटनासे यह अभिव्यक्षित नहीं होता कि चाहे जितने अनुकूल और प्रबल साधन क्यों न हों, पर ऐसे शक्तिघनके सम्मुख जहाँ कि किसी उपायकी पहुँच नहीं वे साधन अपने स्वरूपसे तो कुछ फल नहीं दिखला सकते । जब वही (सब शक्तियोंका केन्द्र) उन साधनोंको स्वीकार करना चाहे, तभी कुछ फलसिद्धि हो सकती है । योगसिद्धिसे, देखते-देखते अलक्ष्य हुए योगीको हम चाहे जितना पकड़ना चाहें, खोजें, किन्तु नहीं पा सकते । वही जब अपनी इच्छासे हमारे सम्मुख आवे तभी वह हमें मिल सकता है । सर्वसिद्धान्तोंसे जिसका स्वरूप यह सिद्ध होता है कि—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' अर्थात् जहाँ मन-वाणीकी पहुँच नहीं, वे भी उनतक न पहुँचकर जहाँसे निष्फल लौट आते हैं, वहाँ भला, फिर कौन-से साधन अपना बल दिखलायेंगे ? 'ईष्टे इति ईश्वरः' इस व्युत्पत्तिसे जब उनके सामर्थ्यको 'अन्यसामर्थ्यानभिभवनीय' अर्थात् अन्यशक्तिसे न दबनेवाला मानते हैं, तब वहाँ बेचारे साधन कर ही क्या सकते हैं ? और यदि साधनोंने अपना सामर्थ्य वहाँ जमा दिया तो फिर वह 'अन्यसामर्थ्यानभिभवनीय' भी कैसे कहलायेंगे ?

व्यवहारमें भी आप देखते हैं कि हम किसी हाकिमके सम्मुख अपने सब प्रमाण उपस्थित कर देते हैं । साक्षियोंके द्वारा तथा अन्यान्य उपायोंसे अपनी निर्दोषता भरसक अच्छी तरह सिद्ध कर देते हैं, तथापि निर्दोषताका फैसला देना तो उसके ही हाथमें मानते हैं । जब सामान्यसे अधिकारीका इतना सामर्थ्य माना जाता है, तब जो चतुर्दश भुवनोंका 'ईश्वर' प्रसिद्ध है, उसके सामर्थ्यकी क्या कोई सीमा हो सकती है ? आप जिस कामको आसान समझते हैं, थोड़े-से

---

१. 'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥'

यज्ञसे सिद्ध होनेवाला मानते हैं, वहींपर लाख यत्न होनेपर भी, बहुत कालतक दौड़-धूप करनेपर भी, कुछ फल नहीं होता। किन्तु जब कोई अदृष्ट शक्ति चाहती है, तभी आपको उसका फल मिलता है। ऐसी दशामें क्या आप अपने साधनोंपर भरोसा या गर्व कर सकते हैं? शास्त्र साफ-साफ बतलाते हैं कि—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। जब साधनोंका स्वातन्त्र्येण फल ही नहीं, अपनी इच्छासे फल देनेवाला कोई स्वतन्त्र दूसरा है, तब उन साधनोंमें साधनत्व (साधनपन) ही कहाँ रह गया? 'साध्यते अनेन तत्साधनम्'—जिससे कोई काम सिद्ध किया जाय, हमारी क्रियासिद्धिमें जो हमारा असाधारण उपकार करे, वही तो 'साधन' कहलाता है। ईश्वरप्राप्तिके विषयमें जब एक-दो साधन क्या, साधनोंका काफिला-का-काफिला ही पीछे रह जाता है, तब फिर उनसे क्रियासिद्धिकी आशा कैसी?

तो क्या वेदादिमें बतलाये हुए भगवत्प्राप्तिके उपाय—यज्ञ, याग, जप, तप, व्रत, नियमादि—सब व्यर्थ हैं? ऐसी दशामें यज्ञादिको भगवत्प्रसादका 'साधन' बतलानेवाले वेदादि शास्त्रका भी अप्रामाण्य सिद्ध होगा। भक्तिमार्गमें कहा जाता है कि 'यज्ञ-यागादि कष्टसाध्य हैं। सब लोग इनके अधिकारी भी नहीं। किन्तु 'भक्ति' में सबका अधिकार है। कलियुगमें उसके ही द्वारा उद्धार हो सकता है, इत्यादि।' परन्तु जब साधनमात्र यहाँ विफल सिद्ध होते हैं, तब 'भक्ति' भी साधन कैसे हो सकती है? ठीक है। इसपर थोड़े सूक्ष्म विचारकी आवश्यकता है। श्रुति-वेदान्तादि वाक्योंसे सिद्ध होता है कि सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, सर्वसामर्थ्यशाली भगवान्ने अपनी लीलासे, रमणकी इच्छासे यह सृष्टि उत्पन्न की, प्रपञ्चकी रचना की। धर्मादिकी व्यवस्था करके व्यवहारोंका नियमन किया। जबतक आपकी रमणेच्छा रहे, तबतक यह प्रपञ्चप्रवाह बन्द न हो—इसलिये कर्मादिका सूत्र अनुस्यूत करके इस संसार-प्रवाहको ऐसा प्रचलित कर दिया कि इसके विरत होनेकी कोई सम्भावना नहीं। परन्तु इस संसारकी व्यवस्था दृढ़ नियमोंके बिना सुश्रृङ्खलासे नहीं चल सकती। इसीलिये सदसद्विवेचनापूर्वक लोकव्यवस्था करनेवाले शास्त्रादि निर्णीत किये। ये ही शास्त्र हमें भगवत्प्राप्तिके अभिमुख करते हैं। इनके उपदेशोंके अनुसार यदि हम आचरण करें तो अवश्य हमें भगवत्प्राप्ति होगी, इसमें सन्देह नहीं। अतएव वेदादि शास्त्र और उनके द्वारा बोधित यज्ञ-याग, जप-तप, अनुष्ठानादि सभी क्रिया-कलाप प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। किन्तु विचार करनेकी बात है कि इन उपदेशक शास्त्रोंके मूलमें भी भगवान्‌की शक्ति और इच्छा अनुस्यूत है। उन्हींकी इच्छासे ये शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। अब आप ही देख लीजिये कि जब इन व्यवस्था करनेवालोंका भी व्यवस्थापक कोई दूसरा है, तब इनका स्वातन्त्र्येण सामर्थ्य कहाँ रहा?

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब शास्त्रोंके परिचालित नियमोंसे ही सब व्यवस्था चलती है और उसमें कुछ भी व्यत्यास नहीं होता, प्रत्युत शास्त्रोंके प्रवर्तक भगवान्‌की इच्छा और आज्ञा ही यह है कि वेदादि शास्त्रोंके अनुसार ही चला जाय तो ऐसी दशामें शास्त्रोंको ही स्वतन्त्र प्रमाण मानना उचित प्रतीत होता है। उनके मूलमें भी और प्रमाणान्तर माननेसे अनवस्था हो जायगी। और जब वेदादि स्वतन्त्र व्यवस्थापक सिद्ध हुए तो उनके द्वारा बोधित यज्ञ-यागादि भी भगवत्प्राप्तिके प्रति साधन अवश्य सिद्ध होंगे। ठीक है। 'अनवस्था हो जायगी' इस भयसे शास्त्रादिको स्वतन्त्र प्रमाण मान लेना ही कह रहा है कि इस विषयमें स्वतन्त्र व्यवस्थापक अथवा प्रमाण अन्य ही कोई है। जब किसीकी इच्छा अथवा आज्ञासे कोई शासन कर रहा है, तब शासनकालमात्रमें उसका स्वातन्त्र्य होनेपर भी स्वतन्त्र शक्तिशाली उसकी आज्ञा देनेवाला ही माना जायगा। वर्तमान कालमें भी कानूनके हाथमें ही शासनकी बागडोर रहनेपर भी क्या अन्तरात्मा यह नहीं जानता कि कानूनको बनानेवाली शक्तियाँ उससे भी प्रबल हैं, जो आवश्यकता पड़नेपर कभी-कभी अपनी स्वतन्त्रता (अन्यथा-कर्तुं समर्थता) का परिचय दे ही दिया करती हैं।

अच्छा। और-और साधनोंके विषयमें चाहे कुछ कहा जा सकता हो, किन्तु 'साधन-भक्ति' तो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये अवश्य ही सफल 'साधन' सिद्ध होगी। क्योंकि भक्ति (अनुराग) में शक्ति ही ऐसी है कि जिसके द्वारा वह अपने आलम्बन (प्रेमी) को बलात् आकृष्ट कर लेती है। मैं समझता हूँ, विस्तार करनेकी आवश्यकता न होगी। बहुत-से दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं कि चित्रपर प्रेम-प्रदर्शन करनेमात्रसे बड़े-बड़े सम्राट्‌तक एक दीनकी कुटियामें स्वयं आ उपस्थित होते हैं। भक्तोंके अनुरागसे आकृष्ट हुए भगवान्ने ही अपने भक्तोंके लिये क्या-क्या कार्य नहीं किये? और कहाँ-कहाँ आपको नहीं पहुँचना पड़ा? व्रजभक्तोंकी कथाको तो जाने

दीजिये, वह तो असाधारण ही है कि जिनके क्षणमात्र दर्शनके लिये दिव्यदेशनिवासी मुनितक तरसा करते हैं, वही भगवान् जहाँ सेवककी तरह कार्य करते हैं—गोपोंकी 'पादुका' तक उठाते हैं (बिभर्त्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम्); किन्तु नरसी आदि भक्तोंके लिये ही भगवान्को कहाँ-कहाँ पहुँचना पड़ा है, यह कौन नहीं जानता ! आप स्वयं आज्ञा करते हैं—

> **अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।**
> **साधुभिर्ग्रस्तहृदयः .... ॥**

अर्थात् 'मैं भक्तोंके पराधीन हूँ । मुझे बिलकुल स्वतन्त्रता नहीं । स्वतन्त्रता तो तब हो, जब मैं पृथक् सत्ता रखता होऊँ । 'अहं तु साधुभिर्ग्रस्तहृदयः'—मेरे हृदयको तो साधु (भक्तोंने) ग्रास कर लिया है, सर्वथा ले रक्खा है ।' अनुरागमें स्वाभाविक शक्ति ही यह है कि प्रबल होनेपर वह दूसरेको अपनी तरफ बलात् खींच लेता है । उर्दूका एक शैर सुना है—

> 'इश्क सच्चा है तो बस, एक दिन इन्शा अल्ला ।
> कच्चे धागे से खिंचे आप चले आयेंगे ॥'

ऐसी परिस्थितिमें भक्तिको तो भगवत्प्राप्तिके लिये 'साधन' मानना ही पड़ेगा ।

ठीक है ! किन्तु इसपर थोड़े गम्भीर विचारकी आवश्यकता है । क्या एक ओरकी क्रियामात्रसे ही आकर्षण हो जाता है ? दूसरी तरफसे यदि इसपर ध्यान ही न दिया गया तो फिर आकृष्ट होकर आना ही किसका होगा ? मार्मिक विचारसे आपको स्वयं प्रतीत हो जायगा कि भक्तोंके सच्चे अनुरागके कारण करुणावरुणालय भगवान्की दयाशक्ति भक्तोंके अभिमुख हो जाती है, जिससे भगवान्की उद्धार करनेकी इच्छा जाग्रत् होकर भक्तोंके अभीष्टकी सिद्धि हुआ करती है । भक्तिग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर यह कहा गया है, जैसा कि भक्त श्रीलक्ष्मीजीके प्रति विनय करता है—

> **अकरुणा करुणा ध्रुवमम्ब ते क्षितितले भवतीमवतार्य या ।**
> **अहह यातु पुरः स्थिरवेदनामगमयज्जगदार्त्तिनिवृत्तये ॥**

'हे जननी ! यह आपकी दया ही अत्यन्त निर्दया है, जो आपको इस भूमण्डलपर उतारकर जगत्की पीड़ा दूर करनेके लिये आपको भी राक्षसादिसे पीड़ा सहन कराती है ।' समस्त कल्याणगुणाश्रय भगवान्में यदि दया-गुण न होता तो भक्तोंके उद्धारका रास्ता ही कैसे खुलता ! 'अवाङ्मनसगोचर' (वाणी और मनकी भी जहाँ पहुँच नहीं) भगवान्तक हमारी पहुँच ही कहाँ थी ? जिन भगवान्को हमारे शास्त्र 'दिव्योपसृप्य' (उत्तमलोकनिवासी ही जिनके समीप पहुँच सकें, ऐसे) बताते हैं, प्रत्युत कहीं-कहीं दिव्य मुनि सनकादितक जिनके पास पहुँचनेसे रोक दिये जाते हैं, वहाँ क्या इन धराधामवासियोंकी गति हो सकती थी ? परन्तु लोकानुकम्पासे प्रेरित होकर भगवान् स्वयं अपना रूप आप प्रकट करते हैं । उसी प्राकट्यावस्थामें भगवान्के दर्शन-गुणश्रवण-चरितानुकीर्तनादिके द्वारा अनेकानेक भक्तोंका उद्धार हुआ है और होता है ।

अब आप ही स्वयं देख लीजिये, यदि भगवान् अपनी लीलासे अपना रूप स्वयं प्रकट करना नहीं चाहते तो 'अवाङ्मनसगोचर' उन भगवान्को हम अपने साधनोंसे कैसे पाते ? और बिना जाने, देखे-सुने उनका अनुकीर्तन भी क्या करते ? अतएव यह भगवान्की ही महिमा है कि वे दया करके लोगोंकी भक्तिको अङ्गीकार करते हैं ।

अब लौकिक प्रेमको भी देख लीजिये । जिससे हम प्रेम करते हैं वह हमारी कुछ बात ही न सुनता-समझता हो, अथवा हमारे प्रेमकी पुकार ही जहाँ नहीं पहुँच सकती हो तो भला 'खिंचे चले' आनेकी वहाँ क्या सूरत हो सकती है ? कच्चे धागेसे खिंचे चले आनेमें शाब्दिक चमत्कारकी तो बात दूसरी है, परन्तु इस सूक्तिमें प्रेमको परखनेवालेकी कदरदानी ही प्रधान प्रतीत हो रही है, अन्यथा कवि स्वयं अपने मुखसे स्वीकार कर रहा है कि इधर खींचनेके लिये तो 'कच्चा धागा' है । यदि दूसरी तरफ कुछ भी कदरदानी न हो तो कच्चा धागा तो फिर कच्चा ही ठहरे । इसीलिये भक्तिपथमें भगवान्के अनुग्रहपर ही निर्भर रहकर 'विनय' के अङ्गको ही प्रधानता दी गयी है । फिर प्रेमका तो मार्ग ही निराला है । वहाँ तो अपने प्रेमाधारके प्रेममें लीन हुआ प्रेमी अपने-आपको ही भूल जाता है, अपनी सत्ताको ही भुलाकर 'मैं हूँ' का अभिमान ही मिटा देता है । फिर भला, वहाँ अपने साधन-बलपर अभिमान करनेकी क्या कथा ? सुनिये, प्रेमी भक्तका अद्वैतवाद—

> 'जब 'मैं' है तब हरि नहीं, हरि हैं तब मैं नाहिं ।
> प्रेम-गली अति साँकरी, तामें द्वै न समाहिं ॥'

न केवल भक्तिमार्गमें ही, कर्ममार्गमें भी तो यही देखा जाता है। विधिके अनुसार यज्ञ-यागादि क्रिया-कलाप करके भी बड़े-बड़े ऋषि-मुनितक भगवान्‌से यही प्रार्थना करते हैं कि 'हे भगवन्! यदि आपकी अनुकूल दृष्टि न हो तो हम अपने साधनोंसे कर ही क्या सकते हैं; और हमारे हजार यज्ञ करनेपर भी वह हमारी 'साधना' पूरी ही कैसे हो सकती है?' यदि साधनोंपर ही सब कुछ निर्भर रहता तो फिर इतने कनावड़े होनेकी क्या बात थी? किन्तु सभी 'पन्थों' का अन्त एक सिद्धान्तपर ही देखा जाता है कि चाहे तपस्या करिये, चाहे ज्ञानयोगका आश्रय लीजिये, चाहे मन्त्रोंपर निर्भर रहिये, चाहे यज्ञ-यागादि क्रियाकलाप कीजिये; जबतक उन कर्मोंपरसे स्वाभिमान हटाकर उन्हें भगवान्‌के समर्पण न करेंगे, तबतक अभीष्टसिद्धि नहीं हो सकती। चाहे उनके द्वारा उत्तम लोकादि प्राप्त करके कर्मफलक्षय होनेपर फिर इधर-उधर भटकनेका रास्ता खोल लीजिये; किन्तु 'क्षेम' (चैन) नहीं मिल सकता। परमहंसचूडामणि श्रीशुकदेव मुनि कहते हैं—

'तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥'

इसीलिये तो भगवदाज्ञानुसार अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुकूल सब कुछ क्रिया-कलाप करके भी फल-प्राप्तिके लिये साक्षात्-साधन अन्तमें भगवान्‌को ही मानना पड़ा है। देखिये, कर्मकाण्डपर ही साधनाका बल रखने-वाली वैदिकादि विधियोंमें भी सब साधनोंके साधन अन्तमें भगवान् ही बन जाते हैं। इसीलिये तो वहाँ प्रार्थना की जाती है—

'मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन।
यत्कृतं तु मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे॥'

अन्यथा यह तो स्पष्ट ही असङ्गति है कि साधन-बलपर साधना आरम्भ होती है और साधनोंके बल-संहारपर उसका उपसंहार होता है।

शिष्टोंका व्यवहार भी प्रमाणरूपमें देख लीजिये कि आजतकके सभी ज्ञानी-ध्यानी भक्त सम्पूर्ण साधनसम्पन्न होनेपर भी उनपर अभिमान या भरोसा नहीं लाते। वे तो सदा अपनेको निःसाधन और दीन-हीन समझकर भगवान्‌को ही अपना सब कुछ साधन मानते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

'बेद न पुरान गान, जानौं न बिग्यान ग्यान,
ध्यान, धारना, समाधि, साधनप्रबीनता।
नाहिन बिराग, जोग, जाग, भाग 'तुलसी' कें
दया-दान-दूबरो हौं, पाप ही की पीनता॥
लोभ-मोह-काम-कोह-दोष-कोष मोसो कौन?
कलिहूँ जो सीख लई मेरियै मलीनता।
एक ही भरोसो राम रावरो कहावत हौं,
रावरे दयालु दीनबंधु, मेरी दीनता॥'

हाँ, अभिमान नहीं करते सो नहीं। करते हैं और खूब बढ़कर करते हैं कि सब पुण्यवानोंसे बढ़कर मैं हूँ। किन्तु उसका तर्ज देखिये—

'जोग न बिराग जप जाग तप त्याग ब्रत,
तीरथ न धर्म जानौं बेद-बिधि किमि है।
'तुलसी' सो पोच न भयो है, नहिं ह्वैहै कहूँ,
सोचैं सब याके अघ कैसें प्रभु छमिहैं॥
मेरे तो न डरु रघुबीर! सुनौ, साँची कहौं—
खल अनखैहैं तुम्हैं, सज्जन न गमिहैं।
भले सुकृतीके संग मोहि तुलाँ तौलिये तौ,
नाम कें प्रसाद भार मेरी ओर नमिहै॥'

दयानिधानकी दयापर ही सब 'साधनों' का सामर्थ्य निर्भर मानकर उसका ही अवलम्बन अबतकके व्यवहारमें प्रचलित है। इन पङ्क्तियोंके इस तुच्छ लेखककी भी 'करुणा कितै गई' इस समस्याकी पूर्ति इसी विषयपर है—

'उदधि अथाह बीच ग्राह सों सतायो जब,
दीन गजराज पै असीम करुना भई।
गीध गुहराज गनिका हू पै करी ही दया,
अधम अजामिलहूँ अगम गती लई॥
दुर्मद दुसासनने दुसह दुखाई जब,
द्रुपदसुता यों तब टेरी दीनतामई।
मेरी बेर एती देर कैसें कै करी है कान्ह!
करुनानिधान! तेरी करुना कितै गई॥'

निबन्धका सार यही है कि भक्तिमार्गका वास्तविक रहस्य सुगम नहीं। इसमें अनेक भेद और अनेक तत्त्व विचारणीय हैं, किन्तु 'भगवान् ही साध्य हैं और भगवान् ही साधन हैं' यह सिद्धान्त बड़ा उच्च और गम्भीर है। इसे प्रत्येक विचारशील मार्मिक मानेगा, इसमें सन्देह नहीं।

'न हि भुक्तिं मुक्तिं न खलु यदुनायक याचामि।
भक्तिं तव पदसरसिजे देहि शरणमुपयामि॥'

मधुर रसकी साधना

(लेखक—पं० श्रीहजारीप्रसादजी द्विवेदी)

'मधुर'नामक भक्ति-रसके विचारका उत्थापन करते समय श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें लिखा है कि 'आत्मोचित विभावादिद्वारा मधुरा रति जब सदाशय व्यक्तियोंके हृदयमें पुष्ट होती है, तब उसे मधुर नामक भक्तिरस कहते हैं। यह रस उन लोगोंके किसी कामका नहीं जो निवृत्त हों (अर्थात्, जैसा कि जीव गोस्वामीने इस शब्दका अर्थ किया है, प्राकृत शृंगार-रसके साथ इसकी समानता देखकर इस भागवत-रससे भी विरक्त हो गये हों); फिर यह रस दुरूह और रहस्यमय भी है; इसलिये यद्यपि यह बहुत विशाल और विततांग है, तथापि संक्षेपमें ही लिख रहा हूँ।'

'आत्मोचितविभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि ।
मधुराख्यो भवेद् भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः ॥
निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादयं रसः ।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विततांगोऽपि लिख्यते ॥'

गोस्वामिपादके इस कथनके बाद दुनियादारीके झंझटोंमें फँसे हुए किसी भी मादृश व्यक्तिका इस रसके सम्बन्धमें लिखनेका सङ्कल्प ही दुःसाहस है। फिर भी यह दुःसाहस किया जा रहा है। क्योंकि पहले तो गोस्वामिपादने यद्यपि बड़े कौशलपूर्वक इसकी दुरूहताकी ओर ध्यान आकृष्ट कर दिया है, परन्तु कहीं भी ऐसा सङ्केत नहीं किया कि इस रसकी चर्चा निषिद्ध है; दूसरे, भक्तिशास्त्रकारोंकी और अनुरक्त भक्तजनोंकी चर्चा करते रहनेसे, ऐसा विधान है कि पहले श्रद्धा, फिर रति और फिर भक्ति अनुक्रमित होती है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २५ । २५)

तीसरे, गोस्वामिपादने इसे उन लोगोंके लिये अनुपयोगी बताया है जो निवृत्त हों अर्थात् इस रसके साथ शृङ्गारका साम्य देखकर ही बिदक गये हों—उन लोगोंके लिये नहीं जो शृङ्गार-रसके साथ इसका साम्य देखकर ही इधर आकृष्ट हुए हों। शास्त्रोंमें और इतिहासमें ऐसे अनेक भक्त प्रसिद्ध हो गये हैं, जो ग़लतीसे ही इस रास्तेमें आ पड़े थे और फिर जीवनका चरम लाभ पा लेनेमें समर्थ हुए थे। कहते हैं, रसखान और घनानन्द इसी प्रकार इस रास्ते आ गये थे, सूरदास और बिल्वमङ्गल ग़लतीसे ही इधर आ पड़े थे और बादमें वे क्या हो गये—यह जगद्विदित प्रसङ्ग है।

इन पङ्क्तियोंके लेखकके समान ही ऐसे बहुत-से लोग होंगे जो साहित्य-चर्चाके प्रसङ्गमें दिन-रात रत्यादिक स्थायी भावों तथा विभाव-अनुभाव-सञ्चारीभाव और सात्त्विक भावोंकी चर्चा करते रहते होंगे या कर चुके होंगे। उन लोगोंको यह जान रखना चाहिये कि भक्तिमें केवल एक ही स्थायी भाव है—श्रीकृष्णविषयक रति या लगन। अवश्य ही, भक्तोंके स्वभावके अनुसार यह लगन पाँच प्रकारकी हो सकती है—शान्त स्वभावकी, दास्य-स्वभावकी, सख्य-स्वभावकी, वात्सल्य-स्वभावकी और मधुर स्वभावकी। इन पाँचों स्वभावोंके अनुसार रति भी पाँच प्रकारकी होती है—शान्ता, प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और कान्ता। जहाँतक जड जगत्‌का विषय है, इनमें शान्ता रति सबसे श्रेष्ठ है और फिर बाकी चार क्रमशः नीचे पड़ती हुई अन्तिम रति कान्ताविषयक होकर शृङ्गार नाम ग्रहण करती है। जडविषयक होनेपर यह सबसे निकृष्ट होती है। परन्तु जड़ जगत् है क्या चीज़ ? नन्ददासने ठीक ही कहा है कि यह भगवान्‌की छाया है, जो मायाके दर्पणमें प्रतिफलित हुई है—

या जगकी परछाँह री माया दरपन बीच ।

अब अगर दर्पणकी परछाँहकी जाँच की जाय तो स्पष्ट ही मालूम होगा कि इसमें छाया उलटी पड़ती है। जो चीज ऊपर होती है, वह नीचे पड़ जाती है और जो नीचे होती है, वह ऊपर दीखती है। ठीक यही अवस्था रतिकी हुई है। जड जगत्‌में जो सबसे नीचे है, वह भगवद्विषयक होनेपर सबसे ऊपर हो जाती है। यही कारण है कि शृङ्गार-रस, जो जड जगत्‌में सबसे निकृष्ट है, वस्तुतः भगवद्विषयक मधुर रसकी छाया है, जो सबसे उत्कृष्ट है। वस्तुतः भगवद्विषयक शृङ्गार ही मधुर रस है, यद्यपि भक्तिशास्त्रकी मर्यादाके अनुसार इसे शृङ्गार नहीं कहा जा सकता। केवल व्रज-सुन्दरियोंके लिये शृङ्गार और मधुर एक रस हैं; क्योंकि उनके

लिये काम और प्रेममें भेद नहीं है। भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा गया है कि गोपरमणियोंका प्रेम ही काम कहा गया है—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

कारण स्पष्ट है—जडविषयक अनुरागको 'काम' कहते हैं और भगवद्विषयक अनुरागको 'प्रेम'। व्रजसुन्दरियोंकी सारी कामनाके विषय 'असमानोर्ध्वसौन्दर्यलीलावैदग्ध्यसम्पदाम्' आश्रयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण थे और इसीलिये उनके कामको जडविषयक कहा ही नहीं जा सकता। गीतगोविन्दमें कहा गया है कि 'हे सखि, जो अनुरञ्जनके द्वारा समस्त विश्वका आनन्द उत्पादन करते हैं, जो इन्दीवर-श्रेणीके समान कोमल श्यामल अङ्गोंसे अनङ्गोत्सवका विस्तार कर रहे हैं तथा व्रजसुन्दरियोंद्वारा स्वच्छन्द भावसे जिनका प्रत्येक अङ्ग आलिङ्गित हो रहा है, वही भगवान् मूर्तिमान् शृङ्गारकी भाँति मुग्ध होकर वसन्त-ऋतुमें विहार कर रहे हैं—

विश्वेषामनुरञ्जनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर-
श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नङ्गैरनङ्गोत्सवम्।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गितः
शृङ्गारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति॥

सो यही भगवान्, जो साक्षात् शृङ्गारस्वरूप हैं, मधुर रसके प्रधान अवलम्बन हैं। इनकी प्रेयसियाँ वे परम अद्भुत किशोरियाँ हैं, जो नव-नव उत्कृष्ट माधुरीकी आधारस्वरूपा हैं, जिनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग भगवान्‌के प्रणय-तरङ्गसे करम्बित हैं और जो रमणरूपसे भगवान्‌का भजन करती हैं—

नवनववरमाधुरीधुरीणाः
प्रणयतरङ्गकरम्बिताङ्गरङ्गाः।
निजरमणतया हरिं भजन्तीः
प्रणमत ताः परमाद्भुताः किशोरीः॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

इन व्रजसुन्दरियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ राधारानी हैं, जिनके लोचन मदमत्त चकोरीके लोचनोंकी चारुताका हरण करनेवाले हैं, जिनके परमाह्लादन वदनमण्डलने पूर्णिमाके चन्द्रकी कमनीय कीर्तिका भी दमन किया है, अविकल कलधौत (स्वर्ण) के समान जिनकी अङ्ग-श्री सुशोभित है, जो मधुरिमाकी साक्षात् मधुपात्री हैं—

मदचलचकोरीचारुताचोरदृष्टि-
र्वदनदमितराकारोहिणीकान्तकीर्तिः।
अविकलकलधौतोद्भूतिधौरेयकश्री-
र्मधुरिममधुपात्री राजते पश्य राधा॥

जडादिविषयक शृङ्गारादि रसके साथ इस अनिर्वचनीय मधुर रसका एक और मौलिक अन्तर है। अलङ्कारशास्त्रोंमें विवृत शृङ्गारादि रस केवल जडोन्मुख ही नहीं होते, उनके भावकी स्थिति भी जडमें ही होती है। अलङ्कारशास्त्रमें बताया गया है कि शृङ्गारादि रसोंके रत्यादि स्थायीभाव संस्काररूपसे मनमें स्थित होते हैं। यह संस्कार या वासना पूर्वजन्मोपार्जित भी होती है और इस जन्मकी अनुभूति भी हो सकती है। अब आत्मा तो निर्लेप है, उसके साथ पूर्वजन्मके संस्कार तो आ ही नहीं सकते; फिर स्थायी भावके संस्कार आते कैसे हैं? इसका उत्तर शास्त्रोंमें इस प्रकार दिया गया है कि आत्माके साथ सूक्ष्म या लिङ्गशरीर भी एक शरीरसे दूसरेमें संक्रमित होता है। इस सूक्ष्मशरीरमें ही पाप-पुण्य आदिके संस्कार रहते हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद्‌में कहा गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस्, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म इत्यादि सब लेकर निर्गत होता है। यह जैसा करता है, वैसा ही भोगता है—

स वायमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। (बृहदारण्यक० ४।४।५)

सांख्यकारिकामें करीब-करीब इन सभी बातोंको लिङ्गशरीर कहा गया है। बताया गया है कि प्रकृतिके तेईस तत्त्वोंमेंसे अन्तिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हैं, पर बाकी अठारहों तत्त्व मृत्युके समय पुरुषके साथ-ही-साथ निकल जाते हैं। जबतक पुरुष ज्ञान प्राप्त किये बिना मरता है, तबतक ये तत्त्व उसके साथ लगे होते हैं (सां० का० ४०)। अब यह तो स्पष्ट ही है—प्रथम तेरह अर्थात् बुद्धि, अहङ्कार, मन और दसों इन्द्रिय प्रकृतिके गुणमात्र, अतः सूक्ष्म हैं; उनकी स्थितिके लिये किसी स्थूल आधारकी ज़रूरत होगी।

पञ्चतन्मात्र इसी स्थूल आधारका काम करते हैं। उपनिषदोंमें इसी बातको और तरहसे कहा गया है। आत्माका सबसे ऊपरी आवरण तो यह स्थूलदेह है। इसे उपनिषदोंमें अन्नमय कोष कहा गया है। दूसरे आवरण क्रमशः अधिक सूक्ष्म हैं; उनमें प्राणमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोष हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्थूलशरीरकी अपेक्षा प्राण सूक्ष्म हैं, उनकी अपेक्षा मन, उसकी अपेक्षा बुद्धि और इन सबसे अधिक सूक्ष्म आत्मा है। भगवान्‌ने गीतामें इसी बातको इस प्रकार कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

वेदान्तशास्त्रमें कई प्रकारसे यह बात बतायी गयी है। कहीं इसके सत्रह अवयव बताये गये हैं—पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि, मन और पाँच प्राण (वेदान्तसार १३); फिर आठ पुरियोंका उल्लेख है (सुरेश्वराचार्यका पञ्चीकरण-वार्तिक)—जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, पाँच प्राण, पाँच भूतसूक्ष्म (तन्मात्र) अविद्या, काम और कर्म हैं। ऐसे ही और भी कई विधान हैं। इनका शास्त्रकारोंने समन्वय भी किया है (वेदान्तसार १३ पर विद्वन्मनोरञ्जनी टीका)। यहाँ प्रकृत यह है कि स्थायी भावोंके संस्कार इसी लिङ्गशरीरमें हो सकते हैं। वह चूँकि जड है, इस लिये उसकी प्रवृत्ति जडोन्मुख होती है। अलङ्कारशास्त्रोंमें यह बार-बार समझाया गया है कि रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य। क्योंकि कार्य होता तो विभावादि-के नष्ट होनेपर नष्ट नहीं हो जाता, कारणके नष्ट होनेसे कार्यका नष्ट होना नहीं देखा जाता—स च न कार्यः, विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात् (काव्यप्रकाश ४र्थ उल्लास)। परन्तु मधुर रस आत्माका धर्म है, यह स्थूल जड जगत्‌की वस्तु नहीं है। उसके विभावादिका कभी विलय नहीं होता, इसलिये उसके लिये सम्भवासम्भव-प्रसङ्ग उठता ही नहीं।

रस कई प्रकारके हैं। सबसे स्थूल है अन्नमय कोषका आस्वाद्य रस। रसनादि इन्द्रियोंसे उपभोग्य रस अत्यन्त स्थूल और विकारप्रवण है। इससे भी अधिक सूक्ष्म है मानसिक रस अर्थात् जो रस मनन या चिन्तनसे आस्वाद्य है। उससे भी अधिक सूक्ष्म है विज्ञानमय रस, जो बुद्धिद्वारा आस्वाद्य है; पर यह भी जितना भी सूक्ष्म क्यों न हो, सूक्ष्मतम आनन्दमय रसके निकट अत्यन्त स्थूल है। आत्मा जिस रसका अनुभव करता है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति-रस है, जिसका नाना स्वभावोंके भक्त नाना भावसे आस्वादन करते हैं। मधुर रस उसीका सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। स्पष्ट ही है कि इस-की ठीक-ठीक धारणा इन्द्रियोंसे तो हो ही नहीं सकती, मन और बुद्धिसे भी नहीं हो सकती। वह न तो चिन्तनका विषय है न बोधका। वह अलौकिक है। इसीलिये भक्तिशास्त्रने इसके अधिकारी होनेके लिये बहुत ही कठोर साधनाका उपदेश किया है। रूप गोस्वामीने इसीलिये इसे दुरूह कहा है। श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—तृणसे भी सुनीच होकर, वृक्षकी अपेक्षा भी सहनशील बनकर, मान त्यागकर, दूसरेको सम्मान देकर ही हरिकी सेवा की जा सकती है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन सेवितव्यः सदा हरिः॥

इन्द्रिय, मन और बुद्धिका सम्पूर्ण निग्रह और वशीकरण जबतक न हो जाय, तबतक इस सुकुमार भक्तिक्षेत्रमें आनेका अधिकार नहीं मिलता। लोक-परलोकके विविध भोगोंकी और मोक्षसुखकी कामना जबतक सर्वथा नहीं मिट जाती, तबतक इस मधुर प्रेमराज्यकी सीमाके अंदर प्रवेश ही नहीं हो सकता। इसीसे यह सिद्धान्त बतलाया गया है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

जबतक भोग और मोक्षकी पिशाचिनी इच्छा हृदयमें वर्तमान है, तबतक प्रेम-सुखका उदय कैसे हो सकता है?

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—असत् शास्त्रोंमें आसक्ति, जीविकोपार्जन, तर्कवादपक्षाश्रयण, शिष्यानुबन्ध, बहुग्रन्था-भ्यास, व्याख्योपयोग, महान् आरम्भ—ये सब भक्ति चाहनेवाले-के लिये वर्जित हैं—

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्।
वादवादांस्त्यजेत्तर्कान् पक्षं कं च न संश्रयेत्॥
न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित्॥

(श्रीमद्भा० ७। ११। ६-७)

इन बातोंके लिये शास्त्रकारोंने बहुत-से उपाय बताये हैं, जो न तो इस क्षुद्र प्रबन्धमें बताये ही जा सकते हैं और न

अनधिकारी लेखनीके साध्य ही हैं। इसीलिये इस चर्चाको और आगे नहीं बढ़ाया गया। जब सारा अभिमान और अहङ्कार दूर हो जायगा, ज्ञान और पाण्डित्य शान्त हो रहेंगे, तब वह परमाराध्य जिसकी नर्त्यमान भ्रूलताके कारण मुखश्री अत्यन्त मधुर हो उठी है, जिसका कर्णाग्रभाग अशोक-कलिका-से विभूषित है, ऐसा कोई नवीन निकषा-प्रस्तरके समान वेशवाला किशोर वंशीरवसे मन और बुद्धिको बेबस कर डालेगा—

भ्रूवल्लिताण्डवकलामधुराननश्रीः
कङ्केलिकोरककरम्बितकर्णपूरः ।
कोऽयं नवीननिकषोपलतुल्यवेषो
वंशीरवेण सखि मामवशीकरोति ॥

प्रेम-साधन

(लेखक— म० प्रेमप्रकाशजी)

भगवत्प्राप्तिके अनेक साधनोंमें प्रेम-साधन एक मुख्य साधन समझा जाता है। ईश्वरके प्रति परमानुराग ही प्रेम है। कितने ही संतों और ऋषियोंने प्रेमको ही साधन और साध्य माना है। देवर्षि नारदने 'स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः' (ना० भ० सू० ३०) कहकर सनत्-कुमारादिके मतानुसार प्रेमको स्वयं फलरूप बताया है। वह प्रेम कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठतर है 'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा' (ना० भ० सू० २५)।

प्रेमकी प्राप्ति विशेषकर महापुरुषोंकी कृपा अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे होती है—'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा।' प्रेमका रूप वास्तवमें तो अनिर्वचनीय है, परन्तु उसके लक्षणोंका अनुभव शान्ति और आनन्दसे हो सकता है। प्रायः अनन्यप्रेमी भक्तोंको भगवान्‌के नामोंको सुनते ही कण्ठावरोध, रोमाञ्च और अश्रुपात होने लगता है। कीर्तनसे भी वह प्रेम शीघ्र प्रकट होता है—'स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति, अनुभावयति च भक्तान्।' परमहंस रामकृष्ण कहा करते थे—'कलियुगमें नारदीय भक्ति सार है। ईश्वरका नाम-गुण-गान करने और व्याकुल चित्तसे प्रार्थना करनेपर परमात्माकी प्राप्ति होती है।'

'गोपी या राधा-प्रेमकी एक भी बूँद किसीमें हो तो उसका क्या कहना है! उसका अनुराग केवल सोलह आने नहीं, बल्कि बीस आने है। इसीका नाम प्रेमोन्माद है। यदि पागल होना है तो संसारकी वस्तुके लिये क्यों पागल हो! यदि पागल होना है तो ईश्वरके लिये हो।' (श्रीश्री-रामकृष्ण-कथामृत १।१०।४)

समस्त प्रेमोंमें गोपी-प्रेम अथवा श्रीराधा-प्रेम सर्वोत्तम समझा जाता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—इन पाँच प्रकारके प्रेमोंमें माधुर्य रस ही सर्वोत्तम है और यह माधुर्य-प्रेम श्रीवृषभानुसुता श्रीराधाजीमें ही पूर्णरूपसे मिलता है। श्रीराधाजी ही माधुर्यरसाधिष्ठात्री महादेवी हैं। इन्हींकी कृपासे माधुर्य प्रेम प्राप्त हो सकता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्षसे भी बढ़कर प्रेम है। प्रेम पञ्चम पुरुषार्थ है। भगवान्‌को वशमें करनेका एकमात्र उपाय प्रेम ही है। भगवान् श्रीकृष्ण प्रेमी भक्तोंके अधीन हैं। 'अहं भक्तपराधीनः' कहकर भगवान्‌ने दुर्वासा ऋषिको प्रेमी भक्त अम्बरीषके पास लौटा दिया था। जिस प्रेममें किसी प्रकारकी वासना नहीं रहती, साधक केवल अपने प्रियतमके सुखमें ही सुखी रहता है तथा अपना कुछ भी अहङ्कार नहीं रखता, वही प्रेम माधुर्य-रसका है और उसे ही पूर्ण प्रेम कहा जाता है। उस स्थितिमें साधक और साध्य दोनों एकरूप हो जाते हैं। प्रेमी, प्रेम अथवा प्रियतममें कुछ भेद नहीं रह जाता (तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्)। गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीरामचरितमानसमें उसी सहज प्रेमका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु ।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥

श्रीसीतारामका निरन्तर वास उसी प्रेमी भक्तके हृदयमें रहता है, जिसे कोई आशा नहीं रहती और जो प्रेमके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। वही प्रेमी भक्त सहज सनेहका पात्र हो सकता है।

अगर कोई नाता भगवान् राम मानते हैं तो वह एक प्रेमभक्तिका ही सम्बन्ध है । भगवान् रामने भक्तिमती शबरीसे कहा है—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता । मानउँ एक भगति कर नाता ॥
(रा० मा०)

श्रीरामको केवल प्रेम ही अच्छा लगता है—

रामहि केवल प्रेम पिआरा । जानि लेउ जो जाननिहारा ॥
(अयोध्या० रा० मा०)

वह प्रेम विना अनुरागसे प्राप्त नहीं होता अथवा श्रीरघुनाथजी विना अनुरागके कभी नहीं मिलते—चाहे जितना ही साधक योग, जप, ज्ञान, विरागका अभ्यास करे—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा । किएँ जोग जप ग्यान बिरागा ॥

एक प्रेमके कारण ही एक परमात्मा नानारूपमें स्वयं व्यक्त हो गया है । अकेले रमण नहीं किया जा सकता, इसलिये परमात्मा या भगवान् या ब्रह्म स्वयं अपने भक्तोंमें ही मिल सकता है ।

एकाकी न रमते । स द्वितीयमैच्छत् । (श्रुति)

रस अथवा प्रेम ही आनन्द है । यह सिद्धान्त अनुभव करके प्रत्यक्ष देखा जा सकता है । भगवती श्रुति भी यही कहती है—

रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।

परमात्मा सर्वव्यापक रहते हुए भी उसका अनुभव प्रेमसे ही किया जा सकता है । भगवान् शंकर कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना । प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥
(रा० मा०)

जगद्विख्यात संत कबीर साहब अपना विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय ।
ढाई अक्षर 'प्रेम' का पढ़ै, सो पंडित होय ॥

पूर्ण प्रेममें विधि-निषेध नहीं रहता, वह परम स्वतन्त्र है । प्रेमी लोक-संग्रहके लिये नियम और प्रेम दोनों पालन कर सकता है, परन्तु उसके लिये निजी कोई कर्तव्य नहीं रहता ।

नेमु प्रेमु संकर कर देखा । अबिचल हृदयँ भगति कै रेखा ॥
(रा० मा०)

प्रेमी भक्तके अधीन ज्ञान और विज्ञान हैं । श्रीरामचरितमानसमें स्पष्ट कहा गया है—

सो स्वतंत्र अवलंब न आना । तेहि आधीन ग्यान बिग्याना ॥

एक अमेरिकन देवी मिसेज एलेन जी. व्हाइट (Mrs. Ellen G. White) ने लिखा है कि प्रेम ही ईश्वर है और प्रेम ही जीवनी शक्ति है—(God is Love and Love is Life.)

सबसे सीधा मार्ग भगवत्प्राप्तिका यदि कोई है तो वह प्रेममार्ग ही है । श्रीउद्धवजीको गोपिकाओंने इस प्रकार कहा था—

'कौन ब्रह्म को जोति ग्यान कासों कहौ ऊधो ।
हमरे सुंदर स्याम प्रेमको मारग सूधो ॥'
'ऊधौ जोग जोग हम नाहीं ।
जेहि लगि जोगी भरमत भूले, सो तो है अपु माहीं ।'
—इत्यादि ।

ऐसे विचारोंको सुनकर उद्धवका ज्ञानका अहंकार नष्ट हो गया और उन्होंने यह समझ पाया कि ज्ञानके परे एक पूर्ण प्रेमकी अनिर्वचनीय दशा भी है ।

प्रेमी भक्तको किसी साधनाकी आवश्यकता नहीं रहती । वह तो स्वयं सिद्धोंका सिद्ध रहता है और वर देनेवालोंको वर देनेवाला होता है ।

महाराज जनक श्रीभरतजीके प्रेमभावसे मुग्ध होकर कहते हैं—

साधन सिद्धि राम-पग नेहू । मोहि लखि परत भरत मत एहू ॥
(रा० मा०)

'श्रीरामजीके पदोंका नेह ही साधन और सिद्धि है'—यही श्रीभरतजीका सिद्धान्त है ।

भरत सरिस को राम सनेही । जगु जप राम रामु जप जेही ॥
(रा० मा०)

श्रीकबीर साहबने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि राम-सनेही सदा अमर है—

'सून्य मरै, अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
राम सनेही ना मरै, कह कबीर समुझाय॥'
(बीजक कबीरदास—विश्वनाथ-टीका)

भगवान्‌ने प्रेमी भक्त देवर्षि नारदसे कहा है कि मैं सदा प्रेमी भक्तोंके मध्यमें ही मिलता हूँ—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

'वैकुण्ठमें चाहे मैं न रहूँ, अथवा योगियोंके हृदयमें भी मेरा पता न लगे; पर जहाँ मेरे प्रेमी भक्त मेरे गुणोंका गान करते हैं, वहाँ तो मैं अवश्य रहता ही हूँ।'

श्रीकृष्णभक्ति—प्रेमा-भक्ति, पूर्ण भक्ति अथवा श्रीराधा-कृष्ण-प्रेम या पराभक्ति तो हजारों जन्मोंतक तपस्या, ध्यान, समाधिके निरन्तर अभ्यासके बाद प्राप्त होती है—

'जन्मान्तरसहस्रेण तपोध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥

अबिरल भक्ति बिसुद्ध तव, श्रुति पुरान जेहि गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रताप कोउ पाव॥
(रा० मा०)

प्रेमाभक्तिका मिलना भगवान् श्रीकृष्ण या भगवान् श्रीराम अथवा भगवान् श्रीशिवकी कृपापर ही निर्भर है।

'भक्तिनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा कृष्णः प्रसीदति।'

श्रीउत्पलाचार्यजी भक्ति-प्रेमके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखते हैं—

भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यदपयाचितम्॥
(नारद)

अर्थात् 'परमात्माकी प्रेमाभक्तिरूपी लक्ष्मीसे समृद्ध लोगोंको क्या चाहिये ? कुछ नहीं। परमेश्वरकी दासता सम्पत्तिकी पराकाष्ठा है और इस सम्पत्तिसे रहित हतभाग्य पुरुषोंको और छोड़ना क्या है ? इस सम्पत्तिके न होनेरूप दारिद्र्यसे पिण्ड छुड़ाना ही सबसे बड़ा कर्तव्य और पुरुषार्थ है।'

प्रेमी संत और सत्य भगवान्‌में कुछ भी अन्तर नहीं है। प्रेमी संत भगवान् ही हैं—

'संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं
किमपि मतिमलिन कह दास तुलसी।'
(विनयपत्रिका)

'क्रन्दनयोग' से भी भगवान्‌का अनन्य प्रेम प्राप्त हो सकता है। परम विरहासक्तिका भाव इस छन्दसे प्रकट होता है—

'चित्त रत होत प्रानप्यारेमें निरत ह्वै कै,
होत मल सोधक बिघात सारे छनमें।
रोमहर्ष सीश झुँझलाहट हृदय धौति,
मेरु दंड स्पंदन प्रकंप होत तनमें॥
लीन ह्वै समाधिमें बिसरि अपनापौ जात,
या सौं बड़ो और कौन जोग सोचौ मनमें।
राज हठ भक्ति तीनों जोग सधि जात ऊधौ,
एक मनमोहन बियोगके रुदनमें॥

प्रेमी भक्तके भगवान् अधीन हैं और ज्ञानसे अगम्य हैं—

'ज्ञानेर अगम्य तुमि, प्रेम ते भिखारी,
द्वारे द्वारे माग प्रेम नयने ते वारी।'
(जयदेवके साधन-तीर्थ केन्द्रबिल्वमें बाउल-गान)

अर्थात् 'तुम ज्ञानके अगम्य हो पर प्रेमके भिखारी हो। तुम सजल-नयन होके प्रेम-भीख माँगते फिरते हो।'

'रागमार्ग क्यों मधुर है' यह समझानेके लिये कृष्णदासने कहा है—

'राग-मार्गे भजे येन छाड़ि धर्म-कर्म,
अतएव मधुर रस कहि तार नाम।'

अर्थात् 'भक्त धर्म-कर्म छोड़कर रागमार्गसे भजन करता है। अतएव इस रसका नाम मधुर है।'

जिसके लिये प्रेम स्वाभाविक हो जाता है, वह छिपाये भी नहीं छिपता—

प्रेम छिपाये ना छिपै, जा घट परगट होय।
जद्यपि मुख बोलै नहीं, नैन देत हैं रोय॥
(कबीर)

वह प्रेम स्वयं ही स्वामी है—

सब घट मेरा साइयाँ, सूना घट नहिं कोय।
बलिहारी वा घट की, जा घट परगट होय॥
(कबीर)

'प्रकाशते क्वापि पात्रे' (ना० भ० सू०)—परन्तु वह प्रेम किसी विरले पात्रमें ही प्रकट होता है। भगवान्‌के नामके प्रेमको ही भगवान् कहते हैं और हरि-स्मरण ही हरि-मिलन है। उस परमात्माकी कोई खास प्रतिमा नहीं है। उसके नामका बड़ा यश है—

'न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः।'

(यजुः ३२। ३)

पूर्ण प्रेमके प्राप्त हो जानेपर सन्ध्यादि साधन-कर्म छूट जाते हैं। श्रीजीव गोस्वामीने कहा है—

हृदाकाशे चिदानन्दं सुदाभाति निरन्तरम्।
उदयास्तं न पश्यामः कथं सन्ध्यामुपास्महे॥
सद्भक्तिदुहिता जाता माया भार्या मृताधुना।
अशौचद्वयमाप्नोति कथं सन्ध्यामुपास्महे॥

प्रेमका रसास्वादन गूँगेके गुड़की तरह है। 'मूकास्वादनवत्'—देवर्षि नारद कहते हैं। यह अनिर्वचनीय है—'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।' गुरु नानकके ग्रन्थसाहबमें एक दोहा इस प्रकार आया है—

हरि सम जगमें वस्तु नहिं, प्रेम पंथ सम पंथ।
सद्गुरु सम सज्जन नहीं, गीता सम नहिं ग्रंथ॥

प्रेमी भक्त और प्रेमपूर्ण भगवान् दोनों अनन्त और अभेद हैं।

भगवान् कृष्ण अपने प्रेमी भक्तका योगक्षेमका भार स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

प्रेमी भक्तको नित्य शान्ति रहती है और उसका कभी नाश नहीं होता—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३१)

प्रेमी भक्तमें भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं और भक्त भगवान् श्रीकृष्णमें रहता है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

इस प्रकारके भावकी प्रेमभिक्षा भगवान् और उनके प्रेमी भक्त देनेकी कृपा करें तो तुरंत अचल शान्ति और आनन्द प्राप्त हो जाय।

नामका प्रकाश

दीपक बारा नाम का महल भया उजियार॥
महल भया उजियार नाम का तेज बिराजा।
सब्द किया परकास मानसर ऊपर छाजा॥
दसो दिसा भई सुद्ध बुद्ध भई निर्मल साची।
छुटी कुमति की गाँठ सुमति परगट होय नाची॥
होत छतीसों राग दाग तिर्गुन का छूटा।
पूरन प्रगटे भाग करम का कलसा फूटा॥
पलटू अँधियारी मिटी बाती दीन्ही टार।
दीपक बारा नाम का महल भया उजियार॥

—पलटू

संस्कार-साधना

(लेखक—डा० श्रीराजबलीजी पाण्डेय, एम्० ए०, डि० लिट्)

भारतीय शास्त्रकारोंने जीवनका एक ध्येय निश्चित किया था और उसतक पहुँचनेके लिये अनेक साधनोंका आविष्कार। संस्कार भी एक इसी प्रकारका साधन है। उन्होंने जीवनकी सामग्रियोंको दो भागोंमें बाँटा है। एक तो वह जिसको लेकर मनुष्य उत्पन्न होता है; दूसरी वह जिसका सञ्चय वह अपने वर्तमान जीवनमें परिस्थितियोंके अनुकूल करता है। शास्त्रकारोंका मत है कि नवजात शिशुका मस्तिष्क कोरी पट्टीके समान नहीं है, जिसपर बिल्कुल नया लेख लिखना है; इसके विरुद्ध इसपर उसके अनेक पूर्वजन्मोंके संस्कार अङ्कित हैं। साथ-ही-साथ उनका यह भी विश्वास है कि नवीन संस्कारोंद्वारा पुराने संस्कारोंको प्रभावित, उनमें परिवर्तन, परिवर्धन और उनका उन्मूलन भी किया जा सकता है। प्रतिकूल संस्कारोंका विनाश और अनुकूल संस्कारोंका निर्माण ही साधकका प्रयास है।

संस्कार क्या है ? इसको केवल बाहरी धार्मिक आडम्बर समझना भूल है। इसमें बाहरी कृत्य अवश्य हैं, किन्तु ये आन्तरिक आध्यात्मिक सौन्दर्यके बाह्य दृश्यरूप हैं और इसीमें संस्कारकी महत्ता है। आध्यात्मिक जीवनसे विच्छेद होनेपर ये मृत अस्थिपञ्जरके समान हैं, जिसमें गति और जीवन नहीं है। 'संस्कार' शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें किया गया है। कौषीतकि[1], छान्दोग्य[2] और बृहदारण्यकादि[3] उपनिषदोंने इसका प्रयोग (संस्करोति) उन्नति करनेके अर्थमें किया है। महर्षि पाणिनिने इस शब्दका प्रयोग तीन विभिन्न अर्थोंमें किया है—(१) उत्कर्ष करनेवाला (उत्कर्षसाधनं संस्कारः), (२) समवाय अथवा संघात और (३) आभूषण। ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थोंने 'संस्कार' शब्दका व्यवहार यज्ञकी सामग्रियोंको पवित्र करनेके अर्थमें किया है। बौद्ध त्रिपिटकोंमें निर्माण, आभूषण, समवाय, प्रकृति, कर्म और स्कन्धके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग पाया जाता है। बौद्धदर्शनने संस्कारको भवचक्र-की बारह शृङ्खलाओंमेंसे एक माना है। हिन्दूदर्शनोंमें इसका प्रयोग कुछ भिन्न अर्थमें हुआ है। यहाँ संस्कारका अर्थ भोग्य पदार्थोंकी अनुभूतिकी छाप है। हमारे अव्यक्त मनपर जितने अनुभवोंकी छाप है, अनुकूल अवसर पानेपर उन सबका पुनरावर्तन होता है। इस अर्थमें संस्कार 'वासना' का पर्यायवाची है। अद्वैतवेदान्तमें आत्माके ऊपर मिथ्या अध्यास-के रूपमें संस्कारका प्रयोग हुआ है। वैशेषिकोंने चौबीस गुणोंमेंसे इसको एक माना है। संस्कृत-साहित्यमें बड़े व्यापक अर्थमें 'संस्कार' शब्द व्यवहृत हुआ है—शिक्षण[2], चमक, सजावट, आभूषण[3], छाप, आकार, साँचा, क्रिया, प्रभाव-स्मृति[4], पावक कर्म, विचार, धारणा, पुण्यादि[5]। धर्मशास्त्रियोंने मानवजीवनको पवित्र और उत्कृष्ट बनानेवाले समय-समयपर होनेवाले, षोडश धार्मिक कृत्योंको संस्कार माना है। प्रायः इसी अर्थमें 'संस्कार' शब्दका प्रयोग किया गया है। संस्कारमें अनेक प्रकारके भावों और अर्थोंका समावेश है। इसीलिये किन्हीं विद्वानोंने इसको एक विचित्र अनिर्वचनीय पुण्य उत्पन्न करनेवाला धार्मिक कृत्य कहा है[6]।

धर्मशास्त्रियोंने जीवनका ध्येय आध्यात्मिक निश्चित किया है; किन्तु उनकी यह भी धारणा है कि शरीर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन है। इसलिये वे आत्माके पुजारी होते हुए भी शरीरकी अवहेलना नहीं करते। इसके विपरीत वे शरीरको आत्माके अवतरण और प्रकाशके लिये योग्य माध्यम बनाना चाहते हैं। इनका मार्ग घोर भौतिकवादियों और एकान्त निवृत्तिमार्गियोंके बीचका है। भौतिकवादी शरीरको ही मानवजीवनका सर्वस्व समझते हैं।

१—२.६

२—४.१६. २, ३, ४

३—६.१.१

४—६.१,१३७

१. अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण।

२. निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक्। (रघुवंश ३। ३५)

३. स्वभावसुन्दरं वस्तु न संस्कारमपेक्षते। (शकुन्तला ७। २३)

४. संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। (तर्कसंग्रह)

५. फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव। (रघुवंश ५।२०)

६. आत्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशयविशेषः संस्कारः। (वीरमित्रोदय, संस्कारप्रकाश, भाग १, पृष्ठ १३२)

प्राणायामकी महिमा सभी जानते हैं। शारीरिक स्वास्थ्यकी वृद्धि, पाप-वासनाओंकी निवृत्ति और चञ्चलताको दूर करनेके लिये यह अद्भुत उपाय है। जिसका प्राण वशमें है, उसका मन और वीर्य भी वशमें है। यह प्राणायाम समन्त्रक होनेके कारण और भी लाभप्रद है और इसमें जो ध्यान हैं, वे तो मानो सोनेमें सुगन्ध हैं।

अघमर्षण और भूतशुद्धि एक ही वस्तु हैं। 'भूतशुद्धि' शीर्षक लेख देखना चाहिये। सन्ध्यामें अघमर्षणकी क्रिया बहुत ही संक्षिप्त है, फिर भी वह लाभकी दृष्टिसे अत्यन्त उपयोगी है। उसका भाव समझ लेनेपर जान पड़ता है कि उसमें कितना महत्त्व है।

अर्घ्यदान और सूर्योपस्थान दोनों ही भगवान् सूर्यकी उपासना हैं। न्यासका एक स्वतन्त्र लेखमें अलग विचार किया गया है। संक्षिप्तरूपसे इतना समझ लेना चाहिये कि शरीरके प्रत्येक अङ्गमें जब मन्त्र और देवताओंका स्थापन हो जाता है तब सम्पूर्ण शरीर मन्त्रमय, देवमय हो जाता है। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्'के अनुसार वास्तवमें तभी देवपूजाका अधिकार प्राप्त होता है। ध्यान, मानस पूजा और जपके सम्बन्धमें आगे निवेदन करना है। सन्ध्याकी प्रत्येक क्रिया ध्यानकी तैयारी है। ध्यानके पश्चात् केवल जप करना ही अवशिष्ट रह जाता है। जपकी महिमा अवर्णनीय है। जपोंमें भी गायत्री-जपके विषयमें तो कहना ही क्या है।

यह तो वैदिक सन्ध्या हुई, एक तान्त्रिक सन्ध्या भी होती है। यह विधि कुछ अप्रसिद्ध होनेसे लिखी जाती है। शाक्त सन्ध्यामें आचमनके निम्न मन्त्र हैं—

'ॐ आत्मतत्त्वाय स्वाहा।' 'ॐ विद्यातत्त्वाय स्वाहा।' 'ॐ शिवतत्त्वाय स्वाहा।'

शैव आदिकोंकी सन्ध्यामें केवल आचमन ही होता है। इसके पश्चात् 'गङ्गे च यमुने' इत्यादि स्नानविधिमें लिखे हुए मन्त्रके द्वारा तीर्थोंका आवाहन करके अपने इष्ट-मन्त्रसे कुशके द्वारा तीन बार पृथिवीपर जल छिड़के और सात बार अपने सिरपर। इष्ट-मन्त्रसे प्राणायाम और षडङ्गन्यास करके बायें हाथमें जल लेकर दाहिने हाथसे ढककर 'हं यं वं लं रं' इनसे तीन बार अभिमन्त्रित करके इष्ट-मन्त्रका उच्चारण करते हुए गिरते हुए जलबिन्दुओंसे तत्त्व-मुद्राके द्वारा सात बार अभ्युक्षण करके शेष जल दाहिने हाथमें ले ले। उसको तेजोरूप चिन्तन करके इडा नाडीसे खींचकर, देहके भीतर रहनेवाले पापको धोकर, उस जलको काले रंगका एवं पापरूप देखते हुए पिङ्गलासे बाहर निकालकर सामने कल्पित वज्रशिलाके ऊपर 'फट्' इस मन्त्रका उच्चारण करके पटक दे। इसके पश्चात् हाथ धोकर आचमन करके 'ह्रीं हंसः ॐ घृणिः सूर्य आदित्यः' इस मन्त्रसे सूर्यको अर्घ्य दे और 'ॐ सूर्यमण्डलस्थायै नित्यचैतन्योदितायै अमुकदेवतायै नमः' इस मन्त्रमें अमुकके स्थानपर अपने इष्टदेवताका नाम जोड़कर तीन बार जलाञ्जलि देनी चाहिये। यह क्रिया इष्टदेवताकी गायत्रीसे भी सम्पन्न होती है। इसके पश्चात् गायत्रीका समयोचित ध्यान करना चाहिये। प्रातःकाल ब्राह्मीका, मध्याह्नमें वैष्णवीका और सायाह्नमें शाम्भवीका ध्यान करना चाहिये। तान्त्रिक सन्ध्यामें इष्टदेवकी गायत्रीका ही जप होता है। गायत्री सबकी पृथक्-पृथक् हैं। यहाँ कुछका उल्लेख किया जाता है।

विष्णु-गायत्री—त्रैलोक्यमोहनाय विद्महे	कामदेवाय धीमहि	तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।
नारायण-गायत्री—नारायणाय विद्महे	वासुदेवाय धीमहि	तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।
नृसिंह ,, —वज्रनखाय ,,	तीक्ष्णदंष्ट्राय ,,	,, नरसिंहः ,,।
राम ,, —दाशरथाय ,,	सीतावल्लभाय ,,	,, रामः ,,।
शिव ,, —तत्पुरुषाय ,,	महादेवाय ,,	,, रुद्रः ,,।
गणेश ,, —तत्पुरुषाय ,,	वक्रतुण्डाय ,,	,, दन्ती ,,।
शक्ति ,, —सर्वसम्मोहिन्यै ,,	विश्वजनन्यै ,,	तन्नः शक्तिः ,,।
लक्ष्मी ,, —महालक्ष्म्यै ,,	महाश्रियै ,,	,, श्रीः ,,।
सरस्वती ,, —वाग्देव्यै ,,	कामराजाय ,,	,, देवी ,,।
गोपाल ,, —कृष्णाय ,,	दामोदराय ,,	,, विष्णुः ,,।
सूर्य ,, —आदित्याय ,,	मार्तण्डाय ,,	तन्नः सूर्यः ,,।

—इत्यादि इष्टदेवताके अनुसार भिन्न-भिन्न गायत्री हैं। उनका १०८ अथवा कम-से-कम १० बार जप करना चाहिये। जपके समय सूर्यमण्डलमें अपने देवताका चिन्तन करना चाहिये। तदनन्तर संहारमुद्रासे देवताको अपने हृदयमें लाकर स्थापित करना चाहिये। स्नानविधिमें कहे हुए ढंगसे तर्पण भी कर लेना चाहिये।

सन्ध्या और तर्पण आभ्यन्तर भी होते हैं। उनका भी यहीं उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। कुण्डलिनी शक्तिको जागरित करके उसे मूलाधारादि-क्रमसे सहस्रारमें ले जाकर परम शिवके साथ एक कर देना ही सन्ध्या है। आभ्यन्तर तर्पण भी इसी प्रकारका होता है। मूलाधारसे उत्थित चन्द्र-सूर्य-अग्निस्वरूपिणी कुण्डलिनीको परमबिन्दुमें सन्निविष्ट करके उससे निकलते हुए अमृतके द्वारा ही देवताओंका तर्पण करना चाहिये। ऐसा भी कहा गया है कि ब्रह्मरन्ध्रके नीचे आज्ञाचक्रमें चन्द्रमण्डलमय पात्र है। उसको अमृतधारासे परिपूर्ण करके उसीके द्वारा इष्टदेवताका तर्पण करना चाहिये। तर्पणके अनुरूप ही ध्यानकी भी व्यवस्था है। कहा गया है कि किरणोंमें, चन्द्रमामें, सूर्यमें और अग्निमें जो ज्योति है उसको एकत्र करके केन्द्रित कर दे और फिर सबको महाशून्यमें विलीन करके पूर्णरूपसे स्थित हो जाय। यह निरालम्ब स्थिति ही योगियोंका ध्यान है। इसके पश्चात् पूजामण्डपमें प्रवेश करना चाहिये। पूजाकी सामग्री, पूजाकी विधि आदिपर क्रमशः विचार किया जायगा। हिन्दू साधनाकी एक-एक क्रिया साक्षात् परमात्मासे ही सम्बन्ध रखती है और साधकको सर्वविध उन्नतिदान करनेमें समर्थ है। विचारशील पुरुषोंको चाहिये कि वे उनपर विचार करें और उनका अनुष्ठान करें। इस प्रकार अपनी प्राचीन शक्ति और शान्तिका संग्रह करके अभ्युदय और निःश्रेयसका लाभ करें।

शा०

आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें श्रौतकर्मोंका उपयोग

(लेखक—पं० श्रीरमापतिजी मिश्र)

आत्मज्ञानकी प्राप्ति और श्रौत कर्मका परस्पर कार्य-कारणसम्बन्ध है। आत्मज्ञानकी प्राप्ति कार्य है और श्रौतकर्म कारण हैं। आत्मज्ञानका तात्पर्य है आत्मविषयक विस्मृतिकी सर्वतोभावेन निवृत्ति। सर्वतोभावेन आत्मविस्मृतिके नाशके उत्तरकालमें ही आत्मा भेदेन भासमान प्रपञ्चका स्वस्वरूपाभेदेन अनुभव करता है और संशयरहित होकर अपने स्वरूपका अनुभव करता है। यह अनुभव भी व्यावहारिक है। इस दशामें अनुभवकर्ता और अनुभवका विषय—इन दोनोंके स्वरूपमें भेद विद्यमान रहता है। देहविशेषके अभिमानमें यह दोष है कि वह भेदबुद्धिको सुरक्षित रखता है। 'शिवः केवलोऽहम्', 'वासुदेवः सर्वम्', 'ऐतदात्म्यमिदम्', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि वाक्योंके द्वारा यद्यपि परमार्थ अद्वैतका उपदेश दिया गया है, परन्तु इन वाक्योंके शाब्दबोधसे जो बोध होता है, वह व्यावहारिक ही है। इनके शाब्दबोधमें उद्देश्यविधया तथा प्रतियोगिविधया व्यावहारिक वस्तुका भान होता है। 'शिवः केवलोऽहम्' इस वाक्यके शाब्दबोधमें उद्देश्यविधया भासमान अहमर्थ व्यावहारिक वस्तु है। 'वासुदेवः सर्वम्' इस वाक्यके शाब्दबोधमें उद्देश्यविधया भासमान सर्वशब्दार्थ व्यावहारिक वस्तु है। 'ऐतदात्म्यमिदम्' इस वाक्यके शाब्दबोधमें उद्देश्यविधया भासमान इदमर्थ व्यावहारिक वस्तु है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस वाक्यके शाब्दबोधमें प्रतियोगिविधया भासमान नानाबोध्य प्रपञ्च व्यावहारिक वस्तु है। अनुभवका विषय व्यावहारिक हो या अनुभवका कर्ता व्यावहारिक हो, यदि वह वाक्यार्थके द्वारा ज्ञात होता है तो ज्ञान व्यावहारिक कहा जाता है। यद्यपि इन वाक्योंका तात्पर्यार्थ व्यावहारिक वस्तुओंकी स्वतन्त्र सत्ताका अभावदर्शन है अर्थात् सर्व जायमान वस्तुओंका अधिष्ठान परमात्मा ही निरधिष्ठान होनेसे स्वतन्त्र और सत् है तथा व्यवहारमें प्रतीयमान पदार्थ साधिष्ठान होनेसे परतन्त्र और मिथ्या है—इस अर्थका समर्थक है। तथापि तात्पर्यार्थके शाब्दबोधोत्तरकालभावी होनेसे वह शाब्दबोधकी मर्यादासे अलग नहीं जा सकता।

ऊपर यह लिखा गया है कि 'आत्मज्ञानका तात्पर्य है आत्मविषयक विस्मृतिका सर्वतोभावेन नाश'। यहाँ यह नहीं स्पष्ट किया गया है कि आत्मविषयक विस्मृति किसको होती है। आत्मा तो विषयी है, जगत्को विषय करता है; वह किसकी स्मृति या विस्मृतिका विषय बनता है। ज्ञान-अज्ञान, स्मृति और विस्मृति—ये सभी केवल चेतनके धर्म हैं; आत्मासे अतिरिक्त मन, इन्द्रिय, शरीर—ये सभी अचेतन

(जड) हैं। ये आत्माको ज्ञानरूपी सामग्रीका अभाव होनेसे विषय बनानेमें असमर्थ हैं। इस प्रश्नात्मक जिज्ञासाके शमनार्थ आत्मविषयक विस्मृतिका स्पष्टीकरण आवश्यक है। वह यह है—

अचिन्त्यशक्ति होनेके कारण आत्माके सम्बन्धमें किसी भी कल्पनाकी असम्भावनाको अवकाश नहीं है। स्वप्न इस सिद्धान्तका साक्षी है। आत्मा स्वप्नावस्थामें निज-कल्पित जगत्‌में कभी-कभी अपने सद्भाव तथा अभावका भी अनुभव करता है। जाग्रत्‌में भी आत्मा नहीं है; आत्मा देहादिसे अतिरिक्त तत्त्व है, परन्तु उसका मान परमाणु है; आत्मा स्वतन्त्र तत्त्व है, मान उसका मध्यम है, अर्थात् जिस देहमें रहता है, उसके मानके समान ही उसका मान है; आत्मा व्यापक है; आत्मा है, परन्तु द्रव्यस्वरूप नहीं है—क्षणिक विज्ञानस्वरूप है; आत्मा है, नित्य है, व्यापक है, ज्ञानस्वरूप है; आत्मा और परमात्मा भिन्न हैं; आत्मा और परमात्मामें वास्तविक भेद नहीं है—इत्यादि अनेक रूपसे आत्मा अपने स्वरूपका अनुभव करता है। यही आत्मविषयक विस्मृति है। शुद्ध-बुद्ध मुक्त-स्वभाव व्यापक आत्माका सृष्टिगत सर्व पदार्थोंमें भान होना आत्मज्ञान है। यही आत्मविषयक विस्मृतिका सर्वतोभावेन नाश है। इसकी प्राप्तिके साधन चिरकालानुष्ठित श्रौतकर्म हैं। उसका प्रकार यह है—

परमात्माने क्रीडाके लिये इस जगत्‌की कल्पना की है। यह कल्पित जगत् अमृतमय है, वैसे ही विषमय भी है। शास्त्र और शास्त्रोक्त कर्मसे उदासीन होकर जो देहाभिमानी जीव इन्द्रियोंके वशमें हो जाता है, उसकी भावना आसुरी बन जाती है। आसुरभावापन्न वह जीव आत्मज्ञानसे शनैः-शनैः दूर होता जाता है अर्थात् उसको आत्मविषयक विस्मृति अपनाने लगती है। आसुरी सृष्टिके उपभोगार्थ कल्पित सामग्रीको प्राप्त कर वह जीव अधिकाधिक उन्मत्त बनता जाता है। जगत्‌की अशान्तिका निमित्त बनता जाता है। अशान्त जगत्‌को देखकर प्रसन्न होने लगता है। अशान्त जगत्‌को ही उन्नत मानने लगता है। यह उन्मत्तता उस देहाभिमानी जीवको अनेक प्रकारकी दुर्गतियोंमें निमग्न कर देती है। जगत्‌को विषमय माननेकी परिस्थितिका दर्शन करा देती है।

जो देही सद्भाग्यवश सत्पुरुषोंकी सङ्गतिको सौभाग्य समझने लगता है, उसको शास्त्र और शास्त्रविहित कर्मोंमें श्रद्धा उत्पन्न होने लगती है। वह शास्त्रका अभ्यासी बननेकी इच्छाको सफल बनानेकी चेष्टा करने लगता है। अधिकारके अनुसार शास्त्रविहित कर्मको करने लगता है। ईश्वरीय विशिष्ट शक्तिसे सम्पन्न देवताओंसे अभिमत पदार्थोंकी प्राप्ति और प्राप्त पदार्थोंको श्रौतकर्मोंके द्वारा देवताओंके अधीन करनेको अपना कर्तव्य समझने लगता है। (आरम्भकालमें भोगकी लिप्साके प्रबल रहनेसे वह देही यह मानता है कि श्रौत-कर्मोंका फल है केवल भोग और उपभोगके योग्य पदार्थोंकी प्राप्ति।) जिस समयसे यह भावना उत्पन्न होती है, उसी समयसे आसुरी भावना क्षीण होने लगती है और दैवी भावना प्रबल। ज्यों-ज्यों दैवी भावना प्रबल होने लगती है, त्यों-ही-त्यों आत्मविस्मृति क्षीण होने लगती है। यह आत्मविस्मृतिकी क्षीणताका आरम्भकाल ही आत्मज्ञानका आरम्भकाल है अथवा आत्मोपासना या उसकी साधनाका काल है।

आत्मविषयक विस्मृतिका जन्म अज्ञात है। इसके कालकी इयत्ताका निर्णय अशक्य है। इसका नाश दीर्घकालसे होता है। श्रौत क्रियाएँ दीर्घकालपर्यन्त अनुष्ठित होनेपर साधनाका स्वरूप ग्रहण करती हैं। श्रौतकर्मोंका कर्ता भी दीर्घकालतक निरन्तर श्रौतकर्मोंके अनुष्ठानके पश्चात् साधक कहलाने योग्य बनता है। साधक आरम्भकालमें फलकी इच्छासे श्रौतकर्ममें प्रवृत्त होता है। देवताप्रदत्त पवित्र सामग्रीके सेवनसे उसका अन्तःकरण निर्मल बनता जाता है (पवित्र पदार्थके सेवनसे निर्मलता प्राप्त होती है। पवित्र पदार्थ वे ही हैं, जो शास्त्रसम्मत देवतोपासनासे प्राप्त हैं।) अन्तःकरणके निर्मल हो जानेपर साधक संयोगज फलसे उदासीन होकर शान्तिके पथपर आरूढ हो जाता है। शान्तिके मार्ग अनेक हैं। साधक यदि नकली न हो तो वे सभी मार्ग शान्तिके भवनतक पहुँचानेमें समर्थ होते हैं। (साधककी शुद्धताके लक्षण हैं शम, दम, उपरति तितिक्षा आदि सद्गुण।) शान्तिभवनकी प्राप्ति, आत्मविषयक विस्मृतिकी सर्वतोभावेन निवृत्ति—इन दोनों वाक्योंका तात्पर्यार्थ एक-सा ही है।

साधना-तत्त्व

(लेखक—श्रीताराचंदजी पांड्या)

तुम्हारा उद्देश्य आनन्द—स्वाधीन, अविनाशी, चिन्ता-रहित, भयरहित पूर्ण सुख है। यह इच्छामें सम्भव नहीं, क्योंकि इच्छा स्वयं ही दुःख है और अभाव (दुःख) का चिह्न है। यह राग (रुचि) में भी सम्भव नहीं; क्योंकि राग होता है किसी खास वस्तु—बल्कि किसी वस्तुकी खास अवस्थासे ही, जो कि सदा और सर्वथा तुम्हारे वशमें नहीं है और जिससे सुख पाना भी तुम्हारे रागकी मंदता और स्थिरता—तुम्हारे सन्तोष और तुम्हारे दृष्टिकोणपर ही निर्भर है। और किसी खास वस्तुमें रागका अर्थ उस खास वस्तुके प्रतिकूलसे (जिसकी दुनियामें कभी कमी नहीं) द्वेष है, जो दुःखका ही दूसरा नाम है।

इच्छाका सर्वथा अभाव तभी हो सकता है जब यह प्रत्यय हो जाय कि शरीर (तन, मन, वचन) और सांसारिक सब बाह्य पदार्थोंसे स्वाधीन (अतः भिन्न), अविनाशी, अखण्ड, स्वतः आनन्दमय और स्वयंपूर्ण मैं हूँ।

राग-द्वेषका नाश अथवा द्वेषरहित राग तभी हो सकता है जब सब कालोंकी, सब वस्तुओंकी सब अवस्थाओंके प्रति (अर्थात् उनके ज्ञानके प्रति) एक-सा राग हो अथवा सबके साथ सर्वथा उपेक्षा (उदासीनता) हो। दोनों बातें एक ही हैं। यही समत्व-भाव है और इसीको वीतरागता भी कहते हैं।

इन्हीं तत्त्वोंको ठीक तौरसे जानकर उनमें दृढ़ श्रद्धान करना और तदनुसार अपने आचरणको ढालना—यही साधनाका सार है। इसी श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र्यकी एकतासे आनन्दकी उपलब्धि होती है। सर्वज्ञता और पूर्णता-की भी तभी सिद्धि होती है।

इनमें श्रद्धान सबसे पहले जरूरी है; क्योंकि श्रद्धान ज्ञानके पश्चात् होनेपर भी उस ज्ञानको अर्थ-साधक बनाने वाला होता है और श्रद्धान ही उद्देश्यको निर्मित और निश्चित कर उसे स्थिर रखता है। चारित्र्य तो श्रद्धानका ही प्रस्फुटीकरण—विकास है।

वे श्रद्धालु जो इच्छा-पाशसे अपेक्षाकृत अधिक जकड़े हुए हैं, पर सांसारिक जीवनमें चरम लक्ष्यको सामने रखकर इन तत्त्वोंका अपनी परिस्थिति और शक्तिके अनुसार आचरण करते हैं और दूसरोंको आचरण करनेकी सुविधा देते हैं, सद्गृहस्थ कहलाते हैं।

जो इस पथपर आगे बढ़े हुए हैं और जिनका प्रकट और अप्रकटरूपसे एकमात्र यही लक्ष्य है, यही व्यवसाय है, वे संत कहलाते हैं।

जो इनसे सर्वथा और सदाके लिये तन्मय—तत्स्वरूप हो जाते हैं, वे जीवन्मुक्त, सिद्ध या परमात्मा कहलाते हैं। वे ही आदर्श भी हैं—उन्हींके उदाहरण और स्वरूपसे अज्ञानी जीवोंको मार्ग-ज्ञान और स्वरूप-ज्ञान होता है और उत्साहहीनोंका उत्साह तथा साहसहीनोंका साहस जागरित होता है। इसलिये वे साधकोंके लिये साधनस्वरूप भी हैं।

नदी-नाव-संयोग

दूलन यह परिवार सब नदी नाव संजोग।
उतरि परे जहँ तहँ चले सबै बटाऊ लोग॥
दूलन यहि जग आइके का को रहा दिमाक।
चंद रोज को जीवना आखिर होना खाक॥
दूलन काया कबर है कहँ लगि करौं बखान।
जीवत मनुआँ मरि रहै फिरि यहि कबर समान॥

—दूलनदासजी

सब साधनोंका सार

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

बड़ी सुन्दर धुन थी—पकी लगन थी !

मैं स्वयं आश्चर्य करता हूँ कि कैसे उतना अधिक जप, उतना पाठ, चिरस्थायी प्रगाढ़ ध्यान और वह वज्रको भी विदीर्ण करनेवाली व्याकुलता उन्होंने प्राप्त की थी !

मेरे आश्चर्यकी तब सीमा नहीं रहती जब वे कहते, 'भैया, जीवनमें तनिक भी शान्ति नहीं ! अन्तरका आनन्द मुझसे कोसों दूर है !! विकारोंका भण्डार हृदयसे हटता ही नहीं !!!' उनके वचनोंको असत्य भी कैसे मान लूँ ?

मैं सोचता 'जब इतने उत्कट साधनसे भी शान्ति नहीं मिलती, विकार दूर नहीं होते, भगवद्दर्शन दुर्लभ हैं, तो इस युगमें ये सब कोरी कल्पना हैं।' मैं प्रायः अविश्वासी हो चुका था—धर्म और ईश्वरकी ओरसे।

एक दिन मैंने उन्हें देखा—न संसारकी सुधि थी और न शरीरकी। मतवाले-से झूमते और कुछ गुनगुनाते कहीं नाककी सीधमें जा रहे थे। आनन्दसे उनका मुख खिला हुआ था। बड़ी कठिनतासे उन्हें रोककर सावधान कर पाया।

पर्याप्त टालमटोल करनेके पश्चात् उन्होंने मेरे कण्ठसे कहा, 'बन्धु, तुम भूलते हो! मैंने आजतक साधन किया ही नहीं था। इतना सब करके सोचता था कि मैं बड़ा साधन-निष्ठ हूँ और दूसरे तुच्छ सांसारिक विषयी प्राणी। मेरा अहङ्कार मेरे पीछे बँधे भैसके पँड़वे (बच्चे) की भाँति मेरी बटी रस्सियोंको सफाचट करता जाता था।'

वे रुके—कण्ठ बहुत भर आया। कहने लगे, 'एक दिन अत्यन्त निराश हो गया। समझा कि इस जीवनमें श्यामसुन्दर मुझे नहीं मिलेंगे। हताश होकर गया था माता जाह्नवीकी गोदमें शरण लेने। कूदने ही वाला था कि मुझे एक दोहा स्मरण आ गया। जैसे किसीने बिजलीके तारसे मेरे स्पर्श करा दिया हो। धम्से बैठ गया। पीछे कोई खुलकर हँस पड़ा। मैंने मुख फेरा—वही नटखट था।'

वे आगे बिना कुछ बोले फूट-फूटकर रोने लगे और रोते-रोते ही उठकर एक ओर चल पड़े। मैं उनके वर्णनसे इतना स्तब्ध हो गया था कि उन्हें रोक भी नहीं सका। मुझसे कुछ साधन-भजन तो होता नहीं; कभी-कभी उनके उस दोहेकी आवृत्ति अवश्य कर लेता हूँ। दोहा कोई यन्त्र-मन्त्र नहीं, सीधा-सा पुराना दोहा है—

जब लगि गज निज बल करयो, सरयो न एकौ काम।
बल थाक्यो ताक्यो प्रभुहि, आये आधे नाम॥

राम भजता है, वही धन्य है

मन क्रम बचन बिचारि कै राम भजे सो धन्य॥
राम भजे सो धन्य धन्य बपु मंगलकारी।
रामचरन अनुराग परम पद को अधिकारी॥
काम कोध मद लोभ मोह की लहरि न आवै।
परमातम चैतन्य रूप महँ दृष्टि समावै॥
ब्यापक पूरन ब्रह्म है भीखा रहनि अनन्य।
मन क्रम बचन बिचारि कै राम भजे सो धन्य॥

—भीखा साहेब

साधनाकी उपासना

(लेखक—पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ)

संसारमें मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार अवस्था और व्यवस्था देखकर अपने-अपने उद्देश्य स्थिर कर लेते हैं। इसीलिये इस त्रिगुणात्मक संसारमें मनुष्योंके भिन्न-भिन्न उद्देश्य रहते हैं, जिनकी प्राप्तिके लिये वे नाना प्रकारकी साधना करते रहते हैं। कभी-कभी वे अपना उद्देश्य तो कुछ और ही बनाते हैं, पर—

'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'

'निग्रहः किं करिष्यति ?'

प्रकृति उन्हें किधर ही ले जाती है। प्रकृतिके इस अज्ञात, अलक्षित प्रभावको मनुष्य समझता नहीं और जब उसको स्वनिर्धारित उद्देश्यकी प्राप्ति नहीं होती, तब वह उस अप्राप्तिके लिये किसी-न-किसीको दोषी ठहराता रहता है। अज्ञानी प्राणी यह नहीं देखता या समझता कि वस्तुतः दोष है उसीके अज्ञानका—मिथ्याज्ञानका, जो कि उसे अपनी प्रकृतिको समझने नहीं देता। फिर वह यह भी नहीं सोचता कि—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

सबके ऊपर, सबके भीतर एक ऐसी अदृश्य प्रबल शक्ति है, जो प्राणियोंको स्वसंकेतानुसार घुमाती रहती है। विवश होकर मनुष्यको कठपुतलीकी तरह नाचना पड़ता है।

इसलिये उद्देश्य स्थिर करनेके पूर्व मनुष्यको खूब सोचना-विचारना चाहिये। यथार्थ उद्देश्यको स्थिर कर लेनेपर भी वह उद्देश्य कभी कर्म-वैगुण्य, कभी कर्तृ-वैगुण्य, कभी साधन-वैगुण्य, इस प्रकार कभी एक वैगुण्यसे, कभी दो वैगुण्योंसे और कभी तीन वैगुण्योंसे सिद्ध नहीं होता। उद्देश्य ठीक हो, साधन भी ठीक हो, करनेवाला कर्ता भी सावधान रहे, तब साधना सफल समझो।

संसारके समस्त उद्देश्योंका समावेश धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारमें समझिये। एक-एकके भेद करने बैठें तो अल्पज्ञ प्राणी इनका अन्त नहीं पा सकता। पर उपर्युक्त चारमें सब आ जाते हैं। इसीलिये यदि उपर्युक्त चारमें एक उद्देश्य हो, दो हों, तीन हों अथवा चारों हों तो उनके साधना-प्रकार भी भिन्न-भिन्न होंगे, यह स्पष्ट है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

साधनाके लिये (१) उत्तम अधिष्ठान चाहिये।

साधनाके लिये (२) उत्तम सावधान कर्ता चाहिये।

साधनाके लिये (३) उपयुक्त उपकरण चाहिये।

साधनाके लिये (४) उपयुक्त विविध प्रयत्न चाहिये।

और सबसे बढ़कर चाहिये (५) दैवकी अनुकूलता—जिसके बिना प्रथम चार व्यर्थ हो जाते हैं। जब यह तत्त्वकी बात है, तब जो मूर्ख अपने अज्ञान—मिथ्या ज्ञानसे यही समझ बैठता है कि सब कुछ मैं ही करनेवाला हूँ, वह दुर्मति यथार्थ रीतिसे न देखता है, न समझता है।

साधना क्या है ?

सब प्रकारके उपकरण प्राप्त हो जानेपर उनके द्वारा उद्देश्य-प्राप्तिकी ओर बढ़ना ही स्थूल रूपसे साधना है; पर उस साधनामें भक्ति भी परम आवश्यक है, जिसके बिना साधना न चलती है, न आगे बढ़ती है, प्रत्युत ठप-सी हो जाती है।

संसारकी साधारण-साधारण इच्छाओंकी पूर्तिमें भी जब इतनी-इतनी विघ्न-बाधाएँ आ जाती हैं, तब उच्चतम उद्देश्योंकी प्राप्तिमें क्या होता होगा ? इसका अनुमान सहजमें ही लगाया जा सकता है। ययाति-जैसे महाराजको भी अन्तमें हारकर कहना अथवा मानना पड़ा था—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

भला, कभी किसीने अग्निमें घृत डाल-डालकर उसको बुझानेमें सफलता प्राप्त की है ? रामका नाम लो। यह तो हुई कामकी बात।

धर्मको ही लीजिये।

पहले धर्मके तत्त्वको ही समझना कठिन समझ लें तो उसपर चलना उससे भी सहस्रगुण कठिन है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

तीक्ष्ण छुरेकी धार है, तीक्ष्ण छुरेकी धार ! चलना बड़ा कठिन !

अर्थकी भी यही दशा है ।

कामके संकुचित अर्थ न किये जायँ तो अर्थ भी उसीमें आ जाता है । अब रही मोक्षकी बात । जिन्होंने योग-दर्शनका सूक्ष्म अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि मोक्षकी साधना कितनी कठिन है । वह किसीको एक जन्ममें सिद्ध हो जाय तो समझ लेना चाहिये कि पूर्वजन्मका कोई तीव्र पुण्य फला; नहीं तो वह तो—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

—की बात हो जाती है ।

साधना शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है । अ-आ-इ-ई से लेकर पूर्ण विद्वान्, महामहोपाध्याय बननेतक जो भी श्रद्धायुक्त कर्म है, सब साधनामें आ जाता है । ए-बी-सी-डी से लेकर एम्० ए० होनेतक जो भी कर्म हैं, वे सब साधनामें आ जाते हैं । चित्तवृत्तिनिरोधसे लेकर कैवल्यप्राप्तितक जो भी करना पड़ता है, सब साधनामें आ जाता है । पर यह ध्यान रहे सात्त्विकप्रधान भावनासे ओत-प्रोत साधना ही सच्ची साधना है । राजसी तथा तामसी भावनासे प्रयुक्त साधना साधना नहीं । सच्ची साधना आध्यात्मिक वातावरण-में जन्म लेती है, पलती है, पुष्ट होती है, पनपती है, खेलती है, कूदती है, आमोद-प्रमोद करती है । राजसी साधना संसारके मिश्रित वातावरणमें उत्पन्न होती है और वह कभी मुरझाती है, कभी खेलती है, कभी हँसती है, कभी रोती है, कभी अन्धकारमें ठोकरें खाती है, कभी प्रकाशमें खिल उठती है और तामसी साधना तो यही नहीं समझ सकती कि वह कहाँ है, क्यों है, उसको क्या करना है, वह दीखनेमें सबसे अच्छी, पर वैसे सबसे बुरी रहती है ।

उद्देश्य—सात्त्विक

कर्ता—सात्त्विक

साधन—तदनुरूप सात्त्विक

कर्म—तदनुरूप सात्त्विक

श्रद्धा—तदनुरूप सात्त्विक

तब साधना फलती-फूलती, करनेवालोंको आनन्द देती, संसर्गमें आनेवालोंको भी हर्षाती और पूर्णरूपसे फलने-फूलने-पर संसारको भी नीचेके वातावरणसे ऊपर उठाती हुई एक अनिर्वचनीय आनन्द देती है । बस, फिर उस आनन्दकी व्याख्या नहीं हो सकती ।

उपनिषदोंमें नाना प्रकारके आनन्दोंकी व्याख्या है—

मनुष्योंका आनन्द ।

चक्रवर्ती राजाका आनन्द ।

देवोंका आनन्द ।

उच्चकोटिके देवोंका आनन्द ।

सबसे बड़ा आनन्द मोक्षानन्द है, जिसके एक बिन्दुमें वह आनन्द होता है, जिसकी तुलना समस्त संसारके समस्त अमूल्य पदार्थोंके आनन्द भी मिलकर नहीं कर सकते ।

वह मनुष्य धन्य, उसका कुल धन्य, उसकी जाति, उसका देश, उसका राष्ट्र धन्य—जिसमें ऐसा व्यक्ति, संसारसे ऊपर उठा हुआ, पाप-पुण्यसे ऊपर उठा हुआ, उत्पन्न हो जाय । भारतवर्ष धर्मभूमि है, पुण्यभूमि है । इसकी ऋषि-मुनि-महर्षि-परम्परामें ऐसे महापुरुष सदा होते चले आये हैं, जिनके कारण आजके भारतवर्षकी संकटपूर्ण अतएव हीन दशामें भी उसका सिर उसी मधुविद्याके कारण, उसी ब्रह्मविद्याके कारण, उन्हीं नाना प्रकारके साधन और साधनाओंके कारण, उन्हीं सिद्ध-साधक महा-महा महापुरुषोंके कारण, उन्हीं सायुज्य, सालोक्य, सामीप्य पदोंके कारण, उसी कैवल्यपदके कारण अब भी संसारमें सबसे ऊँचा उठा हुआ है । यही नहीं, अपि तु जहाँ ऐसे महापुरुष बैठ-बैठ-कर तपस्या-साधन कर गये, वे पवित्र हिमालयकी अधित्यकाएँ, उपत्यकाएँ, गुफाएँ भी अबतक संसारसे ऊपर सिर उठा रही हैं । इसीलिये हम ऋषियोंके ही शब्दोंमें उन ऋषियोंको नमस्कार करके इस तुच्छ लेखको समाप्त करते हैं—

'ॐ नमः परमर्षिभ्यः, नमः परमर्षिभ्यः ।'

साधक, साधना और साध्यका सम्बन्ध

(लेखक—त्यागमूर्ति गोस्वामी श्रीगणेशदत्तजी महाराज)

साधक, साधना और साध्यका परस्पर वही सम्बन्ध है जो कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका है। साधक भक्त है, साधना उसकी भक्ति है और साध्य उसका आराध्य भगवान् है।

साधनाके इच्छुक साधकके लिये यह आवश्यक है कि वह विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुतासे सम्पन्न हो और सांसारिक विषय-वासना, राग-द्वेष, काम, क्रोध, मोह आदिके कीचड़से बाहर निकल गया हो। इसमें सन्देह नहीं कि इनसे बाहर निकलना भी एक महान् साधना है, जिसमें बहुत ही थोड़े व्यक्ति सफल हो सकते हैं।

साध्यतक पहुँचनेके लिये साधकको दो बातोंकी आवश्यकता होती है—पहली अपने हृदयमें उत्कट अभिलाषा-का होना और दूसरी मन्त्रशक्तिका आश्रय।

साधकके हृदयमें साध्यकी प्राप्तिके लिये इतनी अधिक उत्कट अभिलाषा होनी चाहिये, जिसके सामने अन्य सभी सांसारिक इच्छाएँ-अभिलाषाएँ समाप्त हो जायँ। प्रायः कहा जाता है कि साधकके हृदयमें साध्यकी प्राप्तिके लिये उसी प्रकारकी अभिलाषा होनी चाहिये, जैसी किसी युवतीके हृदयमें अपने प्रियतमको प्राप्त करनेके लिये होती है। पर मैं समझता हूँ, साधकके हृदयमें इससे भी अधिक उत्कट अभिलाषाका होना आवश्यक है। ऐसी अभिलाषा, जो हृदयमें साध्यकी प्राप्तिके लिये बेचैनी और तड़प पैदा कर दे, जिससे साधक साध्यके ध्यानमें ही पागल हो जाय, सिद्धिका लक्षण है।

एक बार किसी शिष्यने अपने गुरुजीसे पूछा कि 'महाराज! भगवान्की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है?' गुरुजीने कहा, 'कुछ समयके बाद बताऊँगा।' दोनों नदीमें स्नान करने चले गये। जब शिष्य स्नान करनेके लिये नदीके मध्यमें पहुँचा तो गुरुजीने उसके सिरपर जोरसे पैर रखकर पानीके नीचे दबा दिया। कुछ ही पलोंमें शिष्य घबड़ा गया और छटपटाने लगा। अन्तमें कुछ देरतक बहुत प्रयत्न करनेके पश्चात् पानीके बाहर निकल सका। उस समय उससे गुरुजीने पूछा, 'जिस समय तुम पानीमें डूबे जाते थे, तुम्हारे हृदयमें क्या विचार आते थे?' शिष्यने उत्तर दिया, 'मेरे हृदयमें केवल पानीसे ऊपर निकलनेकी इच्छा थी, उसीके लिये मैं तड़प रहा था, मुझे और किसी भी वस्तु या बातका जरा भी ध्यान न था।' गुरुजीने कहा—'बस, जब इस प्रकारकी उत्कट अभिलाषा और छटपटाहट भगवान्की प्राप्तिके लिये होती है, तभी भगवान्की प्राप्ति हो सकती है।'

अशोकवाटिकामें पहुँचकर जब श्रीहनुमान्जीने सीताजीको रामचन्द्रजीके लिये सन्देश देनेको कहा तो श्रीसीताजीने अपनी दशा यह कहकर व्यक्त की—

> जिमि मनि बिनु व्याकुल भुजग जल बिनु व्याकुल मीन।
> तिमि देखे रघुनाथ बिनु मैं तड़फत हूँ दीन॥

बिना मणिके सर्प जिस प्रकार तड़पने लगता है या बिना जलके मछली जिस प्रकार छटपटाती है, उसी प्रकारकी तड़प और छटपटाहट साधकके हृदयमें होनी आवश्यक है।

उत्कट अभिलाषाके अतिरिक्त साधकको साध्यतक पहुँचनेके लिये *तीव्र सङ्कल्पभावना या मन्त्राश्रयकी* आवश्यकता है। वह मन्त्रके मोहन, वशीकरण आदि प्रयोगोंके द्वारा अथवा केवल एक ही मन्त्रका दृढ़ विश्वाससे जप करता हुआ सफल हो सकता है। उदाहरणके लिये यदि 'ओम्'—इस महामन्त्रका जप करता हुआ साधक अपने हृदयमें यह ध्यान करता रहे कि—'मैं अ-उ-म्, सत्-चित्-आनन्द हूँ। मैं स्थूल-सूक्ष्म-कारण, मन-बुद्धि-अहङ्कार, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, प्राण-अपान-उदान-व्यान-समानसे परे साक्षी सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण ब्रह्म हूँ। काम, क्रोध और मोह मुझतक पहुँच भी नहीं सकते। मैं सर्वप्रकाश, सर्वज्ञान और सर्व आनन्दका घर हूँ। मैं दृश्य और द्रष्टासे परे हूँ, प्रकृतिका अधिष्ठाता हूँ। सोऽहम्, सोऽहम्। मैं भगवान् ही हूँ, और कुछ नहीं।' मन्त्राश्रय लेकर इस प्रकारकी भावना करता हुआ साधक साध्यतक पहुँच सकता है।

साध्यतक पहुँचनेके लिये एकवृत्तिका होना अत्यन्त आवश्यक है। एक बार गुरु द्रोणाचार्यजीने अपने शिष्योंकी परीक्षाके लिये एक ऊँचे पीपलकी शाखाके ऊपर एक कृत्रिम पक्षी रख दिया और उसके मस्तकपर एक काला बिन्दु लगा दिया। उस बिन्दुपर बाण मारनेके लिये उन्होंने अपने शिष्योंसे कहा। जब दुर्योधन लक्ष्यभेदनके लिये आगे आये तो गुरुजीने पूछा—'तुम्हें हम सब लोग, पीपलका वृक्ष, पक्षी और उसके सिरपर बिन्दु दिखायी देता है?' दुर्योधनने उत्तर दिया—'जी हाँ, मैं आपको, अपने सहपाठियों-को, पीपलको और उसके ऊपर पक्षीको तथा उसके सिरपर

काले बिन्दुको—सबको अच्छी तरह देख रहा हूँ।' गुरुजीने कहा—'तुम पीछे चले जाओ, तुमसे लक्ष्य-भेदन नहीं होगा।' इसी प्रकार एक-एक करके सभी शिष्योंसे गुरुजीने यही प्रश्न पूछा और उन्होंने प्रायः यही उत्तर दिया। जब अर्जुनकी बारी आयी तो उससे भी यही प्रश्न पूछा गया—उसने उत्तर दिया, 'गुरुजी ! मुझे न आप दिखायी देते हैं, न अपने सहपाठी। पीपलका पेड़ और पक्षी मुझे कुछ भी नहीं दिखायी देता। केवल एक काला बिन्दु मेरी दृष्टिमें आता है। बाकी सब अन्धकार-ही-अन्धकार प्रतीत होता है।' गुरुजीने कहा—'बस, मैं समझ गया कि तुम लक्ष्य-भेदन कर सकते हो।'

ठीक इसी प्रकार साध्यकी प्राप्तिके लिये साधककी दृष्टि होनी चाहिये। उसके लिये संसारकी सारी क्रियाएँ, सारी घटनाएँ शून्य हो जानी चाहिये। उसके सम्मुख केवल साध्यके अतिरिक्त किसी भी वस्तुका चित्र नहीं होना चाहिये। जिस प्रकार लक्ष्य तभी बेधा जा सकता है जब तीर चलानेवाला, तीर और लक्ष्य बिल्कुल एक सीधमें हों, इसी प्रकार साधक, साधना और साध्यमें भी एकवृत्तिका होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस समय साधक अपने अन्तर्गत साध्यके लिये उत्कट अभिलाषा और तड़प पावे, जिस समय उसे मन्त्र और मन्त्रेश्वरका ऐक्य प्रतीत हो, जिस समय उसे अपनेमें, साधनामें और साध्यमें एक ही वृत्ति दिखायी दे, उस समय उसे समझ लेना चाहिये कि अब वह और साध्य एक हो गये हैं, जीव ब्रह्ममें मिल गया है, भक्तको भगवान्‌ने अपना लिया है।

रामनामकी महिमा

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजियार॥
हियँ निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥
राम नाम को अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गएँ कछु हाथ नहिं अंक रहें दस गून॥
हम लखि लखहि हमार लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखहि राम नाम जपु नीच॥
राम नाम अवलंब बिनु परमारथ की आस।
बरषत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥
बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥
राम नाम कलि कामतरु राम भगति सुरधेनु।
सकल सुमंगल मूल जग गुरु पद पंकज रेनु॥
राम नाम कलि कामतरु सकल सुमंगल कंद।
सुमिरत करतल सिद्धि सब पग पग परमानंद॥
जथा भूमि सब बीजमय नखत निवास अकास।
राम नाम सब धरममय जानत तुलसीदास॥
हरन अमंगल अघ अखिल करन सकल कल्यान।
राम नाम नित कहत हर गावत बेद पुरान॥
राम नाम रति राम गति राम नाम बिस्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल दुहुँ दिसि तुलसीदास॥

—तुलसीदासजी

साधन और सिद्धि

(लेखक—स्वामी श्रीशुद्धानन्दजी भारती)

'साधना' किसे कहते हैं ?

'साधना' का अर्थ है प्रयत्न करना, उद्योग करना, लगना। साधनाका अर्थ सिद्धि भी है। आत्मानुसन्धानके मार्गमें, अपनी आत्माको परमात्मामें लीनकर 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' की अनुभूतिके पथमें हमारी जो कुछ भी आध्यात्मिक चेष्टाएँ होती हैं उन सबका नाम 'साधना' है। नदीकी धारा ऊँचे चढ़ती है, नीचे ढलती है, वन-पर्वतको लाँघती हुई बढ़ती जाती है। क्यों, किसलिये ? इसलिये कि वह अन्तमें अपने-आपको समुद्रकी गोदमें सुला दे, लीन कर दे, मिटा दे। मनुष्यकी आत्मा भी भाग्यके चढ़ाव-उतार, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और ऐसे ही जीवनके विविध खट्टे-मीठे अनन्त अनुभवोंको पार करती हुई सत्, चित् और आनन्दके एक अनन्त महासागरमें अपने-आपको ढाल देनेके लिये व्याकुल है, बेचैन है। नदीका लक्ष्य है समुद्र, मनुष्यका लक्ष्य है भगवान्। भगवान्के मार्गमें चलनेके लिये जो भी अनुष्ठान किया जाता है, जो भी व्रत लिया जाता है, वह सभी 'साधना' है और जो कुछ भी इस मार्गमें अवरोधक है, वह है अन्तराय, वह है साधनामें विघ्न।

साधनाका श्रीगणेश कहाँ और कैसे होता है ?

मनुष्यमात्र अपने भीतर एक निगूढ़, एक अव्यक्त अभावका अनुभव करता है। वह 'कुछ' खोज रहा है, चाह रहा है; परन्तु वह 'कुछ' क्या है, उसे पता नहीं। वह 'किसी' को देखना चाहता है। परन्तु वह जानता नहीं कि वह 'कोई' कौन है, कहाँ है, और कैसा है। संसारके इन बनने-मिटनेवाले चित्रोंसे, क्षण-क्षणपर बदलनेवाली वस्तुओंसे उसे स्थायी सुख, स्थायी शान्ति मिले तो कैसे ? आजका विश्वासी मित्र कल घोर शत्रु हो जाता है, दग़ा दे जाता है। स्वजन-परिजनोंसे आज घड़ी-दो-घड़ीके लिये एक हल्की-सी सुखानुभूति हुई, परन्तु कल ही उनका दुःख-दर्द देखकर रोना पड़ता है। मनुष्य आज धन-सम्पत्ति जमा करता है, परन्तु कल ही स्वयं उसके बन्धनोंमें बँधकर तड़पने लगता है, छटपटाने लगता है, उसके भारसे पिसने लगता है। इन्द्रियोंका सुख क्षणभरके लिये उसे सहला तो जाता है, परन्तु फिर सदाके लिये असन्तोष और सन्तापके अथाह सागरमें छोड़ जानेके लिये। बुद्धिकी दौड़-धूप और उछल-कूदसे जीवनकी घोर अशान्ति जाती नहीं, मनकी शङ्का मिटती नहीं। अपने ही मनके रचे हुए जेलमें मनुष्य अपने-आप कैदी है। वह प्रकाशके लिये तड़प रहा है, स्वतन्त्रताके लिये बिलख रहा है। पिंजड़ेको तोड़कर, जेलकी दीवारें लाँघकर वह बाहर आना चाहता है। परन्तु, परन्तु ''''''' परन्तु जुगनुओंसे कहीं रातका अन्धकार जाता है ? जगत्के सुख-भोगसे कहीं अन्तरकी प्यास मिटती है ? हीरे-जवाहर भी तो इस अन्धकारको छिन्न-भिन्न नहीं कर सकते, फिर बुद्धिके उच्चतम विकास और विलाससे मनका संशय कैसे मिटे ? दुनियाभरमें नाम और यशका विस्तार हो गया; परन्तु इससे उसको कौन-सा सन्तोष मिला, कहाँ भी तृप्ति मिली ? इन्द्रियोंके सुख-भोगसे क्षणभरकी जो तृप्ति-सी हुई, उसके पीछे मन सदाके लिये, चिरकालके लिये चञ्चल और क्षुब्ध हो उठा ! मन तो भावोंका, बल खाते हुए भावोंका एक सागर है, और जीवन है उस क्षुब्ध जलमें डगमगाती हुई एक नन्हीं-सी नाव। इसके सामने है रहस्योंसे भरा भविष्य, इसके पीछे-पीछे लगा आ रहा है भाग्यका मकर, किस्मतका घड़ियाल। सन्नाटा और तूफान, धूप और वर्षा, ओले और कुहरा मार्गमें आते हैं और नावकी गति-विधिको छेड़ते रहते हैं। प्रकृतिकी शक्तियोंके सामने हमारी बुद्धि कुछ काम नहीं देती। पग-पगपर वह हमें छकाती है; अब गया, तब गया ऐसा लगने लगता है। एकाएक वह देखता है कि उसकी किश्ती बुरी तरह घिर गयी है सर्वनाशी तूफानसे; और तब वह अपनेको पाता है चारों ओरसे असहाय, निराधार और निरवलम्ब। ऐसे ही समय उसके अन्तस्तलसे एक पुकार उठती है, एक हूक निकलती है—हे प्रभो ! हे मेरे स्वामी ! मुझे बचाओ, बचाओ ! मैं दीन-हीन हूँ, असहाय हूँ।

> बुद्धिर्विकुण्ठिता नाथ समाप्ता मम युक्तयः।
> नान्यत्किञ्चिद्विजानामि त्वमेव शरणं मम॥
>
> त्वमेव माता च पिता त्वमेव
> त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
> त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
> त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'हे नाथ ! मेरी मति कुण्ठित हो गयी है, मेरी सारी तर्कयुक्तियाँ समाप्त हो गयी हैं, मैं तुम्हारे सिवा कुछ भी नहीं जानता; बस, तुम ही मेरे एकमात्र शरण हो। तुम्हीं सच्चे पिता हो, तुम्हीं स्नेहमयी माता हो, तुम्हीं विपत्तिसे बचानेवाले बन्धु हो, तुम्हीं सच्चे मित्र हो; विद्या, धन और सर्वस्व, हे देवदेव ! मेरे सब कुछ तुम्हीं हो।'

हे प्रभो, हे अशरणशरण ! आज तुम्हारे सिवा मेरे लिये कोई सहारा नहीं है, कोई गति नहीं है; तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो, जीवनके आधार हो, प्राणोंके अवलम्ब हो; मुझे बचाओ, बचाओ। तुमसे प्रेम करना ही प्रेम है, तुम्हें जानना ही ज्ञान है। प्रभो ! दया कर अपने प्रेमका दान दो, अपने प्यारसे मुझे नहला दो, पवित्र कर दो; अपने ज्ञानका प्रकाश दो, जिससे मेरा अन्तर-बाहर ज्योतिर्मय हो जाय—शुभ्र ज्ञानमय हो जाय !

मनुष्यके हृदयसे जब ऐसी करुण पुकार निकलती है, तब समझना चाहिये कि यथार्थ साधनाका श्रीगणेश हुआ है।

साधनाकी आवश्यकता क्यों है ?

हर बातमें उपयोगिताको ढूँढ़नेवाले यह पूछ सकते हैं कि आखिर साधनाकी आवश्यकता किस लिये है, उससे क्या लाभ है ? क्यों न मनुष्य खाये-पीये, मौज करे, धन संग्रह करे, बम बरसावे, दुनियाको जीतकर उसकी छातीपर अपना शासन स्थापित करे, हुकूमत कायम करे ? उसे इस बातकी आवश्यकता ही क्या है कि वह भगवान् और साधनाके विषयमें सोचे-विचारे, माथापची करे ? परन्तु यह भी कोई जीवन है ? यह तो अज्ञान-तिमिरमें भटकना है ! यह जगत् त्रिगुणमयी मायाकी अनन्त क्रीडास्थली है। मनुष्य आँख-मिचौनी खेल रहा है। उसकी आँखोंपर अज्ञानकी पट्टियाँ बँधी हैं। अहङ्कारके कारण वह दुःखके गर्तमें जा पड़ा है। कभी इसे छूता है, कभी उसे, दुनियाभरकी खाक छानता फिरता है। अटकसे कटकतक, चीनसे पेरूतक चक्कर लगाता फिरता है और सुख-दुःख, हर्ष-विषादके थपेड़े खाता फिरता है। जहाँ जाता है, वहीं धक्के खाता है, दुरदुराया जाता है। कहीं भी शान्ति नहीं, सुख नहीं, स्वतन्त्रता नहीं, सन्तोष नहीं। अपने-ही-आप अपनी इच्छाओंमें आबद्ध है, वासनाओंमें जकड़ा हुआ है, अपनी ही इच्छाओंका गुलाम है। वह जितना भी सोचता-विचारता है, जितना भी हाथ-पैर मारता है, उतना ही वह दुःखोंकी जंजीरोंसे अधिकाधिक जकड़ा जाता है, उलझता जाता है।

इतनेहीमें अन्तरकी घण्टी बज उठती है और भगवान्का नाम हृदयमें गूँजने लगता है। शास्त्र एक स्वरसे कहते हैं—डंकेकी चोट कहते हैं कि भगवान् ही—एकमात्र श्रीभगवान् ही विशुद्ध आनन्द हैं, वास्तविक ज्ञान हैं, परात्पर सत्य हैं, सर्वसमर्थ प्रेम हैं। भगवान्के श्रीचरणोंके केवल एक बारके स्पर्शसे ही आँखकी पट्टी खुल जाती है, जीवन उन्मुक्त हो जाता है, सत्य उतर आता है और हृदयके अन्तस्तलमें आनन्दकी तरङ्गें उठने लगती हैं। नामका अनुसरण और भगवान्के चरणोंका स्मरण साधनाकी पहली सीढ़ी है। भगवान्के परम पावन चरणयुगल ही हमारे सच्चे आश्रय हैं, एकमात्र शरण्य हैं; और तमाम आधार व्यर्थ हैं, धोखेमें डालनेवाले हैं, भरमानेवाले हैं। भगवान्की प्राप्ति ही सच्ची प्राप्ति है; उसके बिना और सारी प्राप्ति व्यर्थ है, महान् हानि है। भगवत्-चेतनाके बिना जीवन दारुण आत्महत्या है, भयानक आत्महनन है। आजकी दुनियामें, जहाँ विज्ञानके नवीन-नवीन अनुसन्धानोंमें मनुष्यका अहङ्कार इतरा उठा है, जहाँ भोगमय साम्राज्यवादकी दानवी ज्वालासे मानवता पीड़ित एवं क्षुब्ध है—सर्वत्र इसी आत्महननका दौर-दौरा है। यह पैशाचिकता नहीं तो और क्या है कि समुद्रके गर्भमें लोहचुम्बक तारोंका जाल बिछाकर जहाजोंको डुबा देते हैं और निरीह मानवोंपर बम बरसाये जा रहे हैं ? इस अज्ञानसे मनुष्यको ऊपर उठना होगा, इस अहङ्कारसे पल्ला छुड़ाना पड़ेगा और तभी वह अपने सत्यस्वरूपकी, उस सनातन शाश्वत सत्यकी उपलब्धि कर सकेगा, जिसके लिये उसके भीतर तड़प है, व्याकुलता है, अभावका बोध है। दूसरे शब्दोंमें, उसे साधना करनी होगी और तब उसे अपने सत्यस्वरूपका—जो स्वयं श्रीनारायण है—पता लगेगा। यह साधना जीवनके लिये आवश्यक है, अनिवार्य है। जीवनमें अन्न, जल, वायु, प्रकाशकी अपेक्षा भी इस साधनाकी आवश्यकता अधिक है।

साधनाके केन्द्र

मनुष्य वस्तुतः दिव्य भागवत प्राणी है। वह आत्मदृष्टि साक्षात् श्रीभगवान् ही है, मनुष्यताका तो उसने चोला धारण किया है। मनुष्यकी तमाम पहेलियोंका बस, एक ही हल है और वह यही है कि मनुष्य अपने दिव्य भगवत्स्वरूपकी उपलब्धि करे। मनुष्यके भीतर भगवान्

पञ्चकोषोंमें छिपे हुए हैं । मनुष्यका भौतिक रूप आत्माका परिच्छद है, यही है अन्नमय कोष । उसके बाद है प्राणोंका कोष अर्थात् स्नायुजाल, जो शरीरको धारण किये हुए है । इस स्नायुजालमें ही जीवनकी धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं । मन इन स्नायुओंका पोषण और सञ्चालन करता है । शरीर, मन और प्राण मनुष्यके निम्नस्तरके केन्द्र हैं । मनके परे विज्ञान है । इस विज्ञानकी दृष्टिमें एक ही तत्त्व बहुत ही स्पष्ट एवं प्राञ्जलरूपमें रह जाता है । विज्ञानके परे आनन्दमय कोष है और इसमें प्रवेश करनेपर मनुष्य आत्मानन्दके हृदयमें प्रवेश कर जाता है । आत्मा इन पाँचों ही कोषोंसे परे है और हमारे हृदय-कमलके कोषमें जगमगा रहा है । साधनाकी तीव्रताके द्वारा जब दिव्य चेतनताका स्फुरण और जागरण होता है, तब इन पञ्चकोषोंकी प्रक्रिया स्पष्ट समझमें आ जाती है । शरीरके सभी अङ्गोंमें भगवान्‌के दिव्य संस्पर्शकी अनुभूति होनी चाहिये । इसके लिये आवश्यकता इस बातकी है कि हमारे समग्र अङ्ग सक्रिय साधनामें लगें । साधना कोई भी क्यों न हो, यह आवश्यक है कि वह हमारी मन-बुद्धिको उद्‌बोधित करे और हृदयको स्पर्श करे । और वस्तुतः सच्ची साधना मन-बुद्धि और हृदयको स्पर्श करती ही है । हमारे शरीरके अंदर हृदय और बुद्धिमें ही भगवान्‌का निवास है । मन-बुद्धि साधनामें स्थिर हो जायँ और हृदय उसके आनन्द-रसका निरन्तर आस्वादन करता रहे—यही तो साधनाकी सफलताके लक्षण हैं । मन-बुद्धि और हृदयके केन्द्रोंको जो साधना स्पर्श नहीं करती, वह अधूरी ही साधना समझी जायगी । अच्छा, इस सम्बन्धमें फिर आगे विचार किया जायगा ।

साधनाके सिद्धान्त

साधारणतः हमारी चेतना बहिर्मुखी होती है । बाहरके विषयोंमें यह मनमाना बेलगाम दौड़ लगाती है, खूब उछल-कूद मचाती है और उसकी प्रत्येक उछल-कूदमें हमारी शान्ति और शक्तिका क्षरण होता रहता है और मन क्षुब्ध एवं चञ्चल होता रहता है । मनपर अच्छी तरह लगाम कसकर और इस प्रकार समग्र बिखरी हुई चेतनाको अपने अंदर समेटकर उसे हृदयमें डुबा देना ही साधनाका गुह्य तत्त्व है । जिस प्रकार मरजीवा समुद्रमें गोते लगाकर रत्न ढूँढ़ निकालता है, उसी प्रकार साधकको अपने हृदयमें डूबना होगा । हमारे सभी अङ्ग, हमारे अस्तित्वका एक-एक कण भगवत्प्राप्तिकी सजग अभीप्सामें पुलकित हो उठे, हमारे भीतर दिव्य पवित्रता भर जाय—इसके लिये हमारे अंदर दृढ़ निश्चय चाहिये, अटल निष्ठा चाहिये और चाहिये साधनाके प्रति अटूट अनुराग । 'अन्तर्मुख होओ, भीतरकी ओर लौटो'—समस्त साधनोंका एकमात्र यही सूत्र है ।

साधनाका मूल आधार

हृदयमें स्थित नारायणका साक्षात्कार करनेके लिये तथा समस्त जगत्‌में उनका संस्पर्श अनुभव करनेके लिये अनेक प्रकारकी साधनाएँ हैं । उनमेंसे कोई भी साधना लगन और उत्साहके साथ की जाय तो साधक अवश्यमेव अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेगा; क्योंकि हमारी अन्तरात्मा ही हमें यन्त्र बनाकर साधना करती है । मन, वचन और कर्मकी पवित्रता, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सात्त्विक एवं युक्त आहार-विहार, सत्सङ्ग, एकान्तसेवन, आँख, कान, जिह्वा और उपस्थेन्द्रियका पूर्ण संयम, भगवान्‌में पूर्ण विश्वास, नाम-स्मरण, नम्रता, निरपेक्षता, सद्‌ग्रन्थ-सेवन, साधु-सेवन, श्रीगुरुका आज्ञापालन—ये ही हैं साधनाके मूल आधार और कोई भी साधक, चाहे जिस शैलीकी उसकी साधना हो, इन तत्त्वोंकी अवहेलना कर नहीं सकता ।

गुरु

योग्य गुरुके संरक्षणमें साधना करना सर्वथा सुरक्षित एवं निरापद है । परन्तु सच्चे गुरुके लिये सच्ची खोज होनी चाहिये । गुरुके जीवनमें जितनी अधिक पवित्रता होगी, जितनी अधिक दिव्यता होगी, उसके मुखमण्डलपर चिच्छक्तिका जितना अधिक विकास होगा, उसकी करुणा-भरी, कृपाभरी दृष्टिसे जितनी भी दिव्य आध्यात्मिक ज्योति निकलती रहेगी, उसके शान्त, स्थिर, निर्मल, अहङ्कारशून्य, सरल, निश्छल, निर्मान, निर्मोह आचरणमें, उसकी शीतल स्निग्ध वाणीमें, जो सहज ही संशयका उच्छेदन करती है, आनन्द और प्रकाशकी वर्षा करती है, जितना अधिक प्रभाव होगा, साधकका उतना ही शीघ्र कल्याण होगा । सच्चा गुरु कभी अपनेको अवतार घोषित नहीं करता, न अपनेको सर्वशक्तिमान् ही बतलाता है । इस प्रकारके अहङ्कारका उसमें लेश भी नहीं होता । प्रकाशन और प्रचारकी अपेक्षा मौन और एकान्तसे उसका विशेष प्रेम होता है । वह यह कहता भी नहीं कि मैं गुरु हूँ । सच्चा गुरु एक बारके दृष्टि-निक्षेपमात्रसे, एक बारके स्पर्शसे, एक बारके सङ्कल्पसे अपने योग्य शिष्यमें शक्तिपात कर सकता है । वह

मीलों दूरसे अपने शिष्यकी काया पलट सकता है; क्योंकि परमाणुओंकी गतिमें जो संवेग है, उससे भी अधिक तीव्र संवेग उसके विचारोंमें, उसके सङ्कल्पमें होता है। बड़ा ही भाग्यशाली है वह साधक, जिसे ऐसा गुरु प्राप्त हो गया है। ऐसे योग्य गुरु हैं बहुत ही दुर्लभ। भगवान्‌की कृपासे ही वे इस धराधामपर आते हैं। इस संसारमें आजकल ऐसे गुरु बहुत ही थोड़े हैं।

कुछ साधनाएँ

साधनाके जिन आवश्यक तत्त्वोंका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, यदि उनका विकास किसी साधकमें हो रहा है तो वह आत्मज्ञानकी निम्नलिखित साधनाओंमेंसे किसी एकका, जिसका निर्देश उसके गुरुदेव करें अथवा जिसका अनुमोदन उसकी अन्तरात्मा करे, आधार ले सकता है—

१. भगवद्गीता, रामायण, भागवत, सूतसंहिता, विवेक-चूडामणि आदि-आदि धर्मग्रन्थोंका अनुशीलन एवं मनन।

२. राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, अल्लाह, जेहोवा या भगवान्‌के अन्य किसी भी प्रिय नामका प्रतिदिन कम-से-कम दस हजार जप।

३. भजन गाना, भगवत्प्रेममें नाचना और खूब प्रेमसे भगवन्नामका ज़ोर-ज़ोरसे उच्चारण और भगवत्कृपाका आवाहन। हृदय-द्वारको खोलने तथा हृदय-ग्रन्थियोंको काटनेके लिये यह सर्वोत्तम साधन है।

४. सत्सङ्ग, साधु-सेवा और संत-महात्माओंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनका सम्मान करना।

५. हमारे धर्मशास्त्रके द्वारा अनुमोदित नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान—सन्ध्योपासन, ब्रह्मयज्ञ, बलिवैश्वदेव आदि पवित्र कर्मोंका विधिवत् पालन करना। इन कर्मोंमें महान् आध्यात्मिक रहस्य भरा पड़ा है।

६. भगवदर्पणबुद्धिसे ही कर्म करना और उन समस्त कर्मोंसे, जो अहंकार उत्पन्न करते हैं और मनकी शान्तिको नष्ट करते हैं, सर्वथा अलग रहना।

७. भगवान्‌की मूर्त्तिकी उपासना और अर्चा। यह भाव दृढ़ रहे कि मूर्त्तिमें साक्षात् श्रीभगवान्‌का निवास है। वह धातुकी नहीं है, अपितु स्वयं श्रीभगवान्‌का दिव्य मङ्गल-मय विग्रह है। मूर्त्तिपूजाके आलोचक इस बातको भूल जाते हैं और इसीलिये मूर्त्तिपूजाके तत्त्वसे अनभिज्ञ ही रह जाते हैं।

८. नियमपूर्वक किसी मन्दिरमें जाना, उसे धोना, पोंछना, साफ करना, बत्ती जलाना, धूप दिखाना आदि कैङ्कर्य करना।

९. तीर्थ-सेवन, गङ्गा, यमुना, सरयू आदि पवित्र नदियोंमें स्नान करना। यदि सचाईके साथ निष्ठापूर्वक ये कार्य किये जायँ तो अवश्य ही इसके द्वारा चित्तशुद्धि होती है और भक्तिकी लता लहलहा उठती है।

१०. **दान करना**—दीन-दुखियों, अपाहिजोंको अन्न देना, पशु-पक्षियोंको अपनी सन्तान समझकर उनको दाना-पानी पहुँचाना, गो-सेवा करना, पूजाके लिये बाग-बगीचे और फुलवारियाँ लगाना, ब्रह्मचारियोंको अन्न-वस्त्र देना, साधु-संन्यासियोंकी आवश्यकताओंका ध्यान रखना, पवित्र सद्‌ग्रन्थोंका प्रकाशन करना, सद्‌ज्ञानका प्रचार और प्रसार, गरीबोंके लिये, रोगियोंके लिये अस्पताल खुलवाना, गरीबों और मजदूरोंके लिये काम-काजकी व्यवस्था करना और उनकी जीविकाकी व्यवस्था बैठाना, उदारतापूर्वक दान देना, मानवमात्रको श्रीनारायणका विग्रह समझकर निष्काम-भावसे उसकी सेवा-शुश्रूषा करना। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ये कार्य नितान्त अनिवार्य हैं।

११. **गुरुसेवा**—गुरुके चरणोंमें अपने आपको अर्पित कर देना, उन्हें साक्षात् श्रीभगवान् समझना और धैर्य तथा उत्साहके साथ उनके निर्दिष्ट पथका, उनकी आज्ञाओंका श्रद्धापूर्वक पालन एवं अनुसरण करना, कभी उनकी भगवत्तामें संशय न करना।

१२. **हठयोगकी कुछ क्रियाएँ**—आसन, बन्ध, मुद्रा, प्राणायाम, कुम्भक, धौति, नौलि, त्राटक आदिका अभ्यास किसी योग्य अनुभवी गुरुके अनुशासन एवं तत्त्वावधानमें करना। हठयोगके आसनोंका अभ्यास एकमात्र नाडीशुद्धि और प्राणशुद्धिके लिये किया जाता है। इससे तुरन्त लाभ यह होता है कि इसके द्वारा साधकका चित्त स्थिर होता है और ध्यान जमता है और शारीरिक क्षोभ अथवा विक्षेप नहीं होने पाता। चमत्कारके लिये आसनोंका जो प्रदर्शन होता है, उससे कुछ भी होता-जाता नहीं। पैसोंके लिये तो राहमें भिखमंगे भी आसन करते देखे जाते हैं। मनके साथ स्नायुओंका सीधा सम्बन्ध है। योगके आसनोंद्वारा प्राण-प्रवाहपर बहुत ही सुन्दर ढंगसे नियन्त्रण किया जा सकता है, मनके वेगोंपर लगाम कसा जा सकता है और इस कारण

आसनोंके द्वारा मन और प्राण स्वस्थ होते हैं और शरीर भी पुष्ट होता है, संगठित होता है। हठयोगका यही लक्ष्य है।

१३. **राजयोग**–राजयोगमें आठ सीढ़ियाँ हैं। यम, नियम, आसन और प्राणायामके सम्बन्धमें ऊपर कुछ उल्लेख हो चुका है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिके विषयमें बहुत संक्षेपमें यहाँ चर्चा की जा रही है। पहले चार तो बाह्य साधनाके अंग हैं और पिछले चार आन्तरिक साधनाके। पिछले चारके द्वारा मनुष्य भगवान्‌के बहुत निकट पहुँच जाता है। ध्यान ही आभ्यन्तर साधनाका प्राण है। ध्यानका सरल अर्थ यही है कि समस्त बाह्य वृत्तियोंको अन्तर्मुख कर हृदयात्मा अथवा हृत्पुण्डरीकस्थित आत्म-पुरुषमें लीन कर देना। ध्यानमें सबसे पहले चित्तकी वृत्तियोंको एकाग्र करना पड़ता है। इष्ट देवताकी मूर्ति या चित्रपर दृष्टिको टिकानेसे सहज ही ध्यान जमता है, चित्त एकाग्र होता है अथवा किसी पुष्प, नक्षत्र, सूर्य, आकाश, मन्त्र, श्वासोच्छ्वास अथवा हृदयकी धड़कनपर दृष्टि स्थिर करनेसे सहज ही ध्यान लगने लगता है। तारे और पुष्पको अपने परम प्रियतम प्रभुकी मृदुल मुसकान समझना चाहिये, आकाश और पृथ्वीको उसका निवासस्थान समझना चाहिये, हृदयको उसका मन्दिर मानना चाहिये। सभी वस्तुओंके रहस्यमय आन्तरिक स्वरूपको ही ग्रहण करना चाहिये। ध्यान जब हृदयमें किया जाता है, तब बाहरके किसी भी उपकरण या सहायताकी आवश्यकता नहीं रह जाती; क्योंकि हृदयस्थ चैत्य पुरुषका दिव्य भाव-प्रवाह हमारी समस्त सत्ताको आत्मसात् कर लेता है और इस कारण हमारी उपासना भी दिव्य हो जाती है। हृदयदेशमें स्थित नारायणका ध्यान लगातार पूरे छः महीने करनेपर हमारी अन्तश्चेतना जाग उठती है और उसके अनन्तर तो साधकको केवल इसी बातका ध्यान रखना पड़ता है कि उसकी अन्तर्गुफामें जो दिव्य ज्वालमाल जगमगा रहा है उसपर उसकी दृष्टि स्थिर रहे। फिर और कुछ करना-धरना नहीं पड़ता; साधना तो स्वयं चलती जाती है, होती रहती है। इससे होगा यह कि धीरे-धीरे जब समग्र चेतना जाग उठेगी तो मन-बुद्धिका आत्मामें विलयन हो जायगा और समाधिका आनन्द प्राप्त होने लगेगा।

१४. **भक्तियोग**–अपने इष्टदेवके चरणोंमें सर्वात्मसमर्पण ही सर्वश्रेष्ठ साधना है। इससे स्वयं ही साधकमें साधनाकी सभी आवश्यक बातें आ जाती हैं। भक्तिकी साधना अत्यन्त सुगम है और इसमें किसी प्रकारके विघ्न-बाधा या अन्तरायका प्रायः भय नहीं है। भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति करके संसारमें आजतक कभी किसीको धोखा हुआ नहीं, हो नहीं सकता। गृहस्थोंके लिये, जिनकी संख्या संसारमें ९९% (सौमें निन्यानबे) है, यह सर्वोत्तम साधना है। भक्तिके मुख्यतः दो भेद हैं—सगुणभक्ति और निर्गुणभक्ति अथवा अपराभक्ति और पराभक्ति। इनमें सगुणभक्ति अधिक सुगम है और इसका पालन सभी कर सकते हैं। प्रेम कई प्रकारसे व्यक्त होता है। प्रेमी भक्त अपने प्रेमको अनेकों प्रकारसे प्रकट करता है। भगवान्‌से वह कई प्रकारका सम्बन्ध जोड़ लेता है—दास्यभाव, सख्यभाव, वात्सल्यभाव, माधुर्यभाव आदि कई सम्बन्धोंको लेकर वह भगवान्‌से जुड़ जाता है। इनमेंसे किसी भी भावसे की हुई भक्तिके द्वारा भगवत्कृपा प्राप्त होती ही है।

१५. **ज्ञान-साधन**–समाधिके लिये ज्ञान-साधन बहुत ही उत्तम साधन है। विवेक, वैराग्य, आत्मविचार, अन्तर्दर्शन—यह है प्रक्रिया ज्ञान-साधनकी। दृश्य जगत्‌के समस्त विषयोंके प्रति–जो अनात्म हैं, तुच्छ और क्षणभङ्गुर हैं—ज्ञानी अपनी दृष्टि मूँद लेता है, अपनी इन्द्रियोंको हटा लेता है—खींच लेता है। मैं यह भी नहीं हूँ, मैं यह भी नहीं हूँ—'नाहम्' 'नाहम्'से वह शुरू करता है। फिर सहज ही प्रश्न उठता है—फिर मैं क्या हूँ, मैं क्या हूँ—'कोऽहम्' 'कोऽहम्'? अन्तमें शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूपमें अपने आपको स्थित पाकर वह कह उठता है—मैं 'वह' हूँ, मैं 'वह' हूँ—'सोऽहम्' 'सोऽहम्'! ज्ञानी इस बातको जानता है कि वह 'आत्मा' है, स्वयं ब्रह्म है। अहर्निश, सोते-जागते, उठते-बैठते वह इसी जाग्रत् चेतनामें रहता है और अपने मन, चित्त तथा प्राणको उसी 'एक' शाश्वत सत्यमें लय किये रहता है। उसी 'एक' का ही वह अपने अन्तर्हृदयमें दर्शन करता है—और आँखें खोलकर बाहरके संसारमें भी वह उसीका दर्शन करता है। 'उस'के सिवा उसके लिये और कुछ रह ही नहीं जाता। वह सर्वत्र और सब वस्तुओंमें उसी एक अद्वितीयको ही और उसी 'एक' अद्वितीयमें सब वस्तुओं और सब रूपोंको देखता है। इसीको कहते हैं एकमें अनेक और अनेकमें एकका दर्शन! ऐसे ही आत्मदर्शी संतका गुणगान गीता और उपनिषद् गाती हैं।

१६. **तन्त्र**–योगी लोग जाग्रत कुण्डलिनीकी उपासना शक्तिरूपमें करते हैं। चक्रवेधकी प्रक्रियाके द्वारा वह

कुण्डलिनीको छः चक्रोंको भेदता हुआ सहस्रारमें ले जाता है और वहाँ महाकुण्डलिनीका 'पुरुष'से मिलन होता है। इस मिलनसे ॐकारकी ध्वनि स्पष्ट सुननेमें आती है और ब्रह्मरन्ध्रमें प्रकाश जगमगाने लगता है और कई वर्षकी साधनासे हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व—हमारा मन, प्राण, शरीर सब-का-सब दिव्य हो जाता है। नस-नसमें, कण-कणमें चिच्छक्तिका दिव्य विलास होने लगता है और आनन्दकी पुलकसे रोम-रोम सिहर उठता है। परन्तु यह बात स्मरण रखनेकी है कि तन्त्रकी साधनासे कुण्डलिनी-जागरणद्वारा जो कुछ आनन्दानुभूति होती है, ज्ञानीकी सहज समाधि या भक्तके अशेष आत्मसमर्पणमें उससे किञ्चिदंशमें भी कम आनन्दानुभूति नहीं होती। तन्त्रका मार्ग सङ्कटापन्न है और किसी अनुभवी योग्य सिद्ध गुरुकी देख-रेखमें रहकर ही इस मार्गमें प्रवृत्त होना चाहिये। गुरु ऐसा हो, जो शिष्यमें शक्तिपात कर सके। केवल प्रपञ्चसार, षट्चक्रभेदन, कुलार्णव या महार्णव तन्त्र पढ़ लेनेसे तन्त्रका ज्ञान नहीं हो सकता। और इन्हें पढ़कर पञ्चमकारकी उपासनामें प्रवृत्त होना तो अपनेको एकदम खतरेमें डालना है। बहुत-से साधक इस मार्गपर चलकर खतरा उठा चुके हैं, धोखा खा चुके हैं। इस पथमें पूरी सावधानी न रही तो अवाञ्छनीय परिणाम होना स्वाभाविक है। यह जान लेना चाहिये कि भक्ति-साधना और शक्ति-साधना दोनों ही समानरूपसे प्रभावशाली हैं।

पुकारो, भगवान्‌को पुकारो

बचपनमें मैं सहज ही भक्तिके मार्गमें लगा। मेरे दादा एक सच्चे संन्यासी थे। पैदल दो बार मद्राससे हिमालयतककी यात्रा उन्होंने की थी और अपने अन्तिम दिनोंमें वे एक पर्णशालामें रहा करते थे। मेरी अवस्था उस समय छः-सात सालकी थी। मैं बराबर उनकी सेवा-परिचर्यामें लगा रहता था और मेरेलिये तो वे भगवान् ही थे। उनके ही पास रहकर मैंने हठयोगके तमाम आसन सीखे, प्राणायामकी प्रक्रिया सीखी—और यह सब कुछ हुआ खेल-तमाशेमें। उनकी सेवामें मुझे इतना रस मिलता कि पढ़ना-लिखना सब ताकपर रख दिया और मेरा दिल-दिमाग दुनियाकी किसी भी बातमें रमता ही नहीं था। घरवाले मुझे बुरी तरह फटकारते, परन्तु मैं अपनी सारी बातें चुपचाप अपने दादासे—जिन्हें मैं साक्षात् नारायण समझता था—कह दिया करता था।

मैं—स्वामीजी! मेरे पिताजी मुझे पीटते हैं···

वे—एक ऐसा भी पिता है, जो अपने बच्चोंको कभी नहीं पीटता; उसे खोजो।

मैं—स्वामीजी! मेरी माँ मुझे बुरी तरह फटकारती है!

वे—एक ऐसी माँ है जो तुम्हें कभी भी फटकारेगी नहीं, वह केवल तुम्हें प्यार-ही-प्यार करेगी; उसे ढूँढ़ो।

मैं—स्वामीजी! मेरे मास्टर बेंतोंसे मेरी खबर लेते हैं!

वे—एक ऐसा भी मास्टर है जो तुम्हें कभी भी बेंत नहीं लगायेगा, न तुम्हें छेड़ेगा ही। वह तुम्हें ऐसी बातें सिखलावेगा जिन्हें तुम्हारे दुनियाके मास्टर सौ जन्ममें भी नहीं सिखला सकेंगे।

मैं—मुझे किताबोंमें कुछ मजा नहीं मिलता।

वे—(मेरे हृदयको थपथपाकर) असली किताब तो यहाँ है; इसे ही खोलकर देखो, पढ़ो। फिर आप-ही-आप तुम्हें सारा ज्ञान हासिल हो जायगा।

दिन-दिन इन उत्तरोंसे मेरे अन्तरकी गाँठें खुलती गयीं और अपने-आप ही मैं आत्मविचारमें लग गया। मेरे मनने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि उस 'परमपिता'के दर्शन करने ही हैं और उसका ज्ञान प्राप्त करना ही है, अवश्यमेव करना है। एक दिन वे बहुत ढंगसे यह समझा रहे थे कि जो कुछ है, सब-का-सब भगवान् ही है, एकमात्र भगवान् है, भगवान् सर्वत्र है और सब कुछ है। इसपर मैंने पूछा—'स्वामीजी! क्या मैं उनका दर्शन कर सकता हूँ?'

'हाँ, हाँ'—उन्होंने स्नेहके साथ कहा।

'कैसे?' मैंने आतुरतासे पूछा।

'पुकारो, उसे पुकारो'—उन्होंने समझाते हुए कहा।

'कैसे पुकारूँ स्वामीजी?'

'अरे भाई, उसे पुकारनेमें क्या दिक्कत है? वह सर्वव्यापक है, शुद्ध है, पवित्र है, सर्वशक्तिमान् है। चाहे जिस नामसे पुकारो वह सुनता ही है, सुनता ही है, अवश्य सुनता है। उसे शुद्ध ब्रह्म कहो या उसे सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ कहो। उसे पुकारो या उसकी शक्तिको पुकारो। अच्छा सुनो, मैं तुम्हें एक मन्त्र सुनाता हूँ; तुम इसे जपा करो और तुम इसके दिव्य चमत्कारको देखोगे। वह मन्त्र है—'ॐ शुद्ध शक्ति'! इससे तुम्हारे सारे मनोरथ सिद्ध हो जायँगे।'

इस मन्त्रके साथ मेरे हृदयका एक विचित्र अकथनीय आकर्षण हो गया, उसके लिये हृदयमें चाह उत्पन्न हो

आयी और रात-दिन मैं बराबर उसका जप करता रहा। यह मन्त्र मेरे हृदयकी धड़कनके साथ मिल गया। मैं अपने हृदयकी धड़कनमें स्पष्ट सुनता था उस मन्त्रकी ध्वनि! मुझे यह दिव्य मन्त्र प्रदान कर वह महात्मा इस संसारसे चल बसे। इसके बाद मैं अनेकों संत-महात्माओंके संसर्गमें आया और अनेकों प्रकारकी साधनाएँ कीं। परन्तु अन्ततः मेरे लिये तो उस परम शुद्ध शक्तिके चरणोंमें पूर्ण आत्मसमर्पणका ही एकमात्र आधार रह गया है और इसीसे मेरे जीवनमें एक अद्भुत आनन्द है, जिसका मैं निरन्तर पान किया करता हूँ। भक्तिकी ज्वाला मेरे हृदयमें अहर्निश प्रज्वलित रहती है। शुद्ध और शक्तिका वही सम्बन्ध है, जो सूर्य और उसकी किरणोंका है।

महासाधन

सम्पूर्ण, निःशेष आत्मसमर्पणको ही मैं 'महासाधन' कहता हूँ। साधकोंकी प्राणदायिनी माता गीताका यह सार-सर्वस्व है। लोग समझते हैं कि समर्पण एक बहुत आसान चीज है, परन्तु यह आसान है नहीं। समर्पणसे सारा कार्य, सारी साधना, समस्त मनोरथ सफल हो जाते हैं—इसमें कोई भी सन्देह नहीं। मुझे तो एकमात्र समर्पणसे ही पूर्ण शान्ति एवं पूर्ण आनन्दकी अनुभूति हुई है। हठयोग और राजयोगकी अपेक्षा समर्पणका मार्ग अधिक कठिन है। समर्पणमें कर्म, भक्ति और ज्ञानका पूर्ण समन्वय है। हाँ, यह बात अवश्य है कि हमारा यह समर्पण पूर्णतः प्रीतिपूर्वक होना चाहिये। नम्रता, आज्ञापालन, प्रभुकी सेवा और भगवद्भावसे जगत्‌के जीवोंकी यथाशक्ति सेवा-सहायता करना—यह तो है शरीरका समर्पण। प्राणोंका स्तर इतना सुदृढ़ होना चाहिये कि वह साधनाके भारको सँभाल सके, अहङ्कारको भगा सके, इच्छा, वासना, मोह, आसक्ति, ईर्ष्या, राग-द्वेष, लोभ, लालसा, मद, मत्सरसे साधकको अलग—अछूता रख सके। यह पूर्णतः नरम, कोमल, चिकना, मसृण और संवेदनशील होना चाहिये—जिसमें यह भगवत्कृपाके संस्पर्श और प्रभावको बराबर अनुभव करता रहे। किसी भी व्यक्तिगत वासना, किसी भी अहङ्कार-पूर्ण माँग या शर्तके द्वारा समर्पणको कलङ्कित नहीं करना चाहिये। चित्त सर्वथा शुद्ध और निर्मल हो, स्थिर हो, दृढ़ हो और हमारी समस्त इच्छाएँ पुञ्जीभूत होकर भगवान्‌को पुकार सकें, भगवान्‌को ही प्राप्त करनेके लिये तड़प उठें! अहङ्कारको तो एकदम मिटा देना होगा, निःशेष कर देना पड़ेगा। साधकको इस बातका दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि मनुष्य तो भगवान्‌के हाथमें यन्त्रमात्र है, भगवान् उससे जो कुछ कराना चाहते हैं, वही उसे करना पड़ता है। उसे यह अनुभव करना चाहिये कि स्वयं भगवान् ही उसके प्राणोंके प्राण हैं, जीवनके जीवन हैं, मस्तिष्कमें बैठकर भगवान् ही विचार करते हैं, और हृदयमें बैठकर वही आनन्दकी सृष्टि करते हैं।

साधनाके दो घोर शत्रु हैं—अहङ्कार और ममकार, मैं और मेरा। इनके नाममात्रसे भी साधनाके क्षेत्रमें सब कुछ किया-कराया चौपट हो जाता है। बुद्धिके द्वारा आत्माको अनात्मासे पृथक् करके भगवान्‌के पथमें आगे बढ़ना चाहिये। मन पाँचों इन्द्रियोंपर पूरी चौकसी रक्खे। इन्द्रियाँ कभी-कभी मदमाते उद्दाम घोड़ोंकी तरह मनुष्यको खाई-खंदकोंमें गिरा फेंकती हैं और मनुष्य विषय-वासनाओंके जंगलमें भटकता फिरता है। मनुष्य अज्ञानके हाथकी कठपुतली हो जाता है। मन तो विषयोंका स्फुरण-स्थान है। मन हृदयमें डूब जाय और हृदयमें भगवान्‌की ज्योति सदैव जगमगाती रहे—फिर चाहिये क्या। हृदयको इस बातका पूरा-पूरा विश्वास हो जाना चाहिये कि अधोगामी विषयोंमें कुछ भी है नहीं और प्रेम करने योग्य कोई वस्तु है तो वह है परम प्रियतम प्राणधन हरि। जब दिव्य प्रेम हृदयको संस्पर्श करता है तो मार्ग अपने-ही-आप सुगम हो जाता है और सारी कठिनाइयाँ आप-ही-आप हल हो जाती हैं। तब तो ऐसा होता है कि हमारा परम प्रियतम हमें अपनी भुजाओंमें बाँधकर अपने साथ ही लिये फिरता है। जब मन-बुद्धि-प्राण भगवान्‌में डूब जायँ, जब हृदयमें उसी एक 'दिलवर' के लिये, उसी एक 'महबूब' के लिये प्यार और तड़प रह जाय—बस, प्यार-भरी तड़प और तड़पता हुआ प्यार रह जाय, जब जगत्‌के भोग-विलासोंसे चित्त आप-ही-आप फिर जाय, जब साधक यह समझे, यह अनुभव करे कि शरीर जाय तो जाय, परन्तु भगवान्‌को पाये बिना रह न सकूँगा, जब उसे जीवनकी अपेक्षा भी प्रभु प्रिय लगें, तब उसे यह समझना चाहिये कि भगवदीय चेतनाका उसमें अवतरण एवं स्फुरण हुआ है। तभी उसपर भगवान्‌की दया उतरती है, दिव्य प्रकाश उसपर अपने-आप बरसने लगता है और तभी उसके भीतर भागवती इच्छा अपना कार्य करने लगती है। साधक तब यह समझता है कि वह भगवान्‌के हाथका एक यन्त्रमात्र है और भगवान्‌की

जो इच्छा होती है वही उसके द्वारा होता है, अन्यथा कुछ हो ही नहीं सकता। वह यह अनुभव करता है कि उसके फुफ्फुसमें भगवान् ही साँस लेते हैं, उसकी वाणीमें भगवान् ही बोलते हैं, भगवान् ही उसके हृदयमें बैठे प्यार करते हैं, उसकी बुद्धिमें बैठे हुए विचार करते हैं और उसकी आत्मामें रहकर आनन्दका आस्वादन करते हैं। यह है समर्पणकी पराकाष्ठा। इसके द्वारा मनुष्य स्वतः निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व और निर्लेप रहता है और उसके द्वारा भागवती शक्ति अपना कार्य करने लगती है। साधक अपने हृद्देशमें भगवान्के साथ नित्य युक्त रहता है। साधक भगवान्को नहीं छोड़ता, भगवान् साधकको नहीं छोड़ते। साधकका निवास होता है भगवान्में, भगवान्का निवास होता है साधकमें। इस प्रकारके समर्पणकी प्रक्रिया हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने बतलायी है। और यही है इस युगके लिये परम साधन।

सिद्ध पुरुष

सिद्ध पुरुष यह जानता है कि भगवान् ही उसकी आत्मा हैं। वही यह डंकेकी चोट कह सकता है कि मैं आत्मा हूँ, मैं ब्रह्म हूँ। परन्तु सिद्ध पुरुष इस कारण किसी ऐसे भ्रममें या अहङ्कारमें नहीं पड़ेगा कि वह सोचने लगे कि वह सर्वशक्तिमान् है, सर्वव्यापक है और स्वयं भगवान् है या उसका प्रतिनिधि है। समाधि-साधकोंको तो इस दिशामें बहुत ही सतर्क रहनेकी आवश्यकता है। नाममात्रका अहङ्कार भी उसे ले डूबेगा। मनुष्य तो सीमाओंसे आबद्ध है। वह ईश्वरका अंश अवश्य ही है, परन्तु ईश्वर नहीं है। अंश पूर्णके बराबर नहीं हो सकता, सूर्यकी एक किरण सूर्यके समान नहीं हो सकती। जलका एक कण लघु सागर है—इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु वह पूर्ण सागर तो नहीं है। साधक सदैव इस बातका ध्यान रक्खे कि वह जीवित है, क्योंकि भगवान्का उसमें निवास है; वह साँस लेता है, क्योंकि भगवान् उसके भीतर बैठे साँस लेते हैं; वह सोचता-विचारता है, इसलिये कि उसकी बुद्धिमें बैठे हुए भगवान् अपने प्रकाशसे उसकी बुद्धिको प्रकाशित किये हुए हैं और वह भगवान्का साक्षात्कार करता है, क्योंकि भगवान् ही उसके जीवनकी सार सत्ता हैं। डायनेमो बिजलीके प्रवाहसे चलता है। स्वयं मशीनमें क्या शक्ति है कि कुछ भी कर सके। उस अनन्त शक्तिके एक कणमात्रसे समस्त लोक-लोकान्तरोंमें जीवन-प्रवाह प्रवाहित हो रहा है। उसी शक्तिसे यह जगत्-चक्र चल रहा है। मनुष्य उस शक्ति-कणका करोड़वें हिस्सेका भी करोड़वाँ हिस्सा है या उससे भी कम। इसलिये उसे यह भूल नहीं जाना चाहिये कि चाहे कितनी भी उसकी शक्ति क्यों न हो, वह देश और कालसे सीमित है, परिच्छिन्न है और वह कदापि उस अनन्त, सर्वशक्तिमान् प्रभुकी समानता कर नहीं सकता। इसलिये मनुष्यमात्रके लिये एक ही मार्ग है और वह है समर्पणका। जिस प्रकार मालाके मनिये धागेमें पिरोये रहते हैं उसी प्रकार जपसे लेकर समाधितक समस्त साधनाओंका मूल आधार है यह समर्पण, सर्वस्व-समर्पण, निःशेष सर्वात्मसमर्पण।

समर्पण

प्रभो! मेरे देवाधिदेव! मैं यह भूलूँ नहीं कि तुम सदैव मेरे हृदयदेशमें निवास करते हो। तुम्हीं मेरे जीवनके सूत्रधार हो। इस क्षण-क्षण बदलनेवाले, पल-पलमें बनने-मिटनेवाले संसारमें जो कुछ भी हो रहा है, जो कुछ भी सामने आ रहा है, जो कुछ भी हिल-डुल रहा है और फिर आँखोंसे ओझल हो रहा है वह सारा ही तुम्हारी सत्तासे अनुप्राणित है, स्पन्दित है। मेरा मन-प्राण तुममें ही निवास करे, बसे और मेरा यह ज्ञान, यह चेतना बनी रहे कि तुम्हारी इच्छाके सिवा मेरी कोई गति नहीं, कोई आश्रय नहीं, कोई शरण नहीं, कोई अस्तित्व नहीं। यह शरीर तो मृत पिण्ड है, यह सजीव इसलिये है कि तुम इसमें साँस लेते हो। ओ मेरे प्रियतम, मेरे प्राणाराम! मैं अपने हृदयदेशमें सतत तुम्हारा आलिङ्गन-रस पाता रहूँ। जो कुछ करूँ तुम्हारी प्रेरणा और सङ्केतसे, तुम्हीं मेरे द्वारा अपना कार्य करो, अपना उद्देश्य साधो; मेरे हृदयमें तुम्हारा ही प्रेम विराजे, तुम्हीं प्रेमरूपमें विराजो; मेरी बुद्धिमें तुम्हीं प्रकाशरूप बने रहो, मेरे मस्तिष्कमें तुम्हीं विचार करो। मेरे समस्त अहङ्कारको अपनेमें डुबा लो, प्रभो! मेरे अंदर तुम्हारे सिवा कुछ भी रह न जाय, तुम्हीं-तुम रह जाओ। हे सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ स्वामिन्! भले

ही मैं समाधिकी अवस्थामें तुमसे एकाकार होकर तुम्हारी ही तरह हो जाऊँ; परन्तु यह भूलकर भी मैं यह न मान बैठूँ कि मैं तुम्हारे सदृश हूँ। मैं हूँ ही क्या। एक तुच्छ नगण्य नाचीज—जो अपनी एक-एक साँसके लिये तुम्हारी कृपापर अवलम्बित है, तुम्हारी दयाका मुँह जोहता है। तुम्हारे अनन्त महासागरके सम्मुख इस कणकी क्या हस्ती है, प्रभो! मेरा अहङ्कार तुम ले लो, मेरे दयामय हरि! और मुझे नम्रता, दीनता प्रदान करो। ओ मेरे स्वामी! तुम्हारी इच्छा मेरे जीवनमें पूर्ण हो, तुम्हारी जो इच्छा हो वही मेरे भीतर-बाहर हो—तुम्हीं मेरे भीतर साधना करो और तुम्हीं मेरे भीतर सिद्ध होकर अपनी इच्छा पूर्ण करो।

साधना और सिद्धि

(लेखक—स्वामी श्रीअसंगानन्दजी महाराज)

साधनाके विशाल एवं व्यापक क्षेत्रपर यदि हम उदार दृष्टि डालें तो हमारा यह विश्वास दृढ़ हो जायगा कि हमारा सम्पूर्ण जीवन साधनाका अनन्त क्षेत्र है। 'जैसी करनी वैसा फल'—यह एक ऐसा सत्य सिद्धान्त है जो हमारे जीवनके समग्र शारीरिक और मानसिक कर्मोंमें—एक-एक कार्यमें लागू होता है; वह कार्य चाहे जिस प्रकारका हो—उसका सम्बन्ध कलासे हो या साहित्यसे हो, चित्रकारीसे हो, सङ्गीतसे हो या संस्कृतिसे हो—सर्वत्र समानरूपसे यह सिद्धान्त घटता ही है। ऊपर हम जितने भी क्षेत्र गिना आये हैं, उनमें हमें सफलता उतने ही अंशमें मिलती है, जितने अंशमें हम उसमें निष्ठा एवं शक्तिके साथ प्रवृत्त होते हैं। इसलिये यदि हमने अपनी चरम लक्ष्य-सिद्धिके लिये पूरा-पूरा प्रयत्न नहीं किया, जी-जानसे परिश्रम नहीं किया तो हमारे लिये अपनी असफलता-पर दुःख करनेका, खिन्न होनेका कोई कारण नहीं है। अतिचेतन और अतीन्द्रिय परमात्मसत्ताकी उपलब्धिके लिये हम जो कोई भी आध्यात्मिक अनुष्ठान करते हैं—ध्यान, चिन्तन, पूजा, जप, आसन, भजन इत्यादि-सब साधनाकी परिभाषाके अन्तर्गत आ जाते हैं।

सभी संत-महात्माओं तथा धर्मसंस्थापकोंने अत्यन्त कठिन-कठोर साधनाके द्वारा ही आत्मज्ञानका प्रकाश पाया और आत्मानुभूतिके दिव्य प्रकाशमें ही उन्होंने जगत्के लिये भगवान्का पथ ढूँढ़ निकाला, भगवत्साक्षात्कार अथवा निर्वाण-का मार्ग आलोकित किया। और यही कारण है कि इन आत्मदर्शी संत-महात्माओंके चरण-चिह्नोंका अनुसरण कर, उनके आदेश और आचरणका अनुकरण कर आज भी एक सच्चा साधक, भगवान्के पथपर चलनेवाला एक निष्ठावान् पुरुष आध्यात्मिक साधनाकी एक-एक सीढ़ी चढ़ता हुआ अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ता जाता है; क्योंकि वह महात्माओंके बताये हुए उस मार्गपर चल रहा है, जिसका उल्लेख संसारके धर्म-शास्त्रों एवं अध्यात्मग्रन्थोंमें बहुत विस्तारसे हुआ है। साधनाका यह पथ इतना प्रशस्त, सुरक्षित एवं सुनिश्चित है कि साधकको इधर-उधर भटकनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। कारण कि उन संत-महात्माओंने जो कुछ लिखा है वह अपने अनुभवसे लिखा है, उनके उपदेश और आचरणमें पूर्णतः एकता थी, वे वही बात लिखते थे जिसका उन्हें अनुभव था और इसीलिये उनके उपदेशोंमें जीवन एवं शक्ति भरी पड़ी है। ऐसे संत-महात्मा जिस धर्ममें जितने भी अधिक होंगे, वह धर्म उतना ही दीर्घजीवी और स्थायी होगा। परन्तु खेदका विषय है कि बीच-बीचमें अपकर्षकी अन्तर्दशा भी आती रहती है और उस समय उन महात्माद्वारा प्रज्वलित आत्मज्ञानकी ज्वाला धूमाच्छन्न हो जाती है। परन्तु वह तेज है तो सनातन, चिरप्रकाशमान और दिव्य। इसी कारण वह केवल धूमाच्छन्न होता है, बुझता नहीं—बुझ सकता ही नहीं। इसलिये एक सच्चा साधक अवसाद और अपकर्षकी अन्तर्दशासे निराश एवं क्लान्त नहीं होता, अपितु अपनी कठोर तपस्या एवं तीव्र साधनासे वह समस्त साधन-पथको आलोकित कर देता है—उसमें नवीन प्राण, नूतन जीवन डालकर पुनः जाज्वल्यमान कर देता है।

संसारके धर्मशास्त्रोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेपर हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि सनातनधर्मके अतिरिक्त सभी धर्मोंने अपने-अपने अनुयायियोंके मानसिक विकासके लिये एक सुनिश्चित साधन-प्रणाली निर्धारित कर दी है

जिसमें एक विशिष्ट प्रकारकी भावना, ध्यान, चिन्तन तथा साधनाकी प्रक्रियाओंका निर्देश है। परन्तु हिन्दूधर्मने अपने अनुयायियोंकी मनोदशा, प्रवृत्ति आदिका ध्यान रखकर अनेकों प्रकारकी साधन-शैलीका अनुसन्धान एवं उद्घाटन किया है जिससे सब लोगोंके लिये साधनाका पथ सुगम हो—सभी अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार साधना कर सकें। अत्यन्त स्थूल मूर्त्ति-पूजासे लेकर निर्गुण निराकार-चिन्तनतक साधनाकी कई सीढ़ियाँ हैं। बाहर-बाहरसे देखनेवालोंकी बुद्धिमें ये बातें आ ही नहीं सकतीं, न वे इनका रहस्य ही समझ सकते हैं। सनातनधर्म तो एक ऐसी माताके समान है, जो अपनी सन्तानकी वय और शक्तिको देखकर तरह-तरहकी चीजें उसके उपयुक्त तैयार कर खिलाती रहती है और उसका स्नेहके साथ भरण-पोषण करती है। सच तो यह है कि हमारे पूर्वपुरुष, हमारे ऋषि-महर्षि और सिद्ध पुरुष—जो हिमाच्छादित, गगनचुम्बी महामहिम हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतक फैले हुए इस आर्यदेशमें एक छोरसे दूसरे छोरतक रहते थे—वस्तुतः शास्त्रज्ञानमें बड़े ही निपुण एवं पारंगत थे, ज्ञान-विज्ञानमें विशारद थे। उनके बताये हुए साधन-मार्ग एवं साधन-प्रणालीका सचाईके साथ अनुसरण कर हम निश्चय ही अपने दुर्जय-दुर्धर्ष मनपर विजय प्राप्त कर सकते हैं, उसे पवित्र बना सकते हैं, जिसके द्वारा इस शरीर-रूपी पिंजड़ेके भीतर बंद हंस उन्मुक्त होकर कुरेल कर सकता है। हमारे वे ऋषि-महर्षि सच्चे अर्थमें विज्ञानवेत्ता थे और आज भी उनके विज्ञान-ज्ञानका संसार लोहा मानता है। क्योंकि उन्होंने जो कुछ भी अनुभव किये, वे भले ही अवर्णनीय एवं अचिन्त्य हों; परन्तु सत्य सदैव उनका अनुमोदन करता है। सत्य सदा उनके अनुभवका आधार है। इसीलिये उनका अनुभव और ज्ञान भी सनातन सत्यकी भाँति शाश्वत है, चिरन्तन है।

कुशल-कुशाग्र बुद्धि एवं सत्य-सनातन अनुभवमें यही अन्तर है। अध्यात्मका विशाल, विस्तृत क्षेत्र बुद्धिके लिये सर्वथा अगम्य ही है। यह बेचारी बुद्धि, जिसका हमें बड़ा गर्व एवं अभिमान है, वस्तुतः है क्या ? यह तो देश-काल-कारणसे परिच्छिन्न है और यहाँतक परिच्छिन्न है कि इसका उस लोकमें प्रवेश ही नहीं है, जिसमें प्रवेश करनेके लिये साधकको देश-काल और कारणको या तो भुलाना पड़ता है या लोप करना पड़ता है। यही कारण है कि सनातनधर्मके आचार्य बार-बार हमारे कानोंमें यही कहते हैं कि वेदोंमें विश्वास करो, आप्तवाक्योंमें विश्वास करो और इन्हींके आसरे साधनमार्गपर चले चलो, चले चलो और तबतक चले चलो जबतक अन्तरका पट न खुल जाय। साधना करो, साधना करो; सचाई, निष्ठा और विवेकके साथ साधना करो; शेष सारी बातें अपने-आप हो जायँगी—यही है हमारे शास्त्रों और ऋषियोंकी वाणीका सार समुच्चय। दूसरे धर्मोंके प्रवर्त्तक तथा आचार्यों-का भी यही कहना है और उनकी इस वाणीमें एक दिव्य ज्योति गर्भित है। परन्तु जिन लोगोंको बुद्धिका अजीर्ण हो गया है, वे सब बातोंको अपनी बुद्धिकी तुलापर तौलते हैं। उन्हें पता नहीं कि अध्यात्मके पथमें साधनाके बिना कुछ भी नहीं बनता और इसीलिये वे इन संत-महात्माओं और आचार्योंको कुछ-का-कुछ समझ लेते हैं।

किसी भी बातके लिये दी हुई शर्तोंको पूरा कर देने-पर ही सफलताका मार्ग खुलता है। यह एक ऐसा नियम है जो ज्ञानके क्षेत्रमें सर्वत्र समानरूपसे लागू है और धर्मके क्षेत्रमें तो विशेषरूपसे। इसलिये सत्यके, ज्ञानके अथवा भगवद्दर्शन-के सच्चे साधक अथवा आत्मार्थीके लिये कुछ नियम होते हैं, कुछ विधियाँ होती हैं, जिनका सम्यक्‌रूपसे पालन करनेपर ही मानव-जीवनकी चरम सिद्धि होती है। अद्वैत-वेदान्तके साधकको भी, जिसके लिये यह जगत् एक मायाजाल है, नित्यानित्यविवेक, इहामुत्र-फलभोगविराग, शम-दमादि षट्-सम्पत्ति और मुमुक्षुत्वकी शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं और उन्हें पूरा करनेपर ही वह संसारके बन्धनोंसे छूटकर मुक्तिपथ-में सफलतापूर्वक जा सकता है। वे ही क्यों, सभी साधकोंको—चाहे वे कर्मयोगी हों, भक्त हों या राजयोगी हों या और किसी मार्गके हों—कठिन साधनाके मार्गपर चलना ही पड़ता है, घोर तपस्या करनी पड़ती है और तब जाकर वे सच्ची साधनाके सच्चे अधिकारी होते हैं। उन सभी साधनोंमें, जिनका उल्लेख संसारके धर्मशास्त्रोंने किया है, चार मुख्य हैं। वे हैं—अशेष धैर्य, आत्मसंयम, सचाई और आत्मोत्सर्ग। केवल कुछ जप या ध्यान कर लेनेसे ही मनुष्य अपने आदर्शको नहीं पा सकता। भगवान् तो सर्वलोक-महेश्वर हैं, उन्हें किसी शर्तमें बाँधा नहीं जा सकता। साधकको चाहिये कि वह असीम धैर्य एवं साहसके साथ अपनी साधनाका अनुष्ठान करता रहे, करता रहे। एक दिन वह देखेगा कि उसके बिना जाने ही प्रभुकी असीम अनुकम्पाका प्रवाह उसकी ओर मुड़ गया है और दिव्य लोकका द्वार उसके लिये खुल गया है। देवर्षि नारद तथा

दो साधकोंकी कहानी इस सम्बन्धमें संस्मरणीय है और वस्तुतः बड़ी ही भावपूर्ण है। देवर्षि वीणा बजाते भगवान्‌के दर्शनोंके लिये जा रहे थे। राहमें उन्हें दो साधक पृथक्-पृथक् स्थानोंमें साधना करते हुए मिले। पूछनेपर दोनोंने ही यह जानना चाहा कि भगवान्‌की प्राप्ति कब होगी। देवर्षिने भगवान्‌से इनकी चर्चा चलायी तो भगवान्‌ने कहा कि एकको तो दस वर्षमें दर्शन होंगे और दूसरेको उतने ही वर्ष लगेंगे, जितने उस इमलीके पेड़में पत्ते हैं, जिसके नीचे बैठा वह साधना कर रहा है। देवर्षि लौटे तो पहलेने पूछा। उसे यह जानकर बड़ी ही निराशा हुई कि अभी दस वर्षतक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इसलिये उसने साधना छोड़-छाड़कर घरकी राह ली। दूसरा जब मिला तो उससे देवर्षिने डरते हुए कहा,—'भाई, अभी तो बड़ी देर है। इस इमलीके पेड़में जितने पत्ते हैं, उतने वर्ष बाद श्रीहरि तुम्हें दर्शन देंगे।' परन्तु इस साधकके आनन्दका पारावार नहीं रहा। वह आनन्दमें नाचने लगा। 'मिलेंगे न!' बस, यही सोचकर वह प्रभुकी कृपामें आत्मविस्मृत हो डूब गया! भक्तिकी धारा उमड़ पड़ी, साधना तीव्र हो गयी और उसे शीघ्र ही भगवान् मिल गये।

धार्मिक जीवनका मूल आधार है आत्मसंयम। आत्मसंयमके बिना साधना हो नहीं सकती, हो नहीं सकती। क्षुब्ध और चञ्चल शरीर तथा मनसे आध्यात्मिक जगत्‌में सफलता मिल ही नहीं सकती; सफलताका मिलना सर्वथा असम्भव ही समझना चाहिये। कारण कि जिस शक्तिको संघटित एवं केन्द्रीभूत करके भगवान्‌में लगाना है, वही शक्ति अधोमुख होकर क्षरित हो जाती है, नष्ट हो जाती है।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है कि मिथ्याचारी पुरुष लोक और परलोक दोनोंसे ही भ्रष्ट हो जाता है। भगवान्‌ने अर्जुनको बुरी तरह फटकारा है—बातें तो करते हो पण्डितोंकी-सी, परन्तु शोक करते हो उन बातोंका जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिये! परमहंस रामकृष्णदेवने कहा है कि मन और मुखको एक करना ही सच्ची साधना है। सच्चा साधक जब अपने हृदयको टटोलेगा तो वह देखेगा कि कई तरहकी दुर्बलता और अशुचिता उसमें भरी पड़ी है और जबतक ये दुर्बलताएँ और अशुचिताएँ बनी हुई हैं, तबतक वास्तविक एवं स्थायी सफलता कैसे प्राप्त हो सकती है? यही है आध्यात्मिक जीवनका बीज।

अन्तमें एक बहुत ही आवश्यक बात कहनी है। अध्यात्मपथमें आत्मोत्सर्गकी जितनी भी आवश्यकता समझी जाय, थोड़ी ही है। अध्यात्मके आकाशमें हम चाहे जितनी भी ऊँची उड़ान लें—योगकी चाहे जितनी भी सिद्धियाँ प्राप्त कर लें—हमें यह जान रखना चाहिये कि जहाँतक हमारे अंदर अहङ्कार और ममकार है, जहाँतक इनका सर्वथा विलोम नहीं हो जाता, वहाँतक भगवद्दर्शन अथवा मोक्ष एक कल्पनामात्र है। यदि आप भक्त हैं, भक्तिकी साधना करते हैं तो 'इति, इति' के मार्गसे चलिये, समन्वयके पथपर चलिये और अपनी इच्छाओंको, अपने तुच्छ 'अहम्' और 'मम' को भगवदिच्छाके महासागरमें लीन हो जाने दीजिये। यदि आप ज्ञानी हैं, ज्ञानके मार्गपर चल रहे हैं तो 'नेति', 'नेति' के द्वारा अपने अहङ्कारको मिटा दीजिये—व्यतिरेककी पद्धतिसे।

गीताके अन्तमें भगवान्‌ने अर्जुनको 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज', सब धर्मोंको छोड़कर मेरी शरण लो—यह आदेश किया। श्रीरामकृष्णदेवका भी अपने भक्तोंको कितना दिव्य उपदेश है—'अहङ्कारके मिट जानेपर जगज्जननी माँ साधकके शवपर अपना नृत्य करती हैं, वह नृत्य जो एक बार शुरू होकर फिर कभी बंद नहीं होता।'

इस प्रकार समस्त साधनाएँ सिद्धिके महासागरमें प्रवेश कर जाती हैं।

नाम विना सब दुःख है

जीवत ही स्वारथ लगे मूए देह जराय।
हे मन सुमिरो राम कूँ धोखे काहि पराय॥
हाथी घोड़े धन घना चंद्रमुखी बहु नारि।
नाम बिना जमलोक में पावै दुक्ख अपार॥

—चरणदासजी

शरण-साधना

(लेखक—पु० श्रीप्रतापनारायणजी, कविरत्न)

अलौकिक कामिनियोंकी ही
कामना कोई करता है।
सुखी संतानोंकी कोई
साधनापर ही मरता है॥ १॥

किसीका सुंदरि-सेवामें
चला जाता सब जीवन है।
किसीका रमा हुआ रहता
रमामें ही व्याकुल मन है॥ २॥

धाम-धन-दौलतको कोई
लोकमें जमा किया करता।
पेट-पालनको ही कोई
माँगकर दान लिया करता॥ ३॥

शीशपर धुन सवार रहती
किसीके नाम कमानेकी।
किसीके आदत पड़ जाती
देह पर भस्म रमानेकी॥ ४॥

साधना जो ऐसी करते,
अंत में वे ही पछताते।
कभी वे नहीं सोचते यह—
यहाँ वे क्या करने आते॥ ५॥

आज दुनियामें नकली हैं,
बहुत कम हैं असली भोले।
यहाँ तो अपने मतलबमें
गजबके सब ही हैं गोले॥ ६॥

यहाँका देना ही तो है
वहाँके लिये साथ लेना।
निकलना जगके जालोंसे
नावको अपनी है खेना॥ ७॥

किसीकी क्यों न साधना हो
अंतमें साधक पछताता।
विश्व है नश्वर, इससे वह
विनश्वर वैभव-सुख पाता॥ ८॥

सर्वदा पूरी होकर भी
अधूरी मनुज-कामना है।
उसे बस, पूरा कर सकती
रामकी सही साधना है॥ ९॥

भक्तको इधर-उधर डुलकर
तत्त्व पर आना ही पड़ता।
मोहमें, ममतामें मुँहकी
अंतमें खाना ही पड़ता॥१०॥

मुक्तिकी इच्छासे बढ़कर
भक्तिकी भव्य भावना है।
साधनाओंकी इन्द्राणी
श्यामकी शरण-साधना है॥११॥

भूल सब कर्मोंको हरिकी
मान लो यह आज्ञा सत्वर—
'छोड़ सब धर्मोंको मेरी
एक तू शरण-साधना कर'॥१२॥

साधनाको गुप्त रखनेका महत्त्व

(लेखक—डा० शिवानन्द सरस्वती एम्० ए०)

उपनिषदोंमें जिस 'परा विद्या' का वर्णन है उसे स्थान-स्थानपर 'गुह्य' या रहस्यमय कहा गया है। उसे प्रकट करनेका निषेध किया गया है। गीतामें भगवान्ने 'राजयोग' को 'गुह्य' शब्दसे प्रकट किया है। तन्त्रोंमें तो स्थान-स्थान पर—

गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः।
त्वयापि गोपितव्यं हि न देयं यस्य कस्यचित्॥

—इत्यादि शब्दोंके द्वारा साधनाको प्रकट करनेका निषेध किया गया है। किन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि ये साधनाएँ भोग-मोक्ष देनेवाली, जीव और ब्रह्मको एक बनानेवाली और आवागमनके बन्धनसे मुक्त करनेवाली हैं। इनसे बढ़कर प्राणियोंका हितकर साधन दूसरा नहीं। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी हितकर साधनाओंको गुप्त क्यों रक्खा जाय ? इनका तो सर्वसाधारणमें इतना अधिक प्रचार करना चाहिये कि एक भी व्यक्ति इनसे अपरिचित न रहे। सभी इनसे लाभ उठाकर आवागमनके चक्रसे मुक्त हो जायँ, संसारके दुःखोंमें न भटककर भगवान् तक पहुँच जायँ। हमारे शास्त्रोंमें स्वादिष्ट वस्तु दूसरेको न देकर स्वयं खा लेने और धन व्यय न करके कंजूसकी भाँति गाड़ देनेको घोर पाप बतलाया गया है। यदि इतनी साधारण वस्तुओंको दूसरोंको न देकर स्वयं उपभोग करनेसे ही पातक लगता है तो परब्रह्म-को प्राप्त करानेवाली विद्याको छिपानेमें कितना घोर पातक लगेगा ?

यह प्रश्न विचारणीय है। धर्मशास्त्रोंमें साधनाओंको गुप्त रखनेका जो आदेश है उसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि साधनाके प्रकट होनेसे स्वयं साधकको ही हानि पहुँचती है। साधारण-से-साधारण साधना भी जब जन-साधारणके सम्मुख प्रकट हो जाती है तो लोग साधकका सम्मान करने लगते हैं, या यों कहिये कि उससे साधकका यश जनसाधारणमें फैलने लगता है। इस प्रकार यशका फैलना साधकके लिये अत्यन्त अहितकर है। तन्त्रोंमें लिखा है कि 'यदि जनताको यह ज्ञात हो जाय कि यह व्यक्ति तान्त्रिक साधक है तो उसी दिन तान्त्रिककी मृत्यु समझ लेनी चाहिये।' साधनाके प्रकट होनेपर साधकको जितना ही यश प्राप्त होगा, उतनी ही मात्रामें वह साधनाके फलको कम कर देगा। इसीलिये बाइबिलमें लिखा है कि 'ढोल बजाकर दान-पुण्य न करो। जो ढोल बजाकर दान-पुण्य करते हैं, उन्हें उसका फल उसी समय मिल गया, आगे उनके लिये कुछ भी नहीं रहता।' कहते हैं ययातिके यज्ञोंका फल केवल इतनेहीमें नष्ट हो गया था कि रावणने अपने मुँहसे उन्हें प्रकट कर दिया था।

सर्वसाधारणमें यश फैलनेसे जनता साधकका सम्मान करने लगती है, धीरे-धीरे साधक भी यह समझने लगता है कि मैं अवश्य सम्मानके योग्य हूँ। इससे उसके हृदयमें सम्मानके प्रति राग उत्पन्न होता है, उससे अहङ्कार बढ़ता है। इधर यदि किसी व्यक्तिविशेषने उसी प्रकार सम्मान न किया तो द्वेष या दुःख होता है, उससे क्रोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार साधक अपनी साधनाको प्रकट करनेसे फिर उसी राग-द्वेष, अहङ्कार, क्रोध आदिके कीचड़में फँस जाता है, जिससे ऊपर निकलनेका प्रयत्न वह कर रहा है। राग-द्वेष या अहङ्कार-क्रोधके कीचड़में फँसते ही यह समझ लेना चाहिये कि आज ही सारी साधना नष्ट हो गयी है और फिर गीताके शब्दोंमें क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रमसे बुद्धि-नाश और बुद्धिनाशसे सर्वनाश ही हो जाता है।

साधनाके प्रकट होनेपर अनेकों व्यक्ति अनेकों लालसाओं-से साधकके पास आकर उसे घेर लेते हैं। कोई पुत्रकामनासे उसके चरण छूता है, कोई धनकी कामनासे पंखा झलता है, कोई शत्रुके भयसे मुक्त होनेके लिये सेवा करने लगता है। इस प्रकार भीड़के उपस्थित होनेसे साधककी साधनामें बाधा पड़ती है। उचित समयपर उसका अपना कार्यक्रम पूरा नहीं होता। मौनव्रत भङ्ग करना पड़ता है। उसका ध्यान साध्य-की ओर न रहकर उन्हीं लोगोंकी बातोंमें लग जाता है। वे सारी सांसारिक बातें होती हैं, इसलिये ध्यान भगवान्‌के चरणोंमें न रहकर सांसारिक बातोंमें लग जाता है। इस प्रकार कई प्रकारकी भावनाओंसे प्रेरित होकर साधक कभी-कभी इन सेवा करनेवाले व्यक्तियोंको कुछ आशीर्वाद दे देता है। यह आशीर्वाद देना साधकके लिये अत्यन्त घातक होता है। यदि उसकी साधना इतनी अधिक हुई कि उसका आशीर्वाद सफल हो गया तो आशीर्वादका फल उसकी साधनाके फलमेंसे काट लिया जायगा। इस प्रकार उसे अपनी साधनाका जो

फल मिलना चाहिये था, वह नष्ट होता जायगा। दूसरी ओर यदि साधना थोड़ी ही हुई और उससे आशीर्वाद सफल न हुआ तो साधक झूठा गिना जायगा और उसका अपमान-अपयश होगा।

प्रायः किसी साधककी साधना सुनकर जो बहुत-से व्यक्ति साधकके पास आते हैं वे प्रायः कुछ-न-कुछ वस्तुएँ—फल-फूल, अन्न, मिठाई या धन आदि लेकर साधकके चरणोंमें चढ़ाते हैं। इनको ग्रहण करने या इन्हें खा जानेसे साधककी साधनाको बहुत हानि पहुँचती है। कुलार्णवमें लिखा है—

यस्यान्नेन तु पुष्टाङ्गो जपं होमं समाचरेत्।
अन्नदातुः फलस्यार्धं चार्धं कर्तुर्न संशयः॥

'यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्तिके अन्नसे पुष्ट होकर जप, होम इत्यादि साधना करता है तो उसकी साधनाका आधा फल अन्नदाताको मिलता है और आधा उसे (करनेवालेको)।' इस प्रकार साधक दो रोटियोंके या सामान्य-सी वस्तुओंके लिये अपनी आधी साधना खो देता है। शेष आधे फलमेंसे कुछ तो ये चरण दबाने, पानी भरने, पंखा झलने आदि सेवा करनेवाले लोग छीन लेते हैं और कुछ साधक राग-द्वेष आदिकी भावनाओंमें आकर स्वयं ही खो देता है। इस प्रकार साधकको वर्षोंतक साधना करनेपर भी कुछ नहीं मिलता।

महाभारतमें एक साधुका वर्णन आता है, जिसने सुनारका अन्न खानेसे उसीके घर चोरी की थी। इस प्रकार यदि साधकके पास किसी ऐसे व्यक्तिका अन्न आया जो पापद्वारा अर्जित किया गया हो, तो साधक केवल अपनी साधनाका अर्धांश ही नहीं खोयेगा, उसकी मति भी भ्रष्ट हो जायगी।

इससे भी अधिक हानि उस समय होती है, जब साधकके पास चेलियाँ जुटने लगती हैं। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक श्रद्धालु हुआ करती हैं और किसी भी व्यक्तिके साधारण-से आडम्बरपर विश्वास कर लेती हैं। यदि उन्हें किसी साधकका पता लगा तो किसी-न-किसी उपायसे उसके पास पहुँच जाती हैं। वे समझती हैं कि बाबाजी धन, पुत्र, सुख आदि सभी इच्छाएँ पूर्ण कर सकते हैं। और, गीताके अनुसार, सङ्गसे काम उत्पन्न होता है, इस प्रकार साधकगण साधना और साध्यको भूलकर चेलियोंको धन, पुत्र, सुख आदि देने लगते हैं और धीरे-धीरे उनका कितना पतन हो सकता है, यह विश्वामित्र-मेनका आदिकी कथाओंसे ज्ञात हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधनाके प्रकट हो जानेपर साधकको स्वयं कितनी हानि पहुँचती है। इसीलिये भगवान् ईसाने अपने अनुयायियोंको कहा था 'Let not thy left hand know what thy right hand gives'. 'अपने बायें हाथको यह न जानने दो कि तुम्हारा दाहिना हाथ क्या पुण्य कर रहा है।' साधना एकहीसे होती है। साधना जब दूसरे व्यक्तिपर प्रकट हो जाती है तो उसी दिन नष्ट हो जाती है।

साधना करते हुए साधकको अनेकों अत्यन्त विचित्र दृश्य स्वप्नमें या प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं। ऐसी अवस्थामें यदि साधक उन्हें गुप्त रख सका तो उनकी परम्परा लगी रहती है और वे साधनाका फल कैसा होगा—यह प्रकट करते रहते हैं। किन्तु यदि उन्हें साधकने तनिक भी प्रकट कर दिया तो फिर वे दृश्य नहीं दिखायी देते और साधकका उत्साह भङ्ग हो जाता है।

साधनाको प्रकट करनेसे दूसरी हानि यह होती है कि वह अनधिकारियोंके पास प्रकट होती है। कितनी ही साधनाएँ इतनी रहस्यमय होती हैं जिनके तत्त्वको समझना अत्यन्त कठिन है। तान्त्रिक या वाममार्गी साधनाके रहस्यको तो विरले ही व्यक्ति समझ सकते हैं। जब लोग किसी बातको नहीं समझ सकते तो उसकी निन्दा करने लगते हैं। जनता उसकी मज़ाक उड़ाती है, जिसे वह समझ नहीं सकती। इसीलिये सभी साधनाओंमें उन्हें गुप्त रखनेके लिये कहा गया है। संत मत्तीके सुसमाचारमें कहा गया है—

'To you it is given to know the mysteries of God, but to them it is not'. 'तुम्हें भगवान्‌के रहस्योंको जाननेकी आज्ञा दी जाती है, किन्तु उनको नहीं जो इसके अधिकारी नहीं हैं।'

प्राचीन यूनानमें जब शिष्य गुरुसे दीक्षा लेते थे तो उन्हें अग्निके सम्मुख शपथ लेनी होती थी कि वे कभी भी अनधिकारियोंके सामने अपनी साधना प्रकट नहीं करेंगे। आरम्भमें ईसाई-धर्मके माननेवालोंमेंसे कुछ विशेष व्यक्तियोंको एक प्रकारकी दीक्षा दी जाती थी, जिसको जन-साधारणके पास प्रकट करनेपर मृत्युदण्ड दिया जाता था। इसका कारण यह है कि जो लोग रहस्यको गुप्त न रखकर

अनधिकारियोंके पास प्रकट कर देते हैं, वे उस रहस्यको जाननेके सर्वथा अयोग्य हैं, और ऐसे अयोग्य व्यक्तियोंका रहस्यसे परिचित होना सारे सम्प्रदायके लिये हानिप्रद होता है। वेट (Waite) ने लिखा है—

'It is a fatal law of the arcane sanctuaries that the revelation of their secrets entails death to those who are unable to preserve them'.

'अनधिकारी साधनाके रहस्यसे कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते और दूसरी ओर अधिकारी साधकको हानि पहुँचाते हैं।'

अस्तु, आप चाहे कैसी भी साधना करें, उसका महत्त्व अधिक हो या कम, उसे कभी प्रकट न करें। अन्तर्यामी भगवान् उसे स्वयं ही देख लेते हैं। वे ही उसका फल देनेवाले हैं। जन-साधारण तो उसके फलको छीननेवाले हैं। सर फ्रांसिस वर्नार्डने लिखा है—

'Hold fast in silence all that is your own, lest icy fingers be laid upon your lips to seal them for ever'.

'जो कुछ तुम्हें प्राप्त हो चुका है, उसे अपने ही पास गुप्त—सुरक्षित रक्खो, नहीं तो बर्फ-सी ठंढी उँगलियाँ तुम्हारे होठोंको सदाके लिये बन्द कर देंगी।'

तन्त्रोंमें स्थान-स्थानपर साधनाको योनिके समान दूसरोंसे गुप्त रखनेकी आज्ञा दी गयी है। इसका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार कुल-स्त्री अपने अङ्गोंको परपुरुषोंसे छिपाकर केवल अपने पतिके पास प्रकट करती हैं, उसी प्रकार साधकको अपनी साधना दूसरोंसे छिपाकर केवल अपने हृदयस्थित अपने पति भगवान्‌के सामने ही प्रकट करनी चाहिये।

साधकको चाहिये कि नित्य सावधानीसे यह देखता रहे कि उसकी साधना दूसरोंपर प्रकट तो नहीं हो रही है। उसकी साधनाका फल चुरानेके लिये कोई उसके निकट तो नहीं आ रहा है, जानते हुए या अनजाने वह अपनी साधनाको नष्ट तो नहीं कर रहा है?

साधना

(लेखक—श्रीकृष्णशङ्कर उमियाशङ्कर)

किसी भी वस्तुकी सिद्धिके लिये जो क्रिया की जाती है उसे 'साधना' कहते हैं। साधना संस्कृत शब्द है और धर्मसे मिलता-जुलता-सा है, परन्तु आजकलके जडवादी युगमें धर्मका तो नाम सुनते ही लोग चमक उठते हैं, पढ़नेकी बात तो दूर रही। अतएव 'साधना' या 'प्रैक्टिकल साइंस'-जैसे नामसे आजके युवक भी पूरा ध्यान देंगे, ऐसी आशा है।

सन्ध्या, पूजन, जप, तप आदिको ढोंग माननेवाले भी जब 'Practical science' नाम सुनते हैं तो तुरंत उसे पढ़नेकी इच्छा करने लगते हैं। सन्ध्या-पूजन आदि भी प्रैक्टिकल साइंस ही हैं; परन्तु यह 'साधना' तो सचमुच 'साइंस' ही है। बहुत-से लेखक केवल शास्त्रके शब्द ही उद्धृत कर देते हैं, इससे वह आजके लोगोंको रुचिकर नहीं होता। आजके युगमें तो सूगर-कोटेड-फैशनमें शब्दोंकी रचना होनी चाहिये।

इतना लिखनेका तात्पर्य यही है कि यहाँ जो कुछ लिखा जाता है, सो केवल लोककल्याणके लिये ही लिखा जाता है। जिन लोगोंकी उम्र पकी हुई है और जिन्होंने धार्मिक शिक्षा प्राप्त की है, वे तो धार्मिक लेख पढ़ेंगे ही। परन्तु मैं तो नये जमानेके लोगोंको भी इस ओर खींचना चाहता हूँ।

'साधना' शब्दका प्रयोग देवी-देवताओंकी उपासनाके लिये भी होता है, जिससे अभीष्ट महान् कार्यकी सिद्धि होती है। देश, काल, क्रिया, वस्तु और कर्ता—ये पाँचों जब साधनाके लिये उपयुक्त होते हैं, तभी साधना सिद्ध होती है।

साधना दो प्रकारकी होती है—दैवी और आसुरी। इन्हींको शास्त्रमें दक्षिण और वाममार्ग कहा गया है। दक्षिणमार्गकी साधनामें साधकको लाभ चाहे न हो, परन्तु हानि तो होती ही नहीं। पर वाममार्गकी साधनामें लाभ नहीं होता तो नुकसान ज़रूर होता है। दक्षिणमार्गमें तत्काल लाभ नहीं दीखता, धीरे-धीरे कल्याण होता है, परन्तु वाममार्गमें तत्काल ही लाभ-हानि हो जाती है।

दोनोंमें ही अक्रोध, शौच और ब्रह्मचर्यका पालन आवश्यक है। इनका पालन न करनेसे दक्षिणमार्गमें कोई फल नहीं मिलता, परन्तु वाममार्गमें बड़ा नुकसान हो जाता

है। कभी-कभी तो प्राणोंपर आ बीतती है। वाममार्गमें ज़रा भी कहीं चूके कि बलिदान होते देर नहीं लगती।

मेरे एक मित्रने किसी मन्त्रकी सिद्धिके लिये ग्रहणके दिन श्मशानमें एक आकके पेड़के नीचे बैठकर साधना शुरू की। उन्हें सामनेके पहाड़से एक अघोरी उतरता दिखायी दिया। अघोरीने श्मशानमें पहुँचकर एक बच्चेकी गड़ी हुई लाश निकाली और उसे लेकर खा गया। फिर वहीं गुम हो गया। यह देखकर मेरे मित्रका शरीर मारे डरके पसीने-पसीने हो गया, वे बड़े जोरसे चीख मारकर वहीं ढुलक पड़े। वहाँ उनकी कौन सुनता? ग्रहण शुद्ध होनेपर लोग नहानेको आये, चन्द्रमाका उजियाला हुआ, तब किसीने उनको वहाँ पड़े देखा। उठाकर मन्दिरमें लाया गया। जोरसे ज्वर चढ़ा था। तीन-चार दिनों बाद बुखार उतरा, पर वे पागल हो गये और कुछ ही वर्षोंके बाद शरीर छोड़कर चल बसे!

वेदमें ब्राह्मण और मन्त्र—ये दो विभाग हैं, किसी भी देवकी सिद्धिके लिये उस देवताकी मूर्ति, यन्त्र और मन्त्रकी जरूरत है। प्रयोगके समय वहाँ एक-दो आदमी उपस्थित रहने चाहिये। कभी-कभी तो मनुष्य एकान्तसे ही डर जाता है और यों उसका सब काता-बुना कपास हो जाता है।

मेरे एक परिचित देवीके उपासक थे। वे अपने घरमें रात्रिको सदा उनके मन्त्रका जप करते। एक दिन उन्होंने एकाएक अपने शरीरपर कुछ बिच्छुओंको चढ़ते देखा। वे काँप उठे। बिच्छुओंको झड़काने लगे। फिर मन्त्र शुरू किया, बिच्छू फिर चढ़ने लगे। बस, तबसे उन्हें सिद्धि तो मिली ही नहीं, परन्तु जहाँ जप शुरू किया कि लगे कपड़े झड़काने! उनके मनमें निश्चय हो गया कि मेरे कपड़ोंपर अभी बिच्छू चढ़ रहे हैं। ऐसे समयमें कोई दूसरा पुरुष पास होता तो शायद वे रास्तेपर आ सकते!

डामर-तन्त्रके मन्त्र तत्काल सिद्धि देते हैं, पर उनका फल थोड़े ही समयके लिये रहता है। स्थायी नहीं रहता। वे मन्त्र केवल चमत्कार दिखानेमें ही काम करते हैं।

उग्र देवताकी साधना और उग्र फलकी प्राप्तिके लिये बहुत बार अपने प्राणोंको हथेलीपर रख देना पड़ता है। गाँवों और शहरोंमें कितने ही ऐसे साधु-फकीर मिलते हैं, जिनमें कुछ लोग मैली साधनावाले होते हैं, तो कुछ शून्य साधना करते हैं और जरूरत पड़नेपर किसी-किसी समय वे उन्हें आजमाते हैं। बिच्छू और साँपोंका जहर उतारनेवाले मन्त्र-साधक तो हमलोग बहुतेरे देखते हैं। हमारे राज्यमें तो ऐसे एक सज्जन सौ रुपये मासिक वेतनपर नियुक्त हैं।

मेरे एक संबन्धीके घर हमेशा एकाध बिच्छू निकलता रहता। मेरे जातिके एक सज्जन मन्त्र-शास्त्री हैं। मैंने उनसे कहा। उन्होंने आकर मकानके आसपास अभिमन्त्रित जल छिड़क दिया। प्रायः दस मिनट बाद चारों ओरसे बिच्छू आ-आकर इकट्ठे होने लगे। लगभग पचास बिच्छुओंको पकड़-पकड़कर एक बर्तनमें भर लिया गया और उन्हें वे दूर छोड़ आये। तबसे आजतक वहाँ एक भी बिच्छू दिखलायी नहीं पड़ा।

मन्त्र-साधनाके लिये घरकी अपेक्षा एकान्त देवमन्दिर, गुफा या किसी बड़ी नदीका किनारा उत्तम है। वहाँ साधनामें सफलता शीघ्र होती है। किसी महापर्वके दिन, ग्रहणके समय, मध्यरात्रि, कालरात्रि, महारात्रि, मोहरात्रि, दारुण-रात्रि आदि दिनोंमें साधना करनेसे शीघ्र सिद्धि मिलती है।

लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिये मैंने लक्ष्मीसूक्तका 'कांसोस्मितां' मन्त्र सिद्ध करनेका निश्चय किया। दुर्गापाठमें बतलायी हुई विधिके अनुसार न्यास और ध्यानसहित मैंने उक्त मन्त्रका सम्पुट देकर जाप शुरू कर दिया। लगभग पन्द्रह सम्पुट शतचण्डी पूरी हो गयी, परन्तु मेरी साधना सफल नहीं हुई। इसपर भी मैंने प्रयोगको तो चालू ही रक्खा। एक दिन एकाएक मेरे मनमें स्फुरणा हुई कि इन मन्त्रोंको श्रीमहादेवजीने कील रक्खा है। निष्कील किये बिना सिद्धि नहीं मिलती। तब मैंने मन्त्रको निष्कील किया। बस, तुरंत ही, घी और तेलके जो दीपक स्वाभाविक जल रहे थे उनमें ज्योति पैदा हुई और वह मेरी आँखोंतक ऊपरकी ओर उठी। देवताका सिंहासन मेरे सामने था। दुर्गापाठकी पोथी खुली पड़ी थी। पाठ लगभग पूरा होनेको आया था। रात्रिके बारह बजे थे। जन्माष्टमीके कारण पास ही देवमन्दिरमें दर्शनोंके लिये दौड़-धूप हो रही थी और कोलाहल मचा हुआ था।

इसी बीच इस घटनाके बन जानेसे मैंने सोचा, मेरी आँखोंमें जल भर आया होगा, इसीसे मुझे ऐसा लगता होगा। इसलिये मैंने आसनसे उठकर आँखोंपर जल छिड़का, मुँह धोया और फिर पाठ करना शुरू कर दिया। पाठ शुरू करना था कि फिर वही हाल!

मुझे कुछ डर-सा लगा कि कहीं मैं जल न जाऊँ । अतएव मैं उठकर दर्शन करने चला गया । फिर नहा-धोकर अधूरा पाठ पूरा करने बैठा । पाठ शुरू करते ही फिर वही हाल हुआ । इस समय रात्रिके दो बजे थे । मनुष्योंके पैरोंकी आहट शान्त हो गयी थी । चारों ओर सुन-सान था । सारी पोथी और सिंहासन तेजोमय हो रहे थे । जैसे-तैसे पाठ पूरा करके मैं उठा । उस समय सबेरेके पाँच बजे थे ।

नवमीके दिन मैंने पाठ न करके केवल जप शुरू किया । जप करनेमें भी वैसा ही हुआ । तबसे मेरे लक्ष्मीजी आने लगीं । मेरी वकालतकी प्रैक्टिस बढ़ती ही गयी । यहाँतक कि किसी-किसी समय तो खाने-पीनेका भी अवकाश नहीं मिलता और अधिकांश समय मुझे सिर्फ चाय और चिउरोंपर चलाना पड़ा था । रातके दो बजेतक फुरसत नहीं मिलती ।

मैं अपने एक मित्रके साथ गिरनार पहाड़पर जा रहा था । साधु-संतोंकी चर्चा चल रही थी । मित्रने कहा, 'तुम्हें यह सब एकाएक कैसे हो गया ?' मैंने कहा—'चमत्कार देखना हो तो अभी दिखाऊँ ।' मैंने तुरंत ही 'कांसोसिता' मन्त्रका जप शुरू किया । हमलोग बहुत आगे बढ़ गये, परन्तु कुछ भी हुआ नहीं । मैं कुछ सकुचाया । जप तो चालू था । इतनेमें ही एक पेड़की ओटसे आवाज आयी—'ओ वकील साहेब !' आवाज सुनकर मेरे मित्र और मैं स्तब्ध होकर इधर-उधर देखने लगे । एक फकीरने केवड़ेकी एक पत्ती और नकद पन्द्रह रुपये पैरोंमें रखकर मेरे चरण छुए । मेरे मित्र यह देखकर मन्त्र-मुग्ध-से रह गये । मुझे याद नहीं था कि इस फकीरको लगभग डेढ़ वर्ष पहले मैंने फौजदारीसे छुड़ाया था । और ये रुपये उसीकी फीसके थे !

कई मन्त्र-देवता अन्धे होते हैं । कई बहरे, गूँगे और लूले-लँगड़े भी होते हैं । ऐसे देवताओंकी साधना कष्टसाध्य है । द्वादशमुद्राओंके साधनसे इनकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है, परन्तु अगर कहीं जरा भी चूके कि फिर चौकड़ी भूलते देर नहीं लगती ।

किसी-किसी देवतासे साधककी पूरी पटती ही नहीं, इससे वह चाहे, कितनी ही साधना करे, हाथमें आयी हुई बाजी भी छटक जाती है और साधना व्यर्थ होती है ।

सिद्ध-देवकी साधना सिद्धिप्राप्त होनेके बाद भी साधकको चालू रखनी चाहिये । नहीं तो, उस दैवी सिद्धिको अदृश्य होते देर नहीं लगती; और फिर उसका हाथ आना असम्भव हो जाता है ।

साधकके लिये प्राप्त हुई सिद्धिका उपयोग स्वार्थमें न करके परमार्थमें ही करना श्रेयस्कर है । थोड़े समयके लिये साधकको स्वार्थ-साधन होता देखकर सुख होता है, परन्तु इसके लिये आगे चलकर उसे बहुत कुछ सहन करना पड़ता है ।

हमारे यहाँ एक माताजीके भक्त हैं । उन्हें अपने कार्यमें सिद्धिका उपयोग करनेकी सूझी । मैंने उन्हें सचेत भी किया, परन्तु उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया । उनकी जाहोजलाली बढ़ती गयी । लखपतिका-सा दिखावा हो गया । सारे शहरमें उनकी कीर्ति फैल गयी । वे थोड़े-से वेतनके क्लर्क थे । कुछ ही दिनों बाद ऐसे फँसे कि उन्हें जेलयात्रा करनी पड़ी । कोर्टमें भी मैंने उनका ध्यान खींचा था । आखिर चार हजार रुपये दण्ड देनेपर किसी तरह उनकी जान छूटी । इस समय वे बिल्कुल तबाह हो गये हैं ।

'साधना' शब्दका प्रयोग केवल धार्मिक वस्तुकी सिद्धिके लिये ही होता है, ऐसी बात नहीं है । महात्मा गाँधीजी और देशके अन्यान्य नेतालोग जो कार्य कर रहे हैं, वह स्वराज्यकी साधना कहलाती है । किसी भी डिग्रीकी प्राप्ति तबतक नहीं होती, जबतक मनुष्य सरस्वती (विद्या) की साधना नहीं करता, परन्तु उसके लिये सद्गुरुकी आवश्यकता होती है । कोई उस विषयका निष्णात न हो और केवल पुस्तकें पढ़कर ही एक्सपेरीमेंट (प्रयोग) करने बैठ जाय तो उसे तो हानि ही उठानी पड़ती है ।

वायुयानकी साधना अभी सम्पूर्णरूपसे सिद्ध नहीं हुई । अभी उसके प्रयोग ही चल रहे हैं । इसमें अबतक मरजीवों-की भाँति कितनोंका बलिदान हो चुका है, और अभी और भी होना बाकी है ।

हमारे ऋषि-मुनियोंने तो हमारे सामने मानो थाल परोस कर रख दिया है । हमें नवीन शोध करनेकी आवश्यकता नहीं है । परन्तु आजकल तो साधना करनी ही है किसको ? 'साधना' के नामसे ही लोग भड़क कर भागते हैं । यदि विधिवत् शास्त्रानुसार साधना की जाय तो सिद्धि निश्चय ही मिलती है । यह मेरा अपना अनुभव है ।

'कलौ काली-विनायकौ' कलियुगमें काली और विनायककी साधना शीघ्र सिद्ध होती है । बस, इतना सुनकर

मेरे एक वकील मित्रने गणपतिकी साधना आरम्भ की। जप, तर्पण, मार्जन, होम और ब्राह्मणभोजन सभी साधनाओंमें आवश्यक हैं। कुछ खास-खास जप-तप-प्रायश्चित्तादि तो दोषनिवारणके लिये करने पड़ते हैं। इस प्रकार करते उक्त वकील मित्रको लगभग तीन महीने बीत गये। ब्रह्मचर्यका व्रत भङ्ग हुआ। इससे चौथे महीनेके चौथे दिन उन्हें रातको स्वप्नमें हाथी दिखायी दिये, वे उन्हें मारनेके लिये आगे बढ़े आ रहे थे। एक-दो बार जागे, परन्तु विशेष ध्यान नहीं दिया। फिर एकाएक जाग उठे और 'मुझे ये हाथी मार रहे हैं, बचाओ-बचाओ' पुकारते हुए दौड़ने लगे। चिल्लाहट सुनकर स्त्री-बच्चे जागे और उन्हें पकड़कर जल पिलाकर शान्त किया। सबेरे देखा गया, उनके मुँहपर सूजन थी। एक सप्ताहतक दवा हुई। आखिर ऑपरेशन कराकर दो महीने अस्पतालमें रहना पड़ा। मुश्किलसे मौतके मुँहसे बचे।

काली और विनायक बहुत उग्र देवता हैं और उनकी सिद्धि भी बहुत उग्र है। सूरतके मेरे एक परिचित सज्जनने दोनों चौथ शुरू कीं। वे जातिके ब्राह्मण हैं और भिखारीकी हालतमें थे। परन्तु प्रभुकृपासे इस समय उनकी ऋद्धि-सिद्धि लाखोंकी समझी जाती है। साधनाके बाद ही उनका विवाह हुआ। इस समय वे बाल-बच्चेवाले और ढेले-तबेलेवाले सुखी हैं।

'साधना' हिन्दूको ही सिद्ध होती है, ऐसी बात नहीं है। कोई भी हो, आस्तिकता और श्रद्धाके साथ करनेपर साधना सभीको फल देती है।

'One who runs can reach' 'जो दौड़ता है वह पहुँच सकता है।' हमें कुछ करना तो है नहीं। फिर, 'शास्त्रोंमें सब गपोड़े भरे हैं', यों कहनेसे कोई भी काम सिद्ध नहीं होगा। 'साधना' का शास्त्र 'वरदान' या 'शाप' का शास्त्र नहीं है। यह तो 'कर' और 'देख' का शास्त्र है। साधनासे भड़कनेका कोई भी कारण नहीं है। भूख मिटानेके लिये हमें रोज अन्न सिद्ध करना पड़ता है। यह जैसे हमेशाकी 'रूटीन' है; इसी प्रकार किसी बड़े कामकी सिद्धिके लिये हम बड़े लोगोंकी मदद लिया करते हैं। ठीक, इसी प्रकार हमें देवताओंकी साधना करनी चाहिये। देवताओंकी साधनासे हमें चिरस्थायी सुख मिल सकता है, यह निर्विवाद बात है।

मैं तो ऐसा मानता हूँ कि किसी भी 'साधना' के बिना मनुष्य महान् बन ही नहीं सकता। किसी एक वस्तुको तो अवश्य सिद्ध कर रखना ही चाहिये। कर्ण, भीष्म, द्रोण आदिके पास महान् सिद्धियाँ थीं। इसीसे वे महान् बन सके थे।

इस समय हम देख रहे हैं कि पश्चिमीय देशोंमें महान् आसुरी सिद्धियाँ काम कर रही हैं। इन सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये लोगोंने बड़ी-बड़ी साधनाएँ की हैं। परन्तु इन आसुरी साधनाओंकी यह चमचमाहट थोड़े ही दिनोंके लिये है। दैवी साधनामें इनसे विलक्षण और चिरस्थायी शान्ति और आनन्द है।

'राम-नाम' की साधना करनेसे समयपर अवश्य ही दर्शन होते हैं। किसी भी देवताके नामकी धुन लगानेसे मनःकामनाकी अवश्य सिद्धि होती है। विधिवत् करनेसे शीघ्र लाभ होता है और विधिवत् न करनेसे देर लगती है। यह साधना असफल तो होती ही नहीं।

कभी-कभी मनुष्य साधना शुरू तो करता है, परन्तु सिद्धि न देखकर अधबीचमें ही छोड़ देता है और फिर शास्त्रोंकी निन्दा करने लगता है। असलमें हमें इसके लिये प्यास ही कहाँ है? इसीलिये तो हम खोजमें लगनेकी तकलीफ नहीं उठाते।

महात्मा गाँधीजी स्वराज्यके लिये साधन कर ही रहे हैं। शारीरिक और मानसिक कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं। इसपर भी हम देखते हैं कि वे हिम्मत हारकर अपनी साधनाको बीचमें छोड़ नहीं बैठते। कितना जबरदस्त मनोनिग्रह है ! कैसा अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन ! और वाणीपर कितना विलक्षण अधिकार !

इसी प्रकार हमलोगोंको भी मन, वचन और कर्मको काबूमें रखकर—संयमका पालन करके श्रद्धाके साथ यथेष्ट साधना करनी चाहिये।

साधना-विज्ञान

(लेखक—पं० रामनिवासजी शर्मा 'सौरभ')

'The end and aim of all sciences is to find a unit.' (विवेकानन्द)

आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इष्ट-सिद्धि और सफलताका भी एक विज्ञान है। सम्पूर्ण इष्ट-सिद्धि और सफलता इसी क्रियात्मक साधना-विज्ञानपर निर्भर है। यही कारण है कि साधनाकी छोटी-से-छोटी प्रक्रियाके दोषसे असफलता ही नहीं मिलती, अपितु कभी-कभी साधक दुर्धर्ष विघ्नोंका शिकार हो जाता है*। यह साधना-विज्ञान मुख्यतः निम्नलिखित भागोंमें विभक्त है—

१. साधनाका स्वरूप
२. साधनाका महत्त्व
३. साधना-सौन्दर्य
४. साधनाके अङ्गावयव
५. साधनाका मुख्य उद्देश्य
६. साधनाके मूल तत्त्व
७. साधनाका सरल उपाय
८. साधनाका स्वभाव
९. सब कुछ साधनात्मक

१. साधनाका स्वरूप

किसी भी लक्ष्य या उद्देश्यकी सिद्धिके लिये जो स्वाभाविक उपाय किये जाते हैं उन्हें साधना कहते हैं, परन्तु धार्मिक दृष्टिसे विशेषतः हिन्दू-दृष्टिकोणसे उस परम पुरुषार्थको ही साधना कहते हैं जो कि आध्यात्मिक ध्येयकी प्राप्तिके लिये किया जाता है। इस साधनाका अर्थ किसी भी प्रकारकी क्रिया या कर्म होता है और वस्तुतः यही वास्तविक साधना भी है।

२. साधनाका महत्त्व

पूर्वकथनानुसार साधना ही असलमें प्रत्येक वस्तुकी प्राप्तिका उपाय है। यह सफलताकी कुंजी है, कविका कवित्व है, ऋषिका ऋषित्व है; क्योंकि ये सब साधनाके ही द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। ऐसे ही भुक्ति-मुक्ति भी साधनाका ही फल है। असलमें संसारमें प्रत्येक वस्तु या तत्त्व साधनासे ही सिद्ध होता है। साधकको साध्यवस्तु साधनाके द्वारा ही प्राप्त होती है। सारांश यह कि सब कुछ साधनाका ही विषय है।

३. साधना-सौन्दर्य

साधनाका सौन्दर्य इसीमें है कि वह दिव्य-सौन्दर्यात्मक हो, उसकी प्रत्येक बात अपने दिव्य साध्यकी उत्पादक हो, वह स्वयं सत्य, शिव और सौन्दर्यमय हो, हृदयके प्रसुप्त स्वर्गीय सौन्दर्यात्मक भावों और विचारोंको क्रियात्मक बनानेवाली हो, उसमें दिव्य आध्यात्मिक गन्ध और सरसता हो, साथ ही वह अलौकिक माधुर्य और ऐश्वर्यकी व्यञ्जनासे व्यञ्जित हो। उसकी सजीव कर्ममय स्वरलहरीसे अनन्तका निनाद निकलता हो कि जिससे मानव-मन और हृदय सौन्दर्यके स्वर्गमें परिणत हो जावे, तभी वह वास्तविक साधना कहलानेके योग्य हो सकती है। बाइबलने इसी सौन्दर्यात्मक स्वर्गीय साधनापर, देखिये, किस तरह प्रकाश डाला है—

'Heaven will be inherited by every man who has heaven in his soul.' अर्थात् 'स्वर्ग उसीको मिलेगा जिसका हृदय पहले स्वर्गीय हो गया है।' हमारे शास्त्रोंकी तो यह उच्च घोषणा है कि—

'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः।'

ऐसी दशामें सहजमें यह बात सामने आती है कि साधना अपने कार्य-कारणात्मक भावों और फलोंसे पहचानी जाती है। साथ ही वह सच्ची तभी हो सकती है जब कि उससे दिव्य भावकी प्राप्ति हो। यही कारण है कि हिन्दू-धर्ममें योगके अष्टाङ्ग अथवा अष्टाङ्ग-प्रधान सम्पूर्ण भाव-भावना और क्रियाको साधन माना है।

४. साधनाके अङ्गावयव

साधनाके अङ्गावयव इस प्रकार हैं—

क. अधिकार
ख. विश्वास
ग. गुरु-दीक्षा
घ. सम्प्रदाय
ङ. मन्त्र-देवता

* दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

क. साधनामें अधिकार-भेदकी अपार महिमा है। अधिकारकी परवा न कर असलमें कोई भी साधक साधना-द्वारा साध्यको नहीं प्राप्त कर सकता। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य जब, जहाँ, जिस अवस्थामें भी हो, वहींसे अपने लक्ष्यपर पहुँच सकता है; उसे अधिकार और अवस्था-विरुद्ध अन्य मार्ग या सोपानसे जानेकी आवश्यकता नहीं है। उदाहरणके लिये सती 'सतीत्व' से और शूर 'शूरत्व' से ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

सारांश यह कि प्रत्येक अवस्था, धर्म और कालमें ही प्रत्येक व्यक्ति साधनासे लाभ उठा सकता है, साधारण साधारणसे और विशेष विशेषसे। परन्तु लाभमें दोनों ही समान रहते हैं। यही कारण है कि व्रजकी अहीरनियाँ और वनवासी ऋषि-महर्षि एक ही दिव्य स्थानको प्राप्त हुए हैं।

ख. साधनामें विश्वास भी अन्यतम साधन है। इसके अनेक कारण हैं, उनमें मुख्यतम ये तीन हैं—

१—विश्वास स्वयं एक दिव्य भाव है। वह त्रिपुटीका कारण और कार्य भी है। साथ ही जिस विश्वासमें ज्ञान और प्रेमकी पुट है वह तो दिव्य वस्तु ही होता है। परन्तु यहाँ विश्वास-का तात्पर्य अन्ध-विश्वास नहीं, अपितु वास्तविक तत्परता है।

२—आधुनिक दृष्टिसे भी आत्मविश्वास एक महतो महीयान् तत्त्व है और यही असलमें सिद्धिका साधक है, इसीकी प्रेरणासे कर्मठको इष्ट-फल प्राप्त होता है। यह वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक रहस्य है।

३—परन्तु इसकी योगात्मक व्याख्या विचित्र है। और यही असलमें विश्वास-तत्त्वकी आत्माकी साधना है। इसका सुगुप्त रहस्य इस प्रकार है—

विश्वास शब्द 'वि' उपसर्ग और 'श्वास' के योगसे बना है। इसका साधारण अर्थ यहाँ साधकका श्वासरहित होना है, परन्तु इसका योगात्मक अर्थ श्वास अर्थात् ईडा-पिङ्गला-नाड़ीके साम्यद्वारा सङ्कल्प तथा ज्ञानकी विशुद्धि और आत्मैश्वर्यकी प्राप्ति है।

ग. साधनाका गुरु-दीक्षासे भी समधिक सम्बन्ध है। यद्यपि अनेक बार बिना गुरु-दीक्षाके भी किसी बात अथवा आन्तरिक प्रेरक कारणसे अथवा संस्कारोंके प्राबल्यसे मनुष्य स्वतः सन्मार्गके द्वारा लक्ष्यबिन्दुतक पहुँच जाता है, फिर भी इसका प्रशस्त राजमार्ग तो गुरु-दीक्षा ही है। दीक्षामें भी मुख्य वस्तु शक्तियोंकी मन्त्रद्वारा जागृति और भाव-भावना-का उद्बोधन है। सच्चा गुरु मन्त्र-शक्तिद्वारा यथाधिकार शिष्यमें साधना-विषयक शक्तिका सञ्चार कर देता है। इससे शिष्य फिर स्वतः साधना-पथपर अग्रसर हो जाता है।

घ. साधनामें साधकका साम्प्रदायिक होना भी आवश्यक है। यहाँ सम्प्रदायका अर्थ है—साधना-सम्बन्धी वातावरण उत्पन्न करना और सत्सङ्गका लाभ उठाना। परन्तु इसका सच्चा लाभ तो इस प्रकार है—

जन्मान्तरीय संस्कारोंके सिद्धान्तानुसार जन्मसे वर्ण या जाति माननेपर वर्ण और जातिके परम्परागत गुण सदैव विकासोन्मुख रहते हैं, इसी प्रकार एक ही परम्परागत सम्प्रदायमें सुदीक्षित होते रहनेके भी अनन्त लाभ हैं, इससे भी सम्प्रदायात्मक गुणोंके संस्कार स्वतः विकासोन्मुख हो जाते हैं।

ङ. साधनामे मन्त्र और देवताका भी विशेष स्थान है। साम्प्रदायिक दृष्टिसे मन्त्र-देवतात्मक दीक्षा अनिवार्य है, परन्तु मन्त्र और देवता दो वस्तुएँ होती हुई भी एक ही वस्तु है। इन दोनोंका पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है, ये दोनों असलमें एक-दूसरेसे भिन्न नहीं हैं; क्योंकि मन्त्रकी आत्मा ही देवता है और देवत्वका स्थान मन्त्र है। देवता असलमें मन्त्रात्मक ही है और इसलिये भी कि मन्त्रके द्वारा ही देवताका आकर्षण होता है। किन्तु देवताका चुनाव शिष्यके संस्कारानुसार ही किया जाना चाहिये और देवताके अनुरूप ही मन्त्रका चुनाव भी। साधक, देवता और मन्त्र—ये एक ही वस्तु-विकासके विभिन्न स्तर हैं और इनका समन्वय ही अन्तमें साधकको मुख्य ध्येयतक पहुँचा देता है। इस तरह साधक, मन्त्र, इष्ट-देव, महाशक्ति, परमतत्त्व और मुक्ति आदि सब एक ही विकासके विविध स्तर हैं और ये ही अन्तमें ब्राह्मी स्थितिमें परिणत हो जाते हैं।

५. साधनाका मुख्य उद्देश्य

साधनाके द्वारा आत्मलाभ होता है और आत्मलाभके द्वारा दिव्यत्व, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता प्राप्त हो जाती है। आत्मलाभका ही फल अनन्त विभूतियोंकी प्राप्ति भी है। भारतवर्ष कर्म-प्रधान और साधना-प्रधान देश है, परन्तु इसकी साधना मुक्ति-परक, आत्म-परक अथवा ब्रह्म-परक है। आप किसी भी सम्प्रदायपर दृष्टिपात करें, उसमें साधनाका अभिप्राय

यही मिलेगा । मन्त्र-तन्त्र-सम्प्रदायके अनुयायियोंका भी विश्वास है कि—

मन्त्राभ्यासेन योगेन ज्ञानं ज्ञानाय कल्पते ।
न योगेन विना मन्त्रो न मन्त्रेण विना हि सः ॥
द्वयोरभ्याससंयोगो ब्रह्मसंसिद्धिकारणम् ।
....॥

इसका अभिप्राय यह है कि हमारा प्रत्येक सम्प्रदायका साधनात्मक ध्येय उच्च और स्वर्गीय ही है । इस समय भी महात्मा गांधीकी गति-मति और राजनीतिमें मुक्तिकी ही प्रधानता है । मुक्ति भी केवल भारतकी ही नहीं, अपितु समस्त विश्वको और वह भी सत्य और अहिंसाके द्वारा ।

६. साधनाके मूल तत्त्व

साधनाके मूल तत्त्व तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान हैं । इनसे साधककी शक्ति और ज्ञानकी वृद्धि होती है । स्वाध्यायसे ज्ञान और तपसे शक्ति बढ़ती है । साथ ही ज्ञान और शक्तिद्वारा ही साधक परम साध्यतक पहुँच जाता है । परन्तु श्रीअरविन्दके मतसे तो अभीप्सा ही साधनाकी मूल भित्ति है, इसीसे सब कुछ हो सकता है । स्वामी विवेकानन्दके मतसे प्रत्येक प्रकारकी साधनासे मनुष्य परम-तत्त्वके मार्गका यात्री हो सकता है । वे लिखते हैं—

'All worship consciously or unconsciously leads to this end.'

'ज्ञानपूर्वक अथवा अज्ञानपूर्वक की हुई समस्त साधना-आराधनाका चरम फल आध्यात्मिक लक्ष्यकी प्राप्ति ही है ।'

महात्मा गांधी अहिंसा और सत्यके द्वारा ही बड़े-से-बड़े लक्ष्यतक पहुँचना बताते हैं । प्राचीन लोग ब्रह्मचर्य और तपको ही मुख्यता देते हैं । पातञ्जलयोग चित्त-वृत्तिके निरोधको ही परम पुरुषार्थ और साधना बताता है । स्वर्गीय स्वामी विशुद्धानन्दजी परमहंसने भक्तिको ही समस्त साधनाओंका केन्द्र बताया है । वस्तुतः किसी भी सात्त्विक उपायद्वारा गन्तव्यमार्गकी ओर चल देना ही वास्तविक साधना है । बस, फिर पूर्व-जन्मके संस्कार स्वयं अपना काम करने लगेंगे ।

७. साधनाका सरल उपाय

साधनामें आवरणको हटानेके लिये विघ्नोंका सामना करने और अभावोंको हटानेकी अपेक्षा सद्भावोंको उत्पन्न कर उन्हें सुपुष्ट करना ही सिद्धिका सर्वोत्तम उपाय है । इससे विघ्न स्वतः नष्ट हो जाते हैं और अति शीघ्र सफलता हस्तगत हो जाती है; क्योंकि किसी सीधी रेखाको हाथके द्वारा छोटी करनेकी अपेक्षा उसके बराबर एक बड़ी रेखा खैंच देना ही ठीक है, उससे वह अपने-आप छोटी हो जायगी । यही दशा मल, विक्षेप और आवरणकी भी है । वे भी सात्त्विक तत्त्वोंके सेवनसे अपने-आप नाम-शेष हो जाते हैं । पातञ्जलयोगमें इसी सरल सत्यको इस तरह समझाया है—

'अक्लिष्ट वृत्तिके संस्कारोंके द्वारा क्लिष्ट वृत्तिके संस्कार अपने-आप नष्ट हो जाते हैं ।'

८. साधनाका स्वभाव

स्वभावसे समस्त जीव-राशि उस अनन्त सत्य वस्तुकी ओर ही जा रही है । आत्माकी गति असलमें परमात्माकी ओर ही हो सकती है, विजातीय वस्तुकी ओर नहीं; नदियाँ समुद्रमें ही जाकर रहती हैं । सम्पूर्ण ब्रह्माण्डात्मक जड-चेतनका अन्तिम ध्येय असलमें आत्मलाभ ही है ।

९. सब कुछ साधनात्मक

हमारे सम्पूर्ण क्रिया-कलाप साधनामय ही हैं । ऐसी दशामें हम कुछ भी करें, कहें और सोचें, सब कुछ साधना ही है, परन्तु इन क्रियाओंका समन्वय साधनात्मक तत्त्वोंके साथ होना चाहिये । साथ ही इनमें आवश्यक सामञ्जस्य भी पर्याप्त मात्रामें हो । ऐसी दशामें प्रत्येक साधनासम्पन्न मार्ग और सम्प्रदाय यथाधिकार पृथक् होता हुआ भी एक ही सम्पूर्ण लक्ष्यका प्रदर्शक हो जाता है । यही कारण है कि लता-गुल्म, कीट-पतंग, पशु-पक्षी और देव-मानव सब ही अपनी-अपनी योनि और स्थानसे ही कभी-न-कभी अन्तिम लक्ष्यकी ओर ही पहुँचकर रहते हैं ।

जपयोगका वैज्ञानिक आधार

(लेखक—पं० श्रीभगवानदासजी अवस्थी, एम्० ए०)

आश्चर्यने सभीको अवाक् कर रक्खा था। विस्मय-विस्फारित नेत्रोंसे सभी स्त्री-पुरुष वह अविश्वसनीय घटना देख रहे थे। यदि उनकी आँखोंके सामने वह न दिखलायी गयी होती तो सुननेपर उन्हें किसी तरह भी विश्वास न होता। पर सामने, होश-हवासके दुरुस्त रहते, अपनी आँखोंसे देखते हुए वे उसे माननेको विवश थे।

लार्ड लीटनके एक सजे-सजाये कमरेमें ऊँचे दर्जेके खास-खास विद्वानों तथा विदुषियोंका एक दल एकत्र था। सभी बीसवीं शताब्दीके विज्ञान तथा आविष्कारों—खोजोंसे भलीभाँति परिचित थे। बहुत-से तो विज्ञानके पारदर्शी पण्डित थे। उनके सामने एक गायिका एक साधारण-से बाजेपर रागदारीके साथ गाना गा रही थी।

गायिकाने एक राग छेड़ा। पर्देपर खास तरहके सितारे-के रूपकी आकृतियाँ नाचती-कूदती दिखायी दीं। रागके बंद होते ही आकृतियाँ भी देखते-देखते गायब हो गयीं।

गायिकाने दूसरा राग छेड़ा। बात-की-बातमें दूसरे प्रकारकी आकृतियाँ सामने आयीं।

राग बदलते गये। आकृतियाँ भी बदलती गयीं। कभी तारे दीख पड़ते, कभी टेढ़ी-मेढ़ी सर्पाकार आकृतियाँ नजर आतीं; कभी त्रिकोण, षट्कोण दिखलायी देते; कभी रंग-बिरंगे फूल अपनी शोभासे मुग्ध करते; कभी भीषण आकृतिवाले समुद्री जीव-जन्तु प्रकट होते; कभी फलों-फूलोंसे लदे वृक्ष सामने आते; कभी एक ऐसा दृश्य दृष्टिगोचर होता जिसमें पीछे तो अनन्त नील समुद्र लहराता नजर आता और सामने नाना प्रकारकी सुन्दर छोटी-बड़ी शिलाओंके बीचमें नाना रूप-रङ्ग, आकार-प्रकारके पत्र-पुष्प-फलोंसे लदे वृक्ष मन्द-मन्द वायुके झोंकोंसे लहराते, फल-फूलोंकी वर्षा करते दीख पड़ते।

जैसे-जैसे राग बदलते गये, वैसे-ही-वैसे आकृतियाँ भी बदलती गयीं। दर्शक चकित—स्तम्भित—चित्रलिखे-से चुपचाप देखते रहे। अन्तमें गायिकाने राग बंद किया। आकृतियाँ अदृश्य हो गयीं। दर्शक-मण्डलीको चेत आया। सब अपने-अपने उद्गारोंको प्रकट करने लगे।

लार्ड महोदयने गायिकाका परिचय देते हुए कहा—'आप प्रसिद्ध अन्वेषिका श्रीमती वाट्स ह्यूस (Watts Hughes) हैं। आपको एक बार इस बाजेपर एक राग छेड़ते समय एक विशेष प्रकारकी सर्पाकृति प्रकट होती देख पड़ी। फिर आप जब-जब उस रागको छेड़तीं तब-तब वही आकृति प्रकट होती। इससे आपने यह निष्कर्ष निकाला कि राग और आकृतिका कोई प्राकृतिक सम्बन्ध अवश्य है। एक खास रागके छेड़नेपर एक खास आकृति प्रकट हो जाती है। तब आपने अनेक वर्षोंतक इसी विषयको लेकर अनुसन्धान किया। उसका जो फल हुआ है, वह आज आपके सामने प्रदर्शित किया गया है।'

इसी प्रकार फ्रांसमें दो बार इसी विषयको लेकर प्रदर्शन और परीक्षण किये गये हैं। एकमें तो मैडम लैंगने एक राग छेड़ा था जिसके फलस्वरूप देवी मेरी (Virgin Mary) की आकृति शिशु जेजस क्राइष्ट (Jesus Christ) को गोदमें लिये हुए प्रकट होती देख पड़ी थी। दूसरी बार एक भारतीय गायकने भैरव राग छेड़ा था, जिसके फलस्वरूप भैरवकी भीषण आकृति प्रकट हुई थी।

इसी प्रकार इटलीमें भी परीक्षण हो चुका है। एक युवतीने एक भारतीयसे सामवेदकी एक ऋचाको सितारपर बजाना सीखा। खूब अभ्यास कर लेनेके अनन्तर उसने एक बार एक नदीके किनारे रेतमें सितार रखकर उसी रागको छेड़ा। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वहाँ रेतपर एक चित्र-सा बन गया। उसने अन्य कई विद्वानोंको यह बात बतलायी। उन्होंने उस चित्रका फोटो लिया। चित्र वीणा-पुस्तकधारिणी सरस्वतीका निकला। जब-जब वह युवती तन्मय होकर उस रागको छेड़ती तब-तब वही चित्र बन जाता।

पश्चिमी देशोंके अनेक विज्ञानवेत्ताओंने समय-समयपर प्रदर्शन करके यह प्रमाणित कर दिया है कि एक खास तरहके रागके छेड़नेपर एक खास तरहकी आकृति बन जाती है।

इस विज्ञान और आविष्कारोंके युगमें भी यह प्रमाणित हो चुका है कि रागोंसे आकृतियोंका एक विशेष वैज्ञानिक और प्राकृतिक सम्बन्ध है। (रागके बलपर शून्यसे सवर्ण-

साकार आकृतियाँ प्रकट की जा सकती हैं।) इसी वैज्ञानिक आधारपर भारतमें शताब्दियों पूर्व जपयोगका प्रासाद निर्मित हुआ था। ईश्वरप्राप्तिके अनेक साधनोंमें 'जप' एक प्रधान साधन था। साधकोंको विशेष अक्षरोंका उच्चारण एक विशेषरूपसे करना पड़ता था। साधनामें सफल होनेपर उसे उक्त अक्षरोंसे सम्बन्ध रखनेवाले देवताके दर्शन हो जाते थे। उसके अभीष्टकी सिद्धि हो जाती थी।

भारतमें बहुत प्राचीन कालमें ही विभिन्न राग-रागिनियोंके रंग, रूप, आकार, प्रकार, गुण, प्रभाव आदिका पता लग चुका था। सिद्ध गायक राग-रागिनियोंका रूप खड़ा कर देते थे। उनके प्रभाव प्रकट रूपमें प्रदर्शित कर दिखाते थे। पर समयने पलटा खाया। वे बातें गपोड़बाजी मानी जाने लगीं। किन्तु इधर पश्चिमी वैज्ञानिकोंके अनुसन्धानने फिर बाजी पलट दी है।

अनुसन्धानके अनन्तर प्राचीन कालमें तपस्वी-ऋषि-मुनियोंको विभिन्न बीजाक्षरोंका ज्ञान प्राप्त हो गया था। इन बीजाक्षरोंके विधिपूर्वक जपद्वारा विभिन्न देवताओंकी आराधना की जाती थी और मनचाही सिद्धि प्राप्त की जाती थी। इसी प्रकार अनेक ऋषि-मुनियोंको अनेक मन्त्रोंका बोध हुआ था। कठिन तपद्वारा उन्होंने इष्ट मन्त्र प्राप्त किये थे। और उनके जपके द्वारा उन्होंने अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं।

उन्हीं मन्त्रोंके जपद्वारा समय-समयपर अनेक साधकोंने अपने-अपने इष्ट देवोंको प्रसन्न करके अपनी-अपनी अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति की है। किन्तु इधरके संशय-युगमें जपयोगसे लोगोंकी श्रद्धा उठ-सी गयी है। इसका कारण यह है कि बिना यथार्थ ज्ञानके पाखण्डी प्राणियोंने आडम्बर खड़े करके दुनियाके भोले-भाले स्त्री-पुरुषोंको बेतरह ठगना आरम्भ कर दिया। दूसरे किसी तात्कालिक लाभ अथवा इच्छा-पूर्तिकी लालसासे जपयोगके यथार्थ-तत्त्व और उस कार्यके योग्य बीजमन्त्र और जपको न जाननेवाले अज्ञानी पुरुष, जो सामने आया उसी मन्त्रका, विधि आदिके जाने ही बिना, लष्टम-पष्टम रूपसे जप शुरू कर देते हैं। इन कारणोंसे जपका जो प्रभाव होना चाहिये वह देखनेमें नहीं आता। भगवान्ने गीतामें कहा है—'यज्ञोंमें मैं जपयज्ञ हूँ (यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि)'। इसका मुख्य कारण यह है कि अन्य यज्ञोंमें जो बाहरी सामान, तैयारी, सहायता आदिकी आवश्यकता पड़ती है वे सब झंझटें जपयज्ञमें नहीं होतीं। जपयज्ञमें केवल सात्त्विक भाव, प्रेम, साधना, तन्मयता, एकाग्रताकी ही आवश्यकता पड़ती है। प्रेमभावसे किसी भी स्थान, अवस्था, समय और परिस्थितिमें इष्टदेवका जप किया जा सकता है। इसी कारण मनके एकाग्र होकर इष्टदेवमें लगते ही जपयोग सिद्ध हो जाता है और अनायास ही मनचाहे फलकी प्राप्ति हो सकती है।

जपमें मन्त्र, बीजाक्षर या इष्टदेवके नामको एक विशेष विधिसे बार-बार दोहराना पड़ता है। जप करते समय सबसे बड़ी बात है, मनको एकाग्र करके जप और इष्टदेवके ध्यानमें लगाना। किन्तु यहाँपर एक बात अच्छी तरहसे समझ लेनी चाहिये कि ध्यान और जप दो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं। अपने इष्टके रूपका एकाग्रचित्त होकर मनन करना ही ध्यान कहलाता है। नाम या मन्त्रको बार-बार दोहरानेको जप कहते हैं। ध्यान और जप दोनों एक साथ भी चलते हैं और अलग-अलग भी। ध्यान जपसहित भी होता है और जपरहित भी। बिना जपके केवल ध्यान करना जपरहित ध्यान कहलाता है। ध्यानके साथ ही, जिसका ध्यान किया जाय उसके, नाम या मन्त्रके जपको जपसहित ध्यान कहा जाता है। जब साधक अपने इष्टदेवके ध्यानमें इतना तन्मय हो जाता है कि उसकी आत्मा इष्टदेवके रूपमें लीन हो जाती है, उस समय साधक समाधिकी अवस्थामें पहुँच जाता है और उस स्थितिमें जप ध्यानमें लीन हो जानेके कारण समाप्त हो जाता है। केवल ध्यान रह जाता है।

किन्तु ध्यानकी इस उच्चतम अवस्थाके पूर्व मन, वाणी और इन्द्रियोंको एकाग्र करके इष्टदेवके ध्यानमें लगानेके लिये जपकी आवश्यकता पड़ती है। जपके नादसे सांसारिक वस्तुओं तथा विचारोंसे मनको खींचकर एक ओर लगानेके लिये प्रेम-भक्तिसे, सद्भावपूर्वक इष्टमन्त्र या नामका जप अनिवार्य है। ध्वनिके माधुर्यसे खिंचकर मन इन्द्रियोंसहित एक ओर लग जाता है। धीरे-धीरे इष्टपर ध्यान एकाग्र होने लगता है और अन्तमें बाह्य विघ्न-बाधाओं, आकर्षणों, प्रलोभनोंके जालको तोड़कर मन इष्टमें रम जाता है।

मनोविज्ञानके विद्वानोंने अनेक प्रकारके प्रयोग, परीक्षण, खोज और छान-बीनके अनन्तर यह सिद्ध कर दिखाया है कि मनुष्यके मस्तिष्कमें बार-बार जिन विचारोंका उदय होता रहता है, वे विचार वहाँ नक्श हो जाते हैं। उसी प्रकारके

भाव मस्तिष्कमें घर बना लेते हैं। फल यह होता है कि वे ही या उसी प्रकारके विचार मस्तिष्कमें बराबर चक्कर लगाया करते हैं। उनसे मनका इतना लगाव हो जाता है कि उन्हींमें वह आनन्द प्राप्त करता है। उन्हींमें मगन रहने लगता है। ऐसी दशामें दूसरे प्रकारके अच्छे-से-अच्छे विचार और हितकर-से-हितकर भाव मनको नहीं रुचते। वह उनसे जल्दी ही ऊब उठता है, भागने लगता है और अपने पुराने विचारोंके बीचमें जाकर शरण लेता है। हमारे शास्त्रकारोंने इसीको संस्कार कहा है। इन्हीं संस्कारोंसे प्रेरित होकर मनुष्य अच्छा-बुरा आचरण करता है; और उन्हीं अपने विचारों, संस्कारोंके कारण ही संसारके सामने सज्जन या दुष्ट ठहरता है।

पहले मनुष्यके मनमें विचार उठते हैं। फिर वह उन्हें वचन या कार्यद्वारा प्रकट करता है। अस्तु, मनुष्यके आचरणोंका मूल आधार उसके विचारों, भावोंमें ही रहता है। जो मनुष्य जैसे विचार रखता है, वह उसी प्रकारका हो जाता है। मनुष्य अपने विचारोंका व्यक्त या साकाररूप मात्र है।

जपसे मनुष्यके विचार संयत हो जाते हैं। बार-बार उसके मुखसे एक विशेष प्रकारके शब्द उच्चारित होते हैं। कान बराबर उन शब्दोंको सुनते हैं। मन और मस्तिष्कपर उनका निरन्तर प्रभाव पड़ता है। मस्तिष्कके कोषोंमें उनका असर पड़ता है, चिह्न बनता, संस्कार जमता और एक स्थायी प्रभाव अङ्कित हो जाता है।

जपके समय साधकके सामने इष्टदेवके रूप, गुण, कर्मका चित्र जाज्वल्यमानरूपसे उपस्थित होता है। उसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। देवोचित गुणोंका प्रभाव हितकर ही होगा। साधकके पूर्वसंस्कारोंमें परिवर्तन होता है, वे धीरे-धीरे घिसने-मिटने लगते हैं। इष्टदेवके गुणोंका प्रभाव अङ्कित होने लगता है। साधकके संस्कार इष्टदेवके रूप, गुणके अनुसार बनने लगते हैं।

एक पात्रमें जल भरा है। उसमें पिघला हुआ शीशा उड़ेला जाता है। जैसे-जैसे शीशेकी धार पात्रकी तहमें बैठती जाती है, वैसे-ही-वैसे पानीका अंश पात्रके ऊपरसे बाहर बह-कर निकलता जाता है। अन्तमें जब शीशेकी तह पात्रके मुँह-तक आती है, तब पानीका कुल भाग पात्रसे बाहर निकल जाता है। पात्रमें नीचेसे ऊपरतक केवल शीशा-ही-शीशा भरा नज़र आने लगता है।

ठीक इसी प्रकार जब साधक जपके द्वारा अपने इष्टदेवके गुणोंकी धार धीरे-धीरे किन्तु निश्चित तथा प्रबलरूपसे मस्तिष्क-कोषोंके पात्रमें उड़ेलने लगता है, तब एक-एक करके सभी गंदे विचार दूर होने लगते हैं; और अन्तमें मन-मस्तिष्क शुद्ध होकर इष्टदेवके रूप, गुण, कर्मसे भरकर भासित होने लगते हैं। वहाँ अज्ञान-अन्धकारमय असद्-विचारोंको स्थान ही नहीं रह जाता। लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, मद, मात्सर्य, क्रोध आदि सभी दूषित भाव दूर हो जाते हैं। तामस, राजस भावोंके स्थानमें शुद्ध, सात्त्विक भाव अङ्कित हो जाते हैं।

आम शब्दके कहनेसे मनमें उसके रूप, रंग, गुण, स्वादका उदय हो आता है। दुर्गन्धयुक्त गंदी वस्तुओंके नामस्मरण होनेसे मन घिनाने लगता है। उसी तरह इष्ट-देवके नामके स्मरण, उच्चारणसे दैवीगुण मनमें उदय होते हैं। मन शुद्ध हो जाता है। विकार दूर हो जाते हैं। साधक दैवी भावको प्राप्त होने लगता है। जप इष्टदेवकी प्राप्तिका सरल वैज्ञानिक अचूक उपाय है।

राम रम रहा है

दादू देखौं दयाल कौं सकल रह्या भरपूरि।
रोम रोम में रमि रह्या तूँ जिनि जाणै दूरि॥
दादू देखौं दयाल कौं बाहरि भीतरि सोइ।
सब दिसि देखौं पीव कौं दूसर नाहीं कोइ॥

—दादूजी

आत्मतत्त्व विद्यातत्त्व शिवतत्त्व तुरीयतत्त्व

(लेखक—श्रीकृष्ण काशीनाथ शास्त्री)

साधनमें प्रवृत्त होनेवाले साधकको तत्त्वज्ञान होना आवश्यक है। तत्त्वोंकी आवश्यकताका प्रारम्भ आचमनसे ही होता है। जिस प्रकार साधारण आचमन—

ॐ केशवाय स्वाहा।
ॐ नारायणाय स्वाहा।
ॐ माधवाय स्वाहा।

—हम इन तीन मन्त्रोंसे करते हैं उसी प्रकार दुर्गा, काली, तारा, महाविद्या, षोडशी आदि महाविद्याओंके क्रममें, तथा सभी तान्त्रिक महाविद्याओंके क्रममें तथा सभी तान्त्रिक मन्त्रोंकी साधनाके आरम्भमें मूल-मन्त्रसहित इन तत्त्वोंसे चार आचमन किये जाते हैं। यथा—

ॐ आत्मतत्त्वाय स्वाहा।
ॐ विद्यातत्त्वाय स्वाहा।
ॐ शिवतत्त्वाय स्वाहा।
ॐ सकलतत्त्वाय स्वाहा।

स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह, कारणदेह और महाकारण-देहके शोधनमें भी इन तत्त्वोंका उच्चारण करना अनिवार्य है।

आत्मतत्त्वसे स्थूलदेहका शोधन किया जाता है। विद्या-तत्त्वसे सूक्ष्मदेहका, शिवतत्त्वसे कारणदेहका और सकल-तत्त्वसे महाकारणदेहका शोधन किया जाता है। अब, तत्त्वका स्वरूप क्या है, संख्या कितनी है और तत्त्वातीत क्या है? यह हम इस लेखद्वारा 'कल्याण' के प्रेमियोंको समझानेकी चेष्टा करते हैं।

यह विश्व ३६ तत्त्वोंसे बना है। ये ३६ तत्त्व प्रलय होनेतक विद्यमान रहकर जगत्‌को भोगकी सामग्री देते हैं। प्राणियोंके शरीर, घट, पट—ये तत्त्व नहीं हैं।

आप्रलयं यत्तिष्ठति सर्वेषां भोगदायि भूतानाम्।
तत्तत्त्वमिति प्रोक्तं न शरीरघटादि तत्त्वमतः॥

(सूतसंहिता)

सुषुप्ति-अवस्थामें जैसे जीवोंका संसार लय होकर सूक्ष्मरूपसे जीवोंमें स्थित रहता है, ठीक उसी प्रकार, प्रलयकालमें यह जगत् सूक्ष्मरूपसे परशिवके कुक्षिगत रहता है। सब जीव, अपने अदृष्ट पञ्चभूत तथा जीवोंके संस्कार सूक्ष्मरूपसे परशिवमें रहते हैं, जैसे वट-बीजमें वटवृक्ष रहता है। ये संस्कार परशिवके पुनः सृष्टि उत्पन्न करनेमें सहकारी होते हैं।

केवल निजरूपमें अवस्थित परशिवकी जब प्रजोत्पादनकी इच्छा होती है कि 'बहु स्यां प्रजायेय', तब इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति, इन तीनोंके योगसे वे जगत् उत्पन्न करते हैं। यह जगत् ३६ तत्त्वोंसे निर्मित है। इन ३६ तत्त्वोंके तीन विभाग हैं—(१) आत्मतत्त्व (२) विद्यातत्त्व और (३) शिवतत्त्व अर्थात् (१) सत् (२) चित् (३) आनन्द।

आत्मतत्त्वमें ३१ तत्त्वोंका समावेश होता है वे इस प्रकार हैं—

आत्मतत्त्वः—

पृथ्वी	उपस्थ	बुद्धि
आप	पायु	मन
तेज	पाद, पाणि	प्रकृति
वायु	वाक्	जीव
आकाश	घ्राण	नियति
गन्ध	रसना	काल
रस	चक्षु	राग
रूप	त्वचा	कला
स्पर्श	श्रोत्र	अविद्या
शब्द	अहङ्कार	माया

विद्यातत्त्वः—

(१) सदाशिव (२) ईश्वर (३) विद्या

शिवतत्त्वः—

(१) परम शिव (२) शक्ति

मायान्तमात्मतत्त्वं विद्यातत्त्वं सदाशिवान्तं स्यात्।
शक्तिशिवौ शिवतत्त्वं तुरीयतत्त्वं समष्टिरेतेषाम्॥

अर्थात् 'पृथ्वीसे मायातक ३१ तत्त्वोंकी समष्टि आत्म-तत्त्व है, यह सत्-रूप है। विद्यातत्त्वसे सदाशिवतत्त्वतक 'विद्यातत्त्व' चित्-रूप है, शक्ति और शिवतत्त्व 'आनन्दरूप' हैं। इन तत्त्वोंकी समष्टि 'तत्त्वातीत' नामक सच्चिदानन्द 'तुरीयतत्त्व' है।

अब हम इन ३६ तत्त्वोंकी क्रमशः व्याख्या करते हैं:—

(१) परम शिव—

जगत्‌के उत्पादनकी इच्छासे युक्त परम शिव, यह 'शिव' नामक प्रथम तत्त्व है।

(२) शक्ति

परम शिवकी सिसृक्षा—जगत् उत्पन्न करनेकी इच्छा—यह दूसरा तत्त्व है।

(३) सदाशिव

मैं जगद्रूप हूँ, इस प्रकार परम शिवका जगत्‌को अहन्तारूपसे देखना—इस वृत्तिसे युक्त 'सदाशिव' नामक तीसरा तत्त्व है।

(४) ईश्वर

यह केवल जगत् है, इस भेदविषयिणी वृत्तिसे युक्त 'ईश्वर'—यह चतुर्थ तत्त्व है।

(५) विद्या

यह जगत् मेरा ही स्वरूप है, ऐसी जो सदाशिवकी वृत्ति है, इसको विद्या कहते हैं—यह पाँचवाँ तत्त्व है।

(६) माया

यह जगत् है, ऐसी ईश्वरकी भेद-विषयिणी वृत्ति 'माया' नामक छठा तत्त्व है।

(७) अविद्या

पूर्वोक्त विद्याको तिरोहित करनेवाली तथा विद्याकी विरोधिनी 'अविद्या' कहलाती है—यह सातवाँ तत्त्व है।

(८) कला

जीवनिष्ठ सर्वकर्तृत्व-शक्तिका संकोच होकर केवल यत्किञ्चित् करनेका सामर्थ्य होना—यह 'कला' नामक आठवाँ तत्त्व है।

(९) राग

जीवनिष्ठ जो नित्यतृप्ति, वही संकुचित होकर कुछ विषयोंकी प्राप्तिके लिये अतृप्त रहती है—यह 'राग' नामक नवम तत्त्व है।

(१०) काल

जीवनिष्ठ-नित्यताका संकोच होकर, जीव इन षट् भावोंसे युक्त होता है—वे षट् भाव ये हैं:—

(१) अस्तित्व (३) वृद्धि (५) क्षय
(२) जनन (४) परिणमन (६) नाश

इन षट् भावोंके सहित जीवकी नित्यताका संकोच—यह 'काल' नामक दसवाँ तत्त्व है।

(११) नियति

परशिव और जीवका अभेद होनेसे, जिस प्रकार परशिव स्वतन्त्र है उसी प्रकार जीव भी स्वतन्त्र है, परन्तु अविद्याके कारण जीवकी आनन्दशक्तिकी स्वतन्त्रताका संकोच होकर यह जीव दूसरे कारणकी अपेक्षा रखता है—यह 'नियति' नामक ग्यारहवाँ तत्त्व है।

(१२) जीव

उपर्युक्त नियति, काल, राग, कला और अविद्या—इन उपाधियोंसे युक्त 'जीव' यह बारहवाँ तत्त्व है।

(१३) प्रकृति

सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणोंका साम्य 'प्रकृति' है—यह तेरहवाँ तत्त्व है।

(१४) मन

सत्त्वगुण और तमोगुण दबे हुए हों और रजोगुण-की प्रधानता हो, इसको 'मन' कहते हैं—यह चौदहवाँ तत्त्व है। मन सङ्कल्पका कारण है।

(१५) बुद्धि

रजोगुण तथा तमोगुण दबे हुए हों और सत्त्वगुणकी प्रधानता हो वह 'बुद्धि' नामक पन्द्रहवाँ तत्त्व है।

(१६) अहङ्कार

सत्त्वगुण और रजोगुण दबकर तमोगुणकी श्रेष्ठता हो, वह विकल्पका कारण 'अहङ्कार' होता है—यह सोलहवाँ तत्त्व है।

१७ से ३६ तक तत्त्व हैं—

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी।

इन २० तत्त्वोंका अर्थ स्पष्ट है।

यह आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्वका अर्थात् सत्, चित् और आनन्दका वर्णन हुआ। तुरीय-तत्त्व इन तीनों तत्त्वोंकी समष्टि 'सच्चिदानन्द' है।

'तुरीयतत्त्वं समष्टिरेतेषाम्'

यही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' है, यही अक्षर है, अनिर्देश्य है, अव्यक्त है, सर्वव्यापी है, अचिन्त्य है, ध्रुव है, कूटस्थ है और अनिर्वचनीय है। उक्त ब्रह्ममें जो शक्ति विलीन रहती है, उसका नाम सरस्वती है, उसका वाहन हंस है, हकार शिवका वाचक है, सकार शक्तिका वाचक है। हकार अहंका पर्याय है और सकार इदम् (जगत्) का पर्याय है, सोऽहम् यह हंसः का उल्टा है, 'सोऽहम्' प्रपञ्चसे ब्रह्मकी ओर संसरण करता है और 'हंसः' यह ब्रह्मसे शक्तिकी ओर, यही अजपाजप गायत्री है, जिसके २१६०० जप नित्य जीव अपने श्वासोच्छ्वाससे करता रहता है।

'हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।'

यही तत्त्वातीतका जप है, जो जीवनभर चलता रहता है। योगीके लिये यह तत्त्वातीतका जप है, प्राकृत जनोंके लिये यह धमनीका चलना है।

परब्रह्मके साथ ऐक्य-सिद्धि प्राप्त करना, यही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है। 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' स्वयं शिवरूप होकर शिवकी पूजा करना है, इसलिये हमें इस मायामोहरूपी ३६ तत्त्वोंके जगत्का शिवरूप संवित् (ज्ञान) अग्निमें हवन करना चाहिये। यथा—

अन्तर्निरन्तरमनिन्धनमेधमाने
मोहान्धकारपरिपन्थिनि संविदग्नौ।
कस्मिंश्चिदद्भुतमरीचिविकासभूमौ
विश्वं जुहोमि वसुधादि शिवावसानम्॥

'देहमें बिना ईंधनके ही निरन्तर प्रज्वलित रहनेवाली, अद्भुत प्रकाशसे युक्त, मोहरूपी अन्धकारका नाश करनेमें कुशल, ऐसी अनिर्वचनीय संवित् अग्निमें हम, षट्‌त्रिंशत् तत्त्व-मय जगत्—जिसका आदि तत्त्व 'वसुधा' और अन्तिम तत्त्व 'शिव' है—हवन करते हैं अर्थात् मायामोहके आवरणको भस्म करके हम उस परमात्माके साथ अपना योग करते हैं।'

निष्कले परमे सूक्ष्मे निर्लक्ष्ये भाववर्जिते।
व्योमातीते परे तत्त्वे प्रकाशानन्दविग्रहे॥
विश्वोत्तीर्णे विश्वमये तत्त्वे स्वात्मनियोजनम्॥

'जीवात्माका परमात्माके साथ योग करे, जो परमात्मा सच्चिदानन्द है, अखण्ड है, महत्से भी महान् है, अणुसे भी सूक्ष्म है, अलक्ष्य है, केवल भावनागम्य है, जिसका प्रकाशानन्द स्वरूप है, जो ३६ तत्त्वोंसे परे है और जो ३६ तत्त्वमय है।' ऐसे परमेश्वरके साथ ऐक्यसिद्धि प्राप्त करे और भावना करे कि—

अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्॥

अर्थात् 'मैं प्रकाशरूप हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं नित्यमुक्त हूँ, मैं सच्चिदानन्द हूँ और शोक-मोह-अज्ञानसे परे हूँ'—यही 'जीवशिवयोरैक्यसिद्धिः' है। इसी सिद्धिको प्राप्त करना मुमुक्षु साधकका परम पुरुषार्थ है।

राम-नाममें ऐसा चित्त लगे

जो चित लागै राम नाम अस॥ टेक॥
तृषावंत जल पियत अनँद अति।
थलकहि गाँव मिलत है जौन जस॥
निर्धन धन सुत बाँझ बसत चित।
संपति बढ़त न घटत जौन अस॥

—गुलाल साहेब

मध्यम मार्ग

(लेखक—श्री'सुदर्शन')

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
(गीता ६ । १७)

भगवान् बुद्ध एक पर्वतपर आसन लगाये बैठे थे । उन्होंने आहार, जल और निद्रा सब छोड़कर—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थिमांसानि लयं प्रयान्तु ।
अप्राप्य बोधं बहुकल्पदुर्लभं
नैवासनात्कायमिदं चलिष्यति ॥

—का दृढ़ निश्चय कर लिया था। दिन-पर-दिन और रात-पर-रात बीतती चली जा रही थी; किन्तु अमिताभके मनमें न तो शान्ति आयी और न स्थिरता । चित्त उनका अशान्त था, वे विक्षिप्त हो रहे थे ।

मैं यह माननेको प्रस्तुत नहीं कि यह विकलता भगवान् बुद्धमें वस्तुतः थी। उन आत्माराम आप्तकाममें भला उद्विग्नताको कहाँ अवकाश ? पर जैसे साधकोंके कल्याणार्थ उन्होंने वैराग्यका प्रदर्शन किया, वैसे ही आवेशकी व्यर्थता दिखलानेके लिये उनका यह नाटक रहा होगा ।

एक-दो नहीं, उस अवस्थामें इस प्रकार चालीस दिन व्यतीत हो गये । अन्तमें सहसा उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई । वे धीरेसे आसन छोड़कर हाथ और पैरोंके बलसे खिसकते हुए जलके किनारे पहुँचे । शरीर निर्बल हो रहा था । आचमन किया और एक चिथड़ेको धोकर उसकी कौपीन लगायी । वहाँसे वे नगरमें आये और भिक्षा की ।

भिक्षा करके भगवान् पुनः लौटे और उन्होंने बोधि-वृक्षके नीचे आसन लगाया । यहीं उन्हें ज्ञान होकर बुद्धत्वकी प्राप्ति हुई और वे उस ज्ञानका प्रचार करने सारनाथ गये ।

भगवान्‌ने अपने इस साधन-मार्गका नाम 'मध्यम मार्ग' रक्खा । मैं बौद्ध ग्रन्थोंके उन पारिभाषिक शब्दोंके फेरमें नहीं पड़ना चाहता, जो मध्यम मार्ग शब्दकी अपने ढंगकी व्याख्या करते हैं । मुझे तो उस मध्यम मार्गपर विचार करना है, जिसका सङ्केत लेखके आरम्भमें दिये गीताके श्लोकमें है ।

बौद्ध धर्मके पारिभाषिक मध्यम मार्गकी ओर न जाते हुए भी मैं विवक्षित मार्गको मध्यम मार्ग इसलिये कह रहा हूँ कि वह न तो उग्र हठका मार्ग है और न आलस्यका । जीवनको माध्यमिक दशामें रखकर ही उसका साधन किया जा सकता है । जो साधक अपने साधनमें सफलता चाहता है, उसके लिये यह सर्वोत्तम ही नहीं, अपितु एकमात्र मार्ग है । कोई भी साधन बिना माध्यम स्थितिमें आये पूर्णताको प्राप्त हो नहीं सकता ।

साहित्य एवं उपदेश दो प्रकारके होते हैं—प्रचारात्मक और क्रियात्मक । लोगोंको प्रोत्साहित करने और उनमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये अधिकांश प्रचारात्मक साहित्य प्रस्तुत होता है । सभा, कथा, सत्संग, उपदेश भी अधिक इसी उद्देश्यसे होते हैं। क्रियात्मक साहित्य और उपदेश थोड़ा होता है और उसके अधिकारी भी थोड़े ही होते हैं। साधनके आध्यात्मिक पथमें क्रियात्मक बातें गुप्त भले न रहें, पर वे कुछ निश्चित अधिकारके व्यक्तियोंतक सीमित अवश्य रहती हैं । दूसरोंके सम्मुख होनेपर भी गम्भीरताके कारण वे उसे ग्रहण नहीं कर पाते ।

साधारण समाज प्रायः ओजपूर्ण उत्तेजनात्मक बातें सुनना और सोचना पसन्द करता है । व्यावहारिकताकी कसौटीपर कसकर उन ऊँची उड़ानोंकी परीक्षा करनेके लिये वह तत्पर नहीं होता । ऐसी बातोंको वह साहसहीनता, कायरता और हतोत्साह करनेवाली समझकर उनकी उपेक्षा एवं परिहास करता है ।

साधनेच्छु व्यक्ति उसी साधारण समाजमेंसे आता है । अपने गन्तव्य पथके विषयमें वह एक अनुभवशून्य पथिक होता है । उसे आगे आनेवाली कठिनाइयोंका ज्ञान या तो होता ही नहीं और यदि होता भी है तो वह उन्हें कोई महत्त्व नहीं देता । वह अपनी शक्तिसे अपरिचित होता है । उसे अपने उस अल्हड़ साथी (मन) के स्वभावका तनिक भी पता नहीं होता, जिसके ऊपर उसकी वर्तमान यात्राकी सफलता या असफलता निर्भर करती है ।

वह नव यात्री आता है प्रचारात्मक साहित्यका उबलता जोश लिये हुए । उसके भीतर एक तूफान होता है । वह

उच्च-से-उच्च आदर्शको आदर्शकी भाँति नहीं, कार्यकी भाँति देखते हुए स्वयं झटपट 'रोटी सेंकी और खा लिया' की भाँति, वैसा बन जानेकी आशा करता है । वह उन कठिनाइयोंको ध्यानमें भी नहीं लाता जो कि उसने पढ़ी और सुनी हैं, जिनसे उसे बार-बार सावधान किया गया है ।

'मनुष्य-जीवन अमूल्य सम्पत्ति है । यदि यह खो गयी तो फिर पश्चात्ताप करते हुए चौरासी लक्ष योनियोंमें भटकना ही हाथ रहेगा । कोई ठिकाना नहीं कि काल कब इस अमूल्य धनको हमारे हाथसे छीन ले । इसलिये उठो और इसी क्षण उस परम लक्ष्यको प्राप्त करनेमें लग जाओ ! तुम उसे प्राप्त कर सकते हो ! उसे प्राप्त करनेके लिये ही तुम्हारा यह जीवन है ! वह तुम्हारा स्वरूप है । कोई शक्ति नहीं जो तुम्हें उसके प्राप्त करनेसे रोक सके । उठो, पूरी शक्तिसे लग जाओ और लक्ष्यको प्राप्त करो !' ऐसी ही बातें प्रायः उस नव पथिकने सुनी हैं और सुनता रहता है ।

प्रायः उसके सम्मुख ध्रुव, प्रह्लाद प्रभृतिके आदर्श होते हैं । वह युग और शक्तिपर ध्यान न देकर सोचता है, 'मैं भी इसी प्रकार घोर साधन करूँगा । थोड़े ही समयमें मैं अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लूँगा !' उत्साह और साहस बुरा नहीं है । मैं भी उसकी प्रशंसा ही करूँगा; पर जिसे कार्यक्षेत्रमें आना है, उसे व्यावहारिकतासे परिचित होना ही चाहिये ।

प्रारम्भिक साधकको जोश दिलाया गया होता है तीव्रसे तीव्रतर गतिको लेकर बढ़नेका । वह जीतोड़ श्रम करता है; लेकिन उसे श्रम करनेकी रीतिका पता नहीं होता । वह अभ्यास नहीं करता । अभ्यासको वह जानता ही नहीं । वह करता है बलप्रयोग ! भला बलप्रयोग कहीं स्थायी होता है ! आवेशका अनिवार्य परिणाम श्रान्ति है ।

उदाहरण लेकर देखिये—एक व्यक्तिने सुना है कि व्यायाम करनेसे शरीर पुष्ट होता है । व्यायाम शक्ति देता है । वह अखाड़ेमें गया और पहले दिन ही उसने दण्ड-बैठकोंमें अपनेको थका लिया । सम्भव है कि दूसरे दिन भी किसी प्रकार वह पहले दिनकी संख्या पूरी कर ले; परन्तु तीसरे दिन उसके लिये उठना-बैठना भी कठिन हो जायगा । ज्वर आ जाय तो भी आश्चर्य नहीं । इस प्रकारका व्यायाम शरीरके लिये लाभके बदले हानि अधिक करेगा और अन्तमें ऊबकर वह व्यक्ति व्यायामको ही छोड़ देगा ।

प्रकृतिका नियम है कि जहाँ आघात होगा, वहाँ प्रत्याघात होना ही है । साधक जब मनपर अत्यन्त दबाव डालने लगता है तो कुछ समय वह समझता है कि मैं साधनमें अग्रसर हो रहा हूँ । यह दशा अधिक दिन नहीं टिकती । मनसे उस बलप्रयोगका प्रतीकार होने लगता है । अनेक ऐसे सङ्कल्प-विकल्प उठने लगते हैं जो साधन न करनेके समय भी नहीं उठते थे । मन चञ्चल हो जाता है और लाख प्रयत्न करके भी स्थिर नहीं हो पाता । साधक समझने लगता है कि वह अपनी साधन-समयसे पूर्वकी स्थितिसे भी नीचे पहुँच गया है । उसके मनमें साधनपर ही सन्देह होने लगता है ।

मनपर दबाव डालना साधकके लिये कभी हितकर नहीं होता । भगवान्ने गीतामें 'अभ्यासेन तु' कहकर और महर्षि पतञ्जलिने अपने योगदर्शनमें 'अभ्यासवैराग्याभ्यां' के द्वारा साधन-पथका निर्देश किया है । बलप्रयोगकी चर्चा कहीं भी नहीं है । गीतामें भगवान्ने हठपूर्वक शरीरको पीड़ा देकर होनेवाले तपको तामस तप कहा है । उन्होंने बताया है कि—

> कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
> मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥
> (१७ । ६)

'जो मूर्ख शरीरके पाञ्चभौतिक नस, नाड़ी, मांस आदिको (बलपूर्वक) खींचते (पीड़ित करते) हैं और (इस प्रकार) मुझ शरीरमें रहनेवालेको (परमेश्वर जो जीवात्मारूपसे है उसे) पीड़ित करते हैं, उन्हें आसुर (तामस) निश्चयवाले समझो ।'

अभ्यासका अर्थ है स्वभाव डालना—जितना मन और शरीर सरलतासे सह सके, उससे आरम्भ करके धीरे-धीरे उसे इस प्रकार बढ़ाना कि वह असह्य न हो और वैसा करनेका स्वभाव बन जाय । आरम्भ एक छोटी मात्रासे करके उसे बहुत धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये । अभ्यासका यह नियम है कि उतना ही बढ़ाया जाय जिसे फिर कभी घटाना न पड़े ।

यह अभ्यासक्रम पर्याप्त समयतक चल सकता है । इसमें उद्विग्नता होनेकी सम्भावना एक प्रकारसे नहीं ही होती । समय लगता अवश्य है, पर साधक मनकी प्रतिक्रियासे सुरक्षित रहता है । उसे उस प्रत्याघातका सामना नहीं करना पड़ता, जो एक दुःखद अवस्था है और जिसे सहन करना कठिन पड़ता है । फिर उससे कोई लाभ भी नहीं होता ।

प्रत्याघातकी शान्तिपर साधकको पता लगता है कि उसके बलप्रयोगका कोई प्रभावकारी सुफल उसे नहीं मिला।

यह एक कठिनाई है कि प्रारम्भिक साधकको यह अभ्यासक्रम नहीं समझाया जा सकता। वह आवेश लिये और उतावला होता है। उसे बलप्रयोगकी धुन रहती है। ऐसी बातोंको वह हतोत्साह करनेवाली समझता है। दो-चार बार बलप्रयोग और उसके अनिवार्य परिणाम मनकी चञ्चलताके द्वारा ताड़ित होकर तब कहीं वह अभ्यासकी ओर आता है। यह स्वाभाविक होते हुए भी भयङ्कर है। प्रत्याघातके समय प्रायः ऐसा होता है कि साधकका विश्वास साधनपरसे जाता रहता है। वह उसे छोड़ देता है। यहाँतक भी कुशल है। पर बहुधा वह दूसरा साधन करने लगता है और उसमें भी वही पहली भूल करता है।

मैंने देखा है कि इस प्रकार कई साधन पकड़ने और छोड़नेके पश्चात् साधककी श्रद्धा साधनमात्रपरसे उठ जाती है। वह आध्यात्मिकताको एक भुलावा मानने लगता है। अपनी भूलके कारण मनुष्य-जीवनके लक्ष्यसे दूर जा पड़ता है। यह घातक परिणाम रोका जा सकता है, यदि एक प्रत्याघातके पश्चात् उसे कोई दूसरा उसकी भूल समझा दे और पुनः उसे अभ्यास-क्रममें लगा दे। ऐसे अवसरपर साधन बदलनेसे कोई लाभ नहीं।

यह एक भ्रान्ति है कि यदि एक घंटेके जपमें पाँच मिनट मन एकत्र रहता है तो पाँच घंटेके जपमें पचीस मिनट एकत्र रहेगा। यह गणित मनके ऊपर नहीं घटता। मनका स्वभाव है कि वह किसी भी कामको प्रारम्भमें पसंद कर लेता है और फिर उससे ऊब जाता है। फिर वह उसमें रस नहीं लेता। जो लोग लगातार पूरे दिन साधनमें लगे रहते हैं, उनमें यदि महापुरुषोंको अपवाद मान लिया जाय तो शेष प्रायः या तो ऊँघते रहते हैं, अथवा उनका मन कहीं इधर-उधरकी सोचता रहता है।

मनके लिये कोई एक वस्तु प्यारी नहीं। वह नवीनतासे प्रेम करता है। अच्छी-से-अच्छी वस्तुको भी छोड़ देता है और उससे घटियाको भी चाहने लगता है। सुस्वादु भोजन पानेवाला सम्पन्न पुरुष भी एक बार रूखी रोटियाँ पाकर प्रसन्न होता है। इस बातको न समझनेके कारण साधक किसी नये साधनमें एकाग्रता प्राप्त करके उसकी ओर आकर्षित हो जाता है और अपने पुराने साधनको छोड़ बैठता है। नये साधनकी एकाग्रता भी उसकी नवीनता-तक रहती है। मन बादको उसमें भी वैसे ही रुचि नहीं रखता जैसे पहले साधनमें। अतः यह समझ लेना चाहिये कि साधनका बदलना कोई लाभकारी बात नहीं।

मैं पहले कह चुका हूँ कि मन नवीनतामें आकर्षित होता है। विश्वास न हो तो तीर्थवासियों, मन्दिरके पुजारियों, कथावाचकोंके अपने साथियों और संत-महात्माओंके निकटस्थ व्यक्तियोंके जीवनको देखिये। जहाँ कुछ घंटे रहनेसे आप श्रद्धा और सात्त्विकतासे भर गये थे, वहीं सर्वदा रहनेवालोंपर उसका कोई प्रभाव नहीं। वह मूर्ति जो आपको आकर्षणका केन्द्र जान पड़ती है, पुजारीके लिये उसमें कोई आकर्षण नहीं। वह उपदेश जो आपको विह्वल बना रहे हैं, उपदेशकके भाईपर उनका कोई प्रभाव नहीं। कारण यह है कि वे उसे रोज-रोज देखते और सुनते हैं। उनके लिये वह सामान्य हो गया है। आपने उसे प्रथम देखा या सुना है, आपके लिये वह नवीन अतः आकर्षक है।

एक हलवाई क्या मिठाइयोंको वैसे ही चाहता है, जैसे कोई रूखी रोटीसे पेट भरनेवाला गरीब बालक? पर यदि उसी बालकको मिठाईकी दूकानमें नौकर रख लिया जाय और यथेच्छ मिठाई खानेकी छुट्टी दे दी जाय तो क्या वह सदा पूर्ववत् मिठाइयोंमें स्वाद और आकर्षण प्राप्त कर सकेगा? इसी प्रकार आपको भी स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ आज आपने इतना अधिक आकर्षण पाया है, वहीं यदि सदा रहने लगेंगे तो आपको कोई लाभ नहीं होगा। उस स्थान या व्यक्तिका आपपर कोई प्रभाव सदा नहीं पड़ सकता।

एक दिनके लिये किसी स्थान या व्यक्तिमें आकर्षण देखकर उसके पास रहनेको उतावला होना पागलपन है। इस प्रकार घर छोड़कर बाहर जा बसनेवाले साधक निराशा-के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाते। यदि साधन किसी एक स्थानमें रहकर नहीं होता तो वह दूसरे स्थानमें जाकर भी नहीं होगा। मन बाह्य प्रभावोंसे एकाग्र नहीं किया जा सकता। ये प्रभाव तो क्षणिक होते हैं। उनकी नवीनताके कारण मन उधर खिंचता है। एकाग्रता तो प्राप्त करनी होगी। वह धैर्य-पूर्वक साधनके क्रमिक अभ्याससे प्राप्त होगी। वह आभ्यन्तर-की वस्तु है। बाहर उसको नहीं पाया जा सकता।

जो कुछ भी करना है, वह साधकको स्वयं करना होगा। दूसरे उसे केवल उत्साह दिला सकते हैं, भूलें बतला सकते

हैं और गन्तव्य पथका एक धुंधला परिचय दे सकते हैं। चरम स्थिति कोई बाह्य वस्तु नहीं, जिसे कोई उठाकर दे देगा। वह अपने ही अन्तरकी वस्तु है। वह अपने ही साधनसे मिलेगी। किसीके लिये कोई दूसरा साधन नहीं कर सकता। यदि कोई ऐसा करे भी तो वह व्यर्थप्राय है।

लोग विवेकानन्दजीपर परमहंस रामकृष्णकी कृपाके समान दृष्टान्त ढूँढ़ लेते हैं और कल्पना कर बैठते हैं कि उन्हें भी कोई ऐसा ही महापुरुष मिल जायगा। ऐसे लोग स्वयं तो कुछ करना चाहते नहीं, महापुरुषोंके पीछे पड़े रहते हैं। एकसे निराश होकर दूसरे और दूसरेसे तीसरे, इस प्रकार एक-न-एकके पीछे पड़े रहना उनका स्वभाव बन जाता है। मैं पूछता हूँ कि महापुरुष क्यों एक व्यक्तिपर कृपा करके उसे उच्च आध्यात्मिक स्थिति प्रदान करेगा और दूसरेको नहीं? क्या सेवासे प्रसन्न होकर? इसका तो अर्थ होता है कि वह दूसरोंसे अपनी शारीरिक सेवा कराना चाहता है। उसमें शरीरके प्रति मोह है। फिर वह महापुरुष कैसा?

समदर्शी महापुरुष किसीपर कृपा नहीं करते और न किसीपर क्रोध। उनके लिये तो सब अपने स्वरूप हैं। अथवा वे कृपाके स्वरूप होते हैं। उनकी कृपा सबपर सदा समान रहती है। उनके द्वारा किसीपर कृपा या कोप जो प्रतीत होता है, वह उसी व्यक्तिके कर्मका फल होता है। परमहंसजीने केवल स्वामी विवेकानन्दपर ही ऐसी कृपा क्यों की? उनके सेवकोंमें तो नरेन्द्रसे अधिक दूसरे भी अनुरागी थे। बात तो यह है कि यह विषय कृपाका नहीं। यदि यह विषय कृपाका होता तो अनन्त करुणावरुणालय जगदीश्वरके होते किसी जीवको संसार-चक्रमें भटकना ही न पड़ता। उस कृपासिन्धुसे भी अधिक कोई कृपालु हो सकता है, यह बात मानने योग्य नहीं।

पूर्वजन्मके या इस जन्मके साधनसे सम्पन्न अधिकारीका कोई संस्कार आवरण बना रहता है और महापुरुष केवल उसे दूर कर देते हैं। फलतः वह अपने साधनकी पूर्णावस्थाको प्राप्त कर लेता है। महापुरुषोंकी कृपाका यही रहस्य है। साधन तो उसी व्यक्तिको करना होगा। चाहे उसने पहले किया हो या अब करे। अधिकारी बने बिना किसीको पूर्ण स्थिति कभी प्राप्त हो नहीं सकती।

अब रहा यह कि साधन कैसे किया जाय? अधिकांशमें लोगोंकी यह धारणा होती है, विशेषतः साधन प्रारम्भ करनेसे पूर्व कि,—बिना घरके काम-काज छोड़े, बिना सांसारिक व्यवहारोंसे पृथक् हुए, साधन नहीं हो सकता, ऐसे लोग जब कभी कुछ देर साधनमें बैठते हैं और मनकी चञ्चलतामें विकल होते हैं, तो उनकी यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है। वे चाहते हैं कि आरम्भमें ही मन झटपट एकाग्र होने लगे और जबतक वे चाहें, एकाग्र रहे। ऐसा होता नहीं—अतः वे इसका दोष अपने दैनिक कार्योंको देते हैं, जिनका चिन्तन मन साधनके समय करने लगता है। वे समझते हैं कि यदि वे उन कामोंको छोड़ दें तो मन उनका चिन्तन नहीं करेगा। वह एकाग्र हो जायगा।

सीधी-सी बात है कि जो घरमें मनको एकाग्र नहीं कर सकता, वह जंगलमें कभी न कर सकेगा। घरके थोड़े-से कामोंको छोड़ देने मात्रसे क्या होगा? जन्म-जन्मान्तरके संस्कार तो हृदयमें भरे हैं। आसक्ति यदि हृदयमें है तो वह रहेगी। घरमें रहनेपर वह घरसे और वनमें रहनेपर वनसे रहेगी। यही दशा दूसरे सभी विकारोंकी है। मनको सोचनेके लिये वहाँ भी बहुत-सी बातें मिलेंगी।

घरमें पूरी सात्त्विकता प्राप्त किये बिना कर्मोंको छोड़ देना एक बहुत दुःखद परिणाम प्रकट करता है। वनमें या कहीं भी एकान्तमें जानेमात्रसे सात्त्विकता तो आ नहीं जाती। साधनमें एकाएक मन लगता नहीं। दो-चार दिन उसपर बलप्रयोग कर भी लें तो वह प्रतीकार कर बैठता है। उधर कर्मोंको छोड़ देनेसे रजोगुण भी दूर हो जाता है। फलतः आता है तमोगुण। प्रायः दिनभर तन्द्रा और आलस्य घेरे रहते हैं।

मुझे एक संतके शब्द सदा स्मरण रहते हैं। उन्होंने कहा था, 'डाका डालना अच्छा है, लड़ाई करना अच्छा है, पर ऊँघते हुए पड़े रहना अच्छा नहीं। रजोगुणसे सत्त्वगुणमें जानेकी सम्भावना रहती है। पर तमोगुणसे कोई सत्त्वगुणमें नहीं जा सकता। हमें डाकुओंके भक्त होनेका उदाहरण मिलता है, पर किसी निद्रालु या आलसीके भक्त होनेका उदाहरण कोई भी कहीं नहीं बता सकता।' मैं प्रत्येक साधकसे कहूँगा कि वे इन शब्दोंको स्मरण रखें। कर्मोंको त्यागकर रजोगुणसे तमोगुणके गर्तमें कूदनेकी अपेक्षा वहीं स्थित रहना अधिक लाभकारी है। सत्त्वगुणकी स्थिति वहीं अभ्यासके द्वारा प्राप्त हो सकती है। उसके लिये उतावली व्यर्थ है।

साधन कैसे करना चाहिये—यह बात भगवान्‌ने स्वयं बतलायी है। मध्यम मार्गमें स्थित रहकर ही साधन किया जा सकता है। इस माध्यमिकताको स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं—'युक्ताहार' आहार युक्त—संयत होना चाहिये। वह न तो अधिक हो न न्यून।

अधिक आहार साधनमें बाधक है, इस विषयमें कोई भी मतभेद नहीं। जीभके स्वादके लिये जो पेटको ठूँसता रहता है, वह उदर भारी होनेसे स्वभावतः आलसी होगा। जो रसनाको संयत नहीं रख सकता, उससे दूसरी इन्द्रियोंके संयमकी आशा बहुत कम है। मनका भोजनसे सम्बन्ध है। 'जैसा खाय अन्न, वैसा बने मन।' अतएव अनियमित भोजन करनेवाला मनपर नियन्त्रण नहीं रख सकता। साधकका आहार शुद्ध, सात्त्विक, पवित्र परिश्रमसे उपार्जित और परिमित होना चाहिये।

जहाँ साधनमें आहारकी अधिकता बाधक है, वहाँ उसका त्याग या अत्यल्पता भी बाधक है। इस दिशामें साधक प्रायः भूलें करते हैं। आहारका त्याग तो किसी दिनके विशेष व्रत या अस्वस्थ अवस्थाको छोड़कर कभी नहीं करना चाहिये। साथ ही आहारकी मात्रा इतनी हो और उसमें ऐसे पदार्थ हों, जो शरीरको पर्याप्त पोषण दे सकें।

एक सीधी-सी बात है कि भगवान् तपस्यासे नहीं मिलते और न तपसे मनपर विजय पायी जाती है। तपका फल केवल स्वर्ग है। क्योंकि तप स्वयं एक पुण्य है। यदि तपसे भगवान् मिलते होते तो सभी तप करते, सबसे बड़े तपस्वी महर्षि दुर्वासापर भगवान्‌का चक्र न चलता। यदि तपसे मन वशमें हो जाता तो घोर तपस्याके पश्चात् भी विश्वामित्रजीमें वशिष्ठसे बदला लेने और ब्रह्मर्षि कहलानेकी वृत्ति शेष न रहती।

'जबतक भगवान् न मिलें तबतक भोजन न करूँगा।' यह एक दुराग्रह है और भगवान् ऐसे दुराग्रहसे नहीं मिल सकते। वे मिलेंगे तो प्रेमसे। ऐसे हठी लोग जब अपने दुराग्रहसे कष्ट उठाकर विफल होते हैं तो अविश्वासी और नास्तिक हो जाते हैं।

इसी प्रकार दो मुट्ठी चने चबाकर या आहारको अत्यल्प करनेसे भी प्रभुके दर्शन नहीं हो सकते। ऐसे अपर्याप्त आहार या अनाहारकी अवस्थामें साधन नहीं होता। साधनकी पूर्णताके लिये मन स्वस्थ चाहिये और मन शरीरके स्वस्थ रहनेपर ही स्वस्थ रह सकता है। महापुरुषोंकी बात छोड़ दीजिये। साधकका मन ऐसी अवस्थामें या तो मूढ़ रहता है या भोजनकी चिन्ता करता है।

आहारको युक्त करनेका आदेश देनेके साथ भगवान् उसी स्वरमें आगे कह गये हैं, 'विहारस्य'। विहार—शारीरिक क्रियाओंको भी संयत और परिमित रखना होगा। वस्त्र, भवन प्रभृति और घूमने-फिरने आदिको न तो पूरी तरह छोड़ना है और न उनके संग्रहमें ही व्यस्त हो जाना है।

वर्षा, धूप और सरदीमें खुले आकाशमें बैठकर तपस्या हो सकती है, साधन नहीं हो सकता। तपस्याके फलके सम्बन्धमें प्रथम कह चुका हूँ। इसी प्रकार केवल कौपीन पहनकर प्रत्येक अवस्थामें रहना भी तपस्या ही है। साधकमें महल बनाने और वस्त्राभूषणोंसे शरीरको सजानेकी कामना हो नहीं सकती। यदि हो भी तो इसे वह साधनमें सहायक नहीं मानेगा। अतः इस विषयमें कुछ कहना व्यर्थ है। पर इनके सर्वथा त्यागका हठ भी उसमें नहीं होना चाहिये। साधनको सुचारु रूपसे संचालित रखनेके लिये आवश्यक है कि वर्षा, धूप प्रभृतिसे रक्षित रहनेके लिये एक स्थान हो, चाहे वह फूसका झोपड़ा ही क्यों न हो। इसी प्रकार शरीरके शीतनिवारणार्थ कुछ वस्त्र हों, भले वे चिथड़े या टाट हों। व्यर्थमें शरीरपर दबाव डालनेसे साधन नहीं होता। फिर तपस्या ही होती है। शीत सह लो या ध्यान कर लो। साधक दोनों साथ-साथ नहीं कर सकता।

विहार शब्दके भीतर शरीरकी क्रियाएँ भी आती हैं। उन्हें भी नियत रखनेका इससे आदेश मिलता है। बहुत बोलना, बहुत चलना या घूमना, दृष्टि सदा चञ्चल रखना, ये सब साधनके बाधक हैं ही, परन्तु न बोलनेकी प्रतिज्ञा कर लेना, सदा नेत्र बंद ही रखना, आसनसे उठनेका नाम न लेना, कोठरी या आश्रमसे न निकलनेका व्रत करना, ये सब भी साधन नहीं हैं। तपस्या ही हैं।

सबसे पहली हानि तो यह है कि आप जिस अङ्गसे काम न लेंगे, वह दुर्बल और निकम्मा हो जायगा। उससे फिर कोई काम नहीं लिया जा सकेगा। दूसरी और प्रबल हानि है मनका सङ्घर्ष। आप जिस कामको न करनेकी प्रतिज्ञा करेंगे, मन उसे बार-बार करना चाहेगा। छोटी-सी आवश्यकताको भी वह तूल देगा। अधिकांश समय उससे सङ्घर्ष करनेमें जायगा। साधनमें मन न लगकर उस रोके

हुए कामको करनेकी सोचता रहेगा । साधन तो छूट जायगा और वह निषेध ही साधन हो जायगा । संसारमें बहुत गूँगे, अन्धे, लूले, लँगड़े हैं । आपने घोर द्वन्द्व करके मनको परास्त किया और वैसे बने तो क्या लाभ ? इस तपस्यासे आपको स्वर्ग तो पाना नहीं, फिर साधनके मार्गमें ये रोड़े क्यों अटकाये जायँ ?

'युक्तचेष्टस्य कर्मसु'—कर्मोंमें नियमित चेष्टा भी हो। साधकके लिये दिन-रात्रि कार्यव्यस्त रहना, इतना परिश्रम करना कि शरीर श्रान्त हो जाय, कर्मोंमें इतना आसक्त होना और उनकी इतनी उलझन सिरपर ले लेना कि सोते समय भी उन्हींका स्वप्न दिखायी दे, उपयुक्त नहीं है। ऐसा कार्यव्यग्रपुरुष साधन नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति यदि कुछ समय निकाल भी ले, तो भी उस समय उसका मन उन्हीं उलझनोंमें पड़ा रहेगा । साधनसे उठनेकी शीघ्रता रहेगी और एकाग्रता प्राप्त न हो सकेगी ।

जैसे कर्मोंका आधिक्य साधनमें बाधक है, वैसे ही उनका सर्वथा अभाव भी। मेरी समझसे यह अवस्था पहलीसे अधिक खराब है। प्रायः साधक भ्रमवश इस अवस्थाको पाना अच्छा मानते हैं और इसके लिये प्रयत्न भी करते हैं। किन्तु इससे उत्पन्न होनेवाली बाधाओंको वे देखते ही नहीं।

अनुष्ठानोंकी बात छोड़ दीजिये। एक दिनसे लेकर साल-दो-सालके भी अनुष्ठान हो सकते हैं और उस समय यदि अनुष्ठान बड़ा हुआ तो दूसरे कार्यके लिये समय नहीं मिलता। अनुष्ठान भी एक साधन अवश्य है, पर वह 'अभ्यासवैराग्याभ्यां…' वाला मनोनिरोधका साधन नहीं। यदि अनुष्ठान सकाम हुआ तो कामनासिद्धि और निष्काम हुआ तो पापक्षय होता है। उसके द्वारा मनोनिरोध नहीं होता। बहुत अंशोंमें अनुष्ठान मनपर बलप्रयोग करके होता है और यह मनोनिरोधके विपरीत दशामें भी ले जानेका कारण हो सकता है। ऐसा अधिकांश देखनेमें आया है कि अनुष्ठानके पश्चात् कामनाएँ प्रबल हो उठती हैं।

अनुष्ठान भी एक प्रकारका आवेश है और आवेश सदा नहीं रह सकता। जो साधक बार-बार अनुष्ठान करके लक्ष्यको प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं एवं अभ्यासके राज-मार्गको छोड़ देते हैं, निश्चय ही उनमें कष्ट-सहिष्णुता और राजस आवेग बहुत अधिक होता है। यह आवेग उनके धैर्यको नष्ट कर देता है। उनमें उतावलापन आ जाता है। विफल होनेपर जो कि बलप्रयोगका अनिवार्य परिणाम है, या तो वे आत्महत्या करके उद्देश्यको प्राप्त करनेकी भ्रान्त आशा करते हैं, अथवा धर्म और ईश्वरको मूर्खोंकी कल्पना बताने लगते हैं।

दो बातें स्मरण रखनी चाहिये—मन एक ही कार्यमें बराबर नहीं लगा रह सकता और शरीरका प्रभाव मनपर अवश्य पड़ता है। निरन्तर भजन, पूजन, ध्यान करते रहना किसी महापुरुषके लिये भले सम्भव हो, पर साधकके लिये नहीं। साधक यदि चाहेगा कि उसका प्रत्येक समय सात्त्विक एवं आध्यात्मिक कार्योंमें जाय तो वह अपने साधनको राजस बना लेगा। उसका मन सदा सत्त्वगुणमें रहनेमें समर्थ नहीं। मनको कोई लौकिक कार्य दिया नहीं जाता। फलतः जो कार्य हैं, उन्हींमें वह राजसिकता एवं तामसिकता लावेगा, धीरे-धीरे वह ऐसा करनेका आदी हो जायगा और फिर साधनसे उसे कोई सात्त्विकता प्राप्त नहीं होगी।

साधक साधनसे उठे तो उसमें स्फूर्ति, आनन्द और प्रसन्नता भरी होनी चाहिये। वह सत्त्वगुणसे उठकर आया है, यह स्पष्ट ज्ञात होना चाहिये। यदि बात-बातमें झल्लाहट हो, स्वभाव चिड़चिड़ा हो उठे, साधनमें या उठनेपर आलस्य ज्ञात हो तो समझना होगा कि उसके मनने साधनसे सात्त्विकता ग्रहण नहीं की। उसने साधनको एक कार्य समझ लिया जो उसपर बलात् लादा गया है। वह उससे राजस या तामस प्रभाव ग्रहण कर रहा है। इस अवस्थासे बचनेका यही उपाय है कि साधक पहले साधनकाल थोड़ा रक्खे और धीरे-धीरे बढ़ावे। जितनी देर प्रसन्नतासे मन लगे, साधन किया जाय। उस समय ऐसा अवसर ही न आने दे कि मनको राजस, तामस अवस्थामें जाना पड़े।

यह प्रश्न हो सकता है कि साधक साधनकाल तो थोड़ा रक्खे तो फिर शेष समय क्या करे ? करनेके लिये बहुत काम हैं, उसे अपनी रुचिके अनुसार कोई काम चुन लेना चाहिये। केवल इतना ध्यान रहे कि वे काम पवित्र हों, पतनोन्मुख करनेवाले न हों और मन उनमें लगता हो। उसे बलात् न लगाना पड़े। कथा, मन्दिर-दर्शन, सत्संग, बच्चोंको पढ़ाना, दीन एवं रोगीकी सेवा, घरका कोई काम या व्यापार कुछ भी करे; पर पड़ा न रहे।

मनको स्वस्थ रखनेके लिये शरीरको स्वस्थ रहना चाहिये। साधकके लिये यह और भी आवश्यक है। अतः काम ऐसे चुनने

चाहिये जिनमें शरीरके लिये पर्याप्त परिश्रम मिले। केवल मानसिक परिश्रमके काम पर्याप्त नहीं। मानसिक परिश्रम तो साधनमें भी हो जाता है। शारीरिक परिश्रम न करनेसे शरीर दुर्बल हो जायगा, फलतः मनपर उसका हानिकर प्रभाव पड़ेगा। स्वस्थ मन स्वस्थ शरीरमें ही रहता है। इन बातोंको स्मरण रखकर साधक कार्य चुन ले। केवल पारमार्थिक कामोंमें रुचि होना बहुत कठिन है। आरम्भिक साधकके लिये यही मार्ग सुगम है कि वह लौकिक कार्योंको न छोड़े। उन्हें नियमित रूपसे करता हुआ साधनका समय सुरक्षित कर ले। प्रत्येक आरम्भिक साधक यदि अपनी रुचिके अनुकूल कोई लौकिक कार्य जो निर्दोष हो, करता रहे तो वह साधनमें आनेवाले विघ्नोंसे बहुत कुछ सुरक्षित रह सकेगा।

'युक्तस्वप्नावबोधस्य'—सोने और जागनेमें भी संयम रक्खे। रात-दिन पड़े रहनेवाला आलसी कहीं साधक हो सकता है? ठीक ऐसे ही रात-रात जागरण करके भी साधन नहीं होता। जागरण जो अस्वाभाविक हो, वायुको कुपित करता और शरीरमें आलस्य भर देता है। ऐसे समय मन चञ्चल भले न हो; किन्तु साधनके लिये तत्पर भी नहीं रह सकता। तमोगुणकी मूढ़ दशा रहती है। अतः साधकको उतनी निद्रा अवश्य लेनी चाहिये जो स्वास्थ्यके लिये आवश्यक है।

बार-बार ऊँघते हुए ध्यान या जप करनेसे कोई लाभ नहीं। अच्छा यही होगा कि यदि साधनके समय नींद तंग करती है तो शरीरको बलपूर्वक खड़ा या बैठा न रक्खे। उस समय जाकर सो रहना अच्छा है। थोड़ी देर सो लेनेके पश्चात् पुनः उठकर जब साधक साधनमें लगेगा तो वह नींद पूरी हो जानेसे अपनेमें स्फूर्तिका अनुभव करेगा। उसका मन प्रसन्नतासे उसकी आज्ञा मानकर साधनमें एकाग्र हो जायगा।

'योगो भवति दुःखहा'—भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार अति और पूर्णतः निरोधसे बचकर मध्यम मार्गसे चलनेवाले साधकका योग—साधन दुःख—संसारके आवागमन घोर क्लेश एवं दैहिक, दैविक तथा मानसिक त्रिविध तापोंका नाशक होता है। इसके पूर्वके श्लोकमें भगवान्ने स्पष्ट कहा है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
(गीता ६। १६)

'अर्जुन! योग (साधन) न तो बहुत भोजन करनेवाले कर सकते और न सर्वथा उपवास करके रहनेवाले। वह बहुत सोनेवालोंके बसका नहीं और सदा जागते रहनेवाले भी उसे अपनानेमें असमर्थ हैं।'

इस प्रकार आहार, विहार, चेष्टा, कर्म, निद्रा, जागर प्रभृति जीवनके जितने भी कर्म हैं, उनको नियमित करके साधकको अपने साधनपथमें बढ़ना चाहिये। यदि उसने किसीके त्यागका हठ किया तो साधन चल नहीं सकेगा। या तो वह बार-बार परिश्रम करके फिर हताश हो जायगा अथवा लौटकर अपनी भूल उसे सुधारनी पड़ेगी। बुद्धिमानी इसीमें होगी कि आरम्भसे ऐसी भूल न की जाय।

मैं निबन्धके मध्यमें कथा, सत्संग, तीर्थवास, देवदर्शन, मौन, अनुष्ठान प्रभृतिके विषयमें बहुत कुछ ऐसी बातें लिख आया हूँ जो किसीमें कुछ विपरीत धारणा उत्पन्न कर सकती हैं। उनका स्पष्टीकरण हो जाना चाहिये। उपर्युक्त सभी कार्य पवित्र हैं और उनसे सात्त्विकताकी उपलब्धि होती है। उनका निषेध किसीको भी अभीष्ट नहीं हो सकता। इतना अवश्य है कि उनका उपयोग इस प्रकार हो जिसमें अधिक-से-अधिक लाभ हो।

सारांश यह है कि, साधकको अपने सम्मुख यह सिद्धान्त सदा रखना चाहिये कि 'बलप्रयोग मत करो! किसीकी अति मत करो!' उसे यदि अतिकी सीमापर पहुँचाना है तो केवल अपने साधनको। वह भी बलपूर्वक नहीं, अभ्यासके द्वारा उसके लिये मध्यम मार्गमें स्थित होकर साधन करना ही राजमार्ग है। इसीके द्वारा वह अपने लक्ष्यतक सरलतासे पहुँच सकेगा। उसे सुननेमें सुन्दर लगनेवाली उत्तेजनात्मक बातोंसे सावधान रहना चाहिये। वे केवल रुचि उत्पन्न करनेके लिये हैं। क्रियात्मक मूल्य उनका उतना नहीं। क्रियात्मकरूपमें तो धैर्य और संयम चाहिये।

॥ श्रीहरिः शरणमस्तु ॥

शक्तिपातसे आत्मसाक्षात्कार

(लेखक——श्रीवामन दत्तात्रेय गुलवणी)

अद्वैतानन्दपूर्णाय व्यासशङ्कररूपिणे ।
नमोऽस्तु वासुदेवाय गुरवे सर्वसाक्षिणे ॥
जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता
तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात्परम् ।
आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थिति-
र्मुक्तिर्नो शतजन्मकोटिसुकृतैः पुण्यैर्विना लभ्यते ॥

(विवेकचूडामणि)

भगवान् श्रीमत् शङ्कराचार्यजी महाराजने इन श्लोकोंमें इस जगत्‌में आये हुए जीवके विकासकी पराकाष्ठाका वर्णन किया है । अत्यन्त सूक्ष्म जन्तुसे विकासके होते-होते दुर्लभ मनुष्य-जन्मलाभ होता है । फिर इसके आगे मनुष्यमें भी पुरुष-जन्म है और फिर पुरुष-जन्ममें भी विप्रता है । इससे भी आगे बढ़नेपर वैदिक धर्ममार्गपरता है, फिर विद्वत्त्व है । विद्वत्तासे आत्मानात्मविवेक है । तब श्रेष्ठ अनुभव है, 'मैं ही वह ब्रह्म हूँ' इस भावकी अखण्ड स्थितिरूप मुक्ति है । 'सा काष्ठा सा परा गतिः' वही हद है, वही परा गति है । ऐसी मुक्ति असंख्य-जन्मकृत पुण्यबलके विना दुर्लभ है ।

मनुष्य-जन्मका लाभ भगवत्कृपासे ही हुआ करता है, यह बात माननी पड़ेगी । कारण, पशु आदि निम्न योनियोंमें पुण्य-पापफलरूप कर्म होता ही नहीं अर्थात् मनुष्य-जन्मके होनेमें इस प्रकारका कोई कर्म कारण न होनेसे भगवत्कृपाके सिवा और कोई कारण मनुष्य-जन्मका नहीं माना जा सकता । परन्तु मनुष्य-जन्म होनेके बादका जो मार्ग है उस-पर आरूढ़ होनेके लिये मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह अपने पुण्यकर्मके द्वारा ईश्वरानुग्रह प्राप्त करे । दुर्लभ मानव-जन्मलाभ करके भी जो मनुष्य आत्ममुक्तिके साधनमें यत्नवान् नहीं होता उससे बड़ा आत्महन्ता और कौन हो सकता है ?

इतः को न्वस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति ।
दुर्लभं मानुषं देहं प्राप्य तत्रापि पौरुषम् ॥

वैदिक धर्मके अन्तर्गत निज-निज वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका आचरण करना ही ईश्वराराधन है, यह जानकर जो इसका पालन करता है, उसे ईश्वरका प्रसाद प्राप्त होता है ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

इस स्वकर्माचरणसे मलविक्षेपका नाश होता है और उससे चित्त शुद्ध और स्थिर होता है । तब ईश्वरीय प्रसादसे ही शास्त्रश्रवणके द्वारा नित्यानित्यविवेक होता है और उसके फलस्वरूप वैराग्य उत्पन्न होता और मोक्षकी ऐसी तीव्र इच्छा होती है । मोक्षकी ऐसी तीव्र इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुको भगवत्प्रसादसे सद्गुरु प्राप्त होते हैं ।

ईश्वराराधनधिया स्वधर्माचरणात्सताम् ।
ईशप्रसादरूपः सुलभश्चात्र सद्गुरुः ॥

सद्गुरु-सेवनसे उनका प्रसाद प्राप्त होता है और उससे असम्भावना और विपरीत भावनारूप प्रतिबन्ध कट जाते हैं और महावाक्योपदेशसे तुरंत मोक्षलाभ होता है—'ज्ञानसम-कालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः ।'

सद्गुरोः सम्प्रसादेऽस्य प्रतिबन्धक्षयस्ततः ।
दुर्भावनातिरस्काराद्विज्ञानं मुक्तिदं क्षणात् ॥

यह अनादि स्वप्नभ्रमरूप संसार अपने-आप ही निरस्त नहीं होता । केवल एक ईश्वर और तदभिन्न सद्गुरुके प्रसादसे ही इसका निरास होता है ।

अनादिस्वप्नभ्रमोऽयं न स्वयं विनिवर्तते ।
किन्तु स्वदैवयोगाद्दैवाचार्यप्रसादतः ॥

और यह सद्गुरुप्रसाद उन्हींकी अनन्य भावसे सेवा करके ही प्राप्त किया जाता है, अन्य किसी उपायसे यह सम्भव नहीं ।

'अयं गुरुप्रसादस्तत्तोषात्प्राप्यो न चान्यथा ।'
'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।'

'आत्मविद्या चानन्तर्मुखस्य गुरुकारुण्यरहितस्य न वेद-शास्त्रमात्रेणोत्पद्यते ।' तथा च श्रुतिः—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।' इति ।

गुरुकारुण्यरहित बहिर्मुख पुरुष केवल बुद्धिके बलपर, बहुत-सा श्रवण करके या प्रवचनसे आत्मविद्या नहीं पा सकता ।

योगवासिष्ठमें यद्यपि कहा है कि, 'शक्तेस्तु कारणं राम शिष्यप्रज्ञैव केवलम्' (अर्थात् हे राम ! शक्तिका कारण केवल शिष्यकी प्रज्ञा ही है), तथापि—

परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन ।
योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थः ॥

इत्यादि आगमवाक्योंसे यही स्पष्ट होता है कि इसमें गुरुप्रसाद ही मुख्य कारण है । 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे भी यही प्रतिपन्न होता है । गुरुप्रसाद अथवा ईश्वरप्रसाद सच्छिष्यको शक्तिपातसे प्राप्त होता है और शक्तिपातके साथ महावाक्यका उपदेश होनेसे शिष्य कृतकार्य हो जाता है ।

शक्तिपातेन संयुक्ता विद्या वेदान्तवाक्यजा ।
यदा यस्य तदा तस्य विमुक्तिर्नात्र संशयः ॥

'वेदान्तवाक्यसे प्राप्त विद्या जब शक्तिपातके साथ जिसमें संयुक्त होती है, तब उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है— इसमें कोई संशय नहीं ।'

ऐसे शक्तिसम्पन्न सद्गुरुकी शरणमें जानेको कहते हुए श्रीमद् वासुदेवानन्द सरस्वतीने अपने 'वृद्धशिक्षा' नामक वेदान्तग्रन्थमें यह वाक्य दिया है—'विशारदं ब्रह्मनिष्ठं श्रोत्रियं गुरुमाश्रयेत् ।' (श्रोत्रियम् अर्थात् शब्दब्रह्म-निष्णातम्, ब्रह्मनिष्ठम्—संजातापरोक्षसाक्षात्कारम्, विशारदम्—लौकिकादिदृष्टान्तोपपत्त्यादिना शक्तिपातेन च वाक्यार्थ-ग्राहयितारं गुरुम् आश्रयेत् ।) गुरु यदि श्रोत्रिय हों, ब्रह्मनिष्ठ हों, पर उनमें यदि शक्तिपात करनेकी सामर्थ्य न हो तो शिष्यको उसी क्षण साक्षात्कार नहीं हो सकता ।

शक्तिपातविहीनोऽपि सम्यवाग् गुरुभक्तिमान् ।
आचार्याच्छ्रुतवेदान्तः क्रमान्मुच्येत बन्धनात् ॥

'गुरु-भक्तियुत शिष्य शक्तिपातरहित होकर भी वेदान्त-वाक्यके श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे प्रतिबन्धक्षय होनेपर क्रमशः बन्धनसे मुक्त होता है ।'

सूतसंहितामें मायाके बाधका मुख्य साधन इस प्रकार वर्णित हुआ है—

तत्त्वज्ञानेन मायाया बाधो नान्येन कर्मणा ।
ज्ञानं वेदान्तवाक्योत्थं ब्रह्मात्मैकत्वगोचरम् ॥
तच्च देवप्रसादेन गुरोः साक्षान्निरीक्षणात् ।
जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम् ॥

'तत्त्वज्ञानसे मायाका निरास होता है, अन्य किसी कर्मसे नहीं होता । यह तत्त्वज्ञान अधिकारी शिष्यको देव-प्रसादके द्वारा शक्तिपातपूर्वक ब्रह्मसे आत्माके अभिन्नत्वका प्रतिपादन करनेवाले वेदान्त-महावाक्यसे ही होता है ।' ऐसे शक्तिपातपूर्वक ज्ञानोपदेश करनेवाले सद्गुरुकी महिमा सभी धर्मोंके ग्रन्थोंमें गायी गयी है । हमारे देशके सभी सत्पुरुष परमेश्वरसे अथवा शक्तिसम्पन्न सद्गुरुसे ही प्राप्त ज्ञानसे सम्पन्न होनेके कारण उनके ग्रन्थोंमें सद्गुरुकृपाकी महिमा-का सर्वत्र ही बखान हुआ है ।

भगवान् श्रीमत् शङ्कराचार्यप्रणीत 'शतश्लोकी' के पहले श्लोकमें शक्तिपातपूर्वक ज्ञानदान करनेवाले सद्गुरुका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है—

दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः
स्पर्शश्चेत्तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारम् ।
न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये
स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन वा लौकिकोऽपि ॥

'इस त्रिभुवनमें ज्ञानदाता सद्गुरुके लिये देनेयोग्य कोई दृष्टान्त ही नहीं दीखता । उन्हें पारसमणिकी उपमा दें तो यह भी ठीक नहीं जँचती, कारण, पारस लोहेको सोना तो बना देता है पर पारस नहीं बनाता । परन्तु सद्गुरु-चरणयुगलका आश्रय करनेवाले शिष्यको सद्गुरु निज साम्य ही दे डालते हैं । इसलिये सद्गुरुकी कोई उपमा नहीं ।'

शतश्लोकीके ९१ वें श्लोकमें चाक्षुषी दीक्षाद्वारा शक्ति-पातका वर्णन है—

तद्ब्रह्मैवाहमस्मीत्यनुभव उदितो यस्य कस्यापि चेद्वै
पुंसः श्रीसद्गुरूणामतुलितकरुणापूर्णपीयूषदृष्ट्या ।
जीवन्मुक्तः स एव भ्रमविधुरमना निर्गतेऽनाद्युपाधौ
नित्यानन्दैकधाम प्रविशति परमं नष्टसन्देहवृत्तिः ॥

'श्रीसद्गुरुकी अतुलित करुणामयी अमृतदृष्टिसे यदि किसीके यह अनुभव उदय हो जाय कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तो उसका मन भ्रमरहित हो जाता है । उसीसे उसके सब संशय नष्ट होते हैं और वह जीवन्मुक्त होता है । उसकी अनादि उपाधि नष्ट होनेपर वह विगतसन्देह पुरुष परमनित्या-नन्दधाममें प्रवेश करता है ।'

'सुप्रसिद्ध महात्मा श्रीएकनाथ महाराजकृत 'एकनाथी भागवत' (श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धकी मराठी टीका) में

यदु-अवधूत-संवादके अन्तर्गत श्रीदत्तात्रेयद्वारा यदुको आलिङ्गन कर स्पर्शदीक्षा देकर आत्मबोध करानेके प्रसङ्गका बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन है—'यह सद्गुरुकथा तुमसे परमार्थ-सिद्धिके लिये कही।' यह कहकर 'अवधूतने बड़े ही हर्षोत्फुल्ल अन्तःकरणसे राजा यदुको अपने हृदयसे लगा लिया और दोनों एक ही आत्मबोधमें एक हो गये। जीने जीको पकड़ लिया और सारी सृष्टिमें आनन्दका समुद्र उमड़ आया। उससे वाणीकी गति रुक गयी, उलटकर बोलना वह भूल गयी। हृदयभुवनमें जब यह महान् हर्ष नहीं समाया तब वह स्वेद बनकर बाहर उमड़ पड़ा। नेत्राकाशमें आनन्दके मेघ छा गये और स्वानन्दवारिकी वर्षा करने लगे। अहङ्कारकी बेड़ियाँ टूट गयीं, भवार्णवके उस पार पहुँच गये। प्रगाढ़ अज्ञान—अविद्यापर जो विजय पायी उसीकी वैजयन्ती खड़ी की रोमाञ्चके रूपमें। सारा देहभाव समूल नष्ट हो गया, इसीसे देहके सब अङ्ग काँपने लगे। सङ्कल्प-विकल्प जाता रहा, मनका मनोरथ मिट गया। जीव-भाव जो कुछ था, वह सम्पूर्ण राजा यदुने श्रीसद्गुरु अवधूतके चरणोंमें अर्पण कर दिया। वही चिह्न उनके अङ्ग-अङ्गपर दीख पड़ने लगा।' अवधूत स्वयं दत्तात्रेय हैं, उन्होंने राजा यदुको आलिङ्गन कर इस प्रकार अपने स्वरूपका उन्हें अनुभव-बोध कराया। इस गुरु-शिष्य-संवादका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथ महाराजका हृदय श्रीगुरुभक्तिसे इतना भर आया कि इसके बाद ही उन्होंने अपने गुरु श्रीजनार्दन स्वामीपर किस प्रकार श्रीगुरु दत्तात्रेयका अनुग्रह हुआ, इसका भी वर्णन कर दिया है। भगवान् दत्तात्रेयकी शिष्य-परम्परा बतलाते हुए महाराज कहते हैं कि 'पहले शिष्य सहस्रार्जुन हुए, दूसरे यदु हुए और तीसरे कलियुगमें जनार्दन स्वामी हुए। गुरु कब कैसे मिलेंगे, इसी चिन्तामें जनार्दन स्वामीके दिन बीत रहे थे। सद्गुरुचिन्तन करते-करते यहाँतक हालत हो गयी कि स्वामी तीनों अवस्थाएँ भूल गये। भगवान् भावके ही तो भूखे हैं, उन्होंने इनके सुदृढ़ अनन्य भावको जाना। श्रीगुरु दत्तात्रेय सामने आकर प्रकट हुए और उनके मस्तकपर उन्होंने अपना हाथ रक्खा। हाथके रखते ही चिन्मय स्वरूप जाग उठा, प्रपञ्चके मूलका मिथ्यात्व प्रकट हुआ। स्वबोध ही स्वरूप है, इसकी प्रतीति हुई। कर्म करके भी अकर्ता बने रहनेकी स्थितिका जो अकर्तात्मबोध है वह उन्हें श्रीगुरुसे प्राप्त हुआ; देहके रहते हुए भी विदेहता उन्हें तत्त्वतः प्राप्त हो गयी। गृहस्थाश्रमको बिना छोड़े, कर्मरेखाको बिना लाँघे, अपना सब काम करते रहनेकी अवस्थामें ही उन्हें वह बोध मिला, जो नहीं मिला करता। और उसके मिलते ही मन अमन हो गया, उसमें मनपना कुछ रह ही न गया, वह अवस्था उनमें न समा सकी और वे मूर्छित हो गये। तब उन्हें सचेत करके श्रीगुरुने कहा कि, 'प्रेम सत्त्वकी अवस्था है, इसे भी पी जाओ और निजबोधमें स्थित होकर रहो।' जनार्दन स्वामी उठे और श्रीगुरुकी पूजा करके उनके चरणोंपर गिरे। बस, इसी अवकाशमें गुरु दत्त योगमायाका आश्रय कर अदृश्य हो गये।'

उपर्युक्त दोनों ही उदाहरणोंमें शक्तिपातके सभी लक्षण आ गये हैं—

> देहपातस्तथा कम्पः परमानन्दहर्षणे।
> स्वेदो रोमाञ्च इत्येतच्छक्तिपातस्य लक्षणम्॥

महाराष्ट्र-संतशिरोमणि श्रीज्ञानेश्वर महाराजने श्रीमद्भगवद्गीताकी अपनी ज्ञानेश्वरी (भावार्थदीपिका) टीकामें शक्तिपातका इस प्रकार वर्णन किया है—'यह दृष्टि जिसपर चमकती है अथवा यह करारविन्द जिसे स्पर्श करता है वह होनेको तो चाहे जीव ही हो पर बराबरी करता है महेश्वर श्रीशङ्करकी।'

भक्तराज अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने शक्तिपात करके किस प्रकार आत्मानुभव कराया, इसका वर्णन श्रीज्ञानेश्वर महाराज करते हैं—'तब शरणागत भक्तशिरोमणि अर्जुनको उन्होंने अपना सुवर्णकङ्कणविभूषित दक्षिण बाहु फैलाकर अपने हृदयसे लगा लिया। हृदय-हृदय एक हो गये। इस हृदयमें जो था वह उस हृदयमें डाल दिया। द्वैतका नाता बिना तोड़े अर्जुनको अपने-जैसा बना लिया।'

ऐसे सद्गुरु सच्छिष्यको आप ही मिलते हैं। शिष्यको उनकी ढूँढ़—खोज नहीं करनी पड़ती। श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं, 'जब कर्मसाम्यकी अवस्था आती है तब सद्गुरु स्वयं ही आकर मिलते हैं।'

चाक्षुषी आदि दीक्षाओंके द्वारा जो शक्तिपात किया जाता है, वह शिष्यका कर्मसाम्य होनेपर ही फलप्रद होता है, उससे पहले नहीं।

> अधर्मधर्मयोः साम्ये जाते शक्तिः पतत्यसौ।
> ज्ञानात्मिका परा शक्तिः शम्भोर्यस्मिन्निपातिता॥
> तस्य शिष्यस्य विप्रेन्द्राः कर्मसाम्ये सति द्विजाः।
> शाम्भवी शक्तिरस्पर्शं तस्मिन्पतति चिद्घने॥

जन्तोरपश्चिमतनोः सति कर्मसाम्ये
निःशेषपाशपटलच्छिदुरा निमेषात्।
कल्याणदेशिककटाक्षसमाश्रयेण
कारुण्यतो भवति शाम्भववेधदीक्षा ॥

तात्पर्य इसका श्रीविद्यारण्य स्वामीकी इस टीकासे ध्यानमें आ जायगा—

कर्मसाम्ये सतीति । परमेश्वरानुग्रहवशाद्दीक्षासंस्कारेण भाविजन्मापादककर्मक्षयाद्वर्तमानजन्मनि च सुखदुःखहेतुभूतयोः पुण्यपापयोः उपभोगेन क्षीणत्वादारब्धफलयोः सञ्चितवर्तमानकर्मणोः क्षयसाम्ये सतीत्यर्थः ।

इस प्रकार जिस अधिकारी शिष्यमें आचार्यके द्वारा चाक्षुषी प्रभृति दीक्षाके द्वारा परमेश्वरकी ज्ञानात्मिका परा शक्तिका पात किया जाता (या शक्ति प्रेरित की जाती) है, उसीमें इस शक्तिका सञ्चार होता है।

इसपर यह शंका की जा सकती है कि इस शक्ति शब्दसे यदि अद्वैत चिति अभिप्रेत है तो यह तो स्व-स्वरूपभूत अनन्त और अमूर्त है, इसलिये उसका पात असम्भव है। यदि यह शक्ति स्वस्वरूपसे कोई भिन्न वस्तु है तो उसे 'ज्ञानात्मिका' और 'परा' नहीं कह सकते।

समाधान—शक्तिसे यहाँ अभिप्राय चिति शक्तिका ही है और चिति अद्वैतात्मस्वरूप ही है और उसका पात होना इत्यादि जो कुछ है, औपचारिक है। श्रीमन्माधवाचार्यने इसका रहस्य इस प्रकार अपनी टीकामें लिखा है—

अयमत्र रहस्यांशः—परमेश्वरस्वरूपभूतत्वेन सर्वगतायाः परशक्तेः पतनासम्भवाच्छिष्यस्यात्मनि प्रागेवावस्थिता सा पाशजालावृतत्वेन तिरोहिता सती दीक्षासंस्कारेणावरणापगमे सत्यभिव्यक्तिमासादयन्ती पतितेत्युपचर्यते । ऊर्ध्वदेशादधोदेशप्राप्तिर्हि पतनं न खलु तादृशमस्याः सम्भवतीति । आगमेऽप्युक्तम्—

व्यापिनी परमा शक्तिः पतितेत्युच्यते कथम्।
ऊर्ध्वादधोगतिः पातो मूर्तस्यासर्वगस्य च ॥
सत्यं सा व्यापिनी नित्या सहजा शिववत्स्थिता।
किन्त्वियं मलकर्मादिपाशबन्धेषु संवृता।
पक्वपाकेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते ॥

परमेश्वरस्वरूपा सर्वगत पराशक्तिका पात होना तो असम्भव है। अतः शिष्यमें आत्मस्वरूपभूत जो पराशक्ति पहलेसे ही मौजूद है जो मल-कर्मादि पाशबन्धसे घिरी हुई है उसे ही, दीक्षा-संस्कारके द्वारा, आवरणको हटाकर, अभिव्यक्त किया जाता है। इसके इस अभिव्यक्त होनेको ही शक्तिपात कहा जाता है।

यदि केवल शक्तिपातसे ही अज्ञानकी निवृत्ति होती हो तो 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि श्रुतिवाक्योंकी सङ्गति कैसे लगे? दीक्षादिके द्वारा ज्ञानके प्रतिबन्धका जब नाश हुआ तब 'गुरुणोपदिष्टं साक्षान्महावचनमेव विमुक्तिहेतुः' यह सिद्धान्त बाधित नहीं होता। शक्तिपात कैसे होता है, आगेके श्लोकमें यही बात कही गयी है—

तदा शिष्यस्य चिद्रूपे कल्पिता मोहरूपिणी।
माया दग्धा भवेत्किञ्चित्तदा पतति विग्रहः ॥

इस श्लोकपर श्रीमन्माधवाचार्यकी टीका है—

शिष्यस्य चिद्रूपे स्वात्मनि चिच्छक्तितिरोधायिका हेयोपादेयविवेकज्ञानमावृण्वती मोहात्मिका या मायाश्रिता सा सच्चिद्रूपिण्याः शिष्यस्य स्वात्मन्यभिव्यक्तायाः परशक्तेः प्रसादेन किञ्चिदपसरतीत्यर्थः । तदा पतति विग्रहः । मायासम्बन्धनिबन्धनो ह्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसम्बन्धस्तथाविधस्यात्मनः स्वोपभोक्तव्यसुखदुःखहेतुभूतपुण्यपापात्मककर्मबन्धनो भोगायतनभूतदेहेन सम्बन्धस्तथा च शक्तिपातेन मायाया अपसरणादात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिबन्धशैथिल्ये पुण्यपापनिमित्तस्य देहसम्बन्धस्यापि गलितत्वात्तदभिमानाभावेन तत्पात इत्यर्थः ।

दर्शनात्स्पर्शनाच्छब्दात्कृपया शिष्यदेहके।
जनयेद्यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः ॥

इत्यादि योगवासिष्ठोक्त लक्षणोंसे युक्त गुरुके द्वारा जब शक्तिपात किया जाता है तब शिष्यमें अभिव्यक्त होनेवाली पराशक्तिके प्रसादसे शिष्यकी अन्तःस्थ चिच्छक्तिको ढाँके हुई (हेयोपादेय ज्ञानको आवृत करनेवाली) माया किञ्चित् हट जाती है और उससे देहाभिमान नष्ट होता है तथा देहाभिमानके नष्ट होनेसे देहपात होता है।

देहपातादि लक्षण आगममें इस प्रकार बताये हैं—

देहपातस्तथा कम्पः परमानन्दहर्षणे।
स्वेदो रोमाञ्च इत्येतच्छक्तिपातस्य लक्षणम् ॥

निद्रा, मूर्छा, घूर्णा आदि और भी कई लक्षण अन्यत्र दिये हैं। यह जो शक्तिपातरूप परमेश्वरप्रसाद है, वह कर्म-

साम्यको प्राप्त शिष्यमें उत्पन्न होता है। उसका महत्त्व तथा शक्तिपातके और भी कुछ लक्षण सूतसंहितान्तर्गत ब्रह्मगीताके चतुर्थ अध्यायमें विस्तारके साथ वर्णित हैं, यथा—

प्रसादो नाम रुद्रस्य कर्मसाम्ये तु देहिनाम्।
देशिकालोकनाज्जातो विशिष्टातिशयः सुराः॥
प्रसादस्य स्वरूपं तु मया नारायणेन च।
रुद्रेणापि सुरा वक्तुं न शक्यं कल्पकोटिभिः॥
केवलं लिङ्गगम्यं तु न प्रत्यक्षं शिवस्य च।
शिवायाश्च हरेः साक्षान्मम चान्यस्य चास्तिकाः॥

लक्षणानि—

प्रहर्षः स्वरनेत्राङ्गविक्रिया कम्पनं तथा।
स्तोमः शरीरपातश्च भ्रमणं चोद्गतिस्तथा॥
आकाशेऽवस्थितिर्देवाः शरीरान्तरसंस्थितिः।
अदर्शनं च देहस्य प्रकाशत्वेन भासनम्॥
अनधीतस्य शास्त्रस्य स्वत एव प्रकाशनम्।
निग्रहानुग्रहे शक्तिः पर्वताद्रेश्च भेदनम्॥
एवमादीनि लिङ्गानि प्रकाशस्य सुरर्षभाः।
तीव्रात्तीव्रतरः शम्भोः प्रसादो न समो भवेत्॥
एवंरूपः प्रसादश्च शिवया च शिवेन च।
ज्ञायते न मया नान्यैर्नैव नारायणेन च॥
अतः सर्वं परित्यज्य शिवादन्यत्तु दैवतम्।
तमेव शरणं गच्छेत्सद्यो मुक्तिं यदीच्छति॥

इन सब लक्षणोंमें देहपातका महत्त्व विशेष देख पड़ता है—

शिष्यस्य देहे विप्रेन्द्रा धरिण्यां पतिते सति।
प्रसादः शाङ्करस्तस्य द्विजाः सञ्जात एव हि॥
यस्य प्रसादः सञ्जातो देहपातावसानकः।
कृतार्थ एव विप्रेन्द्रा न स भूयोऽभिजायते॥

'शिष्यका शरीर जब धरतीपर गिरे तब यही समझना चाहिये कि यह शङ्करका प्रसाद हुआ। जिसमें देहपात करा देनेवाला प्रसाद होता है, वह कृतार्थ हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।'

यस्य प्रसादयुक्तस्य विद्या वेदान्तवाक्यजा।
दहत्यविद्यामखिलां तमः सूर्योदयो यथा॥

'ऐसे प्रसादयुक्त शिष्यकी सारी अविद्याको वेदान्तवाक्यजा विद्या वैसे ही जला डालती है, जैसे सूर्योदय अन्धकारको।'

कुलार्णवतन्त्रमें तीन प्रकारकी दीक्षाओंका इस प्रकार वर्णन है—

स्पर्शदीक्षा—**यथा पक्षी स्वपक्षाभ्यां शिशून् संवर्धयेच्छनैः।**
स्पर्शदीक्षोपदेशस्तु तादृशः कथितः प्रिये॥

'स्पर्शदीक्षा उसी प्रकारकी है जिस प्रकार पक्षी अपने पंखोंके स्पर्शसे अपने बच्चोंका लालन-पालन-वर्धन करता है।' जबतक बच्चा अण्डेसे बाहर नहीं निकलता तबतक पक्षी अण्डे-पर बैठता है और अण्डेसे बाहर निकलनेके बाद जबतक बच्चा छोटा होता है तबतक उसे वह अपने पंखोंसे ढाँके रहता है।

दृग्दीक्षा—**स्वापत्यानि यथा कूर्मी वीक्षणेनैव पोषयेत्।**
दृग्दीक्षाख्योपदेशस्तु तादृशः कथितः प्रिये॥

'दृग्दीक्षा उसी प्रकारकी है जिस प्रकार कछवी अपने बच्चोंका दृष्टिमात्रसे पोषण करती है।'

ध्यानदीक्षा—**यथा मत्सी स्वतनयान् ध्यानमात्रेण पोषयेत्।**
वेधदीक्षोपदेशस्तु मनसः स्यात्तथाविधः॥

'ध्यानदीक्षा मनसे होती है और उसी प्रकार होती है जिस प्रकार मछली अपने बच्चोंको ध्यानमात्रसे ही पोसती है।'

पक्षिणी, कछवी और मछलीके समान ही श्रीसद्गुरु अपने स्पर्शसे, दृष्टिसे तथा सङ्कल्पसे अपनी शक्ति शिष्यमें डालकर उसकी अविद्याका नाश करते और महावाक्यके उपदेशसे उसे कृतार्थ करते हैं। स्पर्श, दृष्टि और सङ्कल्पके अतिरिक्त एक 'शब्ददीक्षा' भी होती है जिसका वर्णन दर्शनात्स्पर्शनाच्छब्दात्कृपया शिष्यदेहके' इस वाक्यमें पहले आ चुका है। इस प्रकार चतुर्विधा दीक्षा है और उसका क्रम आगे लिखे अनुसार है—

विद्धि स्थूलं सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं सूक्ष्मतममपि क्रमतः।
स्पर्शनभाषणदर्शनसङ्कल्पनजावतश्चतुर्धा तम्॥

'स्पर्श, भाषण, दर्शन, संकल्प यह चार प्रकारकी दीक्षा क्रमसे स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम है।'

इस प्रकार दीक्षा पाये हुए शिष्योंमें कोई ऐसे होते हैं, जो दूसरोंको वही दीक्षा देकर कृतार्थ कर सकते हैं और कोई केवल स्वयं कृतार्थ होते हैं, परन्तु दूसरोंको शक्तिपात करके कृतार्थ नहीं कर सकते।

साम्यं तु शक्तिपाते गुरुत्वलस्यापि सामर्थ्येन ।

चार प्रकारकी दीक्षामें गुरुसाम्यासाम्य कैसा होता है, यह आगे बतलाते हैं—

स्पर्श—स्थूलं ज्ञानं द्विविधं गुरुसाम्यासाम्यरूपभेदेन ।
दीपप्रस्तरयोरिव संस्पर्शात्स्निग्धवर्त्ययसोः ॥

'किसी जलते हुए दीपकसे किसी दूसरे दीवटकी घृताक्त या तैलाक्त बत्तीको स्पर्श करते ही वह बत्ती जल उठती है, फिर यह दूसरी जलती हुई बत्ती चाहे किसी भी अन्य स्निग्ध बत्तीको अपने स्पर्शसे प्रज्वलित कर सकती है। यह शक्ति उसे प्राप्त हो गयी, यही शक्ति इस प्रकार प्रज्वलित सभी दीपोंको प्राप्त है। इसीको परम्परा कहते हैं। दूसरा उदाहरण पारसका है। पारसके स्पर्शसे लोहा सोना बन जाता है, परन्तु इस सोनेमें यह सामर्थ्य नहीं होती कि वह दूसरे किसी लोहखण्डको अपने स्पर्शसे सोना बना सके।' साम्यदान करनेकी यह शक्ति उसमें नहीं होती, अर्थात् परम्परा आगे नहीं बनी रहती।

शब्द—तद्वद् द्विविधं सूक्ष्मं शब्दश्रवणेन कोकिलाम्बुदयोः ।
तत्सुतमयूरयोरिव तद्विज्ञेयं यथासंख्यम् ॥

'कौओंमें पला हुआ कोयलका बच्चा कोयलका शब्द सुनते ही यह जान जाता है कि मैं कोयल हूँ। फिर अपने शब्दसे वही बोध उत्पन्न करनेकी शक्ति भी उसमें आ जाती है। मेघका शब्द सुनकर मोर आनन्दसे नाच उठता है, पर यही आनन्द दूसरेको देनेकी सामर्थ्य मोरके शब्दमें नहीं आती।'

दृष्टि—इत्थं सूक्ष्मतरमपि द्विविधं कूर्म्या निरीक्षणात्तस्याः ।
पुत्र्यास्तथैव सवितुर्निरीक्षणात्कोकमिथुनस्य ॥

'कछवीके दृष्टिनिक्षेपमात्रसे उसके बच्चे निहाल हो जाते हैं और फिर यही शक्ति उन बच्चोंको भी प्राप्त होती है। इसी प्रकार सद्गुरुकी करुणादृष्टिके पातसे शिष्यमें ज्ञानका उदय हो जाता है और फिर उसी प्रकार करुणादृष्टिपातसे अन्य अधिकारियोंमें भी ज्ञान उदय करानेकी शक्ति भी उसमें आ जाती है। परन्तु चकवा-चकईको सूर्यदर्शनसे जो आनन्द प्राप्त होता है, वही आनन्द वे अपने दर्शनके द्वारा दूसरे चकवा-चकईके जोड़ोंको नहीं प्राप्त करा सकते।'

सङ्कल्प—सूक्ष्मतममपि द्विविधं मत्स्याः सङ्कल्पतस्तु तदुहितुः ।
तृप्तिर्नेगरादिजनिर्मान्त्रिकसङ्कल्पतश्च भुवि तद्वत् ॥

'मछलीके सङ्कल्पसे उसके बच्चे निहाल होते हैं। और इसी प्रकार सङ्कल्पमात्रसे अपने बच्चोंको निहाल करनेकी सामर्थ्य फिर उन बच्चोंको भी प्राप्त हो जाती है। परन्तु मान्त्रिक अपने सङ्कल्पसे जिन वस्तुओंका निर्माण करता है, उन वस्तुओंमें वह सङ्कल्पशक्ति नहीं उत्पन्न होती।'

इन सब बातोंका निष्कर्ष यह है कि सद्गुरु अपनी सारी शक्ति एक क्षणमें अपने शिष्यको दे सकते हैं। यही बात परम भगवद्भक्त संत तुकाराम अपने एक अभंगमें इस प्रकार कहते हैं कि 'सद्गुरुके विना रास्ता नहीं मिलता, इसलिये सब काम छोड़कर पहले उनके चरण पकड़ लो। वह तुरंत (शरणागतको) अपने-जैसा बना लेते हैं, इसमें उन्हें जरा भी देर नहीं लगती।'

गुरुकृपासे जब शक्ति प्रबुद्ध हो उठती है, तब साधकको आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि करनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं होती। प्रबुद्ध कुण्डलिनी ऊपर ब्रह्मरन्ध्रकी ओर जानेके लिये छटपटाने लगती है। उसके उस छटपटानेमें जो कुछ क्रियाएँ अपने-आप होती हैं, वे ही आसन, मुद्रा, बन्ध और प्राणायाम हैं। शक्तिका मार्ग खुल जानेके बाद ये सब क्रियाएँ अपने-आप होती हैं और उनसे चित्तको अधिकाधिक स्थिरता प्राप्त होती है। ऐसे साधक देखे गये हैं, जिन्होंने कभी स्वप्नमें भी आसन-प्राणायामादिका कोई विषय नहीं जाना था, न ग्रन्थोंमें देखा था, न किसीसे कोई क्रिया ही सीखी थी, पर जब उनमें शक्तिपात हुआ तब वे इन सब क्रियाओंको अन्तःस्फूर्तिसे ऐसे करने लगे जैसे अनेक वर्षोंका अभ्यास हो। योगशास्त्रमें वर्णित विधिके अनुसार इन सब क्रियाओंका उनके द्वारा अपने-आप होना देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है। जिस साधकके द्वारा जिस क्रियाका होना आवश्यक है, वही क्रिया उसके द्वारा होती है, अन्य नहीं। जिन क्रियाओंके करनेमें अन्य साधकोंको बहुत काल कठोर अभ्यास करना पड़ता है, उन आसनादि क्रियाओंको शक्तिपातसे युक्त साधक अनायास कर सकते हैं। यथावश्यक रूपसे प्राणायाम भी होने लगता है और दस-पन्द्रह दिनकी अवधिके अंदर दो-दो मिनटका कुम्भक अनायास ही लगने लगता है। इस प्रकार होनेवाली यौगिक क्रियाओंसे साधकको कोई कष्ट नहीं होता, किसी अनिष्टके भयका कोई कारण नहीं रहता, क्योंकि प्रबुद्ध शक्ति स्वयं ही ये सब क्रियाएँ साधकसे उसकी प्रकृतिके अनुरूप करा लिया करती है। अन्यथा

हठयोगके साधनमें जरा-सी भी त्रुटि होनेसे बहुत बड़ी हानि होनेका भय रहता है जैसा कि 'हठयोगप्रदीपिका' ने 'अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः' यह कहकर चेता दिया है । परन्तु शक्तिपातसे प्रबुद्ध होनेवाली शक्तिके द्वारा साधकसे जो क्रियाएँ होती हैं, उनसे शरीर रोगरहित होता है, बड़े-बड़े असाध्य रोग भी भस्म हो जाते हैं । इससे गृहस्थ साधक बहुत लाभ उठा सकते हैं । अन्य साधनोंके अभ्यासमें तो भविष्यमें कभी मिलनेवाले सुखकी आशासे पहले कष्ट-ही-कष्ट उठाने पड़ते हैं, परन्तु इस साधनमें आरम्भसे ही सुखकी अनुभूति होने लगती है । शक्तिका जागना जहाँ एक बार हुआ वहाँ फिर वह शक्ति स्वयं ही साधकको परम पदकी प्राप्ति करानेतक अपना काम करती रहती है । इस बीच साधकके जितने भी जन्म बीत जायँ, एक बार जागी हुई कुण्डलिनी फिर कभी सुप्त नहीं होती ।

शक्तिसञ्चारदीक्षा प्राप्त करनेके पश्चात् साधक अपने पुरुषार्थसे कोई भी यौगिक क्रिया नहीं कर सकता, न इसमें उसका मन ही लग सकता है । शक्ति स्वयं जो स्फूर्ति अंदरसे प्रदान करती है, उसीके अनुसार साधकको सब क्रियाएँ करनी पड़ती हैं । यदि उसके अनुसार न करे अथवा उसका विरोध करे तो उसका चित्त स्वस्थ नहीं रह सकता, जैसे नींदके आनेपर भी जागनेवाला मनुष्य अस्वस्थ होता है । साधकको शक्तिके अधीन होकर रहना पड़ता है । शक्ति ही उसे जहाँ जब ले जाय, उसे जाना पड़ता है और उसीमें सन्तोष मानना पड़ता है । एक जीवनमें इस प्रकार उसकी कहाँसे कहाँतक प्रगति होगी, इसका पहलेसे कोई निश्चय या अनुमान नहीं किया जा सकता । शक्ति ही उसका भार वहन करती है और शक्ति किसी प्रकार उसकी हानि न कर उसका कल्याण ही करती रहती है ।

योगाभ्यासकी इच्छा करनेवालोंके लिये इस कालमें शक्तिपात-सा सुगम साधन अन्य कोई नहीं है । इसलिये ऐसे शक्तिसम्पन्न गुरु जब सौभाग्यसे किसीको प्राप्त हों तब उसे चाहिये कि ऐसे गुरुका कृपाप्रसाद लाभ करे । इस प्रकार वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हुए ईश्वरप्रसाद लाभ करके कृतकृत्य होनेमें साधकको सदा प्रयत्नवान् होना चाहिये ।

प्रसादे सति देवेशो दुर्ज्ञेयोऽपि सुदुर्लभः ।
शक्यते मनुजैर्द्रष्टुं प्रत्यगात्मतया सदा ॥

शक्तिपात और दीक्षा

(लेखक—एक जिज्ञासु)

शक्तिपात करनेवाले लोग अब भी हैं । शक्तिपातमें गुरुको थोड़ी देरके लिये शिवत्वको प्राप्त होना चाहिये । वह पूर्ण दयासे प्रेरित होकर इस दशाको यदि प्राप्त हो और शक्तिपात करे तो शक्तिका पतन होगा और वह कार्यकर्त्री होगी । मैंने एक-दो गुरुओंको शक्तिपात करते देखा, पर मेरी समझसे उनमें वह भाव न आया और इसलिये शक्तिका पतन नाममात्रको ही हुआ ।

दीक्षामें भूतशुद्धि करके गुरु शिवत्वको यथासाध्य प्राप्त होकर एक हाथसे शिवकी शक्तिको और दूसरेसे अपने गुरुकी शक्तिको अपने शिष्यके सिरपर अपने दोनों हाथ रखकर भरता है । यदि गुरुने ठीक कार्य किया और शिष्य सात्त्विक है तो वह थोड़ी देरके लिये स्तब्ध हो जायगा और जो मन्त्र उसे दिया जायगा वह क्रियावान् होगा । एक व्यक्ति बहुत कालसे एक मन्त्र जपता था, पर उसे कुछ अनुभव नहीं होता था । एक गुरुने भूतशुद्धि कर अति दयाके भावसे प्रेरित हो उसे ऊपर लिखी दीक्षा दी तो अब उसे मन्त्रके जपनेसे उस मन्त्रके देवताके दर्शन होते हैं और उसे बहुत आनन्दका अनुभव होता है । एक दूसरे व्यक्तिको भूतशुद्धि कर उपनयनविधिसे गायत्री-मन्त्रकी दीक्षा दी गयी और उसमें शक्तिपात किया गया । उस समय इस व्यक्तिमें उन्नतिकी सम्भावनाके कोई लक्षण न थे; पर अब समय-समयपर उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है; कीर्तनमें उपस्थित अदृश्य देवोंके उसे दर्शन होते हैं; दूरके दृश्य भी कभी-कभी सही दीखते हैं ।

तीसरे व्यक्तिने किसी संन्यासीसे मन्त्र लिया था । पर उसके जपनेसे उसे कोई लाभ नहीं होता था । उसमें भी इसी प्रकार भूतशुद्धि कर शक्तिपात किया गया और दीक्षा दी गयी और अब उसे भी मन्त्रजपमें आनन्द, दर्शन इत्यादि होते हैं ।

शक्तिपात और कर्मसाम्य, मलपाक तथा पतन

('मनोविनोदाय')

कबीरदासकी उलटबाँसी प्रसिद्ध ही है। उनकी उलटबाँसियोंका क्षेत्र साहित्यतक ही सीमित न था, व्यवहारजगत्में भी परीक्षार्थ उसे कभी-कभी वे उतारा करते थे। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने किसी तरुणीको 'माई' कहकर सम्बोधित किया। उसने इन्हें साधू मानकर आदर-सत्कार किया। किसी दूसरे दिन उसीको अपनी उलटबाँसीकी आजमाइशके लिये 'बापकी मेहर' (पिताकी स्त्री अर्थात् माई) कहकर पुकारा। वह बेतरह बिगड़ी और बदमाश समझकर मारने दौड़ी।·········ठीक यही दशा विश्व-प्रपञ्चकी है। 'होइहैं सोइ जो राम रचि राखा', 'यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा' सोलहों आने ठीक है। चाहे व्यवहारजगत् हो या साधनाजगत्—वस्तुतः यह भेद भी तो सापेक्ष ही है, अन्यथा जिसे हम व्यवहारजगत् कहते हैं, वह भी तत्त्वदृष्टिसे साधनाजगत् ही है। इस विश्व-पहेलीकी घटित घटनाओंको नाम-दुर्नाम देना एवं फलस्वरूप, सुखी-दुःखी होना अपने मनकी माया है।

कर्मसाम्य, मलपाक और पतन उपर्युक्त प्रकारसे एक ही भावके द्योतक हैं। तीनोंमें ही, सापेक्षतः, एक उच्च स्थानसे निम्नतर स्तरपर उतरना, फिसलना, गिरना होता है। परन्तु, यह उतार, फिसलाव, गिराव वस्तुतः व्यावहारिक अर्थमें निन्द्य पतन नहीं है, प्रत्युत शक्तिपातकी योग्य भूमिका है। कृपालु सद्गुरु कृपापात्र शिष्यपर अपने सहज कृपालु स्वभावसे शक्ति उतारते हैं। इस प्रक्रियाको 'शक्तिपात' करना कहते हैं। इस प्रक्रियामें मुख्य कार्य सद्गुरुका ही है, शिष्यकी ओरकी तैयारी तो एक प्रकार नहींके बराबर है। शिष्यकी तैयारी केवल इतनी ही है कि यदि वह त्रिगुणोंमेंसे किसी एकके उत्कर्षके कारण विषमावस्थामें होता है तो सद्गुरु उस विषमताको उत्कर्ष गुणके प्रपातसे दूर करते हैं। गुणोत्कर्षके इस प्रपातको ही कर्मसाम्य, मलपाक एवं पतन कह सकते हैं। कर्मसाम्यमें सत्त्वोत्कर्ष, मलपाकमें राजसोत्कर्ष और पतनमें तामसोत्कर्षसे प्रपात किया-कराया जाता है। कर्मसाम्यमें साधक एवं गुरु दोनोंकी, मलपाकमें केवल गुरुकी और पतनमें साधक तथा गुरु किसीकी भी नहीं, स्वेच्छाका ज्ञात सम्बन्ध होता है। यदि साधक और गुरुके इस स्वेच्छापूर्वक ज्ञात सम्बन्धको अलग कर दें तो मूलतः स्वरूपसे ये तीनों एक ही कहे जा सकते हैं।

जैसे किसी आधारपर कोई सम वस्तु रखनेके लिये उस आधारको भी साम्यावस्थामें लाना पड़ता है, उसकी ऊँचाई-नीचाईरूपी विषमताको उचित काट-छाँटद्वारा दूर करना पड़ता है और इस प्रक्रियामें सुगमता उच्चस्थलके काटनेमें ही है, निम्नको उच्च बनानेमें नहीं; उसी प्रकार किसी साधकको शक्तिके अवतारका योग्य आधार बनानेके लिये उसके गुणवैषम्यको उत्कर्ष-गुणके दूरीकरणद्वारा हटाया जाता है। सामान्यतः अन्य साधनमार्गमें सत्त्वोत्कर्षका अपकर्ष नहीं किया जाता, प्रत्युत वह उत्कर्ष इतना बढ़ाया जाता है कि रजोगुण और तमोगुण सर्वथा आच्छन्न हो जायँ और सत्त्वगुणके चरम उत्कर्षद्वारा एक प्रकारकी साम्यावस्था स्थापित हो जाय। परन्तु, शक्तिपात-प्रक्रियामें सत्त्वोत्कर्षका भी सापेक्ष अपकर्ष कराया जाता है। कारण, शक्तिपातके आधार-पात्रमें यदि कुछ भी सक्रियता शेष रहे तो यह प्रक्रिया सफल नहीं हो सकती। जैसा कि ऊपर कहा गया है। शक्तिपातके पात्रकी एकमात्र योग्यता परिपूर्ण निष्क्रियता (complete passivity) है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि परिपूर्ण निष्क्रियता किसी एक गुणके चरम उत्कर्ष तथा फलस्वरूप अन्य दोकी विलीनतासे नहीं हो सकती। कारण, किसी भी एक गुणके चरम उत्कर्षमें निष्क्रियता नहीं होती, प्रत्युत उस गुणकी सर्वोपरि सक्रियता होती है।

इस प्रकार, उपर्युक्त परिपूर्ण निष्क्रियताके संस्थापनमें किसी भी गुण-भावका एकाङ्गी प्राबल्य बाधक होता है—शुभ-अशुभ दोनों प्रकारकी वासनाओं-संस्कारोंकी प्रबलता सानुकूल नहीं होती। फलतः अमोघदृष्टि कल्याणदर्शी सद्गुरु कृपापात्र शिष्यके स्वभाव-संस्कारोंकी एकाङ्गी प्रबलताको कुशलतासे हटाते हैं। जिस साधकमें शुभ वासनाओंकी प्रबलता होती है, उसे सद्गुरु लोकैषणाके शुभकार्योंमें नियुक्त कर उसकी उस प्रबलताको दूर करते हैं। जहाँ सद्गुरुकी साक्षात् कृपादृष्टिमें यह कार्य होता है, वहाँ स्वयं साधकके मनमें तथा संसारकी दृष्टिमें भी इस सत्त्वोत्कर्षके त्यागसे ग्लानि, निन्दा आदिके भाव नहीं उठते। परन्तु, जहाँ सद्गुरुकी साक्षात् कृपादृष्टि नहीं होती और यह कार्य परम गुरु, परम

नियन्ताके अमोघ विधानसे बलात् पर सहजरूपमें होता है, वहाँ स्वयं साधकके मनमें समय-समयसे ग्लानि, संकोच आदि तथा संसारकी दृष्टिमें निन्दा, आलोचना आदिके भाव उठते हैं। पर यह क्रिया चाहे सद्गुरुकी साक्षात् कृपादृष्टिमें हो अथवा परम गुरु, परम नियन्ताके अमोघ विधानसे हो, दोनों ही अवस्थाओंमें परिणाम एक ही होता है—शक्तिपातकी योग्य भूमिकाका निर्माण। जहाँ इस उत्कर्षका त्याग सद्गुरुके साक्षात् आदेशसे होता है, वहाँ तो यथासमय शक्तिसञ्चार होता ही है, इसमें कहना ही क्या; पर जहाँ परम गुरुका अमोघ विधान इस क्रियाको कराता है, वहाँ भी वैराग्यशक्ति, विवेकशक्ति, विचारशक्तिका अवतार—पात—होता ही है।

शुद्ध शुभ वासनाओंके प्राबल्यको इस प्रकार दूर करनेकी प्रक्रियाको कर्मसाम्य कह सकते हैं। इसमें उतार होनेपर भी शुभकार्य ही होते हैं और साधक तथा गुरु दोनोंकी स्वेच्छासे होते हैं। इसीलिये कहा गया है कि कर्मसाम्यमें साधक और गुरु दोनोंकी स्वेच्छाका ज्ञात सम्बन्ध होता है। पर जहाँ यह उतार सापेक्ष शुभाशुभ वासना-प्राबल्यसे होता है और फलतः साधकको अपेक्षाकृत अशुभ कार्यों, उदाहरणार्थ गृहस्थाश्रममें प्रवेश, सन्तानोत्पादनादि प्रापञ्चिक व्यवहारोंमें रत होना पड़ता है, वहाँ इस प्रक्रियाको 'मलपाक' कह सकते हैं। मलपाकमें अशुभ वासनाएँ अपने परिपाकसे अपने-आप छूट जाती हैं। इसमें, गुरुकी स्वेच्छाकी ही प्रधानता रहती है, साधककी नहीं। कारण, कोई भी साधक स्वेच्छापूर्वक बिना आदेशके ऐसे प्रसङ्गोंमें पड़नेके लिये हृदयसे तैयार नहीं होता। यह प्रक्रिया भी यदि सद्गुरुकी साक्षात् कृपादृष्टिमें हो तो स्वयं साधकको भी अधिक झेंप नहीं होती और संसार भी क्षमाकी दृष्टिसे देखता है। महाप्रभु गौराङ्गदेवके आदेशसे नित्यानन्दकी गार्हस्थ्याश्रमकी स्वीकृतिसे इसपर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। वहाँ न तो नित्यानन्दको स्वयं झेंप मालूम पड़ती है न संसार ही उनपर घृणाकी दृष्टि डालता है। पर यदि वही मलपाक परम गुरुके अमोघ विधानसे हो तो अल्पधीर साधक और दोषदर्शी संसार दोनोंके मनोभावोंमें महान् अन्तर आ जाता है। परन्तु इसे कदापि भूलना न चाहिये कि मूलतः एवं परिणामतः यह प्रक्रिया दोनों रूपोंमें एक ही है।

कर्मसाम्यमें केवल शुभ, मलपाकमें शुभाशुभ मिश्रित तथा पतनमें केवल अशुभ संस्कारों—भावों—वासनाओंकी प्रबलता होती है। फलतः पतनमें एकमात्र अशुभ कर्म ही होते हैं। उसका न तो साधक ही स्वेच्छापूर्वक अभिनन्दन करता है, न संसार ही क्षमादृष्टिसे ग्रहण करता है, उसमें साधककी आत्मग्लानि और संसारकी फटकार होती है। इसी लिये पतनकी सर्वतोमुखी निन्दा, आलोचना, होती है। यहाँतक कि तन्त्र-शास्त्रके कुछ प्रसङ्गोंको छोड़कर पतन-क्रियाको साधनाका अङ्ग कोई माननेको तैयार ही नहीं है। पर यहाँ भी हमें सदा स्मरण रखना चाहिये कि 'पतन' केवल 'पतन' ही नहीं है, प्रत्युत शक्तिपातरूपी उत्थानका पूर्वपीठ है। प्रत्येक पतनक्रियाकी परिसमाप्तिपर ज्ञात वा अज्ञात दैवी शक्तिपात होता है। यही कारण है कि 'पतन' के अन्तिम अन्तमरण और दूसरे अङ्ग 'सुरति' के अनन्तर बल्कि इनके स्मरणमात्रसे 'स्मशानवैराग्य' हो जाता है और कहनेकी आवश्यकता नहीं कि तीव्र एवं सच्चा वैराग्य केवल इन स्मशानवैराग्योंका योगफलमात्र ही है। पतनकी प्रायश्चित्ताग्निमें इतनी प्रखरता है कि महाकामी स्वनामधन्य पतनप्रेरित गोस्वामी तुलसीदासको निष्कामी—भगवत्कामी—रागी—बना देता है। कारण स्पष्ट ही है। कर्मसाम्य तथा मलपाक जहाँ कई दृष्टियोंसे पतनसे श्रेष्ठतर माने गये हैं, वहाँ एक दृष्टिसे पतनसे निम्नतर हैं। चाहे कितने ही उच्च कोटिके साधक एवं गुरु कर्मसाम्य और मलपाकमें क्यों न हों, पर एकान्ततः निरभिमानी नहीं हो सकते, अभिमानावशेष रहता ही है। पर पतनके साधक पतित और उसके परम गुरु परमेश्वरमें यह विशेषता है कि यहाँ अभिमानका मान कुछ भी नहीं रहता है। यही कारण है कि पतनके योग्य आधारपर शक्तिपात अलौकिक होता है, अमोघ होता है। इसीलिये संसारकी प्रायः सभी महान् विभूतियाँ, विशेषतः भक्त-समुदाय अपनेको 'पतित', 'पतितनमें नामी', 'प्रसिद्ध पातकी', 'मत्समः पातकी नास्ति' कहकर संसारके परितप्त जीवोंसे अश्रुधार गिरवाकर प्रशान्त करता है। इस प्रकार, पतन सचमुच परम उत्थानका प्रधान पथ प्रतीत होता है।

अन्तमें, यह स्पष्ट कह देना है कि उपर्युक्त पंक्तियाँ केवल 'मनोविनोदाय' हैं। फलतः, न तो इनके शास्त्रीय आधारकी ओर दृष्टि रक्खी गयी है और न इन्हें स्वीकार करानेके आग्रहकी ओर ही। फिर भी इसके अवलोकनसे यदि हममें सहिष्णुता आ जाय तो बस है। साधकके लिये सहिष्णुता श्रद्धाके बाद अद्वितीय महत्त्वकी वस्तु है। जिसे हम पतित समझकर घृणा कर रहे हैं, उसके प्रति यदि हमारे ये भाव

हो जायँ कि पशुपतिके अमोघ संरक्षणमें यह अपने परमपदके पथपर अग्रसर हो रहा है तो क्या हम कभी उससे घृणा कर सकते हैं ? कदापि नहीं ! इसीलिये तो इस दृष्टिकी फल-श्रुति है—

भोगो योगायते सम्यग् दुष्कृतं सुकृतायते ।
योगायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि ॥

इस कुलसे दूर–विमुख–रहना ही परम व्याकुलता (वि + आ + कुलता) है ।

रहस्यरहित रहस्य

(प्रेम और सत्य)

(लेखक—'प्रलाप')

अनेकों वर्ष संलग्न विचार और सावधान प्रयोग करके मैंने जो कुछ पाया उससे यही नतीजा निकलता है कि **सतत, सुदृढ और अविचल भावसे सत्यका आचरण करना और प्रेमभाव तथा सहानुभूतिको बढ़ाये चलना, यही सबसे सुगम, सबसे स्पष्ट और सबसे अधिक अमोघ साधन** है । सब शास्त्रोंने एक स्वरसे इसी बातको माना है—'सत्यान्नास्ति परो धर्मः ।' 'अहिंसा परमो धर्मः ।' आदि हिन्दूधर्मके शास्त्रसिद्धान्त सर्वविश्रुत ही हैं । ये ही सिद्धान्त बौद्धधर्मके भी हैं । ईसामसीहका भी सबसे यही कहना था कि 'तुमलोग पहले भगवान्‌के राज्य और उनके दिव्य गुणोंकी इच्छा करो; और ये सब चीजें तुम्हारे साथ जुट जायँगी ।' योग अथवा अध्यात्म-साधनाका भी तो यही सार है, तथापि यह शिक्षा इतनी स्पष्ट और आपाततः इतनी सुगम है कि यह स्पष्टता और सुबोधता ही सामान्य साधकोंकी बुद्धिको चक्करमें डाल देती है और उत्साहके साथ इसे धारण करनेमें वे असमर्थ हो जाते हैं । जीवनमें सुख नहीं, साधनपथ बड़ा विकट है, मन और इन्द्रियोंको वशमें ले आना हँसी-खेल नहीं, यह सब हमलोग कहा करते हैं । परन्तु जो कुछ कठिन, दुस्साध्य-असाध्य है उसीकी ओर हमलोगोंकी कुछ ऐसी आन्तरिक प्रवृत्ति है कि हमलोग उसकी ओर दौड़ते हैं और राह चलते यदि सब रोगोंकी कोई अचूक पर मामूली दवा मिलती है तो उसपर हमें विश्वास नहीं होता, हम उसपर हँस देते हैं, उसकी अव्यर्थतापर हमें गहरा सन्देह होता है । होमियोपैथिक औषधकी गोलियोंको हममेंसे बहुतेरे इसीलिये कोई चीज नहीं समझते कि उनमें कोई ताव, तेजी या तीतापन नहीं होता ! अव्यर्थ शक्तिके साथ प्रतिकूल वेदना और किसी प्रकारकी अटिलताका होना जरूरी समझनेके हमलोग आदी हो गये हैं । हमलोग बचपनसे ही 'सत्य' और 'प्रेम'की प्रशंसा बराबर सुनते आये हैं । इसी अति परिचयके कारण ही उनके वस्तुगत गुणोंसे हमारी आँखें अन्धी हो गयी हैं । हम समझते हैं कि यह सब बच्चोंके लिये भुलावा है, इतनी मामूली-सी बातमें भला रक्खा ही क्या है ! परन्तु यदि हमलोग अपने ऋषि-मुनियोंके वचनोंपर कुछ भी विश्वास रक्खें और उनके अनुशासनोंका पालन करके देखें तो बहुत जल्द ही हमें यह पता चलेगा कि सत्य और प्रेमका आचरण इतना आसान तो नहीं है जितना कि सामान्यतः इन नामोंसे सूचित होता है; यही नहीं, प्रत्युत इनका आस्थापूर्वक पालन करने लग जाइये तो पद-पदपर ऐसी कठिनाइयाँ सामने उपस्थित होंगी कि आपके निश्चय और सहिष्णुताकी पूरी परीक्षा होगी, आपके उत्तमोत्तम गुण बाहर निकल आयेंगे और इस प्रकार उन गुणोंका विकास होगा जिन्हें मानवसमाजके महान् आचार्योंने मनुष्यकी परम सिद्धिके लिये अत्यन्त आवश्यक माना है ।

सत्य सीधी-सादी, सबकी समझमें आनेवाली चीज है, प्रेम और सहानुभूति भी ऐसी ही है । इनके बारेमें कोई बात दुर्बोध नहीं है; कोई गुप्त चीज नहीं, कहींसे बंद या आच्छादित नहीं । तथापि ज्यों ही आप इन सत्य और प्रेमको अपने जीवनके सिद्धान्त बना लेंगे, त्यों ही आप यह अनुभव करने लगेंगे, आपके उत्तमोत्तम कर्मों और गभीरतम शक्तियोंपर इनका कितना बोझ पड़ता है । इनके लिये आपको अपने सब विचारों, भावों और कर्मोंमें बड़ी सावधानी रखनी पड़ेगी और क्रमशः आपके मनकी एकाग्र होनेकी शक्ति खूब बढ़ेगी और वह आत्मसंयम होगा जो सब योगसाधनाओंका चरम लक्ष्य है ।

भगवान्‌का राज्य और क्या है ? सत्य और प्रेमका ही तो राज्य है; और सब दैवी गुण उसी राज्यकी प्रजा हैं । इस प्रकार सत्य और प्रेमके पथपर सचाईके साथ निरन्तर चलकर

आप एक तरफसे ऊपर भगवद्राज्यमें पहुँचते हैं और दूसरी तरफसे उस भगवद्राज्यको पृथ्वीपर उतार लाते हैं।

योग जो सबसे कठिन साधना है, कहीं मिलन और कहीं समत्व कहकर लक्षित किया गया है । दोनों ही सही अभिधान हैं, पर 'मिलन' मैं समझता हूँ कि अधिक अभिव्यञ्जक है । अब, मिलनका सर्वोत्तम उपाय क्या प्रेम ही नहीं है, जैसे कि द्वेष बिगाड़का निश्चिततम उपाय है ? और क्या परमात्माके साथ सायुज्य अर्थात् उनके स्वरूपके साथ संयोग या मिलन ही हमलोगोंके जीवनका परम लक्ष्य नहीं है ? और क्या सत्य और प्रेम परमात्माके ही स्वरूप नहीं हैं ? और यदि प्रेम तथा सत्य—सत्य और प्रेम भगवानके ही स्वरूप हैं और सौन्दर्य तथा आनन्दका उनके हृदयोंमें निवास है तो हम क्यों न इन्हीं सरल स्वाभाविक गुणोंके द्वारा सीधे ही उनके समीप चल चलें ?—आसन, प्राणायाम, मुद्रा, मन्त्र, कुण्डलिनी-चक्र और न जाने क्या-क्याके फेरमें क्यों पड़ें और इन रास्तोंकी जोखिमें क्यों उठावें ? योगी श्री-अरविन्द ठीक ही तो कहते हैं कि हमारी भागवती माता ही हमें सीधा सच्चा रास्ता दिखाती हैं, वे ही प्रकृतिके रूपमें प्रकट हैं; और प्रेम तथा सत्य उन्हींकी सन्तान हैं । इसलिये प्रेम और सत्यका स्वागत है, ये ही हमारे रक्षक हैं जो कभी गलत रास्तेपर नहीं जाते और चाहे जहाँ चाहे जिसके द्वारा पहचाने भी जाते हैं ।

महासिद्धि, गुणहेतुसिद्धि, क्षुद्रसिद्धि और परमसिद्धि

(लेखक—पं० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

श्रीमद्भागवतान्तर्गत एकादश स्कन्धके १५ वें अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने उद्धवको उपर्युक्त सिद्धियाँ और उनके साधन बताये हैं । उस विवरणपर श्रीएकनाथ महाराजकी भी बड़ी सुन्दर टीका है जिसके आधारपर ही यह लेख लिखा जाता है।

महासिद्धियाँ आठ हैं । इनमें (१) अणिमा, (२) महिमा और (३) लघिमा देहसम्बन्धी सिद्धियाँ हैं । 'अणिमा' सिद्धिसे देहको अणु—परमाणु-परिमाण छोटा बनाया जा सकता है । श्रीहनूमान्‌जीने श्रीसीताजीकी खोजमें अणु-रूपसे ही लङ्कामें प्रवेश किया था । 'महिमा' सिद्धिसे देहको चाहे जितना बड़ा या भारी बनाया जा सकता है । समुद्रलङ्घन करते समय हनूमान्‌जीने अपने शरीरको पर्वतप्राय बनाया था । 'लघिमा' सिद्धिसे शरीर कपाससे भी हलका, हवामें तैरने लायक बनाया जा सकता है । (४) 'प्राप्ति' इन्द्रियोंकी महासिद्धि है । (५) 'प्राकाम्य' परलोकगत अदृश्य विषयोंका परिज्ञान करानेवाली सिद्धि है । (६) 'ईशिता' माया और तदंशभूत अन्य शक्तियोंको प्रेरित करनेवाली सिद्धि है । (७) 'वशिता' कर्मोंसे अलिप्त रहने और विषय-भोगमें आसक्त न होनेकी सामर्थ्य देनेवाली सिद्धि है । (८) ख्याति त्रिभुवनके भोग और वाञ्छित सुखोंको अकस्मात् एक साथ दिलानेवाली सिद्धि है ।

ये अष्ट महासिद्धियाँ भगवान्‌में स्वभावगत हैं, भगव-दितरोंको महान् कष्ट और प्रयाससे प्राप्त हो सकती हैं । भगवान् और भगवदितर सिद्धोंके बीच वैसा ही प्रभेद है, जैसा प्राकृतिक लोहचुम्बक और कृत्रिम लोहचुम्बकके बीच होता है ।

गौण सिद्धियाँ दस हैं—(१) 'अनूर्मि' अर्थात् क्षुधा, तृषा, शोक-मोह, जरा-मृत्यु इन षड् ऊर्मियोंसे देहका बेलाग रहना । (२) 'दूरश्रवणसिद्धि' अर्थात् अपने स्थानसे चाहे जितनी दूरका भाषण सुन लेना । (इस समय यह काम रेडियो कर रहा है । योगी अपने श्रवणेन्द्रियोंकी शक्तिको बढ़ाकर यह काम कर लेते हैं ।) (३) 'दूरदर्शनसिद्धि' अर्थात् त्रिलोकमें होनेवाले सब दृश्यों और कार्योंको अपने स्थानमें बैठे ही देख लेना । (यह काम इस समय टेलिविजन कर रहा है । योगी अपने दर्शनेन्द्रियकी शक्तिको विकसित कर यह काम घर बैठे कर लेते हैं । संजयको व्यासदेवकी कृपासे दूरश्रवण और दूरदर्शन दोनों सिद्धियाँ प्राप्त थीं ।) (४) 'मनोजवसिद्धि' अर्थात् मनोवेगसे चाहे जिस जगह शरीर तुरंत पहुँच सकना । (चित्रलेखाको यह सिद्धि तथा दूर-दर्शनसिद्धि भी नारद भगवान्‌के प्रसादसे प्राप्त हुई थी ।) (५) 'कामरूपसिद्धि' अर्थात् चाहे जो रूप धारण कर लेना । (६) 'परकायप्रवेश' अर्थात् अपने शरीरसे निकलकर दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर जाना । (श्रीमत् शंकराचार्यका परकायप्रवेश सर्वश्रुत है ।) (७) 'स्वच्छन्दमरण' अर्थात् (भीष्मजीके समान) कालके वशमें न होकर स्वेच्छासे कलेवर छोड़ना । (८) 'देवक्रीडानुदर्शन'

अर्थात् स्वर्गमें देवता जो क्रीडा करते हैं, उन्हें यहाँसे देखना और वैसी क्रीडा स्वयं कर सकना। (९) 'यथासङ्कल्पसंसिद्धि' अर्थात् सङ्कल्पित वस्तुका तुरंत प्राप्त होना, सङ्कल्पित कार्योंका तुरत सिद्ध होना। (१०) 'अप्रतिहतगति और आज्ञा' अर्थात् आज्ञा और गतिका कहीं भी न रुकना। (इस सिद्धिसे सम्पन्न योगीकी आज्ञाको राजा भी सिर आँखों चढ़ाता है। ऐसे योगी चाहे जहाँ जा आ भी सकते हैं।)

क्षुद्रसिद्धियाँ पाँच हैं—(१) 'त्रिकालज्ञता'—भूत, भविष्य, वर्तमान—इन तीनों कालोंका ज्ञान। (महर्षि वाल्मीकिजीको यह सिद्धि केवल अखण्ड राम-नाम-स्मरणसे प्राप्त हुई थी और इसीसे वे श्रीरामचन्द्रजीके जन्मके पूर्व रामायण लिख सके।) (२) 'अद्वन्द्वता'—शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मृदु-कठिन आदि द्वन्द्वोंके वशमें न होना। (ऐसे सिद्ध पुरुष इस समय हिमालयमें तथा अन्यत्र भी देखे जाते हैं। (३) 'परचित्ताद्यभिज्ञता' दूसरोंके मनका हाल जानना, दूसरोंके देखे हुए स्वप्नोंको जान लेना इत्यादि। (इसीको आजकल 'थाट-रीडिंग' कहते हैं।) (४) 'प्रतिष्टम्भ'—अग्नि, वायु, जल, शस्त्र, विष और सूर्यके तापका कोई असर न होना। (६) 'अपराजय'—सबके लिये अजेय होकर सबपर जयलाभ करना।

इन सब प्रकारकी सिद्धियोंको प्राप्त करनेके लिये अनेक प्रकारके साधन हैं। मनमें तरह-तरहकी कामनाएँ रक्खे हुए लोग इष्टसिद्धिके साधनमें महान् कष्ट सहते हैं। परन्तु भगवान् कहते हैं कि, इन अनेक प्रकारके साधनोंके बिना सब सिद्धियोंकी प्राप्ति जिस एक धारणासे होती है वह मैं तुझे बतलाता हूँ—

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः।
मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा॥

'पञ्चज्ञानेन्द्रियों और पञ्चकर्मेन्द्रियोंको जिसने शम-दमसे जीता है, प्रखर वैराग्यके द्वारा जिसने प्राण और अपानको अपने वशमें किया है, विवेकबलसे जिसने अपने चित्तको सावधान बनाया है और मेरे निरन्तर चिन्तनसे जिसने मनोजयलाभ किया है और इस प्रकार जो सतत मेरा ही ध्यान करता है, उसके लिये कौन-सी सिद्धि दुर्लभ है?' सब सिद्धियाँ उसकी दासियाँ बनकर सदा उसके समीप रहती हैं। पर उसको चाहिये कि वह इन सिद्धियोंका अपने स्वार्थमें प्रयोग न करे।

सिद्धियाँ किसीको जन्मतः, किसीको दिव्य ओषधियोंसे, किसीको मन्त्रसे, किसीको तपसे और किसीको योगाभ्याससे प्राप्त होती हैं। साँपका वायुभक्षण करके रहना, मत्स्यका जलमें तैरना, पक्षीका आकाशमें उड़ना, ये जन्मतः प्राप्त सिद्धियाँ हैं। राजहंसका नीरक्षीरविवेक, कोकिलका मधुर स्वर, चकोरका चन्द्रामृतप्राशन, ये भी जन्मसिद्ध सिद्धियाँ हैं। ओषधियोंसे प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंके सम्बन्धमें श्रीएकनाथ महाराज अपनी टीकामें बतलाते हैं—'मंगलवारकी चतुर्थी अर्थात् अंगारकी चतुर्थीका व्रत श्वेतमन्दारके नीचे बैठकर जो कोई बराबर इक्कीस वर्षतक करता रहेगा उसे उस वृक्षके नीचे श्रीगणेशजीकी मूर्त्ति मिलेगी और उससे उसे सब विद्याओंका ज्ञान प्राप्त होगा तथा उसका घर धन-धान्यसे भरेगा। अजानवृक्षका लासा चाटनेवाला आदमी अजर-अमर हो जाता है। नित्य कडुआ नीम खानेवालेपर कोई विष असर नहीं करता। पातालगारुडीका मुख प्राशन करनेवालेको देहदुःखसे कोई क्लेश नहीं होता। पूतिकावृक्षकी जड़ महाशक्तिकी एक मूर्त्ति ही है। इस जड़को हाथमें रखकर कोई चाहे तो अप्सराओंके बीचमें चला जा सकता और उनसे क्रीडा कर सकता है। ऐसी-ऐसी कितनी ओषधियाँ हैं, जिनसे विलक्षण सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। परन्तु इन्हें पाना सचमुच ही बड़ा कठिन है।' तपसे होनेवाली सिद्धियोंके विषयमें बतलाते हैं कि, 'कृच्छ्र, पराक, चान्द्रायण आदि व्रत, मेघकी जलधारामें बैठ रहना, जलमें खड़े होना, ये सब ऐसे साधन हैं कि जिस भावनासे इनमेंसे जो कोई साधन किया जाता है, उससे वही सिद्धि प्राप्त होती है।' मन्त्रसिद्धिके प्रसङ्गमें कहते हैं—

'रातभर शवपर बैठकर अनुष्ठान करे तो उससे प्रेतदेवता प्रसन्न होते हैं और भूत, भविष्य, वर्तमान अर्थात् त्रिकालके ज्ञानकी सिद्धि होती है। सूर्यमन्त्रका अनुष्ठान करनेसे दूरदर्शनसिद्धि प्राप्त होती है। मन्त्र जैसा हो और जैसी बुद्धि हो वैसी ही सिद्धि मिलती है।

इन सब सिद्धियोंके रहनेका एक निधान योगधारणा है। आसन दृढ़कर प्राणापानको एक करके जो योगधारणा करता है, उसे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ऐसा होनेपर भी भगवान् कहते हैं कि यह सब कुछ भी न करके जो मुझ एक परमात्माको अपने हृदयमें धारण करता है, सब सिद्धियाँ उसके चरणतले आ जाती हैं और चारों मुक्तियाँ स्वभावसे ही उसकी दासियाँ होकर रहती हैं। अनेक सिद्धियोंकी धारणासे मेरी सलोकता, समीपता और सरूपता भी नहीं प्राप्त होती, सायुज्यताकी तो कोई बात ही नहीं!

जो मेरे अनघ अनन्यभक्त मुक्तिको भी छोड़कर मेरी भक्तिमें ही नित्य तृप्त होते हैं, वे मेरे लिये पूज्य हैं।

परम सिद्धि अर्थात् परमानन्द-प्राप्ति

मनुष्यका सारा प्रयास आनन्दलाभके लिये है। ऊपर जिन सिद्धियोंके लाभके प्रचण्ड घटाटोपका कुछ वर्णन हुआ, उन सिद्धियोंका लक्ष्य भी आनन्द ही होता है। पर आनन्दको भी परखकर ग्रहण करना चाहिये। आनन्द तीन प्रकारके हैं—इन्द्रियगम्य, मनोगम्य और बुद्धिगम्य। इन्द्रियगम्य आनन्द पशुका, मनोगम्य आनन्द मनुष्यका और बुद्धिगम्य आनन्द देवोंका होता है। इसके भी परे विशुद्ध-बुद्धिगम्य आनन्द है जो 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' है, उसे संत या भक्त लेते हैं। इसीको परमानन्द कहते हैं। संत कबीरदास कहते हैं—

> गुपत होकर परगट होवे, आवे मथुरा कासी।
> ब्रह्मरन्ध्रसे प्राण निकलि, सत्य लोकका बासी॥
> सोई कच्चा बे कच्चा बे। नहीं गुरूका बच्चा बे॥

बड़ी-बड़ी सिद्धियोंसे प्राप्त होनेवाला आनन्द शाश्वत आनन्द नहीं है, परमानन्द नहीं है। वैसा आनन्द लेनेवाले योगीको कबीर साहब 'कच्चा' ही बतलाते हैं, उसे 'गुरुका बच्चा' नहीं मानते। इसलिये वास्तविक कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको ऐसे आनन्दके पीछे न पड़कर परमानन्दकी प्राप्तिमें ही प्रयत्नवान् होना चाहिये। यही सच्चा पुरुषार्थ है। इस परमानन्दका साधन श्रीभगवान् बतलाते हैं—

> **निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन् विशदं मनः।**
> **परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते॥**

इसपर श्रीएकनाथ महाराजकी टीका है—चित्तदेवता सत्त्वगुण है, इन्द्रिय रजोगुण है और विषय तमोगुण। यही परमानन्दका आवरण है। परमानन्दको छिपा रखनेवाले ये ही प्रकृतिके तीन गुण हैं, ये ही परमानन्दकी प्राप्तिमें बाधक हैं। इन तीन गुणोंको छोड़कर जो मेरे निर्गुण ब्रह्मस्वरूपका ध्यान करता है, वह परमानन्दलाभ करता है। (निर्गुणका अर्थ है प्रकृतिगुणोंके परे जो 'दिव्यगुण' है वह। भगवान्‌का सगुण-साकाररूप प्राकृत नहीं बल्कि दिव्य है। गीतामें भगवान्‌ने कहा ही है कि 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'; इस दिव्य जन्म-कर्मको जो तत्त्वतः जान लेता है वह देह छोड़कर मुझे प्राप्त होता है, पुनर्जन्मको नहीं।) मेरे ध्यानसे परमानन्दलाभ होता है और इस आनन्दमें उसकी सब इच्छाएँ विलीन हो जाती हैं। सूर्योदयके होते ही चन्द्रसहित सब नक्षत्र जिस तरह लुप्त हो जाते हैं, उसी तरह परमानन्दमें करोड़ों इच्छाएँ मिलकर शेष हो जाती हैं। इन्द्रियसुखकी बातें तो मारे लज्जाके जहाँ-की-तहाँ ही ठंडी हो जाती हैं। भगवान् कहते हैं,—हे उद्धव! सुनो। जबतक परमानन्द नहीं मिलता तबतक लाख उपाय करनेपर भी कामकी निवृत्ति नहीं होती। इसलिये प्रत्येक साधकको परमानन्द पानेमें ही यत्नवान् होना चाहिये। यही परम सिद्धि है। यह भगवान्‌के सगुण-निर्गुण ध्यानसे प्राप्त होती है। (पर यह ध्यान तीव्र होना चाहिये।) अन्य सिद्धियोंके लिये जितना प्रयास किया जाता है, उतनेसे ही परम सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। भक्तवर तुकाराम कहते हैं—

> साधन यही सिद्धियोंका है सरल और सुखधाम।
> श्रीगोपालनाम लेता रह मुखसे आठों याम॥

संतोंका यह अनुभव है कि अखण्ड नाम-स्मरण अथवा नामोच्चारणसे ही सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। परम कारुणिक भगवान् सब साधकोंको ऐसी ही सद्बुद्धि प्रदान करें।

लालच

> **खट्टा मीठा चरपरा, जिभ्या सब रस लेय।**
> **चोरी कुतिया मिलि गई, पहरा किसका देय॥**
> **माखी गुड़में गड़ि रही, पंख रह्यो लपटाय।**
> **हाथ मलै औ सिर धुनै, लालच बुरी बलाय॥**

—रैदास

पञ्चभूतोंकी धारणा

यह स्थूल संसार जिसे जनसाधारण वज्रके समान ठोस देखते हैं, स्वप्नके दृश्योंसे भी अधिक हलका और सारहीन है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका भार केवल मन सम्हाले हुए है और वह जबतक उस भारकी याद नहीं करता तबतक किसी प्रकारका दुःख उसे नहीं होता, जब वह स्थूल वस्तुओंके स्मरणमें ही अपनेको खो बैठता है, भूल जाता है, तब मानो उसपर सौ-सौ पहाड़ोंके भार आ जाते हैं और वह उनसे दबकर अधोगामी होने लगता है और लघु-से-लघुतर होकर जड़प्राय हो जाता है। अधिकांश लोगोंका मन अपनी विशालता, शक्ति और ज्ञानको भूलकर एक शरीरकी प्रवृत्तियोंमें इतना अधिक फँस गया है कि अपनेको शरीरके अतिरिक्त और कुछ समझता ही नहीं; और विश्व-ब्रह्माण्डके उद्भव और विलयनकी तो बात ही क्या, उनकी कल्पनासे ही मूर्छित हो जाता है। मनकी यह दुर्बलता बहुत दिनोंसे अभ्यस्त है और इसीके कारण संसारके सारे दुःख-द्वन्द्व हैं। यह मन, जो कि चिन्मय है, जबतक पुनः अपने चिन्मयत्वका अनुभव नहीं कर लेगा तबतक सुखी और शान्त नहीं हो सकता; इसके लिये भावनाकी, अभ्यासकी आवश्यकता है। संतोंने, शास्त्रोंने इसीके लिये अनेकों प्रकारके साधन बतलाये हैं, उनमेंसे एक प्रमुख साधन पञ्चभूतोंकी धारणा है। इसके द्वारा मनको धीरे-धीरे अल्पताके कारागारसे निकालकर अखण्ड-स्वातन्त्र्यमें, जो कि अनन्त है, स्थापित किया जाता है। वास्तवमें यही उसका स्वरूप है। स्वरूपकी उपलब्धि ही इस साधनाका उद्देश्य है, यद्यपि मार्गमें सभी प्रकारकी सिद्धियाँ भी मिलती हैं।

पञ्चभूत हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश। इनकी धारणाका अर्थ है क्रमशः चित्तको इन्हींमें बाँधना। यद्यपि ये सब चित्तमें बँधे हुए हैं, तथापि वर्त्तमान कालकी शरीरप्राय मनोवृत्तिको देखते हुए, ऊपर उठानेका यही क्रमिक उपाय मालूम पड़ता है। इन पाँच भूतोंमेंसे सबसे पहले पृथिवीकी धारणा की जाती है। उस धारणाका यह स्वरूप है कि ये पाँचों भूत, जो इन्द्रियोंसे बाहर दीख रहे हैं, सब-के-सब मनके अंदर हैं। इस मनुष्य-शरीरमें पैरसे लेकर जानुपर्यन्त पृथिवी-मण्डल है। उसका वर्ण हरतालके समान पीला है, उसकी स्थिति चतुष्कोण है, उसके अधिष्ठात्री देवता ब्रह्मा हैं, उसका बीज 'लं' है। प्राणोंको स्थिर करके पाँच घटिकापर्यन्त उपर्युक्त धारणा करनी चाहिये। यह धारणा करते-करते ऐसा अनुभव होने लगता है कि मैं एक शरीरमें आबद्ध अथवा शरीर नहीं हूँ। मैं सम्पूर्ण पृथिवी हूँ। ये बड़े-बड़े नदी-नद मेरे शरीरकी नस-नाड़ियाँ हैं और सम्पूर्ण जीवोंके शरीरके रोग अथवा आरोग्यके कीटाणु हैं। समस्त पार्थिव शरीर मेरे अपने ही अङ्ग हैं। घेरण्ड-संहितामें कहा गया है कि पूर्वोक्त प्रकारसे पृथिवीकी धारणा करके जो उसे हृदयमें प्राणोंके साथ चिन्तन करते हैं वे सम्पूर्ण पृथिवीपर विजय प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। शारीरिक मृत्युपर उनका आधिपत्य हो जाता है और सिद्ध होकर वे पृथिवी-तलमें विचरण करते हैं। योगी याज्ञवल्क्यने कहा है कि पृथिवी-धारणा सिद्ध होनेपर शरीरमें किसी प्रकारके रोग नहीं होते।

जल-धारणा इस प्रकार की जाती है—जानुसे लेकर पायु-इन्द्रियपर्यन्त जलका स्थान है। किसी-किसी आचार्यके मतमें जानुसे लेकर नाभिपर्यन्त जलका स्थान है। परन्तु योगी याज्ञवल्क्य यह बात नहीं मानते। जलमण्डल शङ्ख, चन्द्रमा और कुन्दके समान श्वेत-वर्ण है, इसका बीज अमृतमय 'वं' है। इसके अधिष्ठात्री देवता चतुर्भुज, पीताम्बरधारी, शुद्ध-स्फटिक मणिके समान श्वेत-वर्ण मन्द-मन्द मुस्कराते हुए परम कोमल भगवान् नारायण हैं। इस जलमण्डलका चिन्तन करके प्राणोंके साथ इसको हृदयमें ले आवे और पाँच घटिकापर्यन्त चिन्तन करे। इसके चिन्तनसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि मैं जल-तत्त्व हूँ। पृथिवीका कण-कण मेरे अस्तित्वसे ही स्निग्ध है। स्वर्गीय अमृत और विष दोनों ही मेरे स्वरूप हैं। कुसुमोंकी सुकुमारता और पाषाणोंका पिण्डीभाव मेरे ही कारण है। पृथिवी मेरा ही परिणाम है। मैं ही पृथिवीके रूपमें प्रकट हुआ हूँ। मैं ही नारायणका आवास-स्थान हूँ। अनुभवी सन्तोंने कहा है कि जल-धारणा सिद्ध हो जानेपर समस्त ताप मिट जाते हैं। अन्तःकरणके विकार धुल जाते हैं। अगाध जलमें भी उसकी मृत्यु नहीं होती।

अग्नि-धारणा इस प्रकार की जाती है—पायु-इन्द्रियसे लेकर हृदयपर्यन्त अग्नि-मण्डल है। इसका वर्ण रक्त है, आकार त्रिकोण है। इसका मुख्य केन्द्र नाभि और 'रं' बीज है। इसके अधिष्ठात्री देवता रुद्र हैं। इनका चिन्तन करते

हुए प्राणोंको स्थित करे। जब यह धारणा सिद्ध हो जाती है, तब ऐसा अनुभव होता है कि मैं अग्नि हूँ। सम्पूर्ण वस्तुओंका रंग-रूप जो आँखोंसे देखा जाता है मैं ही हूँ। मणियोंकी चमक-दमक, पुष्पोंका सौन्दर्य और आकर्षण मेरे ही कारण है। सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत्‌के रूपमें मैं ही प्रकाशित होता हूँ। जल और पृथिवी मेरी ही लीला हैं। सबके उदरमें रहकर मैं ही शरीरका धारण और पोषण करता हूँ। सबके नेत्रोंके रूपमें प्रकट होकर मैं ही सब कुछ देखता हूँ। समस्त देवताओंका शरीर मेरेद्वारा बना है। पाँच घटिका-पर्यन्त अग्नि-धारणा सिद्ध होनेसे कालचक्रका भय नहीं रह जाता। साधकका शरीर यदि धधकती हुई आगमें डाल दिया जाय तो वह जलता नहीं। इस धारणामें रुद्रका चिन्तन इस प्रकार किया जाता है:—रुद्र भगवान् मध्याह्न कालीन सूर्यके समान प्रखर तेजस्वी हैं, आँखें तीन हैं। सम्पूर्ण शरीरमें भस्म लगाये हुए हैं, प्रसन्नतासे वर देनेको उत्सुक हैं।

वायुधारणा इस प्रकार की जाती है—हृदयसे लेकर भौंहोंके बीचतक वायु-मण्डल है, इसका वर्ण अञ्जन-पुञ्जके समान काला है। यह अमूर्त्त तत्त्व-शक्तिरूप है, इसका बीज है 'यं'। इसके अधिष्ठात्री देवता हैं—ईश्वर। प्राणोंको स्थिर करके हृदयमें इसका चिन्तन करना चाहिये। इसकी भावना जब पाँच घटिकातक होने लगती है, तब ऐसा अनुभव होता है कि मैं वायु हूँ। अग्नि मेरा ही एक विकास है। इस अनन्त आकाशमें सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी आदिको मैंने ही धारण कर रक्खा है। यदि मैं नहीं होता तो ये सब इस शून्य-में निराधार कैसे टिक पाते? मेरी सत्ता ही इनकी सत्ता है। प्रत्येक वस्तुमें जो आकर्षण-विकर्षण शक्ति है, वह मैं ही हूँ। ये ब्रह्माण्ड-मण्डल मेरे क्रीड़ा-कन्दुक हैं, मैं गतिस्वरूप हूँ, सबकी गतियाँ मेरी कला हैं, समुद्रमें मैं ही तरङ्गें उछालता हूँ। बड़े-बड़े वृक्षोंको झकझोरकर मैं ही पुष्प-वर्षा करता हूँ। सबका श्वासोच्छ्वास बनकर मैं ही सबको जीवन-दान कर रहा हूँ। मेरी गति अबाध है। शास्त्रोंमें कहा गया है कि यह वायु-धारणा सिद्ध होनेपर साधक निर्द्वन्द्व भावसे आकाशमें विचरण कर सकता है। जिस स्थानमें वायु नहीं हो, वहाँ भी वह जीवित रह सकता है। वह न जलसे गलता, न आगसे जलता, न वायुसे सूखता। बुढ़ापा और मौत उसका स्पर्श नहीं कर सकती।

आकाशकी धारणाका प्रकार निम्नलिखित है—भौंहोंके बीचसे मूर्धापर्यन्त आकाशमण्डल है। समुद्रके शुद्ध-निर्मल जलके समान इसका वर्ण है। इसका बीज है 'हं'। इसके अधिष्ठात्री देवता हैं—आकाशस्वरूप भगवान् सदाशिव। शुद्ध-स्फटिकके समान श्वेत-वर्ण है, जटापर चन्द्रमा हैं, पाँच मुख, दस हाथ और तीन आँखें हैं। हाथोंमें अपने अस्त्र-शस्त्र लिये हुए, दिव्य आभूषणोंसे आभूषित, वे समस्त कारणोंके कारण, पार्वतीके द्वारा आलिङ्गित, भगवान् सदाशिव प्रसन्न होकर वरदान दे रहे हैं। प्राणोंको स्थिर करके पाँच घटिकापर्यन्त धारणा करे। इसका अभ्यास करनेसे ऐसा अनुभव होता है कि मैं आकाश हूँ। मेरा स्वरूप अनन्त है, देश, काल मुझमें कल्पित हैं। मैं अनन्त हूँ, इसलिये मेरा कोई अंश नहीं हो सकता। मेरी सम्पूर्ण विशेषताएँ मनके द्वारा आरोपित हैं। मन ही मुझमें हृदयाकाश और बाह्याकाशकी कल्पना करता है। मैं घन हूँ, एकरस हूँ। न मेरे भीतर कुछ है और न तो बाहर। मैं सन्मात्र हूँ। इस आकाश-धारणाके सिद्ध होनेपर मोक्षका द्वार खुल जाता है, सारी सृष्टि मनोमय हो जाती है। सृष्टि और प्रलयका कोई अस्तित्व अथवा महत्त्व नहीं रह जाता, मृत्युके वाच्यार्थका अभाव हो जानेसे केवल उसका लक्ष्यार्थ शेष रहता है, जो अपना स्वरूप है।

इन धारणाओंका साधारण क्रम यह है कि पहले पृथिवी-मण्डलका चिन्तन करके उसको जलमण्डलमें विलीन कर दे, जलमण्डलको अग्निमण्डलमें, अग्निमण्डलको वायुमण्डलमें और वायुमण्डलको आकाशमें। इस प्रकार क्रमशः कार्यको कारणमें विलीन करते हुए सबको परम कारण सदाशिवमें स्थापित करे और अन्ततः सदाशिवको आत्मस्वरूप, परमात्मस्वरूप जानकर उन्हींके स्वरूप-रूपसे स्थित हो जाय। इस विषयमें अनुभवी योगियोंका ऐसा उपदेश है कि प्रत्येक मण्डलका चिन्तन करते समय प्रणवके द्वारा तीन-तीन प्राणायाम करके कार्य-मण्डलको कारण-मण्डलमें हवन कर दे।

ॐ अमुकमण्डलम् अमुकमण्डले जुहोमि स्वाहा।

इसी प्रकार सम्पूर्ण मण्डलोंका लय करके अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाना चाहिये।

ब्रह्मवेत्ता परम योगी देव-वैद्य अश्विनीकुमारोंने कहा है कि सबके शरीर पाञ्चभौतिक हैं, इन शरीरोंमें तीन तत्त्व हैं—वात, पित्त और कफ। पञ्चभूतोंकी इस धारणासे ये तीनों तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं। अग्निधारणासे वातज दोष, पृथिवी

और जलधारणासे श्लेष्मज दोष निवृत्त हो जाते हैं। वायु-धारणासे पित्तज और श्लेष्मज दोष नष्ट हो जाते हैं। आकाश-धारणासे त्रिदोषजनित सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं।

पञ्चभूतोंकी इस धारणासे कैसे-कैसे विचित्र अनुभव होते हैं, इसका बड़ा सरस वर्णन योगवाशिष्ठान्तर्गत निर्वाण-प्रकरणके उत्तरार्द्धमें अठासिवें सर्गसे बानबे सर्गतक हुआ है। उसको पढ़नेसे आनन्दका बड़ा विकास होता है। विस्तार-भयसे यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया जा सकता। साधकोंको वहीं उसका अनुशीलन करना चाहिये। इस धारणासे यह अनुभूति तो बहुत ही शीघ्र होने लगती है कि यह स्थूल प्रपञ्च मनोमय है। आगे चलकर मनकी चिन्मयताका अनुभव होता है और यही जडस्फूर्ति और जडत्ववासनासे शून्य अन्तःकरणकी शुद्धि है। जब इस शुद्ध अन्तःकरणमें तत्त्वको स्वीकार करनेकी योग्यता आ जाती है तब उस विशुद्ध एकरसतत्त्वका बोध होता है। यह बोध ही समस्त साधनोंका चरम और परम फल है। शा०

पञ्चाग्नि-विद्या

(लेखक—पण्डित श्रीगौहरीलालजी शर्मा, सांख्ययोगाचार्य, विद्याधुरीण, विद्यासागर)

उपनिषदोंकी अनेक विद्याओंमेंसे एकका नाम है पञ्चाग्नि-विद्या। यह पुनर्जन्मका सिद्धान्त बतानेवाली विद्या है। मृत्युके अनन्तर किसका जन्म होता है और किसका नहीं, और जिनका होता है उनका किस प्रकार होता है? इन बातोंका समावेश इस विद्यामें है।

स्थूलशरीरको त्यागनेपर जीव सूक्ष्मशरीरके साथ-ही-साथ स्थानान्तरको जाता है और फिर एक निर्दिष्ट क्रमसे वापस आता हुआ जन्मान्तरमें स्थूलशरीरको पाता है। उपनिषद्में इस तत्त्वको निम्न प्रकारसे समझाया है। अग्निमें किसी वस्तुकी आहुति डालनेपर उस वस्तुका रूपान्तरमें परिवर्तित होकर हवामें उड़ जाना हम सभीके अनुभवमें आया है। तोलाभर घी अग्निमें डालनेसे वह सुगन्धमय धूमके रूपमें बदलकर वायुमें मिल जाता है। घी और उसका उत्तरकालीन परिवर्तित रूप तत्त्वदृष्टिसे एक ही वस्तु है। रासायनिक विश्लेषणकी प्रक्रियाके ही कारण घीमें इतना परिवर्तन हो जाता है और इस परिवर्तनका कारण अग्नि है।

इस प्रत्यक्ष दृष्टान्तकी सहायताको लेते हुए ऋषियोंने बतलाया है कि किस प्रकार एक देहको छोड़नेसे दूसरे देहको ग्रहण करनेतक जीवका शरीर अनेक रासायनिक परिवर्तनोंको प्राप्त करता है।

मृत जीवका सूक्ष्मभूतमय शरीर श्रद्धा कहा जाता है और 'अप्' भी कहलाता है, क्योंकि उस समय उसमें जल-तत्त्वकी प्रधानता रहती है। इस श्रद्धाका संयोग होता है 'सोम' से और जहाँ यह संयोग होता है, उसीको 'परलोक' कहते हैं। यह प्रथम रासायनिक परिवर्तन भूमिसे ऊर्ध्व प्रदेशमें—अन्तरिक्षमें होता है, अतएव इसे परलोक कहते हैं। परलोकरूपी प्रथम अग्निमें 'श्रद्धा' की आहुतिसे इस प्रकार 'सोम' होता है।

यही 'सोमरस' पर्जन्यरूपी अग्निमें पड़कर 'वर्षा' रूपमें परिवर्तित होता है। अतएव पर्जन्य द्वितीय अग्नि है।

तदनन्तर वर्षाका जल अन्नरूपमें परिवर्तित होता है और पृथिवीमें इस प्रकारके परिवर्तन होनेके कारण पृथिवीको तृतीय अग्नि कहा जाता है।

यह अन्न फिर वीर्यरूपमें परिवर्तित होता है और पुरुष-शरीरमें इस परिवर्तनके होनेके कारण पुरुषको चतुर्थ अग्नि कहा जाता है।

अन्तमें वीर्य ही गर्भरूपमें परिवर्तित होता है और पत्नीमें इस परिवर्तनके होनेके कारण वह पञ्चम अग्नि कहलाती है।

इस प्रकार पाँच अग्नियों (Stages of transformation) में होता हुआ 'श्रद्धा' नामक द्रव्य 'गर्भ' रूपमें आता है। गर्भ वीर्यसे, वीर्य अन्नसे, अन्न वर्षासे, वर्षा सोमसे और सोम श्रद्धासे होता है।

श्रद्धासे लेकर गर्भतक पाँच दशाएँ बतलायी गयी हैं। जीव अन्तःकरणसहित ही इन पाँचों दशाओंमें रहता है। जिस प्रकार गर्भाशयमें स्थित रजोवीर्यसे उत्पन्न शरीरमें जीव और उसके सूक्ष्मशरीरका सम्पर्क रहता है, उसी प्रकार वीर्यमें, अन्नमें, वर्षामें और सोममें भी जीवके साथ अन्तःकरणका सम्पर्क रहता है।

प्रथम देहत्यागके अनन्तरकी अवस्थाको श्रद्धा कहा गया है । यह वह स्थिति है, जिसमें जीवकी अग्रिम यात्राका निश्चय होता है । 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' ।

जन्मभर सत्कर्मोंके अनुष्ठानसे मरणानन्तर भी शुभ श्रद्धा ही रहती है और दुष्कर्मोंके आचरणसे दुष्ट श्रद्धा रहती है । अग्रिम जन्मका निर्णय हो जानेपर जीव अपने अन्तःकरणके साथ-ही-साथ सोमावस्था, जलावस्था, अन्नावस्था, वीर्यावस्था और गर्भावस्थाके स्थूल पञ्चभूतोंमें निवास करता है और अन्तिम अवस्थासे ही भूमिपर जन्म लेता है । जन्मानन्तर सूक्ष्मशरीरसंयुक्त जीवसे अधिष्ठित स्थूलशरीरमें ही बाल्य, यौवन और जराका परिणाम होता है ।

इस प्रकार श्रद्धा या कर्मानुसार जीव संसारमें आवागमनका चक्कर काटता रहता है और चौरासी लाख योनियोंमें घूमता-फिरता सुख-दुःखमोहात्मक दशाओंमें रमता रहता है ।

जन्म-मरणके चक्रको पितृयान भी कहा जाता है और कृष्ण-गति भी । अज्ञानका रंग काला माना गया है, अतएव अज्ञानसे होनेवाले जन्म-मरणको कृष्ण-गति (Black Route) कहते हैं ।

इसके विपरीत ज्ञानका वर्ण शुक्ल माना गया है और इसलिये ज्ञानसे होनेवाली मुक्तिकी दशाको शुक्ल गति कहते हैं । शुक्ल गतिको देवयान भी कहते हैं ।

शुक्ल गतिमें अन्तःकरण या सूक्ष्मशरीर भी हट जाता है । तब आत्मा अपने विशुद्ध रूपमें निवास करता हुआ चिदानन्दका उपभोग करता है ।

भीमा और नीराके पवित्र सङ्गमपर

(लेखक—'शान्त')

(१)

अभी सूर्योदय होनेमें विशेष विलम्ब था । अरुणोदयकी अरुणिमा भी स्पष्टरूपसे नहीं दीख रही थी । वायुमण्डल शान्त था, मलयज पवनके शीतल झोंके रह-रहकर छू आया करते थे । इतनी शान्ति थी उस समय कि वृक्ष भी सोये हुए-से जान पड़ते थे, तारे ठिठके हुए और चन्द्रमा समुद्रके पास । भीमा और नीराके सङ्गमपर जो विशाल वटवृक्ष था, उसकी एक लम्बी शाखापर दो श्वेत पक्षी जाग रहे थे और केवल वे ही जाग रहे थे । जैसे भीमा शान्त थी और नीरा चञ्चल, वैसे ही उन दोनों पक्षियोंमें भी एक गम्भीर था और दूसरा उत्सुक । गम्भीर पक्षी बड़ा था और चञ्चल छोटा । छोटे पक्षीकी आँखें इधर-उधर दौड़ जाती थीं और कोई नयी वस्तु देखकर वह पूछ बैठता था कि यह क्या है । उस शान्त, नीरव ब्रह्मवेलामें केवल दो ही प्रकारके शब्द थे—एक तो नीरा नदीकी कलकलध्वनि और दूसरे उस चञ्चल पक्षीके चापल्य-मिश्रित, उत्सुकताभरे बालोचित प्रश्न ।

भीमा और नीराके मधुर सङ्गमकी ओर, जो दो प्रिय सखियोंके मिलन-जैसा आनन्दमय था, दृष्टि जाते ही छोटे पक्षीको एक नवीन दृश्य दीख पड़ा । एक युवक, जिसकी रेख अभी भिनी नहीं थी, झीनी-सी चादरसे अपना शरीर ढके हुए, स्वस्तिकासनसे ध्यानमग्न बैठा हुआ था । न उसकी साँस चलती दीखती थी और न उसके शरीरमें तनिक भी स्पन्दन था । उसके जीवनका चिह्न इतना ही था कि वह शान्त, स्थिर और गम्भीर मुद्रासे बैठा था । छोटा पक्षी उसको जाननेके लिये चञ्चल हो उठा । उसने बड़े पक्षीको सम्बोधित करके पूछा—'भैया ! यह कौन है, क्या कर रहा है ? तुम तो अन्तर्यामी हो, इसके मनकी सारी बातें जानते हो, मुझे बताओ । इसके चित्तकी स्थिति जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कुतूहल है ।' बड़ा पक्षी, जो हंस था, उस समय बड़े शान्त भावसे उस युवककी ओर ही देख रहा था । मानो युवकके हृदयकी प्रत्येक गति-विधि उसकी आँखोंके सामने हो और वह उसे देख-देखकर मुग्ध हो रहा हो । हंसने छोटे पक्षीको सम्बोधन करके कहा—वत्सल ! मैं प्रायः तुम्हारे प्रश्नोंको टाल दिया करता हूँ । इसका यह कारण नहीं है कि मैं तुम्हारी उपेक्षा करता हूँ । बात इतनी ही है कि जब मैं स्थूल जगत्‌को छोड़कर सूक्ष्म जगत्‌के किसी गम्भीर रहस्यके चिन्तनमें संलग्न रहता हूँ, तब तुम इतने उथले प्रश्न करते हो, ऐसी चर्चा छेड़ देते हो, जिसके कहने-सुनने, समझने-समझानेमें

रुचि ही नहीं होती। परन्तु आज अभी इस समय जो तुमने प्रश्न किया है, वह इस अवसरके अनुकूल ही है; क्योंकि जो मैं मनकी आँखोंसे देख रहा हूँ, वही तुम पूछ रहे हो। कितनी तन्मयता है उस युवकमें, कितनी लगन और तल्लीनताके साथ तत्पर है वह अपनी साधनामें! ऐसा मालूम पड़ता है कि साधनाका लम्बा मार्ग यह कुछ क्षणोंमें ही समाप्त कर देगा। मैं तो इसके अन्तर्देशके दर्शनसे ही ध्यानस्थ हो रहा हूँ। ध्यान करनेवाला किस प्रकार ध्यान कर रहा है, उसके चित्तमें इस समय किन-किन भावोंका उदय और विलय हो रहा है, उसके चित्तके चबूतरेपर कौन-कौन-सी मूर्तियाँ आकर नाच जाती हैं, उनको देखकर वह किस प्रकार आनन्दविभोर हो जाता है—इन बातोंकी कल्पनासे ही अन्तःकरणमें एक अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। इस समय यह वीर युवक भगवान्‌की मधुर और मोहक लीलाओंमें रम रहा है; इसके मन, प्राण, शरीर और रोम-रोममें भगवान्‌की दिव्यता अवतीर्ण हो रही है। इसकी एक-एक वृत्ति भगवान्‌को लेकर ही उठ रही है और भगवान्‌में ही विलीन हो रही है। इस समय यह पवित्रता, शान्ति और आनन्दकी त्रिवेणीमें उन्मज्जन-निमज्जन कर रहा है, डूब-उतरा रहा है। कितनी मस्ती है इसमें! देखो तो सही, इसके शरीरमेंसे प्रकाशकी कैसी किरणें निकल रही हैं! इसका मुखमण्डल ज्योतिर्मय हो रहा है, इसके हृदयसे शान्ति और आनन्दकी धारा प्रवाहित होकर आसपासके सम्पूर्ण जड़-चेतनको एक दिव्य प्रेम और रससे सराबोर कर रही है। ऐसा जान पड़ता है कि यदि इसी प्रकार इसका ध्यान चलता रहा तो थोड़े ही समयमें इसकी सम्पूर्ण प्रकृतिका परिवर्त्तन हो जायगा और न केवल इसका अन्तःकरण ही, बल्कि स्थूलशरीर भी अत्यन्त दिव्य और नारायणमय हो जायगा।

वत्सलने कहा—'हे राजमराल! शिव भगवान्‌की कृपासे आपको महान् सिद्धि प्राप्त है; आप दूरकी वस्तु देख सकते हैं, दूसरेके मनकी बात जान सकते हैं; भूत और भविष्य, दूर और निकटकी सभी वस्तुएँ आपके लिये करामलकवत् हैं। आपसे कोई भी रहस्य अज्ञात नहीं है। आप मेरी उत्सुकताको मिटानेके लिये कृपा करके यह बतलाइये कि इसने किस प्रणाली और किस क्रमसे ध्यान किया है, जिससे इसे इतनी तन्मयता प्राप्त हो गयी।' राजमरालने कहा—''वत्सल! यह विषय अत्यन्त गोपनीय है, फिर भी तुम्हारे आग्रह और प्रेमको देखते हुए न बताना अनुचित जान पड़ता है। इसलिये सावधानीसे सुनो। मैं तुम्हें इसके ध्यानकी गाढ़ताका कारण बतलाये देता हूँ। नित्य कर्म—सन्ध्यावन्दन आदिके नियमपूर्वक अनुष्ठानसे इसके सम्पूर्ण अङ्गों और इन्द्रियोंके देवता अनुकूल तथा प्रसन्न हो गये हैं। वे ध्यानकी स्थिरतामें किसी प्रकारका विघ्न नहीं डालते। ध्यानके समय वे स्वयं ही इसके शरीर और इन्द्रियोंको स्थिर और अविचल कर देते हैं। यम-नियमके पालनसे और इस दृढ़ निश्चयसे कि 'अब मैं कभी पाप-कर्म नहीं करूँगा' पाप-वासनाएँ तो इसके चित्तमें उठती ही नहीं। प्राणायाम और विचारके द्वारा इसने शुभ कर्मकी वासनाओंका भी तनूकरण सम्पन्न कर लिया है। भूत-शुद्धि और मन्त्र-चैतन्यकी क्रियासे इसके अन्तःकरण और इष्ट-मन्त्रमें भी विशिष्ट शक्तिका विकास हो गया है और अब यह इच्छा करते ही एकाग्र हो जाता है। कितना निरुद्ध और भावप्रवण हो गया है इसका चित्त, इस बातको आज मैंने प्रत्यक्ष देखा। आज ब्रह्मवेलाके पूर्व ही जब यह यहाँ आकर बैठा और मेरे देखते-देखते ही अन्तर्मुख होकर भावलोकमें प्रवेश कर गया, तब मैं आश्चर्यचकित हो रहा था।

''इस युवकने पहले अग्नि-प्राकारकी भावना की, अनुभव किया कि 'मेरे चारों तरफ एक ज्योतिर्मय चहारदीवारी है और उसके बीचमें मैं सुरक्षितरूपसे बैठकर परमात्माका चिन्तन करने जा रहा हूँ। किसी प्रकारकी दुर्भावना और दुर्वासनाएँ मेरा स्पर्श नहीं कर सकतीं।' यह दृढ़ निश्चय करके इसने अपने सर्वाङ्गमें कीर्ति आदि शक्तियोंके साथ केशवादिका न्यास किया, जिससे इसके शरीरकी सम्पूर्ण अपवित्रताएँ धुल गयीं और शरीरमें दिव्यता आ गयी। तत्पश्चात् पीठन्यास करते हुए इसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमण्डल और लोकोंको यथास्थान शरीरमें स्थापित किया। इसने क्रमशः ऐसी भावना की कि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममें स्थित है, इसके अधिष्ठान ब्रह्म हैं। इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है, ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मकी वह शक्ति भी ब्रह्म ही है, जिसने ब्रह्ममयी प्रकृतिको धारण कर रखा है। ब्रह्ममें आधारशक्ति, आधारशक्तिमें प्रकृति, प्रकृतिमें एक ब्रह्माण्डमण्डलको धारण करनेवाले व्यक्तरूपसे विराजमान कूर्म भगवान् और उनके आधारपर स्थित शेष भगवान्, जिन्होंने यह पृथ्वी धारण कर रखी है। पृथ्वीपर अनन्त विस्तृत उत्ताल तरङ्गोंसे तरङ्गायमान चपलातिचपल क्षीरसागर—जिसमें नाना प्रकारके रङ्ग-बिरङ्गे कमलोंके आसपास अनेकों हंस, सारस आदि दिव्य पक्षी क्रीड़ा कर रहे हैं और

जिसके मध्यभागमें बड़ा ही विशाल सात्त्विकताका साम्राज्य श्वेतद्वीप है—हिलोरें ले रहा है। श्वेतद्वीपमें लताओंके कुञ्जमें मणियोंका सुन्दर मण्डप है और उस मण्डपके अन्तर्गत प्रेमके पुष्प और आनन्दके फलोंसे परिपूर्ण एक दिव्य कल्पवृक्ष है, जिसकी दिव्य सुरभिसे सारा संसार सुवासित हो रहा है। कल्पवृक्षके नीचे मणियोंकी वेदी है और उसपर रत्नजटित सिंहासन है।''

राजमरालने कहा—''प्यारे वत्सल! अभी थोड़ी ही देर पहलेकी तो बात है, इन्हीं दिव्य वस्तुओंकी भावना करते-करते यह युवक इस स्थूल संसारका उल्लङ्घन कर गया है और दिव्य लोकमें प्रविष्ट हुआ है। वहाँ जाते ही इसने उस रत्नसिंहासनपर जो अपने सान्त स्वरूपमें अनन्तको छिपाये हुए था और अनन्त होनेपर भी सान्त दीख रहा था, द्वादशकलात्मा सूर्य, षोडशकलात्मा चन्द्रमा और दशकलात्मा अग्निको देखा और क्रमशः और भी अन्तर्जगत्में प्रवेश करता गया। वहाँ इसने सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंको देखा; तीनों अवस्थाएँ इसके सामने नाच गयीं; उनके अभिमानी भी आये और नमस्कार करके चले गये। इसने आत्मा, अन्तरात्मा और ज्ञानात्माको प्रत्यक्ष देखा। इस विशुद्ध प्रेम और ज्ञानके राज्यमें, जहाँ दोनोंका एकत्व है, पहुँचते ही इस युवकके सामने भगवान्‌का लीला-लोक प्रकट हो गया है। इस समय यह नारायणके शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी, वर्षाकालीन मेघके समान सुन्दर, पीताम्बर ओढ़े हुए, मधुर, मञ्जुल, मङ्गलमय स्वरूपकी सेवा कर रहा है। इसने अभी कुछ ही क्षण पहले भगवान्‌का चरणामृत लिया है, उन्हें अपने हाथसे माला पहनायी है, अनेकों प्रकारके फल-मूल और व्यञ्जनके नैवेद्य लगाये हैं। और प्रेमपूर्वक आग्रह करके भगवान्‌को खिलाये हैं। कितने प्रेमी हैं भगवान्, प्रेमका प्रतिदान तो केवल वे ही जानते हैं। वे नित्यतृप्त हैं और अपनी अखण्ड महिमामें स्थित हैं, फिर भी प्रेमपरवश होकर अपने भक्तोंके लिये क्या-क्या नहीं करते? भगवान्‌ने इसकी सेवा स्वीकार की है, इसे अभयदान दिया है और अपनाया है। इस समय प्रेममुग्ध होकर आरती करता हुआ यह भगवान्‌के सामने नाच रहा है और इसके शरीरमें क्रमशः आठों सात्त्विक भाव उदय हो-होकर अपनेको सार्थक कर रहे हैं।''

वत्सलने पूछा—'राजमराल! तुम्हें तो इसका भविष्य भी ज्ञात है; अब आगे क्या होगा, यह बतलानेकी कृपा करो।' राजमरालने कहा—''अब प्रातःकाल होनेपर आया। मुझे यहाँसे बहुत दूर, पण्ढरपुरसे पचास मीलपर गुप्तलिङ्ग भगवान् शङ्करका दर्शन करने जाना है; इसलिये मैं तो अब चलता हूँ। इसका ध्यान अभी शीघ्र टूटनेवाला नहीं, इसका शरीर भी नारायणमय हो जायगा। अभी तो मैं चलूँ।'' वत्सलने कहा—'राजमराल! मुझे भी अपने साथ ले चलें।' राजमरालने अनुमति दी और दोनोंने एक ही साथ वहाँसे यात्रा की।

(२)

महाराष्ट्रमें भगवान् शङ्करके आठ लिङ्ग अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनमें सात प्रकट हैं और आठवाँ गुप्त। बड़े महादेव, जो कि हरिहरात्मक लिङ्गमूर्ति हैं, शिवाजीके पूर्वजोंके द्वारा चिरकालसे पूजित हैं। उनके दर्शनमात्रसे आज भी जीवोंके अन्तस्तलमें एक अलौकिक पवित्रताका सञ्चार होता है। वहाँसे थोड़ी ही दूर, एक कोसके लगभग दो पर्वतोंकी सन्धिमें भगवान् शङ्करका गुप्त लिङ्ग है, वहाँ हरे-भरे, सुन्दर-सुन्दर वृक्ष हैं। बारहों मास बहनेवाले झरने हैं। दो-तीन छोटे-छोटे कुटीर हैं, जिनमें कभी-कभी दो-एक साधु रह जाते हैं और कभी कोई नहीं रहता। गुप्तलिङ्ग भगवान्‌के ठीक ऊपर पर्वतशृङ्गपर पीपलके कई बड़े-बड़े वृक्ष हैं। उनमें एक तो मानो वहाँके वृक्षोंका राजा ही है। थोड़ी हवामें भी जब उनके पत्ते खड़खड़ा उठते हैं, तब ऐसा जान पड़ता है मानो भगवान् शङ्करका डमरू बज उठा हो। उस स्थानकी अनन्त महिमा है और अनन्त सौन्दर्य है। राजमराल प्रतिदिन वहीं जाकर झरनेमें स्नान करते, शिवकी पूजा करते, पीपलपर बैठकर उनका ध्यान करते। यही उनका सहज कर्म था। न इसमें परिश्रम था और न कृत्रिमता। जैसे स्वभावतः प्राण चला करते हैं, वैसे ही उनके शरीरसे यह क्रिया हुआ करती थी।

प्रतिदिनकी अपेक्षा आज कुछ विशेषता थी। रोज वे अकेले रहते थे, आज दो थे। जब वे नित्य-कृत्य समाप्त करके बड़ी शान्तिसे पीपलकी एक शाखापर बैठे, तब वत्सलने पूछा—'भैया! उस युवककी क्या स्थिति होगी, अब उसका इस समय क्या भाव होगा? वह क्या अनुभव करता होगा?' राजमराल उस समय ध्यानस्थ हो रहे थे, वे किसी भी प्रश्नका उत्तर देना नहीं चाहते थे। वत्सल उनका रुख देखकर चुप हो रहा। परन्तु उसके मनमें इस बातकी बड़ी छटपटी थी कि उस युवककी क्या स्थिति है। थोड़ी देरके बाद वत्सलने देखा राजमरालकी आँखोंसे आँसूकी

धारा बह रही है, शरीर काँप रहा है, सारे शरीरपर स्वेद-बिन्दु हैं और मुखमण्डल प्रेमकी ज्योतिसे जगमगा रहा है। राजमरालकी यह दशा देखकर वत्सलको उनके शरीरकी बड़ी चिन्ता हो गयी और वह उन्हें अपने पङ्खके पङ्खसे हवा करने लगा एवं अनेकों प्रकारसे उन्हें जगानेकी चेष्टा करने लगा। बहुत उपचारके बाद जब वे होशमें आये और स्वस्थ हुए, तब वत्सलने पूछा—'भैया, यह तुम्हारी क्या दशा हो गयी थी? किस अनुभूतिमें तुम डूब गये थे? तुम्हारे लिये ऐसी कौन-सी अनहोनी वस्तु है, जिसे देख-सुनकर या स्मरण करके तुम विह्वल हो जाते हो? मेरे प्रश्नको सुनातक नहीं। यदि कोई अत्यन्त रहस्यकी बात न हो तो बतलानेकी कृपा करो।' राजमरालने बड़े प्रेमसे कहा—''भाई वत्सल! तुम तो मेरा समग्र जीवन ही पूछ रहे हो। मैं जब अपने जीवनकी अतीत घटनाओंका स्मरण करता हूँ तो भगवान्‌की अहैतुकी कृपा, उनके प्रेम और अपने मस्तकपर उनके वरद कर-कमलोंकी छत्रछाया देखकर उन्हींके स्मरणमें विह्वल हो जाता हूँ। मुझे अपने तन-बदनकी सुधि नहीं रहती। देखो न मैं क्या था, क्या हो गया? कहाँ तो एक पक्षी हंस और कहाँ भगवान्‌की इतनी महान् कृपा! मेरा जीवन धन्य हो गया, प्रभुकी कृपासे।''

'सारी घटना स्मरण हो आयी है, कहे बिना रहा नहीं जाता' यह कहकर राजमरालने फिर बोलना आरम्भ किया—''तुम कैलासपर्वतको तो जानते ही हो, यहाँसे यदि वहाँ जाना हो तो शत-शत पर्वतमालाओंको पार करना पड़ता है। वहीं गौरीशङ्कर चोटीके पास बड़ा विशाल मानस-सर है, जिसमेंसे भक्ति और ज्ञानके समान ब्रह्मपुत्र और सिन्धु—ये दोनों नद प्रवाहित हुए हैं। मैं उसी मानस-सरका निवासी हूँ। मैं वहाँ अकेला न था, कोटि-कोटि हंस वहाँ निवास करते हैं। उन्हींमें एक मैं भी था। सब-के-सब मानस-सरमें क्रीडा करते थे, कमलोंसे खेलते थे; सब-के-सब शुद्ध सात्त्विक थे, प्रेमी थे और नीर-क्षीरविवेकी थे। एक बारकी बात है—सभी हंस इकट्ठे थे, अपनी विवेकशक्तिकी चर्चा चल रही थी। हंसोंकी जाति बड़ी विवेकवती है, पानीमेंसे दूधको अलग कर लेती है; यही सबसे महान् जाति है। ऐसी एक भी समस्या नहीं, जिसे यह हल न कर सके। उसी सभामें एक प्रश्न छिड़ा—'हमलोग जो मोती चुगते हैं, वे क्या चीज हैं? उनकी उत्पत्ति कैसे, किससे?' इस प्रश्नका उत्तर सहसा कोई नहीं दे सका। अन्तमें यह निर्णय हुआ कि सब लोग इस प्रश्नपर विचार करें। जो इसका ठीक-ठीक उत्तर देगा, वह हमलोगोंका राजा होगा और मानस-सरके बीचोबीच जो सबसे बड़ा कमल है, वही उसको आसनके रूपमें प्राप्त होगा। जिनकी विचारशक्ति प्रखर थी, उन्होंने उस स्थानको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न आरम्भ किया। छः महीनेकी अवधि रक्खी गयी।

''मेरे मनमें न तो उस स्थानका प्रलोभन था और न मेरी विचारशक्ति ही प्रखर थी। परन्तु यह प्रश्न मेरे चित्तमें भी उठा कि जो मोती हमलोग चुगते हैं, वे क्या हैं; इन्हें किसने, किसलिये बनाया है? केवल मोतीके ही सम्बन्धमें नहीं, सम्पूर्ण जगत्‌के और अपने सम्बन्धमें भी यही प्रश्न उठ खड़ा हुआ। मैंने अबतक कोई साधन-भजन तो किया नहीं था, सत्सङ्गका अवसर भी कम मिला था; ऐसी स्थितिमें मैं स्वयं क्या विचार सकता? सामने केवल निराशा-ही-निराशा थी। आशा थी तो बस, एक—गौरीशङ्करकी चोटीपर रहनेवाले भगवान् शङ्करको पानेकी—जिन्हें मैंने कभी देखा नहीं था, वहाँतक जानेकी मुझमें शक्ति नहीं थी, परन्तु जिनके पास आकाशमार्गसे जाते हुए सिद्धों, संतों, ऋषियों और देवताओं-को मैं देखा करता था। आशा थी तो केवल उनकी ही। चित्तसे प्रश्न टलता नहीं था, समाधानका कोई उपाय न था। चित्तमें इतनी व्याकुलता हुई कि जीवन भार हो गया। भला, वह जीवन किस कामका जिसमें एक तिनकेका भी यथार्थ ज्ञान नहीं है—और तो क्या, अपने आपका भी ज्ञान नहीं है। अब मैं चलूँगा भगवान् शङ्करके पास; यदि रास्तेमें मर जाऊँ तो इस अज्ञानावृत जीवनसे वह मरना भला ही है; और यदि जीते-जी वहाँतक पहुँच जाऊँ तो सारा भेद आप ही खुल जायगा। ऐसा निश्चय करके मैं उड़ा—गौरीशङ्करकी उस चोटीपर चढ़नेके लिये, जहाँ अवधूतके वेशमें भगवान् शङ्कर निवास करते हैं।

''मैं उड़ा, उड़ता ही गया; न जीवनका मोह था न लोभ। इसलिये कष्टोंकी परवा भी न थी। कितनी दूरतक कुहरा पड़ा और कितनी दूरतक अन्धकार, कहाँ जाड़ेसे ठिठुरकर गिर पड़ा, कहाँ ठोकर खाकर—इन सब बातोंकी कोई याद नहीं है। आगे चलकर तो मेरा शरीर उड़ रहा है या नहीं—यह भी भूल गया, केवल मन-ही-मन उड़ता रहा। जब होशमें आता तब शरीर भी उड़ता और मूर्च्छित हो जाता तो कहीं गिर पड़ता। एक बार ऐसे ज़ोरकी ठोकर लगी कि मैं तिलमिला उठा, शरीर बेबस हो गया; परन्तु ऐसी आश्चर्य-

जनक घटना घटी कि मैं अलग था और शरीर अलग। शरीरको ठोकर लगनेसे मुझे तनिक भी व्यथा नहीं हो रही थी। मैं स्वयं आश्चर्यचकित हो बोल उठा—'अरे! तो क्या मैं शरीरसे अलग हूँ? क्या मेरा शरीर ही घायल होकर पड़ा है, उसके साथ मन मूर्च्छित नहीं हुआ? शरीर एक व्यक्ति है, मन भी एक व्यक्ति है, जगत्‌के सम्पूर्ण शरीर और मन भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। शरीरसे मनका और मनसे शरीरका सम्बन्ध है। ये जब जागरित रहते हैं तब पृथक्-पृथक्, सुषुप्त अथवा प्रलीन रहते हैं तब एक; यही समस्त व्यक्तियोंकी एक समष्टि है। मोती स्थूल है, मेघ सूक्ष्म है; समुद्र कारण है, उसमें मेघ और मोती अभिन्न हैं। स्थूल जगत् सूक्ष्म जगत्‌में, दोनों कारण-जगत्‌में और मैं सबसे पृथक्, सबको देखनेवाला। मुझसे कारणका क्या सम्बन्ध है? मैं ही तो कारणको देख रहा हूँ? यह कारण मेरे अंदर है या बाहर? अंदर है तो मुझसे भिन्न क्यों? क्या मैं ही कारण बन गया हूँ? मुझ अनन्त, एकरस, निर्विकार, देश-काल-वस्तु-परिच्छेदशून्य, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदरहित चिद्‌घनमें कार्य-कारणकी परम्परा कैसी? केवल मैं-ही-मैं हूँ। ऐसा निश्चय होते ही मैं समाधिस्थ हो गया। कोई प्रश्न नहीं रहा। न आकुलता थी, न शान्ति; बस, केवल मैं था।

"जब मेरी समाधि टूटी और मैंने अपने शरीरकी ओर देखा तो वह कैलासके एक शिखरपर भगवान् गौरीशङ्करकी गोदमें था और वे अपने कृपा-कटाक्षोंसे उसे सींचते हुए मुस्करा रहे थे। माताकी वह स्नेहमयी मूर्ति, पिताका वह लोकोत्तर वरदान आज भी मेरी आँखोंके सामने नाच रहा है। उन्होंने अपने कर-कमलोंके स्पर्शसे मुझे जीवनदान दिया और मैं सचेतन होकर उनके चरणोंके पास लोटने लगा। उनका वह कर्पूरोज्ज्वल श्रीविग्रह, उनकी वह करुणामयी मूर्ति कभी भुलायी नहीं जा सकती। उनकी आज्ञासे मैं हंसोंमें लौट आया; मेरा अज्ञान नष्ट हो गया, सम्पूर्ण समस्याएँ सुलझ गयीं।

"छठा महीना पूरा होते-न-होते, उसी मानस-सरमें फिर हंसोंकी पञ्चायत इकट्ठी हुई; सबने अपने-अपने विचार सुनाये। एकने कहा—'स्वाती नक्षत्रपर जब सूर्य आते हैं, तब सीपमें वर्षाका जल पड़नेसे मोती बनते हैं। इसलिये सीप और मेघ तो निमित्त-कारण हैं और जल उपादान-कारण। इसी क्रमसे मोतीकी उत्पत्ति होती है। जलमें जो मोती निहितरूपसे रहता है, वह स्वाती नक्षत्रकी सूर्य-रश्मियों और सीपके संयोगसे अभिव्यक्त हो जाता है। मोती एक वस्तु है—कारणरूपमें नित्य और कार्यरूपमें अनित्य। इसलिये उसकी पवित्रता अक्षुण्ण है। उसके कारणस्वरूपपर दृष्टि रखी जाय तो वह कभी दुःखद नहीं हो सकता।'

"दूसरेने कहा—'यदि कारणमें सब वस्तुओंका अस्तित्व अलग-अलग स्वीकार किया जाय, तब तो उनका पारस्परिक सम्बन्ध जुड़ना असम्भव हो जायगा। जल पृथक् वस्तु है और उसमें स्थित मोती पृथक् वस्तु है, दोनोंका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसा मान लें तो जलसे मोतीके अभिव्यक्त होनेका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। इसलिये कारणमें सब वस्तुओंकी अलग-अलग सत्ता है, ऐसा मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। कारण एक है, उसके परिणाम ही भिन्न-भिन्न कार्य हैं। मोती, सीप, मेघ, सूर्य, समुद्र और जगत्‌की समस्त भिन्नताएँ मूलतः एक ही वस्तुके परिणाम हैं। इसलिये प्रिय-अप्रिय और अनुकूल-प्रतिकूलका भेद केवल कार्यपर दृष्टि रखनेके कारण है। यदि यह स्थूल दृष्टि निवृत्त करके वस्तु-दृष्टि रखी जाय तो शोक-मोहके लिये कहीं स्थान ही न रहे। इसलिये मोतीको मोतीके रूपमें नहीं, उस अद्वितीय कारणके रूपमें देखना ही निःश्रेयस है।'

"मैं भी वहीं था, मेरे मनमें भी बोलनेकी आयी और मैं बोल उठा—'भाई! जब यह निश्चय किया जाता है कि कारण-दृष्टिसे सब एक ही हैं, तब निश्चय करनेवाला अपनेको किस कोटिमें मानता है? उसका अस्तित्व तो निर्विवाद है और उसे किसी-न-किसी कोटिमें भी होना ही चाहिये। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न उठता है कि निश्चय करनेवाला मैं कार्य हूँ अथवा कारण। यदि मैं कार्य हूँ तो कारणको जान ही नहीं सकता। और यदि कारण हूँ तो यह सम्पूर्ण जगत् मेरा ही परिणाम होना चाहिये। परन्तु मैं परिणामी तो नहीं हूँ। क्योंकि मेरा ज्ञान और साक्षित्व एकरस, निर्विकार है; कार्य-कारण-परम्पराकी प्रत्येक स्थितिको मैं जानता हूँ। मैं ज्ञान-स्वरूप हूँ और यह कारण-कार्य-परम्परा मेरी दृष्टिके अन्तर्गत है। मुझ अनन्तमें दृष्टि और दृश्य सम्भव ही नहीं। यह कारण-कार्य-परम्परा एक विवर्त है, जो स्वरूपमें सर्वथा असम्भव है। कहाँ मोती और कहाँ जल। सब मैं-ही-मैं हूँ।'

"मेरी बात सबके समझमें नहीं आयी। कोई-कोई इस विषयको अज्ञेय कहकर मौन हो गये और किसी-किसीने इसे अस्वीकार कर दिया। परन्तु बात यहींतक नहीं थी, सर्वश्रेष्ठ

कमलके सिंहासनपर बैठना भी था। इसीमें मतभेद हो गया। उस कोलाहलमें कुछ निर्णय कैसे होता? परन्तु भगवान् शङ्करने बड़ी कृपा की। वे माँ गौरीके साथ उसी सर्वश्रेष्ठ कमलपर प्रकट हो गये। अकस्मात् सबकी आँखें उनकी ओर खिंच गयीं और उनके सामने सबके सिर झुक गये। भगवान्ने कहा—'हंसो! तुम्हारे सामने जो प्रश्न है, वह केवल मोतीके सम्बन्धमें नहीं है; वह तो सम्पूर्ण जगत्के सम्बन्धमें है और अपना आपा भी उससे अलग नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् निर्विकार आत्मस्वरूप ही है। न इसका आरम्भ है, न परिणाम और न विवर्त। यह एकरस, अद्घन, चिद्घन और आनन्दघन है। ऐसी स्थितिमें राजमरालकी बातें ही सत्य हैं और वही सर्वोच्च आसनके अधिकारी हैं।'

''भगवान् शङ्करकी अहैतुकी कृपाको देख मैं चकित—स्तम्भित हो रहा था। परन्तु जब उन्होंने सर्वोच्च आसनकी बात कही, तब मेरी मुग्धता भङ्ग हुई और मैंने उनके चरणोंके पास जाकर आर्तस्वरसे प्रार्थना की—'हे प्रभो! इस उपाधिसे मेरी रक्षा कीजिये, ऐसे काममें न तो मेरी रुचि है और न प्रवृत्ति। अवश्य ही मेरे मनके सूक्ष्म प्रदेशमें इस विषयकी कोई गुप्त वासना होगी, जिसके कारण आप ऐसा कह रहे हैं; अन्यथा मैं तो यही चाहता था कि कहीं एकान्तमें रहकर आपके चरणोंका चिन्तन किया करूँ और फिर कभी इस जंजालमें न पड़ूँ।' मेरे भाई-बन्धु और जातीय लोग तो यही चाहते थे कि मैं वहीं रहूँ और उन्हींके समान संसारके झंझटोंमें फँसा रहूँ। परन्तु मेरा अतिशय आग्रह देखकर भगवान् शङ्करने मुझे मुक्त कर दिया और अब मैं उनकी कृपासे स्वच्छन्द विचरण करता हूँ। उनके स्वरूप और कृपाकी कभी विस्मृति नहीं होती। जगत्की परस्परविरुद्ध घटनाओंसे मेरे चित्तमें कभी किसी प्रकारका क्षोभ अथवा विकार नहीं होता। मैं प्रत्येक अवस्थामें ही अपनी मुक्तिको जानता और अनुभव करता हूँ। जब भगवान्की कृपा और वे घटनाएँ मुझे स्मरण हो आती हैं, तब मैं विह्वल हो जाता हूँ—न अपने शरीरकी सुधि रहती है न जगत्की।''

राजमरालकी आत्मकथा सुनते-सुनते वत्सल बहुत कुछ अन्तर्मुख हो गया था। वह उन्हीं घटनाओंको सोचते-सोचते, मन-ही-मन मानस-सर पहुँच गया था और उसे यह ध्यान ही न था कि मैं गुप्तलिङ्गके पास पीपलपर बैठा हुआ हूँ। राजमरालने वत्सलसे कहा—''अब पण्ढरपुर चलनेका समय हो गया; आओ, आजकी रात्रि वहीं चलकर व्यतीत की जाय।'' राजमरालकी बातसे वत्सलका ध्यान भङ्ग हुआ और दोनोंने पण्ढरपुरकी यात्रा की।

(३)

निस्तब्ध निशीथ। भीमा नदीका पावन तट। विट्ठल-नाथके मन्दिरसे थोड़ी दूर, जहाँ भगवान्के चरण-चिह्न हैं, ठीक सामने एक वृक्षपर दो पक्षी बैठे हुए थे। यदि कोई देख सकता तो यही देखता कि उनके शरीर निष्कम्प हैं और उनके चित्तमें केवल पण्ढरीनाथ भगवान्की स्मृति है। चिरकालतक वे वैसे ही बैठे रहे। वे देख रहे थे कि विट्ठल भगवान्की आरती हो रही है और उनकी श्रीमूर्तिपर बार-बार एक दिव्य ज्योति आती है और छिप जाती है। घण्टा-घड़ियाल बज रहे हैं और विट्ठल, विट्ठलकी आकाश-भेदी ध्वनिसे दिशाएँ मुखरित हो रही हैं। बहुत समयतक वे इसी ध्यानमें मग्न रहे। जब आँखें खुलीं तब उन्होंने देखा सामने भगवान्के वे ही चरण-चिह्न विद्यमान हैं, जो भगवान्ने संसारी जीवोंके कल्याणार्थ यहाँ रख छोड़े हैं।

कुछ समयके बाद वत्सलने फिर वही प्रश्न दुहराया—'अब उस युवककी क्या स्थिति होगी, क्या करता होगा वह? राजमराल! तुमसे तो उसकी कोई भी स्थिति छिपी नहीं है, कृपा करके बतलाओ न।' अब राजमरालको भी उसकी कथा कहनेमें आपत्ति नहीं थी। क्योंकि अब वे बातचीत करनेकी भूमिमें उतर आये थे। उन्होंने कहा—''अब उसकी स्थितिका क्या पूछना है, वह भगवान्को प्राप्त करके कृतार्थ हो गया। हमलोगोंके वहाँसे चलनेके बाद उसकी साधना इतनी तेजीसे बढ़ी कि भगवान्की आरती करते-करते बेसुध होकर वह उनके चरण-कमलोंमें लोट गया। उस दिव्य लोकमें उसका दिव्य शरीर भगवान्का स्पर्श और आलिङ्गन प्राप्त करके आमूल परिवर्तित हो गया और वह भगवान्के श्रीविग्रह-जैसा ही चिन्मय और आनन्दमय हो गया। आनन्दकी इस बाढ़से उसका स्थूलशरीर, जो भीमा और नीराके सङ्गमपर बैठा हुआ था, प्रभावित हुए बिना नहीं रहा और उसमें भी स्पष्ट चिन्मयता आ गयी। जब उसकी आँखें खुलीं और बाह्य जगत्की ओर उसने देखा तो वहाँ भी वही दृश्य, जो अन्तर्जगत्में उसने देखा था। उसकी टकटकी बँध गयी। वह इस प्रकार निर्निमेष नयनोंसे निहारने लगा कि उसके सारे प्राण और सम्पूर्ण अन्तःकरण उस रूपमाधुरीके पानमें मस्त हो गये, प्रणाम

करनेकी भी स्मृति न रही। भगवान्‌ने स्वयं अपने कर-कमलोंसे उठाकर उसका आलिङ्गन किया और उसे अपने साथ ही अपने दिव्य धाममें ले गये। उसका जीवन सच्चा जीवन हो गया, उसके जन्म-जन्मकी आराधना सफल हो गयी और वह भगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त करके कृतकृत्य हो गया।"

वत्सलने पूछा—'राजमराल! उसकी अवस्था तो बहुत छोटी थी, दीर्घ कालतक उसने कुछ साधन भी नहीं किया; फिर भगवान्‌की कृपाकी यह दिव्य अनुभूति इतनी जल्दी उसे कैसे प्राप्त हो गयी?' राजमरालने कहा—"भगवान्‌की कृपाके लिये अवस्था अथवा साधनाकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है, वे तो निष्कारण ही सबके ऊपर कृपा और प्रेमकी अनवरत वर्षा किया करते हैं। जिसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ, जिसके हृदयमें उसके लिये सच्ची व्याकुलता हुई, उसीने उसका अनुभव किया। पूर्वजन्ममें तीव्र तपस्या करनेके फलस्वरूप उसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया था, वासनाएँ नष्ट हो गयी थीं और भगवत्प्राप्तिकी उत्कट उत्कण्ठा जाग गयी थी। यही कारण है कि बिना किसी साधनाके ही उसे भगवत्प्राप्ति हो गयी।"

वत्सलने राजमरालसे पूछा—'भैया, क्या उसके पूर्व-जन्मकी साधना बतलानेकी कृपा करोगे?' राजमराल बोले—"वत्सल! जिस दिन पहले-पहल उस युवकसे मेरी जान-पहचान हुई थी, उसी दिन उसने अपने पूर्वजन्मकी बातें मुझे बतायी थीं—जो कि अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर ध्यानके समय स्वतः ही उसके चित्तमें स्फुरित हुई थीं। उस युवकने मुझसे कहा था—'पूर्वजन्ममें मैं एक ब्राह्मण था, विशेष शास्त्रज्ञान तो था नहीं, यों ही किसी प्रकार अपना जीवननिर्वाह कर लेता। कोई सुख नहीं था तो कोई दुःख भी न था। परन्तु एक बातसे मुझे बड़ी चोट लगी। जिनका मैं विश्वास करता, उन्हींसे धोखा खाना पड़ता। सब-के-सब स्वार्थके सङ्गी, निःस्वार्थ कोई बात पूछनेवाला भी नहीं। मेरे जीवनमें सबसे बड़ी व्यथा, सबसे बड़ी पीड़ा यही थी। और इससे छुटकारे-का कोई उपाय नहीं था। एक महात्माने मेरी यह मनोदशा ताड़ ली और कृपा करके उन्होंने मुझे एक साधन बतलाया। वह साधन शारीरिक नहीं, मानसिक था; इसलिये उसके अनुष्ठानमें मुझे कोई कठिनाई नहीं मालूम हुई। क्योंकि मन-ही-मन तो न जाने क्या-क्या सोचता ही रहता था, फिर एक निश्चित बातके सोचनेमें आपत्ति ही क्या हो सकती थी। हाँ, प्रातःकाल कुछ विशेष क्रिया करनी पड़ती थी।

'दो घड़ी रात रहते उठकर आवश्यक कृत्योंसे निवृत्त होकर स्थिर आसनसे बैठ जाता। दोनों अँगूठोंसे दोनों कान बन्द करके, दोनों तर्जनीसे दोनों आँख, दोनों मध्यमासे दोनों नाक और दोनों हाथकी अनामिका और कनिष्ठा अङ्गुलियोंसे मुखका स्पर्श करते हुए प्राण, मन और आत्माकी एकताका चिन्तन करता। कुछ दिनोंतक ऐसा अभ्यास करनेसे भौंहोंके बीचमें कुछ स्पन्दन मालूम होने लगा। उससे कुछ-कुछ आनन्दका विकास हुआ और साधनामें मन लगने लगा। फिर तो क्रमशः बहुत-से नदी, नद, पर्वत, समुद्र और मूर्तियोंके दर्शन होने लगे। घण्टा, शङ्ख और मृदङ्गकी ध्वनियोंके साथ-ही-साथ वंशीके स्वर भी सुनायी पड़ते। भ्रमरोंका मधुर गुञ्जार भी गूँजता ही रहता। मैं प्रायः बाह्य चिन्तनसे विरत हो जाता और उसीके आनन्दमें मस्त रहता।'

"एक प्रक्रिया उन्होंने और बतायी थी—'जब मैं सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य-कर्म करके बैठता तो ऐसी भावना करता कि मेरी नाभिमें जो स्वाधिष्ठानचक्र है, उसमें एक त्रिकोण कुण्ड है; उस कुण्डमें चिन्मय अग्नि प्रज्वलित हो रही है और मेरे दुष्कर्म, दुर्भाव और दुर्गुणकी आहुतियाँ पड़कर भस्म हो रही हैं। मनके स्रुवासे 'ॐ अहंतां जुहोमि स्वाहा' इस क्रमसे एक-एक दोष ढूँढ़-ढूँढ़ हवन करता। थोड़े ही दिनोंमें मुझे बड़ी पवित्रताका अनुभव हुआ और मेरा जीवन सदाचारमय बन गया। इस पवित्रता और सदाचारसे मेरी एकाग्रता बढ़ी और मैं श्रीकृष्णका ध्यान करने लगा।

'श्रीकृष्णके ध्यानमें मुख्यता लीलाकी ही थी, प्रातःकाल मैं प्रातःकालकी लीलाओंका ही चिन्तन करता। मैं भावकी आँखोंसे देखता श्रीवृन्दावनधाममें सबसे बड़ा, सबसे सुन्दर, सबसे विचित्र नन्दबाबाका राजमहल है। उसके मणिमय आँगनमें अनेकों दासियाँ दूध और दही मथ रही हैं। वे धीरे-धीरे श्रीकृष्णकी लीला और नामोंका भी गायन करती जा रही हैं। नीलमणिके चबूतरोंपर पड़े हुए दूध और दहीके बिन्दु इतने मनोहर जान पड़ते हैं कि आँखें उधरसे हटती ही नहीं। नन्दरानी दासियोंको आज्ञा कर रही हैं—'कोई जोरसे न बोले; मेरा लल्ला, मेरा कन्हैया, अभी सोया हुआ है; कहीं किसीकी कर्कश ध्वनिसे उसकी नींद न टूट जाय।' सभी दासियाँ बड़ी सावधानीके साथ अपने-अपने काममें

सजग हैं। श्रीकृष्ण एक सजे हुए कमरेमें मणि-रत्नजटित शय्यापर सोये हुए हैं और दूसरोंकी दृष्टिमें सोते हुए होनेपर भी स्वयं जाग रहे हैं। उनके मुखकमलपर कृपा, प्रेम और आनन्दकी ज्योति स्पष्टरूपसे झलक रही है। ऐसा मालूम होता है वे अब बोल उठते हैं, तब बोल उठते हैं। जब नन्दरानी कहती हैं कि मेरे लल्लाकी नींद न टूटे; कलका थका है, तब उनके होठोंपर मुस्कराहटकी एक रेखा खिंच जाती है। माँके वात्सल्यका दर्शन करनेके लिये आँखें खुलना चाहती हैं, पर वे उन्हें बन्द कर लेते हैं। माँके प्रेमका स्मरण करके उनके सारे शरीरमें रोमाञ्च हो आता है। उसे वे रोक नहीं सकते, परन्तु माँ-के लिये और उसके प्रेम तथा आनन्दके लिये वे सोये ही रहते हैं। उनकी यह गाढ़ निद्रा तबतक नहीं टूटती, जबतक माँ उनके पास जाकर नहीं जगाती।

'सूर्योदयके पहले ही बहुत-से ग्वालबाल आँगनमें इकट्ठे हो जाते हैं, बलराम भी उनके साथ हो लेते हैं और वे सब-के-सब इस प्रतीक्षामें खड़े हो जाते हैं कि श्रीकृष्ण कब उठें और कब उनके दर्शन-स्पर्शनसे हम धन्य हों। कोई कहता—'मेरी माँ तो अभी आने ही नहीं देती थी, मैं उससे पल्ला छुड़ाकर भाग आया।' कोई कहता कि 'कन्हैयाके बिना न बछड़े दूध पीते हैं न गौएँ पिन्हाती हैं, इसलिये गौओंके पास न जाकर मैं यहाँ चला आया।' ग्वालबालोंकी उत्सुकता देखकर नन्दरानी श्रीकृष्णकी शय्याके पास जाकर कहती हैं—'लल्ला, तुम्हारे बाबा तुम्हें बिना जगाये ही गोठको चले गये। वे जानते थे कि गौएँ पिन्हायेंगी नहीं, तुम्हें देखे बिना। फिर भी प्रेमवश उन्होंने तुम्हें जगाना उचित नहीं समझा। ग्वालबाल तुम्हारी प्रतीक्षामें खड़े हैं, बछड़ोंकी आँख भी तुम्हारी तरफ लगी है। उठो, देखो, आज कितना सुन्दर सूर्योदय हुआ है।' वे श्रीकृष्णके सिरहाने बायें हाथके बल लटककर दाहिने हाथसे उन्हें सहलाने लगती हैं और श्रीकृष्ण अँगड़ाते हुए, देह तोड़ते हुए, जँभाते हुए उठकर शय्याके एक ओर बैठ जाते हैं—चरणकमलोंको एक ओर लटकाकर। वे अपने हाथों सोनेकी झारीमें पानी लाती हैं, श्रीकृष्णका मुँह धोती हैं, उनके बिखरे बालोंको सँवारती हैं और फिर कस्तूरी-केसरका तिलक करके, यह कहकर बाहर जाने देती हैं कि 'बहुत जल्दी लौट आओ, जिससे कलेऊमें देर न हो।' ग्वालोंमेंसे कोई उनका हाथ पकड़ लेता है, कोई बाँसुरी, कोई पीताम्बर पकड़ लेता है तो कोई कमरसे ही लिपट जाता है। इस प्रकार सब नाचते-कूदते, हँसते-खेलते, उछलते-कूदते बाहर जाते हैं और मैं अपनी भाव-दृष्टिसे यह सब देख-सुनकर मुग्ध होता रहता।'''

राजमरालने वत्सलसे कहा—''यह सब कहते हुए उस युवकका कण्ठस्वर गद्गद था, आँखोंसे आँसूकी धारा बह रही थी और सारे शरीरमें रोमाञ्च हो रहा था। उसने आगे कहा—'परन्तु मेरी यह भावना पूर्ण नहीं हो सकी। मेरे चित्तका एक सुषुप्त संस्कार जाग उठा और तबतक मैं उससे नहीं बच सका, जबतक मेरी मृत्यु नहीं हो गयी। परन्तु उन्हीं साधनोंका यह फल था कि मुझे इस जन्ममें सद्गुरु और सत्-साधनकी प्राप्ति हुई और अब मैं कुछ-कुछ अपने लक्ष्य-की ओर बढ़ रहा हूँ।'''

राजमरालने वत्सलको सम्बोधन करके कहा—''इसके बाद उस युवककी जैसी स्थिति हुई, तुम सब जानते हो। भगवान्-की कृपासे ही ऐसे संतोंके दर्शन होते हैं। धन्य है वह भूमि, जहाँ ऐसे प्रेमी भक्त भगवान्का स्मरण, चिन्तन करते हैं। उसके दर्शनसे, वहाँके जल-वायुके संस्पर्शसे चित्तमें पवित्र भावनाओंका उद्रेक होता है। भीमा और नीराके सङ्गमपर, जहाँ बैठकर उस दिन वह युवक ध्यानमग्न था, जहाँ भगवान्ने प्रकट होकर उसे अपनाया था, आज भी वे ही दृश्य, यदि कोई भावकी आँखसे देखे तो दीख सकते हैं। क्या ही अच्छा हो कि हम भी अपना शेष जीवन वहीं व्यतीत करें।'' वत्सलने कहा—'हाँ, ठीक तो है; चलिये, वहीं चलकर रहा जाय।' दोनों चल पड़े।

बहुत दिनोंतक लोगोंने देखा कि दो श्वेत पक्षी बड़ी गम्भीरतासे अपना जीवन व्यतीत करते हैं उस वटवृक्षपर, जो प्राचीनकालसे स्थित है भीमा और नीराके पवित्र सङ्गमपर।

नीचे बनो

ऊँचे पानी ना टिकै, नीचे ही ठहराय।
नीचा होय सो भरि पिवै, ऊँचा प्यासा जाय॥
सब तें लघुताई भली, लघुता तें सब होय।
जस दुतियाको चंद्रमा, सीस नवै सब कोय॥ —कबीर

साधन-समीक्षा

(लेखक—साधु प्रज्ञानाथजी)

'कल्याण'-सम्पादकने साधनाङ्कमें लेख भेजनेके लिये अनुरोध किया है और पत्रके साथ एक विषय-सूची भेजी है। विषय-सूचीके आकार-प्रकारको देखकर ही चित्त घबड़ा जाता है और यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि इन विषयोंमेंसे किस विषयपर लेख लिखना चाहिये। साधन सबके प्राणकी वस्तु है, किसीसे भी साधनके विषयमें मतामतकी जिज्ञासा करना अभद्रता समझी जाती है; क्योंकि इससे साधकके सम्बन्धमें प्रश्नकर्त्ताका राग-द्वेष उत्पन्न हो सकता है। अतएव किसीका भी साधनाको जाननेके लिये औत्सुक्य प्रकट करना सङ्गत नहीं है। मैं कुछ ऐसे महामहोपाध्याय सज्जनोंके विषयमें जानता हूँ कि उनकी साधना दूसरी होनेपर भी वे वेदान्ती बनकर दूसरे पक्षके मतका खण्डन करके लोगोंमें अपनेको वेदान्ती बतलाते हैं, साथ-ही-साथ वे अपने शिष्योंको कौलप्रथाके अनुसार देवीकी उपासनाका उपदेश करते हैं। ऐसी अवस्थामें खण्डनखण्डखाद्यकारका श्लोक हमें याद आता है—

> एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित्।
> आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु॥

सम्पादक महाशयका उद्योग जीवोंके कल्याणके लिये होते हुए भी जो लोग साधनासम्बन्धी लेख भेजेंगे, उनमें अनेकोंको अपने मतका स्थापन करके परमतका खण्डन करना पड़ेगा। मुझे यहाँ ऐसा करनेकी इच्छा न होनेके कारण शास्त्रानुसार साधकोंके लिये जो कुछ सार्वजनीनभावसे प्रकट किया जा सकता है, उतना ही इस लेखमें व्यक्त करूँगा। साधक होनेके लिये क्या-क्या करना चाहिये (क्या प्रथम कर्त्तव्य है), यही यहाँ दिखाया जायगा। इसलिये साधन-समीक्षा अर्थात् साधनका विचार ही यहाँ किया जायगा। एक भावुकने कहा है—

> 'आदर करे हृदे रेखो आदरिणी श्यामा माके।
> मन तुमि देखो आर आमि देखि आर येन केह ना देखे।'

'आदरणीया श्यामा माँको आदरके साथ हृदयमें रक्खो। हे मन! तुम देखो और मैं देखूँ। और कोई भी न देखने पावे।' साधन सबके लिये प्रियतम वस्तु है। जो वस्तु जितनी प्रिय होती है, उसे उतना ही छिपाकर रक्खा जाता है। धानका भूसा बाहर पड़ा रहता है, उसे कोई चुराने नहीं जाता। धानको गोलेमें रखना पड़ता है। सोने-चाँदीको बड़े जतनसे सन्दूकके भीतर बक्समें भरकर रखते हैं। उसी प्रकार गुरूपदिष्ट अभीष्ट श्यामा माँको भी हृदयमें छिपाकर रखना पड़ता है, जिसमें उसे कोई दूसरा देख न ले। व्यवहारमें भी देखा जाता है कि सभी लोग अपनी स्त्रीको शुद्धाचारिणी बनाये रखनेकी प्राणपणसे रक्षा करते हैं। किसी बन्धु-बान्धवके घर आनेपर स्त्रीके साथ हँसी-मजाक नहीं किया जाता, इसीलिये आजकलके मनचले बाबू लोग उपपत्नी रखते हैं। जिस दिन बन्धु-बान्धवादिके साथ मद्यपान करके खेल-तमाशा करनेकी आवश्यकता समझते हैं, उस दिन उस उपपत्नीको बुलाकर खूब नाच-गान, आमोद-प्रमोद करते रहते हैं; परन्तु अपनी स्त्रीके सम्बन्धमें यदि कोई भद्दी मजाक कर बैठता है तो तलवार लेकर उसका सिर काटनेको तैयार हो जाते हैं। साधनके विषयमें भी इसी प्रकार समझना चाहिये। कोई किसी प्रकारकी साधना करे, उससे पूछनेपर वह चुप हो जायगा और कहेगा कि इससे तुम्हें क्या प्रयोजन है। यहींसे दलबन्दीका सूत्रपात होता है। नाना प्रकारके साधक एक ही कथावाचककी कथा सुनने जाते हैं। इनमें कथावाचककी जो कथा जिसके साधनके लिये उपयोगी होती है, वह वही कथा ग्रहण करता है, दूसरी कथाका त्याग करता है। कथावाचक यदि अपने मताग्रह-विशेषसे किसी साधनपर कटाक्ष कर बैठता है तो उसे विडम्बना भोगनी पड़ती है। अतएव सर्वसाधारणके लिये जो अनुकूल और हितकारी होता है, कथावाचक अपना मताग्रहविशेष छोड़कर उसी बातको कहते हैं। एक आदमीके लिये जो हितकारी है, दूसरे आदमीके लिये वही अनिष्टकारी हो सकता है। इसी कारण साधन, भोजन और औषध—ये तीन कभी सब लोगोंके लिये एक नहीं हो सकते। इसीलिये सुयोग्य चिकित्सक ही प्रकृति देखकर विभिन्न रुचिके लोगोंके लिये विभिन्न साधन, औषध और भोजनकी व्यवस्था करते हैं।

जिसकी जिस विषयमें आसक्ति होती है, उसे उस विषयसे हटाकर दूसरे विषयमें लगानेकी चेष्टा करनेसे वह उस विषयको तो छोड़ ही नहीं सकता, उलटे

उपदेष्टाके प्रति उसकी अश्रद्धा ही उत्पन्न हो जाती है। इसलिये कोई महापुरुष प्रकृति जाने बिना किसी व्यक्तिको साधनविषयक कोई उपदेश नहीं देते। जिस विषयमें उसका अभिनिवेश देखते हैं, उसको उसी विषयका उपदेश देकर क्रमशः वहींसे रास्ता दिखलाकर वही उपाय बतलाते हैं, जिससे वह श्रेयलाभ कर सके। कुतर्क, विषयासक्ति, देहात्मबुद्धि और बुद्धिकी मन्दता—ये चार साधकके प्रबल विघ्न हैं। इनके रहते साधनाका उपदेश कार्यरूपमें परिणत होते नहीं देखा जाता। इसलिये साधकको सबसे पहले इन सबका त्याग करना पड़ता है। अविश्वाससे ही कुतर्क उत्पन्न होता है। निजकी कोई बुद्धि नहीं और शास्त्रों-का भी अध्ययन नहीं किया, तो भी अपनी साधारण बुद्धि-की प्रेरणासे किसी एक मनमाने मतको उत्तम मानकर शास्त्रों तथा महापुरुषोंके वचनोंकी जो अवज्ञा की जाती है, उसे कुतर्क कहते हैं। शास्त्र और गुरुवाक्यके ऊपर दृढ़ विश्वास करके इस दोषको दूर करना चाहिये। अविश्वासके बिना कुतर्क नहीं उत्पन्न होता। अविश्वासी-को उपदेश देनेसे कोई फल नहीं मिलता। एक सच्ची घटनाका यहाँ उल्लेख करता हूँ। कुमिल्ला शहरके समीप ही दुर्गापुर एक गाँव है। उस ग्राममें एक अति बुद्धिमान् और ज्ञानवान् साधु रहते थे। उनमें उपदेश देनेकी असाधारण शक्ति थी। उनके गुणोंसे मुग्ध होकर बहुत लोग शहरसे उनका उपदेश सुनने वहाँ जाया करते थे। वे भी जो जिस प्रकारका अधिकारी होता था उसी प्रकारका उसे उपदेश देकर विदा करते थे, किसीमें बुद्धि-भेद नहीं उत्पन्न करते थे। एक दिन एक सत्सङ्गी कुमिल्ला-के एक डिप्टी साहबको संग लेकर उनके समीप उपस्थित हुए। डिप्टी साहबको अभिमान था कि मैं विशेष ज्ञानवान् हूँ, इसलिये वे साधुको प्रणाम करना भी उचित न समझकर बूट पहने ही उनके पास बैठ गये। साधु महाराज सबके साथ बातचीत करते रह गये और डिप्टी साहबको देखकर भी उनका उन्होंने कोई सम्मान नहीं किया। यह देखकर डिप्टी साहब अपने अभिमानमें ही फूले जा रहे थे। अन्तमें उपेक्षाका भाव देखकर डिप्टी साहबने स्वयं ही प्रश्न किया, "महाशय! कुछ ज्ञानका उपदेश दीजिये।" साधुने कहा—"हरिनाम लो।" डिप्टी साहब बोले—"'हरि' शब्दके तो भगवान्, जल, सिंह और बन्दर आदि अनेक अर्थ होते हैं; शब्दमें क्या रक्खा है, जो आप हरिनाम लेनेको कहते हैं। मुझे तो ज्ञानोपदेश कीजिये।" डिप्टी साहबके वचन सुनकर भी साधु महाराज कोई उत्तर न देकर अन्यमनस्कके समान दूसरोंके साथ बातचीत करते रहे। एक बार, दो बार, तीन बार—इस प्रकार उपेक्षासूचक वाक्य डिप्टी साहबसे सुनकर साधु बहुत ही रूखे स्वरसे जोरसे बोल उठे—'चुप रह साला।' यह सुनते ही डिप्टी साहबके मस्तकपर मानो वज्राघात हुआ। वे क्रोधसे अन्धे होकर बूट लेकर साधुको मारनेके लिये उठ खड़े हुए। वहाँ जो लोग उपस्थित थे, वे डिप्टी साहबको पकड़कर शान्त करने लगे। साधु महाराजने धीरेसे कहा—'मैंने तो आपको गाली नहीं दी, आप इस प्रकार क्रोधान्ध होकर मुझे मारनेके लिये क्यों तैयार हो रहे हैं?' डिप्टी साहबने कहा—"तुमने अभी मुझको 'साला' कहा और अब कहते हो कि मैंने गाली नहीं दी। तुम्हारे-जैसे मिथ्यावादी पाषण्डी धूर्त्त साधु मैंने बहुत-से देखे हैं, अभी तुमको इसका पूरा मजा चखाता हूँ। तुम जानते नहीं कि मैं कौन हूँ। तुमको अभी जेल भेज सकता हूँ।" साधुने कहा—"महाशय, आप डिप्टी हो सकते हैं, मैंने तो आपके प्रश्नका उत्तर ही दिया है। इससे यदि मुझे जेल जाना पड़े तो कोई दुःख नहीं, परन्तु आप विचार करके मुझे जेल भेजें। बिना विचारे जेल भेजनेसे आपका ही अपराध होगा।" डिप्टी साहबने कहा—"उत्तर दिया आपने 'साला' गाली देकर!"

साधुने कहा—"आप बार-बार पूछ रहे थे कि 'हरि' शब्दमें कौन-सी शक्ति है। मैंने आपके लिये केवल एक 'साला' शब्दका प्रयोग किया। 'साला' स्त्रीके भाईको कहते हैं। मैं जन्मसे ही ब्रह्मचारी हूँ, मैंने कभी स्त्रीसहवास नहीं किया। मेरे वाक्यसे आप मेरे साले नहीं हो सकते, अर्थात् मैं आपकी बहिनसे विवाह नहीं कर सकता। यह 'साला' शब्द आपको क्रोधान्ध बनाकर मुझे मारनेका उद्योग करा रहा था। यदि शब्दमें कोई शक्ति न होती तो 'साला' शब्द आपको इस प्रकार क्रोधमें पागल कैसे कर सकता?" डिप्टी साहबको अब होश आया, उनकी समझमें आया कि शब्दमें भी शक्ति होती है। डिप्टी साहब हरिनाम लेनेके भी अधिकारी न थे, क्योंकि अविश्वासने और विद्याके मदने उन्हें अन्धा बना रखा था। परन्तु हरिनामके गुणसे मनुष्यका सारा मद दूर होकर वह साधनके उपयुक्त बन सकता है, इसीलिये साधुने उनको हरिनामका उपदेश दिया था।

साधनका द्वितीय प्रतिबन्ध है विषयासक्ति। विषयोंमें

आसक्ति रहते साधन ग्रहण करनेपर भी आलस्यादिके कारण साधनमें अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। शास्त्रोंका और सज्जनोंका संग करके यह दोष दूर किया जाता है।

देहात्मबुद्धिसे ही भोगासक्ति उत्पन्न होती है, देहमें आत्मबुद्धि रहते उपदेश कार्यकारी नहीं होता। बार-बार देहकी नश्वरतादिका विचार करनेसे यह दोष निवृत्त हो सकता है।

एक प्रकारके ऐसे मनुष्य भी देखे जाते हैं, जिनमें उपर्युक्त तीनों प्रतिबन्ध नहीं रहते। वे अविश्वासी भी नहीं होते, विषयमें उनकी आसक्ति नहीं होती और देहात्मबुद्धि भी नहीं होती। परन्तु पूर्वजन्मके कर्मोंके फलसे उनकी बुद्धिमें ऐसी जड़ता होती है कि सैकड़ों बार समझानेपर भी वे कुछ भी समझ नहीं सकते। इस प्रकारके मुमुक्षु ध्यान करके या गुरुकी सेवा करके अपनी बुद्धिकी जड़ताको दूरकर साधनमें नियुक्त हो सकते हैं।

साधनका प्रयोजन

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चारों पुरुषार्थ कहाते हैं। जिनके लिये अर्थ और काम ही परम पुरुषार्थ होता है, उनको संसारी जीव कहा जाता है। अर्थ और कामके सिवा जगत्‌में वे किसी वस्तुको साध्य नहीं समझते। वे कभी किसी धर्मका सेवन करते भी हैं तो केवल काम और अर्थके लिये ही। शरीरके सुखमें जरा भी बाधा आनेपर वे धर्मका त्याग कर देते हैं। ऐसे लोगोंको संसारनिष्ठ जीव कहा जाता है। ये लोग बार-बार जन्म और मृत्युके अधीन होकर संसारमें ही चक्कर काटते रहेंगे। अर्थोपार्जन करके भी जो लोग इस संसारमें सुख नहीं पाते, ऐसे लोग धर्मार्थ दानादि करके परलोकके साधनका संग्रह करना आवश्यक समझते हैं। ये लोग पुरुषार्थी तो हैं, परन्तु आत्यन्तिक पुरुषार्थी नहीं हैं। साधनके द्वारा जो वस्तु प्राप्त होती है, कभी-न-कभी उसका नाश होता ही है। स्वर्गादि भोगोंका भी नाश देखनेमें आता है। इसीलिये स्वर्गादिसे किसी-किसीकी उपेक्षाबुद्धि हो जाती है। स्वर्गके तथा इहलोकके सुखोंमें जिनकी विरक्ति होती है, वे ही मोक्षकी जिज्ञासाके अधिकारी हो सकते हैं। देखा जाता है कि एक साधनके द्वारा समस्त कार्य सम्पन्न नहीं होते। कुठारके द्वारा लकड़ी चीरी जाती है, परन्तु कलम बनानेके लिये छुरीकी ही आवश्यकता पड़ती है। तलवारके द्वारा मनुष्य और कूष्माण्डादिको भी काटा जा सकता है, परन्तु तरकारी बनानेके लिये कोई तलवारका व्यवहार नहीं करता। प्रत्येक कार्यके साधन पृथक्-पृथक् होते हैं। सर्वप्रधान करणको ही साधन कहते हैं, जैसे अग्नि भोजन-पाक करनेका साधन है। पाक करनेके लिये जल, चावल और पात्रादिका प्रयोजन होनेपर भी अग्निके बिना पाक नहीं होता। अतएव अग्निको ही साधन कहा जाता है। जलके बदले दूध, बटुलोईके बदले लोटा, चावलके बदले आलू आदि हो सकते हैं; परन्तु पाकके लिये अग्नि ही चाहिये। इसी प्रकार सब कार्योंके लिये साधनविशेष होते हैं। जो लोग सामयिक दुःखोंकी निवृत्तिके लिये भूत-पिशाचादिकी पूजा करते हैं, उन लोगोंको अशुचि जलादि सामग्रीसे मन्त्रादि साधन संग्रह करना पड़ता है। जो लोग भगवान्‌के वैकुण्ठमें जानेके इच्छुक हैं, उन्हें भक्ति और शरणागतिरूप साधन संग्रह करना पड़ता है। जिन्हें मोक्षकी उत्कट इच्छा होती है, उनको साधनचतुष्टय-सम्पन्न होकर वेदान्तका विचार करके आत्मा और अनात्माके विचारके द्वारा जीवात्मा और परमात्माके एकत्वज्ञानके साधनको शास्त्र और गुरुसे जानकर उसीका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके तत्त्वज्ञान पानेका यत्न करना पड़ता है। इसीलिये वार्तिककार लिखते हैं—

> पुरुषार्थोपदेष्टृत्वाद्वस्तु कार्ये प्रमाणता।
> तथैकात्म्ये विशेषाद्वा पुमर्थातिशयत्वतः॥
> पुमानिष्टस्य सम्प्राप्तिमनिष्टस्य च वर्जनम्।
> इच्छन्नपेक्षते योग्यमुपायमपि तत्परः॥
> ग्रामादि किञ्चिदप्राप्तं प्राप्तुमिष्टमिहेच्छति।
> हेमादि विस्मृतं किञ्चित्करस्थमपि लिप्सति॥
> परिहार्यतयानिष्टं कण्टकादि जिहासति।
> रज्ज्वां सर्पादि किञ्चिच्च त्यक्तमेव जिहासति॥
> नियतोपायसाध्यत्वादवाप्यपरिहार्ययोः।
> विधितः प्रतिषेधाच्च साधनापेक्षता भवेत्॥
> अज्ञानान्तरितत्वेन सम्प्राप्तत्यक्तयोः पुनः।
> याथात्म्यज्ञानतो नान्यत्पुरुषार्थाय कल्पते॥
>
> (बृ० भा० वार्तिक, सम्बन्ध-वार्तिक ८८, ३-८)

कर्मके द्वारा इहलोकके भोग्य प्राप्त होते हैं। कारीर यज्ञ करनेसे वर्षाके प्रबल प्रतिबन्धक नष्ट हो जाते हैं और वृष्टि होती है। यह यज्ञरूप कर्मका फल है। अतएव यज्ञ कर्मका साधन है। निष्काम कर्म और अहैतुकी भक्ति वैकुण्ठके साधन हैं। योग और ज्ञान मोक्षके साधन होते हैं। इनमेंसे किसीके लिये योग अनुकूल होता देखा जाता है

और किसीके लिये विचार अनुकूल होता देखा जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें दो प्रकारके उपाय बतलाये हैं। समस्त प्राणिवर्गको तीन भागोंमें विभक्त कर कर्म, भक्ति और ज्ञान श्रेयःप्राप्तिके उपायरूपसे गीतामें बतलाये गये हैं। सबके अधिकार और रुचि समान नहीं होते। इसी कारण साधन भी विभिन्न होते हैं। देखना होगा कि साधक क्या चाहता है। यदि उसे किसी पार्थिव वस्तुकी कामना है तो मोक्षके साधन बतलानेसे उसे कोई लाभ नहीं हो सकता। वह अपनी इच्छाके अनुकूल वस्तुको पानेके लिये ही लालायित रहेगा। भजनको भी वस्तुप्राप्तिका साधन ही समझेगा। अतएव रोग देखकर जैसे औषधिकी व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार साधककी इच्छाके अनुसार साधन बतलाया जाता है। ठीक-ठीक साधनकी प्राप्ति होनेपर वस्तु सिद्ध करनेमें देर नहीं होती। इसलिये जो जिस विषयमें अभिज्ञ हैं, उनसे उसीके साधनकी शिक्षा लेकर प्रथम इच्छाकी पूर्त्ति करके तब मोक्षकी चेष्टा करनी चाहिये। जो लोग देशोद्धार करनेके लिये योगसाधन करेंगे, उनके मोक्षके मार्गमें प्रतिबन्ध होनेसे उन्हें मोक्षकी प्राप्ति नहीं होगी। सारी इच्छाओंकी निवृत्ति ही मोक्ष है। मोक्षके लिये जो लोग साधन-भजन करते हैं, उनके लिये किसी विषयकी इच्छा न करना ही कर्त्तव्य है। यहाँतक कि उन्हें कौतूहलवश या खेलके लिये भी कभी सिद्धि या स्वर्गादिकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। ग्राममें जाना है, यह सोचते हुए बैठ रहनेसे ही कोई ग्राममें नहीं पहुँच सकता। वहाँ चलना ही साधन है। अर्थके लिये व्यापारादि साधन करने होंगे। स्वर्गादि भोगके लिये यज्ञ, दम, दया आदि साधनोंका संग्रह करना होगा। मोक्षके लिये सर्वत्यागरूप उपरति ही एकमात्र साधन है। जिस कर्मका जो साधन है, उसको उस कर्मकी सिद्धिके लिये उपयुक्त रूपमें संग्रह करना होगा। रज्जुमें सर्पभ्रम होता है, वहाँ बैठकर प्राणायाम या गरुड़-मन्त्रका जप करनेसे सर्पभ्रम दूर न होगा। वस्तुका स्वरूपज्ञान ही वहाँ साधन है। रोशनी लेकर आते ही सर्पभ्रम दूर हो जायगा। रज्जुका ज्ञान होते ही सर्पभ्रम चला जायगा। इस विश्वप्रपञ्चका कारण अज्ञान है। ज्ञानके द्वारा इसके अधिष्ठानका बोध होते ही विश्वप्रपञ्चकी निवृत्ति होकर मोक्षकी प्राप्ति होगी। मिथ्या पदार्थके प्रति कभी ज्ञानी पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं देखनेमें आती। मिथ्याका दृढ़ निश्चय होनेपर उसमें साधककी प्रवृत्ति क्षीण हो जाती है। प्रवृत्ति न होनेसे जन्म नहीं होता और जन्म न होनेसे दुःख नहीं होता। इस प्रकार अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति एक ही बात है।

गृहस्थकी साधना

स्ववर्णाश्रमधर्मेण श्रद्धया गुरुतोषणात्।
साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥

वर्णाश्रमधर्मका जो लोग नियमानुसार पालन नहीं कर सकते, वे क्या किसी प्रकारकी साधना कर सकते हैं? सबसे पहले वर्णाश्रमधर्ममें तीनों वर्णोंके लिये जिन नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका विधान है, उनका निष्काम भावसे पालन करना पड़ता है। मन, वचन और शरीरके द्वारा जो कुछ किया जाता है, उसका फल भगवान्‌को समर्पण कर देना पड़ता है और कर्त्तव्य-बुद्धिसे ही सारे कार्य करने पड़ते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके यज्ञोपवीत धारण करते ही उनका गायत्री-मन्त्रमें अधिकार हो जाता है। यथाशक्ति तीन माला गायत्री-जप करनेसे शरीर शुद्ध हो जाता है। रात्रिमें जो पाप किया जाता है, प्रातःसन्ध्याद्वारा वह पाप नष्ट हो जाता है। सायं-सन्ध्याके द्वारा दिनमें किये गये पापोंका नाश हो जाता है। असावधानताके कारण मन, वचन, कर्मसे जो पाप हो जाते हैं उन्हींका नाश सन्ध्याद्वारा हो सकता है। जो पाप जान-बूझकर किये जाते हैं, उनके नाशके लिये प्रायश्चित्त करना पड़ता है। मूर्खको द्रव्यदानादि प्रायश्चित्त करके पाप दूर करने पड़ते हैं। पाप दूर होनेसे मन प्रसन्न होता है, शरीर नीरोग और सुन्दर हो जाता है। इस प्रकारकी अवस्था प्राप्त होनेसे ही मनमें विषयभोगसे विराग और गुरुकी प्राप्तिकी इच्छा उत्पन्न होती है। सुकृतके फलका परिपाक होनेसे संतोंकी सङ्गति प्राप्त होती है। उससे विधि और निषेधका ज्ञान होता है तथा सदाचारमें प्रवृत्ति होती है। सदाचारमें प्रवृत्ति होनेसे ही अशेष दुष्कृतोंका नाश हो जाता है। उससे अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है। तभी सद्गुरुके कृपा-कटाक्षके लिये मन व्याकुल हो उठता है। गुरुके कृपा-कटाक्षसे ही सब प्रकारकी सिद्धि प्राप्त होती है। सब प्रकारके बन्धन नष्ट होते हैं। श्रेयमार्गके सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं। सब प्रकारके श्रेयःसाधन स्वयं ही आकर उपस्थित होते हैं। जन्मान्धको जिस प्रकार रूपका ज्ञान नहीं हो सकता, उसी प्रकार सद्गुरुके उपदेशके बिना तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव सद्गुरुके कृपा-कटाक्षके लेशमात्रसे ही तत्त्वज्ञान हो जाता है। इस प्रकार त्रिपादविभूति उपनिषद्‌में गुरु करने-

का प्रयोजन कहा गया है। जिन लोगोंका कुलगुरुमें विश्वास न हो, उनको निम्नलिखित उपाय करना चाहिये। इस उपायसे उत्तम श्रद्धालुको एक वर्षमें और मध्यम श्रद्धालुको तीन वर्षमें गुरुकी प्राप्ति हो सकती है। गुरुप्राप्तिको ही शास्त्रोंमें एक सिद्धि कहा गया है। गुरु प्राप्त होते ही समझना चाहिये कि भवसागर पार करनेको नौका मिल गयी। प्रयत्न करनेसे एक जन्ममें, और प्रयत्नमें शिथिलता करनेसे तीन जन्ममें मनुष्य कृतार्थ हो सकता है—ऐसा किसी महात्माका वचन है।

साधनकी प्राप्तिके पूर्व साधनके लिये तैयार होनेके उद्देश्यसे साधनार्थीको प्रतिदिन तीन हजार गायत्रीका जप करना चाहिये तथा निम्नलिखित यन्त्र बनाकर उसकी पूजा करनी चाहिये। इसके द्वारा भगवत्-कृपासे शीघ्र ही गुरुकी प्राप्ति हो जाती है। उपयुक्त गुरुके प्राप्त होनेपर अपनेको उनके चरणोंमें अर्पण करके वे जैसी आज्ञा दें, वैसा ही करना चाहिये। परन्तु किसी पाषण्डी वेशधारीके घर आते ही उसे गुरु मानकर तन-मन-धन अर्पण करनेकी मूर्खता भी नहीं करनी चाहिये। साधु निष्काम, निःस्पृह और अहैतुकी कृपा करनेवाले होते हैं। जो अपना कोई स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, उसको गुरुके रूपमें स्वीकार करके धोखा नहीं खाना चाहिये।

आगे दिये जानेवाले यन्त्रके मध्यमें चित्त लगाकर ध्यान करनेसे शुद्ध चित्तमें गुरुकी मूर्ति दीख पड़ेगी, तब संशयरहित होकर उन्हींको गुरु मानकर उनके आज्ञानुसार चलना चाहिये। दस-बीस पोथियाँ इकट्ठी करके अपने मनसे ही एक साधनाकी खिचड़ी बनाकर कुछ स्तोत्रों और मन्त्रोंका संग्रह कर कभी देवीका, कभी देवताका मन्त्र-जप, ध्यान और योग करके व्यर्थ समय नष्ट नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे कोई साधनमें अग्रसर नहीं हो सकता। अपने विचारके ऊपर विश्वास न होनेसे ये कोई फल प्रदान नहीं कर सकते। विश्वाससे ही मन्त्रका फल प्राप्त होता है। जो जिस विषयका अभ्यास नहीं करता, उसके द्वारा उस मन्त्रको ग्रहण करनेसे भी कोई फल नहीं मिल सकता। सिद्ध महापुरुषसे मन्त्र ग्रहण करनेपर उस मन्त्रका पुरश्चरण नहीं करना पड़ता। मन्त्रके साथ ही गुरुकी शक्ति शिष्यके शरीरमें प्रवेश कर जाती है। सिद्ध गुरुके न मिलनेकी स्थितिमें मन्त्रोंको तन्त्रोक्त नियमोंके द्वारा शोधन करके पुरश्चरण करना पड़ता है। भगवान् सदाशिवने ३½ करोड़ मन्त्रोंकी रचना की है, सिद्ध पुरुषोंके सिवा अन्य किसीके द्वारा इन मन्त्रोंके दिये जानेपर इनका फल नहीं प्राप्त होता। इसीलिये सिद्ध गुरुको खोजना पड़ता है। उनसे मन्त्र ग्रहण करनेपर सब विघ्न दूर हो जाते हैं। शरीरके रोगी होनेपर योगके द्वारा या मन्त्र-जपके द्वारा शरीरको शुद्ध करना पड़ता है। जो लोग कुछ भी न करके या गायत्री-मन्त्रका जप किये बिना ही साधन करते जाते हैं, उनके शरीरमें नाना प्रकारकी व्याधियाँ उत्पन्न होकर साधनमें विघ्न उपस्थित कर देती हैं। व्याधि होनेपर साधन नहीं किया जा सकता। इसलिये व्याधिनाशके निमित्त गायत्री या प्रणवका जप करना होता है।

'रक्षोघ्नं मृत्युतारकं सुदर्शनं महाचक्रम्'

नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्के पञ्चमाध्यायमें इस प्रकारके यन्त्रका उल्लेख है। देवताओंने प्रजापतिसे कहा कि अनुष्टुप् मन्त्रराजमें हमारे लिये नारसिंह महाचक्रका वर्णन कीजिये। यह सब कामनाओंको सिद्ध करनेमें समर्थ है और योगिजन इसे मोक्षका द्वार कहा करते हैं। प्रजापतिने कहा कि यह सुदर्शनचक्र षडक्षर हुआ करता है। इसके षट् पत्रोंमें षडक्षर रहते हैं। छः ऋतुएँ होती हैं, उन्हींके परिमाणसे इनकी संख्या होती है। इनके मध्यमें नाभि होती है। नाभिमें जिस प्रकार रथके अरे होते हैं, उसी प्रकार इस नाभिमें षट् पत्र होते हैं। बाहर मायाद्वारा वृत्ताकारमें परिवेष्टित होता है। आत्माको माया स्पर्श नहीं कर सकती, इसीलिये माया बाहरका आवरण है। इसके बाहर अष्टाक्षर पद्म रहता है। अष्टाक्षरा गायत्री होती है। गायत्रीके समान ही इसकी संख्या होती है। बाहर मायाका परिवेष्टन होता है। इसके बाहर द्वादशदल पत्रका चक्र होता है। द्वादशाक्षर जगती छन्द होता है, उसकी संख्याके अनुसार पद्मके पत्रोंकी संख्या होती है। बाहर मायाका वेष्टन होता है। इसके आगे षोडशदलविशिष्ट चक्र होता है, पुरुषकी षोडश कलाएँ होती हैं। उनकी संख्याके अनुसार ही इनकी संख्या होती है। मायावृत्तद्वारा बाहरसे वेष्टित होता है। इसके बाहर बत्तीस दलोंका पद्म रहता है। अनुष्टुप्के बत्तीस अक्षर होनेके कारण इसकी संख्याके साथ इस पद्मका मेल हो जाता है। इसके बाहर मायाका वेष्टन है। अराके द्वारा यह यन्त्र सुबद्ध होता है। वेद ही इसके अरा हैं और छन्द ही इसके पत्र।

इस सुदर्शन महाचक्रके मध्यमें नाभिके अंदर ॐकार रखना पड़ता है। षड् दलोंके मध्यमें षडक्षर सुदर्शन रहता है। अष्टाक्षर 'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्र अष्ट

रक्षोघ्नं मृत्युतारकम्
सुदर्शनं महाचक्रम्।
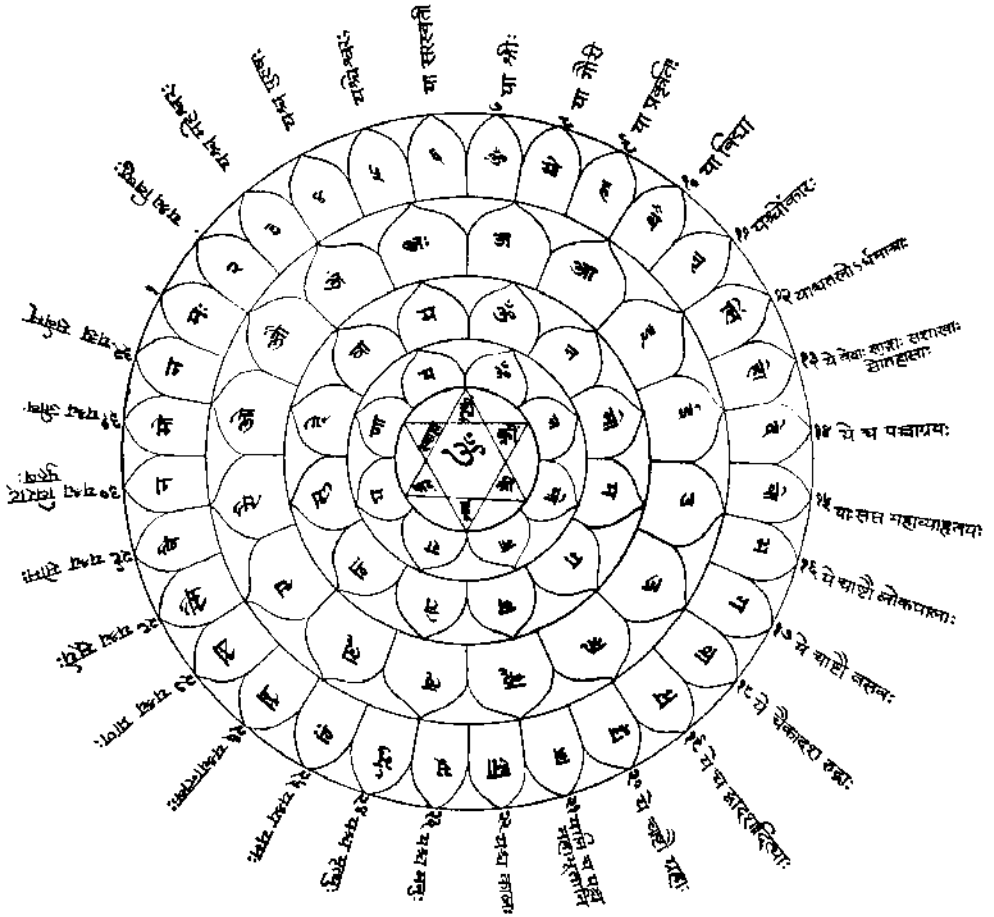
पत्रोंपर लिखना होता है। द्वादश पत्रोंमें द्वादशदल वासुदेव-मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) लिखना होता है। षोडशदलमें मातृकासे प्रारम्भ करके बिन्दुपर्यन्त (अ, आ आदि) षोडशाक्षर लिखने होते हैं। बत्तीस दलोंमें बत्तीस अक्षरका मन्त्रराज नारसिंह अनुष्टुप् लिखना होता है। यह सुदर्शन महाचक्र सर्वकामद, मोक्षद्वार, ऋङ्मय, यजुर्मय, साममय, ब्रह्ममय और अमृतमय होता है। इसके सम्मुख वसुगण वास करते हैं। दक्षिणमें आदित्य, पश्चाद्भागमें विश्वेदेव और उत्तरमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर वास करते हैं। नाभिमें सूर्य और चन्द्रमा वास करते हैं और पार्श्वमें यह ऋक्‌द्वारा आवृत होता है। जिस दिन इस चक्रको धारण करे, उस दिन एक गोदान करना चाहिये।

मोक्षका साधन

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंमें मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है, यह निर्विवाद है। यही कारण है कि मुक्तिके लिये हिन्दू, जैन, बौद्ध, मुसल्मान, ईसाई आदि सभी जाति, एवं धर्म-सम्प्रदाय सदासे साधन करते आ रहे हैं। मन्त्र-तन्त्र-यन्त्रके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती, ये मोक्षकी प्राप्तिके साधनमें सहायतामात्र करते हैं। वैराग्य ही ज्ञानका मुख्य साधन है। वैराग्यकी प्राप्तिके लिये ही वर्णाश्रम-धर्मोंका पालन करना पड़ता है, यह बात पहले दिखलायी गयी है। वर्णाश्रमधर्मोंके पालनके द्वारा मनके कुछ शुद्ध होनेपर अर्थ और काममें वितृष्णा उत्पन्न होती है। धर्मके फलको उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझकर धार्मिक पुरुष धर्मके लिये अर्थ—अर्थ ही क्यों, जीवनका भी त्याग करनेको तैयार हो जाते हैं। धर्मसे अर्थ और कामका सिद्ध होना स्वाभाविक है, परन्तु अर्थसे धर्म होना कठिन है। अर्थका स्वभाव ही यह है कि वह मनुष्यको कृपण बना देता है। अर्थ और काममें आसक्त पुरुष कभी धर्मकी प्राप्ति नहीं कर सकता। इसी कारण भुजा उठाकर व्यासजीने कहा है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

शास्त्रोंमें स्वर्गादिका जो फल बतलाया गया है, उसे सुनकर तथा अनित्य द्रव्योंद्वारा जो प्राप्त होता है, वह नित्य नहीं हो सकता—इस प्रकारके विचारके द्वारा धर्मका फल अन्तवन्त जानकर मुमुक्षु पुरुषकी धर्ममें भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकारके पुरुष योग, ज्ञान या भक्तिमेंसे किसी एक साधनका आश्रय लेकर मोक्षके लिये प्रयास करते हैं। इनके साधनोंका विभिन्न रूपोंमें अनेकों लेखक वर्णन करेंगे और समय-समयपर हम भी 'कल्याण' में वर्णन करते आ रहे हैं। यहाँ सब साधनोंको विस्तारपूर्वक देना असम्भव है। अतएव उक्त ज्ञान, योग और भक्तिमेंसे किसी एक साधनको अपने अनुकूल जानकर साधक प्रयत्न कर सकते हैं। उनमेंसे सब साधकोंको जो साधन अवश्य करने पड़ते हैं, यहाँ मैं उन्हींका वर्णन करूँगा। साम्प्रदायिक भेदभावको छोड़कर सबको ये साधन समानरूपसे करने पड़ते हैं। इनका पालन किये बिना मोक्षकी प्राप्ति असम्भव है।

कामजनित लोभसे क्रोध उत्पन्न होता है और शत्रुके दोषोंको देखकर इसकी वृद्धि होती है। क्षमाके द्वारा क्रोधका उपशम होता है। सङ्कल्पसे काम उत्पन्न होता है, कामके निरन्तर सेवित होनेसे उसकी वृद्धि ही होती है, कभी उसका ह्रास नहीं होता। विचारके द्वारा कामसे विरत होनेपर अर्थात् सङ्कल्प त्याग करनेपर तथा स्वादु भोजनकी स्पृहा त्यागनेपर काम नष्ट होता है। परासूयाको दयाके द्वारा दूर करना पड़ता है। अज्ञानसे मोह उत्पन्न होता है, पापके अभ्यासके द्वारा इसकी वृद्धि होती है, प्राज्ञका सङ्ग करनेसे मोह नष्ट हो जाता है। विरुद्ध शास्त्रोंके देखनेसे संशय उत्पन्न होता है, तत्त्वज्ञान-की प्राप्तिसे संशयकी निवृत्ति होती है। प्रीतिसे शोक उत्पन्न होता है, प्रियवियोगका शोक अत्यन्त कष्टप्रद होता है। अनिष्टकारी समझकर शोकका त्याग करनेसे ही मन स्वस्थ होता है। क्रोध और लोभसे परासूया उत्पन्न होती है, निर्वेद और दयाके अभ्याससे उसका क्षय होता है। अहितका सेवन तथा सत्यका त्याग करनेसे मात्सर्य उत्पन्न होता है। साधुजनों-की सेवा करनेसे मात्सर्य दूर होता है। कुलके ज्ञान तथा ऐश्वर्यसे मद उत्पन्न होता है, इनके स्वरूपका ज्ञान होनेसे वह नष्ट हो जाता है। कामसे ईर्ष्या उत्पन्न होती है और उसमें हर्ष प्रकाशित करनेसे उसकी और भी वृद्धि होती है। प्रज्ञाके द्वारा उसका नाश किया जाता है। द्वेषपूर्ण वचनोंसे कुत्सा उत्पन्न होती है, लोककी गति देखकर वह कुत्सा नष्ट हो जाती है। शत्रुकी समृद्धिका नाश करना असम्भव जानकर तीव्र असूया उत्पन्न होती है, उसके ऊपर करुणा करनेसे वह असूया दूर हो जाती है। दीन-दुखीको देखकर कृपाका प्रादुर्भाव होता है; उसमें जब धर्मनिष्ठा देखी जाती है, तभी कृपाकी शान्ति हो जाती है। सर्वभूतोंके अज्ञानसे ही लोभकी उत्पत्ति देखनेमें आती है। भोगकी अस्थिरताका चिन्तन करनेसे किसी वस्तुके प्रति लोभ नहीं रह जाता।

सात्त्विक भोजन करनेसे मनुष्य निद्राको जय करनेमें समर्थ हो सकता है। उपस्थ और उदरकी रक्षा धैर्यावलम्बनके द्वारा करनी चाहिये। चक्षु और श्रोत्रकी रक्षा मनके द्वारा करनी चाहिये। मन और वाक्यकी रक्षा कर्मके द्वारा करनी चाहिये, अर्थात् मन और वाक्यके द्वारा दुष्ट चिन्तन करनेपर भी कर्मके द्वारा उसका निरोध करना चाहिये। प्रमाद ही भयका कारण है। अप्रमादके द्वारा भयको दूर करना चाहिये। दम्भको साधुकी सेवाके द्वारा दूर करना चाहिये। आलस्य छोड़कर योगके इन समस्त विघ्नोंको दूर करना चाहिये। अग्नि और ब्राह्मणको प्रणाम और उनकी पूजा करनी चाहिये। देवताओंको प्रणाम करना चाहिये। किसीको भी अप्रिय वचन न कहना चाहिये। जिससे हिंसा होती है या किसीके मनमें दुःख होता है, ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये।

ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, ह्री (लज्जा), सरलता, क्षमा, शौच, आचार, चित्तशुद्धि, इन्द्रियजय—इन सबके साधनके द्वारा तेजकी वृद्धि होती और पापोंका नाश होता है। साधकका सारा प्रयोजन इनके द्वारा सिद्ध होता है तथा विज्ञान भी उत्पन्न होता है। वस्तुकी प्राप्ति और अप्राप्तिमें एकरस रहनेसे पाप नष्ट हो जाते हैं। लघु आहारके द्वारा काम-क्रोधको जय करके ब्रह्मपदके लिये प्रयास करना चाहिये। मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करके रात्रिके पूर्वार्द्ध और परार्द्धमें मनको आत्मामें स्थित करना चाहिये। पञ्च इन्द्रियोंमेंसे यदि एक इन्द्रिय भी छिद्रयुक्त हो तो उस इन्द्रियके द्वारा उसकी प्रज्ञा मशकसे जलके समान बाहर निकल जाती है। मत्स्यजीवी जिस प्रकार कुमत्स्यको पहले पकड़कर अन्य मत्स्योंको क्रमशः पकड़ते हैं, उसी प्रकार साधकको मनरूपी दुष्ट मत्स्यका पहले निग्रह करके तब अन्य इन्द्रियोंका निग्रह करना चाहिये।

करणे घटस्य या बुद्धिर्घटोत्पत्तौ न सा मता।
एवं धर्माभ्युपायेषु नान्यद्धर्मेषु कारणम्॥
पूर्वे समुद्रे यः पन्थाः स न गच्छति पश्चिमम्।
एकः पन्था हि मोक्षस्य तन्मे विस्तरतः शृणु॥
क्षमया क्रोधमुच्छिन्द्यात् कामं सङ्कल्पवर्जनात्।
सत्त्वसंसेवनाद्धीरो निद्रां चच्छेत्तुमर्हति॥
अप्रमादाद्भयं रक्षेच्छ्वासं क्षेत्रज्ञशीलनात्।
इच्छां द्वेषं च कामं च धैर्येण विनिवर्तयेत्॥
भ्रमं संमोहमावर्तमभ्यासाद्विनिवर्तयेत्।
निद्रां च प्रतिभां चैव ज्ञानाभ्यासेन तत्त्ववित्॥
उपद्रवांस्तथा रोगान् हितजीर्णमिताशनात्।
लोभं मोहं च सन्तोषाद्विषयांस्तत्त्वदर्शनात्॥
अनुक्रोशादधर्मं च जयेद्धर्ममवेक्षया।
आयत्या च जयेदाशामर्थं सङ्गविवर्जनात्॥
अनित्यत्वेन च स्नेहं क्षुधां योगेन पण्डितः।
कारुण्येनात्मनो मानं तृष्णां च परितोषतः॥
उत्थानेन जयेत्तन्द्रां वितर्कं निश्चयाज्जयेत्।
मौनेन बहुभाष्यञ्च शौर्येण च भयं त्यजेत्॥
यच्छेद्वाङ्मनसी बुद्ध्या तां यच्छेज्ज्ञानचक्षुषा।
ज्ञानमात्मावबोधेन यच्छेदात्मानमात्मना॥
तदेतदुपशान्तेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा।
योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयो विदुः॥
(महा० शान्ति० २७४।३—१३)

अध्यात्मरामायणके अरण्यकाण्डके चतुर्थ सर्गमें जीवात्माका ज्ञान किस प्रकार होता है, इसका वर्णन है। जीवात्मा और परमात्मा पर्यायवाचक शब्द हैं, इनके बीच भेद-बुद्धि नहीं करनी चाहिये। अमानिता, अदम्भ, अहिंसा, क्षमा, सरलता, मन, वाणी और शरीरके द्वारा सद्गुरुकी सेवा, बाह्य और आन्तर शौच, सत्कर्मनिष्ठता, शरीर-मन-वाणीका निग्रह, विषयके प्रति वैराग्य, निरहङ्कारता, समस्त विषयोंमें जन्म-मृत्यु-जरा आदिकी आलोचना, पुत्र-धन-दारा आदिमें आसक्तिका त्याग, स्नेह-शून्यता, इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें समचित्तता, अनन्यरूपसे सब पदार्थोंमें सर्वत्र भगवद्भावका दर्शन, जन-समूहके समागमका त्याग, शुद्ध देशका सेवन, मूर्ख और जन-समूहके प्रति अरति, आत्मज्ञानके लिये सर्वदा उद्योग, वेदान्तशास्त्रका अवलोकन—इन सब साधनोंसे तथा इनके विरोधी साधनोंके त्यागसे जीवात्माका ज्ञान होता है। गीतामें तेरहवें अध्यायके ८वें श्लोकसे लेकर १२ श्लोकतक यही बात कही गयी है।

—०—

साधना-तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीहनूमानजी शर्मा)

विषय गम्भीर और व्यापक है; अति तुच्छ जीवसे लेकर महत्तम देवाधिदेवतक सभी साधनाके साध्य हैं। जिसे जिस साध्यको पानेकी इच्छा हो, उसके लिये उसकी साधना मौजूद है। साधना यदि निष्काम होगी तो उसका फल किसी भविष्य कालमें सर्वोत्कृष्ट (पर अज्ञात) मिलेगा और यदि सकाम होगी तो तत्काल मिल जायगा। साधना कोई भी हो, उसके साथ सावधानी अवश्य रखनी होगी; अन्यथा साध्य रूठ जायगा और साधना बिगड़ जायगी।

(२) यदि आपको ब्रह्मकी साधना करनी हो तो नित्यानित्य-विवेकके द्वारा फलभोगका त्याग कर शम-दमादिकी विपुल सम्पत्तिका संग्रह करना होगा और चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते मनको ब्रह्ममें ही लगाना होगा। 'ब्रह्म' का स्वरूप क्या है, यह जाननेके लिये चराचर सृष्टिके प्रत्येक प्राणी-पदार्थको ब्रह्मका प्रतिरूप मानकर सर्वत्र उन्हींका अनुसन्धान करना होगा।

(३) यदि आपको भैरव, भवानी, हनुमानजी या अन्य किसी भी देवी-देव, भूत-प्रेत, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व अथवा डाकिनी-शाकिनी आदिकी साधना करनी हो तो सर्वप्रथम सद्गुरुके समीप रहकर इनके मन्त्र, साधना, गुण और स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कीजिये और इनका अभ्यास हो जानेपर साधनामें मन लगाइये। उक्त देवोंमें कोई सत्त्वगुणी, कोई रजोगुणी और कोई तमोगुणी हैं। इसलिये सत्त्वगुणी और रजोगुणी देवोंके साधन-मन्त्र वेदों और मन्त्रशास्त्रोंसे और तमोगुणीके माली, तेली, धोबी और चमार आदिसे प्राप्त कीजिये। इसी प्रकार सत्त्वगुणी तथा रजोगुणी देवोंके स्वरूप ऋषिप्रणीत स्तोत्रोंमें आये हुए ध्यानोंसे और तमोगुणीके प्रकृतिकी तात्कालिक विकृतिसे लीजिये। इन सब बातोंको जानकर साधना कीजिये। यह ध्यान रखिये कि साधनाके समय सत्त्वगुणी देवोंके समीपमें, रजोगुणी देवोंके सामने और तामसीके पृष्ठभागमें बैठकर उनके प्रत्यक्ष दीखते हुए या ध्यानादिसे जाने हुए स्वरूपको हृदयमें रखकर यथाविधि जप कीजिये और विनयी बने रहिये। इस प्रकार करते रहनेसे अगर आपकी साधना अनुकूल हुई तो उसकी अवधि समाप्त होनेके पहले सात्त्विकी देवता उस काममें आपकी अरुचि पैदा करेंगे, रजोगुणी उसमें देर लगावेंगे और तमोगुणी बाधा डालेंगे। ऐसी अवस्थामें आप धैर्य, दृढ़ता और संलग्नतामें मजबूत रहेंगे तो आपकी साधना सफल हो जायगी और कदाचित् कुछ गड़बड़ होगी तो बना-बनाया काम बिगड़ जायगा। उचित तो यह है कि साधनासम्पन्न होनेतक सब तरहसे सावधान रहें और साध्य देवको साक्षात् ब्रह्म मानकर उसमें मन लगावें। अगर आराध्य देवको प्रत्यक्ष करना हो तो श्रद्धा, अभ्यास, साधना और लग्नताकी विशेष वृद्धि करें। उससे ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि या तो स्वप्नमें दर्शन देंगे या किसी अदृष्टपूर्व विलक्षण दृश्यके रूपमें कुछ कहेंगे। सूर्य, शक्ति या हनूमान्‌जी आदि गो, द्विज, वटुक या महाकाय मर्कटके रूपमें दर्शन देंगे। भैरव-भवानी या भोमियाँ आदि सिंह, श्वान या सर्पादिके द्वारा मिलेंगे। यक्ष-राक्षस या गन्धर्वादि पशु-पक्षी या नारीके रूपमें नजर आवेंगे। भूत-प्रेत और पिशाचादि भेड़, ऊँट या भैंसे आदि बनकर दीखेंगे। यक्षिणी नवयुवती-जैसी मालूम होगी और डाकिनी अपने ही विकृत वेषमें आवेगी। इनमें जिनको भी आप प्रत्यक्ष करना चाहेंगे वही आपको उक्त प्रकारसे दर्शन देंगे। किन्तु ऐसे अनुष्ठानोंमें अनेक आपत्तियाँ आती हैं। कई एक देवता प्रत्यक्ष होनेके पहले कुछ ऐसे दृश्य उपस्थित कर देते हैं जिनको देखकर सामान्य साधक सहम जाते या बेसुध हो जाते हैं और अन्तमें उनका बिगाड़ हो जाता है। अतः ऐसी भावनाके बदले शान्त-अशान्त सभीको ब्रह्मके रूपमें परिणत करके सात्त्विकी साधना करें तो अच्छा है।

(४) यदि आप मन्त्र-तन्त्र या कृत्या साधना चाहें तो इस विषयके शास्त्रोंका अध्ययन या अवलोकन कीजिये। रहस्यज्ञानके विना यों ही किसी सत्पात्रको सत्ताहीन करनेके लिये 'ह्रां,ह्रीं,हुं,फट्' से मन्त्रशास्त्रोंकी समाप्ति और दूसरोंके सुत-दारा और सम्पत्तिको मिटानेके लिये सेहका सूला, कुमारीका सूत, चाकका डोरा और पड़ोसीकी झाड़ू आदिसे तन्त्रशास्त्रोंकी इतिश्री करना अच्छा नहीं; इनका अनर्थकारी अधम फल तत्काल नहीं तो अन्तकालतक अवश्य मिलता है। अतएव इनकी अपेक्षा—

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय', 'ॐ नमः शिवाय', 'ॐ

नमो वक्रतुण्डाय', 'ॐ नमः सूर्याय', 'ॐ नमः शक्त्यै' 'ॐ नमो हनुमते' और 'ॐ नमः परमात्मने'

--आदिके अखण्ड प्रयोगोंसे मंत्रोंका और गन्ध-पुष्पादिसे शोभित, घृतपूर्ण बत्तियोंसे प्रज्वलित और अनुष्ठानियोंके द्वारा पूजित प्रकाशमान दीपकको चौराहेमें रखकर दध्योदनादिकी बलि देनेके द्वारा तन्त्रोंका और जनपदनाशादि उत्पातोंके उपशमनार्थ अखण्ड रामध्वनि, अहोरात्र होमाहुति, शतसहस्रायुत चण्डीप्रयोग और प्रतिदिनके प्रीतिभोज आदिकी कृत्याओंका प्रचार करना अच्छा है। ऐसे मन्त्र-तन्त्र और कृत्याके अमिट और अमित फलसे अड़ोसी-पड़ोसी और आप सकुटुम्ब सुखी रहेंगे और आपका यश फैलेगा।

(५) यदि आपको किसी 'मनुष्य' की साधना करनी हो तो साध्य चाहे मा-बाप, भाई-बहिन, स्त्री-पुत्र, गुरु-पण्डित, अमीर-गरीब, धनी या निर्धन कोई हो, आप उनमें ब्रह्मका अंश मानकर उसी भाँति साधना कीजिये जिस भाँति आराध्य देवकी करते हैं। सबसे पहले आप उनके खान-पान, व्यवहार और स्वभावको जान लीजिये और फिर उनके मन या मिजाजके माफिक साधिये। वे जो भी चाहें, कहें, करावें उसको तुरंत कीजिये और सब कामोंमें तत्परता दिखाते हुए मीठे बर्तावसे उनको वशवर्ती बना लीजिये। उनके कहे मुताबिक करनेमें कभी देर, संकोच या न्यूनता न होने दीजिये। साधनाके समय अगर आपको धूप, वर्षा या सर्दी आदि सतावें तो उनको भी सह लीजिये। इस भाँति करनेमें यदि आपकी साधना सकाम होगी तो साध्य आपको अपना शरीरतक देनेमें भी संकोच नहीं करेंगे और निष्काम होगी तो सर्वस्वसे बढ़कर शुभाशिष् मिलेगी, जिसका फल परमात्मा देंगे और वह अमिट रहेगा।

(६) यदि आप हाथी, घोड़े, गाय, बैल या भैंस आदिकी साधना करना चाहें तो इनमें भी उसी ब्रह्मका अंश मानकर सानुराग साधना कीजिये और ठीक समयपर चारा-दाना-पानी, सफाई और सँभाल आदिके सिवा प्यार-दुलार भी करते रहिये। इस भाँति करनेमें आपकी साधना सकाम होगी तो उनसे आप हर तरहका काम लेंगे, हर तरहका लाभ उठावेंगे और दूध, दही, घी, छाछ या मलाई आदि पौष्टिक पदार्थ आपको मिलते रहेंगे—जिनसे स्वास्थ्य और आयुकी वृद्धि होगी। और यदि साधना निष्काम होगी तो मरणानन्तर उनके हाड़, दाँत, चमड़ेका और उनकी सन्ततिका पूरा लाभ (आपको नहीं, पर आपके पुत्रादिकों या पड़ोसियोंको) अवश्य मिलेगा।

(७) यदि आप तोता, मैना या मुर्गे आदि पक्षियोंकी साधना करना चाहें तो वे भी उसी बापके बेटे हैं, उनको भी उसी भाँति साधिये और मैना आदिको 'हरे राम' रटाकर मुक्तिमार्गमें लगा दीजिये। साथ ही मुर्गे आदिसे विषमिश्रित भोजनादिकी परीक्षा करवाकर अपाहिज बुभुक्षितोंकी प्राण-रक्षा कीजिये। यदि यह साधना सकाम हो तो उक्त पक्षियों-को बेचकर पैसे पैदा कीजिये और निष्काम हो तो उनको खुले मैदानमें यथायोग्य दाना-पानी देकर पक्षीमात्रका पालन कीजिये। इस प्रयोगसे आपको ज्ञात होगा कि मनुष्यों-की अपेक्षा पशु-पक्षियोंके आहार-विहार, बर्ताव-व्यवहार कितने उत्कृष्ट होते हैं।

(८) यदि आप वृक्ष, वाटिका, वनस्पति या अन्नादि-की साधना करना चाहें तो बड़ी खुशीकी बात है। खूब मन लगाकर कीजिये। उनमें भी उसी ब्रह्मका अंश है जिसका ब्रह्मा, विष्णु, महेशमें है। इनकी साधना यदि सकाम करोगे तो 'वृक्षों' से फल-फूल, छाया और काष्ठसंग्रह होगा। 'वाटिका' से पुष्प-सुगन्ध और स्वास्थ्यप्रद शुद्ध वायु मिलेगा, 'वनस्पति' से औषधनिर्माणके साधन और 'अन्न' से भरण-पोषण और उदरदरीका पूरण आदि अनेक लाभ होंगे। और यदि निष्काम होगी तो इनसे आपको होनेवाले सभी सुख-लाभ या स्वास्थ्य-साधन दूसरोंको मिलेंगे, जिसमें आपका यश, पुण्य और नाम पीढ़ियोंतक मौजूद रहेगा।

(९) यदि आपको इन साधनाओंमें यह सन्देह हो कि संसारके अगणित प्राणी, पदार्थ या देवादि सभीमें अकेले ब्रह्मका अंश कैसे आ सकता है तो इसकी निवृत्तिके लिये आप मुँह देखनेके शीशेको फोड़कर अगणित टुकड़े कर दीजिये। वे गोल, चौकोर, चिपटे, षट्कोण, छोटे-बड़े, बारीक—कैसे भी हों, सबको दुपहरीकी धूपमें रख दीजिये। उनके समीप ही अनेक प्रकारके पात्रोंमें घी, दूध, दही, छाछ, जल, तेल आदि पदार्थ भर दीजिये और वहीं हर तरहके प्रकाशमान वस्त्र, शस्त्र, आभूषण और बर्तन रखवा दीजिये और फिर उन सबको अलग-अलग या एक साथ देखिये। उन सबमें ब्रह्मके प्रत्यक्ष स्वरूप तेजःपुञ्ज जगदाधार और सहस्रों किरणवाले सूर्यका जो प्रतिबिम्ब आकाशमें दीखता है वही यथावत् (ज्यों-का-त्यों) दीखेगा और साक्षात् सूर्यकी भाँति उन सब

वस्तुओंमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बसे भी आँखोंमें चकाचौंध आयेगी। इससे आप जान सकेंगे कि सूर्यकी भाँति ही ब्रह्मका अंश भी सबमें प्रविष्ट रहता है और उसी तरह सब काम यथावत् करता है।

(१०) साधनाके अनेक प्रकार हैं। उनमें प्रतिदिनकी सेवाके सिवा (१) एक सौ आठ तुलसी-मंजरियोंसे विष्णुकी, (२) अर्कपुष्प, बिल्वपत्र, पार्थिवपूजन और रुद्राभिषेकसे शिवकी, (३) प्रति परिक्रमामें मोदक अर्पण करनेसे गणेशकी, (४) रक्तचन्दन और लाल कनीरके पुष्पोंसे युक्त १०८ अर्घ्यदान, नमस्कार और परिक्रमणसे सूर्यकी, (५) अनेक प्रकारके पुष्पोंकी सौ पुष्पाञ्जलियोंसे 'शक्ति'की, (६) रामायणके पाठके साथ तिलोंके तेलके अविच्छिन्न अभिषेकसे हनुमान्‌जीकी, (७) नाम-जपके साथ चम्पक-पुष्प अर्पण करनेसे सीताकी, (८) दूर्वाङ्कुरोंके अभिषेकसे गौरीकी, (९) तैलधारासे भैरवकी, (१०) मूँग-भातसे 'भोमियाँ' की, (११) जलार्पणसे पीपलकी, (१२) सूत्रार्पणसे 'वट' की, (१३) गुड़मिश्रित गोधूमचूर्णादिसे गौकी, (१४) सूखे अन्नराशिसे कपोतमण्डलकी, (१५) आश्रयदानादिसे अपाहिजोंकी और (१६) मनस्तुष्टिके प्रीत्युपहारोंसे परिवारकी साधना विशेष रूपसे सम्पन्न हो सकती है। उपासनाके ग्रन्थोंमें इनके विधि-विधान विस्तारपूर्वक लिखे हैं। उनको देखकर यथोचित कार्य करें।

वैदिक कर्म और ब्रह्मज्ञान

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चटर्जी, एम०, ए०)

पाश्चात्त्य विद्वानोंकी यह कल्पना है कि वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषद ब्रह्मज्ञानमें परस्परविरोध है। डा० विंटरनिज लिखते हैं कि 'जब ब्राह्मणलोग यज्ञ-यागादिके निरर्थक शास्त्रमें प्रवृत्त थे, तब अन्य लोग उन महान् प्रश्नोंके विचारमें लगे थे जिनका पीछे उपनिषदोंमें इतनी उत्तमताके साथ विवेचन हुआ है।' (हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर पृ० २३१) मि० मैकडानेल कहते हैं कि 'उपनिषद् यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थोंके ही भाग हैं, क्योंकि हैं वे उन्हींके ज्ञानकाण्डके विस्तारस्वरूप, तथापि उनके द्वारा एक नये ही धर्मका प्रतिपादन हुआ है, जो वैदिक कर्मकाण्ड या व्यवहारके सर्वथा विरुद्ध है।' (हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ० २१८) इन विद्वान् प्रोफेसरको यह नहीं सूझा कि एक ही ग्रन्थके दो भाग एक-दूसरेके विरुद्ध कैसे हो सकते हैं। जो लोग भारतीय संस्कृतिकी परम्परामें नहीं जन्मे, नहीं फले-फूले, उन विदेशियोंको तो इस गलतीके लिये क्षमा किया जा सकता है। उनका जन्मजात संस्कार ही वैदिक कर्मकाण्डके विरुद्ध है। उनकी तो यह समझ है कि ये वैदिक कर्म अन्धविश्वासकी उपज हैं, आत्मज्ञानसे इनका कोई सरोकार नहीं। परन्तु हम उन अग्रगण्य आधुनिक भारतीय विद्वानोंको क्या कहें जो वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषद ब्रह्मज्ञानके इस पाश्चात्त्य विद्वानोंद्वारा कल्पित परस्परविरोधका ही अनुवाद किया करते हैं! क्या उन्हें भी यह नहीं सूझता कि श्रीमत् शङ्कराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य-जैसे महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियोंमें इतनी समझ तो अवश्य रही होगी कि यदि वेदोंके कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें परस्परविरोध है तो दोनों ही काण्ड सत्य नहीं माने जा सकते? यह बात स्मरण रहे कि श्रीशङ्कराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य तथा भारतके सभी प्राचीन आचार्योंने यह माना है कि वेद, जिनमें उपनिषद् भी आ जाते हैं, अपौरुषेय हैं अर्थात् सर्वथा सत्य हैं।

इस कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डके परस्परविरोधकी कल्पना जिस आधारपर की जाती है, उसका यदि हम परीक्षण करें तो हमें यह देखकर आश्चर्य होगा कि इतने बड़े-बड़े विद्वान् मूलमें ही इतनी बड़ी गलती कैसे कर गये। वैदिक कर्मकाण्डकी यह फलश्रुति है कि इन कर्मोंके आचरणसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। उपनिषदोंने कहीं भी इसका खण्डन नहीं किया है। इसके विपरीत उपनिषदोंके अनेक वाक्य इसके समर्थक हैं। इसके दो अवतरण नीचे देते हैं—

'तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते।' (प्रश्नोपनिषद् १।९)

'जो लोग यज्ञ करना, वापी-कूप-तड़ागादि खुदवाना और बगीचा लगवाना आदि इष्टापूर्तरूप कर्ममार्गका ही अवलम्बन करते हैं, वे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं।' (चन्द्रलोक स्वर्गका ही एक भेद है)।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।

तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥
(मुण्डक० १।२।५)

'इन दीप्तिमान् जिह्वाओंमें जो यथाकाल आहुति देता हुआ अग्निहोत्र करता है, उसे वे आहुतियाँ सूर्यकी रश्मियों-के साथ मिलकर वहाँ ले जाती हैं, जहाँ देवताओंका एक पति सबसे ऊपर विराजता है।'

मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट ही बतलाता है कि वैदिक कर्मकाण्ड सत्य अर्थात् अव्यर्थ फलप्रद है। यथा—

'तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्'
(मुण्डक० १।२।१)

'ऋषियोंने मन्त्रोंमें जिन कर्मविधियोंको देखा, वे सत्य हैं।' प्रथमतः मन्त्र प्रकट हुए, तब उन मन्त्रोंके साथ वैदिक कर्म करनेकी विधियाँ ब्राह्मणग्रन्थोंमें समाविष्ट की गयीं। ये ब्राह्मणग्रन्थ वेदोंके ही अंग हैं और अपौरुषेय वेदमन्त्रोंसे ही निकले हैं। इस प्रकार वेद मन्त्र-ब्राह्मणात्मक हैं, जैसा कि 'यज्ञपरिभाषासूत्र' में महर्षि आपस्तम्ब कहते हैं—

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।'
'वेद नाम मन्त्रों और ब्राह्मणोंका है।'

वैदिक कर्म और औपनिषद ज्ञानके बीच परस्परविरोध केवल आधुनिक पण्डितोंकी कल्पना है, यह बात इससे भी स्पष्ट हो जायगी कि उपनिषदोंने कितने ही स्थानोंमें वेदोंके मन्त्रभागसे प्रमाण उद्धृत किये हैं—यह कहकर कि 'तदेतद् ऋचाभ्युक्तम्' अथवा 'तदेष श्लोकः' इत्यादि (अर्थात् ऋक्में ऐसा कहा है, अथवा वेदमन्त्र ऐसा है)।

ब्रह्मकी महिमाका वर्णन करते हुए एक जगह मुण्डकोप-निषद्में यह मन्त्र आता है—

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः
सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥
(२।१।६)

'उन परब्रह्मसे ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, दीक्षा, यज्ञ, क्रतु, दक्षिणा, संवत्सर, यजमान और विविध लोक, जिनमें चन्द्र और सूर्य चलते हैं, प्रकट हुए हैं।'

कठोपनिषद्में यह देखा जाता है कि नचिकेताको ब्रह्मज्ञान देनेके पूर्व उन वैदिक यज्ञोंको करनेकी दीक्षा दी गयी, जिनसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट है कि उपनिषद् वैदिक यज्ञोंद्वारा स्वर्गकी प्राप्तिका होना घोषित करते हैं। परन्तु इस विषयमें यह भी तो कहा जा सकता है कि यज्ञोंसे स्वर्ग-लाभ भले ही होता हो, पर उपनिषदोंका लक्ष्य तो स्वर्ग नहीं प्रत्युत मोक्ष है और इसलिये उपनिषद् ऐसा कैसे कह सकते हैं कि कोई अपना समय और शक्ति वैदिक यज्ञ-यागादिमें व्यर्थ ही व्यय किया करे। परन्तु यह कुतर्क ही है। उपनिषद् तो स्पष्ट ही विधान करते हैं कि यज्ञ करो। स्नातकके समावर्त्तन-संस्कारमें आचार्य शिष्यको स्पष्ट ही आदेश देते हैं कि —

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। (तै०उ०१।११।२)

'देवों और पितरोंके लिये यज्ञ करनेमें कभी प्रमाद न करना।' मुण्डकोपनिषद्के उपसंहारमें यह कहा है कि—

तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत
शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥
(मुण्डक०३।२।१०)

'यह ब्रह्मविद्या उन्हींसे कहे, जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत (एक वैदिक यज्ञ) सम्पन्न किया हो।' कठोपनिषद्की कथामें वैदिक यज्ञोंकी विद्या पहले बताकर तब ब्रह्मविद्याको बतलाना इसी बातको ही तो सूचित करता है कि ब्रह्मविद्याका अधिकार वैदिक कर्मका विधिपूर्वक पालन करनेसे ही प्राप्त होता है।

फिर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वैदिक कर्म स्वर्गके ही देनेवाले हैं तो जो मनुष्य स्वर्ग न चाहता हो, मोक्ष ही चाहता हो, उसके लिये वैदिक कर्मकी आवश्यकता ही क्या हो सकती है? इसका उत्तर बृहदारण्यकोपनिषद्के इस वचनसे मिलता है—

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।' (४।४।२२)

'ब्राह्मणलोग वेदाध्ययनसे तथा कामनारहित यज्ञ, दान और तपसे उस (ब्रह्म) को जाननेकी इच्छा करते हैं।' इस वचनमें अनाशकेन (कामनारहितेन) पद विशेष अर्थपूर्ण है। इसका यही अर्थ है कि वेदोक्त

यज्ञादि कर्म जब आसक्तिसहित किये जाते हैं, तब उनसे स्वर्गलाभ होता है और जब आसक्तिरहित किये जाते हैं, तब काम-क्रोधादिकोंसे मुक्त होकर कर्ताका चित्त शुद्ध हो जाता है। यही बात गीताने इन श्लोकोंमें कही है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
(१८।५-६)

'यज्ञ, दान, तप आदि कर्म त्याज्य नहीं हैं, अवश्य करणीय हैं; क्योंकि वे मनीषियोंको पावन करते हैं। इन कर्मोंको भी आसक्ति और फलेच्छाको छोड़कर करना चाहिये, यही मेरा निश्चित उत्तम मत है।' उपनिषद्के 'अनाशकेन' पदको ही गीताके 'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च' शब्दोंने विशद किया है।

अब उपनिषद्के उस मन्त्रका भी विचार कर लीजिये, जिससे आधुनिकोंको वैदिक कर्म और औपनिषद ज्ञानमें परस्परविरोध देख पड़ता और यह कहनेका मौका मिलता है कि उपनिषदोंने तो वैदिक कर्मकाण्डका खण्डन किया है। मन्त्रार्थका ठीक तरहसे विचार करनेपर अवश्य ही यह प्रतीत होगा कि खण्डन वैदिक कर्मकाण्डका नहीं, बल्कि उसके फलस्वरूप स्वर्गभोगकी इच्छाका खण्डन है। मन्त्र इस प्रकार है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥
(मुण्डक० १।२।७)

अर्थात् 'जिनपर ज्ञानवर्जित कर्म अवलम्बित है—ऐसी ये अठारह यज्ञसाधनरूप नौकाएँ अदृढ हैं। इन्हें जो श्रेय जानकर इनका अभिनन्दन करते हैं, वे मूढ हैं। वे फिरसे जरा और मृत्युको प्राप्त होते हैं।' यहाँ यज्ञोंको 'अदृढ नौकाएँ' कहा है; क्योंकि ये नौकाएँ मृत्युसागर पार नहीं करातीं, ब्रह्मविद्या ही मृत्युसागरके पार पहुँचाती है। इसका यह मतलब तो नहीं हुआ कि इन यज्ञोंका कोई प्रयोजन ही नहीं है। इसके पूर्वके दो मन्त्रोंमें यह बात कही जा चुकी है कि जो लोग यज्ञ करते हैं, वे मृत्युके पश्चात् स्वर्गको जाते हैं। इस मन्त्रसे यह भी न समझना चाहिये कि इसका अभिप्राय यज्ञोंके खण्डनमें है; कारण, अन्य मन्त्रोंमें, जो पहले उद्धृत किये जा चुके हैं, यज्ञोंका आग्रहपूर्वक विधान किया गया है। यहाँ 'अदृढाः' पदसे इतना ही सूचित किया गया कि यही अन्तिम और सबसे बड़ी चीज नहीं है।

आधुनिकोंके चित्तमें यह शङ्का उठ सकती है कि वैदिक यज्ञोंके करनेसे मनकी शुद्धि कैसे हो सकती है। इसका समाधान यह है कि मनकी जो विविध कामनाएँ हैं जो आत्मवश्यताके न होनेसे ही उत्पन्न होती हैं, मनकी मलिनता या अशुद्धि हैं। वैदिक कर्मकाण्ड आत्मसंयमकी शक्तिको ही बढ़ाता है। केवल बाह्य विधिका ही सम्पादन यथेष्ट नहीं होता। आत्मशुद्धि और ज्ञानप्राप्तिकी सच्ची अभिलाषा भी होनी चाहिये। जहाँ ऐसी इच्छा होती है, वहाँ बाह्य विधिसे बड़ी सहायता मिलती है। मनुष्य शरीर भी है और शरीरी जीव भी। वह जबतक अपने शरीरको योग्य नहीं बना लेता, तबतक वह आध्यात्मिक उत्कर्षका अधिकारी नहीं होता। एक दूसरे ढंगसे भी इस प्रश्नपर विचार किया जा सकता है। हमारा चित्त अनेक प्रकारके कुकर्मोंसे मलिन हो गया है। इन सब मलोंको हटानेके लिये सत्कर्मोंका किया जाना आवश्यक है। सत्कर्म कराना ही वैदिक कर्मकाण्डका उद्देश्य है। ईशोपनिषद्का यह वचन है कि मोक्षके लिये अविद्या और विद्या दोनों आवश्यक हैं। विद्याके विना केवल अविद्यासे काम नहीं चलता; अविद्याके विना केवल विद्या उससे भी खराब है। श्रीमद्रामानुजाचार्यने विद्यासे अर्थ ग्रहण किया है ज्ञानका और अविद्यासे शास्त्रोक्त कर्मका—एक साधनाका तात्त्विक अङ्ग है और दूसरा व्यावहारिक। शास्त्रोक्त कर्मोंके करनेसे चित्त शुद्ध होता है और तब ब्रह्मविद्या, श्रवण करनेसे, फलवती होती है। अशुद्धचेताको उस श्रवणसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें साधनरूपसे वैदिक कर्मोंकी फलवत्ता भगवान् वेदव्यासने ब्रह्मसूत्रोंमें प्रतिष्ठित की है—

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्। (३।४।२६)

अर्थात् परम ज्ञानके लिये वेदोक्त कर्मोंका आचरण वैसे ही आवश्यक है, जैसे एक स्थानसे दूसरे स्थानको जानेके लिये घोड़ेकी सवारी आवश्यक होती है। घोड़ेके साथ जीन और लगाम आदिकी भी जरूरत होती है। इसी प्रकार परम ज्ञानकी प्राप्तिमें केवल वेदानुवचनसे ही काम नहीं चलता, बल्कि वेदोक्त कर्म करनेकी भी आवश्यकता पड़ती है। (श्रीरामानुजाचार्यकृत 'श्रीभाष्य')

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि । (३ । ४ । ३२)

सहकारित्वेन च । (३ । ४ । ३३)

—इन सूत्रोंमें यह स्पष्ट कहा गया है कि आश्रमधर्मोंका पालन भी ब्रह्मविद्यामें साधक होता है और आहारादिके विषयमें भी शास्त्रविधिसे युक्त आचरण सहकारी होता है। काम-क्रोधादि विकार ईश्वरध्यानमें बाधक होते हैं। वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म काम-क्रोधादिको जीतनेकी सामर्थ्य देता है। यह सच है कि वर्णाश्रमधर्मके आचरणके बिना जप, तप, उपवास और दानसे भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। छान्दोग्योपनिषद्के रैक्व, बृहदारण्यककी वाचक्नवी, महाभारतके भीष्म किसी आश्रममें नहीं थे अर्थात् उन्होंने वर्णाश्रमधर्मसे विहित कर्मोंका विधियुक्त आचरण नहीं किया, तथापि वे ब्रह्मविद्या-लाभ कर ब्रह्मज्ञानी हुए। मनुसंहिताका यह वचन है—

जप्येनापि च संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥
(२ । ८७)

सारांश यह कि 'जपसे भी ब्राह्मणको संसिद्धि प्राप्त होती है, चाहे वह कोई अन्य कर्म करे या न करे।' वेदव्यासने इस वचनका 'अपि च स्मर्यते' (३ । ४ । ३७) इस सूत्रमें प्रामाण्य दरसाया है। तथापि जप-तप-दानादिकी अपेक्षा वर्णाश्रमधर्म ही ब्रह्मप्राप्तिमें अधिक फलप्रद है—

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च । (ब्रह्मसूत्र ३ । ४ । ३९)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परम ज्ञानकी प्राप्तिके साधनमें बाह्य आचरणके नियमनकी भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि आन्तर अभ्यासकी।

न्यासका प्रयोग और उसकी महिमा

न्यासका अर्थ है स्थापन। बाहर और भीतरके प्रत्येक अङ्गमें इष्टदेवता और मन्त्रका स्थापन ही न्यास है। इस स्थूलशरीरमें अपवित्रताका ही साम्राज्य है, इसलिये इसे देवपूजाका तबतक अधिकार नहीं जबतक यह शुद्ध एवं दिव्य न हो जाय। जबतक इसकी अपवित्रता बनी रहती है, तबतक इसके स्पर्श और स्मरणसे चित्तमें ग्लानिका उदय होता रहता है। ग्लानियुक्त चित्त प्रसाद और भावोद्रेकसे शून्य होता है, विक्षेप और अवसादसे आक्रान्त होनेके कारण बार-बार प्रमाद और तन्द्रासे अभिभूत हुआ करता है। यही कारण है कि न तो वह एकतार स्मरण ही कर सकता है और न विधि-विधानके साथ किसी कर्मका साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान ही। इस दोषको मिटानेके लिये न्यास सर्वश्रेष्ठ उपाय है। शरीरके प्रत्येक अवयवमें जो क्रियाशक्ति सुषुप्त हो रही है, हृदयके अन्तरालमें जो भावनाशक्ति मूर्च्छित है, उनको जगानेके लिये न्यास अव्यर्थ महौषधि है।

न्यास कई प्रकारके होते हैं। मातृकान्यास, स्वर और वर्णोंका होता है। मन्त्रन्यास पूरे मन्त्रका, मन्त्रके पदोंका, मन्त्रके एक-एक अक्षरका और एक साथ ही सब प्रकारका होता है। देवतान्यास शरीरके बाह्य और आभ्यन्तर अङ्गोंमें अपने इष्टदेव अथवा अन्य देवताओंके यथास्थान न्यासको कहते हैं। तत्त्वन्यास वह है, जिसमें संसारके कार्य-कारणके रूपमें परिणत और इनसे परे रहनेवाले तत्त्वोंका शरीरमें यथास्थान न्यास किया जाता है। यही पीठन्यास भी है। जो हाथोंकी सब अङ्गुलियोंमें तथा करतल और करपृष्ठमें किया जाता है, वह करन्यास है। जो त्रिनेत्र देवताओंके प्रसङ्गमें षडङ्ग और अन्य देवताओंके प्रसङ्गमें पञ्चाङ्ग होता है, उसे अङ्गन्यास कहते हैं। जो किसी भी अङ्गका स्पर्श किये बिना सर्वाङ्गमें मन्त्रन्यास किया जाता है, वह व्यापकन्यास कहलाता है। ऋष्यादिन्यासके छः अङ्ग होते हैं—सिरमें ऋषि, मुखमें छन्द, हृदयमें देवता, गुह्यस्थानमें बीज, पैरोंमें शक्ति और सर्वाङ्गमें कीलक। और भी बहुत-से न्यास हैं, जिनका वर्णन प्रसङ्गानुसार किया जा सकता है।

न्यास चार प्रकारसे किये जाते हैं। मनसे उन-उन स्थानोंमें देवता, मन्त्रवर्ण, तत्त्व आदिकी स्थितिकी भावना की जाती है। अन्तर्न्यास केवल मनसे ही होता है। बहिर्न्यास केवल मनसे भी होता है और उन-उन स्थानोंके स्पर्शसे भी। स्पर्श दो प्रकारसे किया जाता है, किसी पुष्पसे अथवा अङ्गुलियोंसे। अङ्गुलियोंका प्रयोग दो प्रकारसे होता है। एक तो अङ्गुष्ठ और अनामिकाको मिलाकर सब अङ्गोंका स्पर्श किया जाता है और दूसरा भिन्न-भिन्न अङ्गोंके स्पर्शके

लिये भिन्न-भिन्न अङ्गुलियोंका प्रयोग किया जाता है। विभिन्न अङ्गुलियोंके द्वारा न्यास करनेका क्रम इस प्रकार है—मध्यमा, अनामिका और तर्जनीसे हृदय, मध्यमा और तर्जनीसे सिर, अङ्गूठेसे शिखा, दसों अङ्गुलियोंसे कवच, तर्जनी, मध्यमा और अनामिकासे नेत्र, तर्जनी और मध्यमासे करतल-करपृष्ठमें न्यास करना चाहिये। यदि देवता त्रिनेत्र हो तो तर्जनी, मध्यमा और अनामिकासे, द्विनेत्र हो तो मध्यमा और तर्जनीसे नेत्रमें न्यास करना चाहिये। पञ्चाङ्गन्यास नेत्रको छोड़कर होता है। वैष्णवोंके लिये इसका क्रम भिन्न प्रकारका है। ऐसा कहा गया है कि अङ्गूठेको छोड़कर सीधी अङ्गुलियोंसे हृदय और मस्तकमें न्यास करना चाहिये। अङ्गूठेको अंदर करके मुट्ठी बाँधकर शिखाका स्पर्श करना चाहिये। सब अङ्गुलियोंसे कवच, तर्जनी और मध्यमासे नेत्र, नाराचमुद्रासे दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर अङ्गूठे और तर्जनीके द्वारा मस्तकके चारों ओर करतलध्वनि करनी चाहिये। कहीं-कहीं अङ्गन्यासका मन्त्र नहीं मिलता, ऐसे स्थानमें देवताके नामके पहले अक्षरसे अङ्गन्यास करना चाहिये।

शास्त्रमें यह बात बहुत ज़ोर देकर कही गयी है कि केवल न्यासके द्वारा ही देवत्वकी प्राप्ति और मन्त्रसिद्धि हो जाती है। हमारे भीतर-बाहर अङ्ग-प्रत्यङ्गमें देवताओंका निवास है, *हमारा अन्तस्तल और बाह्य शरीर दिव्य हो गया* है—इस भावनासे ही अदम्य उत्साह, अद्भुत स्फूर्ति और नवीन चेतनाका जागरण अनुभव होने लगता है। जब न्यास सिद्ध हो जाता है, तब तो भगवान्‌से एकत्व स्वयंसिद्ध ही है। न्यासका कवच पहन लेनेपर कोई भी आध्यात्मिक अथवा आधिदैविक विघ्न पास नहीं आ सकते; जब कि बिना न्यासके जप, ध्यान आदि करनेपर अनेकों प्रकारके विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं। प्रत्येक मन्त्रके, प्रत्येक पदके और प्रत्येक अक्षरके अलग-अलग ऋषि, देवता, छन्द, बीज, शक्ति और कीलक होते हैं। मन्त्रसिद्धिके लिये इनके ज्ञान, प्रसाद और सहायताकी अपेक्षा होती है। जिस ऋषिने भगवान् शङ्करसे मन्त्र प्राप्त करके पहले-पहल उस मन्त्रकी साधना की थी, वह उसका ऋषि है। वह गुरुस्थानीय होनेके कारण मस्तकमें स्थान पाने योग्य है। मन्त्रके स्वर-वर्णोंकी विशिष्ट गति, जिसके द्वारा मन्त्रार्थ और मन्त्रतत्त्व आच्छादित रहते हैं और जिसका उच्चारण मुखके द्वारा होता है, छन्द है और वह मुखमें ही स्थान पानेका अधिकारी है। मन्त्रका देवता, जो अपने हृदयका धन है, जीवनका सञ्चालक है, समस्त भावोंका प्रेरक है, हृदयका अधिकारी है; हृदयमें ही उसके न्यासका स्थान है। इस प्रकार जितने भी न्यास हैं, सबका एक विज्ञान है और यदि ये न्यास किये जायँ तो शरीर और अन्तःकरणको दिव्य बनाकर स्वयं ही अपनी महिमाका अनुभव करा देते हैं। अभी थोड़े ही दिनोंकी बात है—गङ्गा और सरयूके सङ्गमके पास ही एक ब्रह्मचारी रहते थे, जिनका साधन ही था न्यास। दिनभर वे न्यास ही करते रहते थे। उनमें बहुत-सी सिद्धियाँ प्रकट हुई थीं और उन्हें बहुत बड़ा आध्यात्मिक लाभ हुआ था। यहाँ संक्षेपसे कुछ न्यासोंका विवरण दिया जाता है—

मातृकान्यास

ॐ अस्य मातृकामन्त्रस्य ब्रह्म ऋषिर्गायत्रीच्छन्दो मातृका-सरस्वती देवता हलो बीजानि स्वराः शक्तयः क्लीं कीलकं मातृ-कान्यासे विनियोगः।

—यह विनियोग करके जल छोड़ दे और ऋष्यादिका न्यास करे। सिरमें—ॐ ब्रह्मणे ऋषये नमः। मुखमें—ॐ गायत्रीच्छन्दसे नमः। हृदयमें—ॐ मातृकासरस्वत्यै देवतायै नमः। गुह्यस्थानमें—ॐ हल्भ्यो बीजेभ्यो नमः। पैरोंमें—ॐ स्वरेभ्यः शक्तिभ्यो नमः। सर्वाङ्गमें—ॐ क्लीं कीलकाय नमः। इसके पश्चात् करन्यास करे—

ॐ अं कं खं गं घं ङं आं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।
ॐ इं चं छं जं झं ञं ईं तर्जनीभ्यां स्वाहा।
ॐ उं टं ठं डं ढं णं ऊं मध्यमाभ्यां वषट्।
ॐ एं तं थं दं धं नं ऐं अनामिकाभ्यां हुम्।
ॐ ओं पं फं बं भं मं औं कनिष्ठाभ्यां वौषट्।
ॐ अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं अः करतलकर-पृष्ठाभ्याम् अस्त्राय फट्।

इसके अनन्तर इस प्रकार अङ्गन्यास करे—

ॐ अं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नमः।
ॐ इं चं छं जं झं ञं ईं शिरसे स्वाहा।
ॐ उं टं ठं डं ढं णं ऊं शिखायै वषट्।
ॐ एं तं थं दं धं नं ऐं कवचाय हुम्।
ॐ ओं पं फं बं भं मं औं नेत्रत्रयाय वौषट्।
ॐ अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं अः अस्त्राय फट्।

इस अङ्गन्यासके पश्चात् अन्तर्मातृकान्यास करना चाहिये। शरीरमें छः चक्र हैं; उनमें जितने दल होते हैं,

उतने ही अक्षरोंका न्यास किया जाता है। इसकी प्रक्रिया सम्प्रदायानुसार भिन्न-भिन्न है। यहाँ वैष्णवोंकी प्रणाली लिखी जाती है।

पायु-इन्द्रिय और जननेन्द्रियके बीचमें सिवनीके पास मूलाधारचक्र है। उसका वर्ण सोनेका-सा है और उसमें चार दल हैं। उन चारों दलोंपर प्रणवके साथ इन अक्षरोंका न्यास करना चाहिये—ॐ वं नमः, शं नमः, षं नमः, सं नमः। जननेन्द्रियके मूलमें विद्युत्के समान षड्दल स्वाधिष्ठान कमल है, उसके छः दलोंपर प्रणवके साथ इन अक्षरोंका न्यास करना चाहिये—ॐ बं नमः, भं नमः, मं नमः, यं नमः, रं नमः, लं नमः। नाभिके मूलमें नील मेघके समान दशदल मणिपूरकचक्र है, उसमें इन वर्णोंका न्यास करना चाहिये—ॐ डं नमः, ढं नमः, णं नमः, तं नमः, थं नमः, दं नमः, धं नमः, नं नमः, पं नमः, फं नमः। हृदयमें स्थित मूँगेके समान लाल द्वादशदल अनाहतचक्रमें—ॐ कं नमः, खं नमः, गं नमः, घं नमः, ङं नमः, चं नमः, छं नमः, जं नमः, झं नमः, ञं नमः, टं नमः, ठं नमः। कण्ठमें धूम्रवर्ण षोडश-दल विशुद्धचक्र है; इसमें—ॐ अं नमः, आं नमः, इं नमः, ईं नमः, उं नमः, ऊं नमः, ऋं नमः, ॠं नमः, ऌं नमः, ॡं नमः, एं नमः, ऐं नमः, ओं नमः, औं नमः, अं नमः, अः नमः। भ्रूमध्यस्थित चन्द्रवर्ण द्विदल आज्ञाचक्रमें—ॐ हं नमः, क्षं नमः। इसके पश्चात् सहस्रारपर, जो कि स्वर्णके समान कान्तिमान् और समस्त स्वर-वर्णोंसे भूषित है, त्रिकोणका ध्यान करना चाहिये। उसके प्रत्येक कोणपर ह, ल, क्ष—ये तीनों वर्ण लिखे हुए हैं। उसकी तीनों रेखाएँ क्रमशः 'अ'से, 'क'से और 'थ'से शुरू हुई हैं। इस त्रिकोणके बीचमें सृष्टि-स्थिति-लयात्मक बिन्दुरूप परमात्मा विराजमान हैं। इस प्रकारके ध्यानको अन्तर्मातृकान्यास कहते हैं।

बहिर्मातृकान्यास

इस न्यासमें पहले मातृकासरस्वतीका ध्यान होता है, वह निम्नलिखित है—

पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्तमुखदोःपन्मध्यवक्षःस्थलां
भास्वन्मौलिनिबद्धचन्द्रशकलामापीनतुङ्गस्तनीम्।
मुद्रामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्यां च हस्ताम्बुजै-
र्बिभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनां वाग्देवतामाश्रये॥

'पचास स्वर-वर्णोंके द्वारा जिनके मुख, बाहु, चरण, कटि और वक्षःस्थल पृथक्-पृथक् दीख रहे हैं, सूर्यके समान चमकीले मुकुटपर चन्द्रखण्ड शोभायमान है, वक्षःस्थल बड़ा और ऊँचा है, कर-कमलोंमें मुद्रा, रुद्राक्षमाला, सुधापूर्ण कलश और पुस्तक धारण किये हुए हैं, अङ्ग-अङ्गसे दिव्य ज्योति बिखर रही है, उन त्रिनेत्रा वाग्देवता मातृकासरस्वतीकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।' ऐसा ध्यान करके न्यास करना चाहिये। इस न्यासमें अङ्गुलियोंका नियम अनिवार्य है। इसलिये उन-उन स्थानोंके साथ ही अङ्गुलियोंकी संख्या भी लिखी जा रही है। न्यास करते समय उनका ध्यान रखना चाहिये। संख्याका सङ्केत इस प्रकार है—१—अङ्गूठा, २—तर्जनी, ३—मध्यमा, ४—अनामिका और ५—कनिष्ठा। जहाँ जितनी अङ्गुलियोंका संयोग करना चाहिये वहाँ उतनी संख्या लिख दी गयी है।

ललाटमें—ॐ अं नमः ३, ४। मुखपर—ॐ आं नमः २, ३, ४। आँखोंमें—ॐ इं नमः, ॐ ईं नमः १, ४। इसी प्रकार पहले ॐ और पीछे नमः जोड़कर प्रत्येक स्थानमें न्यास करना चाहिये। कानोंमें—उं, ऊं १। नासिकामें—ऋं, ॠं १, ५। कपोलोंपर—ऌं, ॡं २, ३, ४। ओष्ठमें—एं ३। अधरमें—ऐं ३। ऊपरके दाँतोंमें—ओं ४। नीचेके दाँतोंमें—औं ४। ब्रह्मरन्ध्रमें—अं ३। मुखमें—अः ४। दाहिने हाथके मूलमें—कं ३, ४, ५। केहुनीमें—खं ३, ४, ५। मणिबन्धमें—गं। अङ्गुलियोंकी जड़में—घं। अङ्गुलियोंके अग्रभागमें—ङं। इसी प्रकार बायें हाथके मूल, केहुनी, मणिबन्ध, अङ्गुलीमूल और अङ्गुल्यग्रमें—चं छं जं झं ञं। दाहिने पैरके मूलमें, दोनों सन्धियोंमें, अङ्गुलियोंके मूलमें और उनके अग्रभागमें—टं ठं डं ढं णं। बायें पैरके उन्हीं पाँच स्थानोंमें—तं थं दं धं नं। दाहिने बगलमें—पं, बायेंमें—फं और पीठमें—बं (यहाँतक अङ्गुलियोंकी संख्या केहुनीवाली ही समझनी चाहिये)। नाभिमें—भं १, ३, ४, ५। पेटमें—मं १ से ५। हृदयमें यं। दाहिने कन्धेपर—रं। गलेके ऊपर—लं। बायें कन्धेपर—वं। हृदयसे दाहिने हाथतक—शं। हृदयसे बायें हाथतक—षं। हृदयसे दाहिने पैरतक—सं। हृदयसे बायें पैरतक—हं। हृदयसे पेटतक—ळं। हृदयसे मुखतक—क्षं। हृदयसे अन्ततक हथेलीसे न्यास करना चाहिये।

संहारमातृकान्यास

बाह्यमातृकान्यास जहाँ समाप्त होता है, वहींसे संहार-मातृकान्यास प्रारम्भ होता है। जैसे हृदयसे लेकर मुखतक—ॐ क्षं नमः। मुखसे पेटतक—ॐ ळं नमः। इस प्रकार उलटे चलकर ललाटतक पहुँच जाना, यह संहारमातृकान्यास है। इसके पूर्व यह ध्यान किया जाता है—

अक्षस्रजं हरिणपोतमुदग्रटङ्कं
विद्यां करैरविरतं दधतीं त्रिनेत्राम् ।
अर्द्धेन्दुमौलिमरुणामरविन्दरामां
वर्णेश्वरीं प्रणमत स्तनभारनम्राम् ॥

'जो अपने चार करकमलोंमें सदा रुद्राक्षकी माला, हरिण-शावक, पत्थर फोड़नेकी तीखी टाँकी और पुस्तक लिये रहती हैं, जिनके तीन आँखें हैं और मुकुटपर अर्द्ध चन्द्रमा है, शरीरका रंग लाल है, कमलपर बैठी हुई हैं, स्तनोंके भारसे झुकी हुई उन वर्णेश्वरीको नमस्कार करो ।' संहारमातृका-न्यासके सम्बन्धमें कुछ लोगोंकी ऐसी सम्मति है कि यह केवल संन्यासियोंको ही करना चाहिये । बाह्य मातृकान्यासमें अक्षरोंका उच्चारण चार प्रकारसे किया जा सकता है । केवल अक्षर, बिन्दुयुक्त अक्षर, सविसर्ग अक्षर और बिन्दु-विसर्गयुक्त अक्षर । विशिष्ट कामनाओंके अनुरूप इनकी व्यवस्था है । इन अक्षरोंके पूर्व बीजाक्षर भी जोड़े जाते हैं । वाक्सिद्धिके लिये ऐं, श्रीवृद्धिके लिये श्रीं, सर्वसिद्धिके लिये नमः, वशी-करणके लिये क्लीं और मन्त्रप्रसादनके लिये अः जोड़ा जाता है । मन्त्रशास्त्रमें ऐसा कहा गया है कि मातृकान्यासके बिना मन्त्रसिद्धि अत्यन्त कठिन है ।

पीठन्यास

देवताके निवासयोग्य स्थानको 'पीठ' कहते हैं । जैसे कामाख्यादि स्थानविशेष पीठके नामसे प्रसिद्ध हैं । जैसे बाह्य आसनविशेष शास्त्रीय विधिके अनुष्ठानसे पीठके रूपमें परिणत हो जाता है, वैसे ही पीठन्यासके प्रयोगसे साधकका शरीर और अन्तःकरण शुद्ध होकर देवताके निवास करने योग्य पीठ बन जाता है । वर्तमान युगमें जो दो प्रकारके पीठ प्रचलित हैं, समन्त्रक और अमन्त्रक उन दोनोंकी अपेक्षा यह पीठन्यास उत्तम है, क्योंकि इसमें बाह्य आलम्बनकी आवश्यकता नहीं है । यह साधकके शरीरमें ही मन्त्रशक्ति, भावशक्ति, प्राणशक्ति और अचिन्त्य दैवी शक्तिके सम्मिश्रणसे उत्पन्न हो जाता है । विचारदृष्टिसे देखा जाय तो पीठन्यासमें जितने तत्त्वोंका न्यास किया जाता है वे प्रत्येक शरीरमें पहलेसे ही विद्यमान हैं । स्मृति और मन्त्रके द्वारा उन्हें अव्यक्तसे व्यक्त किया जाता है, उनके सूक्ष्मरूपको स्थूलरूपमें लाया जाता है । यह सृष्टिक्रमके इतिहासके सर्वथा अनुकूल है और यह साधकको देवताका पीठ बना देनेमें समर्थ है । इसका प्रयोग निम्नलिखित प्रकारसे होता है—

प्रत्येक चतुर्थ्यन्त पदके साथ, जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है, पहले ॐ और पीछे नमः जोड़कर यथा-स्थान न्यास करना चाहिये—जैसे ॐ आधारशक्तये नमः । इसी प्रकार क्रमशः सबके साथ ॐ और नमः जोड़कर न्यासका विधान है ।

हृदयमें—**आधारशक्तये, प्रकृत्यै, कूर्माय, अनन्ताय, पृथिव्यै, क्षीरसमुद्राय, श्वेतद्वीपाय, मणिमण्डपाय, कल्पवृक्षाय, मणिवेदिकायै, रत्नसिंहासनाय** ।

दाहिने कन्धेपर—**धर्माय**
बायें कन्धेपर—**ज्ञानाय**
बायें ऊरुपर—**वैराग्याय**
दाहिने ऊरुपर—**ऐश्वर्याय**
मुखपर—**अधर्माय**
बायें पार्श्वमें—**अज्ञानाय**
नाभिमें—**अवैराग्याय**
दाहिने पार्श्वमें—**अनैश्वर्याय**

फिर हृदयमें—**अनन्ताय, पद्माय, अं सूर्यमण्डलाय द्वादश-कलात्मने, उं सोममण्डलाय षोडशकलात्मने, मं वह्निमण्डलाय दशकलात्मने, सं सत्त्वाय, रं रजसे, तं तमसे, आं आत्मने, अं अन्तरात्मने, पं परमात्मने, ह्रीं ज्ञानात्मने** ।

सबके साथ पहले ॐ और पीछे नमः जोड़कर न्यास कर लेनेके पश्चात् हृदय-कमलके पूर्वादि केसरोंपर इष्टदेवता-की पद्धतिके अनुसार पीठशक्तियोंका न्यास करना चाहिये । उनके बीचमें इष्टदेवताका मन्त्र, जो कि इष्टदेवस्वरूप ही है, स्थापित करना चाहिये । इस न्याससे साधकके हृदयमें ऐसा पीठ उत्पन्न हो जाता है, जो अपने देवताको आकर्षित किये बिना नहीं रहता ।

इन न्यासोंके अतिरिक्त और भी बहुत-से न्यास हैं, जिनका वर्णन उन-उन मन्त्रोंके प्रसङ्गमें आता है । उनके विस्तारकी यहाँ आवश्यकता नहीं है । वैष्णवोंका एक केशवकीर्त्यादि-न्यास है, उसमें भगवान्के केशव, नारायण, माधव आदि मूर्तियोंको उनकी शक्तियोंके साथ शरीरके विभिन्न अङ्गोंमें स्थापित करके ध्यान किया जाता है । उस न्यासके फलमें कहा जाता है कि यह न्यास प्रयोग करनेमात्रसे साधकको भगवान्के समान बना देता है । वास्तवमें न्यासोंमें ऐसी ही शक्ति है ।

न्यासके प्रकार-भेदोंकी चर्चा न करके यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि सृष्टिके गम्भीर रहस्योंकी दृष्टिसे

न्यास भी एक अतुलनीय साधन है। वर्णोंके न्याससे वर्णमयी सृष्टिका उद्बोध होकर परमात्माके स्वरूपका ज्ञान और प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि जब यह सृष्टि नहीं थी, तब प्रथम कम्पनके रूपमें प्रणव प्रकट हुआ और उस प्रणवसे ही समस्त स्वर-वर्णोंका विस्तार हुआ। उनके आनुपूर्वी-संघटनसे वेद और वेदसे समस्त सृष्टि। इस क्रमसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि ये समस्त महान् और अणु, स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थ अन्तिम रूपमें वर्ण ही हैं। वर्णोंके न्यास और इनकी वर्णात्मकताके ध्यानसे इनका वास्तविक रूप, जो कि दिव्य है, दृष्टिगोचर हो जाता है और फिर तो सर्वत्र दिव्यता-ही-दिव्यता छा जाती है। समस्त नाम-रूपात्मक जगत्में अव्यक्त-रूपसे रहनेवाली दिव्यताको व्यक्त करनेके लिये वर्णन्यास अथवा मन्त्रन्यास सर्वोत्तम साधनोंमेंसे एक है।

पीठन्यास, योगपीठन्यास अथवा तत्त्वन्यासके द्वारा भी हम उसी परिणामपर पहुँचते हैं, जो साधनाका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिये। अधिष्ठान परब्रह्ममें आधारशक्ति, प्रकृति एवं क्रमशः सम्पूर्ण सृष्टि स्थित है। क्षीरसागरमें मणिमण्डप, कल्पवृक्ष, रत्नसिंहासन आदिकी भावना करते-करते अन्तःकरण सर्वथा अन्तर्मुख हो जाता है और इष्टदेवताका ध्यान करते-करते समाधि लग जाती है। एक ओर तो उस सृष्टिक्रमका ज्ञान होनेसे बुद्धि अधिष्ठानतत्त्वकी ओर अग्रसर होने लगती है और दूसरी ओर मन इष्टदेवको प्राप्त करके उन्हींमें लय होने लगता है। इस प्रकार परमानन्दमयी अवस्थाका विकास होकर सब कुछ भगवान् ही है और भगवान्के अतिरिक्त और कोई अन्य सत्ता नहीं है, इस सत्यका साक्षात्कार हो जाता है।

सिरमें ऋषि, मुखमें छन्द और हृदयमें इष्टदेवताका न्यास करनेके अतिरिक्त जब सर्वाङ्गमें—यों कहिये कि रोम-रोममें यथोचित देवताका न्यास कर लिया जाता है, तो मनको इतना अवकाश ही नहीं मिलता और इससे मधुर अन्यत्र कहीं स्थान नहीं मिलता कि वह और कहीं बाहर जाय। शरीरके रोम-रोममें देवता, अणु-अणुमें देवता और देवतामय शरीर! ऐसी स्थितिमें यह मन भी दिव्य हो जाता है। जडताके चिन्तनसे और अपनी जडतासे यह संसार मनको जडरूपमें प्रतीत होता है। इसका वास्तविक स्वरूप तो चिन्मय है ही, यह चिन्मयी लीला है। जब चिन्मयके ध्यानसे इसकी जडता निवृत्त हो जाती है, तो सब चिन्मयके रूपमें ही स्फुरित होने लगता है। जब इसकी चिन्मयताका बोध हो जाता है, तब अन्तर्देशमें रहनेवाला निगूढ़ चैतन्य भी इस चिन्मयसे एक हो जाता है और केवल चैतन्य-ही-चैतन्य अवशेष रहता है।

यहाँ न्यासके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा गया है, वह न्यासके स्वरूप और महिमाको देखते हुए बहुत ही स्वल्प है। हमारी परिस्थितिको देखते हुए विज्ञजन क्षमा करेंगे। शा०

नाम और प्रेम

नाम बिन भाव करम नहिं छूटै।
साधुसंग और राम भजन बिन काल निरंतर लूटै॥
मल सेती जो मल को धोवै, सो मल कैसे छूटै?
प्रेम का साबुन नाम का पानी दोय मिल ताँता टूटै॥
भेद अभेद भरम का भाँडा, चौड़े पड़ पड़ फूटै।
गुरमुख सब्द गहै उर अंतर, सकल भरम से छूटै॥
राम का ध्यान तू धर रे प्रानी अमृत का मेंह बूटै।
जन दरियाव अरप दे आपा जरा मरन तब टूटै॥

—दरिया साहेब

तन्त्रमें गुरु-साधना

(लेखक—डा० भवानीप्रसादजी मेहरा०, बी०एस्-सी०, एल्० एस्० एम्० एफ्०)

साधनपथका श्रीगणेश गुरुसे ही होता है, अतएव साधनाके सभी मार्गोंमें गुरुका पद सर्वोच्च स्वीकार किया गया है। यों तो प्रायः सभी धर्मग्रन्थोंने गुरुकी इस सर्वोच्चता और महिमाका गान किया है, किन्तु तन्त्रमें गुरुकी सर्वोत्कृष्टताका जैसा वर्णन किया गया है, वैसा अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। तन्त्रने श्रीगुरु और इष्टदेवमें अभेदका वर्णन किया है। साधकके प्रति तन्त्रका वाक्य है—

यथा देवे तथा मन्त्रे यथा मन्त्रे तथा गुरौ।
यथा गुरौ तथा स्वात्मन्येवं भक्तिक्रमः स्मृतः॥

और भी—

यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैकार्थवाचकाः।
तथा मन्त्रो देवता च गुरुश्चैकार्थवाचकाः॥

(सुन्दरीतापिनी)

'तामिच्छाविग्रहां देवीं गुरुरूपां विभावयेत्।'

(नित्याहृदय)

ललितासहस्रनामके 'गुरुमण्डलरूपिणी' और 'गुरुप्रिया' (श्लोक १८९-१९०) के गुरुपदसे भास्कररायने अपने सौभाग्यभास्कर-भाष्यमें शिवका ही अर्थ ग्रहण किया है। निर्वाणतन्त्रानुसार शिव ही गुरु हैं और गुरु, परम गुरु, परमेष्ठी गुरु एवं परात्पर गुरु शिवके ही अंश हैं।

शिरःपद्मे महादेवस्तथैव परमो गुरुः।
तत्समो नास्ति देवेशि पूज्यो हि भुवनत्रये॥
तदंशं चिन्तयेद्देवि बाह्ये गुरुचतुष्टयम्।

मूलाधारादि षट्चक्रोंमें सर्वोपरि स्थान श्रीगुरुदेवका ही नियत किया गया है। अधोमुख सहस्रदल-कमल-कर्णिकान्तर्गत मृणालरूपी चित्रिणी नाडीसे भूषित गुरु-मन्त्रात्मक द्वादश वर्ण (ह स ख फ्रें ह स क्ष म ल व र यं)-रूपी द्वादशदल पद्ममें अ क थ आदि त्रिरेखा और ह ल क्ष कोणसे भूषित कामकला त्रिकोणमें नाद-बिन्दुरूपी मणिपीठ अथवा हंसपीठपर शिवस्वरूप श्रीगुरुका स्थान है (पादुकापञ्चक १, २, ३)।

शिरःपद्मे शुक्ले दशशतदले केसरगते
घतश्रेणां तल्पे परमशिवरूपं निजगुरुम्।

(अन्नदाकल्प)

सहस्रदलमध्यस्थमन्तरात्मानमुत्तमम्।
तस्योपरि नादबिन्दोर्मध्ये सिंहासनोज्ज्वलम्॥
तस्मिन् निजगुरुं नित्यं रजताचलसन्निभम्।

(कङ्कालमालिनीतन्त्र)

तन्त्रवर्णित श्रीगुरुका ध्यान शिव-शक्तिका ध्यान है—

'निजशिरसि श्वेतवर्णे सहस्रदलकमलकर्णिकान्तर्गतचन्द्रमण्डलोपरि स्वगुरुं शुक्लवर्णं मुक्तालङ्कारभूषितं ज्ञानानन्दमुदितमानसं सच्चिदानन्दविग्रहं चतुर्भुजं ज्ञानमुद्रापुस्तककराभयकरं त्रिनयनं प्रसन्नवदनेक्षणं सर्वदेवदेवं वामाङ्के वामहस्तधृतलीलाकमलया रक्तवसनाभरणया स्वप्रियया दक्षभुजेनालिङ्गितं परमशिवस्वरूपं शान्तं सुप्रसन्नं ध्यात्वा तच्चरणकमलयुगलविगलदमृतधारया स्वात्मानं प्लुतं विभाव्य मानसोपचारैराराध्य'

तन्त्रमें श्रीगुरुका सर्वोच्च पद स्वीकार किया गया है, अतएव तन्त्रमतानुयायी साधकके लिये गुरुपूजा अत्यावश्यक मानी गयी है। गुरुपूजा बिना साधककी सब साधना निष्फल होती है—

गुरुपूजां विना देवि स्वेष्टपूजां करोति यः।
मन्त्रस्य तस्य तेजांसि हरते भैरवः स्वयम्॥

(कालीविलासतन्त्र १। १३)

रुद्रयामलानुसार—

पूजाकाले च चार्वङ्गि आगच्छेच्छिष्यमन्दिरम्।
गुरुर्वा गुरुपुत्रो वा पत्नी वा वरवर्णिनि॥
तदा पूजां परित्यज्य पूजयेत्स्वगुरुं प्रिये।
देवतापूजनार्थं यद् गन्धपुष्पादिकञ्च यत्॥
तत्सर्वं गुरवे दद्यात्पूजयेज्जगमन्दिनि।
तदैव सहसा देवि देवता प्रीतिमाप्नुयात्॥

श्रीगुरुपूजाका विस्तृत वर्णन तन्त्रोंमें किया गया है। देवोपासनाके पञ्चाङ्गकी तरह गुरुपटल, गुरुपद्धति, गुरुकवच, गुरुस्तोत्र और गुरुसहस्रनाम ये अनेकों तन्त्र-ग्रन्थोंमें नाना प्रकारसे वर्णित हैं। स्कन्द-पुराणान्तर्गत गुरुगीता प्रसिद्ध है। रुद्रयामलतन्त्रका गुरुपादुकास्तोत्र एक अद्भुत चमत्कारी रहस्यमय स्तोत्र है। वामकेश्वरतन्त्रमें गुरुस्तव वर्णित है।

कुब्जिकातन्त्रमें छः श्लोकोंका श्रीगुरुस्तोत्र है। इसमें शिवरूपसे श्रीगुरुकी स्तुति की गयी है। श्रीशिवोक्त पादुकापञ्चक विख्यात है। कालीचरणकी 'अमला' नामक टीकामें इसके गूढ़ रहस्यको खोला गया है।

तन्त्रवर्णित श्रीगुरुपूजामें सबसे विचित्र बात श्रीगुरुमण्डलार्चन है। गुरुमण्डलार्चन-मन्त्र कई एक तन्त्र-ग्रन्थोंमें मिलता है। यह एक अपूर्व अद्भुत रहस्यमय मन्त्र है। प्रायः किसी एक तन्त्र-ग्रन्थमें इसका विस्तृत रहस्य नहीं खोला गया है। किसी-किसी तन्त्रमें कहीं-कहीं इसका उल्लेख देखनेमें आता है। 'आम्नायसप्तविंशतिरहस्य' में इसका अधिकतर रहस्य खोला गया है। इस ग्रन्थमें आम्नायभेदसे देवसमूहका विभाग करके श्रीगुरुमण्डलके देवताओंका उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ अभीतक अप्रकाशित है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति जम्मूमें श्रीरघुनाथजीके मन्दिरके पुस्तकालयमें सुरक्षित है। एक हस्तलिखित प्रति मण्डीनरेश राजा सर योगेन्द्रसेनके चित्र-भण्डारमें भी विद्यमान है। नीचे श्रीगुरुमण्डलार्चनके विचित्र मन्त्रका विस्तारपूर्वक विवरण कई एक तन्त्र-ग्रन्थोंसे संग्रह करके लिखा जाता है। इस लेखमें अधिकतर 'आम्नायसप्तविंशतिरहस्य' का आश्रय लिया गया है। जहाँ कहीं मतभेद है, वहाँ अन्य तन्त्र-ग्रन्थोंमें वर्णित भेदादि स्पष्ट कर दिये गये हैं। श्रीगुरु-मण्डलार्चनके समय साधक पृथक्-पृथक् देवताका मन्त्रसहित नाम उच्चारण करके अन्तमें 'श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः' ऐसा उच्चारण करते हैं। इस लेखमें देवताओंके मन्त्र लेखके अधिक विस्तृत हो जानेके भयसे और उनके गुह्यतम होनेके कारणसे प्रकाशित नहीं किये जाते।

मन्त्र—ॐ श्रीनाथादिगुरुत्रयं गणपतिं पीठत्रयं भैरवं
सिद्धौघं वटुकत्रयं पदयुगं दूतीक्रमं मण्डलम्।
वीरानष्ट चतुष्कषष्टिनवकं वीरावलीं पञ्चकं
श्रीमन्मालिनिमन्त्रराजसहितं वन्दे गुरोर्मण्डलम्॥

१. श्री० श्रीलक्ष्मी

२. नाथादि०

आम्नायसप्तविंशतिरहस्यमें इसका अधिक उल्लेख नहीं किया गया; किन्तु विद्यार्णव-निबन्धमें जिन ओघत्रय (दिव्य, सिद्ध और मानव) का षोडशोपासनामें वर्णन है, वे रूपान्तरसे आम्नायसप्तविंशतिरहस्यमें दिये हैं।

१. दिव्यौघः—

१. श्रीशिवानन्दनाथ पराशक्त्यम्बा
२. श्रीसदाशिवानन्दनाथ चिच्छक्त्यम्बा
३. श्रीईश्वरानन्दनाथ आनन्दशक्त्यम्बा
४. श्रीरुद्रदेवानन्दनाथ इच्छाशक्त्यम्बा
५. श्रीविष्णुदेवानन्दनाथ ज्ञानशक्त्यम्बा
६. श्रीब्रह्मदेवानन्दनाथ क्रियाशक्त्यम्बा

२. सिद्धौघः—

१. श्रीसनकानन्दनाथ	७. श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ
२. श्रीसनन्दनानन्दनाथ	८. श्रीरैवतानन्दनाथ
३. श्रीसनातनानन्दनाथ	९. श्रीवामदेवानन्दनाथ
४. श्रीसनत्कुमारानन्दनाथ	१०. श्रीव्यासानन्दनाथ
५. श्रीशौनकानन्दनाथ,	११. श्रीशुकानन्दनाथ
६. श्रीसनत्सुजातानन्दनाथ	

३. मानवौघः—

१. श्रीनृसिंहानन्दनाथ	४. श्रीमहेन्द्रानन्दनाथ
२. श्रीमहेशानन्दनाथ	५. श्रीमाधवानन्दनाथ
३. श्रीभास्करानन्दनाथ	६. श्रीविष्णुदेवानन्दनाथ

कादिविद्योपासकानामोघत्रयम्—

दक्षिणामूर्तिसम्प्रदायानुसारतः—

१. दिव्यौघः—

१. परप्रकाशानन्दनाथ	५. शुक्लदेव्यम्बानन्दनाथ
२. परशिवानन्दनाथ	६. कुलेश्वरानन्दनाथ
३. पराशक्त्यम्बानन्दनाथ	७. कामेश्वर्यम्बानन्दनाथ
४. कौलेश्वरानन्दनाथ	

२. सिद्धौघः—

१. भोगानन्दनाथ	३. समयानन्दनाथ
२. क्लिन्नानन्दनाथ	४. सहजानन्दनाथ

३. मानवौघः—

१. गगनानन्दनाथ	५. भुवनानन्दनाथ
२. विश्वानन्दनाथ	६. लीलानन्दनाथ
३. विमलानन्दनाथ	७. स्वात्मानन्दनाथ
४. मदनानन्दनाथ	८. प्रियानन्दनाथ

ज्ञानार्णव-तन्त्रके मतसे षोडशी-उपासनामें भी ओघत्रय-की यही परम्परा है।

हादिविद्योपासकानां परम्परा—

१. दिव्यौघः—

१. परमशिवानन्दनाथ ५. सर्वानन्दनाथ
२. कामेश्वर्यम्बानन्दनाथ ६. प्रज्ञादेव्यम्बानाथ
३. दिव्यौघानन्दनाथ ७. प्रकाशानन्दनाथ
४. महौघानन्दनाथ

२. सिद्धौघः—

१. दिव्यानन्दनाथ ४. अनुदेव्यम्बानन्दनाथ
२. चिदानन्दनाथ ५. महोदयानन्दनाथ
३. कैवल्यानन्दनाथ ६. सिद्धानन्दनाथ

३. मानवौघः—

१. चिदानन्दनाथ ५. परानन्दनाथ
२. विश्वानन्दनाथ ६. मनोहरानन्दनाथ
(विश्वशक्त्यानन्दनाथ) ७. स्वात्मानन्दनाथ
३. रामानन्दनाथ ८. प्रतिभानन्दनाथ
४. कमलानन्दनाथ

षोडश्युपासकानां परम्परा—विद्यार्णवनिबन्धे

१. दिव्यौघः—

१. व्योमातीताम्बा ४. व्योमचारिण्यम्बा
२. व्योमेश्यम्बा ५. व्योमस्थाम्बा
३. व्योमाकाम्बा

२. सिद्धौघः—

१. उन्मनाकाशानन्दनाथ ६. ध्वनिमात्राकाशानन्दनाथ
२. समनाकाशानन्दनाथ ७. अनाहताकाशानन्दनाथ
३. व्यापकाकाशानन्दनाथ ८. बिन्द्वाकाशानन्दनाथ
४. शक्त्याकाशानन्दनाथ ९. इन्द्वाकाशानन्दनाथ
५. ध्वन्याकाशानन्दनाथ

३. मानवौघः—

१. परमात्मानन्दनाथ ६. सम्भ्रमानन्दनाथ
२. शाम्भवानन्दनाथ ७. चिदानन्दनाथ
३. चिन्मुद्रानन्दनाथ ८. प्रसन्नानन्दनाथ
४. वाग्भवानन्दनाथ ९. विश्वानन्दनाथ
५. लीलानन्दनाथ

मन्वादिविद्यानां परम्परा—

१. दिव्यौघः—

१. परप्रकाशानन्दनाथ ५. अमृतानन्दनाथ
२. परविमर्शानन्दनाथ ६. सिद्धानन्दनाथ
३. कामेश्वर्यम्बानन्दनाथ ७. पुरुषानन्दनाथ
४. मोक्षानन्दनाथ ८. अघोरानन्दनाथ

२. सिद्धौघः—

१. प्रकाशानन्दनाथ ३. सिद्धौघानन्दनाथ
२. सदानन्दनाथ ४. उत्तमानन्दनाथ

३. मानवौघः—

१. उत्तरानन्दनाथ ५. सिद्धानन्दनाथ
२. परमानन्दनाथ ६. गोविन्दानन्दनाथ
३. सर्वज्ञानन्दनाथ ७. शङ्करानन्दनाथ
४. सर्वानन्दनाथ

परोपासकानामोघत्रयम्

(परशुरामकल्पसूत्र, अष्टम खण्ड, पराक्रम-सूत्र २६)

१. दिव्यौघः—

१. परा भट्टारिका ३. श्रीकण्ठ
२. अघोर

२. सिद्धौघः—

१. शक्तिधर ३. त्र्यम्बक
२. क्रोध

३. मानवौघः—

१. आनन्द ५. मधुरादेव्यम्बा
२. प्रतिभादेव्यम्बा ६. ज्ञान
३. वीर ७. श्रीराम
४. संविदानन्द ८. योग

३. गुरुत्रयम्—

१. श्रीमदुमाम्बासहित श्रीविश्वनाथानन्दनाथ श्रीगुरु ।
२. श्रीमदन्नपूर्णाम्बासहित श्रीविश्वेश्वरानन्दनाथ श्री-परमगुरु ।
३. श्रीमत्पराम्बासहित श्रीपरात्मानन्दनाथ श्रीपरमेष्ठि-गुरु ।

४. गणपतिः—

श्रीमहागणपति

५. पीठत्रयम्—

१. श्रीकामगिरिपीठ ब्रह्मात्मकशक्त्यम्बा
२. श्रीपूर्णगिरिपीठ विष्णवात्मकशक्त्यम्बा
३. श्रीजालन्धरपीठ रुद्रात्मकशक्त्यम्बा

६. भैरवः—

१. श्रीमन्थान भैरव
२. श्रीषट्चक्र भैरव
३. श्रीफट्कार भैरव
४. ऐकात्मक भैरव (एकान्त, आम्नाय)
५. श्रीरविभक्ष भैरव (रविभैरव आम्नाय)
६. श्रीचण्ड भैरव
७. श्रीनभोनिर्मल भैरव
८. श्रीभ्रमरभास्कर भैरव

७. सिद्धौघः—

१. श्रीमहादर्मनाम्बा सिद्ध
२. श्रीसुन्दर्यम्बा सिद्ध
३. श्रीकरालिकाम्बा सिद्ध (विश्वोदर्यम्बा सिद्ध आम्नाय)
४. श्रीत्रिबाणाम्बा सिद्ध (शचीबीजाम्बा सिद्ध आम्नाय)
५. श्रीभीमाम्बा सिद्ध
६. श्रीकराल्यम्बा सिद्ध
७. श्रीखराननाम्बा सिद्ध
८. श्रीविधिशालीनाम्बा सिद्ध (धिशालक्ष्यम्बा आम्नाय)

८. वटुकत्रयम्—

१. श्रीस्कन्द वटुक
२. श्रीचित्र वटुक
३. श्रीविरञ्चि वटुक

९. पदयुगम्—

१. श्रीप्रकाशचरणम्
२. श्रीविमर्शचरणम्

१०. दूतीक्रमः—

१. श्रीयोन्यम्बा दूती
२. श्रीयोनि सिद्धनाथाम्बा दूती
३. श्रीमहायोन्यम्बा दूती
४. श्रीमहायोनि सिद्धनाथाम्बा दूती
५. श्रीदिव्ययोन्यम्बा दूती
६. श्रीदिव्ययोनि सिद्धनाथाम्बा दूती
७. श्रीशङ्खयोन्यम्बा दूती
८. श्रीशङ्खयोनिसिद्धनाथाम्बा दूती
९. श्रीपद्मयोन्यम्बा दूती
१०. श्रीपद्मयोनि सिद्धनाथाम्बा दूती

आम्नायसप्तविंशतिरहस्यमें केवल आठ दूतियाँ वर्णित हैं, प्रथम और द्वितीय नहीं।

११. मण्डलम्—

१. सोममण्डल
२. सूर्यमण्डल
३. अग्निमण्डल

१२. वीरा अष्ट—*

१. श्रीसृष्टिवीरभैरव
२. श्रीस्थितिवीरभैरव
३. श्रीसंहारवीरभैरव
४. श्रीरक्तवीरभैरव
५. श्रीयमवीरभैरव
६. श्रीमृत्युवीरभैरव
७. श्रीभद्रवीरभैरव
८. श्रीपरमार्कवीरभैरव
९. श्रीमार्तण्डवीरभैरव
१०. श्रीकालाग्निरुद्रवीरभैरव

१३. चतुष्कषष्टिः—

श्रीमङ्गलानाथ, चण्डिका, कन्तुका, पटह्य, कूर्म, धनदा, गन्ध, गगन, मतङ्ग, चम्पका, कैवर्त, मातङ्गगम, सूर्यभक्ष्य, नभोभक्ष्य, स्तौतिका, रूपिका, दंष्ट्रापूज्य, धूम्राक्ष, ज्वाला, गान्धार, गगनेश्वर, माया, महामाया, नित्या, शान्ता, विश्वा, कामिनी, उमा, श्रिया, सुभगा, सर्वगा, लक्ष्मी, विद्या, मीना, अमृता, चन्द्र, अन्तरिक्ष, सिद्धा, श्रद्धा, अनन्ता, शम्बरा, उल्क, त्रैलोक्या, भीमा, राक्षसी, मलिना, प्रचण्डा, अनङ्गविधि, रवि, अनभिमता, नन्दिनी, अभिमता, सुन्दरी, विश्वेशा, काल, महाकाल, अभया, विकार, महाविकार, सर्वगा, सकला, पूतना, शार्वरी, व्योमा। ६४

१४. नवकम्—

१. सर्वसंक्षोभिणी
२. सर्वविद्राविणी
३. सर्वाकर्षिणी
४. सर्ववशङ्करी
५. सर्वोन्मादिनी
६. सर्वमहाङ्कुशे
७. सर्वखेचरी
८. सर्वबीजेश्वरी
९. सर्वयोनि

आम्नायसप्तविंशतिरहस्यके अनुसार—

१. तुरीयाम्बा
२. महार्घाम्बा
३. अश्वारूढाम्बा
४. मिश्राम्बा
५. वाग्वादिन्यम्बा
६. महाकाल्यम्बा
७. ताराम्बा
८. (१. वनदुर्गाम्बा, २. जयदुर्गाम्बा, ३. महिषमर्दिनी दुर्गाम्बा)
९. मुद्रानवकाम्बा

१५ वीरावली—

१. श्रीब्रह्मवीरावली
२. श्रीविष्णुवीरावली
३. श्रीरुद्रवीरावली
४. श्रीईश्वरवीरावली
५. श्रीसदाशिववीरावली

---

* (मन्त्रमें 'वीर' की गणना ८ है किन्तु ग्रन्थोंमें १० दिये हैं।)

१६. पञ्चकम्—

१. पञ्च लक्ष्म्यः—

१. श्रीमहालक्ष्मीश्वरीवृन्दमण्डितासनसंस्थिता सर्वसौभाग्यजननी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी श्रीविद्यालक्ष्म्यम्बा

२. श्रीमहा..................................
श्रीएकाक्षरलक्ष्मीलक्ष्म्यम्बा

३. श्रीमहा..................................
श्रीमहालक्ष्मीलक्ष्म्यम्बा

४. श्रीमहा..................................
श्रीत्रिशक्तिलक्ष्मीलक्ष्म्यम्बा

५. श्रीमहा..................................
श्रीसर्वसाम्राज्यलक्ष्मीलक्ष्म्यम्बा

२. पञ्चकोश—

१. श्रीमहाकोशेश्वरीवृन्दमण्डितासनसंस्थिता सर्वसौभाग्यजननी श्रीविद्याकोशाम्बा

२. श्रीमहा..................................
श्रीपरज्योतिःकोशाम्बा

३. श्रीमहा..................................
श्रीपरनिष्कलशाम्भवीकोशाम्बा

४. श्रीमहा..................................
श्रीअजपाकोशाम्बा

५. श्रीमहा..................................
श्रीमातृकाकोशाम्बा

३. पञ्च कल्पलता

१. श्रीमहाकल्पलतेश्वरीवृन्दमण्डितासनसंस्थिता सर्वसौभाग्यजननी श्रीविद्याकल्पलताम्बा

२. श्रीमहा..................................
श्रीत्वरिता कल्पलताम्बा

३. श्रीमहा..................................
श्रीपारिजातेश्वरी कल्पलताम्बा

४. श्रीमहा..................................
श्रीत्रिपुटा कल्पलताम्बा

५. श्रीमहा..................................
श्रीपञ्चबाणेश्वरी कल्पलताम्बा

४. पञ्च कामदुघा

१. श्रीमहाकामदुघेश्वरीवृन्दमण्डितासनसंस्थिता सर्वसौभाग्यजननी श्रीविद्या कामदुघाम्बा

२. श्रीमहा..................................
श्रीअमृतपीठेश्वरी कामदुघाम्बा

३. श्रीमहा..................................
श्रीसुधासूः कामदुघाम्बा

४. श्रीमहा..................................
श्रीअमृतेश्वरी कामदुघाम्बा

५. श्रीमहा..................................
श्रीअन्नपूर्णा कामदुघाम्बा

५. पञ्च रत्नविद्या

१. श्रीमहारत्नेश्वरीवृन्दमण्डितासनसंस्थिता सर्वसौभाग्यजननी श्रीविद्यारत्नाम्बा

२. श्रीमहा..................................
श्रीसिद्धलक्ष्मीरत्नाम्बा

३. श्रीमहा..................................
श्रीमातङ्गेश्वरीरत्नाम्बा

४. श्रीमहा..................................
श्रीभुवनेश्वरीरत्नाम्बा

५. श्रीमहा..................................
श्रीवाराहीरत्नाम्बा

इति पञ्चपञ्चिका

१७. श्रीमन्मालिनी—

ॐ अं आं..........................क्षं

१८. मन्त्रराज—

श्रीनृसिंहमन्त्र

उपर्युक्त विवरणसे तान्त्रिक उपासनाकी गम्भीरता स्पष्ट होती है। तन्त्रवर्णित श्रीगुरु आजकलके नाना आडम्बर-भूषित गुरुसे सर्वथा भिन्न हैं। तन्त्रानुसार श्रीगुरु इष्टदेवके ही रूप हैं। और जिस प्रकार तन्त्रमतानुयायी साधक गुरु-साधना करते हैं उससे न केवल मन्त्रदाता गुरुकी पूजा होती है, किन्तु स्वेष्टदेवाभिन्न शिव-शक्तिसामरस्यस्वरूप नादबिन्दु-कलातीत परमानन्द तत्त्वकी पूजा होती है और यही तन्त्रवर्णित श्रीगुरु और श्रीगुरुसाधनाकी अद्भुत सर्वोत्कृष्टता है।

श्रीआदिनाथचरणारविन्दार्पणमस्तु

दिव्य चक्षुका उन्मीलन

(लेखक—श्रीचित्रगुप्तस्वरूपजी)

प्रत्येक जीवात्माके सिरमें तीन नेत्र होते हैं। एक नेत्र बंद रहता है और दो खुले होते हैं। यानी एक नेत्र गुप्त होता है और दो प्रकट होते हैं। उस गुप्त या प्रधान नेत्रको पण्डितलोग दिव्य चक्षु कहते हैं। उस असली आँखको योगीलोग शिवनेत्र कहते हैं और उस नूरेनज़रको साधकलोग तीसरा नेत्र कहते हैं।

सर्वसाधारणका जो यह विश्वास है कि शिवनेत्र केवल शङ्करजीके शरीरमें है, वह भ्रमपूर्ण है। योगविद्या घोषित करती है कि तीसरा तिल सबमें विद्यमान है और जो भी चाहे, भगवान् शङ्करकी तरह, अपने दिव्य चक्षुका उन्मीलन कर सकता है—फिर चाहे उससे आग निकाली जाय या पानी; क्योंकि वहाँ पञ्चतत्त्वका एक केन्द्र रहता है।

शिवनेत्रमें ब्रह्मका, दाहिने नेत्रमे कालका और बायें नेत्रमें शक्तिका निवास है। इन तीनों अंशोंकी संयुक्तावस्था ही परमेश्वरका रूप है। विराट्में जो आत्म-मण्डलकी त्रिपुटी है, ये तीनों नयन उसीकी छाया हैं। शिवनेत्रका सम्बन्ध ब्रह्ममण्डलसे, दाहिनेका सूर्यमण्डलसे और बायेंका सम्बन्ध चन्द्रमण्डलसे है। शिवनेत्रसे विचार उत्पन्न होता है, दाहिने नेत्रसे इच्छा पैदा होती है और बायेंसे क्रिया उत्पन्न होती है।

दिव्य चक्षुका प्रमाण

प्रत्येक घटमें दिव्य चक्षुके होनेका एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। जब आप सो जाते हैं, तब ये बाहरी दोनों नेत्र बंद हो जाते हैं। फिर आप जो सपना देखते हैं, वह उसी भीतरी नेत्रके प्रकाशसे देखते हैं। दिव्य चक्षुका प्रकाश बाहरी दुनियामें तबतक नहीं हो सकता, जबतक उसका बाकायदा उन्मीलन न किया जाय। परन्तु दिव्य चक्षुका प्रकाश भीतरी दुनियाँमें—(सूक्ष्म जगत्, कारण जगत् और आत्मजगत्में) स्वयं भरपूर रहता है। इसी कारण स्वप्नमें जो कुछ होता है, वह दिखायी पड़ता है। सपनेको मन नहीं देखता; क्योंकि मनमें देखनेकी शक्ति नहीं होती। अगर मन ही देखता तो अपने मनका आकार क्यों दीखता? सपनेमें अपना मन आकार धारण कर लेता है और सपना देखनेवालेकी सूरत धारण कर लेता है। अगर मन ही देखता होता तो आप अपने मनका धारण किया हुआ साकार कैसे देख सकते थे? सपनेमें आपसहित सभी बातें दिखायी दिया करती हैं। *शिवनेत्रका* प्रकाश ही आपके मनका आकार आपको दिखलाता है। अतः सपनोंका दीखना मनकी शक्तिके अन्तर्गत नहीं—दिव्य चक्षुकी शक्तिके अन्तर्गत है। सिनेमाके परदेपर जो खेल होता है, वह फिल्मरूपी मनकी लीला जरूर है; मगर उस लीलाको प्रकाशित करनेका श्रेय उस रोशनीको है, जो ऊपरसे आकर उस परदेपर पड़ रही है। बिजलीरूप दिव्य चक्षु ही परदेपर प्रकाश डालता है। तभी सब खेल दिखलायी पड़ते हैं।

उन्मीलनका विधान

पद्मासनसे बैठो। नेत्रोंको बन्द करो। जीभको तालूकी ओर चढ़ा लो। अपने ध्यानको दोनों भृकुटिके मेलके स्थानसे—यानी नाककी जड़से—दो अङ्गुल ऊपर जमाओ। यह ध्यान सिरके बाहरी भागपर न होना चाहिये—भीतरी भागपर होना चाहिये। ध्यानके समय 'शिव' मन्त्रका जाप मनसे करना चाहिये।

फल

जिनका दिव्य चक्षु खुल गया है, उनको ज्ञान और शक्तिसे काम लेनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है। उनको सब स्थानोंकी घटनाएँ दिखलायी पड़ने लगती हैं। उनका मन धीरे-धीरे स्वयं एकाग्र हो जाता है। अपने और परायेके भविष्यका हाल मालूम हो सकता है। अपना जीवन बढ़ाया जा सकता है। देवदर्शन प्राप्त होता और स्वास्थ्य बढ़िया रहता है।

मन ही साधन है

(लेखक—श्री'चक्रपाणि')

साधनकी अपेक्षा साधकको होती है, साधककी अपेक्षा साध्यको होती है। अर्थात् पहले साध्य, पीछे साधक और तब साधन। साध्य कोई वस्तु साधकके पहलेसे है, साधक उसीकी इच्छा करता है और उसका यह इच्छा करना ही साधन बनता है। इष्ट (जिसकी हम इच्छा करते हैं) साध्य है, इच्छा साधन है और साधक इन दोनोंका संयोजक है। यह साधक कौन है, जो साध्यकी इच्छा करता है?

यह मन है, जिसकी इच्छा ही उसकी गति है। हम जो चाहते हैं, वही तो करते हैं और वही तो होता है। संसारमें क्या हो रहा है? युद्ध। युद्ध ही सही। पर क्या यह हमारी इच्छाओंका ही संघर्ष नहीं है? जगत्‌में जितने जीव हैं, सब किसी-न-किसी वस्तुको पानेकी इच्छा करते हैं और ये इच्छाएँ एक दूसरीसे टकराती हैं—यही संघर्ष है, यही युद्ध है। संसारमें युद्ध न हो, यह भी एक इच्छा है और वह कभी युद्धकी इच्छाको दबाती और कभी स्वयं उससे दबती है। इसलिये संसारमें शान्ति और युद्ध दोनों ही बने रहते हैं। यदि कहीं ऐसा हो जाय कि कोई जीव कोई इच्छा ही न करे तो युद्ध असम्भव है। पर क्या कभी ऐसा हो सकता है? हम अपनी ही बातको देखें तो यह कहना पड़ेगा कि एक क्षण भी हमारा ऐसा नहीं बीतता, जब हम किसी इच्छाके वशमें न हों। प्रत्येक क्षण हम अपनी इच्छाके पीछे चल रहे हैं। ये इच्छाएँ (हमारी अपनी ही) कभी-कभी इतनी परस्परविरोधिनी होती हैं कि इच्छाके उदयकालमें तो हमें उनके परस्परविरोधी फलोंका अनुमान नहीं होता, पर फलोदयकालमें ये फल इतने परस्परविरुद्ध होते हैं कि हम घबरा जाते हैं कि यह क्या हो रहा है। ऐसा मालूम होता है कि हमने ऐसी विकट संघर्षमय परिस्थितिकी तो कभी इच्छा नहीं की थी, ईश्वरने यह क्या कर दिया! हमने अपनी परस्पर-विरोधिनी इच्छाओंका कोई खाता नहीं रक्खा है; इसलिये हम हिसाब फैलाकर यह नहीं देख सकते कि यहाँ हमारे जिम्मे क्या देना-पावना है। पर इतना तो स्पष्ट है कि इच्छा ही हमारी पूँजी है और उसीसे उसका ब्याज बढ़ता जा रहा है और ब्याजसे पूँजी भी बढ़ती जा रही है। यह एक प्रकारका साधन ही तो है; क्योंकि हम जब इच्छा करते हैं, तब किसी साध्यको पानेकी ही इच्छा करते हैं और जो इच्छा करते हैं वही करते हैं, वही होता है। इस साधनको शिष्ट लोग साधन नहीं कहते; क्योंकि यह शिष्टोंके विचारसे मनुष्योचित साध्यका साधक नहीं, बल्कि बाधक है—बन्धन है। 'साधन' शब्दका भी प्रयोग करना हो तो हम कह सकते हैं कि यह बन्धनका साधन है, मुक्तिका नहीं। पर मुक्ति साध्य हो या बन्धन, साधकका साधन है मन ही—इसमें कोई सन्देह नहीं। कहा भी है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अच्छा तो अब यह विचारें कि मनुष्योचित सामान्य साध्य क्या है? 'सामान्य' शब्दका प्रयोग हम इसलिये करते हैं कि जितने मनुष्य हैं, उन सबकी मति भिन्न-भिन्न है और उसके अनुसार साध्य भी सबके भिन्न-भिन्न अर्थात् विशेष-विशेष हो सकते हैं। सब मनुष्योंका मनुष्यके नाते एक सामान्य साध्य है, उसीको हम मनुष्योचित सामान्य साध्य कहते हैं। यह सामान्य साध्य सब मनुष्योंका है और प्रत्येक मनुष्यका भी, इसीलिये इसे सामान्य साध्य कहते हैं। कोई मनुष्य इस सामान्य साध्यके बिना मनुष्य नहीं रह सकता; क्योंकि मनुष्यका जो सामान्य लक्षण है, वह उसमें नहीं है। यह साध्य क्या है? साध्य सदा ही इतना ऊँचा होता है कि वहाँतक हमारे हाथ नहीं पहुँचते और पहुँचानेकी हमें इच्छा होती है। अर्थात् वह अवस्था मनुष्यकी सामान्य अवस्थासे ऊँची होती है। इस अवस्थाको हमलोग अमानव, अलौकिक अथवा दिव्य कहते हैं। मनुष्यके नीचेकी योनियोंमें एक ऐसी सोपानपरम्परा देख पड़ती है, जिसमें प्रत्येक सोपानके जीव अपनेसे ऊपरके सोपानके जीवोंको देखते हैं और सम्भव है उन्हींकी अवस्थाको साध्य मानकर अपना जीवन उसीकी प्राप्तिमें लगा देते हैं और इस क्रमसे अन्तमें मनुष्ययोनिको प्राप्त होते हैं। पर मनुष्ययोनिमें आकर इसके ऊपरकी योनि उतनी स्पष्ट नहीं देख पड़ती जितनी कि पशु-पक्षियोंको मनुष्ययोनि देख पड़ती है। मनुष्यका अनित्य, दुःखमय लौकिक जीवन ही उसे नित्य सुखमय दिव्य योनिकी सत्ताका भान कराता है। उस सत्ताको पाना ही मनुष्यका साध्य है, मनुष्य ही उसका साधक है और उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला उसका मन ही उसका साधन है।

यह साधन हम कैसे करें ? यह साधन क्या है ?—मन। साध्य क्या है ?—मनुष्यके मनके ऊपरकी स्थिति। बस, उसीमें इस मनको लगा दो—साध्यमें साधनको लगा दो। 'लगा दो' कहनेसे भी नहीं होगा। संसारमें हम अपने मनको लगाते हैं; क्योंकि मनुष्य उसकी इच्छा करता है और जिसकी इच्छा करता है, उसे वह पा लेता है। कैसे ? मनको लगाकर, मनको तन्मय करके, मनको उसीका सङ्कल्प और कर्म करनेमें प्रवृत्त करके, मनको उसीके सामने झुकाकर, उसीको साध्य मानकर साधनसहित उसका रास्ता चलकर। इसीलिये मनके ऊपर मनुष्यका जो महान् अमानव अलौकिक अमृत आनन्दमय साध्य है, जो साधकके पहलेसे वहाँ स्थित है और जिसने ही यह साधन—मन मनुष्यको दे रक्खा है, उसीकी यह वाणी है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

जहाँ साध्य सामने हो, साधकका मन तत्परायण हो, वहाँ साध्य-साधक-साधनकी सिद्धिमें और क्या चाहिये ? साधनकी सीढ़ीपर जिसने पैर रक्खा, वह साधनके ऊपर साध्यका हाथ पकड़कर ही उसके समीप जा रहा है। यह साधन है मन, इसीका साध्यके साथ योग होना मनुष्यजन्मका लक्ष्य है।

साधन-रहस्य-सार

(लेखक—श्री 'सुदाम' वैदर्भीय)

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्॥

सबका ध्येय एकमात्र अविनाशी, अतृप्तिकर, परम पूर्णानन्द ही है। स्वर्गादि सुख, सिद्धिवैभव और दिग्विजयादि विकारी अपूर्ण प्रकृतिक्षेत्रगत पदार्थ हैं; इनसे यह पूर्णानन्द नहीं मिल सकता। सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म ही उस पूर्णानन्दके अधिष्ठान हैं। उससे भिन्न किसी भी फलके लिये किये जानेवाले साधन बन्धन ही हैं। कारण 'यदल्पं तन्मर्त्यम्', 'भूमा वै तत्सुखम्', 'नाल्पे सुखमस्ति', 'आनन्दो ब्रह्मेति'—यही श्रुति-सिद्धान्त है और यही संतोंका अनुभव है। इसलिये ब्रह्मानुभवके बिना कभी किसीको पूर्णानन्द न मिला न मिल सकता है। अतः इस सर्वोत्तम ध्येयको छोड़ और किसीके लिये कोई साधन क्यों किया जाय ?

यह ब्रह्मतत्त्व सर्वत्र-सर्वव्यापक है, अतः हमारे अंदर भी है; केवल अंदर ही नहीं है, हम स्वयं तद्रूप ही हैं—'जीवो ब्रह्मैव नापरः।' इस प्रकार यद्यपि ब्रह्म सबको प्राप्त है, तथापि कल्पनाके इस घटाटोपमें उसका कहीं पता नहीं चलता। 'हम कौन हैं ?' इसीका हमें कोई पता नहीं है। हम बहे जा रहे हैं अपने आपको भुलाकर कल्पनाके प्रवाहमें न जाने कहाँ किस ओर! इसलिये पहले अपने आपको ढूँढ़ना होगा, इसके बिना सुखका पता लग नहीं सकता।

प्रकाशकी ओर देखते-देखते यदि हठात् हम अपनी दृष्टिको छायामें, अन्धकारमें ले जायँ तो वहाँ हम सहसा कुछ भी न देख सकेंगे, केवल अन्धकार ही देखेंगे। परन्तु दृष्टिको वहीं कुछ समय स्थिर करके रक्खें तो अन्धकारमें छिपी रक्खी वस्तुओंको भी वह देख सकेगी, अन्धकारमें उसे प्रकाश मिलने लगेगा। यही बात हमारी चित्तवृत्तिकी भी है। बाह्य व्यवहारोंमें लगी हुई वृत्ति अंदरकी वस्तुओंको कैसे ढूँढ़े ? अंदर उसका घबरा जाना ही स्वाभाविक है, इसीलिये कुछ दिन इसे अंदरके विचारमें स्थिर करना होगा। इससे अंदर देखनेकी इसकी शक्ति बढ़ेगी।

गँदले, चञ्चल और अँधेरे पानीके हौजमें पड़ी हुई किसी चीजको अथवा अपनी परछाईंको कोई कैसे देख सकता है ? मल, विक्षेप और आवरणसे युक्त बुद्धि भी, इसी प्रकार, आत्मतेजको प्रत्यक्ष कैसे कर सकती है ? निर्मल, निश्चल और प्रकाश (ज्ञान) युक्त बुद्धि ही आत्मानुभवमें समर्थ होती है। कपड़ा सीनेके लिये सूईकी जरूरत होती है, कुदालकी नहीं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म जो आत्मतत्त्व है उसके साथ युक्त होनेके लिये, उसी प्रकार, अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिकी आवश्यकता होती है; स्थूल बुद्धिसे वहाँ काम नहीं चलता। अर्थात् आत्मानुभवके लिये चित्तकी शुद्धि, मनकी स्थिरता और बुद्धिकी सूक्ष्मता होनी चाहिये और जिस उपायके करनेसे यह काम बन जाय, उसीको हम साधना कहेंगे। सद्ग्रन्थों और साधु-संतोंने जहाँ-जहाँ जो-जो साधन बताये हैं, उन सबका मर्म यही है। साधन चाहे जितने भी कठिन हों; पर

जिनसे यह काम न बनता हो वे साधन नहीं, केवल भ्रमविलास हैं।

बहुत लोग परमानन्दलाभकी इच्छासे साधनमें लगते हैं। परन्तु रहस्यको न जाननेवाले इन साधनोंसे कोई लाभ उठाते नहीं नज़र आते। प्रायः यही देखनेमें आता है कि लोग साधनके सौन्दर्य, काठिन्य और वैशिष्ट्यका ही अधिक आदर करते हैं और कठिन साधनोंके पीछे पड़ जाते हैं। परन्तु साधनके बाह्यरूपमें क्या रक्खा है? परमार्थदृष्टिसे उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं। वृत्तिको सुधारनेका काम है, यदि वह घर बैठे होता हो तो वही सबसे श्रेष्ठ साधन है। कहते भी हैं—'मन चंगा तो कठौतीमें गङ्गा।'

बहुतेरे यही रोना रोते हैं कि 'हमने कितने ही साधन किये, जप किया, दान किया, तीर्थयात्रा की, कितने व्रत किये, पर चित्तकी शुद्धि नहीं हुई; मन जहाँ पहले भटका करता था, वहीं अब भी भटकता ही है! आखिर ऐसा क्यों होता है?' बात यह है कि इन बेचारोंको यही पता नहीं है कि चित्त है क्या चीज और जब यही नहीं जानते, तब शुद्ध और स्थिर तो किसको करें और कैसे करें? इसलिये चित्त क्या है, यह पहले जानना चाहिये; तब उसे शुद्ध और स्थिर करना अनायास ही हो जायगा।

आप जो चिन्ता या चिन्तन करते हैं, आपके इस स्वभावको ही चित्त कहते हैं। चित्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ है ही नहीं। यह कहना कि चित्त शुद्ध नहीं होता, केवल अपनी मूर्खता प्रकट करना है। यदि अशुद्ध चिन्तन करते ही रहेंगे तो सैकड़ों साधनोंके करनेसे भी क्या होगा? जबतक आप शुद्ध चिन्तन न करेंगे, तबतक बाह्य साधनोंसे कुछ भी न होगा। हाँ, यह बात सही है कि 'हम अशुद्ध चिन्तन न करेंगे' केवल ऐसा निश्चय कर लेनेसे ही चित्त शुद्ध हो जाता हो—यह बात नहीं है। कारण, आप सांसारिक सुखकी इच्छा तो करते ही होंगे—सुख, सौन्दर्य और प्रेमकी अनुभूति तो आपको जगत्‌में होती ही होगी। यदि ऐसा है तो इनका चिन्तन भी आप अवश्य ही करेंगे; वह कैसे छूट सकता है? और फिर इस हालतमें अन्य साधनोंकी भी क्या आवश्यकता है? इसमें तो केवल एक ही साधन है और वह है विवेक। विवेक इसी बातका कि सुख, सौन्दर्य, प्रेम संसारमें सचमुच ही हैं या यह केवल कल्पनाविलास हैं; शान्ति भी इस संसारमें संसारके किसी पदार्थसे किसीको मिलती है या केवल ऐसा भ्रम होता है? यहाँ मेरे-पराये यथार्थमें कौन हैं? कौन कबतकके मेरे साथी हैं और उसके बाद नहीं? अन्तमें फिर यह मृत्यु क्या है? इसको हम क्या समझें? कैसे इसका सामना करें? इत्यादि। यह विवेक जैसे-जैसे होता जायगा, वैसे-ही-वैसे कामना और आसक्ति कम होती जायगी और भगवद्गुण और महिमाका श्रवण करनेसे श्रद्धा-भक्ति बढ़ती जायगी। इस प्रकार चित्तका विरागानुरागयुक्त होना ही चित्तशुद्धि है। उपाय सरल है, पर जो अपने चित्तको शुद्ध करना चाहें उनके लिये। चित्तशुद्धिकी आवश्यकता तो तब ही प्रतीत होती है जब विवेक हो चुकता है; उससे पहले विवेक ही साधन है और इसके लिये सत्सङ्ग करना चाहिये और सद्ग्रन्थोंको पढ़ना-सुनना चाहिये।

मन स्थिर क्यों नहीं होता? मनका स्वरूप है मानना, मनन करना। आप भला-बुरा, सच्चा-झूठा सब कुछ तो माना करते हैं, चाहे जो मनन करते रहते हैं; तब मन स्थिर हो तो कैसे? आप मानना, मनन करना छोड़ दीजिये; मनका कहीं कोई चिह्न भी बाकी न रहेगा। केवल ऊपरी साधनोंसे कुछ न होगा।

मनन यदि किसी तरह बन्द न होता हो तो भगवान्‌की किसी मूर्तिका ही मनन करो, इसी एक संस्कारमें मनको लगा दो, इसीके स्मरण-ध्यानमें मनको केन्द्रीभूत कर दो; इससे मन स्थिर होगा। परन्तु चित्त जबतक शुद्ध नहीं होता, तबतक मनको स्थिर करना सुलभ नहीं होता। वैराग्यसे चित्तशुद्धि और अभ्याससे स्थिरता होती है—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥' (गीता)

मनकी कल्पनाओंके प्रवाहमें बहना छोड़ दो, और तटस्थ होकर साक्षीरूपसे उन्हें देखते रहो तो मन स्थिर ही समझो।

कोई-कोई पूछते हैं, हमें ज्ञान कैसे प्राप्त होगा? बड़े-बड़े पण्डितों और तपस्वियोंकी जहाँ दाल नहीं गलती, वहाँ हमें कौन पूछता है! बहुत ग्रन्थ देखे, भेस लिया, आश्रम-धाम ढूँढ़े, संतोंकी सेवा-टहल की; पर आत्माका कोई पता नहीं चला! ठीक ही तो हुआ। आत्मा क्या बाहर है, वनों और जंगलोंमें है, मठों और आश्रमोंमें है? और क्या उसके लिये पण्डित या तपस्वी होना पड़ता है? जो कुछ किया, आपने अच्छा किया; अब चुपचाप बैठिये; बाहरी ग्रन्थोंको रख दीजिये—अंदरका ग्रन्थ पढ़िये। मन-बुद्धिके मूलका पता लगाइये और इन मन-बुद्धिको जाननेवाले जो आप हैं, उन

अपने आपको पहचानिये । मनको अत्यन्त सुस्थिर रखकर अपने आपको ढूँढ़िये, पता लगा लीजिये; पता चल जायगा । बुद्धिको सूक्ष्म करनेके लिये महावाक्यके विवरण, श्रवण, मनन और निदिध्यासनकी बड़ी आवश्यकता है । पर ग्रन्थवचनोंसे आत्मविषयक (विशेषण या लक्षणके अनुसार) कल्पना और तर्क मत कीजिये । ब्रह्म या आत्मा-नामसे किसी अन्य पदार्थको ढूँढ़ना नहीं है, अपने आपको ही तो जान लेना है !

'हम' या 'मैं' इस शब्दका प्रयोग आप जिस वस्तुके लिये करते हैं, उसे शान्ति और युक्तिके साथ अपने अंदर ही ढूँढ़िये । मूलमें 'मैं', 'हम', 'अहम्' आदि शब्द नहीं हैं; केवल एक आत्मसत्ताका स्वतः स्फूर्त्त सतत बोधमात्र है । 'मैं' पनकी भाषा और कल्पनाको अपनेसे हटा दो; 'मैं और मेरा' का जो-जो कुछ लगाव है, सब अपनेसे अलग कर दो। स्मरण-विस्मरणसे रहित होकर स्वभावमें स्थिर हो जाओ । इस स्वभावको जाननेवाला (प्रकाश करनेवाला) आपका जो स्वरूप है, वही आप हैं । अपनी सत्ताको स्फुरित न करके स्वस्थ रहो । बस, यही आप हैं; यही आत्मस्वरूप है । 'स्वरूप कहते हैं 'उस अरूपको जो तत्त्वनिरसनके परे है ।' (रामदास)

सबको जाननेवाली, त्रिगुण संस्कारको भी जाननेवाली जो चेतना है उसे भी आप ही प्रकाशित करते हैं । उस चेतनाको पहचानो और फिर उसे पहचाननेवालेको भी पहचानो; पहचाननेकी तब कोई चीज न रहेगी, रह जायगा केवल आत्मस्वरूप । 'जाननेवालेको जहाँ जान लिया, वहीं मैंपनका मूल कट गया (रामदास) ।' जरा गहराईके साथ, शान्तिके साथ ढूँढ़ो; जिसकी सत्तासे ढूँढ़ा जायगा, वही आप हैं । ढूँढ़नेकी उपाधिको छोड़ो, छोड़नेकी उपाधिसे बचो । तब जो कुछ रहा, वह आत्मस्वरूप ही है ।

मन जब स्थिर होता और कल्पना नष्ट होती है, तब क्या रहता है ? 'कुछ नहीं' यही प्रत्यय होता है । इस 'कुछ नहीं' (शून्य) का अभिमान मत धारण करो (कारण, अभिमानधारकत्व ही जीवत्व है) । इस लयको जो प्रकाशित करता है, वही आत्मा है । 'तुकाराम कहते हैं कि जब मन लीन हो जाता है, तब जो कुछ रहता है, वही तुम हो ।' 'वही ब्रह्म मैं हूँ' यह भावना भी आपका ही मन्तव्य है । इसे भी छोड़ो और केवल आप-ही-आप रहो—'केवलं सत्तामात्रस्वरूपं भावं परं ब्रह्म' इति श्रुतिः । युक्तिसे इसका अनुभव करो, पर अन्य होकर नहीं ।

त्रिपुटी कोई हो, वह आपका सत्ताविलास है । ध्याता, ज्ञाता आदि भी आप नहीं हैं, आपकी केवल एक लहर है । अथवा आपके आश्रयमें क्रीडन करनेवाली कल्पनाके कार्यानुसार आपपर होनेवाले वे मिथ्या आरोप हैं । ध्याता-ध्यान-ध्येय, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय इत्यादि त्रिविध वस्तुओंको जो प्रकाशित करता है वही आत्मा है । वही आप हैं । त्रिपुटीका अतिक्रम करके देख लीजिये, तन्मय हो जाइये । किसी प्रक्रियासे हो, अपनी सहज आत्मस्थितिको अनुभव करना ही तो सब साधनोंका सार है । अनुभवी महात्माओंका आश्रय ग्रहणकर अन्तर्युक्ति सीख लीजिये और अनुभव करिये; बस, इतना ही काम है ।

गुरू कृपा जेहि नरपर कीन्ही तिन्ह यह जुगति पिछानी ।
नानक लीन भयो गोबिंद सँग ज्यों पानीमें पानी ॥

उस युक्तिको जानना ही यथार्थमें गुरुकृपा है ।

सारा संसार एक महास्वप्न है । केवल कल्पित नाम-रूपसे सब भेद देख पड़ते हैं । परन्तु यथार्थमें अस्ति, भाति, प्रियत्वके सिवा और कुछ भी इस संसारमें नहीं है । संसार संसाररूपसे मिथ्या और सच्चिदानन्दरूपसे सत्य है । अर्थात् जगत् या देहकी कल्पना आदि मिथ्या और एक तत्त्व ही अखण्ड है । भेदभावकी कल्पना जहाँ छूटी, वहाँ सब एक ही है । इस प्रकार यथार्थ जानकर जो लोग अखण्ड अनुसन्धान करते हैं, वे स्वानन्द-सिन्धुमें खेलते हुए अन्तमें उसीके साथ सर्वथा समरस हो जाते हैं । जो कुछ प्राप्तव्य है, यही है ।

तात्पर्य—

(कु०) परमानन्दहि ध्येय है, है वह हरिका नूर ।
दूर दूर क्या सोचता, है सबमें भरपूर ॥
है सबमें भरपूर, सच्चिदानन्द वही तू ।
मृषा नाम अरु रूप, छाड़ अध्यास तुही तू ॥
चाह कल्पना छोड़, मृषा तज मैंपन बंधहि ।
रह जा चुप्प सुदाम ! सहज तू परमानन्दहि ॥

अनाहत नाद

(लेखक—स्वामी नयनानन्दजी सरस्वती)

संत-समाजका एक बड़ा भारी भाग अनाहत नाद या अनहद नादका उपासक है। कबीर, रैदास, नानक और राधास्वामीने केवल अनहद-योगका प्रचार किया था। उक्त आचार्योंने, अपने-अपने अलग-अलग मत या सम्प्रदाय कायम किये और उनको अनहद नादका साधन बतलाया।

विराट्में जितने मण्डल हैं—उनमेंसे दस मण्डलोंने शब्द भी जारी किये हैं। इन मण्डलोंमें प्रत्येक मण्डल अपना एक शब्द रखता है। विराट्में कुल छत्तीस मण्डल हैं और वे सब अपना-अपना एक-एक शब्द रखते हैं। परन्तु केवल दसका शब्द प्रकट स्वरमें चालू है और शेष छब्बीस मण्डलोंके शब्द स्वररूपसे गुप्त आवाजमें चालू रहते हैं। उपर्युक्त ३६ मण्डल अलग-अलग अपना रंग, रूप, शब्द और अधिकार रखते हैं। उन सबकी अर्द्धमात्राएँ अलग हैं, उनके बीज यानी शिव भी अलग-अलग हैं। प्रत्येक मण्डलसे जो सूत्र यहाँ आता है, वह स्वर या शब्दके रूपमें ही होता है। इसराज नामक बाजेमें जो ३६ तार होते हैं, वे ३६ मंज़िलके स्मारक हैं और ३६ प्रकारके अनाहत नादके द्योतक हैं। दस प्रकारका अनहद कानसे सुना जाता है। बाकी २६ प्रकारका अनहद—जो स्वररूप है—केवल अनुभवके कानसे सुनायी पड़ता है। वे लोग यथार्थ नहीं जानते, जो अनहदको केवल दस ही प्रकारका जानते या मानते हैं। कारण यह कि जो दस मण्डल अखण्ड अर्द्ध-मात्राके नीचे—अर्द्धचन्द्राकार घेरेमें—आबाद हैं—वहींसे प्रकट शब्द हुआ करता है और अनहद नादके जितने प्रचारक संसारमें आये, वे सब उन मण्डलोंके ही शिव लोग ही थे। अखण्ड अर्द्धमात्रासे लेकर पूर्णमात्रातक जितनी मंज़िलें हैं—या जितने मण्डल हैं, उनके शिव या कारण-शरीर इस मायिक भूमिकापर नहीं आये। इसीलिये उनके मण्डलोंका स्वर लोगोंको सुनायी नहीं पड़ा। हाँ, परमरम्य भविष्य महाकालमें वे सब इस भूमिपर अवतार लेंगे। उसी समय छत्तीस तारवाला इसराज बजेगा! तबतक दस तारवाली सारंगी बजाते रहिये।

अनहदसे लाभ

१—अगर मरते समय किसी नादको पकड़ लिया जाय तो मृतककी आत्मा उसी मण्डलमें जा पहुँचेगी, जहाँसे वह शब्द आ रहा है।

२—नादके पथिकको यमदूत नहीं पकड़ सकते, क्योंकि वे मण्डल यमलोकसे बहुत ऊँचे हैं।

३—नादके अभ्यासीकी बुद्धि विकसित होती रहती है। उसकी समझमें सत्यका प्रकाश आने लगता है।

४—नादके अभ्यासीको एकदम किसी-न-किसी स्वर्गके मण्डलमें स्थान मिल जाता है। जिस तारको पकड़कर रूह चढ़ेगी, उसी तारकी सरकारमें वह जा पहुँचेगा। परन्तु पाप-पुण्यके चक्रसे वह भी सुरक्षित नहीं। जब उसका पुण्य समाप्त होगा, वह फिर अपने पाप भोगनेके लिये इसी भूमिपर उतार दिया जायगा।

५—नादके अभ्यासीपर कामादि पाँचों शैतानी तत्त्व अपना प्रभाव कम डाल सकते हैं।

अनहद नाद

नंबर	मण्डलका नाम	स्वर है या शब्द	उसकी उपमा
१	संहारक देवका लोक	शब्द	पायजेबकी झङ्कार-सी
२	पालक देवका लोक	,,	सागरकी लहर-सी
३	सृजक देवका लोक	,,	मृदङ्ग-सी
४	सहस्रदलकमल	,,	शङ्ख-सी
५	आनन्द-मण्डल	,,	तुरही-सी
६	चिदानन्द-मण्डल	,,	मुरली-सी
७	सच्चिदानन्द-मण्डल	,,	बीन-सी
८	अखण्ड अर्द्धमात्रा	,,	सिंहगर्जन-सी
९	अगम मण्डल	,,	नफीरी-सी
१०	अलख मण्डल	,,	बुलबुल-सी

उपर्युक्त १० मण्डल अपराके इलाकेमें हैं और शेष २६ मण्डल पराके इलाकेमें हैं।

नादका अभ्यास

प्रातःकाल शौचादिसे छुट्टी पाकर किसी एकान्त स्थानपर चले जाओ। मुरदा आसन लगाओ यानी सीधे लेट जाओ। हाथके दोनों अँगूठोंसे दोनों कान बंद करो। अपने ही घटमें शब्द सुनायी पड़ना शुरू हो जायगा। अपनी दायीं ओरके शब्दोंको सुनना चाहिये। बायीं ओरके शब्द मायाके हैं और त्याज्य हैं।

साधनाकी एक झाँकी

मन कल्पनाओंका पुञ्ज है। सुषुप्तिमें जो कल्पनाएँ विलीन रहती हैं, वे ही स्वप्नमें और जागरितमें उठा करती हैं और जिन वस्तुओं और घटनाओंका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, उनका *बनावटी सम्बन्ध* जोड़कर *व्यवहारकी विशाल एवं* जटिल परम्परा खड़ी कर देती हैं। मैं तो कभी-कभी इन कल्पनाओंके जालमें ऐसा उलझ जाता हूँ कि उनसे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। ऐसा अनेकों बार होता है। किसी-किसी दिनकी कल्पनाएँ बड़ी मनोरञ्जक और लाभप्रद हो जाती हैं, पीछे उनके स्मरणसे भी मनोरञ्जन और लाभ होता है। इसलिये एक दिन ब्रह्मवेलामें, जब कि वृत्तियोंको निस्सङ्कल्प करके मुझे शान्त-भावसे बैठा रहना चाहिये था, जिन कल्पनाओंके प्रवाहमें मैं बह गया था, उनका स्मरण किया जाता है।

दरबार लगा हुआ था। बहुत-से दरबारी मौन-भावसे अपने-अपने स्थानपर बैठे थे। सबसे ऊँचे आसनपर अपनी धर्मपत्नी बुद्धिदेवीके *साथ महाराज अहङ्कार विराजमान थे।* उस सभाके सदस्योंमें मूर्तिमान् रूपसे दस इन्द्रिय, पाँच प्राण, पाँच भूत और मन उपस्थित था। कुछ अव्यक्तरूपसे थे और कुछ छोटे-मोटे दूसरे लोग भी थे; परन्तु उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं था। यह विशाल सभा-मण्डप और उसकी प्रत्येक क्रिया मेरी आँखोंके सामने थी। परन्तु मैं कहाँ हूँ और किस रूपसे देख रहा हूँ, यह मुझे पता नहीं था; मैं केवल देख रहा था। राजासाहबने मनको बुलाया और कहा कि यहाँ जितने सदस्य उपस्थित हैं, उनको एक-एक करके मेरे सामने लाओ; मैं उनका परिचय, जीविका और उनके जीवनका उद्देश्य जानना चाहता हूँ। मनने हाथ जोड़कर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की।

एक अधेड़ स्त्रीके साथ मन उनके निकट उपस्थित हुआ। अहङ्कारने पूछा, 'तुम कौन हो?' उस स्त्रीने उत्तर दिया, 'मेरा नाम पृथिवी है।' उन्होंने पूछा, 'तुम्हारी *जीविका क्या है?' पृथिवी—'मुझे जीविकाके लिये कोई* प्रयत्न नहीं करना पड़ता। मुझे प्रत्येक समय सर्दी, गर्मी, हवा, और अवकाश मिलता रहता है और सहज रूपसे ही मैं समस्त भूत-प्राणियोंको धारण किये रहती हूँ। न मुझे कोई चिन्ता होती है और न तो अशान्ति। यही मेरी जीविका है और इसीमें मैं लग्न रहती हूँ।' अहङ्कार—'तुम्हारे जीवनका उद्देश्य क्या है?' पृथिवी—'मेरा स्वतन्त्र जीवन ही क्या है कि उसका कोई उद्देश्य हो? जिसने मुझे अस्तित्व दिया, जिसने *मुझे प्रकृतिकी गोदसे निकाला,* जो मुझे धारण किये हुए है, वह जैसे नचाता है नाचती हूँ। मेरी एक-एक चेष्टा उसके इशारेसे ही होती है। शायद इससे वह रीझता हो; परन्तु मैं उसको रिझाती हूँ, ऐसी बात नहीं। मेरा कुछ उद्देश्य नहीं और उसके उद्देश्यका मुझे पता नहीं।' अहङ्कार—'वह यदि तुम्हें पानीमें गला दे, आगमें जला दे, तुम्हारा अस्तित्व नष्ट कर दे तो क्या तुम्हें दुःख नहीं होगा?' पृथिवी—'बिल्कुल नहीं। उसकी इच्छा ही मेरा जीवन है और मृत्यु भी वही है। जीवन-मृत्यु नहीं हैं, उसकी इच्छा है। फिर अन्तर क्या? मेरे चित्तमें दुःख और सुखकी कल्पना ही नहीं उठती।' अहङ्कार—'अच्छा, जाओ। अपने स्थानपर रहो। तुमसे कुछ नहीं कहना है।'

मन एक दूसरे सदस्यके साथ पुनः उपस्थित हुआ। अहङ्कार—'तुम्हारा नाम?' आगन्तुक सदस्य—'जल।' अहङ्कार—'तुम्हारी जीविका क्या है?' जल—'मुझे चाहे जो अपने काममें लावे, मैं आपत्ति नहीं करता। पृथिवी मुझसे स्निग्ध हो, सूर्य मेरा पान करे, वायुमण्डल मुझसे शीतल हो और मैं आवश्यकताके अनुसार उनका उपयोग कर लूँ। बस, यही मेरी जीविका है। इसके लिये न मुझे चिन्ता करनी पड़ती है न कोई श्रम।' अहङ्कार—'तुम्हारे जीवनका उद्देश्य क्या है?' जल—'यह मैं नहीं जानता। जिसने मुझे अस्तित्व दिया है, उज्जीवित किया है, उसीकी प्रेरणासे बादलसे पर्वतपर, पर्वतसे भूमिपर, भूमिसे समुद्रमें और समुद्रसे बादलमें घूमा करता हूँ। जो घुमाता है, वह इसका रहस्य जानता होगा।' अहङ्कार—'तब इस यात्रामें तुम्हें रसका अनुभव होता होगा, कभी यह बन्द हो जाय तो?' जल—'मैंने कभी नहीं चाहा था कि मुझे कोई घुमावे, यह भी नहीं चाहता कि यह घूमना बन्द हो जाय। *जब घूमने-न-घूमनेकी इच्छा ही नहीं है, तब मेरे* लिये कोई भी परिस्थिति नीरस कैसे हो सकती है?' अहङ्कार—'तुम्हें कोई जला दे, सुखा दे, नष्ट कर दे तब?' *जल—'जल जाऊँगा, सूख जाऊँगा, नष्ट हो जाऊँगा।'* अहङ्कार—'तुम्हें दुःख नहीं होगा?' जल—'न, बराबर

ही तो हैं सब। जब जीना दूसरेकी इच्छासे, तब मरना भी दूसरेकी इच्छासे। दूसरेकी इच्छा ही अपना जीवन है। न इसमें दुःख है न सुख।' अहङ्कार—'ठीक है, जाओ।'

मनने एक तेजस्वी मूर्तिके साथ प्रवेश किया। अहङ्कार—'कौन हो तुम?' अग्नि—'मैं अग्नि हूँ।' अहङ्कार—'क्या जीविका है तुम्हारी?' अग्नि—'जिसकी जितनी इच्छा हो, मुझसे उष्णता और प्रकाश ले ले। मैं भी वायु, जल, पृथिवी आदिका उपयोग कर लेता हूँ। यही मेरा स्वरूप है। न इसमें मेरा कर्तृत्व है और न आसक्ति ही।' अहङ्कार—'यह किसलिये करते हो तुम?' अग्नि—'कोई कराता है मुझसे।' अहङ्कार—'न करावे तो?' अग्नि—'नहीं करूँगा।' अहङ्कार—'वह तुम्हें नष्ट कर दे तो?' अग्नि—'नष्ट हो जाऊँगा।' अहङ्कार—'यह समत्व तुम्हें कहाँसे प्राप्त हुआ?' अग्नि—'यह भी उसीका दिया हुआ है। मुझे अभिमान था कि मुझमें भी कुछ शक्ति है; पर उसने मुझे अनुभव करा दिया कि वह शक्ति उसीकी है, मैं जो कुछ हूँ उसीका हूँ। चाहे वह नष्ट कर दे या रक्खे, उसकी मौज!' अहङ्कार—'अच्छा, जाओ तुम।'

वायुकी बारी आयी। अहङ्कारके पूछनेपर उसने कहा—'मैं वायु हूँ। मेरी जीविका है—सङ्कर्ष। मैं विद्युत्, प्राणशक्ति और अग्निका निर्माण करता हूँ। संसारकी सम्पूर्ण गतियाँ मेरा आश्रय लेती हैं।' अहङ्कार—'इतनी शक्ति तुममें कहाँसे आयी, वायु?' वायु—'जहाँसे मैं आया। ये मेरी शक्तियाँ हैं—यह तो कहनेकी बात है। यह सब सहज रूपसे होता है, मेरे सोच-विचारकर किये बिना ही। मैं तो एक यन्त्र हूँ। मेरी यन्त्रता भी किसीकी इच्छा ही है, तब मेरी क्या विशेषता है' अहङ्कार—'यदि तुमसे ये सारी शक्तियाँ छीन ली जायँ तो?' वायु—'इसका अर्थ है कि मैं भी छीन लिया जाऊँगा। जिसका मैं हूँ, जिसकी ये शक्तियाँ हैं, वे यदि खींच लें अपने आपमें, अथवा नष्ट ही कर दें तो इससे बढ़कर प्रसन्नताकी बात क्या होगी?' अहङ्कार—'ठीक है, तुम जा सकते हो।'

आकाशने उपस्थित होकर अहङ्कारके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कहा—'मैं आकाश हूँ। अवकाश और शब्द ही मेरा स्वरूप है। मैं चारों भूत और उनसे बने हुए पदार्थोंको धारण करता हूँ। यह भी उन भूतोंकी दृष्टिसे ही मैं कह रहा हूँ। मेरी दृष्टिमें तो वे पराये नहीं हैं। मुझे वे नहीं दीखते। जब मैं देखता हूँ, मैं ही दीखता हूँ। इसमें बनावट नहीं है, विभुका यह सहज स्वरूप ही है।' अहङ्कार—'यदि कोई तुम्हारा नाश कर दे तो?' आकाश—'उस नाशके रूपमें तो मैं ही रहूँगा।' अहङ्कार—'मान लो तुम रहो ही नहीं, तब?' आकाश—'उस समय अवश्य ही वह रहेगा जिसका मैं हूँ, जिसमें मैं हूँ। यदि मेरा अस्तित्व नष्ट होकर उसका अस्तित्व प्रकट हो सके तो मेरा नष्ट होना ही अच्छा है।' अहङ्कार—'परन्तु तुम नष्ट हो जाओ और वह प्रकट न हो तब?' आकाश—'अवश्य ही वह उसकी आँखमिचौनी होगी। उसकी लीलाके लिये मेरा मिट जाना ही सर्वोत्तम है।' अहङ्कार—'तुम पाँचोंका समर्पण पूर्ण है।'

अहङ्कारकी प्रेरणासे मन एक ऐसे व्यक्तिको लेकर उपस्थित हुआ जो एक होनेपर भी पाँच रूपोंमें दीख रहा था। यों समझिये कि एक मूर्ति थी और चार उसकी छाया। पूछनेपर उसने बतलाया कि 'मेरा नाम प्राण है। एक होनेपर भी स्थानभेद और क्रियाभेदसे समष्टि और व्यष्टि दोनोंमें ही मैं पाँच प्रकारका हो जाता हूँ। जगत्‌में जितनी भी चेष्टाएँ हो रही हैं, मेरेद्वारा। स्थूल जगत् यदि क्रिया है तो मैं उसके अंदर रहनेवाली शक्ति हूँ।' अहङ्कार—'तुम समष्टि हो या व्यष्टि?' प्राण—'यों तो मैं समष्टि ही हूँ, मुझमें व्यष्टिका भेद है ही नहीं। परन्तु यह कहनेकी बात है। मैं व्यष्टि हूँ और इस प्रकार व्यष्टि हूँ कि समष्टिको जानता ही नहीं।' अहङ्कार—'तब तुम अपना मोह और बन्धन स्वीकार करते हो।' प्राण—'जी हाँ। मैं ऐसा मानता हूँ कि मेरे ही कारण शरीर जीवित है और रुधिराभिसरण, पाचन आदि क्रियाएँ मेरे ही द्वारा होती हैं—यहाँतक कि मेरे बिना पलक भी नहीं गिर सकती।' अहङ्कार—'यह शक्ति तुम्हारे अंदर कहाँसे आयी?' प्राण—'मैं तो समष्टि-प्राणसे शक्ति लेता हूँ और समष्टि परमात्मासे।' अहङ्कार—'यदि तुम्हें शक्ति न दी जाय तो?' प्राण—'मैं तो वैसी स्थितिकी कल्पनासे ही काँपने लगता हूँ। मेरी रग-रगमें मृत्युकी भयानकता भरी हुई है।' अहङ्कार—'तब तो तुम्हारे अंदर समत्वका अभाव है।' प्राण—'सत्य है।' अहङ्कार—'इस विषमताके अपराध-का दण्ड भोगना पड़ेगा तुम्हें।' प्राण—'दण्ड तो मैं अभी भुगत रहा हूँ। जितना दण्ड मैं भोग रहा हूँ इस समय, इससे अधिक और क्या दण्ड होगा?' अहङ्कार—'अवश्य ही तुम

बन्धनमें जकड़े हुए हो। परन्तु इससे छूटनेका उपाय भी यही है कि तुम और भी बाँध दिये जाओ। तुम्हारी क्रिया सीमित हो जाय। इडा और पिङ्गलाके मार्गमें समरूपसे चलते रहो, यह समता सुषुम्णाका रूप धारण कर ले। तुम्हारा घटना-बढ़ना और स्वेच्छाचार सर्वथा बन्द हो जाय, तुम मेरे सामने रहा करो। एक क्षणके लिये भी मेरी आँखोंसे ओझल मत होओ। तुम्हारे लिये जो यह दण्डकी व्यवस्था की गयी है, यह तुम्हारी उद्देश्यहीनताके कारण है। अवश्य ही इससे तुम्हें दुःख होगा, परन्तु वह दुःख तुम्हारे वर्तमान सुखसे तो बहुत ही उत्तम होगा। तुममें जन्म और मृत्युके प्रति समत्व नहीं है, परमात्माके प्रति समर्पण नहीं है, उद्देश्यकी ओर तुम्हारी गति नहीं है। इसलिये प्राण! तुम कैद कर लिये गये। मेरी आँखोंके सामने स्थिर भावसे खड़े रहो।' प्राण खड़ा हो गया। परन्तु वह बहुत ही धीरे-धीरे काँप रहा था।

अहङ्कारने मनसे कहा—'इन्द्रिय दस हैं, सबको मेरे पास लानेकी आवश्यकता नहीं है। उनकी सम्मतिसे एक प्रमुख इन्द्रियको ले आओ, जो सबका प्रतिनिधित्व कर सके।' तत्क्षण मनने आज्ञा शिरोधार्य की और इन्द्रियोंकी सम्मतिसे वागिन्द्रियको लेकर उपस्थित हुआ। इन्द्रियोंके सम्बन्धमें प्रश्न करनेपर वाक्‌ने कहा—'हमलोगोंकी संख्या दस है—पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं और पाँच कर्मेन्द्रिय। कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियोंके पूरकमात्र हैं। जैसे—नेत्र कोई स्थान देखना चाहता है तो पैर वहाँ पहुँचा देते हैं, त्वक् स्पर्श करना चाहती है तो हाथ उसका स्पर्श करा देते हैं—इत्यादि। प्रधानता ज्ञानेन्द्रियोंकी ही है, उनकी जीविका और उनके जीवनके उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं। कोई शब्दजीवी है तो कोई स्पर्शजीवी और कोई रूपजीवी। उनके जीवनका उद्देश्य है अपने-अपने विषयोंकी पूर्णता प्राप्त करना। जैसे कान चाहता है मधुर शब्दोंके केन्द्रमें स्थित होना, आँखें चाहती हैं रूपराशि और त्वक् सुकोमल स्पर्श। कटु शब्द, असुन्दर रूप और रूक्ष स्पर्श आदिसे उनका द्वेष भी है। सभी अपने-अपने लक्ष्यकी पूर्ति भिन्न-भिन्न दिशामें मानते हैं। इसीसे उन्होंने अपने जीवनमें द्वन्द्वकी सृष्टि कर रक्खी है।'

अहङ्कार—'क्या उन्होंने भगवान्‌के भी सम्बन्धमें कुछ विचार किया है? उन पाँचोंने यह भी सोचा है क्या कि हम सबके उद्देश्यकी पूर्ति एक ही भगवान्‌में होती है?' वाक्—'नहीं। वे अपने-अपने उद्देश्यको पृथक्-पृथक् समझते हैं और उनकी धारणा है कि इनकी पूर्णता ही भगवान् है।' अहङ्कार—'जहाँ उन विषयोंकी आंशिक अभिव्यक्ति रहती है, वहाँ क्या वे भगवत्-रसकी अनुभूति नहीं प्राप्त करते? जिन्हें वे कटु, रूक्ष एवं अप्रिय समझते हैं उनमें भी तो उनके जीवनका उद्देश्य किसी-न-किसी रूपमें है ही? फिर वैषम्य-भावसे द्वेषकी सृष्टि करके दुःखी होना उनका अपराध है। इसलिये उनको इसका दण्ड मिलना चाहिये।' वाक्—'वे दण्ड भोगनेको तैयार नहीं हैं।' अहङ्कार—'यही तो उनका सबसे बड़ा अपराध है। पहला अपराध उनका यह है कि उन्होंने रूप, रस, गन्धादि सबके केन्द्रस्वरूप भगवान् ही हैं—इस बातको स्वीकार नहीं किया। दूसरा यह है कि उन्होंने सर्वत्र अपने प्रिय उद्देश्यको ही नहीं देखा और द्वेषकी सृष्टि की। द्वन्द्वको जन्म देकर उन्होंने सारे संसारको दुःखमय बना दिया। अब दण्ड भोगनेको भी तैयार नहीं। इसलिये मैं उन्हें दण्ड देता हूँ कि वे अपने-अपने गोलकोंमें स्थिर हो जायँ। न बाहर जायँ न भीतर। एक इंच भी यदि इधर-उधर हटीं, रागवश प्रिय वस्तुओंकी ओर बढ़ीं और द्वेषवश अप्रिय वस्तुओंकी ओरसे हटीं तो उन्हें नष्ट कर डाला जायगा।' वाक्—'भगवन्, यह तो इन्द्रियोंके लिये मृत्यु-दण्ड है।' अहङ्कार—'जो जीवित रही हैं, उन्हें मरना भी पड़ेगा। जीवन और मृत्युकी एकरसताका अनुभव करना ही प्रत्येक व्यक्तिका भाग्य है, परन्तु यह मृत्यु वर्तमान जीवनसे सुन्दर है। सब सावधान हो जायँ। मेरी आज्ञा इसी क्षणसे जारी है।' वाक् जहाँ-की-तहाँ सन्न रह गयी। समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने स्थानमें गड़ गयीं। अब उस सभामण्डपमें मन, बुद्धि और अहङ्कारके अतिरिक्त और कोई नहीं था। मै केवल देख रहा था।

बुद्धि देवीने मनसे कहा—'और कोई हो तो उसे मेरे सामने ले आओ।' मन—'जब इन्द्रियाँ स्फूर्तिशून्य हो चुकी हैं, तब मैं और किसीका ज्ञान कैसे प्राप्त करूँ और किसे लाऊँ? मैं तो स्वरूपशून्य हो रहा हूँ।' बुद्धिने मुसकराते हुए कहा—'तुम हो ही क्या?' मन—'मैं वासनाओंका पुञ्ज हूँ; मेरे अंदर भूत, भविष्य और वर्तमानकी कोटि-कोटि वासनाएँ सञ्चित हैं।' बुद्धि—'परन्तु अब तो वे नष्ट हो जायँगी, क्योंकि उन्हें पूर्ण करनेवाली इन्द्रियाँ अब हिल-डोलतक नहीं सकतीं।' मन—'मैं उनके जीवित होनेतक प्रतीक्षा करूँगा। अवश्य ही इस समय मैं शून्य-सा हो रहा हूँ। मेरी वासनाएँ

क्षीण हो रही हैं और मैं मर रहा हूँ। परन्तु नहीं, नहीं; मैं मरना नहीं चाहता। मुझे बचाओ, मेरी रक्षा करो।'

बुद्धि—'अब तुम्हारी रक्षा असम्भव है, तुमने अपनेको और सारे संसारको क्षुब्ध कर दिया। जिसके हो, उसको नहीं जाना। यन्त्र होनेपर भी यन्त्रताका अनुभव नहीं किया। जीवन और मृत्युकी समतामें तुमने ही वैषम्यका आरोप किया और उसे दृढ़ किया। अमृतको विष बना दिया तुमने। तुम्हारे अपराधका यही समुचित दण्ड है कि तुम नष्ट हो जाओ। हाँ, तुम नष्ट हो जाओ।' देखते-ही-देखते मनके शरीरकी छाया भी नहीं रही वहाँ, केवल बुद्धि और अहङ्कार दो ही व्यक्ति थे। मैं केवल देख रहा था।

बुद्धिने अहङ्कारसे कहा—'अब हम और तुम दो ही हैं, मेरा जीवन तुम्हारे आश्रयसे ही है। तुम न रहो तो मैं रह नहीं सकती। अबतक यथाशक्ति तुम्हारी सेवा करती रही हूँ। परन्तु तुमने मुझे अपना रहस्य नहीं बताया। भला, यह भी कोई प्रेम है? जिनका जीवन समर्पित है, तुमने उनकी प्रशंसा की है; जिनमें अहंता थी, आसक्ति थी और ममता थी उन्हें तुमने दण्ड दिया है। परन्तु क्या तुम्हारा जीवन समर्पित है? क्या तुमने भी वही अपराध नहीं किया है, जो उन लोगोंने किया है? तुम्हारे पास इन प्रश्नोंका क्या उत्तर है?'

अहङ्कार—'तुम्हारे प्रश्न हम दोनोंके लिये ही हितकर नहीं हैं, मैं जान-बूझकर इस रहस्यको छिपाये हुए था। उसका भेद खोल देनेपर न तुम रहोगी न मैं।' बुद्धि—'यह तो तुम्हारे कथनके ही विरुद्ध है। अभी तुम हित-अहित और जीवन-मृत्युमें समत्वका पाठ पढ़ा रहे थे। हम दोनोंका नाश हो जाय, यह स्वीकार है; परन्तु हम सत्यके ज्ञानसे वञ्चित रहें, यह स्वीकार नहीं।' अहङ्कार—'इस प्रकार आत्मनाश क्यों किया जाय।' बुद्धि—''जहाँ आत्माका ज्ञान ही नहीं, वहाँ आत्मनाश कैसा? 'क्यों' का प्रश्न तो वह कर सकता है जो आत्माको जानता हो। मेरा प्रश्न 'क्यों' नहीं 'क्या' है।'' अहङ्कार—'अच्छा तो लो, जानो, यह सब मेरा एक खिलवाड़ था। इन्द्रियोंके साथ रमना, तुम्हारे साथ सोचना, फूलकर बैठे रहना और सो जाना—यह सब मेरी एक लीला थी, केवल दिखावाभर था। मैंने सब कुछ किया; पर मैं कुछ नहीं था। मैं एक पोल हूँ, मैं एक प्रतीति हूँ। व्यवहारमें व्यवहारी बनकर रहा, साधकोंमें साधकके रूपमें प्रतिष्ठित हुआ, परमार्थियोंमें परमार्थी हो गया। किसीने पूजा की और किसीने तिरस्कार। परन्तु न मैं व्यावहारिक हूँ न प्रातिभासिक, पारमार्थिककी तो बात ही क्या है। मैं हूँ नहीं, और तुम देखो, मैं नहीं हूँ।' बुद्धिने आँख उठाकर देखा, वास्तवमें अहङ्कार नहीं है! वह किंकर्तव्यविमूढ़-सी हो गयी। उसने चकित होकर कहा—'अरे! जिसने सब कुछ किया वही कुछ नहीं, आश्चर्य है। परन्तु तब यह सब किया ही क्यों? ठीक है; यदि यह सब नहीं करते तो आज मैं उन्हीं प्रतीतियोंमें उलझी रहती। यह अवसर ही न आता, जिससे मैं सत्यको जान पाती। करनेसे ही कुछ न करनेका बोध होता है। उनका करना ठीक था, उनका कहना ठीक था। वे कुछ नहीं थे और मैं भी कुछ नहीं हूँ। उनके बिना मैं कैसी? वास्तवमें मैं कुछ नहीं हूँ।'

मैंने देखा बुद्धि भी नहीं है, परन्तु मैं देख रहा हूँ। सभामण्डप भी नहीं है, परन्तु मैं देख रहा हूँ। मैंने इतने बड़े प्रपञ्चके भाव और अभाव दोनोंको अपनी आँखोंसे देखा। पञ्चभूत, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहङ्कार—इतना ही क्यों, निखिल दृश्यप्रपञ्च मेरी आँखोंके सामने नाचकर अदृश्य हो गये और मैं उनकी इस कार्य और कारण दोनों ही अवस्थाओंको देखता रहा और केवल देखता रहा। परन्तु यह देखना क्या है? मैं देखनेवाला कौन हूँ? यदि ये सब होते तो इनका अभाव न होता। परन्तु ये जब नहीं रहे तो इनका अस्तित्व ही सन्दिग्ध है। सन्दिग्ध ही क्यों, है ही नहीं। तब किसे कौन देख रहा था? मैं ही मैंको देख रहा था? भला, कर्ता कर्म कैसे हो सकता है? कर्ता कर्म नहीं हुआ था, साक्षी साक्ष्य नहीं हुआ था। कर्ता और कर्म, साक्षी और साक्ष्य—दोनों ही प्रतीतिमात्र हैं और सद्वस्तु अर्थात् मैं ('मैं' पदका लक्ष्यार्थ) प्रतीत-अप्रतीत सबका अधिष्ठान है और वस्तुगत्या सब कुछ है। केवल मैं-ही-मैं हूँ।

विचारोंकी धारा यहाँ आकर समाप्त हो गयी और मैं स्थिर एवं निष्कम्प स्वरूपसे स्थित हो गया। अवश्य ही उस समय समयकी स्फुरणा नहीं हुई। जब मैंने आँखें खोलीं, तब सूर्योदय हो रहा था। मेरी आँखोंके सामने उन कल्पनाओंका नृत्य होने लगा। पञ्चमहाभूतोंका समर्पण, प्राणोंकी स्थिरता, इन्द्रियोंकी सजा, मनकी मृत्यु और अहङ्कारका खोखलापन—सब-का-सब मुझे स्मरण हो आया और मुझे मालूम हुआ कि मेरी इस कल्पनामें परमार्थके

साथ ही व्यवहारके सम्बन्धमें बहुत-सी उपादेय बातें हैं। यदि प्राण, इन्द्रिय आदि अपनी विषमताओं, द्वन्द्वोंका परित्याग करके पञ्चभूतोंके समान यन्त्रवत् व्यवहार करने लग जायँ तो इनके निरोधकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। ये स्वयं निरुद्ध हो जाते हैं। यदि ये समर्पित भावसे काम नहीं करते तो इनके निरोधकी आवश्यकता है और वही आवश्यकता इस कल्पनामें अभिव्यक्त हुई है और उसका फल भी प्रत्यक्ष है।

क्या यह कल्पना केवल मनोरञ्जन है अथवा इससे कुछ साधनाका मार्ग भी स्पष्ट होता है?

अमृत-कला

(लेखक—यो० श्रीपार्श्वनाथजी)

सहस्रदल कमलके मध्यमें जो सिंहासन है, उसके नीचे दो कलाओंके दो केन्द्र—जंकशन हैं। एकका नाम है—अमृत-कला और दूसरीका नाम है—मृत्यु-कला।

एक तत्त्व तो सहस्रदल कमलकी शाहीसे नीचेकी तरफ़ उतरता रहता है। उसका रंग जुगनू-जैसा है। उस तत्त्वको देखते ही शहदसे भी सौ गुना 'धुर—मधुर सुगन्धित स्वाद' अपने-आप आने लगता है। अगर उसे पी लो, तो फिर क्या बात! उसी तत्त्वको यानी उसी 'शाहीसूत्र'को—उसी ब्रह्मसूत्रको अमृत-कला कहते हैं। उसको जाननेवाला सर्वदा तथा सर्वथा १६ सालका रहता है। इसीलिये इस अमृत-कलामें 'षोडशी' नामक शक्ति निवास करती है। षोडशी अथवा अमृत-कलापर विचार तभी किया जा सकता है, जब उसके जाननेवाले काफ़ी हों।

सहस्रदल कमलके 'शिव-शक्तिसंयुक्त सिंहासन' के नीचे जो 'कर्णिका' है, वहींसे अमृत-कलाका तत्त्व यानी सोता या सूत्र जारी है और जो सद्गुरुका लाड़ला लड़का उस सोतेका 'आबेहयात' पीने लगता है, वह खुद षोडशी बन जाता है। षोडशीकी शक्ति ही सहस्रदल कमलके परमात्माकी आत्मा है।

वहाँपर कैवल्यरूपसे केवल अमृत-कला ही है। मगर जीवनके उस चन्द्रकी जो चाँदनी वहाँ फैली है, उसे मौतका घोर अन्धकार जकड़े हुए है। इसलिये वहाँ मौतका भी जंकशन है। एक होकर भी वहाँ दो हैं—चाँदनीरूपी जीवन है, अन्धकाररूप मरण है। वहीं दोनों महातत्त्व रहते हैं। सिंहासनके नीचे दो घटाएँ हैं—एक अमृतमयी और दूसरी मरणमयी।

अमृत-कलाके काम

१—अपने साधकको दीर्घ जीवन देती हुई जीवन-मरण-की शिक्षा देती है।

२—अपने साधकको बुढ़ापा और मौतसे बचाये रखती है।

३—अपने साधकको ऐसे महात्माओंसे मिलाती रहती है, जो बहुत दिनोंसे उसके विद्यार्थी हैं—ताकि उसका ज्ञान विस्तृत हो।

अमृत-कलाके सूत्र

अमृत-कलाका सूत्र कुण्डलिनीके भीतर होता है। जिनकी कुण्डलिनी जाग्रत् नहीं हुई, उनको अमृत-कलाका परिचय नहीं हो सकता। उनके लिये अमृत-सूत्र होनेपर भी नहीं है। क्योंकि सहस्रदल कमलवाला वह अमृतवर्षण कुण्डलिनीकी नागनी ही पी जाती है। जीवात्माको पीनेके लिये वह प्राप्त नहीं होता।

भूगोलकी मर्दुमशुमारी दो अरब है। उसमें बहुत थोड़े ही व्यक्ति अमृत-कलासे सम्बन्ध रखते हैं, शेष सब मृत्यु-कला-से सम्बन्ध रखते हैं। जो अमृत-कलामें नहीं गया, वह मृत्यु-कलामें स्वयं फँस जाता है। इस प्रकार प्रायः समस्त संसार मृत्यु-कलासे परिचय रखता है और वह सबके लिये मृत्युको अनिवार्य देखता है।

अमृत-कला चाहती है कि सारा संसार अमर हो जाय। परन्तु वह कुण्डलिनी-आबद्ध होनेसे अपना पूरा काम सफलतापूर्वक नहीं कर सकती। मृत्यु-कला कुण्डलिनीसे आबद्ध नहीं है, इसलिये उसका प्रभाव सर्वत्र सर्वदा पड़ा करता है।

जो लोग कुण्डलिनीबद्ध हैं, उनके लिये अमृत-कलाका परिचय नीचे लिखे साधनोंसे प्राप्त हो सकता है। बाहरी जगत्के कतिपय पदार्थोंमें भी अमृत-कलाकी कला विद्यमान है और वह अमरत्वका प्रचार करती रहती है। जगत्में

बहुत थोड़े अमर लोग ऐसे हैं, जिन्होंने सद्गुरुकृपासे कुण्डलिनीको जाग्रत् करके अमृत-कला प्राप्त की है। शेष सब अमर लोग बाहरी पदार्थोंसे अमर हुए हैं।

१—अमृत-कलाका एक सूत्र प्रत्येक स्त्रीमें मौजूद रहता है। किसी स्त्रीकी दाहिनी आँखमें होकर वह सूत्र नीचेकी तरफ उतरता है और किसीकी बायीं आँखमें होकर। जिस नेत्रमें गुलाबी रंगत छायी हुई हो, समझ लो कि उसी तरफसे अमृत-कलाका सूत्र आ रहा है। स्त्रीको सीधा लिटा देना चाहिये और उसी नसको हाथके अँगूठेसे रगड़ना चाहिये, जो अमृतवाहिनी नस है। इस साधनसे अमृत प्राप्त हो जाता है। उसे धो डालना चाहिये। वह पानीमें मिलता नहीं है। अमृतका रंग हिंगुल-सा सुरख होता है। शहद-सा वह गाढ़ा होता है। उसमें कस्तूरीकी खुशबू होती है। किसी चीज़में मिलता नहीं। पारेकी तरह अपनी सत्ता अलग रखता है। पीनेमें अत्यन्त मधुर। संसारकी सारी मधुरता मात हो जाती है। कम से-कम एक छटाँक पीनेसे अमृतत्व प्राप्त होता है।

२—हिमालय-प्रदेशमें सजीवन बूटी नामक एक जड़ी होती है। उसकी पहचान यह है कि अँधेरी रातमें उसका हर एक पत्ता जुगनूकी तरह चमकता है। लक्ष्मणजीकी जब अकाल मृत्यु आयी थी, तब इसी बूटीने उनको अमरत्व प्रदान किया था। सिद्ध पुरुषोंमें बहुतेरे इसी सञ्जीवनीद्वारा दीर्घजीवी हो सके हैं।

३—जीभका जो हिस्सा नीचे जुड़ा रहता है, उसको कटवा देना चाहिये और मक्खनके सहारे उस जीभको खींच-खींचकर लंबा करना चाहिये। इसके बाद शीर्षासन लगाना चाहिये। नीचे सिर और ऊपर पैर करके खड़ा होना चाहिये। कानोंको हाथोंके दोनों अँगूठोंसे बंद करना चाहिये। नेत्र भी बंद रखने चाहिये। तालूकी तरफ जीभको बढ़ाना चाहिये। अमृत-कलाका जो अमृत घटमें प्रकट होता है, उसको इस साधनद्वारा जीभसे पीना चाहिये। इस साधनवालेके सामने कुण्डलिनीका कपट हार जाता है।

अमर-कलावाला सर्वदा जीवित रहेगा, ऐसी बात नहीं है। अमर-कलावालेकी मौत उसीके अधिकारमें हो जाती है। वह जब मरना चाहे, मर भी सकता है। अपना जीवन-मरण अपने हाथमें कर लेना ही अमृत-कलाका लक्ष्य है।

जीवनके तीन दर्जे हैं—(१) मर (२) अमर (३) अविनाशी। जो सौ सालके भीतर मर जाते हैं, उनको मर कहते हैं। अमर लोग अपनी इच्छा-शक्तिद्वारा मरनेवालोंको मारा करते हैं। जो अपनी मृत्यु अपने हाथमें रखते हैं—जिनको जीवनका स्वराज्य मिल गया है, उनको अमर कहते हैं। वे या तो अपनी इच्छासे मरते हैं या कोई दोष हो जानेके कारण उनको कोई अविनाशी मार डालता है। रावण था अमर—राम थे अविनाशी। रावणने अपना काल अपनी चारपाईसे बाँध रक्खा था। इसका मतलब यही है कि रावणकी मौत उसीके हाथमें थी। वैसा ही हुआ भी। उसने जान-बूझकर एक अविनाशीसे तकरार की और जानसे हाथ धो बैठा।

आशा है कि इस लेखसे पाठक लोग यह बात समझ गये होंगे कि अमृत-कलाद्वारा सबको दीर्घजीवन प्राप्त करनेका अधिकार है।

शरीरका गर्व न करो

गर्व भुलाने देह के, रचि रचि बाँधे पाग।
सो देही नित देखि के, चोंच सँवारे काग॥
सुंदर देही पाय के, मत कोइ करै गुमान।
काल दरेरा खायगा, क्या बूढ़ा क्या ज्वान॥
इस जीने का गर्व क्या, कहा देह की प्रीत।
बात कहत ढह जात है, बारू की-सी भीत॥
देही होय न आपनी, समुझ परी है मोहि।
अबहीं तें तजि राख तूँ, आखिर तजि है तोहिं॥

—मलूकदासजी

महापुरुष-पूजा

(लेखक—शास्त्रवाचस्पति डा० प्रभुदत्तजी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, बी० एस-सी०, विद्यासागर)

सत्यकी उपलब्धिके नानाविध साधन हैं। हमारे आध्यात्मिक अधिकारकी जो विभिन्न भूमिकाएँ हैं, उन्हींके अनुरूप कर्म, भक्ति और ज्ञानकी एक साधन-परम्परा है। पर इसी साध्यका एक इससे भी सुगम साधन है और वह है महापुरुषोंके चरित्र और आचरणका तत्त्वतः अनुकरण करनेका अभ्यास करना। हिन्दू-शास्त्रोंने सत्सङ्गको सर्वदुःखहर भेषज कहा है ('सतां सङ्गो हि भेषजम्')। महापुरुषोंका सामीप्य भी, अध्यात्मकी दृष्टिसे, बड़ा कल्याणकारी होता है। इसीलिये तो भारतवर्षमें साधु-महात्माओंकी सेवा और आदर करनेकी परम्परा अबतक अखण्डरूपसे चली आयी है।

महापुरुष शिक्षा-दीक्षासे महान् नहीं बनाये जाते, वे जन्मतः ही महान् होते हैं। उनकी चाहे कोई अलग जाति न हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनमें महत्त्वासिकी योग्यताका अद्भुत सञ्चय होता है। मनुष्य कर्मके विविध क्षेत्रोंमें महत्ता-लाभ कर सकता है, पर भौतिक महत्ताकी अपेक्षा बौद्धिक महत्ता श्रेष्ठ होती है और जहाँ कोई वास्तविक बौद्धिक महत्ता होती है वहाँ उसके पीछे आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि भी होती ही है। किसीकी वास्तविक महत्ता उसके चरित्र-से प्रकट होती है।

जो लोग धन कमानेमें लगते और बाह्यजीवनके सब सुखोंका संग्रह करते हैं, उनका बहुत लोगोंपर बड़ा प्रभाव होता है, परन्तु यथार्थमें ये लोग महान् नहीं होते। हममेंसे बहुतेरे ऐसे हैं जो, अच्छी नीयतके होते हुए भी, आसुरी सम्पदाका ही पीछा करते हैं। वास्तविक महत्ता उस दैवी सम्पदाके साथ एकत्व-लाभ करनेसे ही मिलती है, जिसका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायमें हुआ है। महान् पुरुष महान् तभी माने जाते हैं जब वे सत्य, अभय, सत्त्व-संशुद्धि, परोपकार, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, असंसक्ति, अक्रोध, अद्वेष और अनहंकारिताका ही जीवन व्यतीत करनेका पूरा-पूरा प्रयत्न करते हैं।

महान् पुरुषोंकी दो कक्षाएँ हैं—एक वे जो इस अध्यात्म-पथपर हैं और अधिकाधिक सदाचार-सिद्धि लाभ कर रहे हैं और दूसरे वे जो सिद्ध हैं। पूर्वोक्त भी हैं तो महान् ही; पर उत्तरोक्त ही महापुरुष हैं। ऐसे सिद्ध महापुरुष सामान्य विधि-निषेधके परे पहुँच जाते हैं और उनका जीवन राग-द्वेष, हर्ष-शोक, लाभालाभ, जय-पराजयादि द्वन्द्वोंसे रहित अवधूतका-सा होता है। इस अवस्थामें उनके लिये कुछ भी शास्त्रोक्त कर्त्तव्य नहीं होता; उनका आचरण ही उनका शास्त्र और अधिकार होता है। उनके उदाहरण देखकर सामान्य लोगोंका कहीं बुद्धि-भेद न हो, इसलिये वे उस अवस्थामें भी वैसे ही आचरण करते हैं, जैसे दूसरे लोग करते हैं।

> **न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।**
> **जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥**
> (गीता ३ । २६)

महापुरुषोंके लक्षणोंको एक दूसरी ही पृष्ठ-भूमिसे देखना भी मनोरञ्जक होगा। इसके लिये उदाहरण-स्वरूप हम विगत शताब्दीके एक ऐसे तत्त्ववेत्ताको लेते हैं, जिन्हें लोगोंने यथावत् समझा ही नहीं है। ये तत्त्ववेत्ता हैं—नीत्शे (१८४०-१९००)।

यूरोपके तत्त्वज्ञानके इतिहासमें नीत्शे (Nietzsche) की महापुरुष-कल्पना एक अनोखी चीज है। इस विषयमें उनके विचार बहुत उद्बोधक हैं। 'दस स्पेक जरथुष्ट्र' (१८८३) इस नामकी अपनी पुस्तकमें उन्होंने 'सुपरमैन' (महापुरुष) शब्दका बारम्बार प्रयोग किया है। बर्नार्ड शाने इस शब्दका प्रयोग करना आरम्भ किया, इसीसे प्रायः यह शब्द अंग्रेजी भाषामें चल पड़ा। नीत्शेके भी पूर्व नेपोलियन, गेटे (Goethe), हाइने (Heine), शोपनहौअर (Schopenhauer), वागनर (Wagner), बिस्मार्क आदि 'सुपरमैन' कहे जाते थे। इन व्यक्तियोंको अवश्य ही सद्-यूरोपियन, अति-राष्ट्रिय अथवा उच्चतर मानव कहा जा सकता है, परन्तु इनमें नीत्शेके 'महापुरुष'—लक्षण नहीं हैं।

बहुत लोगोंकी यह धारणा है कि नीत्शेका महापुरुष कोई महाकाय, महाबल, महाविजयी दानव है जिसको देखते ही मनुष्य भयभीत होकर जमीन चूम लें। परन्तु वस्तुतः नीत्शेने इस कल्पनाका खण्डन ही किया है और यह माना है कि नम्रता और शान्तिमें जो शक्ति है वह दूसरी शक्तियोंसे श्रेष्ठ है तथा लोगोंको डराना-धमकाना और रौंदना-कुचलना उसके लिये कोई जरूरी बात नहीं है, बल्कि उसके द्वारा

सामान्य जनसमुदाय स्वस्थ और उपकृत ही होगा। 'भले-बुरेके परे' (Beyond Good and Evil) नामकी अपनी पुस्तकमें 'मनुष्योंका स्वभावसिद्ध स्वामी' इनके विचारसे, वह मनुष्य है 'जो किसी इष्ट कार्यका नेतृत्व करे, संकल्पको कार्यमें परिणत करे, ऋतमें निष्ठावान् हो, स्त्रीको अपने वशमें रक्खे, बदमाशको दण्ड दे और उखाड़ दे,··· जिसका क्रोध अपने वशमें हो और तलवार अधीन हो, दुर्बल, दुःखी, दलित मनुष्य और पशु भी प्रसन्नतासे जिसका मुँह ताकें और जिसके होकर रहें।'

महत्ताका मूल है ज्ञान और ज्ञान है शक्ति (जैसा कि बहुत समय पहले बेकनने कहा है)। बुद्धिका बल शारीरिक बल और भौतिक पराक्रमसे श्रेष्ठ है और वस्तुतः तत्ववेत्ता ही सबसे महान् पुरुष हैं। नीत्शेने यह भी लिख रक्खा है कि शक्ति दूसरोंको अपने अधीन करनेमें ही नहीं, बल्कि उनके हृदयोंको जीतनेमें है, अन्यथा वैसी शक्ति 'अपूर्ण' ही होती है। यदि नीत्शेके तत्त्वविचारका यही वास्तविक मर्म है तो शत्रुके साथ उदारता और क्षमाका व्यवहार करने और उसका जो कुछ है उसे लौटा देनेकी जो भारतकी पुरातन रीति है, उसके साथ नीत्शेका यह विचार मिलता-जुलता है। यही बात एक प्राचीन इटालियन ग्रन्थकारने बड़ी खूबीके साथ यों कही है कि, 'विजय करना तो वही जानता है जो क्षमा करना जानता है।'

यदि महान् पुरुष सामान्य मनुष्योंके-से नहीं होते बल्कि कई बातोंमें विशिष्ट होते हैं तो इससे यही सिद्ध होता है कि सब मनुष्योंमें उन्नति करनेकी एक-सी क्षमता नहीं होती। अर्थात् सब मनुष्य स्वतन्त्र और समान नहीं; बल्कि सभी एक दूसरेसे भिन्न होते हैं; और इनमें कुछ ही लोग ऐसे होते हैं जो नेता बननेके लिये ही पैदा हुए होते हैं और फिर इन नेताओंमेंसे भी कुछ ही ऐसे होते हैं जो सिद्ध महापुरुष हों। कर्मविपाक-सम्बन्धी हमारे सिद्धान्त ('कर्मसापेक्षत्वात्') से ही जीवनके इस तर-तम भावकी सङ्गति लगती है। नीत्शे भी इन भेदोंको, इस 'श्रेष्ठ-कनिष्ठ-भाव' को, इस अधिकार-भेदको बहुत कुछ वैसा ही मानते हैं, जैसे हिन्दू गुण-कर्म-विभागसे वर्ण-भेदकी सृष्टि मानते हैं।

श्रेष्ठ-कनिष्ठ-भावको इस प्रकार माननेके कारण नीत्शे स्वभावतः ही प्रजातन्त्रको राज्यकी सर्वोत्तम व्यवस्था नहीं मानते। जब यह बात है कि महान् पुरुष ही अपने स्वगत विशिष्ट गुणोंके कारण ही नेतृत्व तथा शासन करनेके लिये पैदा हुए होते हैं, तब प्रजातन्त्र तो केवल निम्न और मध्यम श्रेणीके लोगोंका राज्य हुआ, उत्तम श्रेणीद्वारा शासित उत्तम राज्य नहीं। इसलिये नीत्शेके विचारमें प्रजातन्त्र 'राज्य-व्यवस्थाके क्षीण होनेका ही एक रूप है, महान् पुरुषों और शिष्ट जनोंपर विश्वास न होनेका ही एक चिह्न है।'

नीत्शेका यह भी सिद्धान्त है कि महान् पुरुष अपने कर्त्तव्योंका पाठ अपनेसे बाहरकी किसी संस्थासे नहीं ग्रहण किया करते, उनका सर्वप्रधान कर्त्तव्य 'आत्मसम्मान' होता है। महान् पुरुष, जहाँ कहीं भी हों, सदा 'असंसक्त' रहते हैं। उन्हें एकान्तमें आनन्द मिलता है, वे स्वयं बहुत कुछ एकाकी होते हैं। 'महान् जो कुछ हुआ करता है, वह हाट-बाटसे दूर ही हुआ करता है।'

महान् पुरुषोंका एक दूसरा लक्षण यह है कि उनका जीवन सादा और संयत होता है। वे दुःखको भी आत्मसिद्धिके लाभके लिये तपके तौरपर सहर्ष स्वीकार करते हैं। दुःख सहनेकी क्षमता सचमुच ही महत्ताका ही एक चिह्न है। महान् पुरुष दारिद्र्य और दैन्यको प्रसन्नता-पूर्वक सहते हैं। जो कुछ मिथ्याप्रयुक्त, मिथ्याज्ञात या मिथ्यानिन्दित है, उसे ये बचाते हैं। 'ये उच्चतर वातावरणमें उठ जाते हैं, केवल कभी-कभी नहीं, प्रत्युत वहीं रहते ही हैं।' ये आत्मसंयमके अभ्यासी होते हैं, अपने चित्तकी वृत्तियोंपर जय-लाभ करते और असंसक्तिको बढ़ाते हैं, यदृच्छालाभसन्तुष्ट रहते और अपने जीवनके लिये कृतज्ञ होते हैं।

सिद्ध महापुरुषमें ये सब गुण होते हैं, पर महत्तर-रूपमें। सिद्ध महापुरुषोंका कोई समाज नहीं होता। महापुरुष अपनी ही एकान्त-महिमामें स्थित रहता है। उसमें बच्चेकी-सी सरलता होती है, कभी-कभी वह हँस पड़ता है तो वह सोनेकी-सी चमकवाली उसकी हँसी विलक्षण ही होती है। 'सबसे अधिक दुःख उठानेवाला पशु मनुष्य ही तो है और उसीने हँसना ईजाद किया!'

एक मनुष्य दस हजार या दस लाख मनुष्योंके बराबर है, 'यदि वह सर्वोत्तम हो'। ऐसा मनुष्य कौन है? वही—महापुरुष। महापुरुष मनीषी भी होता है और साथ ही कर्मी भी। वह सदा ऐसी परिस्थितियोंका स्वागत करता है, जिनमें

बड़ी विपत्ति और बड़ी भारी जोखिम है, क्योंकि आपत्कालमें ही वैयक्तिक पुरुषत्वको बढ़नेका अवसर मिलता और वह अपने महत्त्वको प्राप्त होता है। ऐसी विपज्जनक परिस्थितियोंसे ही मनुष्य और भी बलवान् होकर बाहर निकलता है। इस कोटिके मनुष्य ही महापुरुषका सादृश्य-लाभ करते हैं।

इन विचारोंसे यह प्रकट हुआ कि हर कोई पुरुष मनुष्योंका नेता नहीं हो सकता। नेतृत्वका भी एक सहजसिद्ध अधिकार होता है। सिरगिनतीसे या वोट गिनकर बड़े-बड़े प्रश्न हल नहीं किये जा सकते। कुछ ही लोग होते हैं जो अपने सहज अधिकारसे नेतृत्व कर सकते हैं, बहुजन-समाजका काम इतना ही है कि वह उनकी आज्ञाका पालन करे। यही उन्नतिका रास्ता है। जिन लोगोंके मन उत्तम कोटिके नहीं हैं, उन्हें शासन करनेके बजाय आज्ञाधारक होना चाहिये। बौद्धिक महत्ता शासक होनेकी क्षमताका चिह्न है, यह बौद्धिक महत्ता अवश्य ही ऐसी होनी चाहिये जो आध्यात्मिक महत्ताकी ओर आगे बढ़े। सच्चा नेतृत्व पूजनीय है और सच्चे महान् पुरुषोंका नेतृत्व ही जो-जो कुछ हमलोगोंके चाहने योग्य है, उसे पानेका सबसे नजदीकका रास्ता बना देता है। इस प्रकार महापुरुष-पूजा परम पुरुषार्थकी प्राप्तिका बहुत ही अच्छा साधन है।

शरणागति-साधन

(लेखक—पं० श्रीराजमङ्गलनाथजी त्रिपाठी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, साहित्याचार्य)

इस त्रिगुणात्मिका सृष्टिमें तापत्रयसे विमुक्त होनेके लिये लोक-कल्याणकामनासे राग-द्वेषशून्य ऋषियोंने अनेक मार्गोंका अन्वेषण करके समस्त सिद्धियोंको सुलभ कर दिया है। प्रत्येक साधक अवस्थाभेदके अनुसार कल्याण-सिद्धिके लिये किसी-न-किसी साधनका अवलम्बन करता है और साधनानुकूल सिद्धियाँ भी प्राप्त होती ही हैं। परन्तु भगवान्‌की लीला विचित्र है। महामायाकी कृपासे मन कामिनी-काञ्चन-कीर्तिके पाशमें बेतरह फँसा है; फँसना उसका स्वभाव है। अतः इस पाशसे मुक्त होना सहज नहीं है। सृष्टिके भ्रमजालसे मुक्तिकी युक्ति भगवत्-शरणागतिमें ही सूझ सकती है। शास्त्रोंके तथा गीतादि सद्ग्रन्थोंके अनुशीलन और तपःपूत भक्तोंके सत्सङ्गके द्वारा विवेक उत्पन्न होता है। परन्तु हरिकृपाके बिना तो वह भी सम्भव नहीं। भक्तकुलचूड़ामणि तुलसीदासजी कदाचित् इसी संकटमें बोल उठे थे—

'हे हरि, कवन जतन भ्रम भागे ?
देखत सुनत बिचारत यह मन निज सुभाव नहिं त्यागे॥
भगति ग्यान बैराग्य सकल साधन यहि लागि उपाई। (परंतु)
कोउ भल कहहु देउ कछु कोउ असि बासना न जाई॥'

ऐसा वासनासक्त है यह मन! यह उस पतिङ्गेसे भी बेढब है जो जलनेके हेतु ही अग्निमें कूदता है। अनन्त लौकिक शक्तिशाली अर्जुनको भी कल्याण-साधनामें मनकी परवशताकी विकट स्थितिका अनुभव हुआ था। अखिल साधनाओंके प्रवर्तक करुणासिन्धु योगेश्वरने युक्ति बतलायी—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'

—साधकका काम इतनेपर भी नहीं चला। किन्तु उसकी आर्ति इतनी बढ़ी कि दयासागरको और भी उमड़ना पड़ा। भगवान् बोले—सब छोड़कर मेरी शरणमें आ जाओ, सम्पूर्ण काम अपने-आप बन जायँगे। यही तो मूल साधना है। उसका रहस्य है 'एकै साधे सब सधै।' एकान्त ज्ञानके साधक कबीरको भी मनके ममत्वकी प्रबलता खली। बोले—

'मैं मंता मन मारि रे नान्हा करि करि पीस।
तब सुख पावै सुंदरी ब्रह्म झलक्कै सीस॥'

किन्तु मन हमारी कोरी चेतावनीसे सचेष्ट कैसे हो? उसमें अनासक्ति-भावका उदय तो तब होगा जब उसे तपकी अग्निसे तपा लिया जाय। आसक्तिके समस्त उपकरणोंको भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान्‌को ही समर्पण कर दिया जाय। अनन्यशरणागति-रूप साधनामें भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि सब साधनोंका समावेश हो जाता है। आत्मसमर्पण करते ही साधककी स्थितिमें महान् परिवर्तन होता है। अनन्यशरणागतिसे मन-माया-मिलनका विच्छेद होना अवश्यम्भावी है। फिर मोहपाशकी शृङ्खलाओंके टूटनेमें विलम्ब नहीं लगता। अर्जुनने कहा था—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

—यह उक्ति साधकोंकी आशाको निरन्तर दृढ़तर करनेवाली है।

अर्जुनकी विजय हुई। समस्त संसारने विस्मयान्वित हो विस्फारित नेत्रोंसे देखा। न देखनेवालोंके लिये, सोते हुओंको जगानेके लिये संजयने अपनी अमरवाणीको अन्तमें सुनाया—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

साधन-सत्य

(लेखक—डाक्टर हरिहरनाथजी हुक्कू, एम० ए०, डी० लिट्०)

ज़मीन फोड़कर जब नदीका पानी पहाड़ी घाटीमें निकल आया तब उसने यह किसीसे न पूछा कि समुद्र किधर है और मैं किस मार्गसे उसके पास पहुँचूँ ? जोशसे मतवाली वह नदी कूदती-फाँदती छलाँग भरती बस चल पड़ी। उसके हृदयमें तो एक अनन्त समाया हुआ था। उसके दिलने कहा—'तू चल पड़, पूछ मत, पृथ्वीके चारों ओर समुद्र-ही-समुद्र है।' वह दौड़ पड़ी। पत्थर उसे देखकर हँसते थे। वे, बड़े-बड़े पत्थर, उसके रास्तेमें जा बैठे, उसका मार्ग रोकनेके लिये—उसे प्यारेसे न मिलने देनेके लिये। कैसा कड़ा पत्थर-सा उनका कलेजा था! लेकिन नदी दीवानी थी। जो पत्थर उसके मार्गमें रोक डाले पड़े थे, उनसे भी वह बिना प्यारेसे मिले, बिना गले लगाये, आगे न बढ़ी। प्यार-भरे हृदयमें घृणा कहाँ ? जिन पत्थरोंने उसे टक्करें खिलायीं, उनके प्रति भी उसने प्रेम अर्पित किया, अपने स्नेह-स्पर्शसे उनका ताप हरण किया, अपने प्यारसे उनकी विषमता हरी और उन्हें सुडौल बनाया। जो पत्थर उसे दीवानी कहते थे, उसे हँसते थे, वे वहीं पड़े रहे और वह प्रेममस्तीभरी नदी हज़ारों मील दूर निकलकर जिसके मिलनके लिये वह पागल थी उससे एक होकर सुख पा सकी। जिसके मनमें दीवानापन होता है, वही प्यारेको प्यारा होता है। मीरा श्रीकृष्णको प्यारी इसलिये हुई कि वह प्रेम-दीवानी थी। अपना सयानापन ही हमारा सबसे बड़ा वैरी है।

जबतक यह दीवानापन नहीं होता तबतक कोई मन्त्र क्या करेगा ? साधना मनसे या बुद्धिसे नहीं होती। साधना एकाङ्गी प्रयत्न नहीं है। साधना सर्वाङ्गी है, चौबीसों घंटोंकी एक-एक क्षणकी, प्रेम-बाढ़, जिसमें मन, बुद्धि, वाणी, स्वत्व सब कुछ बह चलें।

और जब ऐसी प्रेम-बाढ़में बह चले तो मन्त्र कैसा और क्या पथ पूछना ? जिधर पाँव ले जायँगे उधर ही प्यारा है। जो नाम निकलेगा वही मन्त्रवत् होगा। साधन-पथके लिये मन्त्र केवल एक है—प्यारेका नाम; प्रियतमके हज़ारों नामोंमेंसे वही, जिसे लेते ही प्रेमी अधीर हो जाय, उसके शरीरमें पुलकावलि हो जाय और आँखोंसे अटूट जलधार बह चले।

इन्द्रादि देवोंकी उपासना

(लेखक—गझौसरीनिवासी परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमद्दण्डिस्वामी शिवानन्दजी सरस्वती)

ब्रह्मा दक्षः कुबेरो यमवरुणमरुद्वह्निचन्द्रेन्द्ररुद्राः
शैला नद्यः समुद्रा ग्रहगणमनुजा दैत्यगन्धर्वनागाः।
द्वीपा नक्षत्रतारा रविवसुमुनयो व्योमभूरश्विनौ च
संलीना यस्य सर्वे वपुषि स भगवान् पातु वो विश्वरूपः॥

हम देखते हैं, उपासना-जगत्में उपासक अनन्त हैं। कोई सौर हैं, कोई गाणपत्य हैं, कोई शैव हैं, कोई शाक्त हैं और कोई वैष्णव हैं। इसी प्रकार और भी कई तरहके उपासक हैं। अतः प्रश्न होता है कि देवता कितने हैं ?

भगवान् अनन्त विभूतिमय हैं। वे विश्वेश्वर, विश्वरूप और विश्वमय हैं। जल, स्थल, मरुत्, व्योम सभी उनसे व्याप्त हैं। वे सबके आधार और सर्वमय हैं। इन्द्रादि देवशरीरोंमें उनका अंश सम-भावसे विद्यमान है। समस्त देवोंमें वे अपने पूर्ण अंशसे विराज रहे हैं—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसीसे हमारे शास्त्रोंमें देव-देवियोंकी आराधनाका इतना विशद और विस्तृत विधान है। इसीसे हिन्दुओंके देव-देवी असंख्य हैं, अगणित हैं, उनकी संख्या तैंतीस कोटि बतायी जाती है। तथा इसीसे इन्द्रादि समस्त देवताओंमें भी हिन्दुओंकी पूर्ण आराध्यबुद्धि देखी जाती है। यद्यपि आराध्यदेव 'एकमेवाद्वितीयम्' ही है, तथापि आराधनाके तारतम्यानुसार हिन्दुओंके उपास्यदेव तैंतीस कोटि भी हैं। आराध्यके सम्बन्धमें सभी संज्ञाएँ सम्भव हैं, क्योंकि जो सर्वमय, सर्वस्वरूप और सर्वशक्तिमान् हैं, उन भगवान्‌के लिये क्या सम्भव और क्या असम्भव हो सकता है ? अपने आराध्यके विषयमें अभिज्ञता प्राप्त करनेके लिये कुछ काल गुरुदेवकी शरणमें रहनेका नियम है। हिन्दुओंमें यह बात सदासे चली आयी है। उनकी अस्थि, मज्जा और धमनियोंमें यही शिक्षा गूँज रही है कि 'देवता एक है और वही तैंतीस करोड़ भी है।' हिन्दुओंके योगी, ऋषि, और तपस्वी, हिन्दुओंके वेद, वेदान्त और उपनिषद्, हिन्दुओंके पुराण, उपपुराण और संहिता, हिन्दुओंके

गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास तथा हिन्दुओंकी साकार-निराकार सब प्रकारकी उपासनाएँ पर्यायक्रमसे यही शिक्षा दे रही हैं कि, 'देवता एक है, देवता अनेक हैं, देवता अनन्त हैं—देवता विराट् हैं, देवता अल्प हैं एवं देवता अणु-परमाणुमात्र हैं।' इसीसे मातेश्वरी श्रुति भी श्रवण-मधुर स्वरमें कहती है—'बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।'

अतः विराट्की विशाल धारणाको अपने लिये विषम समझकर पीछे हटनेकी आवश्यकता नहीं है, तुम भगवान्के अणुरूपका ही आश्रय लेकर आगे बढ़ो। इससे भी तुम ऊँची-से-ऊँची साधनापर बड़ी आसानीसे अधिकार प्राप्त कर लोगे। अतएव देवता असंख्य हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, काली, तारा, महाविद्या; राम, कृष्ण, वामन; मत्स्य, कूर्म, वाराह; नृसिंह, परशुराम, बुद्ध; कल्कि, कपिल, दत्तात्रेय; इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, वरुण, यम, कुबेर—ये सभी देव हैं। *यहाँतक कि श्रीहनूमान्जी भी हिन्दुओंके यहाँ* देवताके रूपमें पूजित होते हैं। वस्तुतः इन सब रूपोंमें वे एकमात्र विश्वरूप विश्वेश्वर ही विराजमान हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरादि विभिन्न नाम और रूपोंद्वारा भी उन्हींकी उपासना होती है। हाँ, नाम और रूपकी विलक्षणताके कारण उनकी पूजापद्धतिमें भी भेद अवश्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता, नवम अध्यायमें पाण्डुकुलभूषण अर्जुनसे श्रीभगवान् कहते हैं—

> **येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।**
> **तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥**
> **अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।**
> **न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥**
> **यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।**
> **भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥**

'हे अर्जुन! जो लोग अन्य देवताओंमें भक्ति-भाव रखकर श्रद्धापूर्वक उनकी आराधना करते हैं, वे भी अविधि-पूर्वक मेरी ही पूजा करते हैं, क्योंकि मैं ही सारे यज्ञोंका भोक्ता और अधिष्ठाता हूँ। वे मुझे पूर्णतया जानते नहीं हैं, इसीसे परमार्थसे पतित हो जाते हैं। उनमें जो देवोपासक होते हैं, वे देवताओंके पास जाते हैं, जो पितृगणकी पूजा करनेवाले होते हैं, वे पितृलोकोंमें जाते हैं और जो भूतपूजक होते हैं, वे भूतोंको प्राप्त होते हैं। किन्तु जो मेरी उपासना करते हैं, वे मुझे ही प्राप्त कर लेते हैं।'

तात्पर्य यह है कि एकमात्र सच्चिदानन्दस्वरूप मैं ही परमेश्वर हूँ। मुझसे भिन्न कोई अन्य देवता नहीं है। लोग जो मेरी ओर लक्ष्य न रखकर इन्द्रादि अन्य देवताओं-की उपासना करते हैं, वह उनका भ्रम ही है, क्योंकि अपने निज रूपसे मैं सर्वदा अप्राकृत प्रपञ्चातीत सच्चिदानन्द तत्त्व हूँ।

तुम एकाग्रचित्त होकर यदि सावधानीसे विचारोगे तो तुम्हें स्पष्टतया मालूम होगा कि वे सब देवगण मेरे ही गौण अवतार हैं। जो लोग मेरे वास्तविक तत्त्वको समझकर उन-उन देवताओंकी मेरे गुणावताररूपसे उपासना करते हैं, उनकी वह उपासना वैध-विधियुक्त अर्थात् उन्नतिकी सोपानरूपा मानी जाती है। और जो उन्हें नित्य समझकर पूजते हैं, वे मोहपङ्कमें फँसकर त्रयीजालके फन्देमें पड़ प्रमादसे अविधिपूर्वक असार और अनित्य सुखकी ही उपासना करते हैं। इससे उन्हें नित्य फलकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि *मैं ही समस्त यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु हूँ।* किन्तु वे मुझे जान नहीं पाते, इसलिये स्वर्गपदपर पहुँचकर फिर भोग समाप्त होनेपर वहाँसे लौट आते हैं। इस प्रकार जो लोग अन्यान्य देवताओंकी ही उपासना करते हैं, वे अनित्य और असार वस्तुका आश्रय लेनेके कारण उस देवताके अनित्य लोकको ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार जो पितृ-गणकी उपासना करते हैं, वे पितृ-लोकको, और जो भूतोंको पूजते हैं, वे भूत-लोकको जाते हैं। किन्तु जो नित्य चित्स्वरूप मेरी उपासना करते हैं, वे तो अन्तमें मुझको ही पाते हैं। तात्पर्य यह कि देवोपासकोंको देवगण, पितृपूजकोंको पितृगण एवं भूतोपासकोंको भूतगणकी प्राप्ति होती है तथा मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उन उपासकोंको फल देनेमें मेरा कोई पक्षपात नहीं है। मेरा तो यह अटल नियम है कि सब जीवोंको निरपेक्ष-भावसे उनके कर्मोंका फल देता हूँ। अपने भक्तोंसे भी मैं कोई विशेष वस्तु नहीं चाहता। मुझे तो वे जो कुछ पत्र, पुष्प, फल, जल भक्ति-भावसे भेंट कर देते हैं, उसीको बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार कर लेता हूँ। उस शुद्धचित्त भक्तकी भेंटको मैं तत्क्षण भक्षण कर लेता हूँ।

> **पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।**
> **तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥**

(गीता ९। २६)

किन्तु जो अन्य देवताओंकी उपासना करनेवाले होते हैं वे यदि बड़े परिश्रमसे बहुत-सी सामग्री जुटाकर बड़े

आडम्बरके साथ ऊपरी श्रद्धासे मेरी पूजा करते हैं तो मैं उसमेंसे कुछ भी स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वे किसी-न-किसी निमित्त या फलकी इच्छासे ही ऐसा करते हैं। ऐसे उपासकोंको जिस-जिस कामनासे जिस-जिस देवताकी उपासना करनी चाहिये—इसका विवरण श्रीमद्भागवत, द्वितीय स्कन्धके तीसरे अध्यायमें इस प्रकार दिया है—

ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम्।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्॥ २॥
देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम्।
वसुकामो वसून् रुद्रान्वीर्यकामोऽथ वीर्यवान्॥ ३॥
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान्।
विश्वान्देवान् राज्यकामः साध्यान्संसाधको विशाम्॥ ४॥
आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत्।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ॥ ५॥
रूपाभिकामो गन्धर्वान्स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम्।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम्॥ ६॥
यज्ञं यजेद्यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम्।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थ उमां सतीम्॥ ७॥
धर्मार्थ उत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन्पितॄन्यजेत्।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान्॥ ८॥
राज्यकामो मनून्देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन्यजेत्।
कामकामो यजेत्सोममकामः पुरुषं परम्॥ ९॥

'जिसे ब्रह्मतेजकी इच्छा हो वह ब्रह्माजीकी, जिसे इन्द्रियोंकी पटुताकी अभिलाषा हो वह इन्द्रकी, जिसे प्रजाकी इच्छा हो वह दक्षादि प्रजापतियोंकी, जिसे सौभाग्यकी कामना हो वह दुर्गादेवीकी, जो तेज चाहता हो वह अग्निकी, जिसे धनकी इच्छा हो वह वसुगणकी, जिसे वीर्यकी कामना हो वह रुद्रकी, जो अन्नकामी हो वह अदितिकी, जो स्वर्गकी इच्छा रखता हो वह द्वादश आदित्योंकी, जिसे राज्यकी अभिलाषा हो वह विश्वेदेवोंकी और जो देशकी प्रजाको अपने अधीन करना चाहता हो वह साध्यगणकी उपासना करे। जो दीर्घायु चाहता हो उसे अश्विनीकुमारोंकी, जिसे पुष्टिकी इच्छा हो उसे शस्यश्यामला वसुन्धराकी, जो प्रतिष्ठाकामी हो उसे अन्तरिक्षकी, जो रूप चाहता हो उसे गन्धर्वोंकी, जिसे स्त्रीकी इच्छा हो उसे उर्वशी अप्सराकी तथा जो सबका आधिपत्य चाहता हो उसे प्रजापतिकी आराधना करनी चाहिये। यशकी इच्छावाला यज्ञभगवान्‌की उपासना करे। जो कोशकी कामनावाला हो वह वरुणदेवकी उपासना करे। विद्याभिलाषी श्रीशङ्करकी आराधना करे और दाम्पत्यकी इच्छावाला उमा देवीका पूजन करे। जो धर्मसञ्चय करना चाहता हो उसे श्रीनारायणकी, जो सन्तान-वृद्धिकी इच्छावाला हो उसे पितृगणकी, जिसे रक्षाकी कामना हो उसे यक्षोंकी, जो बल चाहता हो उसे मरुद्गणकी, जिसे राज्यकी इच्छा हो उसे मनुओंकी, जो अभिचार करना चाहता हो उसे राक्षसोंकी, जो भोगोंकी इच्छा रखता हो उसे चन्द्रमाकी और जिसे कोई इच्छा न हो उसे परमपुरुष परमात्माकी उपासना करनी चाहिये।' इस प्रकार लोकमें भिन्न-भिन्न कामनाओंसे भिन्न-भिन्न देवताओंकी आराधना की जाती है। जो लोग किसी वस्तुको पानेके लिये देवताकी उपासना करते हैं वे उसे पाकर ही कृतकृत्य हो जाते हैं। अतः उन्हें किसी अन्य परमार्थतत्त्वको पानेकी अपेक्षा नहीं होती। किन्तु जिनकी उपासना परमार्थतत्त्वकी उपलब्धिके लिये होती है, वे अन्तमें भगवत्तत्त्वस्वरूप मुझको ही पा लेते हैं, क्योंकि वे प्रकारान्तरसे तत्परतापूर्वक अन्य देवतामें भी मेरी ही उपासना करते हैं।

इसके आगे भगवान् अर्जुनका कर्तव्य बताते हैं। वे कहते हैं—'अर्जुन! तुमने धर्म-वीर और कर्म-वीर रूपसे इस मर्त्यलोकमें मेरे साथ अवतार लिया है। तुम निरन्तर मेरी लीलापुष्टिमें नियुक्त हो। इसलिये तुम मेरे सकाम या निष्काम भक्तोंमें ही नहीं गिने जा सकते। तुम्हारे द्वारा तो निष्काम-कर्म और ज्ञान दोनोंसे मिली हुई भक्तिका अनुष्ठान होना चाहिये। अतः तुम्हारा यही कर्तव्य है कि—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९। २७)

'तुम जो कर्मानुष्ठान करो, जो भोजन करो, जो हवन करो, जो दान दो और जो तप करो वह सब मुझे ही अर्पण कर दो।' दूसरे—

'अतः तुम मूलमें अपने कर्मको ही मुझे अर्पण करते हुए भक्ति-भावसे उसका अनुष्ठान करो। इससे तुम कर्मजनित शुभाशुभ फलसे मुक्त हो जाओगे एवं कर्मार्पणरूप त्यागसे युक्त होकर मुक्ति-लाभपूर्वक मेरे स्वरूपभूत तत्त्वको प्राप्त कर सकोगे।'

अतः भगवान्‌के उपर्युक्त शब्दोंसे यह निश्चय होता है कि इन्द्रादि देवताओंके उपासकोंको भी यदि भगवद्भक्तों-का समागम होनेसे भगवान्‌के प्रति अविचल भक्ति-भाव उत्पन्न हो जाता है तब तो उन्हें परम पुरुषार्थकी प्राप्ति समझनी चाहिये, नहीं तो उनका सारा प्रयास व्यर्थ ही है। वे किसी-न-किसी लौकिक या अलौकिक वस्तुको पाकर ही अपनेको कृतकृत्य मान बैठेंगे। परन्तु यदि इन्द्रादि देवताओंकी भी परमात्मबुद्धिसे ही उपासना की जाय तो उसका फल भी परमात्माकी प्राप्ति ही होगा। भगवद्‌बुद्धि होनेसे किसी भी देवताकी उपासनाके फलमें न्यूनाधिकता नहीं होती। यही बात भगवान् बादरायणने भी कही है—'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्' (ब्र० सू० ३। ३। ५९) किन्तु जिन्हें किसी वस्तुकी इच्छा नहीं है अथवा जो पूर्वोक्त सारी ही कामनाएँ रखते हैं वे भी समस्त देवोंके आधारभूत श्रीहरिकी उपासनाद्वारा अपना अभीष्ट-लाभ कर सकते हैं, क्योंकि जिस प्रकार मूलको सींचनेसे वृक्षके पत्ते, शाखा और स्कन्ध सभीका पोषण हो जाता है तथा प्राणोंको खुराक मिल जानेसे सभी इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं, वैसे ही श्रीहरि-की पूजासे समस्त देवताओंकी पूजा हो जाती है। यही बात भक्तशिरोमणि देवर्षि नारदजी कहते हैं—

> यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
> तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
> प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
> तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥
> (श्रीमद्भा० ४। ३१। १४)

परमपुरुष सच्चिदानन्दमय भगवान् विष्णु सभीके उपास्यदेव हैं। सौर, गाणपत्य, शाक्त, शैव कोई भी हों—सभी सम्प्रदायोंके साधक भगवान् विष्णुकी आराधना कर सकते हैं। जो जिस देवताके मन्त्रमें दीक्षित हैं, उन्हें उस मन्त्रके देवता या देवीकी ही उपासना करनी चाहिये—यह तो ठीक है, किन्तु उनकी वह उपासना श्रीविष्णुभगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होनी चाहिये। प्रत्येक साधकको प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष-भावसे पूजा या श्राद्ध-तर्पणादिके समय हृदयकी निर्भरता, प्राणोंकी वेदना और आन्तरिक एकाग्रता-के साथ श्रीविष्णुभगवान्‌के प्रति ही अपनी सारी साधना लगा देनी चाहिये। अतः उपासकके कामनाक्रान्त, वासना-विजडित, कामक्रोधादिकलुषित चित्तकी शुद्धिके लिये सर्वदेवशिरोमणि सर्वाराध्य सर्वशक्तिमान् श्रीविष्णुभगवान्‌की उपासना ही परम उपयोगी एवं मङ्गलमयी है। जिस प्रकार जल मेघादिक्रमसे सूर्यसे उत्पन्न होकर फिर वाष्पादिक्रमसे उसीमें लीन हो जाता है तथा जैसे स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणी पृथिवीसे उत्पन्न होकर अन्तमें उसीमें समा जाते हैं, वैसे ही यह चेतनाचेतनस्वरूप समस्त प्रपञ्च भगवान् हरिसे उत्पन्न होकर अन्तमें उन्हींमें लीन हो जाता है। अतः—

> स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
> ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
> मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
> आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥

हे अशरणशरण! हे जगत्पते! विश्वका मङ्गल हो। दुष्ट पुरुष अनुकूल हो जायँ। समस्त प्राणी आपसमें मिल-कर कल्याणकामना करें। उनका मन अपने मङ्गलकी ओर प्रवृत्त हो और हमारा चित्त अकारण ही आपमें लग जाय।

शोभा-सिन्धु

मोहन-बदन बिलोकत अँखियन उपजत है अनुराग ।
तरनि ताप तलफत चकोरगति पिवत पियूष पराग ।।
लोचन नलिन नये राजत रति पूरन मधुकर भाग ।
मानहु अलि आनंद मिले मकरंद पिवत रतिफाग ।।
भँवरि भाग भ्रकुटी पर कुमकुम चंदन बिंदु विभाग ।
चातक सोम सक्रधनु धनमें निरखत मनु बैराग ।।
कुंचित केस मयूर चंद्रिका मंडल सुमन सुपाग ।
मानहु मदन धनुष-सर लीन्हें बरसत हैं बन बाग ।।
अधरबिंब बिहँसान मनोहर मोहन मुरली राग ।
मानहु सुधा-पयोधि घेरि घन ब्रजपर बरसन लाग ।।
कुंडल मकर कपोलनि झलकत श्रम-सीकरके दाग ।
मानहु मीन मकर मिलि क्रीडत सोभित सरद-तड़ाग ।।
नासा-तिलक प्रसून पदवि पर चिबुक चारु चित खाग ।
दाडिम दसन मंदगति मुसकनि मोहत सुर-नर-नाग ।।
श्रीगोपाल रस रूप भरी हैं 'सूर' सनेह सोहाग ।
ऐसो सोभा सिन्धु बिलोकत इन अँखियनके भाग ।।

—सूरदासजी

इन्द्रादि देवोंकी उपासना

हमारे पूर्वजोंका भी एक युग था । उनकी धन-सम्पत्ति पूर्ण थी, शरीर आरोग्य था, परिवार सुखी था, सबके हृदयमें शान्ति थी, संसारके व्यवहार उनके लिये क्रीड़ा-कौतुक थे, उनके स्मरण करनेसे बड़े-बड़े देवता आ जाते थे, इच्छामात्रसे उनका शरीर ब्रह्मलोकतक जा सकता था, उनके रथ और विमानोंकी गति अप्रतिहत थी, हजारों कोस दूरसे किसी भी वस्तुको वे देख लेते थे, सुन लेते थे, जान लेते थे, भविष्य और भूतका, दूर और निकटका व्यवधान उनके लिये नगण्य था । समस्त वस्तुओंका ज्ञान उनके करामलकवत् था । जिसपर प्रसन्न होते वरदान देते, जिसपर रुष्ट होते दण्ड भी देते । उनमें निग्रह-अनुग्रहकी पूर्ण क्षमता थी । स्वर्गके देवता उनकी सहायताके लिये अपेक्षा किया करते थे । प्राचीन ग्रन्थोंमें इस बातके अनेकों प्रमाण हैं । वे केवल मनगढ़न्त नहीं, ऐतिहासिक हैं, सत्य हैं ।

परन्तु आज हम कहाँ हैं ! हमारे पास अपनी कहनेके लिये एक बित्ता जमीन नहीं, पेट भरनेके लिये दो रोटी नहीं, दुर्भिक्ष, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्दैव और अत्याचारोंसे पीड़ित होकर आज हम सुखसे सो नहीं सकते, एक क्षणके लिये मनको समाहित करके शान्तिका अनुभव नहीं कर सकते । चाहे धनी हों या गरीब, शरीरके भोगों और उपकरणोंके लिये ही इतने चिन्तित हो रहे हैं कि हम केवल स्थूलताओंके बन्धनमें ही जकड़कर मोहग्रस्त और त्रस्त हो रहे हैं और इसीमें इतने उलझ गये हैं कि इस बातका पता ही नहीं रहा कि इन स्थूलताओं और स्थूल बन्धनोंके ऊपर हमारा एक सूक्ष्म रूप है और उसके भी संगी, साथी, सहायक और भी बहुतसे लोग हैं, जिनके द्वारा शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे त्राण पाया जा सकता है और जिनके साथ सम्बन्ध कर लेने मात्रसे लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक उन्नतिको बहुत कुछ सरल बनाया जा सकता है । जो लोग केवल स्थूलशरीरको सत्य समझकर इसीको सुखी करना चाहते हैं, जो केवल स्थूल जगत्के उलझनोंमें लगे हुए हैं, यदि वे संसारमें एकच्छत्र सम्राट् हो जायँ तब भी वे पूर्ण नहीं हो सकते; क्योंकि कोई-न-कोई अभाव उनके साथ लगा रहेगा । कारण स्थूल जगत्का जीवन सूक्ष्म जगत्की अपेक्षा बहुत न्यून है और हमारा हृदय स्थूल जगत्की नहीं, सूक्ष्म जगत्की वस्तु है ।

अध्यात्मवादी हमें क्षमा करें । हम उनके चरणोंमें सिर रखकर प्रार्थना करते हैं कि आप जहाँ हैं वहाँसे विचार नहीं कर रहे हैं । जहाँ आपको पहुँच जाना चाहिये, वहाँसे विचार करते हैं । इस स्थूल जगत् और भगवत्प्राप्तिके बीचमें एक सूक्ष्म जगत् भी है, जो कि आध्यात्मिक उन्नतिमें सीढ़ीका काम करता है । उसकी सहायता लिये बिना आप अध्यात्मपथपर अग्रसर हो रहे हैं, इसका यह अर्थ है कि आप बिना किसी सहारेके, बिना किसी अवलम्बनके आकाशमें विचरण करना चाहते हैं । यदि आप स्थानसे ही यात्रा प्रारम्भ करते, जहाँ कि आप वास्तवमें उलझे हुए हैं, तो आप देखते कि इन स्थूलताओंके भीतर एक महान् सूक्ष्म लोक है, जिसमें इस लोककी अपेक्षा अधिक ज्ञान, अधिक शक्ति, अधिक सुख और अधिक सुव्यवस्था है । वहाँके शासक स्थूल जगत्पर भी आधिपत्य रखते हैं और यहाँकी प्रगति एवं प्रवृत्तियोंमें उनकी मुख्य प्रेरणा रहती है । जैसे यह स्थूलशरीर आप नहीं हैं, इसके अंदर रहनेवाले जीव हैं; वैसे ही पृथ्वीमें, जलमें, अग्निमें, वायुमें, चन्द्रमें, सूर्यमें, प्रत्येक ग्रहमण्डल और भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें एक दिव्य जीव निवास करता है, जिसको पृथ्वीदेवता, अग्निदेवता आदि नामसे कहते हैं, ये स्थूल पृथ्वीमण्डल, जलमण्डल आदि जिनके शरीर हैं । इनकी एक सुव्यवस्थित राजधानी है, सेवक हैं, सहायक हैं, न्यायाधीश हैं और राजा हैं । पृथ्वीकी नियमित गति, जलकी नियमित धारा, अग्निकी उष्णता, स्थूल जगत्के रोग-शोक, इन्हींके द्वारा नियन्त्रित हैं, मर्यादित हैं । इनका एक संगठित राज्य है और उनके पद और पदाधिकारी, उनके समयकी अवधि, सब कुछ नियमसे होता है । कोई प्रत्येक युगमें बदलते हैं, कोई प्रत्येक मन्वन्तरमें बदलते हैं, कोई प्रत्येक कल्पमें बदलते हैं । कभी-कभी इन पदोंपर बड़े-बड़े तपस्वी जीव भी जाते हैं और कभी-कभी ब्रह्मलोकसे आधिकारिक पुरुष भी भेजे जाते हैं । देवताओंके राजा इन्द्र हैं । न्यायाधीश धर्मराज हैं । धनाध्यक्ष कुबेर हैं । इन सबके आचार-व्यवहार, सामर्थ्य-शक्तिके वर्णन वेदोंसे लेकर काव्योंतक सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्यमें और बाइबिल, कुरान आदि अन्य धर्मोंके ग्रन्थोंमें भी मिलते हैं ।

हमारे पूर्वजोंको जो ऐसी महान् शक्ति प्राप्त हुई थी, वह इन्हीं देवताओंकी उपासना और सम्बन्धका फल था ।

यह स्थूल जगत् तो सूक्ष्म जगत्की प्रतिच्छाया मात्र है। सूक्ष्म जगत्से सम्बन्ध होनेपर और उसमें अधिकार प्राप्त होनेपर स्थूल जगत्में मनमाने परिवर्त्तन किये जा सकते हैं। लौकिक उन्नति करनेकी इच्छा हो तो वह सरलतासे सिद्ध हो सकती है। ये देवोपासनाके छोटे-से-छोटे फल हैं। जो लोग इससे ऊपर उठते हैं, स्थूल शरीर और स्थूल जगत्को क्षणिक समझकर सूक्ष्म जगत्में ही विहार करना चाहते हैं, वे देवोपासनाके द्वारा स्वर्गमें कल्पभरके लिये स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे अपनी तपस्या और उपासनाके अनुसार इन्द्र हो सकते हैं। और इन्द्रकी तो बात ही क्या, ब्रह्मातक हो सकते हैं। देवोपासनाके द्वारा यह सब कुछ बहुत ही सुलभ है। इस युगमें सबसे बड़ा ह्रास इस देवोपासनाका ही हुआ है। अध्यात्मवादियोंने यह कहकर कि 'हम ब्रह्मलोकतकके भोगपर लात मारते हैं' और आधिभौतिकोंने यह कहकर कि 'सूक्ष्म लोक कोई वस्तु ही नहीं है' देवोपासनाका परित्याग कर दिया। वर्त्तमान समय इस बातका साक्षी है कि दोनों ही अपने-अपने प्रयासमें असफल हो रहे हैं। अधिकांश अध्यात्मवादियोंका वैराग्य उन लोकोंके न देखनेके कारण अथवा उनपर विश्वास न होनेके कारण है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि जो लोग इस जगत्के एक पुष्पके सौन्दर्य और सौरभ पर लुभा जाते हैं, वे सूक्ष्म लोकोंके अतुलनीय भोगोंपर लात मारनेकी बात कहते हैं। आधिभौतिकोंके सम्बन्धमें यहाँ कुछ कहना अप्रासङ्गिक है, क्योंकि उन बेचारोंको इस विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। क्या ही अच्छा होता कि वे हमारे प्राचीन इतिहासोंको सत्य मानते और श्रद्धायुक्त विवेकसे काम लेकर देवताओंके अस्तित्व एवं महत्त्वको मानते और उनकी सहायतासे शीघ्र-से शीघ्र अपने लक्ष्यतक पहुँच जाते।

इस कथनका यह भाव कदापि नहीं है कि अध्यात्मवादी उन लोकोंके वैभवसे विरक्त न हों। विरक्त तो होना ही चाहिये, परन्तु वह विरक्ति आत्मवञ्चना नहीं हो, पूर्ण हो। पूर्ण वैराग्यमें देवताओंकी उपासना बाधक नहीं साधक ही है। देवता रुष्ट हों तो इन्द्रियों और मनका संयम अत्यन्त कठिन हो जाता है। क्योंकि वे इनकी अधिष्ठातृ-देवता हैं। इसीसे प्राचीनकालमें ऋषिगण यज्ञ-यागादिके द्वारा इनको सन्तुष्ट किया करते थे। देवताओंकी उपासनामें मुख्यता राजसूय, वाजपेय आदि वैदिक यज्ञोंकी ही है। समस्त वेदान्ती और भक्त आचार्योंने एकस्वरसे स्वीकार किया है कि ये यज्ञ, देवोपासना आदि यदि सकामभावसे किये जाते हैं, तो इस लोककी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले होते हैं और परलोकमें इन्द्रत्व और पारमेष्ठ्यको भी देनेवाले होते हैं, और यदि ये ही कर्म निष्काम-भावसे किये जाते हैं तो अन्तःकरणको शुद्ध करके भगवान्की भक्ति अथवा तत्त्वज्ञानके हेतु होते हैं। चाहे सकाम हो या निष्काम, किसी भी अवस्थामें देवोपासना लाभदायक ही होती है। जो लोग इन्द्रियोंका संयम करके मनको एकाग्र एवं परमात्मामें स्थिर करना चाहते हैं, उनके लिये भी देवोपासना बड़ी सहायक है। सूर्यकी उपासनासे, जो कि उनके सामने बैठकर गायत्रीके जपसे होती है, ब्रह्मचर्य स्थिर होता है और आँखें बुरे विषयोंपर नहीं जातीं। नित्य और नैमित्तिक कर्मोंमें देवपूजाके जितने भी मन्त्र हैं, उनमें कहा गया है—'अमुक देवता मेरी इन्द्रियोंको संयत करें, मनको विषयोंसे विमुख करें और अपराधोंकी पुनरावृत्ति न हो, ऐसी कृपा करें।' सन्ध्या और पञ्चमहायज्ञ-जैसे नित्यकर्म भी एक प्रकारसे देवोपासना ही हैं और देवताओंकी सहायता प्राप्त करते रहनेके लिये ही आर्य-जीवनसे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ दिया गया है।

वर्त्तमान युगमें सर्वसम्मतिसे यह स्वीकार कर लिया गया है कि गीता अध्यात्मशास्त्रका एक उज्ज्वल प्रकाश है। इसकी गम्भीरता, महत्ता और तात्त्विकता सर्वमान्य है। गीता ग्रन्थमें प्रसङ्गवश कई बार देवपूजाका उल्लेख हुआ है। सात्त्विक पुरुषोंका वर्णन करते हुए स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि सात्त्विक पुरुष देवताओंकी पूजा करते हैं 'यजन्ते सात्त्विका देवान्'। शारीरिक तपोंमें सर्वप्रथम स्थान देवपूजाको ही प्राप्त है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक स्थलोंमें जैसे यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि बतलाते हुए कहा गया है कि यज्ञके द्वारा तुम उन्नति करो। यज्ञ तुम्हारी समस्त कामनाओंको पूर्ण करे। वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य यज्ञके द्वारा देवताओंको प्रसन्न करें और देवता मनुष्योंको उन्नत करें। इस प्रकार एक दूसरेके सहकारी बनकर परम कल्याण प्राप्त करें। आगे चलकर तो यह भी कहा गया है कि संसारकी सम्पूर्ण सुख-सम्पत्ति देवताओंसे ही प्राप्त होती है। इसलिये उनकी चीज उनको दिये बिना जो भोगते हैं, वे एक प्रकारसे चोर हैं—'स्तेन एव सः'। भगवान्की यह वाणी प्रत्येक साधकको सर्वदा स्मरण रखनी चाहिये कि इस यज्ञचक्रका जो अनुष्ठान नहीं करता, वह इन्द्रियोंके भोगोंमें रमनेवाला पापी व्यर्थ ही जीवन धारण करता है। भगवान्के ये

वचन इतने स्पष्ट हैं कि इनकी टीका-टिप्पणी आवश्यक नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि भगवान्‌ने सकामताको हेय बतलाया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कर्मका ही त्याग कर दिया जाय। यज्ञ करके यज्ञका फल नहीं चाहना यह गीताका सिद्धान्त है। उपासना न करनेवालेकी अपेक्षा तो उपासना करनेवाला श्रेष्ठ ही है। चाहे वह सकाम-भावसे ही क्यों न करता हो। पुराणोंमें और उपासनासम्बन्धी ग्रन्थोंमें ये बातें बहुत स्पष्टरूपसे लिखी हुई हैं।

परमार्थदृष्टिसे परमात्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं होनेपर भी व्यवहारदृष्टिसे सब कुछ है और ज्यों-का-त्यों सत्य है। इसलिये यदि स्थूल लोक सत्य है, तो सूक्ष्म लोककी सत्यतामें कोई सन्देह नहीं रह जाता। फिर इनकी उत्पत्तिका क्रम और इनकी व्यवस्था भी स्वीकार करनी ही पड़ती है। मूलतः इस सृष्टिके कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता एकमात्र ईश्वर ही हैं। वही परम देव हैं। उन्हींको कर्त्तापनकी दृष्टिसे ब्रह्मा, धर्त्तापनकी दृष्टिसे विष्णु और हर्त्तापनकी दृष्टिसे शिव कहते हैं। ये तीनों नाम एक ही ईश्वरके हैं। इसलिये ये भी परम देव ही हैं। इन तीनोंमेंसे ब्रह्माकी उपासना प्रचलित नहीं है; क्योंकि वे अपने कामको स्वाभाविकरूपसे करते रहते हैं और सृष्टिके लिये प्रार्थना करना आवश्यक नहीं है। संसारकी स्थितिके लिये अथवा संसारसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त करनेके लिये उपासना की जाती है। यही कारण है कि विष्णु और शिवकी उपासना अधिक प्रचलित है। संसारकी विभिन्नताओंके स्वामीके रूपमें गणेशकी और प्रकाशकके रूपमें सूर्यकी उपासना होती है। इन सबके साथ यों कहिये कि सबके रूपमें भगवान्‌की अचिन्त्य शक्ति है, इसलिये केवल शक्तिकी भी आराधना होती है। इस प्रकार विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति—ये पाँचों भगवान् ही हैं। इसलिये उपास्यदेवोंमें इन्हींका मुख्य स्थान है। जिस देवताकी जो शक्ति होती है वही उसकी पत्नी है और शक्तिमान्‌के साथ शक्तिका अभेद है। सामान्य देवताओंसे विलक्षण होनेके कारण इन पाँचोंकी गिनती देवताओंमें नहीं होती। समय-समयपर इन सभीके अवतार हुआ करते हैं और इस प्रकार निखिल जगत्‌की रक्षा-दीक्षा होती है।

सूक्ष्म जगत्‌के देवताओंमें अनेकों भेद हैं। ब्राह्मस्वर्गके देवता, माहेन्द्रस्वर्गके देवता और भौमस्वर्गके देवता, इनमें कुछ तो प्रवाहरूपसे निवास करते हैं और कुछ अधिकारीरूपसे। उनके शरीरमें स्थूल पञ्चभूत बहुत ही न्यून परिमाणमें होते हैं और पृथ्वी, जलकी मात्रा तो नहींके बराबर होती है। इसीसे उन्हें पार्थिव भोजनकी आवश्यकता नहीं होती, केवल सूँघनेसे या अमृतपानसे ही उनका जीवन परिपुष्ट रहता है। ब्राह्मस्वर्गमें तो गन्ध या पानकी भी आवश्यकता नहीं होती, इसलिये यज्ञ-यागादिका सम्बन्ध अधिकांश माहेन्द्रस्वर्गसे ही है। भौमस्वर्गके देवता पितर हैं।

देवता दो प्रकारके होते हैं। एक नित्य देवता और दूसरे नैमित्तिक देवता। नित्य देवताओंका पद प्रवाहरूपसे नित्य होता है। जैसे प्रत्येक प्रलयके बाद इन्द्रपद रहेगा ही। ऐसे ही दिक्पाल, लोकपाल आदिके भी पद हैं। इनके अधिकारी बदलते रहते हैं किन्तु पद ज्यों-का-त्यों रहता है। इस समय जो बलि हैं, वे ही आगे इन्द्र हो जायँगे। इनके बदलनेका समय निश्चित रहता है। यह नियम प्रत्येक ब्रह्माण्डमें चलता है। नैमित्तिक देवताका पद समय-समयपर बनता है और नष्ट हो जाता है। जैसे कोई नवीन ग्रामका निर्माण हुआ तो उसके अधिकारीके रूपमें नये ग्राम-देवता बना दिये जायँगे। नवीन गृहके लिये नवीन वास्तु-देवता भी नियुक्त कर दिये जायँगे। परन्तु उस ग्राम और घरके टूटते ही उनका वह अधिकार नष्ट हो जायगा। ग्राम-देवताकी पूजासे ग्रामका और गृह-देवताकी पूजासे गृहका कल्याण होता है। अब भी भारतके गाँवोंमें किसी-न-किसी रूपमें ग्राम-देवता और गृह-देवताकी पूजा चलती है।

देवताओंकी संख्या नहीं हो सकती। जितनी वस्तुएँ हैं, उतने ही देवता हैं। इसीसे शास्त्रोंमें देवताओंको असंख्य कहा गया है। तैंतीस करोड़का हिसाब अक्षपादने दिखलाया है। कहीं-कहीं देवताओंकी संख्या तैंतीस हजार तैंतीस सौ तैंतीस कही गयी है। मुख्यतः तैंतीस देवता माने गये हैं। उनकी संख्या इस प्रकार पूरी होती है। प्रजापति, इन्द्र, द्वादश आदित्य, आठ वसु और ग्यारह रुद्र। निरुक्तके दैवतकाण्डमें देवताओंके स्वरूपके सम्बन्धमें विचार किया गया है। वहाँके वर्णनसे यही तात्पर्य निकलता है कि वे काम-रूप होते हैं; वे स्वेच्छासे स्त्री, पुरुष अथवा अन्यरूप धारण कर सकते हैं। वेदान्त-दर्शनमें कहा गया है कि देवता एक ही समय अनेक स्थानोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे प्रकट होकर अपनी पूजा स्वीकार कर सकते हैं। देवताओंके सम्बन्धमें और भी बहुत-सी ज्ञातव्य बातें हैं, परन्तु विस्तारभयसे उनका उल्लेख नहीं किया जा सकता है। अपने लोकमें वे जिस रूपसे निवास करते हैं, वही उनका स्थायी रूप माना जाता है। उसी रूपमें उनका

ध्यान एवं उपासना की जाती है । वेदोंमें प्रायः सभी देवताओंका वर्णन आया है; जैसे इन्द्रके लिये 'वज्रहस्तः पुरन्दरः'। उनके कर्मका भी वर्णन है कि वे वर्षाके अधिपति हैं और वृत्रवध आदि कर्म करते हैं। वैदिक यज्ञोंके द्वारा देवताओंकी जिस प्रकारसे उपासना की जाती है, यहाँ उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन भी सम्भव नहीं है। तान्त्रिकपूजा-पद्धतिके अनुसार कुछ देवताओंके ध्यान और मन्त्र लिखे जाते हैं।

इन्द्र

इन्द्रका वर्ण पीला है, उनके शरीरपर मयूर-पिच्छके सदृश सहस्र नेत्रोंके चिह्न हैं, उनके एक हाथमें वज्र है और दूसरेमें कमल। अनेकों प्रकारके आभूषण धारण किये हुए हैं। दिक्पतियोंके स्वामी इन्द्रका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये। इन्द्रका मन्त्र है—ॐ इं इन्द्राय नमः।

अग्नि

अग्निका वाहन छाग है। सात ज्वालाएँ निकलती रहती हैं, शरीर स्थूल है, पेट लाल है; भौंह, दाढ़ी, बाल और आँखें पिङ्गल वर्णकी हैं। हाथमें रुद्राक्षकी माला और शक्ति है। अग्निका मन्त्र है—ॐ अग्नये नमः।

कुबेर

कुबेर धनाध्यक्ष हैं। उनके दो हाथ हैं और शरीर नाटा है। पीताम्बर धारण किये हैं। सर्वदा प्रसन्न रहते हैं। यक्ष-गुह्यकोंके स्वामी हैं और धन देनेवाले हैं। इस प्रकार कुबेरका ध्यान करके उनके मन्त्रका जप करना चाहिये। कुबेरका मन्त्र है—ॐ नमः कुबेराय।

वास्तुदेव

वास्तुदेवका शरीर सोनेके रंगका है। उनके शरीरसे लालिमा निकलती रहती है। कानोंमें श्रेष्ठ कुण्डल हैं। अत्यन्त शान्त सौभाग्यशाली और सुन्दर वेश है। हाथमें दण्ड है। सब लोगोंके आश्रय एवं विश्वके बीज हैं। जो प्रणाम करता है, उसके भयको नष्ट कर देते हैं। ऐसे वास्तु-पुरुषका ध्यान करना चाहिये। इनका मन्त्र यह है—ॐ वास्तुपुरुषाय नमः।

देवताओंकी उपासनासे सभी प्रकारके अभाव पूर्ण हो सकते हैं। अनुकूल होनेपर ये भगवत्प्राप्तिमें भी सहायक होते हैं। इसलिये इनकी उपासना करनी चाहिये। भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासनापद्धति भी पृथक्-पृथक् है। जिसकी उपासना करनी हो, उसकी पद्धतिके अनुसार करनी चाहिये।

इन्द्रादि देवोंकी उपासना

(लेखक—मुखिया श्रीविद्यासागरजी)

कानूनकी किताब ही कानून नहीं है। कानून केवल ताजीरातमें ही नहीं है। वेद, गीता, रामायण, कुरान और इंजील भी कानूनी किताबें हैं। गीतामें एक दफा यों आयी है कि—

'जनताको चाहिये कि वह देवोंको सन्तुष्ट करे और देवोंको चाहिये कि वे जनताको सन्तुष्ट करें।'

(गीता ३ । ६)

इस प्रजापालक दफापर किसीने भी ध्यान नहीं दिया। इस दफाके अंदर खेतीका प्राण रख दिया गया है—इसकी खबर किसीको नहीं हुई। बड़े-बड़े नेताओंकी टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हुईं। मगर उन्होंने भी इस दफाकी आवश्यक व्याख्या करना जरूरी न समझा। अंग्रेजीवालोंने तो इस दफाका मुताला अश्रद्धाके साथ किया है। वे सोचते हैं कि गीतामें भी कहीं-कहीं 'मुर्दा दफाएँ' मौजूद हैं। क्योंकि अंग्रेजीवाले देवता और प्रेतोंमें विश्वास लाना नपुंसकता समझते हैं। चाहे कोई शङ्का करे और चाहे कोई तर्क करे कि देव और भूत हैं ही नहीं—इस संसारमें वह सब है कि जिसका नाम सुना जाता है। रूपके बिना नाम पड़ेगा कैसे? जिसका रूप है उसका नाम भी है। जिसका नाम है, उसका रूप भी है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि जिसे देखा नहीं उसे हम नहीं मान सकते। यह उन्होंने कब देखा कि उनकी माता ही उनकी जननी है! सुना हुआ क्यों मानते हैं? फिर देवोंको देखनेका आपने कब प्रयत्न किया? जो लोग देव-दर्शनकी क्रिया बाकायदा करते हैं, वे देवताओंको देखते हैं और जो लोग भूतोंका आवाहन बाकायदा करते हैं, वे भूतोंको भी देखते हैं। आपके बँगलेपर जाकर कोई देव या भूत आपको हाजिरी नहीं देगा। घरसे निकले स्कूलमें घुस गये, स्कूलसे भागे तो घरमें आ टपके। फिर जब नौकरी मिली तो स्कूलके बजाय दफ्तरसे पाला पड़ा। भला, ऐसे अनजान आदमी क्या जानें कि देवता होते हैं या नहीं और

भूतयोनि, वास्तविक है या काल्पनिक ! ऐसे ही लोग कहा करते हैं कि गीतामें भी मुर्दापन है और रामायणमें भी विरोधाभास है ! वे लोग अपने दिमागका मुर्दापन नहीं देखते, अपने दिलका विरोधाभास नहीं देखते !

संसारका जीवन खेतीपर निर्भर है । चौकीदारसे लेकर बादशाह तकका सम्बन्ध खेतीसे है । संसारका समस्त विज्ञान, समस्त विद्याएँ, समस्त कलाएँ, समस्त व्यापार और समस्त कारखानोंकी जड़ खेती है । खेती ही जीवनका जीवन है और खेती ही प्राणोंका प्राण है । अतः खेतीके विषयमें सबको एकमत होना चाहिये ।

दिन-रातके चौबीस घंटोंमें कम-से-कम तीन बार जीवोंको अनाजसे जीवनीशक्ति लेनी पड़ती है । भोजनके सिवा जिन वस्त्रोंद्वारा लोगोंकी इज्जत सुरक्षित रहती है, वे भी खेतीसे ही प्राप्त होते हैं । अतः खेतीके मामलेमें सबको मदद देनी चाहिये ।

यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि संसारकी सञ्चालक एक हजार शक्तियोंमें चार शक्तियाँ प्रधान हैं । वे हैं—(१)हल, (२) कलम (सरस्वती), (३) रुपया (लक्ष्मी) और (४)लाठी (बल) । इन चारोंमें प्रधान खेती है । अतः खेतीके बारेमें सबको दिलचस्पी लेनी चाहिये और विशेष आत्माओंको तो दिलचस्पी लेनी ही चाहिये ।

मनुष्य नर-नारियोंका ही जीवन खेतीसे सम्बद्ध है—ऐसा नहीं । नर-नारी, पशु-पक्षी और भूत-देवता भी अपने-अपने जीवनका निर्वाह खेतीसे ही किया करते हैं । अतः समस्त सचराचरको मिलकर खेतीकी उन्नति करनी चाहिये; क्योंकि अन्नपूर्णाके द्वारके सभी भिखारी हैं !

संसारके उसी मुख्य कार्य खेतीकी आज पूर्ण दुर्दशा है । भारतमें जो अशिक्षित हैं, जिनके किये अन्य कोई उद्योग नहीं हो सकता, वही लोग खेती करते हैं । अर्थात् उत्तम कामका सम्पादन निकृष्ट लोग करते हैं—फिर भला सफलता हो तो कैसे ? इसी कारण कृषि-कला मुर्दा हो रही है । भारतमें इस समय प्रति-बीघा एक मनकी उपजका औसत लग रहा है । इस गिरी हुई उपजके कारण भारतीय किसान आधा पेट रहकर यमयातना सहता है । किसानोंके हाहाकारी चीत्कारसे सारा भूगोल काँप रहा है ।

सरकारने खेतीका महकमा अलग कायम किया है । उसके प्रधान अफसर 'डायरेक्टर आफ़ एग्रीकल्चर' कहलाते हैं । यह महकमा जगह-जगह फार्म खोले बैठा है । लाखों रुपया सालाना खर्च किया जा रहा है । प्रायः फार्म घाटेपर चल रहे हैं । इसका कारण यह है कि वास्तवमें अंग्रेज़ जाति कृषिकलाको नहीं जानती । इसके सिवा, खेतीके कामसे देवताओंका अटूट सम्बन्ध है और देवताओंके नामसे इन लोगोंको बुखार चढ़ आता है !

यूरोपमें धनवान् और ज्ञानवान् लोग खेती करते हैं । वे लोग विज्ञानकी सहायतासे खेती करते हैं । बीज, खाद, जुताई और सिंचाईके कामोंमें निपुण हैं । इसी कारण उनकी उपजका औसत फी बीघा दस मन है । पर वैज्ञानिक उसूलोंसे ही कृषि-कलामें परिपूर्णता नहीं आ सकती । यूरोप-वाले प्रत्येक कलामें अपनेको एम्० ए० मानते हैं, जो उनका कोरा भ्रम है । कानून और कृषिमें वे लोग पूरी तौरसे फेल हुए हैं । अतः भारतीय अशिक्षित किसान और यूरोपीय सुशिक्षित किसान—दोनों ही कृषि-कलामें पूरे 'बुद्धू' प्रमाणित हो चुके हैं । वर्तमानकी अधूरी कृषि-कलापर सफलताकी आशा लादना पूरी चकल्लस है ।

संसारमें जितने चक्रवर्ती सम्राट् हुए हैं, एकको छोड़कर उनमेंसे किसीको भी परिपूर्ण कृषि-कला प्राप्त नहीं हुई । केवल महाराजा रामने कृषि-कलाका परिपूर्ण विधान प्राप्त कर लिया था । जबतक भूगोलका कृषिक्षेत्र महाराजा रामके विधानको स्वीकार नहीं करता, तबतक वह खुद भी भूखों मरेगा और दूसरोंको भी मारता रहेगा ।

महाराजा रामको खेतीकी पूरी कला विदित थी, इसीलिये भारतमें दस हजार सालतक खेती खूब फूली और खूब फली । रामराज्यमें न तो कभी ओले पड़े और न कभी तुषार पड़ा । न कभी अनावृष्टि हुई और न कभी अतिवृष्टि हुई । न कीड़ोंने उपजको चौपट किया और न सूरजने बीजको सुखाया । न कभी चूहे आये और न कभी टिड्डी आयी । भला, यूरोपके कृषिकलाविशारद लोग और भारतीय खेतीके डायरेक्टर लोग जवाब दें कि उनके पास ओला, पाला, तुषार, कीड़ा, अनावृष्टि और अतिवृष्टिके लिये क्या माकूल जवाब है ? इतना ही नहीं, रामराज्यमें किसानोंको जोतना और बोना भी बंद रखना पड़ा । जिसने जिस खेतमें जो चीज बो दी वही दस हजार सालतक बराबर पैदा होती रही । मजा यह कि उपज हरसाल बढ़ती जाती थी ।

किसानका काम था खेतीकी निकाई करना और खेती काटना। जोतना और बोना बन्द। जिस तरह जावाकी खेती एक साल बो देनेसे दस सालतक चलती है, उसी तरह रामराज्यके सभी बीज सर्वदा स्वयं उगा करते थे। कृषि-कला जब परिपूर्ण होती है तब नर-नारी, देव-पितर, भूत-प्रेत और पशु-पक्षी अनाजसे तृप्त हो जाते हैं। बचा हुआ अनाज ही खाद बनकर खेतमें डाला जाता है—इतनी उपज बढ़ जाती है।

महाराजा रामने कृषि-कलाको दो भागोंमें बाँट दिया था—(१) बाह्यजगत्‌के ५ साधन और (२) अन्तर्जगत्‌के ५ साधन। बस, यही परिपूर्ण कृषि-कलाकी चाभी उनके पास थी।

बाहरी साधन

(१) अच्छी जुताई, (२) अच्छी खाद, (३) अच्छा बीज, (४) अच्छी निकाई और (५) अच्छी सिंचाई।

भीतरी साधन

इन्द्रादि देवोंका साधन—(१) इन्द्र, (२) सूर्य, (३) पृथ्वी, (४) वायु और (५) गणेशके यज्ञ।

यों तो देवतालोग तैंतीस प्रकारके होते हैं। परन्तु खेती-के काममें उपर्युक्त पाँच देवताओंका ही सहयोग पर्याप्त है। इन पाँचों देवताओंका सम्मिलित यज्ञ रामनवमीके दिन समस्त भारतमें जारी करा दिया गया था। राम-राज्यने उन वैदिक मन्त्रोंको खोज निकाला था कि जो खेतीके सहायक देवताओंके लिये वेदने निश्चित किये हैं।

मान लीजिये कि खेतीके काममें १० पदार्थ सहायक हैं। ५ बाह्यजगत्‌के साधन और ५ अन्तर्जगत्‌के साधन। अब यदि कोई १० आवश्यक पदार्थोंमेंसे केवल ५ पदार्थोंकी ही सहायतासे ही मुकम्मिल खेती करनेका बीड़ा उठावे तो यह कैसे हो सकता है? खेतीके काममें कुदरतने इन्द्रादि देवताओंकी सहायता अनिवार्य कर दी है। मगर मूर्ख मनुष्य उसके बायकाटपर तुला हुआ है और मजा यह कि वह कृषि-कलामें पूर्णता भी चाहता है।

अब सूर्य, वायु, गणेश, पृथ्वी और इन्द्र आपकी खेती-में काम करेंगे, तब क्या आप उनको उनकी मजदूरी यज्ञके रूपमें अदा नहीं करेंगे? नहीं करेंगे, तो वे भी अपना काम सीधा नहीं करेंगे बल्कि उल्टी माला फेर देंगे, जैसा कि वर्तमान समयमें हो रहा है। यदि देवोंको तृप्त किया जाय और वे लोग मदद न दें या अनुकूल आचरण न करें तो उनपर मुकदमा कायम हो सकता है और गीताकारकी अदालतमें उनको शरमिन्दा किया जा सकता है। लेकिन बिना उनको तृप्त किये उनसे काम लेनेका अधिकार गीता नहीं देती कि जो न्यायानुकूल उचित भी है।

इन्द्रादि देवोंकी उपासनाका फल

१–गणेश=खेतीमें चूहा, टिड्डी और दीमकसे रक्षा करते हैं।

२–सूर्य=किरणोंद्वारा खेतीका शोषण नहीं—पोषण करते हैं।

३–पवन=अनुकूल समयपर बादलोंको लाते हैं।

४–पृथ्वी=उपज बढ़ाती है।

५–इन्द्र=ठीक समयपर जलकी उचित वर्षा करते हैं।

सरकार प्रत्येक गाँवमें ग्रामसुधार-योजनाके अनुसार 'पंचायत' कायम करा रही है। उन पंचायतोंको तीन काम दिये गये हैं—(१) ग्रामकी सफाई, (२) ग्राममें साक्षरता-प्रचार तथा (३) ग्रामके मामलोंका निपटारा। परन्तु जबतक इन्द्रादि देवताओंकी पूजाकी व्यवस्था न होगी, तबतक न खेतीमें पूरी सफलता मिलेगी, न ग्रामसुधार ही होगा।

अतएव इन्द्रादि देवोंकी उपासना आवश्यक है, उसके बिना न तो सांसारिक जीवनकी अन्यान्य इच्छाएँ पूर्ण हो सकती हैं और—

'न मुकम्मिल खेतीका कामयाब प्रोग्राम' ही बन सकता है।

गोविन्दके गुण गाओ

दादू देही देखताँ सब किसही को जाइ।
जब लग साँस सरीरमें गोबिंदके गुण गाइ॥ —दादूजी

साधनाका प्रथम पद

(लेखक—श्रीदेवराजजी विद्यावाचस्पति)

मनुष्यको किसी भी लक्ष्यको सिद्ध करना हो तो सबसे पहले उसे यह दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि उसको अमुक लक्ष्य अवश्य ही सिद्ध करना है। सिद्ध करनेकी इच्छामें जबतक दृढ़ता न आवे तबतक उसको सिद्ध करनेके लिये प्रवृत्ति नहीं होती; यदि प्रवृत्ति हो भी तो उस प्रवृत्तिमें बल न होनेसे कार्य अधूरा ही रह जाता है। ऐसे लोग जो कार्य प्रारम्भ करके बीचमें ही छोड़ देते हैं, मध्यम कोटिके कहलाते हैं। वे मनुष्य जो किसी प्रकारकी आशङ्काके कारण कार्य करनेके लिये प्रवृत्त ही नहीं होते, अधम कोटिके मनुष्य कहलाते हैं; परन्तु जो मनुष्य सब प्रकारकी आशङ्काओंके परिहारका उपाय करके प्रबल इच्छाके साथ कार्यको सिद्ध करनेमें लग जाते हैं और अवश्य सिद्ध कर डालते हैं, वे उत्तम कोटिके मनुष्य कहलाते हैं।

दुर्व्यसनोंमें पड़े हुए अनेक मनुष्य जानते हैं कि हमें दुर्व्यसन छोड़ना चाहिये, उससे हमारी हानि है, तो भी वे आशङ्काओंके कारण छोड़नेमें प्रवृत्त ही नहीं होते, तथा बहुतसे प्रवृत्त होकर भी रुक जाते हैं। दृढ़ सङ्कल्पका बल एक ऐसा बल है, जिसके द्वारा मनुष्य कठिन-से-कठिन कार्यके भी पार पहुँच जाता है। मनुष्यका इतना ही कर्तव्य है कि दृढ़ताके साथ अपनी व्यक्तिगत शक्तिके द्वारा कार्य करना आरम्भ कर दे। यदि ऐसे दृढ़ सङ्कल्पके साथ कार्य आरम्भ हुआ है कि जो कदम आगे बढ़ चुका है वह पीछे नहीं हटेगा—'कार्यं वा साधयेयं देहं वा पातयेयम्'—तो उस कार्यको सिद्ध करनेके लिये जितने भी साधन चाहिये वे यथासमय अवश्य ही उपस्थित हो जायँगे। इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

कार्यको सिद्ध करनेकी इच्छामें जो प्रबल दृढ़ता है वह तप है। इस तपके कारण ही मनुष्य लक्ष्यसे च्युत करनेवाले तथा बीच-बीचमें आनेवाले अवान्तर विषयोंमें भटकनेसे बच जाता है, उनसे विरक्त रहता है। जबतक कार्य समाप्त नहीं हो जाता तबतक मनके अंदर 'यह कार्य मुझको अवश्य ही पूरा करना है' ऐसी आवृत्ति लगातार बनी रहती है।

इस आवृत्तिके लगातार बने रहनेका नाम 'अभ्यास' है। इस अभ्यासके कारण ही लक्ष्यच्युति नहीं होती। तप ही अभ्यास और वैराग्य दो भागोंमें बँट जाता है। व्यवहारमें अपने-अपने कार्योंको करते हुए हमलोग अभ्यास और वैराग्यका साधन कर सकते हैं। अभ्यास और वैराग्यके द्वारा चित्तकी चञ्चलता शान्त होती है और कार्य सिद्ध होता है। तपकी वृद्धिके साथ चञ्चलता दूर होनेसे क्रमशः सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है। जितना ही अधिक सत्त्वगुणका उदय होता है, उतना ही अधिक मनुष्य लक्ष्यके समीप होता है।

साधकका सबसे प्रथम पद लक्ष्यको सिद्ध करनेके लिये चित्तमें विद्यमान अशुद्धिको दूर करना है। तपके द्वारा चित्तमें रजोगुण (चञ्चलता) और तमोगुण (अप्रकाश, अप्रवृत्ति) के मलोंको दूर करना ही सबसे प्रथम पद है।

सोते क्यों हो ?

कबीर सोया क्या करै, जागिके जपो मुरार।
एक दिना है सोवना, लंबे पाँव पसार॥
कबीर सोया क्या करै, उट्ठि न रोवै दुक्ख।
जाका बासा गोरमें, सो क्यों सोवै सुक्ख॥
कबीर सोया क्या करै, आगमकी करु चौंप।
ये दम हीरालाल है, गिनि गिनि गुरुको सौंप॥

—कबीर

माया, महामाया तथा योगमायाका भेद

(लेखक—प्रो० श्रीपारसनाथजी)

पुस्तकोंके पढ़नेसे ही माया, महामाया और योगमायाका भेद नहीं मालूम हो सकता। इस विषयको वस्तुतः वही जान सकता है कि जिसे समाधिके द्वारा अनुभव करनेकी क्षमता प्राप्त हो।

परमात्माने जब जगत्-प्रपञ्च रचनेकी इच्छा की तब इच्छाशक्ति पैदा हुई। वही साकार इच्छाशक्ति जगत्-रचनामें मुख्य कारण है।

कर्त्री इच्छादेवीने ही तीन प्रकारकी मायाको उत्पन्न किया। उन्हींको योगमाया, महामाया तथा माया कहते हैं।

परमात्मामें समस्त तत्त्व घनतत्त्व हो रहे हैं। थोड़े-से घनतत्त्वको लेकर इच्छाशक्तिने योगमायाके द्वारा समस्त तत्त्वोंका पृथक्करण किया। मिले हुए तत्त्वोंको अलग-अलग किया और उन सब तत्त्वोंके नक्शेमें अपने-आप ही योगमाया व्यापक होकर बैठ गयी। एकसे लेकर दस शङ्खतककी पूरी संख्याको बनाया है इच्छाशक्तिने, परन्तु एकको दूसरी संख्यासे जुदा करना और हरेक संख्याकी कीमत स्थिर रखना—यह योगमायाका काम है। सृष्टिके परिपूर्ण हिरण्यगर्भमें तदाकार व्यापकता रखना योगमायाका काम है। कलम बतौर इच्छाशक्ति है। परन्तु, कलमके अक्षरोंमें जो व्यापक स्याही है—वह योगमाया है। मेरी रायसे इस लेखकी सुरखीमें एक कमी रह गयी है। मायाके भेद तीन नहीं—चार हैं। जबतक चारों रूपोंकी आलोचना न की जायगी, मायामण्डलसे पूरी जानकारी न हो सकेगी। पूरी सुरखी यों है—

'माया, महामाया, योगमाया तथा इच्छाशक्तिका भेद।'

इच्छाशक्तिकी परिभाषा

जब सृष्टि नहीं थी तब केवल परमात्मा था। एकाएक उस परमतत्त्वसागरमें यह विचार पैदा हुआ कि 'हमीं-हम हैं—अब यह देखना चाहिये कि हममें कैसा ज्ञान है और कितनी शक्ति है?'

यह जानकर भी कि सम्पूर्ण ज्ञान एवं सम्पूर्ण शक्तिके केन्द्र हमीं हैं, परमात्माने अपने ज्ञान और शक्तिको लेकर खेलनेकी इच्छा की। उसी परमात्मीय इच्छाशक्तिने समस्त जगत्की रचना की है। हमलोग जितनी इच्छाएँ किया करते हैं, वे सब उसी इच्छाशक्तिसे निकलती हैं और उसीमें लय होती हैं। अतएव कर्त्री इच्छाशक्ति है। लोग कहते भी हैं कि—'यह भगवान्की इच्छासे हुआ!' यह बात कोई नहीं कहता कि अमुक काम भगवान्ने किया। यही कहा जाता है कि भगवान्की इच्छासे हुआ। अगर यह कहा जाय कि अमुक घटना भगवान्ने की तो वह गलत है; क्योंकि भगवान् द्रष्टा हैं, कर्ता नहीं। कर्ता इच्छारूपी परमात्मा हैं। परमात्मा निराकार है और इच्छाशक्ति साकार है। भगवान् भी शक्तिको लेकर ही साकार हैं। इच्छाशक्तिने जो जगत्का चित्र बनाया है, उसीमें माया, महामाया तथा योगमायाका विवरण मौजूद है।

योगमायाकी परिभाषा

भगवान्की इच्छाशक्तिके द्वारा बनाये हुए जगत्में जो व्यापक शक्ति वर्तमान रहती है, उसको योगमाया कहते हैं। योगमाया नक्शा है, योगमाया ही साकारता और प्रत्येक आकारकी महिमा है। योगमायारूपी मकानके भीतर, माया एवं महामायाका निवास है। योगमायाकी क्षमता, माया और महामायाकी क्षमतासे कहीं अधिक है। माया और महामायाका सञ्चालन योगमाया करती है और योगमायाका सञ्चालन इच्छाशक्ति करती है। इच्छाशक्तिको इंजिनका ड्राइवर मानना चाहिये। समूचा इंजिन बतौर योगमाया मानना चाहिये। ठीक समयपर सूर्य निकलता है। केवल बारह घंटेके लिये सूर्य निकलता है। सूर्यका निकालना और छिपाना योगमायाके हाथमें है। योगमाया चाहे तो महीनेभरतक रात ही बनी रहे। वह चाहे तो छः महीनेकी रात कर दे। वह चाहे तो छः महीनेतक सूर्यदेव तपते ही रहें। वह चाहे तो जयद्रथ-वाला सूर्य कर दे। है भी और नहीं भी। सूर्य नहीं—सृष्टिके प्रत्येक परमाणुपर योगमायाका परिपूर्ण अधिकार है। सूर्यसे केवल उपमा दी गयी है। समस्त आध्यात्मिक और भौगोलिक परिवर्तन योगमायाके द्वारा ही होते हैं। परन्तु स्वयं योगमाया कुछ नहीं करती। वह इच्छाशक्तिके द्वारा आज्ञा पाकर आज्ञानुसार काम करती है। संसारका प्रत्येक

अवतार इस इच्छाशक्तिका ही अवतार है। इसी कारण—योगमायाजी अवतारके अधीन रहती हैं। योगमायापर केवल इच्छाशक्तिका शासन रहता है। इच्छाशक्तिका जो शासन माया तथा महामायापर चालू होता है वह योगमायाके द्वारा ही सञ्चालित किया जाता है।

महामायाकी परिभाषा

जगत्के दो विभाग हैं—(१) त्रिगुण और (२) त्रिगुणातीत। जगत्को आदमी-जैसा एक साकार मान लीजिये। छातीसे पैरतक त्रिगुण है, यानी मायाका अधिकारक्षेत्र है और छातीसे चोटीतक महामायाका अधिकारक्षेत्र है। उसे त्रिगुणातीत कहते हैं। विराट्के अंदर महामाया एवं माया—दोनोंके स्थान हैं। अधोगतिके भागकी व्यवस्थापिका माया है और ऊपरी भागकी मैनेजर महामाया है। निरंजन चक्र यानी सहस्रदल-कमलसे लेकर—अथाह मण्डलतककी निगरानी महामाया करती है। इसके अलावा—विवाहका काम महामाया अपने हाथमें रखती है। अर्धाङ्ग-जीवनरूपी विवाहका भेद महामाया ही छिपाये हुए है। जीवन-मरणका कारण महामाया ही है।

मायाकी परिभाषा

सत्, रज और तम नामक तीनों गुणोंमें खेलनेवाली शक्तिको माया कहते हैं। पञ्चतत्त्व और तीन गुण—इन आठ चीजोंका जो जगत् है, उसकी व्यवस्थापिका माया है। पातालसे लेकर सहस्रदल-कमलतक जो सृष्टि है, उसकी स्वामिनी माया है। महामायाके आधे जगत्में जो सृष्टि है, उसमें न तो स्थूल पञ्चतत्त्व शामिल है और न स्थूल तीन गुण ही।

निष्कर्ष

उपमाके तौरपर यों समझना चाहिये कि मकानकी बनानेवाली—रचनारूपी मकानकी कर्त्री—इच्छाशक्ति है। गोया इच्छाशक्ति ही रचनाके मकानकी मालिक है।

मकान ही योगमाया है। उस मकानमें एक माता और एक पुत्री रहती है। माता महामाया है और पुत्री माया है। मायाके काममें महामाया दखल दे सकती है, परन्तु महामायाके काममें माया दखल नहीं दे सकती। महामायाके कितने ही भेदोंको माया जानती भी नहीं है। अतः मायाकी अफसर महामाया है; परन्तु दोनोंके स्थान और दोनोंके काम अलग-अलग हैं।

माया और महामायापर योगमायाका शासन है। परिवर्तनोंकी सूचना, नये आर्डर और विचित्र घटनाएँ, योगमायाके द्वारा महामाया और मायापर प्रकट होती हैं। परन्तु योगमायाकी अफसर इच्छाशक्ति है।

इच्छाशक्ति—जगत्को बनानेवाली और जगत्का सञ्चालन करनेवाली महाशक्ति। दुःखान्तक तथा सुखान्तक दो नाटकोंद्वारा जगत्में ईश्वरीय तमाशा करनेवाली महादेवी। जगत्के प्रथम प्रभातसे दुःखान्तक नाटक शुरू किया गया, फिर सुखान्तक नाटक शुरू होगा। दोनों खेलोंके विधि-विधानकी जिम्मेवारी तथा जवाबदेही, इच्छाशक्तिपर है। इच्छाशक्तिका आर्डर योगमायापर उतरता है। वह महामाया तथा मायापर सीधा हुक्म जारी नहीं करती; क्योंकि इच्छाशक्तिका सम्बन्ध केवल योगमायासे है।

योगमाया—हिरण्यगर्भमें साकारता, विभिन्नता तथा प्रत्येक आकारका महत्त्व योगमाया प्रदर्शित करती है। उस घेरेका नाम हिरण्यगर्भ है, जिसमें योगमाया फैली हुई रहती है। योगमाया अपने ऊपरके आर्डरोंकी तामील महामाया तथा माया—दोनोंपर करती रहती है। आर्डरकी तामीलपर योगमाया गौर भी रखती है। ऐसा नहीं है कि योगमाया महामायाको आर्डर दे और महामाया मायाको दे। दोनोंसे योगमायाका अलग-अलग सम्बन्ध रहता है। चूँकि महामाया और मायाके दो विभिन्न जगत् हैं, इसलिये एक दूसरेसे कोई खास लगाव नहीं है।

महामाया—यह परा विद्यावाले ऊर्ध्व जगत्की व्यवस्थापिका है। सिद्धों और देवताओंपर महामायाका राज्य है। महामाया अपना अफसर योगमायाको मानती है। वह यह नहीं जानती कि योगमाया स्वतन्त्र नहीं है और वह इच्छाशक्तिके द्वारा परिचालित है। महामायाका इच्छाशक्तिसे कोई परिचय नहीं है। विवाह और जीवन-मरणकी समस्या महामायाके हाथमें रहती है। इन तीनोंके गुप्त भेदोंसे वह किसीको भी जानकार नहीं होने देती।

माया—पञ्चतत्त्व और त्रिगुणपर राज्य करती है। मनुष्य, पशु और पक्षी आदि सभी जीवोंपर उसका शासन है। वह अपरा जगत्की स्वामिनी है।

यही इन चारों मायाओंकी वास्तविक परिभाषा है।

सत्यसाधन

(लेखक—वेदाचार्य पं० श्रीवंशीधरजी मिश्र 'मीमांसाशास्त्री')

संसारमें एक सत्यसाधन ही ऐसा है कि जिसके साध लेनेपर सब नियम-व्रतादि अपने-आप ही सध जाते हैं। स्नातकके सब नियम लिखकर सूत्रकार इसी बातको कहते हैं—'सत्यवदनमेव वा' (पा० गृ० सू० २।८।८) अर्थात् यदि स्नातक अन्य नियमोंका पालन न कर सके तो सत्यभाषणरूप नियमका ही पालन करे, उसीसे सब नियमोंका पालन हो जाता है। संक्षेपमें 'सत्य' शब्दके अर्थ निम्नलिखित हैं।

श्रीमती श्रुति सत्यको परब्रह्म परमात्मा कहती है—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' (तै० उ० २।१।१)

पुराणमें 'सत्य' शब्दका अर्थ—

यथार्थकथनं यच्च सर्वलोकसुखप्रदम्।
तत्सत्यमिति विज्ञेयमसत्यं तद्विपर्ययः॥

(पद्मपुराण)

'सब लोगोंको सुख देनेवाला जो यथार्थ कथन है, उसीको सत्य कहते हैं, उससे विपरीत असत्य (मिथ्या) कहलाता है।'

'सत्यं च त्रिकालाबाध्यत्वम्' इति वेदान्तिनः।

'तीनों कालमें जो अबाधितरूपसे रहे, उसे सत्य कहते हैं—ऐसा वेदान्ती मानते हैं।'

'यथार्थज्ञानविषयत्वं सत्यत्वम्' इति नैयायिकाः।

'नैयायिकलोग यथार्थ ज्ञानके विषयको सत्य कहते हैं।' अस्तु।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि सब शास्त्रोंमें, सब धर्मोंमें, सब सम्प्रदायोंमें और सब आश्रमोंमें सबसे अधिक सत्यका ही महत्त्व है। ऐसा कोई धर्म, सम्प्रदाय तथा आश्रम नहीं, जिसमें सत्यको सबसे पहला साधन न माना गया हो। साक्षात् वेद भगवान्‌की आज्ञा है—

'सत्यं वद' 'सत्यान्न प्रमदितव्यम्' (तै० उ० १।११।१)

सत्य बोलो। सत्य बोलनेसे कभी प्रमाद मत करो।

'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि' (शु० य० सं० १।५)

'हे व्रतके स्वामी अग्निदेव! मैं व्रतका आचरण करूँगा, तुम्हारी सहायतासे उसको मैं कर सकूँ, वह मेरा सफल हो, यह मैं झूठसे छुटकारा पाकर सत्यको प्राप्त होता हूँ।' अर्थात् मिथ्याभाषण छोड़कर सत्यभाषण करनेका नियम कर रहा हूँ।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाᳪ सत्ये प्रजापतिः॥

(शु० य० सं० १९।७७)

'प्रजापतिने देखकर सत्य और झूठ इन दोनों रूपोंको अलग किया; झूठके लिये मनुष्यके हृदयमें अश्रद्धा पैदा कर दी और सत्यके लिये श्रद्धा पैदा कर दी।'

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

(ऋ० सं० ७।१०४।१२)

'ज्ञानवान् मनुष्य इस बातको अच्छी तरह जानता है कि असत्य और सत्य वाक्य आपसमें स्पर्धा करते हैं, इन दोनोंमें सत्य अधिक सरल है और परमात्मा उसकी रक्षा करते हैं तथा असत्यका नाश करते हैं।'

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु॥

(अथर्व० ४।४।१६।६)

'हे वरुण! जो तुम्हारी तीन तरहकी सात-सात फाँसें बाँधनेवाली हैं, वे सब मिथ्याभाषण करनेवालेको बाँधें और जो सत्यवादी हैं, उसको छोड़ दें।' उपनिषदोंमें भी सत्यकी बहुत प्रशंसा है—

'सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च' 'तद्धि तपस्तद्धि तपः'।

(तै० उ० १।९।१)

सत्य बोलना, स्वाध्याय करना, प्रवचन करना, यह सब तप है।

'सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।

येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥
(मुण्डक० ३।१।६)

'सत्यकी जीत होती है, झूठकी नहीं; सत्यसे देवयान-मार्ग विस्तृत है, जिस मार्गसे तृष्णारहित उपासक लोग वहाँ जाते हैं, जहाँ वह सर्वोत्कृष्ट सत्यसाधनका स्थान है।'

'सत्यं ब्रह्म' 'देवाः सत्यमेवोपासते'।
(बृहदा० ५।५।१)

'सत्य ही ब्रह्म है। देवता सत्यकी ही उपासना करते हैं।'

'तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति।'
(बृहदा० १।४।१४)

इसलिये सांसारिक लोग भी सत्यभाषण करनेवालेको 'यह धर्ममय वचन बोलता है'—ऐसा कहते हैं।

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

'हजारों अश्वमेध यागोंको और सत्यको यदि तुलासे तोला जाय तो हजार अश्वमेध यज्ञोंसे एक सत्य ही विशिष्ट पड़ता है।'

नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद्विद्यते परम्।
न हि तीव्रतरं किञ्चिदनृतादिह विद्यते॥

'इस संसारमें सत्यके समान कोई धर्म नहीं तथा सत्यसे अधिक कोई उत्तम नियम नहीं और झूठसे बढ़कर कोई तीखी वस्तु नहीं है। इस सत्यरूप धर्ममें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, पुरुष, स्त्री—इन सबका समान अधिकार है। इसके सेवन करनेसे छोटे-से-छोटा मनुष्य भी बड़ा बन सकता है। सत्य बोलनेवाला पुरुष निःसन्देह निर्भीक होता है और उसमें आत्मबल अधिक होता है।

सत्य बोलनेवालेको निन्दा-स्तुतिका भय नहीं होता—

'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु।'

यह सत्यसाधन वस्तुतः कोई कठिन मार्ग नहीं है, अपितु अभ्यास करनेपर बहुत ही सरल है। इसका प्रकार यह हो सकता है कि मनुष्य पहले यह सङ्कल्प करे—'आजसे मैं अकारण मिथ्याभाषण कभी नहीं करूँगा।' इस प्रतिज्ञाका पालन इस तरह हो सकता है—प्रतिदिन मनुष्य यह विचार करे कि मैंने कल कितनी बार मिथ्या भाषण किया और अमुक मिथ्या भाषणकी जगह सत्य बोलनेसे भी कार्य चल सकता था, यह मैंने बड़ा अनुचित किया। और भगवान्‌से क्षमा माँगे कि 'भगवन्! मैंने बड़ा अपराध किया, अब आगे ऐसा नहीं करूँगा।' ऐसा करते-करते कुछ दिनोंमें पूर्ण अभ्यास हो जायगा तब यह प्रतिज्ञा करे कि चाहे प्राण भले ही चले जायँ, किन्तु मिथ्याभाषण कदापि नहीं करूँगा। बहुधा लोग ऐसा कहा करते हैं कि—'सत्य बोलनेसे सांसारिक कार्य नहीं चलता।' यह उनकी सरासर भूल है। सब कार्य अच्छी तरह चल सकता है। इस समय भी ऐसे महापुरुष हैं, जो सत्य ही बोलते हैं उनके सब कार्य चलते ही हैं। इतिहासको देखिये, राजा हरिश्चन्द्र, महाराज युधिष्ठिर कैसे सत्यवादी थे? जिनका नाम आज भी अजर-अमर है!

जबसे हमलोगोंने सत्यको छोड़कर मिथ्याका आश्रय लिया, तभीसे बड़ी-बड़ी आपत्तियोंका सामना करना पड़ रहा है। जिस समय इस देशमें सत्यका खूब प्रचार था, उस समय यह धन-धान्यसे समृद्ध था और सब लोग सुखपूर्वक रहते थे। अब भी सत्यका प्रचार होनेसे सब सुख मिल सकते हैं। अतः मनुष्यमात्रका कर्तव्य है कि यथासाध्य सत्यका प्रचार करें। सत्यका प्रचार व्याख्यानोंसे नहीं होगा। वह होगा स्वयं सत्यका आदर, सत्यका पालन और सत्यकी प्रतिज्ञा करनेसे। श्रीविश्वनाथजीसे हाथ जोड़कर प्रार्थना है कि इस देशमें पुनः सत्यका प्रचार हो।

सत्यान्नास्ति परो धर्मः।

रूखी रोटी अच्छी

रूखा सूखा खाइ कै, ठंढा पानी पीव।
देखि बिरानी चूपड़ी, मत ललचावै जीव॥
कबीर साईं मुज्झ को, रूखी रोटी देय।
चुपड़ी माँगत मैं डरूँ, (कहुँ) रूखी छीनि न लेय॥

—कबीर

साधना और नारी

(लेखिका—कुमारी श्रीशान्ता शास्त्री)

जीवनका चरम लक्ष्य—जीवका चरम लक्ष्य आनन्द ही है। संसारमें जितने प्राणी हैं वे सब एकमात्र आनन्दकी ही खोजमें हैं। दुःखमें रहना मनुष्य तो क्या, कोई भी प्राणी नहीं चाहता। अतः सुखके लिये ही मनुष्यका सारा प्रयत्न है। इसीको पानेके लिये वह या तो भोगोंकी ओर दौड़ता है या उनकी ओरसे उदासीन होकर अपवर्गकी खोजमें लग जाता है। जिसे अपवर्गकी प्राप्ति हो जाती है उसे तो फिर कुछ करना नहीं रहता। किन्तु जो लोग भोगोंमें रम रहे हैं उनकी दौड़-धूप कभी शान्त नहीं होती। वे एक-से-एक बढ़कर विलास-सामग्री सञ्चित करते हैं, नित्य नये-नये आमोद-प्रमोदके साधनोंका आविष्कार करते हैं। परन्तु क्या इनसे उन्हें शान्ति मिलती है? ये तो उनकी भोगलिप्साको बढ़ाकर उन्हें और भी अधिक अशान्त कर देते हैं। इनके माया-जालमें फँसकर वे और भी अधिक भटकने लगते हैं। इनके पीछे भटकते हुए शान्तिकी आशा रखना तो ऐसा ही है जैसे कोई घृतकी धारा छोड़कर अग्निको शान्त करना चाहे! आजकल हमारी दशा ऐसी हो रही है जैसे किसीकी सूई गुम हो घरमें, और वह प्रकाश न होनेके कारण उसे ढूँढ़े बाजार-में। हमें शान्ति पानेके लिये कहीं बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं है, वह जहाँ खोयी है उसे वहीं ढूँढ़ना चाहिये। शान्ति-का घर तो तुम्हारा हृदय ही है। तुम अज्ञानान्धकारके कारण उसे उपलब्ध नहीं कर रहे हो। तनिक ज्ञानदीपक जलाओ, वह तुरंत तुम्हें मिल जायगी।

उस सच्ची शान्तिके मिलनेपर भोग-विलास तथा शौक-शृङ्गारके संक्रामक रोगोंसे तुम्हें सदाके लिये बिल्कुल छुटकारा मिल जायगा और तुम्हें वह पद प्राप्त होगा जहाँ पहुँचनेपर किसी प्रकारका भय नहीं रहता, मृत्युकी भी मृत्यु हो जाती है और फिर कभी उस स्थितिसे पीछे नहीं लौटना पड़ता। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम', 'यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः', 'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुति और स्मृति भी इसी परमपदका महत्त्व गा रही हैं। इस पदको जान लेनेपर मनुष्यकी कोई अभिलाषा शेष नहीं रहती। उसे जो पाना होता है वह सब मिल जाता है और वह योगसूत्रोंके भाष्यकारकी भाषामें ऐसा अनुभव करने लगता है—

'प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमो यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायते।'

(यो० भा० १ । १६)

'मुझे जो पाना था वह मिल गया, जिन्हें क्षय करना था वे क्लेश क्षीण हो गये, जिसका छेदन न होनेसे जीव जन्मकर मरता और मरकर जन्म लेता है वह संसारचक्र अपनी ग्रन्थियोंके शिथिल हो जानेसे कट गया।' इस परमपदका साक्षात्कार हो जानेपर क्या नहीं मिल जाता? हृदयकी गाँठ खुल जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं तथा सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं। अतः मनुष्यका प्रधान कर्तव्य इस परम-पदको प्राप्त कर लेना ही है।

साधना—इससे यह तो निश्चय हो गया कि परमात्माकी प्राप्तिके सिवा मनुष्यकी कोई अन्य गति नहीं है, यही उसका अन्तिम लक्ष्य है। अब देखना यह है कि इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये किस प्रकारकी साधना आवश्यक है। ऐसा कौन उपाय है, जिससे सुगमतासे इसकी उपलब्धि हो सकती है। गीतामें भगवान्‌ने योगकी बहुत प्रशंसा की है। यहाँतक कि उन्होंने योगीको तपस्वी, ज्ञानी और कर्मीसे भी बढ़कर बताया है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(६ । ४६)

एक दूसरी जगह वे कहते हैं—

'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।'

(गीता १३ । २४)

'कई लोग ध्यानके द्वारा आत्माका अपने अन्तःकरणमें साक्षात्कार करते हैं।' अतः भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन योग ही है। इसीका निरूपण करनेके लिये महर्षि पतञ्जलिने योगसूत्रनामक एक स्वतन्त्र दर्शनकी रचना की थी। उसमें—

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो-ऽष्टावङ्गानि।'

(२ । २९)

इस सूत्रद्वारा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार,

धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग बताये हैं। इससे पहले सूत्रमें इनके अनुष्ठानका फल बताया है—'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः'—'योगके अङ्गोंका अनुष्ठान करनेसे अशुद्धि दूर होनेपर विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञानका विकास हो जाता है।' इन योगाङ्गोंमें सबसे अन्तिम समाधि है, यही योगसाधनकी सर्वोत्कृष्ट सीढ़ी है। इसकी उपयोगिता और महिमाका वर्णन जगह-जगह किया गया है। भगवान् शङ्कराचार्यजी समाधिसुखको वाणीका अविषय और केवल अनुभवग्राह्य ही बताते हैं—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसः
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

(विवेकचूडामणि)

अतः योग ही भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन निश्चित होता है।

अधिकारिनिर्णय—अब विचार यह करना है कि इस योगसाधनाके अधिकारी कौन हैं? वस्तुतः भगवत्प्राप्तिकी योग्यता तो मनुष्यमात्रमें है। मनुष्ययोनि है ही साधनाद्वारा भगवान्‌का साक्षात्कार कर लेनेके लिये। अतः मनुष्यमात्र इसका अधिकारी है। किन्तु 'मनुष्य' का अर्थ केवल पुरुष ही नहीं है, 'मत्वा कर्माणि सीव्यन्तीति मनुष्याः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार स्त्रियाँ भी मनुष्य ही हैं। अतः स्त्रियोंको भी योगसाधनाका वैसा ही अधिकार है जैसा कि पुरुषोंको। हम सभी भगवान्‌के पुत्र और पुत्रियाँ हैं, अतएव उनके पास पहुँचनेके लिये किसीको रुकावट क्यों? परम पिता परमात्मा तो बड़े न्यायी हैं, उन्हें कोई पक्षपात कैसे हो सकता है? वे तो अपनी पुत्रियोंको पुत्रोंकी अपेक्षा भी अधिक प्यार करते हैं।

कुछ लोगोंका विचार है कि स्त्रियाँ तो मन्दमति, अपवित्र और अबला हैं; उनमें भगवद्भजनकी योग्यता नहीं है और न उनका योगमार्गमें प्रवेश ही हो सकता है! परन्तु ऐसी बातोंमें सार कुछ भी नहीं है। शारीरिक दृष्टिसे तो स्त्री-पुरुष सभी अपवित्र हैं, सभीके शरीरोंमें हड्डी, मांस, रुधिर आदि अपवित्र वस्तुएँ ही भरी हुई हैं। परन्तु यदि पुरुषोंके समान स्त्रियोंमें भी भगवत्साक्षात्कारकी उत्कण्ठा और योग्यता है तो वे भी उसके अधिकारसे वञ्चित कैसे की जा सकती हैं? साधनामें तो श्रद्धा और सरलतासे ही अधिक सफलता मिल सकती है और ये गुण बुद्धिप्रधान पुरुषोंकी अपेक्षा हृदयप्रधान नारियोंमें अधिक हैं। इसलिये कोई कारण नहीं कि स्त्रियोंको साधनमें सफलता न मिले। स्त्री कोई ऐसी घृणित वस्तु नहीं है, घृणाके योग्य तो पुरुषोंकी अपनी ही भोग-लिप्सासे उत्पन्न हुई उनके प्रति आसक्ति ही है। यदि स्त्रीरूप और स्त्रीनाममें ही कोई दोष होता तो साक्षात् श्रीभगवान् ही जगज्जननी दुर्गाके रूपमें क्यों पूजे जाते? और भावुक भक्त उन्हें 'करुणामयी माँ' कहकर क्यों पुकारते? भगवान्‌ने तो स्वयं गीतामें कहा है—

'कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥'

(१०। ३४)

'मैं स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ।' जिस प्रकार ये सात देवियाँ भगवान्‌की विभूति हैं वैसे ही साधना देवी भी तो स्त्री ही हैं। वे स्नेह और श्रद्धासे स्वागत करनेवाली अपनी सजातीया नारियोंसे दूर-दूर रहना ही क्यों चाहेंगी? अतः भगवत्प्रीतिके लिये किसी जातिविशेष या लिङ्गविशेषकी आवश्यकता नहीं है, 'न लिङ्गं धर्मकारणम्।' भगवान्‌को तो जो निश्छलभावसे भजता है, वही प्यारा है 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः।' गीतामें वे स्वयं कह रहे हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(९। ३२)

'हे पार्थ! मेरा आश्रय लेकर तो जो पापयोनियाँ तथा स्त्री, वैश्य और शूद्र हैं, वे भी परमगति लाभ कर लेते हैं।' इससे अधिक भगवान्‌के भजन और भगवत्प्राप्तिमें सबका अधिकार घोषित करनेवाली और कौन विधि होगी? अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्त्रियोंको भी ब्रह्मज्ञानका पूर्ण अधिकार है। वेद भगवान् भी पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीकी उत्कृष्टता घोषित करते हुए कहते हैं—

'उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी। अदेवत्रादराधसः'

(ऋ० ५। ५। ६१। ६)

'(उत) यह प्रसिद्ध है कि (अदेवत्रात्) देवार्चनहीन और (अराधसः) ईश्वराराधन न करनेवाले (पुंसः) पुरुषसे (स्त्री) स्त्री (शशीयसी) प्रशस्ततर और (वस्यसी) अधिक धर्मनिष्ठ होती है।'

इन सब बातोंसे निश्चय होता है कि साधनाका अधिकारी कोई लिङ्गविशेष नहीं है, अपितु पवित्रता ही साधनाकी सीढ़ी है। वह चाहे पुरुषमें हो चाहे स्त्रीमें।

गृहस्थाश्रम और साधना—बहुत लोगोंका विचार है कि गृहस्थाश्रम साधनमें बाधक होता है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। एक अनुकूल साथीके मिल जानेसे तो किसी भी मार्गमें अग्रसर होनेमें सुविधा ही रहती है। अतः यदि स्त्री और पुरुष परस्पर विवाहबन्धनमें बँधकर भगवत्प्राप्तिको ही अपना लक्ष्य बनाकर चलें तो अपनी संयुक्तशक्तिसे तो वे अकेलेकी अपेक्षा अधिक सरलतासे ही संसारको पार कर सकते हैं। वेदभगवान् भी कहते हैं—

'या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा'

(ऋ० ८।५।३१।५)

'जो दम्पति एक साथ एकमन होकर प्रार्थना-उपासनाके द्वारा परमात्माके निकट जाते हैं, उन्हें कदापि क्लेश पीडित नहीं करते।' अतः विवाहबन्धनसे तो हम सब प्रकारके लौकिक और पारलौकिक बन्धनोंको सुगमतासे खोल सकनेके लिये ही बँधते हैं—भोगोंमें बँधनेके लिये नहीं।

गृहस्थाश्रम एक प्रकारका शिक्षालय है। यहाँ मनुष्य प्रेम करना सीखता है। स्त्रीको पति और माँको बच्चा दे दिया जाता है और कहा जाता है कि 'लो इसपर अभ्यास करो, फिर इस अभ्यस्त प्रेमको पतियोंके पति परमात्मापर आरोपित कर देना।' इस प्रकार इस पाठशालामें रहकर स्त्री और पुरुष प्रभुप्रेमका ही पाठ पढ़ते हैं।

साधनकी सुविधा भी गृहस्थाश्रममें कम नहीं है। यहाँ स्त्री और पुरुषके कार्योंका विभाग हो जानेके कारण उनकी जिम्मेवारीका बोझा भी हल्का हो जाता है। पुरुष घरकी चिन्तासे मुक्त होकर द्रव्योपार्जन करता है और स्त्री धनसंग्रहकी चिन्तासे छूटकर घरका प्रबन्ध कर लेती है। उसे किसी प्रकारकी आर्थिक चिन्ता नहीं रहती। चित्तकी एकाग्रतामें निश्चिन्तताकी बड़ी आवश्यकता है। इसके सिवा घरहीके भीतर रहनेसे उसे बहुत-सी संसारी बातोंको सुननेका भी अवसर नहीं मिलता तथा साधनके लिये समय भी खूब मिल जाता है। भगवान्‌को ढूँढ़नेके लिये तो कहीं बाहर जानेकी आवश्यकता है नहीं। वे तो सर्वत्र विराजमान हैं। ऐसा कौन-सा स्थल है जहाँ उनका अस्तित्व नहीं है। अतः भारतीय नारियोंका इधर-उधर न भटककर घरमें रहना भी उनकी साधनाके लिये तो सहायक ही है। भगवान् कहीं बाहर नहीं हैं, वे तो हमारे अन्तःकरणोंमें ही विराज रहे हैं। हम उन्हें इन चर्मचक्षुओंसे नहीं देख सकते। उन्हें देखनेके लिये तो मन-मन्दिरके कपाटोंको खोलनेकी आवश्यकता है। जब उन्हें खोलकर हम ज्ञानदीपकसे देखेंगे तभी उनकी झाँकी होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्रियोंके पास साधनोंकी कमी नहीं है, कमी है साधनाकी, जिससे वे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके उस स्थितिपर पहुँच जायँ। जिससे, ये सांसारिक भोग तो क्या, देवताओंके 'इह आस्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः' इत्यादि प्रलोभन भी हमें तिलभर विचलित न कर सकें।

शिक्षा और साधना—हमारे देशकी स्त्रियाँ प्रायः पढ़ी-लिखी बहुत कम हैं। अतः किन्हीं-किन्हीं बहिनोंका विचार है कि हम साधना कैसे कर सकती हैं, हम कुछ जानती तो हैं नहीं। परन्तु वे सच मानें कि जिन्हें वे पढ़ी-लिखी और समझदार समझती हैं, वे इस विद्यासे कोसों दूर हैं। बहुत सम्भव है उनकी अपेक्षा तो, जिन्हें आजकलकी भाषामें अशिक्षिता कहा जाता है वे बहिनें इस दिशामें अधिक उन्नति कर सकें, क्योंकि इनकी अपेक्षा उनमें श्रद्धा और दृढ़ अध्यवसायकी मात्रा अधिक है। इन लौकिक भाषाओंको कितना ही सीख लो अध्यात्मकी ओर बढ़नेमें तो इनका मूल्य शून्यके ही बराबर है। सीखना तो उस एक ही विद्याको चाहिये, जिसे जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है। 'यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।' उसका नाम है 'ब्रह्मविद्या।'

कुछ उदाहरण—यह बात कभी नहीं समझनी चाहिये कि स्त्रियाँ ब्रह्मज्ञान नहीं पा सकतीं। इतिहासमें इसके अनेकों उदाहरण हैं। महाराज जनकको ब्रह्मसंसद्‌में जब याज्ञवल्क्यने अपनेको सबसे बड़ा ब्रह्मज्ञानी घोषित करनेके लिये अपने शिष्योंको गौएँ ले जानेकी आज्ञा दी तो ब्रह्मवादिनी गार्गीने उस समय उनसे जैसे-जैसे प्रश्न किये हैं उनसे उसकी ब्रह्मज्ञता स्पष्ट सिद्ध होती है। भगवान् शङ्कराचार्य और मण्डनमिश्र-जैसे उद्भट विद्वान् एवं तत्त्वज्ञोंका शास्त्रार्थ हो और उनकी मध्यस्थता करनेवाली भारती ब्रह्मविद्याशून्य हो—यह सम्भव नहीं है। भारती स्वयं मण्डनमिश्रजीकी स्त्री थी—गार्हस्थ्यधर्मका ही पालन करती थी।

फिर भी वह पूर्ण ब्रह्मवेत्री थी। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि गृहस्थाश्रम ब्रह्मज्ञानमें बाधक नहीं है।

सुलभा-ब्रह्मवादिनी थी—यह तो प्रसिद्ध ही है। वह ब्रह्मज्ञा होनेपर भी गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेको तैयार थी। इसलिये नहीं कि उसे सांसारिक भोगोंकी इच्छा थी, अपितु इसलिये कि मैं अपनेसे अधिक ब्रह्मनिष्ठ पति पाकर अपनी निष्ठाको और भी सुदृढ बना सकूँ। किन्तु ऐसा कोई ब्रह्मनिष्ठ वर न मिलनेसे ही वह ब्रह्मचारिणी रही। इसी प्रकार लोपामुद्रा आदि और भी कई महिलाएँ अपनी ब्रह्मनिष्ठाके लिये प्रसिद्ध हैं। इसलिये यह कहना ठीक नहीं कि स्त्रियाँ ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकतीं। स्त्रियाँ तो जगज्जननी हैं, वे ही सबकी आदिगुरु हैं। यदि उनमें ब्रह्मज्ञानकी योग्यता नहीं होगी तो औरोंमें आवेगी कहाँसे?

ब्रह्मज्ञानके अनधिकारी—तो फिर इसके अनधिकारी कौन हैं? इस विषयमें उपनिषदें कहती हैं—

> **नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।**
> **नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥**
> (कठ० १।२।२४)

'जो व्यक्ति दुराचारसे दूर नहीं रहता, जो अशान्त है, जिसका मन चञ्चल है और जो अशान्तचित्त है वह इसे ज्ञानपूर्वक प्राप्त नहीं कर सकता।' इसके सिवा भगवान् कहते हैं—

> **नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।**
> **न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥**
> (गीता ६।१६)

'जो अधिक खानेवाला है अथवा जो बिलकुल नहीं खाता तथा जो बहुत सोता है और जो जागता ही रहता है, उससे योग नहीं हो सकता।' तात्पर्य यह कि जिसका जीवन असंयत और अनियमित होता है, वह योगसाधनमें विशेष उन्नति नहीं कर सकता। अतः स्त्री हो अथवा पुरुष जो—अशान्त, असंयमी और चञ्चलचित्त है, वही योगका अनधिकारी है और उसीको ब्रह्मविद्या भी नहीं मिल सकती।

उपसंहार—इससे निश्चय होता है कि जिन्हें योगमार्गमें चलना हो उन्हें अपने जीवनको नियमित बनाना चाहिये। जो नियमसे काम करता है, उसे ही सर्वत्र सिद्धि प्राप्त होती है—

> **युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।**
> **युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥**
> (गीता ६।१७)

'जिसका आहार-विहार नियमित होता है और जिसकी कर्मोंमें भी नियमित प्रवृत्ति होती है तथा जो नियमानुसार सोता और जागता है उसीको दुःखहारी योगकी प्राप्ति हो सकती है।'

अतः स्त्री हो अथवा पुरुष जो नियमनिष्ठ है, उसीको योगश्री वरमाला पहनाती है। इसलिये माताओं और बहिनोंको चाहिये कि अपने स्त्रीत्वको हेयदृष्टिसे न देखकर जीवनको नियमित बनावें। घरहीमें रहते हुए घरके सब कामोंको नियमसूत्रमें बाँधें और योगसाधनाद्वारा ब्रह्मको प्राप्त करनेका प्रयत्न करें। यदि स्त्रियाँ ही इस ओर प्रवृत्त न होंगी तो होगा कौन? उन्हींके संस्कार तो बच्चोंमें भी आवेंगे। अतः मानवजातिमें ब्रह्मविद्याका प्रसार करनेके लिये माताओं-को स्वयं ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके अपनी सन्ततिको ब्रह्मविद्या प्रदान करनी चाहिये। देखिये, मदालसाने अपने चारों पुत्रोंको ब्रह्मज्ञानी बनाया था। माँ तो वह फली है, जिससे उसी प्रकारके कई बीज निकलेंगे। अतः उसके लिये तो पुरुषोंकी अपेक्षा भी साधनाकी अधिक आवश्यकता है। यद्यपि नारीका जीवन ही साधनामय है, उसने अपने पति, पुत्र एवं अन्यान्य सम्बन्धियोंके लिये अपना क्या नहीं दे रक्खा है? इस प्रकार आत्मोत्सर्गपूर्वक सेवाधर्मको निभाते हुए यद्यपि उसने परम पिता परमात्माके आदेशका खूब अच्छी तरह स्मरण रक्खा और पालन किया है, तथापि इस आज्ञापालनके साथ हमें उस पिताको भी नहीं भूल जाना चाहिये। जब हम पिताकी आज्ञाओंका पालन करती हुई उनके पास जाकर कहेंगी, 'पिता, बजा आये तेरे आदेशको' तो क्या पिता झट हमें गोदमें उठाकर प्यार न करेंगे? उस समय हमें क्या मिलेगा? 'आनन्द! आनन्द! परम आनन्द!'

संतमतमें साधना

(लेखक—श्रीसम्पूर्णानन्दजी)

भारतके धार्मिक जगत्‌के इतिहासमें संतमतका एक विशेष स्थान है। संतमत उस प्रकारका सम्प्रदाय नहीं है, जैसे कि वल्लभ या मध्व या किसी एक पुरुषद्वारा प्रवर्तित दूसरे सम्प्रदाय हैं; वह एक धारा है जो आजसे लगभग पाँच सौ वर्ष पहले प्रकट हुई और अबतक बह रही है। सबसे पहले उसके सम्बन्धमें कबीर साहबका नाम उल्लेख्य है; फिर नानक, दादू, दरिया, चरणदास, सहजोबाई, ग़रीबदास, पल्टूदास, मलूकदास आदिने अपने-अपने समयमें इस धाराको पुष्ट किया। बहुत-से अंग्रेजोंकी और उनकी भाँति सोचनेवाले कुछ भारतीय विद्वानोंकी यह राय है कि संतमत एक संग्रहात्मक (eclectic) सम्प्रदाय है, जिसमें कुछ बातें हिंदूधर्म और कुछ बातें इस्लाम-से लेकर मिला दी गयी हैं। ये लोग संतोंको सुधारकमात्र मानते हैं। उनका ख़याल है कि हिंदू-मुसलमानोंके आपसी झगड़ोंको और दोनोंमें प्रचलित कुरीतियोंको देखकर कुछ दयालु ईश्वरभक्तोंने समाजके कल्याणके लिये एक सरल मार्ग निकाला, जिसपर दोनों सम्प्रदाय मिल-जुलकर चल सकें। उन्होंने एक ईश्वरकी भक्तिका उपदेश किया, छुआछूत और जात-पाँतकी निन्दा की; भूत-प्रेतकी पूजा, कुर्बानी, बलिदान आदिका निषेध किया; पीर, औलिया, क़ब्रकी वन्दना-से लोगोंको रोका; सदाचारकी महिमा बतलायी, हिंदू-मुसलमान-को मिल-जुलकर रहना सिखाया। इनमें कई अब्राह्मण थे, कुछ जन्मना हिंदू भी नहीं थे। संस्कृत तो इनमेंसे स्यात् ही कोई जानता था, इसलिये इन्होंने अपने उपदेश हिन्दीमें दिये। इस कारण पण्डितवर्ग तो इनसे अप्रसन्न हुआ, पर जनतामें खूब प्रचार हुआ।

ये बातें कुछ हदतक सच हैं। संतोंने निःसन्देह एक ईश्वरकी निष्ठा सिखायी, कुरीतियोंका निषेध किया, भेदबुद्धिका खण्डन किया। पर इसका कारण यह नहीं था कि वे समाज-सुधारक थे। वे संत थे और संतोंके उपदेशों-में ये बातें स्वभावतः आ जाती हैं। इसके लिये उनको दस धर्मों-की पोथियोंसे सामग्री जुटाकर भानमतीका कुनबा जोड़नेकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

भारतमें मुसलमानी शासनकी स्थापनाने एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न कर दी। हिंदुओंका राज्य चला गया, उनका गौरव नष्ट हो गया, विभूति लुट गयी, देवस्थान भ्रष्ट हो गये, स्वाभिमान जाता रहा। विद्या और कलाके लिये स्फूर्तिका द्वार बंद हो गया। मौलिक रचनाओंकी जगह टीकाग्रन्थोंने ली, जीवित काव्योंके स्थानमें परतन्त्र रजवाड़ोंके दरबारोंमें पलनेवाली अधम कोटिकी शृङ्गारी तुक-बंदीकी शैली चल पड़ी। जो जाति ऐसी आपन्न अवस्थामें पड़ जाय, उसकी अधोगतिका रुकना कठिन होता है; उसका तो शतमुख विनिपात अवश्यम्भावी हो जाता है। पर अभी हिंदूजातिके दिन अच्छे थे, उसकी आत्माकी अमर ज्योति नष्ट नहीं हुई थी। उसमेंसे दो किरणें निकलीं, जिन्होंने अँधेरे घरोंको फिरसे प्रकाशित किया और मृतप्राय प्राणियोंको अमृत पिलाकर पुनरुज्जीवित किया।

एक किरण तो भक्तिमार्गकी थी। इस मार्गको तुलसी, सूर, मीरा आदिने प्रशस्त किया। दुर्बलोंसे कहा गया कि हिम्मत मत हारो, तुम्हारा बल भगवान् है। यहाँ तुम्हारी कोई न सुने; पर वह तो सदा तुम्हारे पास है, तुम्हारे दुःख-सुखका साक्षी है, तुम्हारी सुनता है, तुम्हारी भक्तिपर रीझकर तुम्हारे लिये सब कुछ करता और कर सकता है। जो आज विजित थे उनको उनके पूर्वजोंके, राम और कृष्णके, गौरवकी स्मृति दिलायी गयी; वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादा रखते हुए ऊँच-नीच सभीके सामने भक्तिका थाल परसा गया। उपदेशकी भाषा हिन्दी थी, इसलिये सबने ही इस रसका आस्वादन किया। कुछ मुसलमान कुलमें उत्पन्न व्यक्तियोंतकपर इसका प्रभाव पड़ा। दीन-दुखिया हिंदूजाति मरते-मरते बच गयी। मैं इस विषयपर विस्तारसे यहाँ नहीं लिख सकता; पर इतिहासने ऐसा कई बार दिखलाया है कि विजित, दरिद्र, दुखी जातियोंमें भक्तिसम्प्रदाय और भक्तिसाहित्यका उदय हुआ है। जितना भक्तिसाहित्य हमारे देशमें पिछले चार-पाँच सौ वर्षोंमें निकला है, उतना पहले कभी नहीं बना। स्वतन्त्र आर्योंके, जो सभ्य जगत्‌के गुरु और विशाल साम्राज्योंके स्वामी थे, मुँहसे यह गाना कम ही निकल सकता था—'निर्बल के बल राम'। जो स्वयं बली था, वह उपासनाकालमें भी अपनेको भूल नहीं सकता था। इसका प्रमाण उन ओजस्वी मन्त्रोंमें मिलता है, जिनमें वैदिक आर्य इन्द्रादिसे बल या विजयका वरदान

माँगते हैं । जहाँ भक्तिकालीन हिंदू रोता-गिड़गिड़ाता है, वहाँ वैदिक आर्य इस प्रकार बात करता है जैसे कोई अपने हक्कको माँग रहा हो और लेकर छोड़नेकी सामर्थ्य रखता हो ।

जातिकी आत्मासे जो दूसरी किरण निकली, उसका ही नाम संतमत है । इस आकाशके कुछ नक्षत्रोंके नाम मैं ऊपर गिना चुका हूँ । यही लोग संत कहलाते हैं । इन्होंने सगुण-साकारकी उपासनाके स्थानमें निर्गुण-उपासना, योग और ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया । यों तो भक्तिमार्गमें भी ऊँच-नीचका भेद नहीं होना चाहिये; फिर भी उसमें जिन साधनोंका प्रायः काम पड़ता है—मन्दिर, पूजाकी सामग्री आदि—वह बहुतोंको अप्राप्य है । तुलसीदासजीने कलियुगके लक्षणोंका वर्णन करते हुए शूद्रोंके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है, उससे यह प्रतीत होता है कि इन बड़े आचार्योंके भाव क्या थे । पर योगाभ्यासके लिये तो कोई बाहरी साधन नहीं चाहिये । पूजाकी सामग्रीके लिये पैसे नहीं चाहिये । इसलिये यह मार्ग सचमुच सबके लिये सुलभ, सुगम है । कठिन अवश्य है, पर सच्ची भक्ति भी तो कोई दिल्लगीकी चीज़ न होगी । इसलिये इधरकी ओर अधिक व्यापक आकर्षण हुआ । नाई, धोबी, जुलाहा, मोची, जन्मके मुसलमान भी आये; ऊँची जातिवाले भी आये ।

इस मार्गमें एक और विशेषता थी । सच्चा जीवन केवल चुपचाप साँस लेनेमें नहीं है । उसका लक्षण है जागृति, क्रियाशीलता । सजीव प्राणी इस आसरे नहीं बैठा रहता कि कोई मुझपर आक्रमण करे तो मैं अपनेको किसी प्रकार बचा लूँ; वह आक्रमणकारीपर आगे बढ़कर आक्रमण करता है । भक्तिमार्गने मुमूर्षु हिंदूजातिमें जान डाली, संतमतने सक्रियता प्रदान की । केवल अपने कोनेमें पड़े रहनेके बदले मुसलमानोंके दोषोंका खुलकर निदर्शन होने लगा । योगीमें बल होता है, आत्मविश्वास होता है । उसकी वाणीमें अपूर्व शक्ति होती है । इससे जनतामें भी आत्मनिर्भरता आयी । उसी आत्मनिर्भरताकी एक कली सिक्ख-सङ्गठन और महाराजा रणजीतसिंहके राज्यके रूपमें खिली ।

इन बातोंके साथ ही दो और बातोंको भूल न जाना चाहिये । संतमत और भक्तिमार्ग कोई नये आविष्कार न थे । दोनोंकी परम्परा बहुत ही प्राचीन कालसे चली आ रही है । इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिये कि दोनों-के बीच कोई ऐसी ऊँची दीवार न थी, जो एक मार्गको दूसरे मार्गसे बिलकुल पृथक् कर दे । पतञ्जलिने 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' सूत्रमें ईश्वरचिन्तनको भी योगका एक मार्ग माना है । जो योगाभ्यासके मार्गपर आरूढ़ होगा उसमें भी उन श्रद्धादि गुणोंका होना आवश्यक है, जो भक्तिके लक्षण हैं; भक्तको जब एकाग्रता प्राप्त होगी, तब उसको भी वैसे ही अनुभव होंगे, जैसे कि योगीको होते हैं । इस बातका प्रमाण हमको अपने यहाँके आध्यात्मिक साहित्यमें पूरा-पूरा मिलता है । एक ओर तो संतमतके आचार्योंकी रचनाओंमें भक्तिभावसे ओतप्रोत वाक्य मिलते हैं, दूसरी ओर भक्तिसम्प्रदायके प्रवर्तकोंके ग्रन्थोंमें योगके अनुभवकी झलक आती है । उदाहरणके लिये नीचे दो अवतरण देता हूँ ।

पहला कबीर साहबके प्रधान शिष्य धर्मदासजीकी रचना है ।

दरसन दीजे नाम सनेही । तुम बिन दुख पावै मेरी देही
दुखित तुम बिन रटत निस दिन, प्रगट दरसन दीजिये ।
बिनति सुन, प्रिय स्वामियाँ ! बलि जाउँ बिलँब न कीजिये ।
अन्न न भावै, नींद न आवै, बार बार मोहि बिरह सतावै ॥
बिबिध बिधि हम भईं ब्याकुल, बिन देखे जिव ना रहै ।
तपत तन, जिव उठत ज्वाला, कठिन दुख अब को सहै ॥
नैनन चलत सजल जलधारा, निस दिन पंथ निहारूँ तुम्हारा ॥
—इत्यादि

दूसरा सूरसागरसे लिया गया है—

अपुनपौ आपुनही में पायो ।
सब्दहि सब्द भयो उजियारो सतगुरु भेद बतायो ॥
सूरदास समुझे की यह गति मनहीं मन मुसकायो ।
कहि न जाय या सुखकी महिमा ज्यों गूँगो गुड़ खायो ॥

भक्तिमार्ग संतमतसे पहले चल चुका था । उसने जो वैष्णव वातावरण पैदा कर दिया था, उसका प्रभाव संतोंपर भी पड़ा था । उन्होंने भी ईश्वरके लिये विष्णुके पर्याय हरि, माधव, गोपाल, राम आदि शब्दोंका प्रयोग किया है । इसका एक कारण यह भी था कि कबीर साहबने, जो आदि संत कहलाते हैं, प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य रामानन्दजीसे पहले-पहले दीक्षा प्राप्त की थी ।

जहाँतक आध्यात्मिक सिद्धान्तकी बात है, संत लोग प्रायः सभी शाङ्कर अद्वैतमतको मानते थे । 'प्रायः' मैंने इसलिये कहा है कि किसी-किसीने शुद्धाद्वैत मत और विशिष्टा-द्वैत मतका भी प्रतिपादन किया है; द्वैतवादी इनमेंसे कोई भी

न था। इस लेखमें संतोंके दार्शनिक विचारोंकी विवेचना करना अप्रासङ्गिक होगा, क्योंकि इसका मूल विषय साधना है; फिर भी उदाहरणके लिये मैं कुछ अवतरण देता हूँ। सुन्दरदासजी कहते हैं—

ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुन, नित्य निरंजन और न भासै।
ब्रह्म अखंडित है अध ऊरध, बाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासै॥
ब्रह्महि सूच्छम स्थूल जहाँ लगि, ब्रह्महि साहब, ब्रह्महि दासै।
सुंदर और कछू मत जानहु, ब्रह्महि देखत ब्रह्म तमासै॥

एक जगह पलटूदासजी कहते हैं—

कोटिन जुग परलै भई, हमहीं सिरजनहार।
हमहीं सिरजनहार, हमहिं करता के करता,
जेकर करता नाम, आदि में हमहीं रहता॥
—इत्यादि

यह वही भाव है, जो छान्दोग्य उपनिषद्में 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' इत्यादिसे व्यक्त किया गया है।

दादूदयालजी कहते हैं—

तन मन नाहीं, मैं नहीं, नहिं माया, नहिं जीव।
दादू एकै देखिए, दह दिस मेरा पीव॥

जीवन्मुक्तके वर्णन अनेक स्थलोंपर आये हैं। दृष्टान्तके रूपमें मैं उनमेंसे दोको उद्धृत करता हूँ। पहलेमें चरणदासजी कहते हैं—

जब हो एक दूसरा नासै।
बंध मुक्तिकी रहै न साँसै॥
मृतक अवस्था जीवत आवै।
करम रहित अस्थिर गति पावै॥
जब कोइ मितर, बैरी नाहीं।
पाप पुन्य की परै न छाँहीं॥
ग्यान दसा ऐसी करि गाई।
चरनदास सुकदेव बताई॥

दूसरेमें कबीरसाहब यों कहते हैं—

भाई, कोई सतगुरु संत कहावै, नैनन अलख लखावै।
डोलत डिगै न बोलत बिसरै, जब उपदेस दृढ़ावै॥
प्रान पूज्य किरिया ते न्यारा, सहज समाधि सिखावै।
द्वार न रूँधै, पवन न रोकै, नहिं अनहद अरुझावै॥
यह मन जाय जहाँ लग, जबहीं परमातम दरसावै।
करम करै निःकरम रहै, जो ऐसी जुगत लखावै॥
सदा बिलास त्रास नहिं मन में, भोग में जोग जगावै।
—इत्यादि

एकाधको छोड़कर संतोंने निश्चितरूपसे पुस्तकें नहीं लिखी हैं। उनकी कुछ स्फुट रचनाएँ मिलती हैं, जिनको समय-समयपर उनके शिष्योंने लिख लिया था। इनमेंसे जो गाने लायक हैं उनको 'शब्द' तथा शेषको-जो प्रायः दोहा, सोरठा आदि छन्दोंमें हैं—'साखी' कहते हैं।

अब मैं इस लेखके मूल विषय 'साधना' की ओर आता हूँ। इतना तो पहले भी सङ्केत किया जा चुका है कि ये लोग योगाभ्यासको मोक्षका साधन प्रतिपादित करते हैं। पतञ्जलिके अनुसार 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' अर्थात् अभ्यास और वैराग्यसे चित्तकी वृत्तिका निरोध होता है, दूसरे शब्दोंमें योगमें सिद्धि प्राप्त होती है। वैराग्यका उपदेश देनेवाले पद संतोंकी बानियोंमें भरे पड़े हैं। मैं केवल एक उदाहरण देना पर्याप्त समझता हूँ—

नाहक गर्व करै हो अंतहिं खाक में मिलि जायगा।
दिना चारि को रंग कुसुम है, मैं मैं करि दिन जायगा॥
बालुक मंदिल ढहत बार नहिं, फिर पाछे पछितायगा।
रचि रचि मंदिल कनक बनायो, ता पर कियो है अवासा॥
घर में चोर रैन दिन मूसहिं, कहहु कहाँ है बासा।
पहिरि पटंबर भयो लाड़िला, बन्यो छैल मदमाता॥
तैबी चक्र फिरै सिर ऊपर, छिन में करै निपाता।
नेकु धीर नहिं धरै बावरे, ठौर ठौर चित जाते॥
देवहर पूजत तीर्थ नेम ब्रत, फोकट को रँग राते।
कासें कहैं, कोउ संग न साथी, खलक सबै हैराना॥
कहैं गुलाल संत पुर बासी, जम जीतो है दिवाना॥

वैराग्यवृत्तिको दृढ़ रखनेमें सत्सङ्गसे बड़ी सहायता मिलती है। इस सम्बन्धमें उदाहरणके लिये चरणदासजीकी एक साखीको उद्धृत करना काफी होगा—

तप के बरस हजार हों, सतसंगति घड़ि एक।
तौ भी सरबरि ना करै सुकदेव किया बिबेक॥

बिना एक अच्छे गुरुकी सहायताके योगाभ्यास करना और उसमें सफलता प्राप्त करना यदि असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य है। बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिनको अनुभवी व्यक्ति ही समझा सकता है; बहुत-सी ऐसी भूलें हैं, जिनको वही दूर कर सकता है। कभी-कभी तो गलती कर

देनेसे योगाभ्यासमें शरीर और मस्तिष्कके लिये भयावह परिणाम खड़े हो सकते हैं। उपनिषद्का उपदेश है—'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।' दुःखकी बात यह है कि आजकल 'गुरु' शब्द तो चारों ओर मारा-मारा फिरता है; परन्तु इस बातकी छानबीन नहीं की जाती कि जो लोग गुरु बनते हैं, वे ब्रह्मनिष्ठ हैं भी या नहीं। यदि सौभाग्यसे सद्गुरु मिल जायँ तो फिर यह पुराना वाक्य सर्वथा सार्थक होता है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

संतोंने सद्गुरु-महिमामें सचमुच कलम तोड़ दी है। यहाँपर तो केवल थोड़े-से ही उदाहरण दिये जा सकते हैं—

बिनु सद्गुरु कोउ भेद न पावा। धरती से आकास लौं धावा॥
(बजइन)

दादू काढ़ै काल मुख, अंधे लोचन देइ।
दादू ऐसा गुरु मिल्या, जीव ब्रह्म करि लेइ॥ (दादू)

गुरु चरनन पर तन मन वारूँ। गुरु न तजूँ, हरि को तजि डारूँ॥
(सहजोबाई)

सतगुरु आदि अनादि है, सतगुरु मध अरु मूल।
सतगुरु कूँ सिजदा करूँ, एक पलक नहिं भूल॥
(गरीबदास)

सतगुरु मारा बान भरि, डोला नाहिं सरीर।
कहु चुंबक क्या कर सकै, सुख लागै वोहि तीर॥
सतगुरु मारा तानकर, सब्द सुरंगी बान।
मेरा मारा फिर जियै, तो हाथ न गहूँ कमान॥
(कबीर)

ऐसा सद्गुरु धन इत्यादिका भूखा नहीं होता। वह जिसको अधिकारी समझेगा, उसको अवश्य ही सदुपदेश प्रदान करेगा। जो शिष्य बननेका हौसला रखता हो, उसमें अटल श्रद्धा और अथाह धीरता होनी चाहिये। उसको पलटू साहब यह परामर्श देते हैं—

पड़ा रहै संत के द्वार, धका धनी का खाय।
कबहूँ तो धनी निवाजिहैं, काज सहज होइ जाय॥

पतञ्जलिने योगको अष्टाङ्ग कहा है। कुछ लोग उसको इस कारण षडङ्ग भी कहते हैं कि यम और नियम केवल योगी ही नहीं वरं मनुष्यमात्रके लिये उपयोगी हैं। संतोंने विशेषरूपसे योगकी कोई पोथी तो लिखी नहीं है, इसलिये षडङ्ग-अष्टाङ्गका शास्त्रीय विवेचन भी उन्होंने नहीं किया है। परन्तु जो बातें यम-नियममें परिगणित हैं, इनपर उन्होंने बहुत ज़ोर दिया है। उदाहरणस्वरूप कबीरकी कुछ साखियाँ देता हूँ—

जुआ, चोरी, मसखरी, ब्याज, घूस, पर नार।
जो चाहै दीदार को, एती बस्तु निवार॥
कामी, क्रोधी, लालची, इन से भक्ति न होय।
भक्ति करै कोइ सूरमा, जाति, बरन, कुल खोय॥
गोधन, गज धन, बाज धन और रतन धन खान।
जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान॥
मरि जाऊँ, मागूँ नहीं, अपने तन के काज।
परमारथके कारने मोहि न आवे लाज॥
साँचे स्राप न लागहीं, साँचे काल न खाय।
साँचे को साँचा मिलै, साँचे माहिं समाय॥
गुरु पसु नर पसु नारि पसु, बेद पसू संसार।
मानुष सोई जानिये, जाहि बिबेक बिचार॥
निंदक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिनु पानी, साबुन बिना, निरमल करै सुभाय॥

योगाभ्यासकी कई रीतियाँ प्रचलित हैं। इनमें लक्ष्यगत कोई भेद नहीं है। मुख्य भेद धारणा अर्थात् चित्तकी वृत्तिको एकाग्र करनेके अन्तर्मुख साधनके सम्बन्धमें है। श्रुतिमें भी इस प्रकारकी कई रीतियाँ भिन्न-भिन्न विद्याओंके नामसे परिगणित हैं। प्रायः सभी संतोंने जिस प्रक्रियाका मुख्यतः उपदेश किया है, उसे 'सुरत शब्दयोग' कहते हैं। यह कोई नूतन आविष्कार नहीं है, परन्तु संतकालके पहले इसका स्यात् इतने विस्तारसे अवलम्बन नहीं हुआ। सुरत, जिसे सुरति भी कहते हैं, 'स्रोत' शब्दका अपभ्रंश है। दर्शनग्रन्थोंमें स्रोतका अर्थ है 'चित्तवृत्तिप्रवाह'; अतः सुरत शब्दयोग वह पद्धति है, जिसमें शब्दकी धारणा की जाती है अर्थात् चित्तकी वृत्तिका प्रवाह शब्दमें लय किया जाता है। शब्दका किसी बाह्य मन्त्रसे तात्पर्य नहीं है। शरीरके भीतर और शरीरके बाहर एक प्रकारकी ध्वनि बराबर हो रही है, जिसे अनाहत—जो बिना किसी प्रकारका आघात किये हुए उत्पन्न हो—कहते हैं। संतोंने इसे अनहद कहा है। गुरु-पदिष्टमार्गसे अभ्यास करनेसे इस ध्वनिकी डोर हाथ आ जाती है और फिर उसके सहारे चढ़कर चित्तकी वृत्ति बीचकी

भूमिकाओंको पार करती हुई असम्प्रज्ञात समाधिपदमें सहज ही लीन हो जाती है। नादबिन्दूपनिषद्में इसका वर्णन इस प्रकार आता है—

ब्रह्मप्रणवसन्धानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः।
स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेंऽशुमानिव ॥ ३० ॥
यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः।
तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते ॥ ३८ ॥
सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः।
नादमेवानुसन्दध्यान्नादे चित्तं विलीयते ॥ ४१ ॥
नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः।
नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ॥४५॥

इसी प्रकार ध्यानबिन्दूपनिषद्में भी बतलाया है:—

अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्।
तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः ॥ ३ ॥

शिवसंहिता आदि ग्रन्थोंमें भी अनाहत ध्वनि और उसके द्वारा चित्तवृत्तिके उपशमका वर्णन आया है।

इसी ध्वनिका आश्रय लेकर योगीको अन्तरमें आदि-ध्वनि अर्थात् प्रणवका अनुभव होता है। पतञ्जलि कहते हैं कि प्रणव अर्थात् ॐकार ईश्वरका वाचक है। ॐकारके अकार, उकार, मकार—इस प्रकार टुकड़े करके अनेक प्रकारसे अर्थ किये गये हैं। योगीकी दृष्टिमें ॐकार आदि शब्द अर्थात् पाञ्चभौतिक जगत्का आदिम रूप, शब्द-तन्मात्राका सूक्ष्मातिसूक्ष्म सार, इसीलिये पाञ्चभौतिक जगत्में ईश्वरकी पहली अभिव्यक्ति है। इसीलिये यह उसका वाचक या पवित्रतम नाम कहा जाता है। श्रुतिमें प्रणवकी अनेक प्रशस्तियाँ हैं। यथा—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥१५॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥
(कठोपनिषद् द्वितीय वल्ली)

जिस प्रकार वैदिक ग्रन्थोंमें ॐकारको प्रणव, उद्गीथ आदि अनेक नामोंसे पुकारा गया है उसी प्रकार संतोंने इसे प्रायः नाम या सत्तनाम (सत्यनाम) कहकर पुकारा है। सत्यनामकी अपार महिमाका उन्होंने भी बार-बार वर्णन किया है। वे भी कहते हैं कि नादके परे जो भूमिका है, वह निःशब्द 'अनामी' लोक है। इस सम्बन्धमें कुछ अवतरण देता हूँ—

ओ३म्कार पानी अरु पवन। सूर्य, चंद्र, धनि, महि, भवन।
ओ३म्कार पूजा अरु मान। ओ३म्कार जप संजम ध्यान॥
ओ३म्कार तप तीरथ दान। ओ३म्कार राखै सुर ग्यान।
ओ३म्कार गुरू अरु चेला। ओ३म्कार रह रासी मेला॥
ओ३म्कार निरंतर बानी। जिन जानी तिन गुरुमुख जानी।
(नानक)

सत्तनाम निज सार है, अमरलोक को जाय।
कह दरिया सतगुरु मिलै, संसय सकल मिटाय ॥(दरिया)

मूलमंत्र निज नाम है, सुरत सिंधु के तीर।
गैबी बानी अरसमें सुर नर धरैं न धीर ॥(गरीब)

ता पर अकह लोक है भाई, पुरुष अनामी तहाँ रहाई।
जो पहुँचै जानैंगे वाही, कहन सुनन से न्यारा है ॥(कबीर)

संतोंने सुरत शब्दयोगको ही निदिध्यासनकी प्रधान प्रक्रिया माना है। वे इसीको 'भजन' भी कहते हैं। अभ्यास करते-करते योगीको जो अनुभव होते हैं, उनका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद्में अति संक्षेपमें इस प्रकार हुआ है—

नीहारधूमार्कानलानिलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकाशनीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११॥
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥

—इत्यादि। (अध्याय २)

इसी विषयका नादबिन्दु आदि उपनिषदोंमें किञ्चित् अधिक विस्तारसे वर्णन है। योगदर्शनके विभूतिपादमें 'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्', 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' इत्यादि सूत्रोंद्वारा कुछ और विस्तार किया गया है। तन्त्र-ग्रन्थोंमें भी कहीं-कहीं अच्छा वर्णन आया है।

संतोंने भी इस अनुभवका वर्णन किया है और मेरा तो विश्वास है कि संस्कृत-ग्रन्थोंमें भी इस सम्बन्धमें इससे ललित भाषाका प्रयोग नहीं किया गया है। योगीको अभ्यासके

प्रसादसे चतुर्दश भुवनमें कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं रह जाती, वह अणिमादि सिद्धियोंका स्वामी हो जाता है । यह असम्भव है कि जो अनुभव स्वसंवेद्य है, जो पद 'नेति नेतीति वाच्यम्' है, जहाँ मन और वाणीकी पहुँच नहीं, उसका वर्णन शब्दोंमें किया जा सके । हाँ, नीचेकी कुछ बातें बतलायी जा सकती हैं—वे भी संकेतोंद्वारा । इस वर्णनका भी रस उसीको मिल सकता है, जिसकी इस मार्गमें कुछ गति हो । दूसरा इतना ही अनुमान कर सकता है कि किसी प्रकारकी विचित्र और आनन्दमयी अनुभूति होती होगी । मैं नीचे कुछ अवतरण इस सम्बन्धके भी देता हूँ । इनमें कुछ पारिभाषिक शब्द भी आये हैं । इनमेंसे सभी योगविषयक संस्कृत-ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं ।

अनहद तालदग थेई थेई- बाजे ।
सकल भुवन जाकी ज्योति बिराजै ॥
ब्रह्मा बिस्नु खड़े सिव द्वार ।
परम ज्योति सों करैं जुहार ॥
गगन मँडल में निरतन होय ।
सतगुरु मिलै तो देखै सोय ॥
आठ पहर जन बुल्ला गाजे ।
भक्तिभाव माथे पर छाजै ॥ (बुल्ला साहब)

उलट देखो घट में ज्योति पसार ।
बिनु बाजे तहँ धुनि सब होवै, बिगसि कमल कचनार ॥
पैठि पताल सूर ससि बाँधे, साधै त्रिकुटी द्वार ।
गंग जमुनके वारपार बिच, भरतु है अमिय करार ॥
इँगला पिंगला सुखमन सोधौ, बहत सिखर मुख धार ।
सुरत निरत लै बैठु गगन पर सहज उठै झनकार ॥
सोहं डोरि मूल गहि बाँधो, मानिक बरत लिलार ।
कह गुलाल सतगुरु बर पायो, भरो है मुक्ति भंडार ॥
(गुलाल साहब)

निर्बान निर्गुन नाम है, जप लाग अनहद तान की ।
बिमल ग्यान बिराग उपजै, धँसत धारा ध्यान की ॥
ध्यान धरकै सिखर देखौ, झिकर रारंकार की ।
जपत अजपा गगन देखौ, लखौ एक मस्मालची ॥
दहिने घंटा संख बाजै बाएँ किंगरी सारँगी ।
मधुर मुरली मध्य बाजै, ज्योति एक बिराजती ॥
यही है एक कथा निर्गुन दूसरी नहीं जानते ।
जगजिवन प्रानहि सोधिकै छुटि जात आवागमन ते ॥
(जगजीवन साहब)

बाबा बिकट पंथ रे जोगी, ताते छोड़ सकल रस भोगी ।
परथम सिद्धि गनेस मनाओं मूल कमल की मुद्रा ।
किलियम् जाप जपौ हरि हीरा, मिटै करम सब छुद्रा ॥
करम बाम पर सेस बाम है, तासु होत उदगारम् ।
दोहूँ जीत जनम जुग जोगी अवगत खेल अपारम् ॥
नाभि कमल में नाद समोओ नागिन निद्रा मारो ।
दो फुंकार संखिनी जीतौ उरधै नाम बिचारो ॥
हिरदै कमल सुरत का संजम निरत कला निरस्वाँसा ।
सोहं सिंध सैल पद कीजै ऐसे चढ़ो अकासा ॥
कंठ कमल से हरहर बोलै षोडस कला उगानी ।
यह तो मध मारग सतगुरु का पंथ बूझ ब्रह्मग्यानी ॥
त्रिकुटी मद्धे मूरत दरसै दो दल दरपन माहीं ।
कोट जतन कर देखा भाई बाहर भीतर नाहीं ॥
वह तो सिंध दोउ से न्यारा कहो कहाँ ठहराए ।
सुध बेसुध मिलै नहीं भौंरा, कहाँ रहत घर पाए ॥
अनहद नाद बजाओ जोगी, बिना चरन चल नगरी ।
काया कासी छाँड़ि चलोगे जाय बसौ मन मथुरी ॥
धरती धूत ओंकार न पाऊँ मेरुदंड पर मेला ।
गगन मँडल में आसन करहूँ तो सतगुरु का चेला ॥
तिल परमान ब्रह्म दरवाजा, तिस घाटी ले जाऊँ ।
चींटी के पग हस्ती बाँधूँ अधर धार ठहराऊँ ॥
दखिन देस में दीपक जोडूँ, उत्तर धरूँ धियाना ।
पछिम देसमें देवल हमरा, पूरब पंथ पयाना ॥
पिंड ब्रह्मांड दोऊ से न्यारा अगम ग्यान गोहराऊँ ।
दास गरीब अगम गति आवै सिंधै सिंध मिलाऊँ ॥
(गरीबदास)

आगासी सरु भजिया नीर, ता महँ कवँल बहुत बिस्थीर ।
भौंरा लोमधा ताँको गंध, नानक बोलै त्रिथमी संध
बारह सोलह सम करि गहै, आसणु सहजि निरान्तु वहै
चेतनी डोरी गुडि लावै, नानक कहै जोग इउँ पावै
मेरुडंड सूधा करि राखै, गुरु प्रसाद अम्रितु रस चाखै
दोने शराह इकठी भरै, नानक बोलै जीवत मरै
उलटै पौण उलटै काया, शबिद अनाहद शब्द बजाया
धुनि अंतर मनु राखै थीरु, नानक बोलै अउलि फकीरु
(नानक साहब)

गगनके बीचमें ऐन मैदान है, ऐन मैदानके बीच गली
सहस दल कँवलमें भँवर गुंजारहै, कँवलके बीचमें सेत कली
इडा औ पिंगला सुखमना घाट है, सुखमना घाटमें लगी नली

सुन्न सागर भरा सत्तके नामसे, तेहिके बीचमें सुरति हली
अहै एक वृच्छ है तेहिके डारिमें, पड़ा हिंडोलना प्रेम झुली
अमीरस चुवै सोह पियत एक नागिनी, नागिनी मारिकै बुंद रली
बंकके नालपर तहाँ एक ऊँच है, तेहुँके सीस चढ़ि जोति बली
जोतिके बीचमें तहाँ एक राह है, राहके बीचमें नाद चली
नादके बीचमें तहाँ एक रूप है, रूपको देखिके रह तसल्ली
दास पलटू कहै होय आरूढ़ जब, संतको सहज समाधि भली

(पलटू साहब)

महरम होय सो जानै साधो, ऐसा देस हमारा ॥
बेद कतेब पार नहिं पावत, कहन सुनन सो न्यारा ।
जाति बरन कुल किरिया नाहीं संध्या नेम अचारा ॥
बिन जल बुंद परत जहँ भारी, नहिं मीठा नहिं खारा ।
सुन्न महलमें नौबत बाजे, किंगरी बीन सितारा ॥
बिन बादर जहँ बिजली चमकै बिन सूरज उजियाँरा ।
बिना नैन जहँ मोती पोहै बिनु सुर सब्द उचारा ॥
जो चलि जाय ब्रह्म तहँ दरसे आगे अगम अपारा ।
कहै कबीर वहँ रहनि हमारी, बूझे गुरमुख प्यारा ॥

(कबीर साहब)

अन्तमें मैं दो शब्द अपने दादागुरु बाबा रामलालजीके देना चाहता हूँ:—

(१) झरे फुलझरी बरे मसाला । दरसे अमृत ज्योति रसाला ॥
दसहुँ दिसा महँ दामिनि दमकै । दहिनें बाम रबि चंदा चमकै ॥
हरित चक्र त्रिकुटी रह छाई । फनिपति रूप अजब दरसाई ॥
स्याम स्वरूप निरंजन झलकै । दीप शिखा सम माया दमकै ॥
त्रिगुन त्रिदेव बहुत दरसाहीं । रंग अरंग बरनि नहिं जाहीं ॥
कोटि कोटि ब्रह्मांड तमासा । रामलाल चढ़ि लखत अकासा ॥

(२) मूल मंत्र करि बंध बिचारी । षट चक्रहि नव सोधहि नारी ॥
संगिके मेरुदंड ठहराना । सहज मिलावै प्रान अपाना ॥
बंक नाल गहे मन मूला । बिहँसत अष्टकमल दल फूला ॥
पच्छिम दीसा लागि किवारी । सतकुंजी सन केह उघारी ॥
जस मकरीका लागा तागा । वैसेहि प्रेम बढ़ै अनुरागा ॥
उलटा पवन चढ़े जस मीना । है सतगुरु का मारग झीना ॥
अजपा जाप जिकिर धुनि ध्याना । संधि सब्द महँ पवन समाना ॥
आदी सब्द अहै ॐकारा । उठै सब्द धुनि रारंकारा ॥
दसौ दिसा होइगे उँजियारा । झलकत जगमग जोति अपारा ॥
गैबि मिले जब गैब समाना । है अलमस्त अमीरस पाना ॥
कालदंड नाहीं जम त्रासा । देखत गैबी गैब तमासा ॥
जो अस चलै सुन्य मिल जाई । ता कर आवागमन नसाई ॥
रामलाल कोउ बिरला पावा । निरधन धनी निसान नचावा ॥

मैं समझता हूँ कि इतने अवतरण पर्याप्त हैं । जैसा मैंने ऊपर लिखा है, इनका और इनके-जैसे दूसरे पदोंका रसास्वादन वही कर सकता है, जो इस मार्गपर चल रहा है। जो मनुष्य अपने अनुभवके कारण या किन्हीं ऐसे महात्माओं-के वचनोंको प्रमाण माननेके कारण, जिनका उसको सत्सङ्ग प्राप्त हुआ हो, योगको मोक्षका उत्कृष्टतम साधन मानता है वह प्रकृत्या संतबानीकी ओर आकृष्ट होगा; और मेरा ऐसा विश्वास है कि उसका इसमें परम कल्याण होगा । आजकल ऐसा कहनेका दस्तूर-सा चल पड़ा है कि इस युगमें योगाभ्यास नहीं किया जा सकता; और मुमुक्षुओंसे दूसरे साधनोंके नाम लिये जाते हैं, जो योगकी अपेक्षा अधिक सुलभ और सुकर हैं । योग कठिन है, इसमें कोई सन्देह नहीं । पतञ्जलि कहते हैं—

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।'

जिस चित्तका निग्रह गीताके शब्दोंमें वायुके बाँधनेके समान दुष्कर है, उसकी वृत्तियोंका निरोध सहज नहीं हो सकता । निरन्तर सतर्क रहनेकी आवश्यकता पड़ती है । पदे-पदे पतनकी सम्भावना है । कबीरने योगीके इस मानस रणक्षेत्रका इन शब्दोंमें अच्छा वर्णन किया है—

साध संग्राम है, बिकट बेड़ा जती, सती और सूरकी चाल आगे ।
सती घमसान है पलक दो चारका, सूर घमसान पल एक लागे ॥
साध संग्राम है रैन दिन जूझना, देह पर्यंतका काम भाई ।
कहत कब्बीर टुक बाग ढीली करै, उलट मन गगनसे जमी आई ॥

इसलिये कोमलबुद्धि लोगोंका, जो दोनों हाथ चाँदी चाहते हैं, चित्त इस मार्गसे घबराता होगा । परन्तु किया क्या जाय ? दूसरा वास्तविक मार्ग है भी नहीं । आजसे दो हज़ार वर्ष पहलेकी बात है । एक मिश्री राजकुमार रेखागणित पढ़ रहा था । उसने घबराकर अपने अध्यापकसे पूछा 'क्या इन तथ्योंके सीखनेका कोई सरल उपाय नहीं है ?' उत्तर मिला—'नहीं, नरेशोंके लिये रेखागणित सीखने-का कोई अलग मार्ग नहीं है ।' उसी प्रकार मुमुक्षुओंके लिये भी कोई सरल मार्ग नहीं है । हाँ, अधिकारिभेदसे अनेक प्रकारकी यज्ञ, याग, जप, पूजा आदि उपासना-पद्धतियाँ हैं, जिनसे सत्त्वकी शुद्धि होती है और अपात्र क्रमशः पात्रत्व प्राप्त करता है । इनकी उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा

सकती। इनमेंसे कई तो योगके अङ्गोपाङ्गोंके पर्यायमात्र हैं—जैसे नियमोंमें परिगणित ईश्वरप्रणिधानकी भक्ति नामसे महिमा गाना। भगवती श्रुति भी किसी दूसरे मार्गका प्रतिपादन नहीं करती। संतमतके आचार्योंने दिखला दिया है कि इस युगमें भी वह द्वार पहलेकी ही भाँति खुला है।

सिद्धियोंकी प्राप्ति भी योगका एक परिणाम है। पतञ्जलिजी कहते हैं—

'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।'

संतोंने भी इसी दृष्टिसे सिद्धियोंकी निन्दा की है पर उनकी ओर संकेत भी किया है। उनकी विभूतियोंकी बहुत-सी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। पर इन बातोंका उल्लेख करना मैं अनावश्यक समझता हूं।*

संतोंकी सहज-शून्य-साधना

(लेखक—आचार्य श्रीक्षितिमोहन सेन शास्त्री, एम्० ए०)

मध्ययुगके भक्त और साधकगण बहुत समय गुरुकी तुलना शून्यसे करते हैं। जीवनके सहज विकासके लिये शून्य—एक मुक्त आकाशकी ज़रूरत होती है। गुरु भी ऐसा ही होना चाहिये। इसीलिये रज्जबजीने कहा 'सतगुरु शून्य समान है' (गुरुदेव अंग, ५६)। ये 'शून्य' और 'सहज' शब्द बौद्धों, निरंजन और नाथपंथी योगियों, सहजियों और बाउल आदि संतोंमें भी हैं। मध्ययुगके भी बहुतेरे साधक अपनेको सहजपंथी कहते थे। देखा जाय, इसका अर्थ क्या है?

धर्म सहज हो तो यह सहज सकल बाधाहीन होकर अनन्त आधारको चाहता है—यही शून्य है। इसीलिये सभी सहजवादी किसी-न-किसी रूपमें शून्यको स्वीकार करते हैं। 'शून्य' का भावात्मक जीवनाधार महाकाश न मिले तो कोई भी जीवन-बीज अङ्कुरित नहीं हो सकता। इसीलिये सहजमतमें गुरुको शून्य कहा गया है। यदि गुरु अपने व्यक्तित्वसे शिष्यके व्यक्तित्वको दबा दे तो धर्म-जीवन अङ्कुरित होनेके बदले पिस जायगा। इसीलिये शून्य ही गुरु है और गुरु शून्य है।

प्रत्येक अङ्कुर जीवन्त होकर उठते समय शून्य आकाशकी ओर अपने प्राणोंको प्रकाशित करता है। अतिशय क्षुद्र जो अङ्कुर है और क्षुद्रतम जो पुष्प है, वह भी अपने मस्तकपर अनन्त शून्य आकाशको न पाये तो अपने उस छोटे-से जीवनको विकसित नहीं कर सकता। आकाश यदि शून्य न होकर ठोस हो तो सारा जीवन दबकर तहस-नहस हो जाय। इसी तरह समस्त प्रकारके जीवनके विकासके लिये एक

* नोटः—योगके सब पारिभाषिक शब्दोंका, जो संतबानीमें आये हैं, अर्थ लिखना न तो उचित है न सम्भव। फिर भी मैं उन लोगोंकी सुविधाके लिये, जो संस्कृतके योगसाहित्यसे मिलान करना चाहें, दो-एक बातोंकी ओर सङ्केत कर देना चाहता हूँ।

इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा नाडियोंको प्रायः इंगला, पिंगला, और सुखमना और सांकेतिक भाषामें गङ्गा, यमुना और सरस्वती कहा गया है। इडा और पिङ्गला ही चन्द्र और सूर्य हैं। मेरुदण्ड पृष्ठास्थि है। सुषुम्णा उसीके बीचमेंसे जानेवाली नाडी है, जिसका अंग्रेजी नाम स्पाइनल कार्ड है। इसी नाडीमें वे छः विशिष्ट स्थान हैं, जिनको षट्चक्र कहते हैं। चक्रोंके नामों और स्थानोंका ब्यौरा इस प्रकार हैः—

चक्रका नाम	स्थान	चक्रका नाम	स्थान
मूलाधार	मेरुदण्डका सबसे नीचा स्थान	अनाहत	हृदय
स्वाधिष्ठान	योनि	विशुद्ध	कण्ठ
मणिपूर	नाभि	आज्ञा	नेत्रोंके बीचमें; तिल

इन चक्रोंके क्रमशः गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, अविद्या और पुरुष अधिष्ठातृ देवता हैं। इन चक्रोंके ऊपर सहस्रदल कमल या सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र आदि वे स्थान हैं, जो मेरुदण्डसे ऊपर मस्तिष्कमें हैं। जिस स्थानपर इडा और पिङ्गला सुषुम्णासे मिलकर अपनी-अपनी दिशा बदल देती हैं अर्थात् दक्षिण नाडी वाम और वाम नाडी दक्षिणकी ओर चली जाती है, उसको त्रिकुटी या त्रिकुटीसङ्गम कहते हैं। प्रत्येक चक्रके साथ कैसा कमल सम्बद्ध है, किस स्थानपर कौन-सी वायु है, कैसा नाद है, सर्पिणी अर्थात् कुण्डलिनीका स्थान कहाँ है? और वह किस प्रकार ऊर्ध्वगामिनी बनायी जा सकती है, ये सब अंशतः योगसम्बन्धी पुस्तकों और मुख्यतः अपने अनुभवसे ही जाननेकी बातें हैं।

प्रकारकी शून्यता जरूरी है। जहाँ प्राणका विकास नहीं है, वहाँ इस शून्यताका प्रयोजन नहीं हो सकता है; किन्तु जहाँ कहीं प्राण है, वहीं उसके विकासके लिये शून्यताका प्रयोजन है। धर्म और भाव भी तो जीवन्त वस्तु हैं, इसीलिये इनके विकासके लिये भी शून्यताका एक अनुकूल आकाश चाहिये। परन्तु यह शून्यता नास्तिधर्मात्मक वस्तु नहीं है।

रामानन्दधारामें गुरुपरम्परासे प्रचलित एक नमस्कार इस प्रकार है—

नमो नमो निरंजन नमस्कार गुरुदेवतः।
बन्दनं सर्व साधवा परनामं पारंगतम्॥

यह न हिन्दी, न संस्कृत प्रणाम बहुत पुराना है। दादूने अपने नामसे इसे चलाया है—

'**दादू नमो निरंजनं नमस्कार गुरुदेवतः**'—इत्यादि

अर्थात् निरञ्जनको प्रणाम करता हूँ, उन्हें समझनेके लिये प्रणाम करता हूँ गुरुदेवताको। गुरु उसी अनादि अनन्त निःसीम निरञ्जनको समझनेके सुगम उपाय हैं। किन्तु यदि रास्ता ही हमें सीमाबद्ध कर दे तो ? इसीलिये मुक्तिका पथ खुला रखनेके लिये कहा गया—'बन्दनं सर्व साधवा।' जितने भी साधक हों और जिस भावसे भी उन्होंने निरञ्जनको प्राप्त किया हो, उन्हें नमस्कार। ऐसा करनेसे ही यह प्रणाम सीमाबद्ध नहीं होगा। समस्त संकीर्णता और समस्त साम्प्रदायिकताकी बाधा पार कर जायगा। तभी यह प्रणाम होगा 'पारंगतः' अर्थात् समस्त सीमाके पार गया हुआ सीमा-हीन प्रणाम।

इसीलिये गुरु यदि शून्य हों तो किसी विपत्तिका डर नहीं। यह शून्यता ही आत्माके विहारकी सहज भूमि है, इसी सहजमें आत्माकी नित्य केलि और आनन्द-कल्लोलका स्थान है। यहीं संगीत और कलाकी उत्पत्ति है, क्योंकि कलामात्र ही अनन्तमें आत्मारूपी हंसके सहज संगीतका कल्लोल है (दादू परचा अंग ६१)।

भक्तप्रवर सुन्दरदासने अपने सहजानंदनामक ग्रंथमें लिखा है कि हिंदू हो या मुसलमान—यदि साधक बाह्य आचार, अनुष्ठान और कृत्रिम कर्मकाण्ड न माने, ऊपरी भेष और चिह्न न धारण करे, अन्तरमें सहज अग्निशिखा जला रक्खे, सहज ध्यानमें मग्न हो, सहजमें डूबकर सहजभावसे ही रहे, तब उसके जीवनमें सहज ही भगवान्‌का नाम अपने-आप निःशब्द भावसे ध्वनित होता रहता है। कृत्रिम जप-तपकी कोई ज़रूरत नहीं होती (सहजानंद ग्रंथ २-४)। इसी ग्रंथमें अन्यत्र (२९) कहा गया है कि स्मरण, ध्यानयोगके लिये ये कालाकाल नहीं मानते, सहजमें डूबकर ये कृत्रिम विचार वे भूल जाते हैं। सहज सर्वव्यापी निरञ्जनमें डूबकर साधक विश्व-जगत्‌की सब साधनाओंके साथ योगयुक्त होता है। कबीरदासने नाना भावसे नाना स्थानपर इस सहजावस्थाकी बात कही है। दादूने कहा है कि 'कुछ नाहीं' का नाम धरके सारा संसार भरम रहा है, इसीलिये भीतरके देवताको छोड़कर व्यर्थ ही बाहर चक्कर मार रहा है—

कुछ नाहीं का नावँ करि भरम्या सब संसार।
पूजनहारं पासि हैं, देही मा हैं देव।
दादू ता कौं छाड़ि करि, बाहरि माँडी सेव॥
(साच अंग १४६,१४८)

प्रार्थना

मैं अपराधी जनम का, नखसिख भरा बिकार।
तुम दाता दुख-भंजना, मेरी करौ सम्हार॥
अवगुन मेरे बापजी, बकसु गरीबनिवाज।
जो मैं पूत कपूत हौं, तऊ पिता कौ लाज॥
औगुन किये तो बहु किये, करत न मानी हार।
भावै बंदा बकसिये, भावै गरदन मार॥

—कबीर

श्रीमद्भागवतकी साधना

(लेखक—सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार)

साधनका विषय अत्यन्त व्यापक होनेके कारण बहुत जटिल है। फिर श्रीमद्भागवतमें निरूपित साधनोंपर लिखनेका अधिकार तो महानुभाव विद्वानोंका ही है। मेरे-जैसे अल्पज्ञद्वारा इस विषयमें दुःसाहस किया जाना अवश्य ही अनधिकार चेष्टा है। अतएव इस धृष्टताके लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

अन्य पारमार्थिक ग्रन्थोंमें जिस प्रकार ऐहिक, पारलौकिक और पारमार्थिक श्रेयस्कर अनेक साधनोंका निरूपण किया गया है, उसी प्रकार यद्यपि श्रीमद्भागवतमें भी सभी प्रकारके साधनोंका निरूपण मिलता है, किन्तु ऐहिक और पारलौकिक कामनाओंके लिये योगक्रियाओंद्वारा उपलब्ध होनेवाले सर्वोपरि अणिमादि सिद्धियोंके साधनोंके विषयमें भी श्रीमद्-भागवतमें स्वयं भगवान्ने अपने परम भक्त उद्धवके प्रति यह आज्ञा की है—

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः॥
(११। १५। ३३)

इसके द्वारा स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवतमें कल्याणमार्गके पथिक भगवद्भक्तोंके लिये तो अणिमादि सिद्धियाँ भी केवल समयको व्यर्थ नष्ट करनेवाली ही बतलायी गयी हैं। अतः श्रीमद्भागवतका लक्ष्य पारमार्थिक श्रेयके साधनोंका निरूपण ही है। उनमें भी प्रसङ्गानुकूल अनेक स्थलोंपर सांख्य, योग और ज्ञान-वैराग्य आदि विभिन्न साधनोंका अधिकारि-भेदसे निरूपण किया गया है। जैसा कि सूत्ररूपमें भगवान् श्रीकृष्णने—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥
(श्रीमद्भा० ११। २०। ६–८)

—इन वाक्योंमें कहा है कि मैंने मनुष्योंके कल्याणकी इच्छासे ज्ञान, कर्म और भक्ति—इस प्रकार तीन योग बतलाये हैं। इन तीनोंके सिवा और कोई चौथा साधन नहीं है। इनमें जो कर्मफलोंको दुःखरूप जानकर उनका त्याग करनेवाले संन्यासी हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं। जो लोग कर्मोंको सुखरूप समझकर कर्मोंसे विरक्त नहीं हुए हैं—जिनको संसारसे वैराग्य नहीं हुआ है, वे कर्मयोगके अधिकारी हैं। और इनके अतिरिक्त अकस्मात् किसी भाग्योदयसे जो लोग मेरी कथा आदिके कहने-सुननेमें श्रद्धा उत्पन्न हो जानेपर कर्मोंके फलोंमें न तो अत्यन्त आसक्त हैं और न अत्यन्त विरक्त ही हैं, वे भक्तियोगके अधिकारी हैं। किन्तु श्रीमद्भागवतमें कदाचित् ही कोई ऐसा स्थल हो, जहाँ विभिन्न साधनोंके वर्णनमें भगवद्भक्तिको सर्वोपरि प्रधानता न दी गयी हो। देखिये—

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्॥
(श्रीमद्भा० ७। ७। ५१, ५२)

परम भक्त श्रीप्रह्लादजी दैत्यबालकोंके प्रति कहते हैं कि 'वृत्त, बहुज्ञता, दान, तप, पूजा, शौच और व्रतादिसे मुकुन्द भगवान् प्रसन्न नहीं हो सकते; वे तो केवल विशुद्ध भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं। भक्तिके सिवा और सब विडम्बनामात्र है।'

भगवान् कपिलदेव भी माता देवहूतिजीसे यही कहते हैं—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥
(श्रीमद्भा० ३। २५। १९)

योगिजनोंको ब्रह्मप्राप्तिके लिये कल्याणकारक मार्ग भक्तिके समान दूसरा कोई नहीं है। और भी—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥
(श्रीमद्भा० ३। २५। ४४)

'इस संसारमें तीव्र भक्तियोगद्वारा मनको स्थिर करके मुझमें लगाना ही मनुष्योंके लिये एकमात्र निःश्रेयसकारक है।'

भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं उद्धवजीके प्रति यह स्पष्ट कहा है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।२०)

'हे उद्धव ! मुझमें बढ़ी हुई भक्ति जिस प्रकार मुझे वश कर सकती है उस प्रकार न योग, न ज्ञान, न धर्म, न वेदाध्ययन, न तप और न त्याग ही मुझे वश कर सकते हैं।'

प्रश्न हो सकता है कि भगवद्भक्तिको इस प्रकार सर्वोपरि महत्त्व दिये जानेका क्या कारण है, जब कि श्रुति-स्मृतियोंमें एवं श्रीमद्भागवतमें भी अन्य साधनोंका भी महत्त्व प्रतिपादित है ? इसका समाधान श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित वाक्योंद्वारा हो जाता है—

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये ।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥
यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥
(११ । २ । ३४, ३५)

योगीश्वर कवि श्रीजनक महाराजसे कहते हैं कि 'हे राजन् ! भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे जो धर्म* आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके लिये बतलाये हैं—जिनके द्वारा सर्वसाधारण अल्पज्ञ जन भी सुखपूर्वक—सहज ही भगवत्प्राप्ति कर सकते हैं, वे ही भागवत धर्म हैं। उन भागवत धर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ पुरुष कभी प्रमादको प्राप्त नहीं हो सकता—जिस प्रकार राजमार्गमें आँख बंद करके भी दौड़ते हुए मनुष्यको गिरनेका भय नहीं होता, उसी प्रकार भागवत धर्मोंमें प्रवृत्त होकर आँख मूँदकर दौड़ते हुए चलनेपर भी किसी प्रकारके विघ्नका खटका नहीं होता।' अर्थात् अन्य श्रुति-स्मृतिविहित धर्मोंके साधनोंमें कुछ भी त्रुटि होनेपर साधक पथभ्रष्ट हो जाता है। किन्तु भगवद्भक्तिमें श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित धर्मोंका यथावत् अनुष्ठान न होनेपर भी भगवद्भक्त कदापि पथभ्रष्ट नहीं हो सकता। और देखिये—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥
(श्रीमद्भा० १।५।१७)

देवर्षि नारद भगवान् वेदव्यासजीसे कहते हैं—नित्य-नैमित्तिक स्वधर्माचरणको त्यागकर भगवद्भक्ति करता हुआ पुरुष यदि भक्तियोगकी परिपक्व अवस्थाको प्राप्त न होकर मर जाय अथवा भक्तिमार्गसे च्युत हो जाय तो भी क्या उस पुरुषका कभी अमङ्गल हो सकता है ? कभी नहीं। इसके विपरीत भगवद्भक्तिको न करके केवल कर्म-बन्धनमें फँसानेवाले धर्मोंको करते-करते जो लोग मर जाते हैं, उनको क्या फल मिलता है ? अर्थात् उस धर्मके प्रतिफलसे कुछ काल स्वर्गादि सुख भोगकर पुनः उनको दुःखमय संसारचक्रमें ही घूमना पड़ता है। यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीताके—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥

—इस भगवद्वाक्यमें अल्पज्ञोंके लिये कर्मोंका साधन उपादेय बतलाया गया है, किन्तु वह ज्ञानके जिज्ञासुओंके लिये ही कहा गया है। क्योंकि ज्ञानके लिये अन्तःकरणकी शुद्धि परमावश्यक है और वह निष्काम कर्मोंद्वारा ही प्राप्त हो सकती है। किन्तु भक्ति तो अनपेक्ष ही अन्तःकरणकी शुद्धि करनेवाली है। कहा है—

केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः ।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः ॥
(श्रीमद्भा० ६।१।१५)

श्रीमद्भागवतमें तो भक्तिरहित ज्ञानको भी केवल क्लेश-कारक ही बतलाया गया है—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥
(१०।१४।४)

भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुतिमें ब्रह्माजी कहते हैं—'हे स्वामिन् ! समस्त श्रेयोंकी मूल-स्रोत जो आपकी भक्ति है, उसे न करके जो पुरुष केवल शुष्क ज्ञानके लिये परिश्रम करते हैं, उनको केवल क्लेशमात्र ही प्राप्त होता है। जैसे धानके छिलकोंको कूटनेवालोंको सिवा क्लेशके और कुछ हाथ नहीं लगता।

—इत्यादि अनेक वाक्योंद्वारा स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवतका चरम सिद्धान्त भगवद्भक्तिका प्रतिपादन ही है। किन्तु

* भगवान्‌के बतलाये हुए 'श्रद्धामृतकथायाम्' आदि धर्मोंका वर्णन आगे चलकर किया गया है। —लेखक

भक्तिका महत्त्व प्रतिपादन करनेवाले वाक्योंका तात्पर्य ज्ञानादि साधनोंको हेय बतलानेका नहीं । वस्तुतः उनका अभिप्राय यह है कि ज्ञानादि अन्य सभी साधन भक्तिसापेक्ष हैं—वे स्वतन्त्ररूपसे भक्तिके बिना भगवत्प्राप्तिमें सहायक नहीं हो सकते । कहा है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । ५ । १२)

महर्षि व्यासजीके प्रति देवर्षि नारदजी कहते हैं—'राग-द्वेषादि उपाधिरहित ब्रह्मतादात्म्यकारक ज्ञान भी जब भक्तिके बिना शोभित नहीं होता—मोक्षमें सहायक नहीं हो सकता, तब साधन और फल दोनोंमें दुःख देनेवाले सकाम कर्म भगवान्‌के अर्पण हुए बिना किस प्रकार मोक्षकारक हो सकते हैं ?' क्योंकि—

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।

'अन्य साधनोंद्वारा महान् क्लेशसे परमपदको पा लेनेपर भी आपके चरणारविन्दोंकी भक्ति न करनेवाले वहाँसे नीचे गिर जाते हैं ।'

इसके सिवा एक बात और भी है । भगवान् स्वयं आज्ञा करते हैं—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥
यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
(श्रीमद्भा० ११ । २० । ३१–३३)

'अतएव मेरे भक्तको—ऐसे भक्तको जिसने आत्माको मुझमें लीन कर दिया है एवं जो मेरी भक्तिसे युक्त है—ज्ञान और वैराग्य आदि श्रेयके अन्य साधनोंकी आवश्यकता नहीं रहती । जब कि कर्मकाण्ड, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान और धर्म एवं अन्यान्य श्रेयके साधनोंसे जो फल प्राप्त होते हैं, वे सब मेरे भक्तको केवल भक्तियोगद्वारा अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं ।'

ऐसी परिस्थितिमें ज्ञानादिके लिये अत्यन्त क्लिष्ट साधनोंका किया जाना आवश्यक नहीं । इसके विरुद्ध सुगम मार्गको ग्रहण न करके गहन मार्ग ही जिनको वाञ्छनीय है, उनके लिये श्रीमद्भागवतमें भी इच्छानुसार ज्ञानयोगादि अनेक मार्गोंका निर्देश किया ही गया है ।

भक्तिके भेद

यों तो भक्तिग्रन्थोंमें भक्तिके अनेकों भेद-प्रभेद कथन किये गये हैं । उन सबकी स्पष्टताके लिये यहाँ स्थान कहाँ । संक्षेपमें साधारणतया भक्तिके दो भेद हैं—साध्य-भक्ति और साधन-भक्ति ।

साध्य-भक्तिका ही नामान्तर परा भक्ति या प्रेमलक्षणा भक्ति है । प्रेमलक्षणा भक्तिके अधिकारी भगवान्‌के अनन्य भक्त ही होते हैं, जिनके विषयमें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १४)

'जिसने मुझमें मन अर्पण कर दिया है वह मेरा अनन्य भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्माजीका पद, इन्द्रका आसन, चक्रवर्ती साम्राज्य, लोकाधिपत्य, योगजनित सिद्धियाँ ही नहीं, किन्तु मोक्षपदकी भी इच्छा नहीं करता है ।' अतः परा भक्तिका परमानन्द अनिर्वचनीय है । पराभक्तिप्राप्त भगवान्‌के भक्तोंको देहानुसन्धान भी नहीं रहता, उनकी परमानन्दमयी अवस्थाका वर्णन योगीश्वर कविने इस प्रकार किया है—

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ३९-४०)

'चक्रपाणि भगवान्‌के सुन्दर मङ्गलमय—कल्याणकारी जन्म और कर्मोंकी कथाओंका श्रवण करता हुआ एवं उन जन्म-

कर्मोंके अनुसार महाजनोंद्वारा गाये गये नामोंका लोक-लज्जा छोड़कर गान करता हुआ भगवान्‌का अनन्य भक्त संसारमें अनासक्त रहकर विचरता है। इस प्रकार अपने प्रियतम भगवान्‌के नाम-कीर्तनादिका व्रत धारण करते हुए जब प्रेमी भक्तको अनुराग उत्पन्न हो जाता है, तब वह प्रेमसे द्रवितचित्त होकर विवशतया कभी तो—भगवान्‌को भक्तोंसे पराजित समझकर—अट्टहास करने लगता है, कभी यह विचार कर कि हा! इतने कालतक मैं भगवद्विमुख क्यों रहा—रोने लग जाता है, कभी दर्शनोंकी उत्कट उत्कण्ठासे चिल्लाने लग जाता है, कभी भावावेशमें भगवच्चरित्र-गान करने लगता है और कभी—लोकातिरिक्त लावण्यसिन्धु भगवान्‌के स्वरूपका दर्शन करके-हर्षोद्रेकपूर्वक प्रेमविभोर और उन्मत्त होकर नृत्य करने लगता है।'

भक्तिके साधन

भक्तिका सर्वोपरि प्रधान एवं प्रथम साधन सत्सङ्ग है। भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे आज्ञा की है—

> न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
> न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
> व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
> यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥
> (श्रीमद्भा० ११। १२। १-२)

'हे उद्धव! यद्यपि योग[1], सांख्य[2], धर्म[3], वेदाध्ययन, तप[4], त्याग[5], इष्टापूर्त[6], दान, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम और नियमादि—ये सभी मुझे प्रसन्न करनेके साधन हैं; किन्तु जिस प्रकार अन्य समस्त सङ्गोंको निवारण करनेवाले सत्सङ्गके द्वारा मैं वशीभूत हो सकता हूँ, उस प्रकार योगादि उपर्युक्त साधनोंसे नहीं।'

सत्सङ्गको इतना महत्त्व इसलिये दिया गया है कि भगवद्भक्ति सत्सङ्गके बिना उपलब्ध नहीं हो सकती। राजा रहूगणके प्रति परमहंस जडभरतजीने कहा है—

> रहूगणैतत्तपसा न याति
> न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
> नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्य-
> र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥
> (श्रीमद्भा० ५। १२। १२)

'हे रहूगण, भगवत्तत्त्वका ज्ञान, महापुरुषोंके चरणोंकी रज जबतक सिरपर धारण नहीं की जाती, न तपसे, न यज्ञादि कर्मोंसे, न अन्नादिके दानसे, न संन्याससे, न वेदाध्ययनसे, न जल, अग्नि और सूर्यकी उपासनासे प्राप्त हो सकता है—यह तो सत्सङ्गसे ही प्राप्त हो सकता है।' सत्सङ्ग-द्वारा भगवद्भक्तिका आविर्भाव किस प्रकार होता है, इस विषयमें भगवान् कपिलदेव कहते हैं—

> सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
> भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
> तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
> श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥
> (श्रीमद्भा० ३। २५। २५)

'सत्पुरुषोंके निरन्तर सङ्गमें मेरे माहात्म्यसूचक चरित्रोंकी कानोंमें सुधा बरसानेवाली हृदयाकर्षिणी कथा होती है, उन कथाओंके श्रद्धापूर्वक सेवनसे शीघ्र ही हरि भगवान्‌में क्रमशः श्रद्धा, रति और भक्ति बढ़ती जाती है।'

सत्सङ्गके पश्चात् भगवद्भक्तिके अनेक साधन बहुत-से प्रसङ्गोंपर श्रीमद्भागवतमें बतलाये गये हैं। स्वयं भगवान्‌ने भी उद्धवजीसे कथन किया है—

> श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम्।
> परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम॥
> आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
> मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥
> मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
> मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम्॥
> मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
> इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः॥
> एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
> मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥
> (श्रीमद्भा० ११। १९। २०-२४)

---

१. आसन, प्राणायामादि अष्टाङ्गयोग।

२. तत्त्वोंके विवेचनात्मक प्रकृति-पुरुषके स्वरूपका ज्ञान।

३. सामान्य तथा अहिंसा आदि।

४. कृच्छ्रचान्द्रायणादि।

५. संन्यासधर्म।

६. इष्ट—अग्निहोत्रादि कर्म और पूर्त—कूएँ, तालाब, देवस्थान, बाग आदिका निर्माण।

अर्थात् निरन्तर[1] अमृतके समान मेरी कथामें श्रद्धा, मेरे नामों और गुणोंका कीर्तन, मेरी पूजामें[2] अत्यन्त निष्ठा, स्तुतियोंद्वारा मेरा स्तवन, मेरी परिचर्यामें[3] आदर, सर्वाङ्गसे[4] मुझे प्रणाम, मेरे भक्तोंकी विशेषरूपसे पूजा, सब प्राणियोंमें मुझे देखना, मेरे लिये सारे अङ्गोंकी चेष्टा[5], वार्तालापमें भी मेरे ही गुणोंका वर्णन करना, मनको मुझमें अर्पण करना, सांसारिक सभी कामनाओंका त्याग करना, मेरे निमित्त द्रव्य[6], भोग और सुखका त्याग[7] करना, मेरे लिये ही यज्ञ, दान, होम, जप, तप और व्रत आदि सब कर्म करना[8]। हे उद्धव! इन धर्मोंके द्वारा आत्मनिवेदन करनेवालेको मेरी प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त हो जाती है। फिर उसके लिये कुछ भी साधन अथवा साध्य शेष नहीं रह जाता।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि जैसे अन्य कोई साध्य वस्तु प्राप्त हो जानेपर उसके साधनोंका त्याग कर दिया जाता है, वैसे यहाँ प्रेमलक्षणा भक्तिके जो श्रवण, कीर्तन आदि साधन हैं, उनका त्याग नहीं किया जाता; क्योंकि श्रवण, कीर्तनादि साधन तो प्रत्युत उत्तरोत्तर भक्तिको सहस्रगुण परिवर्द्धन करनेवाले ही हैं और भक्तके अति प्रिय हैं।

साधन-भक्ति

उपर्युक्त भगवद्वाक्योंमें जो प्रेमलक्षणा भक्तिके साधन कथन किये गये हैं, उनमें श्रवणादि बहुत-सी साधन-भक्तियोंका समावेश हो जाता है। प्रधानतया—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नवधा भक्ति बहुमतसे साधन-भक्ति ही है। इनमें प्रत्येकका वर्णन श्रीमद्भागवतमें अनेक स्थलोंपर बहुत विशदरूपसे किया गया है और वह प्रासङ्गिक भी है, किन्तु विस्तारभयसे इनके विषयमें स्पष्टीकरण इस लेखमें नहीं किया गया है। यह भी महत्त्वपूर्ण विषय है, अतएव स्वतन्त्र लेखमें विशदरूपसे लिखने योग्य है।

---
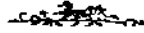
१. यहाँ निरन्तर (शश्वत्) का सम्बन्ध कथा आदि सभी साधनोंके साथ है।

२. आवाहनादि षोडशोपचार पूजा।

३. भगवान्‌के मन्दिर आदिका परिमार्जन आदि, जैसा कि 'सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः। गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया॥' (श्रीमद्भा० ११।११।३९) में कहा है।

४. दोनों पैर, दोनों हाथ सीधे पसारकर दण्डके समान सीधा होकर सिर, मन, बुद्धि और वाणीसहित साष्टाङ्ग प्रणाम करना।

५. भगवान्‌के आराधनके निमित्त उद्यान-निर्माण, उत्सवादिके निर्वाहके लिये ग्रामादिककी जीविका निकालना—जैसा कि भागवतके ११।२७।३८-३९ श्लोकोंमें कहा है। अङ्गोंका प्रयोग करना। जैसा कि 'स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः…… 'इत्यादि भागवतके ९।४।१८—२० तक तीन श्लोकोंमें अम्बरीषके प्रकरणमें सारे अङ्गोंका भगवान्‌के लिये प्रयोग किया जाना कहा गया है।

६. भगवान्‌के निमित्त मन्दिर और उत्सवादिमें द्रव्य व्यय करना।

७. लौकिक भोग और सुखोंकी तो बात ही क्या, त्रैलोक्यके ऐश्वर्यके लिये भी भगवान्‌के भजनका त्याग न करना कहा है—
त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्। न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।५३)

८. जैसा कि भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(९।२७)

भागवती साधना

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

श्रीमद्भागवत संस्कृत-धार्मिक-ग्रन्थोंमें एक अनुपम स्थान रखता है । उसके समान अन्य ग्रन्थ मिलना बिल्कुल असम्भव-सा है—वह ग्रन्थ जिसमें पाण्डित्य तथा कवित्व दोनोंका मणिकाञ्चन योग हो; सिवा इस ग्रन्थरत्नके हमारे लिये सुलभ नहीं है । 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' इस सुप्रसिद्ध लोकोक्तिसे ग्रन्थकी दुरूहताका परिचय भी पर्याप्तमात्रामें हो सकता है । अतः भागवतमें किस साधना-पद्धतिका किस प्रकारसे उल्लेख किया गया है, इसका ठीक-ठीक विवेचन भागवतके पारदृश्वा विवेचक विद्वान् ही साङ्गोपाङ्गरूपसे कर सकते हैं; परन्तु फिर भी अपनी बुद्धिसे इस विषयका एक छोटा-सा वर्णन पाठकोंके सामने इस आशासे प्रस्तुत किया जाता है कि अधिकारी विद्वान् इसका यथातथ्य विस्तृत निरूपण प्रस्तुत करें ।

हमारे देखनेमें भागवती साधनाका कुछ विस्तृत वर्णन द्वितीय स्कन्धके आरम्भमें तथा तृतीय स्कन्धके कपिलगीतावाले अध्यायोंमें किया गया मिलता है । कपिलकी माता देवहूतिके सामने भी यही प्रश्न था कि भगवान्‌के पानेका सुलभ मार्ग कौन-सा है । इसी प्रश्नको उन्होंने अपने पुत्र कपिलजीसे किया, जिसके उत्तरमें उन्होंने अपनी माताकी कल्याण-बुद्धिसे प्रेरित होकर अनेक ज्ञातव्य बातें कही हैं । परन्तु सबसे अधिक आवश्यकता थी इसकी राजा परीक्षितको । उन्होंने ब्राह्मणका अपमान किया था; सातवें दिन उन्हें अपना भौतिक पिण्ड छोड़ना था । बस, इतने ही स्वल्पकालमें उन्हें अपना कल्याण-साधन करना था । बेचारे बड़े विकल थे, बिलकुल बेचैन थे । उनके भाग्यसे उन्हें उपदेष्टा मिल गये शुकदेव-जैसे ब्रह्मज्ञानी । अतः उनसे उन्होंने यही प्रश्न किया—हे महाराज, इतने कम समयमें क्या कल्याण सम्पन्न हो सकता है ? पर शुकदेवजी तो सच्चे साधककी खोजमें थे । उन्हें ऐसे साधकके मिलनेपर नितान्त प्रसन्नता हुई । शुकदेवजीने परीक्षितसे कहा कि भगवान्‌से परोक्ष रहकर बहुतसे वर्षोंसे क्या लाभ है ? भगवान्‌से विमुख रहकर दीर्घ जीवन पानेसे भला, कोई फल सिद्ध हो सकता है ? भगवान्‌के स्वरूपको जानकर उनकी सन्निधिमें एक क्षण भी बिताना अधिक लाभदायक होता है । जीवनका उपयोग तो भगवच्चर्चा और भगवद्गुणकीर्तनमें है । यदि वह सिद्ध न हो सके, तो दीर्घ जीवन भी पृथ्वीतलपर भारभूत है । खट्वाङ्गनामक राजर्षिने इस जीवनकी असारताको जानकर अपने सर्वस्वको छोड़कर समस्त भयोंको दूर करनेवाले अभय हरिको प्राप्त किया । तुम्हें तो अभी सात दिन जीना है । इतने कालमें तो बहुत कुछ कल्याण-साधन किया जा सकता है ।

इतनी पूर्वपीठिकाके अनन्तर शुकदेवजीने भगवती भागीरथीके तीरपर सर्वस्व छोड़कर बैठनेवाले राजा परीक्षितसे भागवती साधनाका विस्तृत वर्णन किया । अष्टाङ्ग योगकी आवश्यकता प्रायः प्रत्येक मार्गमें है । इस भक्तिमार्गमें भी वह नितान्त आवश्यक है । उन्होंने कहा कि साधकको चाहिये कि किसी एक आसनपर बैठनेका अभ्यास करके उस आसनपर पूरा जय प्राप्त कर ले । अनन्तर प्राणोंका पूरा आयमन करे । संसारके किसी भी पदार्थमें आसक्ति न रक्खे । अपनी इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय प्राप्त कर ले । इतना हो जानेपर साधकका मन उस अवस्थामें पहुँच जाता है, जब उसे एकाग्रता प्राप्त हो जाती है । अपने मनको जिस स्थानपर लगावेगा, उस स्थानपर वह निश्चयरूपसे टिक सकेगा । अभी भगवान्‌के स्थूल रूपका ध्यान करना चाहिये । भगवान्‌के विराट् रूपका ध्यान सबसे पहले करना चाहिये । यह जगत् ही तो भगवान्‌का रूप है । 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिर्हरितो जगतो नहि भिन्नतनुः'। इस जगत्‌के चौदहों लोकोंमें भगवान्‌की स्थिति है । पाताल भगवान्‌का पादमूल है, रसातल पैरका पिछला भाग है, महातल पैरकी एड़ी है, तलातल दोनों जङ्घाएँ हैं, सुतल जानु-प्रदेश है और दोनों ऊरु वितल तथा अतल लोक हैं । इस प्रकार अधोलोक भगवत्-शरीरके अधोभागके रूपमें है । भूमितल जघनस्थल है तथा इससे ऊर्ध्वलोक ऊपरके भाग हैं । सबसे ऊपर सत्यलोक या ब्रह्मलोक भगवान्‌का मस्तक है । इस जगद्रूप भागवतकारने भगवान्‌के विराट् रूपका वर्णन बड़े विस्तारके साथ किया है । जगत्‌की जितनी चीजें हैं, वे सब भगवान्‌का कोई-न-कोई अंग या अंश अवश्य हैं । जब यह जगत् भगवान्‌का ही रूप ठहरा, तब उसके भिन्न-भिन्न अंगोंका भगवान्‌के भिन्न-भिन्न अवयव होना उचित है । यह हुआ भगवान्‌का स्थविष्ठ—स्थूलतम स्वरूप । साधकको चाहिये कि इस रूपमें इस प्रकार

अपना मन लगावे, वह अपने स्थानसे किञ्चिन्मात्र भी चलायमान न हो। जबतक भगवान्‌में भक्ति उत्पन्न न हो जाय, तबतक इस स्थूलरूपका ध्यान नियतरूपसे साधकको अपनी नित्यक्रियाओंके अन्तमें करना चाहिये। कुछ लोग इसी साधनाको श्रेष्ठ समझकर इसीका उपदेश देते हैं।

पर अन्य आचार्य अपने भीतर ही हृदयाकाशमें भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करना उत्तम बतलाते हैं और वे उसीका उपदेश देते हैं। आसन तथा प्राणपर विजय प्राप्त कर लेनेके अनन्तर साधकको चाहिये कि अपने हृदयमें भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करे। आरम्भ करे भगवान्‌के पादसे और अन्त करे भगवान्‌के होठोंकी मृदुल मधुर मुसुकानसे। 'पादादि यावद्धसितं गदाभृतः' का नियम भागवतकार बतलाते हैं। नीचेसे आरम्भ कर ऊपरके अङ्गोंतक जाय और एक अङ्गका ध्यान निश्चित हो जाय, तब अगले अङ्गकी ओर बढ़े। इस प्रकार करते-करते पूरे स्वरूपका ध्यान दृढ़ रूपसे सिद्ध हो जाता है। इस तरहके ध्यानका विशद वर्णन तृतीय स्कन्धके २८ वें अध्यायमें किया गया है। पहले-पहल उस रसिकशिरोमणिके पैरसे ध्यान करना आरम्भ करे। श्रीभगवान्‌के चरण-कमल कितने सुन्दर हैं! उनमें वज्र, अङ्कुश, ध्वजा, कमलके चिह्न विद्यमान हैं तथा उनके मनोरम नख इतने उज्ज्वल तथा रक्त हैं कि उनकी प्रभासे मनुष्योंके हृदयका अन्धकार आप-से-आप दूर हो जाता है। श्रीभागीरथीका उद्गम इन्हींसे हुआ है। ऐसे चरणोंमें चित्तको पहले लगावे। जब वह वहाँ स्थिररूपसे स्थित होने लगे, तब दोनों जानुओंके ध्यानमें चित्तको रमावे। तदनन्तर ललित पीताम्बरसे शोभित होनेवाले ओजके खजाने भगवान्‌की जङ्घाओंपर ध्यान लगावे। तदनन्तर ब्रह्माजीके उत्पत्तिस्थानभूत कमलकी उत्पत्ति जिससे हुई है, उस नाभिका ध्यान करे। इसी प्रकार वक्षःस्थल, बाहु, कण्ठ, कण्ठस्थ मणि, हस्तस्थित शङ्ख, चक्र, पद्म, गदा आदिका ध्यान करता हुआ भगवान्‌के मुखारविन्दतक पहुँच जाय। तदनन्तर कुटिल कुन्तलसे परिवेष्टित, उन्नत भ्रूसे सुशोभित, मीनकी भाँति चपल नयनोंपर अपनी चित्त-वृत्ति लगावे। मनुष्योंके कल्याणके लिये अवतार धारण करनेवाले भगवान्‌के कृपा-रससे सिक्त, तापत्रयकी शमन करनेवाली चितवनको अपने ध्यानका विषय बनावे। अन्तमें भगवान्‌के होठोंपर विकसित होनेवाली मन्द मुसुकानमें अपना चित्त लगाकर बस, यहीं दृढ़ धारणासे टिक जाय। वहाँसे टले नहीं। यही अन्तिम स्थान ध्यानका हुआ। पर इस स्थानपर निश्चितरूपसे स्थित होनेका प्रधानतम उपाय हुआ भक्तियोग। जबतक हृदयमें भगवान्‌के प्रति भक्तिका सञ्चार न होगा, तबतक जितने उपाय किये जायँगे वे सर्वथा व्यर्थ सिद्ध होंगे। अष्टाङ्ग योग भी तो बिना भक्तिके छूछा ही है—नीरस ही है। भक्ति होनेपर ही तो भक्तका प्रत्येक कार्य भगवान्‌की पूजाका अङ्ग हो जाता है, अतः इस भक्तिका पहले होना सबसे अधिक आवश्यक है।

अतः भागवतकारको पूर्वोक्त प्रकारकी ही साधना अभीष्ट है, क्योंकि ध्रुव आदि भक्तोंके चरित्रमें इसी प्रकारकी साधनाका उपयोग किया गया मिलता है।

भजनमें जल्दी करो

भजन आतुरी कीजिये और बात में देर॥
और बात में देर जगत् में जीवन थोरा।
मानुष-तन धन जात गोड़ धरि करौ निहोरा॥
काँच महल के बीच पवन इक पंछी रहता।
दस दरवाजा खुला उड़न को नित उठि चहता॥
भजि लीजै भगवान एही में भल है अपना।
आवागौन छुटि जाय जनम की मिटै कलपना॥
पलटू अटक न कीजिये चौरासी घर फेर।
भजन आतुरी कीजिये और बात में देर॥ —पलटू

श्रीभगवान् भक्तिप्रिय हैं, वे केवल भक्तिसे जितने सन्तुष्ट होते हैं उतने पूजन, यज्ञ और व्रतसे नहीं होते। भगवान्‌की पूजाके लिये ये आठ पुष्प सर्वोत्तम हैं-अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, प्राणियोंपर दया, क्षमा, मनका निग्रह, ध्यान, सत्य और श्रद्धा। इन आठ प्रकारके पुष्पोंसे पूजा करनेपर भगवान् बहुत ही प्रसन्न होते हैं।

सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, भक्त, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सभी भगवान्‌की पूजाके स्थान हैं। अर्थात् इनको भगवान्‌से पूर्ण—भगवान् समझकर इनकी सेवा करनी चाहिये। इनमें गौ और ब्राह्मण प्रधान हैं। जिसके पितृकुल और मातृकुलके पूर्व-पुरुष नरकोंमें पड़े हों, वह भी जब श्रीहरिकी सेवा-पूजा करता है तो उन सबका नरकसे उसी क्षण उद्धार हो जाता है और वे स्वर्गमें चले जाते हैं। जिनका चित्त विश्वमय वासुदेवमें आसक्त नहीं है, उनके जीवनसे और पशुकी तरह चेष्टा करनेसे क्या लाभ है?

किं तेषां जीवितेनेह पशुवच्चेष्टितेन किम्।
येषां न प्रवणं चित्तं वासुदेवे जगन्मये॥

अब श्रीभगवान्‌के ध्यानकी महिमा सुनिये—हे राजन्! अग्निरूपधारी दीपक जैसे वायुरहित स्थानमें निश्चल भावसे जलता हुआ सारे अन्धकारका नाश करता है, वैसे ही श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाले पुरुष सब दोषोंसे रहित और निरामय हो जाते हैं। वे निश्चल और निराश होकर वैर और प्रीतिके बन्धनोंको काट डालते हैं और शोक, दुःख, भय, द्वेष, लोभ, मोह एवं भ्रम आदि इन्द्रिय-विषयोंसे सर्वथा छूट जाते हैं। दीपक जैसे जलती हुई शिखाके द्वारा तेलका शोषण करता है, वैसे ही श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाला पुरुष ध्यानरूपी अग्निसे कर्मोंको जलाता रहता है। अपनी-अपनी स्थिति और रुचिके अनुसार भगवान्‌के निराकार और साकार दोनों ही रूपोंका ध्यान किया जा सकता है। निराकारध्यान करनेवाले विचारके द्वारा ज्ञानदृष्टिसे इस प्रकार देखें—

'वे परमात्मा हाथ-पैरवाले न होकर भी सब वस्तुओंको ग्रहण करते हैं और सर्वत्र जाते-आते हैं। मुख-नासिका न होनेपर भी वे आहार करते और गन्ध सूँघते हैं। कान न होनेपर भी वे जगत्पति सर्वसाक्षी भगवान् सब कुछ सुनते हैं। निराकार होकर भी वे पञ्चेन्द्रियोंके वश होकर रूपवान्-से प्रतीत होते हैं। सब लोकोंके प्राण होनेके कारण वे ही चराचरके द्वारा पूजित होते हैं। वे जीभ न होनेपर भी वेद-शास्त्रानुकूल सब वचन बोलते हैं। त्वक् न होनेपर भी समस्त शीतोष्णादिका स्पर्श करते हैं। वे सर्वदा आनन्दमय, एकरस, निराश्रय, निर्गुण, निर्मम, सर्वव्यापी, सर्वदिव्यगुणसम्पन्न, निर्मल ओजरूप, किसीके वश न होनेवाले, सर्वदा अपने वशमें रखनेवाले, सबको यथायोग्य सब कुछ देनेवाले और सर्वज्ञ हैं। उनको कोई माँ नहीं उत्पन्न करती, वे ही सर्वमय विभु हैं।'

जो पुरुष एकान्त चित्तसे इस प्रकार ध्यानके द्वारा सर्वमय भगवान्‌को देखता है, वह अमूर्त अमृतमय परम-धामको प्राप्त होता है।

अब साकारध्यानके विषयमें सुनिये—

'उनका सजल मेघोंके समान श्यामवर्ण और अत्यन्त चिकना शरीर है। सूर्यके समान शरीरका तेज है। उन जगत्पति भगवान्‌के चार बड़ी सुन्दर भुजाएँ हैं। दाहिनी भुजाओंमें महामणियोंसे जड़ा हुआ शङ्ख और भयानक असुरोंको मारनेवाली कौमोदकी गदा है। बायीं भुजाओंमें कमल और चक्र शोभा पा रहे हैं। भगवान् शार्ङ्ग धनुष धारण किये हैं। उनका गला शङ्खके समान, गोल मुखमण्डल और नेत्र कमल-पत्रके सदृश हैं। उन हृषी-केशके कुन्द-से अति सुन्दर दाँत हैं। उन पद्मनाभ भगवान्‌के अधर प्रवालके तुल्य लाल हैं, मस्तकपर अत्यन्त तेजपूर्ण उज्ज्वल किरीट शोभा पा रहा है। उन केशव-भगवान्‌के हृदयपर श्रीवत्सका चिह्न है, वे कौस्तुभ मणि धारण किये हुए हैं। उन जनार्दनके दोनों कानोंमें सूर्यके समान चमकते हुए कुण्डल विराजमान हैं। वे हार, बाजूबंद, कड़े, करधनी और अँगूठियोंके द्वारा विभूषित हैं और स्वर्णके समान पीताम्बर धारण किये गरुड़जीपर विराजित हैं।'

हे राजन्! पापसमूहका नाश करनेवाले भगवान्‌के साकार स्वरूपका इस प्रकार ध्यान करनेसे मनुष्य शारीरिक, वाचिक और मानसिक—तीनों पापोंसे छूट जाता

है और सारे मनोरथोंको पाकर तथा देवताओंके द्वारा पूजित होकर श्रीभगवान्‌के दिव्य परमधामको प्राप्त होता है ।

यं यं चाभिलषेत् कामं तं तं प्राप्नोति निश्चितम् ।
पूज्यते देवगणैश्च विष्णुलोकं स गच्छति ॥
(पद्मपुराणके आधारपर)

गीतामें तत्त्वों, साधनों और सिद्धियोंका समन्वय-साधन

(लेखक—दीवान बहादुर के० एस्० रामस्वामी शास्त्री)

ऑगस्ट कोंतेने बहुत ठीक कहा है कि प्रत्येक सिद्धान्त एक पूर्वपक्ष बनता है, उससे उसका उत्तरपक्ष उत्पन्न होता और फिर दोनोंका एक महान् समन्वय साधित होता है । गीता इसी प्रकारका एक महान् समन्वय-ग्रन्थ है । इसमें तत्त्वोंका समन्वय है, साधनाओंका समन्वय है और सिद्धियों-का समन्वय है । हमलोग गीताको तबतक ठीक तरहसे नहीं समझ सकते, जबतक इसकी इस स्तुतिके यथार्थ मर्मको न समझें कि 'सब उपनिषदें गौएँ हैं, अर्जुन बछड़े हैं और श्रीकृष्ण दूधके दुहनेवाले हैं तथा गीतारूपी अमृत ही दूध है ।' गौएँ भिन्न-भिन्न रंगकी हो सकती हैं, उनके डील-डौल भी अलग-अलग हो सकते हैं; पर जो दूध उनसे दुहा जाता है वह शुभ्र ही होता है, और सब गौओंका दूध मिलकर एक हो जानेसे वह बड़ा ही उत्तम आहार बनता और उसमें विविध रस लिये हुए एक रसका विलक्षण माधुर्य उत्पन्न होता है । यही नहीं, गीता स्वयं एक 'उपनिषद्, ब्रह्मविद्या और साथ ही योगशास्त्र' कहाती है । इसका यह अभिप्राय है कि गीता अज्ञानको नष्ट करती और ज्ञानका प्रकाश देती है और केवल लक्ष्यको ही परिलक्षित नहीं कराती प्रत्युत उसका रास्ता भी दिखाती है ।

जिस धार्मिक आचार-विचारकी भूमिपर गीता प्रतिष्ठित है, उसको ध्यानमें रखते हुए यदि हम गीताके महत्त्वको समझनेका यत्न करें तो इसके समन्वयका स्वर और भी अधिक स्पष्ट सुनायी दे । आधुनिक संस्कृति धर्म और तत्त्व-ज्ञानको एक दूसरेसे अलग रखती है और इसपर उसको गर्व भी है । परन्तु भारतीय संस्कृतिका यह तरीका नहीं है । सदासे ही उसने धर्म और तत्त्वज्ञानको परस्परसम्बद्ध रक्खा है । इसी प्रकार आशा और निराशा, अहम् और इदम्, अद्वैत और द्वैत, एकेश्वरत्व और बहुदेवत्व, प्रकृति और परमेश्वर, माया और लीला, त्याग और भोग इत्यादि विचारों और भावोंका एक दूसरेके साथ सर्वथा पार्थक्य हिन्दुस्थानमें कभी रहा ही नहीं है । यह भी स्मरण रहे कि हिन्दुस्थानमें ज्ञानका लक्ष्य जीवनका सच्चा मार्ग ही रहा है, केवल बौद्धिक विश्लेषण-का मानस विलास नहीं । यह लक्ष्य केवल इसी जीवनके ही मार्गका नहीं था बल्कि परम जीवनके मार्गका भी । केवल न्यायशास्त्रको अथवा धर्मशास्त्रको ही हिन्दुओंने जीवनका अथ और इति नहीं माना । धर्मशास्त्रमें भी स्वत्वोंकी अपेक्षा कर्त्तव्योंपर ही अधिक ध्यान दिलाया गया है और न्याय-शास्त्रतकमें यह बात मान ली गयी है कि न्यायशास्त्रके परे भी कोई और चीज है । जगत्‌को (जो अपरा प्रकृति है) भग-वान्‌का मन्दिर मानना, सब जीवोंको (जो परा प्रकृति है) प्यार करना और इन दोनोंमें आत्मरूपसे रहनेवाले भगवान्‌की प्रगाढ़ रागमयी भक्ति करना हिन्दू-तत्त्वज्ञानका सार-मर्म रहा है ।

आधुनिक हिन्दू-तत्त्वशोधनविद्या (Indology) का दिमाग तो बहुत ऊँचा है, परन्तु हिन्दू-संस्कृतिकी शोभाको उसकी आँखें अभी प्रायः नहीं देख सकी हैं । इसने वेदोंमें वर्णित विषयोंको प्राकृत दृश्योंका वैदिक देवकरण कहा है और इन देवताओंकी स्तुति, अर्चा, यजन आदिको अनेक-देववाद और देवविशेषवाद आदि मनमाने नाम दिये हैं । परन्तु यथार्थमें वेदोंने इन सब देवोंको एक ही कहा है और ईश्वरको जगत्‌में अन्तःस्थित तथा जगत्‌के परे भी माना है—'अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ।' इत्यादि वेदोंकी देवस्तुति केवल प्रकृतिपर देवत्वका आरोप या वेदोंका बहुधा देवाभिधान अनेकदेववाद नहीं है । ऋग्वेदके ऋषि दिव्य प्रकृति (गोपा ऋतस्य) के व्यक्त भावस्वरूप धर्मके अनुशासनको जितना जानते थे, उतना ही प्रकृतिके विधानको भी जानते थे । अद्वैतवाद, विश्वदेवतावाद आदिकी जो आधुनिक परिभाषाएँ (मोनिज्म, पैनथीज्म) हैं, वे बड़े चक्करमें डालनेवाली हैं । हिन्दुओंका सिद्धान्त तो सदासे यही रहा है कि ईश्वर ही जगत्‌का उपादान और निमित्त कारण है और वह जगत्‌में अन्तःस्थित भी है और जगत्‌के परे भी है तथा व्यष्टिपुरुष और समष्टिपुरुष तत्त्वतः दोनों एक हैं ।

'हिन्दू-तत्त्वशोधनविद्या' का यह आविष्कार है कि पुनर्जन्म वैदिक सिद्धान्त नहीं है, वेद तो स्वर्ग और नरकको नित्य मानते हैं। इस अभिनव विद्याका फिर यह भी कहना है कि उपनिषदोंके सिद्धान्त वेदोंके विरुद्ध हैं, उपनिषदोंने वेदोंके कर्मकाण्डको तहस-नहस कर डाला। भारतीय हिन्दू-तत्त्वशोधक भी इन सब विषयोंमें तोतेकी तरह वही बात रटा करते हैं, जो उन्हें इस विद्याके उनके पाश्चात्त्य गुरुओंने पढ़ा दी है। इस संकुचित अन्धानुकरण-प्रणालीको वेदव्यासकृत ब्रह्मसूत्रों और गीताके वचनोंकी समन्वय-दृष्टिके सामने रखकर देखा जाय तो इसका विकृत रूप आप ही देख पड़ेगा और समन्वयके सिद्धान्तकी महत्ता प्रकट होगी। भगवान् गीतामें कहते हैं—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥
(१५।१५)

बात यह है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' का सिद्धान्त और विश्वके देवताओंके अनेकत्वका सिद्धान्त—ये दोनों परस्पर-विरोधी सिद्धान्त नहीं हैं वल्कि एक ही सुसङ्गत, सुसमन्वित, एकीभूत सिद्धान्तके दो अङ्ग हैं। सगुण और निर्गुणके सम्बन्धमें जो अप्रिय विवाद पीछे चले, उनको गीताके ही समन्वय-साधक वचनोंसे शान्त करनेका प्रयास हुआ था। ईश्वरको जगत्-सम्बन्धसे देख सकते हैं अथवा जगद्रहित दृष्टिसे भी देख सकते हैं। ईश्वरका जगत्कर्तृत्व और ईश्वरका आनन्दमय स्वरूप—इन दोनोंमें भला, कौन-सी तात्त्विक विसंवादिता है? 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' इस छान्दोग्य श्रुतिके साथ 'नेदं यदिदमुपासते' इस केनोपनिषन्मन्त्रका कौन-सा ऐसा विरोध है जो नहीं मिट सकता? आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्त्तवाद क्या एक दूसरेके ऐसे शत्रु हैं जिनमें मेल नहीं हो सकता? क्या मायाको असत् और भ्रमके साथ ही समासीन करना होगा और अविद्याको अज्ञान और अबोधके साथ? क्या ये दोनों ही नाम-रूप साधक तत्त्व नहीं हैं? अनन्त ब्रह्मका सान्त होना वैसा ही आश्चर्यमय है जैसा जगत् और जीवका ब्रह्म होना है। जीव कर्त्ता और भोक्ता है और जगत् वह चीज है जो बदलती रहती और इस कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वको अवसर देती है। ब्रह्म अनन्त नित्य आनन्द है। सामान्य जीवमें यह आनन्द कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे आच्छन्न रहता है। अवतारों और जीवन्मुक्त पुरुषोंमें यह आवरण नहीं होता। ब्रह्म अज्ञेय नहीं है किन्तु परम ज्ञेय, परम भोग्य और परम भाव्य है ('अथ मर्त्योऽमर्त्यो भवति', 'अत्र ब्रह्म समश्नुते')। ब्रह्म जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंके परे है। वह तुरीय क्या, बल्कि तुरीयातीत अवस्था है। वह जाग्रत्-स्वप्नरहित सुषुप्तिकी अवस्था है। अहङ्कारको विवेक और वैराग्य, भक्ति और श्रवण-मनन-निदिध्यासनके द्वारा परिशुद्ध करके ब्राह्मी स्थिति-में पहुँचाना होगा।

मेरे कथनका यह अभिप्राय नहीं है कि भारतीय तत्त्वज्ञान वृद्धिशील नहीं था। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि वैदिक ऋषियोंको ऊँचे-से-ऊँचे तत्त्वोंके प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे, आप इसे दर्शन या अन्तःस्फूर्ति जो चाहे कह लीजिये। इनके इन स्वानुभवोंका पीछे विविध प्रकारसे समन्वय हुआ और जो सबसे महान् समन्वय हुआ, वही यह गीता है। प्रोफेसर रानडे ठीक ही कहते हैं कि 'उपनिषदोंमें कोई एक ही दर्शनप्रणाली नहीं है, बल्कि कितनी ही प्रणालियाँ हैं जो पर्वतश्रेणियोंके समान एकके ऊपर एक उठती-सी देख पड़ती हैं और अन्तमें एकमेवाद्वितीय ब्रह्मको प्राप्त होती हैं।' हिन्दू इस सिद्धान्तको मानते हैं कि जगत् अनित्य और दुःखमय है। फिर हिन्दुओंका यह भी सिद्धान्त है कि जीवन परमानन्दका ही उद्रेक है। जो लोग इन दोनों सिद्धान्तोंको एक दूसरेको काटनेवाले समझते हैं, वे यह नहीं जानते कि हिन्दू जगत्को क्या समझते हैं। अज्ञान और राग ही मृत्यु और दुःखके कारण हैं; ज्ञान, त्याग और योग आनन्दके साधन।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
(गीता २।६४)

धर्म, अध्यात्मशास्त्र और योग—तीनों उपनिषदोंमें आकर एक हो जाते हैं। शाण्डिल्य जो कुछ कहते हैं उसके विरुद्ध याज्ञवल्क्यके कथनको मत ढूँढ़ लाइये, प्रत्युत दोनोंके वचनोंमें दोनोंके अनुभवों और अनुशासनोंकी जो परस्पर-पूर्त्ति है उसपर ध्यान दीजिये।

यहाँतक हमने उपनिषदोंकी इसलिये चर्चा की कि जबतक लोग ब्रह्मसूत्रोंद्वारा साधित समन्वयकी दृष्टिसे उपनिषदोंकी ओर नहीं देखेंगे तबतक गीताको भी कदापि नहीं समझ सकते। ये तीन ग्रन्थ ही तो हमारे प्रस्थानत्रय हैं। गीतामें उपनिषदोंका स्वाद आ ही जाता है। गीताके कई श्लोक कठोपनिषद्से लिये गये हैं—जैसे 'य एवं वेत्ति हन्तारम्'''''न जायते म्रियते''''इन्द्रियाणि पराण्याहुः'''

इत्यादि, जो गीताके द्वितीय अध्यायके १९, २० और ४२ वें श्लोक हैं। भाव भी कई उपनिषन्मन्त्रोंके गीतामें ज्यों-के-त्यों आये हैं—जैसे 'न कर्म लिप्यते नरे' (ईशावास्य) उपनिषद्का यह भाव 'लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' इस प्रकार गीता (५। १०) में प्रतिध्वनित हुआ है। पुरुषसूक्तका पुरुषवर्णन और मुण्डकोपनिषद्का 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ' यह मन्त्र गीतान्तर्गत विश्वरूपवर्णनके पूर्वरूप हैं। कठोपनिषद्में जिस संसाररूप अश्वत्थवृक्षका वर्णन है, वही गीताके पन्द्रहवें अध्यायके अश्वत्थवर्णनका बीज है। अन्य अनेक उपनिषन्मन्त्र गीतामें प्रतिध्वनित हुए हैं।

यदि हम गीताके साधन-समन्वयको ध्यानमें ले आवें तो इससे बड़ा लाभ हो सकता है यदि इस साधन-समन्वयका हम तत्त्वोंके समन्वयके साथ तथा सिद्धियोंके समन्वयके साथ समन्वय कर लें। गीता अध्याय २ के ५४ वें श्लोकका भाष्य करते हुए श्रीमत् शङ्कराचार्य कहते हैं—

'सर्वत्रैव ह्यध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि तान्येव साधनान्युपदिश्यन्ते यत्नसाध्यत्वात्।'

'अर्थात् अध्यात्मशास्त्रमें सर्वत्र ही जिसके जो लक्षण बतलाये गये हैं, वे ही उसकी प्राप्तिके साधनरूपसे उपदिष्ट होते हैं, क्योंकि वे यत्नसाध्य हैं।' इस प्रकार गीतामें मुक्त पुरुषके जो लक्षण बतलाये गये, वे ही मुक्तिके साधन हैं। साधन-समन्वयमें जो बात मुख्यतया ध्यानमें रखनेकी है, वह यह है कि साधनमात्र ही साधककी आत्मभूमिका तथा जगत् और ईश्वरसम्बन्धिनी उसकी भावनाके अनुरूप ही हुआ करता है। साधनसम्बन्धी इस मूल सिद्धान्तका ध्यान न रहनेसे ही जगत्में नाना प्रकारके धार्मिक और साम्प्रदायिक झगड़े हुआ करते हैं।

गीताके तेरहवें अध्यायका यह बाईसवाँ श्लोक बड़े महत्त्वका है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

इससे यह मालूम होता है कि जीवात्मा जो परमात्मासे अभिन्न है, भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे देखा जा सकता है। हम उसे उसके जगत्सम्बन्धकी दृष्टिसे देख सकते हैं, जगत्में देख सकते हैं और जगत्से पृथक् भी देख सकते हैं। हम इसे जगत्में निमग्न भोक्तारूपमें या जगद्व्यवहारी कर्तारूपमें या मनके द्वारा होनेवाले कार्योंके अनुमन्तारूपमें अथवा साक्षी या शुद्ध या निरपेक्ष ब्रह्मरूपमें देख सकते हैं। ये विभिन्न भाव साधकके आत्मसाक्षात्कारके विभिन्न स्तर हैं। इस श्लोककी नीलकण्ठी टीका इस प्रकार है—'पहले यह बतला चुके हैं कि गुणसङ्ग ही जन्मका कारण है। यह सङ्ग चार प्रकारका होता है—पुरुषका अपलाप और गुणोंकी ही प्रधानता हो अथवा पुरुषको अन्तर्भूत करके गुणोंकी प्रधानता हो अथवा गुणोंकी समप्रधानता हो या गुणोंकी अप्रधानता हो। पहले देह, इन्द्रिय, मन आदिरूप गुणसङ्घातको ही आत्मा जानकर भोक्ता बनता है, जैसे चार्वाकादि। दूसरे, गुणोंकी प्रधानतासे अपने अंदर वास्तविक कर्तृत्वादिका अभिमान करके भर्त्ता बनता है—जैसे तार्किकादि। तीसरे, गुणोंकी समप्रधानतासे उस भोक्तृत्वको, जो यथार्थमें गुणगत ही है, स्वयं असङ्ग होते हुए भी अपने अंदर वस्त्रमें भल्लातक (भिलावे) के चिह्नके समान, अनुमति दे लेता है—जैसे सांख्य। चौथे, गुणधर्मोंका अपनेसे कुछ भी लगाव न देखकर यह गुणोंद्वारा होनेवाले कार्यका केवल दर्शक अर्थात् उपद्रष्टा होता है, जैसे अपने यहाँ साक्षी। इन चारों प्रकारके गुणसङ्गियोंमें उपद्रष्टा उत्तम है, अनुमन्ता मध्यम, भर्त्ता अधम और भोक्ता अधमाधम है। वही जब गुणोंको वशमें करके क्रीडा करता है, तब महेश्वर कहाता है। सृष्टि-स्थिति-प्रलयका कर्त्ता जो जगदन्तर्यामी प्रभु है, वही गुणोंको दूर करके परमात्मारूपसे स्थित और उक्त होता है। इस प्रकार एक ही इस देहमें विद्यमान है जो पर है, गुणातीत है, जो गुणोंको अपने अंदर प्रलीन करके अखण्डैकरसरूपसे स्थित है। आत्मा गुणसङ्गसे षड्विध होता है। इसका यही प्रभाव है। अनुमन्ता, भर्त्ता और भोक्ता—इन रूपोंसे यह बद्ध होता है; उपद्रष्टा, महेश्वर, परमात्मा—इन रूपोंमें नित्यमुक्त एकमात्र है।'

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमें आत्माकी इस कर्तृत्व-भोक्तृत्व-अनुमन्तृत्व-भावनासे उठकर साक्षित्व और परमात्माके साथ एकत्वके भावको प्राप्त होना होगा। जीवात्मा और परमात्माका परस्पर सम्बन्ध बतलाते हुए गीता कहती है कि परमात्मा माता, पिता, बन्धु और स्वामी हैं और जीव उन्हींका एक अंश है जो उनसे अभिन्न है।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
(९। १७, १८)

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । (१५ । ७)
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । (१३ । २)

क्या ये सब विभिन्न अनुभव परस्परविसंवादी हैं ? कदापि नहीं। ये मिलन और एकत्वके उत्तरोत्तर उच्च स्तरोंके अनुभव हैं।

इसी प्रकार सगुण और निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्भाव और परमभाव, मातृभाव और पितृभाव, पतिभाव और ईश्वरभाव—इन सबमें जो सामञ्जस्य है, उसे साधना होगा। गीताके द्वादशाध्यायमें यह बतलाया गया है कि सगुण ब्रह्मके उपासक और निर्गुण ब्रह्मके उपासक दोनों ही एक ही ब्रह्मको पाते हैं—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः । (१२ । ४)
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । (१२ । ७)

अपनी पुस्तक Problems of The Bhagavad Gita में जो 'कल्याण-कल्पतरु' में प्रकाशित हो चुकी है, मैंने 'ब्रह्मयोग' (५ । २१) और 'मद्योग' (१२।११) के भावोंको स्पष्ट करनेका यत्न किया है। इनमें जो भेद है वह स्तरोंका नहीं है, बल्कि ये दो प्रकारके अनन्त नित्य धाम हैं और दोनों ही परम आश्चर्य और आनन्दमय हैं। अर्जुन श्रीकृष्णको परम ब्रह्म, परम धाम, परम पवित्र, शाश्वत पुरुष, आदिदेव, अज और विभु (१०।१२), ये विशेषण लगाते हैं। दूसरे अध्यायके ७२ वें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके २४ से २६ तकके श्लोकोंमें 'ब्रह्मनिर्वाण' की विशेषरूपसे चर्चा हुई है और उतने ही विशिष्टरूपसे 'ब्रह्म'को परम अक्षर और आठवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकमें 'वासुदेव' को अधियज्ञ कहा गया है। तेरहवें अध्यायके १२ से १७ तकके श्लोकोंमें 'ज्ञेय' परब्रह्मका विस्तृत वर्णन है और फिर उसी अध्यायके १४ वें श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं अमृत अव्यय ब्रह्म, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुखका धाम हूँ। इस प्रकार भगवद्रूप साध्यके सम्बन्धमें गीताका समन्वय साधकरूप जीवके समन्वयका-सा ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जगत्सम्बन्धी जो समन्वय गीतामें है, वह भी इतना ही महत्त्वपूर्ण है। हमलोग इस समय जगत्‌की सत्यासत्यताके विषयमें एक बड़े चक्करमें पड़े हुए हैं। प्रश्न यह होता है कि यह दुःखालय है या आनन्दकन्दमें इसकी स्थिति है। गीता कहती है कि यह दुःखालय है, अशाश्वत है (८ । १५) और अनित्य है, असुख है (९ । ३३); पर इसी जगह हम परमानन्दका सुधास्वादन भी कर सकते हैं—'प्रसादमधिगच्छति' (२ । ६४), 'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते' (२ । ६५) (पाँचवें अध्यायके २३ से २६ तकके श्लोक भी देखिये ।), 'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते' (६ । २८), 'सुसुखं कर्तुमव्ययम्' (९ । २)। दुःख और मृत्युका कारण तो काम है। गीतामें मृत्तिका और घट, सुवर्ण और अलङ्कार, रज्जु और सर्प, शुक्तिका और रजत, मरुभूमि और मृगजल, ऐन्द्रजालिक और इन्द्रजाल इत्यादि प्रचलित उदाहरणोंका कोई पता नहीं है। श्रीकृष्ण केवल आकाश और वायु (९ । ६, १३ । ३२) तथा सूर्य और पृथ्वी (१३ । ३३) का उदाहरण देते हैं। जगत् उत्पन्न किया भगवान्‌ने, धारण करते हैं उसे भगवान् और भगवान् ही उसमें व्यापक हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्निका जो तेज है वह उन्हींके तेजसे निकला है (अ० १५, श्लोक १२ से १८ तक)।

दसवें अध्यायमें जगत्‌को भगवान्‌की विभूति कहा है। जगत् उत्पन्न होता है भगवान्‌से और भगवान्‌में ही लय होता है। भगवान्‌की महिमासे इसकी महिमा है और इसकी सत्यता पराश्रित है। जब हम निरपेक्ष ब्रह्मका विचार करते हैं और जगत्‌को उसका एक अशाश्वतरूप मानते हैं, तब हम विवर्त्तवादसे काम लेते हैं। जब हम अपनी दृष्टिको प्रत्येक कल्पमें आबद्ध न रखकर जगत्‌के पुनः-पुनः उत्पन्न होने और लीन होनेका दृश्य एक साथ देखते हैं, तब वह परिणामवाद होता है। जब प्रत्येक कल्पमें अपनी दृष्टिको परिसीमित करते हैं, तब आरम्भवाद ग्रहण करते हैं। रही मायाकी बात, वह बहुत कुछ मायिक ही है। मायावादके प्रवर्त्तक श्रीमत् शङ्कराचार्य नहीं हैं, न यह बौद्धोंके शून्यवादका ही संविधान है। माया वस्तु उपनिषद्‌की है। ईशावास्यके—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।'

(सूर्यके सुवर्णपात्रके द्वारा सत्यका मुख छिपा हुआ है।) —इस मन्त्रमें मायाका भाव स्पष्ट आ गया है। मुण्डकोपनिषद्‌में वर्णित हृदयग्रन्थि मायाका ही एक दूसरा रूप है। बृहदारण्यकके—

'असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मा अमृतं गमय ।'

इस मन्त्रमें माया एक तीसरे ही रूपमें सामने है। कठोपनिषद्‌के 'अध्रुवेषु ध्रुवं तत्' ये पद और एक रूपमें

मायाको पेश करते हैं। माया कहनेसे भ्रम और मिथ्यात्वका बोध होता है। 'माया' शब्दका प्रयोग शक्ति-अर्थमें भी होता है (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते)। श्वेताश्वतर उपनिषद्में माया, प्रकृति और शक्ति—तीनों शब्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं (मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्; देवात्म-शक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्)। गीतामें भगवान्ने 'माया' शब्दका प्रयोग अपनी प्रकृति और शक्तिके अर्थमें किया है—'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।' (४।६) 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया' (७।१४), 'माययापहृतज्ञानाः' (७।१५), 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्'''भ्रामयन् सर्वभूतानि *यन्त्रारूढानि मायया॥*' (१८।६१)।

इस प्रकार एक दृष्टिसे जगत् ईश्वरको छिपाता है, दूसरी दृष्टिसे ईश्वरको प्रकट करता है। जब जगत्से ईश्वरका छिपना होता है, तब मायाका अर्थ है मनुष्यके मनका भ्रम; जब उससे ईश्वरका प्राकट्य होता है तब मायाका अर्थ है विद्या। जब हम अनेकको एकके ही व्यक्त रूप देखते हैं, तब मायाका अर्थ है शक्ति। जब हम एकको अनेकमें और अनेकको एकमें, विभिन्नतामें एकता और एकतामें विभिन्नता देखते हैं तब मायाका अर्थ है प्रकृति। जब हम अनेकको एक ही देखते और नानात्वको केवल अध्यारोप, तब मायाका अर्थ होता है भ्रम या मिथ्यात्व। सूर्य मेघनिर्माण करता है और उसके छोटे-छोटे जल-बिन्दुओंके स्तबकोंपर इन्द्रधनुष चमकाता है, जिसमें तरह-तरहके रंग देख पड़ते हैं; ये सब रंग अनेक हैं, फिर भी हैं तो एक ही।

इसी दृष्टिसे गीताके साधनोंका जब हम विचार करते हैं तो यह देख पड़ता है कि इसमें सामन्वयिक सहिष्णुता और सहिष्णु समन्वय भरा हुआ है। साध्यस्वरूप भगवान् इसमें सबको ग्रहण कर रहे हैं।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।
(३।२३; ४।११)

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(९।२९)

श्रीकृष्ण भावके भूखे हैं, बाह्य आडम्बरके नहीं (९।३०, ३१)। सत्कर्म करनेवाला पुरुष कभी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता (६।४०)। भगवान्के भक्तका कभी नाश नहीं होता (९।३१)। गीता किसीकी श्रद्धा-बुद्धिमें भेद नहीं उत्पन्न करती (३।२६)। साध्य सबका एक है और वह है नित्य अनन्त परमानन्द। इसे पानेके अनेक रास्ते हैं। जनकादिकोंने कर्मयोगके द्वारा इसे प्राप्त किया (३।२०)। इस कर्मयोगमें ध्यान और ज्ञान भी शामिल हैं, पर ज्ञानोत्तर कर्ममें इसकी जड़ है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
(५।७)

यह 'योगः कर्मसु कौशलम्' है, क्योंकि बन्धनके साधनको यह मोक्षका साधन बना लेता है। यह पारस-मणि है, जिससे संसारका लोहा मोक्षका सोना बन जाता है। यह योगसमत्व है (२।४८)। गीता कर्मका संन्यास नहीं सिखाती, बल्कि कर्ममें संन्यास सिखाती है; कर्मसे मुक्त होना नहीं बताती, कर्ममें मुक्त होना बताती है। सारा गीता-रहस्य, अवश्य ही, कर्मयोग ही नहीं है। ध्यान या राजयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—इन सबके साधकोंको गीतामें मोक्षकी प्राप्ति कही गयी है। कर्मयोगमें ध्यान, भक्ति और ज्ञानका अंश भी है ही। अकेला—इन सबसे रीता कर्मयोग कोई मोक्षसाधन नहीं है। श्रीकृष्ण सभी मार्गोंको एक-से-एक बढ़कर बतलाते हैं, पर अपना उदाहरण कर्मयोगके प्रसङ्गमें ही देते हैं—यह विशेष बात है (३।२२से२४)। तेरहवें अध्यायके २४वें और २५ वें श्लोकोंमें अनेक मार्ग एकत्र संकलित हैं। उनमें सबसे सुगम और सुनिश्चित भक्तियोग ही है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(११।५४)

गीताका लक्ष्य वही है, जो उपनिषदोंका है—अर्थात् निःश्रेयसकी प्राप्ति। मार्ग कोई हो, यदि वह ईश्वरकी ओर ले जानेवाला है तो उसीसे चलकर मनुष्य उसके पास पहुँच सकता है। सब उसीके मार्ग हैं, सबका एक लक्ष्य है, सब भगवान्की ओर जा रहे हैं। इस प्रकार जानकर अपने

मार्गपर चलता हुआ जो भक्तिभावसे भगवान्‌को भजता है, वह भगवत्ज्ञान, भगवत्प्रेम और भगवदनुभूतिको प्राप्त होता है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥
(१४।२)

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८।५४-५५)

गीतोक्त साधन

(लेखक—पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी)

(१) साधन-फल

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥'
(गीता ९।३३)

इन सोलह अक्षरोंमें षोडशकलासम्पन्न पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके सुन्दर गीतोपदेशका सार है। सभी प्राणी सुख चाहते हैं, परन्तु उन सबका सुख एक ही प्रकारका नहीं है। अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार कुछ लोग तो आत्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न सुखमें ही रमते हैं (गीता १८।३७); कुछ विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे जो सुख होता है, उसमें ही अपनेको कृतार्थ मानकर उसकी प्राप्तिके लिये अनेक कर्म करते हैं (गीता १८।३८) और कोई-कोई निद्रा, आलस्य एवं प्रमादसे उद्भूत सुखमें ही अपनेको सुखी समझते हैं (गीता १८।३९)।

जो मनुष्य भगवान्‌का भजन जिस रूपमें करते हैं, भगवान् उसी रूपमें उनका मनोरथ पूर्ण कर देते हैं (गीता ४।११); इसीलिये वेदमें भगवद्दर्शन (वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः) और स्वर्गादिके सुखका सम्पादन (गीता २।४३) दोनोंका ही विधान है।

यज्ञार्थ (भगवदर्थ) कर्मके अतिरिक्त जो कर्म किया जाता है, वह बन्धनका कारण होनेसे (गीता ३।९) उसके कर्ताका जीवन ही व्यर्थ है (गीता ३।१९)। एतदर्थ वेदार्थको जानकर, दैवी प्रकृतिके आश्रित पुरुष नित्य-सुखस्वरूप भगवान्‌की सेवा निरन्तर निष्काम भावसे करते हैं (गीता ९।१३) और अपने साधनके अनुसार उत्तम, ऐकान्तिक, आत्यन्तिक तथा अक्षय सुख पाते हैं। परन्तु जिनकी रजोगुणी वृत्ति सकाम साधनमें लगी हुई है, वे भगवान्‌को जानकर भी स्वर्गादि भोगोंके प्राप्त्यर्थ भगवान्‌की विधिवत् उपासना करते हैं (गीता ९।२७), भगवान् उनको वेदविहित कर्म करनेके कारण अभीष्ट फल प्रदान करते हैं; परन्तु कुछ समयके पश्चात् उनका कर्म-फल क्षीण हो जाता है (गीता ९।२१)। कुछ ऐसे भी मनुष्य हैं, जो देवताओं-को ही कर्मफलका दाता जानकर सकामभावसे देवताओंकी उपासना करते हैं; उनकी कामनाको भी भगवान् पूरा कर देते हैं। इनका फल भी अन्तवान् होता है; अतएव ये नित्यसुखसे वञ्चित ही रहते हैं। इनके अतिरिक्त आसुरी सम्पत्तिसे सम्पन्न, तामसिक प्रकृतिके कुछ ऐसे भी हैं जो अज्ञानवश भगवान्‌की सत्ताको न मानकर वेदविरुद्ध कर्म करते हैं। ये लोग बारंबार अधम योनिको प्राप्त होते हैं (गीता १६।१५–२०) यद्यपि ये भी ईश्वरके अंश, चेतन और 'सहज अमल सुखरासी' हैं तथापि राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिके वशीभूत होकर, जड और चेतनमें ग्रन्थि पड़ जानेसे, मोघज्ञान, मोघाशा तथा मोघकर्ममें फँसे हुए (गीता ९।१२) नित्यसुखप्रद भगवद्भजनको त्यागकर, विषय-दर्शन, विषय-कामना और विषय-सुखके निमित्त कर्म करते हैं, जिसके फलस्वरूप संसारी बने रहकर अनेक दुःख भोगते हैं। इन संसारी जीवोंके समक्ष, विश्वरूप भगवान्‌के स्थानपर, विश्वपट उद्घाटित रहता है और शब्द, स्पर्श आदि विषयोंके सम्बन्धसे इनका आत्मा विषयद्वारा सर्वथा आच्छन्न रहता है, जिसके कारण इनको भगवद्दर्शन नहीं होता—

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।'

परन्तु जब इन दीन अल्पज्ञ जनोंपर दीनानाथकी कृपा होती है, तब विश्वपटल पलट जाता है और प्रत्येक जड एवं चेतन पदार्थमें विश्वात्मा भगवान्‌का अनुभव होने लगता है। अर्थात् 'वासुदेवः सर्वमिति' अथवा 'सीय राममय सब जग जानी' की अनुभूति होती है और उस समय प्रत्येक कर्म भगवन्निमित्त किया जाता है।

भगवान्‌के परम कृपापात्र भक्त अर्जुनने भी तदर्थ कर्म न करनेवाले, मोघज्ञानविचेता संसारी जीवोंके उद्धारके लिये धर्मसम्मूढचेता मनुष्योंके समान लीला की थी। उस समय वे स्वजनोंके जीवनकी मोघाशा (कामना) में ही सुख मान रहे थे (गीता १ । ३३)। अतएव कुलधर्मकी रक्षाके अर्थ चिन्ता करते हुए (गीता १ । ३८–४०) पिण्डोदकक्रियाको ही पितरोंके उद्धारका एकमात्र उपाय जाननेके कारण, उसके लुप्त हो जानेके भयसे निःशङ्क रहकर अपने विपक्षियोंद्वारा मारे जानेके 'मोघकर्म' में ही कल्याण समझ रहे थे (गीता १ । ४२–४६)।

अपने प्रिय सखाको संसारके मोहग्रस्त मनुष्योंके समान बातें करते देखकर तथा शिष्यभावसे शरणागत होनेपर (गीता २ । ७) भगवान्‌ने लोकहितके निमित्त अपने मतका उपदेश किया है और उसके अनुष्ठानके लिये जो विधि बतलायी है उसमें कर्म, उपासना और ज्ञानका निष्कर्ष है; अतएव वह सभीको उपादेय है।

कर्मयोगी (गीता ६ । ४७), भगवान्‌के भक्त (गीता १२ । २०) और गुणातीत ज्ञानी (गीता १४ । २६)– सभी इस अनुष्ठानमें तत्पर हैं; जीवन्मुक्त प्राणी भी इसका रसास्वादन करते हैं—

सुक सनकादि मुक्त बिचरत, तेउ भजन करत अजहूँ।
(विनयपत्रिका)

(२) साधन

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
(गीता । ३ । ३०)

भगवान्‌ने अपने उपर्युक्त मतद्वारा प्रत्येक मनुष्यके लिये इस साधनका उपदेश दिया है कि साधक संसारके विषयोंकी आशा (कामना) और ममताको त्यागकर, शोकरहित हो शास्त्रविहित कर्म करते हुए कर्मफलको मेरे अर्पण करे।

मनुष्यका यह स्वभाव है कि वह थोड़े-से ही प्रयासद्वारा बहुत बड़े फलकी आकाङ्क्षा करता है अर्थात् स्वल्प परिश्रमसे ही महती सिद्धि चाहता है। इसलिये दयालु गुरु (भगवान्) ने अपने आर्त शिष्य अर्जुनको ऐसे ही सुलभ साधनका उपदेश किया है, जिसकी थोड़ी-सी साधना करनेपर भी संसारके अल्पज्ञ दुःखी जीवोंका महान् भयसे उद्धार होता है (गीता २ । ४०)।

जिस तरह कुशल वैद्य रोगीके रोगका ठीक-ठीक निदान मालूम करके रोगका उपचार करता है उसी तरह भगवान्‌ने भी संसारके दुःखसे ग्रस्त जीवोंके दुःखका मूल कारण अविद्या-ग्रन्थि, हृदयग्रन्थि अर्थात् अविद्या*, कामना†, और कर्मको‡ जानते हुए, जो श्रीगीतामें मोघज्ञान, मोघाशा और मोघकर्मके नामसे कथित हैं, उनको दूर करनेके लिये क्रमशः अध्यात्मचेता बनने, निराशीः एवं निर्मम होने तथा शास्त्रविहित कर्मोंका फल अपने अर्पण करनेकी शिक्षा दी है।

इसी ईश्वरप्रणिधानको महर्षि पतञ्जलिने अपने क्रियायोगमें मुख्य मानते हुए इसीसे समाधिसिद्धि§का उपदेश किया है। और महर्षि व्यासजीने अपने भाष्यमें ईश्वरप्रणिधानका अर्थ 'सब कर्मोंको परम पुरुष (परमेश्वर) के अर्पण करना' किया है।

भगवान्‌के उपर्युक्त मतका अनुष्ठान करनेसे, जिसका उपदेश श्रीमद्भगवद्गीता (३ । ३०) में है, साधक पञ्चक्लेशसे मुक्त हो जाता है—जिनका वर्णन इसी मतके आगे और पीछेके दो-दो श्लोकोंमें है। अर्थात् कर्मफलके संन्याससहित ईश्वरमें कर्म अर्पण करनेसे अविद्याजनित आसक्ति नहीं रहती (गीता ३ । २५)। अध्यात्मचेता होकर सेवकके समान स्वामीके प्रसन्नतार्थ कर्म करनेसे 'मैं कर्म करता हूँ' इस प्रकारकी 'अस्मिता' नष्ट हो जाती है (गीता ३ । २७)। निराशीः होकर कर्म करनेसे कर्मफलके प्रति रागादि नहीं रहते (गीता ३ । ३४) और निर्मम होनेसे अभिनिवेश दूर हो जाता है, साधक स्वधर्म-साधनमें ही मरणके भयके बदले निधनको श्रेय समझता है (गीता ३ । ३५)।

भगवान्‌के इस सुगम एवं सुलभ मतमें सब कर्मोंके संन्यासका आशय यह है कि साधक जो शास्त्रविहित कर्म करता है (जिस प्रकार अर्जुनका शास्त्रोक्त कर्म युद्ध था) —जिसके न करनेसे सिद्धि, सुख और सद्गति नहीं मिलती

---

* अविद्या—भगवान्‌को न जानना, आत्मज्ञान न होना अर्थात् सांसारिक पदार्थोंकी ईश्वरसे पृथक् स्वतन्त्र सत्ता समझना।

† कामना—पदार्थोंकी स्वाधीन सत्ता जानकर उनके पानेकी इच्छा।

‡ कर्म—उनके पानेके लिये कर्मका अनुष्ठान।

§ 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्'। (यो० द०)

(गीता १६ । २३-२४)—यह कर्म अर्थात् यज्ञ, दान, तप* और यज्ञसे बचे हुए अमृततुल्य अन्नका भोजन भगवान्‌का नाम लेकर करना चाहिये और उसका फल भगवदर्पण कर देना चाहिये (गीता ९ । २७) । ऐसा करनेसे उसको शुभाशुभ फलका कर्मबन्धन नहीं होगा ।

इसलिये अद्वैतमतके प्रवर्तक आस्तिकशिरोमणि स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीने भी 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य' का अर्थ गीता ३ । ३० के भाष्यमें 'परमेश्वरके लिये सेवकके समान सब कर्म करना' किया है । और श्रीरामचरितमानसमें परमभक्त काकभुशुण्डिजीका भी यही मत है—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि ॥
(उत्तरकाण्ड)

और अद्वैतमतके आचार्य श्रीविद्यारण्य स्वामीने अपने विख्यात ग्रन्थ पञ्चदशीमें अविद्या-कामना-कर्मरूपी हृदय-ग्रन्थिके निवारणार्थ वैराग्य, बोध और उपरतिका जो वर्णन किया है, उसका आधार भी भगवान्‌का यही मत है; अर्थात् कर्मफलका त्याग 'वैराग्य', अध्यात्मचेता होना 'बोध' और निराशीर्निर्मम होना 'उपरति' है ।

तथा भक्तिमार्गके आचार्य श्रीवल्लभाचार्यजीने सांसारिक विषयोंके प्रति अनासक्ति और भगवच्चरणोंमें आसक्ति होनेके लिये विद्याके जो पाँच भेद—सांख्य, योग, तप, वैराग्य और भक्ति—बतलाये हैं, उनका सिद्धान्त भी भगवान्‌के इस मतमें उपदिष्ट साधनों अर्थात् कर्मफलके संन्यास तथा अध्यात्म-चेता, विगतज्वर, निराशी और निर्मम होनेपर निर्भर है । इसीलिये भगवान्‌का यह मत कर्मयोगी, भक्तियोगी और ज्ञानयोगी सभीकी साधनाके लिये है ।

(३) साधक

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥
(गीता ३ । ३१)

जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक, दोषदृष्टिको त्यागकर अर्थात् इन्द्रियसंयम, मनन, ज्ञानतत्परता और निष्ठाद्वारा इन्द्रिय, मन और बुद्धिके दोषोंको दूर करके भगवान्‌द्वारा उपदिष्ट मतके अनुसार अनुष्ठान करते हैं, वे कर्मबन्धनसे छूट जाते हैं । साधकको यह बुद्धियोग भगवान्‌का प्रेमपूर्वक भजन करनेसे प्राप्त होता है (गीता १० । १०) ।

निर्गुणमतसे इस सगुणमतमें यह विशेषता है कि निर्गुणोपासक अपने उद्धारका भार स्वयं अपने ही ऊपर ले लेता है, जिससे उसको अनेक विघ्नोंका सामना करना पड़ता है; परन्तु सगुणब्रह्म भगवान्‌का भक्त अपने समस्त कर्मोंका फल दयासागर भगवान्‌को सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है ।

इसीलिये ज्ञाननिष्ठ साधक, सब प्राणियोंके सुहृद् पुरुषोत्तम भगवान्‌की सर्वप्रकारसे सेवा करके कृतार्थ होते हैं (गीता १५ । १९-२०) ।

यद्यपि भक्तजन, सर्वभूतहितरत होकर, अहर्निश *भगवान्‌की सेवामें ही मग्न रहते हैं और जन्म-मरणके त्राससे अभय होनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना न करके उनके स्नेहकी* ही कामना करते हैं—

कुटिल कर्म लै जाहिं मोहि जहँ-जहँ अपनी बरिआई ।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाड़ियो कमठ अंडकी नाईं ॥
(विनयपत्रिका)

तथापि भक्तभयहारी भगवान् उनको केवल सम्पूर्ण विघ्नोंसे ही पार नहीं कर देते (गीता १८ । ५८) अपितु उनका योगक्षेम भी स्वयं वहन करते हैं (गीता ९ । २२) ।

केवल सदाचारी भक्तोंपर ही भगवान् अनुग्रह करते हों, यह बात नहीं है; प्रत्युत यदि दुराचारी भी भगवान्‌की सेवा करने लगें तो वे भी धर्मात्मा और साधु होकर शान्ति पाते हैं (गीता ९ । ३०-३१) ।

एतदर्थ सभी मनुष्योंकी शोभा भगवान्‌की सेवा करनेमें है—

करुना सिंधु भक्त चिंतामनि सोभा सेवतहूँ ।
(विनयपत्रिका)

परन्तु जो साधक भगवान्‌के उपर्युक्त मतमें उपदिष्ट सम्पूर्ण साधनको एक साथ करनेमें असमर्थ हैं, उनकी सुविधाके लिये भगवान्‌ने नैष्कर्म्यसिद्धिका यह सोपान बताया है कि साधक परमात्मामें मन और बुद्धि लगाकर अध्यात्म-चेता बनें (गीता १२ । ८); जो ऐसा नहीं कर सकते, वे अभ्यासके द्वारा संसारकी समस्त कामनाओंको छोड़कर अर्थात् निराशीः होकर केवल भगवद्दर्शनकी इच्छा करें

* देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनादि सात्त्विक तप ।

(गीता १२ । ९); जिनके लिये यह भी अशक्य हो, वे भगवदर्थ कर्म करें (गीता १२ । १०) और जो इसमें भी अशक्त हों, वे कर्मफलकी ममता त्यागकर कर्म करें (गीता १२ । ११)।

अवश्य ही ऐसी दशामें साधकको तत्त्वदर्शी ज्ञाननिष्ठ गुरुके समीप जाकर साधनका अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि बिना गुरुके ज्ञान नहीं होता—'गुरु बिनु होइ कि ग्यान ?'

भगवान्‌के साधनका तत्त्व समझनेके लिये श्रीगुरुकी शरणमें जानेके पूर्व साधकको श्रद्धावान्, ज्ञानतत्पर, संयतेन्द्रिय, गुरु-शुश्रूषादिसे युक्त और परिप्रश्न करनेकी मतिसे सम्पन्न होना चाहिये—जैसा कि भगवान्‌ने अर्जुनको उपदेश किया है (गीता ४ । ३४, ३९) और छान्दोग्योपनिषद्‌में भी भूमविद्याके प्रकरणमें साधकके लिये इन्हीं सब अर्थात् श्रद्धा, विज्ञान, मति,* निष्ठा† (गुरु-शुश्रूषादि) और कृति‡ (इन्द्रियसंयम) को आवश्यक बतलाया गया है।

इन्हीं पञ्चसाधन अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान, मति, इन्द्रियसंयम और निष्ठाका वर्णन रामचरितमानसमें काकभुशुण्डिजीने इस प्रकार किया है—

सदगुर बैद बचन बिस्वासा§ । संजम× यह न बिषय कै आसा ॥
रघुपति भगति सजीवन÷ मूरी । अनूपान श्रद्धा मति पूरी ॥
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं । नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं ॥
जानिअ तब मन बिरुज गोसाँई । जब उर बल बिराग अधिकाई ॥
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई । बिषय आस दुर्बलता गई ॥
बिमल ग्यान जल जब सो नहाई । तब रह राम भगति उर छाई ॥
(उत्तरकाण्ड)

ऐसे साधनसम्पन्न साधककी स्थितिका वर्णन गोस्वामीजीने इस प्रकार किया है—

जानकीजीवन की बलि जैहौं ।
चित कहै राम सीयपद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं ॥१॥
उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख प्रभु पद बिमुख न पैहौं ।
मन समेत या तनु के बासिन्ह इहै सिखावन दैहौं ॥२॥
श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसनाँ और न गैहौं ।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि, सीस ईसही नैहौं ॥३॥
नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं ।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं ॥४॥
(विनयपत्रिका)

इस विनयमें भगवान्‌के उक्त मतमें उपदिष्ट सभी साधनों*का समन्वय रुचिर रूपमें मिलता है। यथा—

(१) 'जानकीजीवन की बलि जैहौं ।'

अर्थात् जिस प्रकार श्रुतिमें देवताओंद्वारा परमात्माको भेंट अर्पण करनेका वर्णन है—

तं यो वेद । स वेद ब्रह्म । सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ।
(तै० उ० १ । ५ । ५)

—उसी प्रकार साधक अपना समस्त कर्मफल भगवान्‌के अर्पण कर देता है, भगवान्‌पर अपना सर्वस्व निछावर कर देता है।

(२) 'चित कहै राम सीयपद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं ।'

भगवान्‌के चरणचिन्तनके अतिरिक्त किसी अन्य विषयमें चित्तका न लगना ही अध्यात्मचेताका सुन्दर लक्षण है।

(३) 'उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख प्रभु पद बिमुख न पैहौं ।
मन समेत या तनु के बासिन्ह इहै सिखावन दैहौं ॥
श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसनाँ और न गैहौं ।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि, सीस ईसही नैहौं ॥'

अर्थात् भगवान्‌के सिवा किसी दूसरे विषयकी कुछ भी कामना न करना और श्रवण, नयन आदि इन्द्रियों तथा मनको सब ओरसे खींचकर भगवद्विषयमें स्थिर कर देना ही अध्यात्मचेताके साथ-साथ निराशीः होना है।

---

* मति—अर्थात् मननपूर्वक परिप्रश्न करना।

† निष्ठा—गुरुशुश्रूषादितत्परत्वं ब्रह्मविज्ञानाय।
(छा० उ० शाङ्करभाष्य)

‡ कृतिरिन्द्रियसंयमश्चित्तैकाग्रताकरणं च।
(छा० उ० शाङ्करभाष्य)

§ 'गुरुके वचनमें विश्वास' से निष्ठाका तात्पर्य है।

× इन्द्रियसंयम अर्थात् कृति।

÷ छान्दोग्योपनिषद्‌में भी भूमाको अमृत कहा गया है।

* इस विनयकी पहली, दूसरी और तीसरी पङ्क्तिमें पञ्चदशी-विहित वैराग्यके कारण, स्वरूप और फल, चौथी और पाँचवीं पङ्क्तिमें बोधका कारण, छठीमें स्वरूप और फल तथा सातवीं और आठवीं पङ्क्तियोंमें उपरतिके कारण, स्वरूप और फलके लक्षण क्रमशः समाविष्ट हैं। इसी प्रकार श्रीवल्लभाचार्यजीका 'सांख्य' पहली पङ्क्तिमें, 'योग' चौथी, पाँचवीं और छठी पङ्क्तियोंमें, 'तप' और 'भक्ति' तीसरी पङ्क्तिमें तथा 'वैराग्य' सातवीं और आठवीं पङ्क्तिमें वर्णित है।

(४) 'नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं ।'

यह अध्यात्मवेत्ताके साथ सांसारिक विषयोंमें ममता न रखनेका उत्कृष्ट उदाहरण है ।

(५) 'यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं ।'

और यदि सांसारिक सम्बन्धोंको तोड़ देनेसे कोई बुरा माने तो इसकी चिन्ता भी साधकको नहीं रहती । वह संसारकी सब निन्दा-स्तुतिका भार भगवान्को सौंपकर शोक एवं सन्तापसे रहित हो जाता है । यही विगतज्वर हो जाना है ।

इसीलिये अनित्य सुखको छोड़कर परमात्माका भजन करनेसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है । इस भजनसे भगवान्की उस सेवासे तात्पर्य है जो भगवान्को प्रिय हो, अर्थात् जो भगवान्को रुचिकर हो । भगवान् सब प्राणियोंके सुहृद् हैं तो हम सब सेवकोंको भी सर्वप्राणियोंके हितमें रत रहना चाहिये; भगवान् साधुओंके परित्राणके लिये अवतार लेते हैं, इसीलिये हमलोगोंको भी साधुसेवी होना चाहिये; भगवान् धर्मकी संस्थापना करते रहते हैं तो हमारे लिये भी भगवान्के आज्ञानुसार धर्मका पालन करना उचित है; भगवान् आलस्यरहित सब कर्मोंमें बर्त रहे हैं, अतएव हमलोगोंको भी शास्त्रविहित स्व-वर्णाश्रमोचित कर्तव्य कर्ममें लगे रहना चाहिये (गीता १८।४५)। इन कर्मोंद्वारा भगवान्की सेवा करनेसे ही हमलोगोंको सिद्धि मिल सकती है (गीता १८ । ४६) और असक्तबुद्धिसे निष्काम होकर भगवान्की सेवा करनेपर नैष्कर्म्यसिद्धि (गीता १८ । ४९) अर्थात् परमसुखकी प्राप्ति होती है (गीता ३ । १९) । साधक चाहे तो नित्य विभूतिके सुखमें और चाहे भगवान्की लीलाविभूतिमें रमण कर सकता है; अवश्य ही उसको संसारसे मुक्त होकर श्रीचरणोंमें पहुँचनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है ।

सब साधन कर सुफल सुहावा । लखन राम सिय दरसन पावा ॥

(रामचरितमानस)

प्राणशक्तियोग और परकायप्रवेशविद्याका पूर्वरूप

(लेखक—पण्डित श्रीत्र्यम्बक भास्कर शास्त्री खरे)

प्राण क्या है, प्राणशरीर क्या है—इत्यादि विषयोंका विस्तारपूर्वक विवेचन अबतक किसी ग्रन्थमें नहीं मिला । इस कठिन काममें हाथ डालनेका हेतु यही है कि इस लेखको पढ़कर इस विषयका विचार करनेमें पाठकोंकी प्रवृत्ति हो । प्राणशक्ति क्या है और प्राणशक्तियोग किसको कहते हैं ? इसीका ऊहापोह, इसलिये, इस लेखमें किया जायगा । विषयका सम्यक् उद्बोधन हो, इसके लिये इसके नीचे लिखे अनुसार आठ विभाग किये हैं—

(१) प्राण क्या है ? (२) प्राणमय शरीर किसको कहते हैं ? (३) प्राणायाम क्या है ? (४) अन्नमय कोशके साथ प्राणमय कोशका क्या और कैसा सम्बन्ध है ? (५) प्राणायामके द्वारा प्राणमय शरीरको अन्नमय कोशसे बाहर निकाल ले जानेकी प्रक्रिया । (६) जीव प्राणमय कोशको अन्नमय कोशके बाहर ले जाकर किस प्रकार आपाततः तथा बुद्धिगृहीत कर्म करता है ? (७) प्राणमय कोशके ज्ञानसे लाभ । (८) प्राणशक्तियोगकी फलश्रुति ।

१. सर्वसाधारण लोगोंकी धारणा यह है कि प्राणवायु ही प्राण है । प्राणायामका विवेचन करते हुए योगग्रन्थोंमें प्राण-वायुको प्राण और प्राणायामको श्वासायाम कहा गया है । श्रीपतञ्जलि महामुनिका वचन है—'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयो-र्गतिविच्छेदः प्राणायामः । . प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।' अर्थात् श्वास-प्रश्वासकी गतिको बंद करना प्राणायाम है । अमृतनादोपनिषद्में भी प्राण-प्राणायामकी ऐसी ही परिभाषा की गयी है—

'रुचिरं रेचकं चैव वायोराकर्षणं तथा ।
प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचकुम्भकपूरकाः ॥
त्रिः पठेदायतः प्राणः प्राणायामः स उच्यते ।'

श्रीमद्भागवतमें 'दश कृत्वा त्रिषवणं मासादर्वाग् जितोऽनिलः ।' यह कहकर यह बतलाया है कि प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल—तीनों समय नित्य दस प्राणायाम तीन महीनेतक बराबर करे तो वह मनुष्य जितानिल हो सकता है अर्थात् वायुको जय कर सकता है । श्रीमद्भगवद्गीतामें भी 'प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।', 'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।', 'प्राणान् प्राणेषु जुह्वति'

इत्यादि वचनोंके प्राणशब्दका अर्थ प्राणवायु ही किया जाता है।

२. पुरुषसूक्तमें 'प्राणाद् वायुरजायत' यह वचन है। इसमें यह बतलाया है कि वायु-तत्त्व प्राण-तत्त्वसे उत्पन्न हुआ है। अर्थात् प्राण और वायु दो भिन्न तत्त्व हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश—ये पञ्चतत्त्व यथाक्रम एक-से-एक अधिक सूक्ष्म हैं; उसी प्रकार प्राणतत्त्व भी वायुतत्त्वकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है।

प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति॥

—यह तैत्तिरीयश्रुति है। 'प्राणो वा ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च' (छान्दोग्य), 'प्राणो वै बलम्' (बृहदारण्यक), 'प्राणो वा अमृतम्। आयुर्नः प्राणः। राजा मे प्राणः।' इत्यादि इसी आशयके उपनिषद्-वचन हैं। काशी गुरुकुलके संस्थापक श्री-अभयानन्द सरस्वतीने प्राणायामविधिपर एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें प्राणविधानामक अध्यायमें प्राणका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'परमात्मा प्रकृतिमेंसे प्राण बनाता है।' प्राण सामान्य और विशेष भेदसे दो प्रकारका है। प्राणतत्त्व सम्पूर्ण जगत्में व्यापक है, अर्थात् दृश्य और ज्ञेय जगत्की अपेक्षा वह अधिक सूक्ष्म है। अथर्ववेदमें प्राणकी महिमा यह कहकर गायी गयी है कि 'प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।' अर्थात् उस प्राणको प्रणाम है, जिसके वशमें यह सारा जगत् है। प्राण पृथ्वीपर है, अन्तरिक्षमें है, द्युलोकमें है। द्युलोकमे प्राण सूर्य-किरणोंद्वारा आता है और अन्तरिक्षमें स्थित प्राण पर्जन्यके द्वारा पृथ्वीपर आता है और पृथ्वीपर आनेके पश्चात् यह वायुतत्त्वमें मिलकर रहता है। द्युलोकगत और अन्तरिक्ष-गत प्राण ही सब जीवोंकी जीवनशक्ति है। प्रश्नोपनिषद्के

'अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते।'

—इन वचनोंसे यही पता लगता है कि सूर्यदेव अपने रश्मिजालसे द्युलोकका प्राण पृथ्वीपर लाते हैं। इसी प्रकार 'प्राणो हि सूर्यः प्राणश्चन्द्रमाः। प्राणमाहुः प्रजापतिः प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्वमुपासते।' इन वचनोंसे यह मालूम होता है कि सूर्य, चन्द्रमा, प्रजापति, विराट् आदि प्राणरूप ही हैं। 'प्राणापानौ व्रीहियवौ अनड्वान् प्राण उच्यते।' इस वचनमें प्राण और अपानको व्रीहि और यव कहकर उनका संग्रह करनेवाले अनड्वान् (बैल) को प्राण कहा है। इन सब वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि प्राणतत्त्व प्राणवायुसे भिन्न है।

३. प्राणतत्त्वका प्राणवायुसे भिन्न होना व्यावहारिक उदाहरणसे भी दरसाया जा सकता है। जीव जब गर्भाशयमें होता है, तब उसे प्राणवायुके मिलनेका साधन नहीं रहता; गर्भमें रहते हुए बाहरसे वह प्राणवायु नहीं ले सकता। तथापि सातवें महीनेसे ही वह हिलने-डोलने लगता है और उसके हृदयमें रक्ताभिसरणकी क्रिया होती रहती है। ऐसी हालतमें उसका जीवन प्राणवायुपर नहीं, बल्कि प्राणतत्त्वपर निर्भर करता है। मृत शरीरमें प्राणवायु जा-आ सकता है; पर उससे मनुष्य जी उठे, यह नहीं हो सकता। मूर्च्छित मनुष्य, जलमें डूबा हुआ मनुष्य, डाक्टरके चीरा देनेके पहले दवा सुँघाकर शरीरकी स्मृति खोया हुआ मनुष्य और समाधिमें स्थित योगी—इन सबके शरीर मृतवत् हुए रहते हैं, श्वास-प्रश्वासकी क्रिया उनमें नहीं होती। परन्तु उनके शरीरोंमें प्राणतत्त्व बना रहता है, इसलिये श्वास-प्रश्वासकी क्रिया उनमें फिरसे आरम्भ हो जाती है। कर्नल टाउनशेंडने अपनी इच्छासे अपना प्राणमय शरीर अपने अन्नमय शरीरसे बाहर निकाल लिया था। उस समय तीन सर्जनोंने उनके शरीरकी परीक्षा करके यह निर्णय दे दिया था कि इनकी मृत्यु हो गयी। उनकी नाड़ी, रक्ताभिसरण और हृदयकी क्रियाएँ सब बंद थीं। शरीर ठंडा पड़ चुका था, नसें तन गयी थीं। परन्तु फिर भी कर्नल टाउनशेंड फिरसे अपने प्राणमय शरीर-के साथ उस शरीरमें आ गये और ऐसे उठ बैठे जैसे कोई सोकर उठा हो। मास्को शहरकी एक बालिका १४ दिन मूर्छितावस्थामें थी। तीन बार उसका प्रेतसंस्कार भी किया गया। पर हर बार अन्तिम क्षणमें वह जागकर उठ बैठती। महाराज रणजीतसिंहके दरबारके योगीकी कथा प्रसिद्ध ही है। छः फुट नीचे जमीनमें उन्होंने अपने-आपको गाड़ लिया, ऊपरसे वह जमीन जोती-बोयी गयी, उसकी चारों ओर संगीनका पहरा बैठाया गया। सात दिन बाद योगी महाराज-के सामने बाहर निकले। महाराजसे उन्होंने कहा, 'मैं वहाँ बड़े आनन्दमें था।' इस तरहकी योगक्रिया करनेवाले लोग आज भी मौजूद हैं। इन उदाहरणोंसे यही स्पष्ट होता है कि प्राण एक स्वतन्त्र तत्त्व है।

४. वैशेषिक दर्शनमें प्राणतत्त्वका कोई वर्णन नहीं है, पर आकाशको ही प्राणतत्त्व और नित्य द्रव्य माना है। जैन-दर्शनमें आकाशतत्त्वके लोकाकाश और अलोकाकाश दो भेद

हैं, लोकाकाश मर्यादित और अलोकाकाश अमर्यादित और नित्य हैं; शरीरके जीव और पुद्गल—दो भेद हैं; पर प्राण और प्राणमय कोशका कोई वर्णन नहीं है। कणाद 'अणु-अणु' कहते-कहते उसीमें मगन हो रहे और महर्षि पतञ्जलि यह बतला गये कि मनःसंयम करो और इससे विभिन्न विभूतिरूप ज्ञानभण्डारकी कुञ्जियाँ अपने हाथमें कर लो; जैसे 'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।' परन्तु शरीरको जीवित रखनेवाले प्राणतत्त्वका या प्राणमय शरीरका उन्होंने पता नहीं दिया।

५. सूक्ष्म दृष्टिसे विचारिये तो सृष्टिके इस मूर्त्तरूपको प्राप्त होनेमें ईशसंकल्प, देवसंकल्प और ऋषिसंकल्प—ये तीन संकल्प कारण हुए हैं। ईशसंकल्पके सूक्ष्म परमाणु हुए, देवसंकल्पके उनकी अपेक्षा स्थूल और ऋषिसंकल्पके उनसे भी अधिक स्थूल हुए। ईशसंकल्पसे देव निर्माण हुए और देवसंकल्पसे ऋषि और मानव निर्माण हुए। ईशसंकल्पसे प्रथमतः मन और अनन्तर आकाशादि अपञ्चीकृत पञ्चतत्त्व निर्माण हुए और इन अपञ्चीकृत पञ्चतत्त्वोंसे पञ्चीकृत स्थूल पञ्चतत्त्व उत्पन्न हुए। ईशसंकल्पके ये स्थूल मूर्त्तरूप ही प्रकृति-परमाणु हैं। ईशसंकल्पसे धाता उत्पन्न हुए और उनमें 'यथापूर्वं कल्पयामि' की भावना उत्पन्न हुई। उस भावनासे आदित्य-परमाणु और उनसे सूर्यग्रहोंसहित सूर्यमाला उत्पन्न हुई। इसके अनन्तर मानसपुत्रादि मानस सृष्टि हुई और फिर जारज सृष्टि। जन्मको प्राप्त होनेवाला जीव जगदात्मा सूर्यसे सूर्य-परमाणु और फिर मनके लिये चन्द्रमण्डलसे चन्द्र-परमाणु ग्रहण करता है और नीचे उतरते हुए वह अन्य ग्रहोंसे भी अपने प्रारब्धकर्मभोगके लिये तत्तत् ग्रहोपग्रहोंके शुभाशुभ-फलदायी परमाणु ग्रहण करके पृथ्वीपर आता और माताकी कोखमें आकाश, तेज, अप्, वायु, पृथ्वी—इन पञ्चीकृत तत्त्वोंसे अपने प्राणशरीरके सजातीय प्राण-परमाणुओंका ग्रह कर अपना अन्नमय शरीर निर्माण करता है और इस प्रकार पूर्वकर्मानुरूप भोग भोगनेके लिये अपने प्राणमय, मनोमय, वासनामय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशोंसहित भोगायतन अन्नमय शरीर धारण करके माताकी कोखसे बाहर निकलता है। सूर्यमण्डलसे आदित्यप्राण-परमाणु और चन्द्र-मण्डलसे चन्द्र-परमाणु लेकर जीव जब पृथ्वीपर आता है तब ज्योतिषीलोग उसकी लग्नकुण्डली और राशिकुण्डली फैलाते और तत्तद् ग्रहोंका बलाबल देखकर जीवके सुख-दुःखादि-भोगके स्थान और समय निर्दिष्ट कर देते हैं। इससे यह पता लगता है कि जीवके अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश सूर्यसे दैनन्दिन गतिके साथ प्रसृत होनेवाले प्राण-परमाणुओंसे बने हुए हैं। अर्थात् यही सिद्ध हुआ कि प्राणमय कोशके संघटक प्राण-परमाणु और श्वासोच्छ्वासके प्राणवायु एक दूसरेसे भिन्न हैं। समस्त दृश्यादृश्य जगत् सच्चिदानन्दस्वरूप है—इस सिद्धान्तके अनुसार प्राण-परमाणुओंमें भी सत्ता, चेतना और ज्ञान अबाधित, वलित अथवा संवटित हैं। सूर्यमण्डलसे निकले हुए प्राण तेजोरूप हैं, इसलिये प्राणमय शरीर भी तेजोरूप है। साधारण मनुष्य भी स्वप्नकी अवस्थामें अपने शरीरको प्रकाशरूप ही देखता है, चाहे रात अँधेरी हो और समीप कोई दीप भी जलता हुआ न हो।

६. थिआसोफिकल सोसायटीके आद्य प्रवर्त्तक महात्माओं-का बाह्य जगत्में प्रतिनिधित्व करनेवाली मैडम ब्लावेट्स्कीने यह कहा है कि हमारे रक्तके अंदर जो शुभ्र और ताम्रबिन्दु हैं, उनमें ताम्रबिन्दुओंके अंदरके अयस्कण ही प्राण-परमाणुके घटक हैं। उनके मतसे जीवन एक सूक्ष्म गति है; जिसे प्राण कहते हैं, वह एक स्वयंभू शक्ति है। यह शक्ति जगत्के धाता सूर्यसे मनुष्यको प्राप्त हुई है। यह शक्ति पृथ्वीपर काम आनेके लिये तेज, आकाश, वायुके साथ होकर तथा जनलोक, महर्लोक, स्वर्लोक और द्युलोकादि लोकोंमेंसे आते हुए परिणत होकर विद्युदाकर्षणरूप परमाणुओंसे मनुष्यका प्राणमय शरीर निर्माण करती है। यहाँ प्राणको शक्ति कहा है। परन्तु शक्ति (Force) होनेपर भी उसके कार्यक्षम होनेके लिये किसी-न-किसी प्रकारका साधन होना जरूरी है। विद्युत्कणोंमें प्रकाशशक्ति है और उसीका दूसरा रूप उष्णताशक्ति है। इन शक्तियोंके प्रभावशाली होनेके लिये विद्युत्कणोंकी आवश्यकता रहती ही है। इसलिये विद्युत्कण कहें या प्राण-परमाणु कहें, वे और उनकी शक्ति वायु-कण और वायुशक्तिसे भिन्न ही हैं। प्राण-परमाणु और प्राणशक्ति दोनों ही वायु-परमाणु और वायुशक्तिसे सूक्ष्म हैं और प्राणमय शरीर (Astral body) आकाश-शरीर (Ethereal body) तथा अन्नमय शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म हैं। अन्नमय शरीर और आकाश-शरीर दोनों ही कुछ ही दिन, कुछ ही वर्ष बने रहते हैं। चीन अथवा ईजिप्ट देशवालोंके 'ममी'—रासायनिक प्रक्रियासे रक्खे हुए मृत मनुष्योंके ऐसे ही अन्नमय शरीर हैं (चित्र नं० १ देखिये)। परन्तु प्राणमय शरीर पाँच-पाँच सौ, हजार-हजार वर्षतक भी बने रहते हैं। यथार्थमें वर्ष अथवा कालकी गणना

इस पृथ्वीपर ही है और अन्नमय तथा आकाशमय कोशपर उसका नियम चलता है। द्युलोकमें तो कालगणना है ही नहीं। पाँच सौ और हजार वर्षकी जो अवधि कही, वह इस कारण कि १००० वर्ष पूर्व इस पृथ्वीपर जो महात्मा शरीरसे थे, वे अब भी पृथ्वीपर माध्यम (Medium) की सहायतासे उस कालकी बातें बतलाते हैं, जो इतिहासकी दृष्टिसे भी ठीक उतरती हैं।

७. रसायनशास्त्र और वैद्यशास्त्रसम्बन्धी इतने अगाध आविष्कारोंके होनेपर भी अभीतक वैज्ञानिकोंको यह पता नहीं चला कि प्राण अथवा जीवन क्या है। डॉ० वानडेन ब्रांकने लंदनके 'फोरम' पत्रके जनवरी १९३५ के अङ्कमें 'हम मरते कब हैं?' इस विषयपर एक लेख लिखा है। इस लेखमें प्रसङ्गतः प्राणकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि रक्तसे ही हृदयकी क्रिया होती रहती है, इसलिये रक्त स्वयं ही एक महान् शक्तिशाली पदार्थ है। पदार्थविज्ञानवेत्ताओं-का विचार यह है कि हृदयकी क्रियासे रक्ताभिसरणकी क्रिया होती है; यह सही होनेपर भी रक्तबिन्दुओंके अंदर जो विद्युदाकर्षणशक्ति है, उसीके द्वारा जागरित शिराओंके पुञ्जोंमेंसे होकर यह रक्ताभिसरणक्रिया होती है। शरीरके चलन-वलन व्यापारको ही जीवन मानकर यह बात कही गयी है। परन्तु आर्थर ए० बेल (कैलिफोर्निया) का यह कहना है कि शरीरके चलन-वलन-व्यापारका चलना या चलाना मनुष्यकी मनोभूमिपर अवलम्बित है—देहस्थित जीवात्माका शरीर जब जीर्ण होता या असंयत आचरण अथवा किसी अपघातसे भग्न या बेकार हो जाता है, तब वह अपने मनको आज्ञा देकर स्थूलदेहके साथ अपना सम्बन्ध तोड़ डालता है। इससे भी यही बात पुष्ट होती है कि प्राणशक्ति रक्तबिन्दुओंके अयस्कणोंमें जो विद्युदा-कर्षणशक्ति है, वही है। वानडेन फ्रैंकका यह कहना है कि हृदय और रक्ताभिसरणका नियमन शिखरी स्थान (Medulla Oblangata) से होता है। अपने यहाँके योगियोंका भी यही मत है कि हृदयक्रियाको शिखरीके द्वारा जब चाहे बंद और जारी किया जा सकता है। बालानन्द सरस्वती (वैद्यनाथधामके) और अगम्य गुरु बात करते-करते अपनी नाडी और हृदयका चलना इच्छामात्रसे बंद कर देते थे, इस बातको इस लेखके लेखकने स्वयं अनुभव किया है।

८. रक्तबिन्दुका अयस्कण ही पाश्चात्त्य विज्ञानका अणु (Atom) है। अणु एक सौरमण्डल या सूर्यग्रहमाला ही है। सौरमण्डलमें जैसे मध्यमें सूर्य है, वैसे ही अणुमें घनविद्युत्-केन्द्र (Proton) है और उसके चौतर्फा ऋणविद्युत्कण (Electrons) अत्यन्त वेगके साथ वर्तुल गतिसे घूमा करते हैं। धनविद्युत्कण बाहरसे शक्तिको अंदर खींचता है और अंदरसे बाहर फेंकता है। जब यह शक्तिको बाहर फेंकता है, उस समय ऋणविद्युत्कण बाहरकी कक्षासे भीतर कूद पड़ते हैं और जब यह शक्तिको बाहरसे अंदर खींचता है, उस समय ऋणविद्युत्कण अंदरसे बाहर उछल पड़ते हैं। एक कक्षासे दूसरी कक्षामें ऋणविद्युत्कणोंका यह जो भ्रमण होता है, वह किसी नियमके अनुसार नहीं होता; उनकी यह क्रिया बेरोक होती है। इनकी अनियत स्वैरवृत्तिका कारण क्या है, यह पदार्थविज्ञानवेत्ताओंके लिये बड़ी पहेली है। इन ऋणविद्युदणुओंके बड़े समुदायके सम्बन्धमें कुछ नियम देख पड़ते हैं; पर व्यक्तिशः कोई ऋणविद्युदणु किस समय किस गतिसे चलेगा, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता—जैसे मानवसमाजके सम्बन्धमें समाजशास्त्रकी दृष्टिसे कुछ मोटे नियम बनाये जा सकते हैं, पर प्रत्येक व्यक्तिकी स्थिति और गतिका कोई अनुमान नहीं किया जा सकता।

९. अणुकी स्वैरगतिके सम्बन्धमें भगवान् कणादका यह वैशेषिक सूत्र है कि 'अणूनां मनसश्च आद्यं कर्म अदृष्ट-कारितम्।' अर्थात् अणुके और मनके आद्य कर्म (या उनकी मौलिक स्वैरगति) का कारण अदृष्ट ही है। अर्थात् यह गति स्वयंभू है।

१०. ऋणाणु और धनाणु दोनोंमेंसे शक्तिकी लहरें उठा करती हैं। एडीसन कहते हैं कि ऋणाणुओंके कुछ ही प्रभावकार्य हमलोग जान पाते हैं। ऋणाणु शक्ति-तरङ्गोंका केन्द्र है। उसके सम्बन्धमें हम जो कुछ जान पाते हैं, वह उसकी शक्तितरङ्गोंसे ही। पाश्चात्त्य पदार्थविज्ञान ऋणाणु और धनाणुतक ही पहुँच पाया है। पर इन ऋण-धनाणुओंसे शक्तिका आविर्भाव कैसे होता है, इसका उसे कोई पता नहीं चला है।

११. योगदीपिकामें प्राणकी इस प्रकार व्याख्या की गयी है—

प्राणो भवेत् परं ब्रह्म जगत्कारणमव्ययम्।
प्राणो भवेत् तथा मन्त्रज्ञानकोशगतोऽपि वा॥
क्षेत्रज्ञश्च तथा प्राणाः पञ्चभूतेन्द्रियार्थकाः।
प्राणार्थोऽद्वेति सिद्धान्तः श्रुतिभिः समुदीरितः॥

—तात्पर्य, ज्ञानकोश यानी विज्ञानमय कोशमे जो प्राणशक्ति है वही प्राण है। श्वासोच्छ्वास अन्नमय कोशके प्राण-अपान हैं। प्राण इनसे अधिक सूक्ष्म हैं।

१२. सच पूछिये तो ऋणाणु-धनाणु प्राण-परमाणुओंके मूर्त्तरूप हैं। स्वयं प्राण-परमाणु इनसे अधिक सूक्ष्म और अधिक कार्यक्षम हैं। ऋणाणु और धनाणुके अन्तर्गत प्राण-परमाणु प्रकाशमय हैं, यह बात पाश्चात्य विज्ञानकी प्रकियासे सिद्ध है। अथर्ववेदके एकादश काण्डकी दूसरी ऋचा है—

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते॥

टीकाकारोंने 'स्तनयित्नवे' पदकी टीका 'विद्युदात्मना विद्योतमानाय' इस प्रकार की है। अर्थात् प्राण विद्युदात्मक हैं और परम्परया प्राणमय कोश प्रकाशात्मक है, यही स्पष्ट होता है। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंकी अब यह राय हो चली है कि सब स्थूल शारीरिक क्रियाएँ विद्युच्छक्तिसे ही हुआ करती हैं। आथर्वणवेदके उपर्युक्त मन्त्रसे इसका समर्थन होता है। इससे यह मालूम होता है कि आर्यावर्त्तके जिन ऋषि-मुनियोंने प्राण-शक्तिको अनुभव कर उसकी कार्यपरम्परा निर्दिष्ट कर दी, उन्हींके सिद्धान्तकी ओर पाश्चात्य वैज्ञानिक भी धीरे-धीरे आ रहे हैं।

१३. कुछ पाश्चात्य विद्वान् एक प्रवाहशील पार्थिव अंशको, जिसे इन नेत्रोंसे नहीं देख सकते, प्राण कहते हैं। मानवविद्युदाकर्षण (Human magnetism) को भी कुछ लोग प्राण कहते हैं। जीवमें अपनी जो एक निजी शक्ति है (Metabolism), उसे ही कुछ लोग प्राण जानते हैं। और कुछ जीवन-रस (Protoplasm) तथा अव्यक्त जीवन रस (Ecloplasm) को प्राण मानते हैं। परन्तु ये चारों प्राणशक्तिके गुण हैं, स्वयं प्राण नहीं।

१४. टाडिग्राफ नामका एक जन्तु है, जो मैसोरके नन्दि-दुर्ग पहाड़के ऊपर देखा जाता है। इसका आकार $\frac{1}{25}$ इंचके बराबर होता है। जल न मिलनेपर इसकी देह सूख जाती है और सूखनेपर यह बरसों इस तरह निश्चेष्ट पड़ा रहता है कि यह पता नहीं लगता कि यह जीता है या मरा—मरा ही समझा जाता है, क्योंकि उसमें हिलने-डोलनेकी कोई क्रिया नहीं देख पड़ती। परन्तु बरसों इसी हालतमें पड़े रहनेपर भी यह देखा गया है कि इसकी देहको काट-काटकर उन टुकड़ोंको किसी काँचके बर्तनमें रख दिया जाय तो भी इसकी प्राणशक्ति नष्ट नहीं होती। शून्य अंश (zero degreh) की उष्णतावाले किसी पात्रमें हेलियम (सूर्यकिरणका एक घटक पदार्थ) द्रवित करके उसमें यह सूखी देह रक्खी जाय तो यह देखा जाता है कि यह जन्तु चैतन्य होता और हिलने-डोलने लगता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस जन्तुकी स्वयं चेतन शक्ति (Metabolism) 'नष्ट' होनेपर भी फिरसे आ जाती है। प्राणशक्ति उसकी देहमें इतनी सोयी हुई रहती है कि वैज्ञानिकोंके लिये एक बड़ी पहेली हो जाती है और उन्हें इस गूढ़ प्राणशक्तिका पता नहीं चलता।

१५. इस प्रकार पाश्चात्य वैज्ञानिकोंको अभीतक प्राणशक्तिका पता नहीं लगा। हमारे यहाँके प्राचीन शास्त्रकार इस शक्तिको खूब जानते थे। प्राणशक्तिके सम्बन्धमें उन्होंने जो-जो कुछ कहा है, उसको अलग रक्खें और अपेक्षाकृत आधुनिक कालमें आवें तो प्राणशक्तिकी व्याख्या गौतमबुद्धके इस वचनमें मिलती है कि 'प्राणशक्ति सर्वत्र विद्यमान है, अभेद्य है और अविभाज्य है।' अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि प्राणशक्ति अमुक स्थानमें है और अमुक स्थानमें नहीं। जिन सूर्य-किरणोंके साथ सूर्यदेव इस विश्वपर सतत प्राणशक्तिकी वर्षा कर रहे हैं, उन सूर्यकिरणोंको यानी प्रकाशको विभाजित किया जा सकता है। प्रकाशके तरङ्गवाद (Wave theory) या आन्दोलनकी क्रियाका निरीक्षण करनेसे यह देख पड़ता है कि एक प्रकाश-तरङ्गके अन्तिम विन्दु और दूसरी प्रकाश-तरङ्गके आरम्भ-विन्दुके बीच थोड़ा अन्तर हुआ करता है। मैगास फाक्स अथवा आइनस्टीनके अंशपरमाणुवादसे भी यह बात सिद्ध होती है कि प्रकाशका विभाजन होता है। प्रकाशतरङ्गोंके परस्पर-आन्दोलनमें प्रकाश-विच्छेद होता है, यह बात नीचे दिये हुए उदाहरणसे स्पष्ट होती है।

१६. एक मीलकी दूरीपर एक घड़ी रक्खी है। इस घड़ीमें जब एक बजनेका समय होता है, तब एक बजनेकी आवाज आती है। पर एक बजा हुआ देख पाना एक सेकंडके एक लाख छियासी हजारवें हिस्सेका अंतर देकर होता है। पदार्थका अस्तित्व और उसका दर्शन, इन दोनोंके बीच इतना अन्तर होता है। प्रकाशतरङ्गोंके परस्पर-आन्दोलनोंके बीचका यह अन्तर है। अर्थात् प्रकाशकी सत्ता अबाधित नहीं है, उसमें सूक्ष्मतम प्रकाश-गति-विच्छेद है। यह अनुभव अवश्य ही मानव-नेत्र, श्रोत्र और मानव-बुद्धिसे बने हुए यन्त्रोंसे होनेवाला है। यथार्थमें प्रकाशतरङ्गोंके बीच विच्छेद-सा जो कुछ देख पड़ता है, वह दृग्भ्रम है।

१७. स्वामिभक्त वशिष्ठ प्राणकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि प्राण (Cosmic Energy) अखिल ब्रह्माण्डकी ओतप्रोत शक्ति है और प्राणियोंके शरीरोंमें वह विशेषरूपसे प्रकट होती है । एक शरीरसे दूसरे शरीरमें भी इसका आवागमन होता है । जब हम किसी रोगपीड़ित जीवके शरीरसे किसी अन्य शरीरधारी जीवके द्वारा रोगका हटाया जाना देखते हैं, तब यह काम प्राणशक्तिके द्वारा ही होता है ।

१८. स्तम्भ १२ में मानवविद्युदाकर्षण (Human magnetism) को प्राणशक्तिका एक गुण बताया है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों और आविष्कारकोंके प्रयत्नोंकी प्रशंसा जितनी कीजिये, थोड़ी होगी । इन लोगोंने यह पता लगाया और आगे और लगा रहे हैं कि शरीरके स्थूल और सूक्ष्म व्यापार किस प्रकार विद्युदाकर्षणमें हुआ करते हैं और शरीर-व्यापार तथा विद्युदाकर्षणके बीच कैसा सम्बन्ध है । प्राण-शक्तिके अंदर जो विद्युदाकर्षण है, उसीकी क्षमतासे शरीरके सब व्यापार होते हैं—यह सही है; परन्तु मानवविद्युदाकर्षण मनःशक्तिपर निर्भर करता है । मन और शरीरके बीच सम्बन्ध जोड़नेवाला एक महत्तर विद्युद्वेगशक्तिकेन्द्र (मस्तिष्क) शरीरमें है और इसी केन्द्रसे विद्युच्छक्ति निकलकर शरीरके सब व्यापार चलानेमें समर्थ होती है । हार्वर्ड मेडिकल स्कूल-के प्रोफेसर जे० एडविन कोहेनने इस विषयमें दस वर्ष लगातार प्रयोग करके जो तथ्य निकाला, वह नीचे दिया जाता है ।

१९. जीवनशक्ति (Protoplasm) के मुख्य परमाणु स्नायुवर्द्धक परमाणु हैं । इन परमाणुओंसे विद्युच्छक्ति निकलती है । ये ही विद्युदुत्पादक परमाणु नाडीजालमें रहते हैं। इन्हीं स्नायुवर्द्धक परमाणुओंके घटक एनिमो-ऐसिड (जीवन-क्षार) में भी देख पड़ते हैं । एनिमो-ऐसिडके परमाणु हाइड्रोजनके परमाणुओंकी अपेक्षा चौंतीस हजार गुना बड़े होते हैं। एनिमो-ऐसिडके इन परमाणुओंके एक छोरपर ऋणविद्युत्कण और दूसरे छोरपर धनविद्युत्कण होते हैं। इस प्रकार इनके ओर-छोरपर परस्परविरुद्ध शक्तिवाले अणुओंके होनेके कारण, एनिमो-ऐसिडके ये परमाणु शक्तिविहीन होते हैं। तथापि इनसे विद्युद्वेगरूप लघु परमाणु उत्पन्न होते हैं। और वे प्राणशक्ति और शरीरेन्द्रियोंके बीच सम्बन्ध जोड़ते हैं । अनन्तर स्नायुवर्द्धक परमाणु और एनिमो-ऐसिड परमाणुओंका एक मण्डल बनता है । ये परमाणु महत्तर होनेके कारण इनका एक आकर्षण-पुञ्ज बनता है । इस आकर्षण-पुञ्जसे अनन्त विद्युदणु निकलते हैं । ऐसे एक छोर-पर धनविद्युदणु और दूसरे छोरपर ऋणविद्युदणु रहते हैं। इसलिये इन परमाणुओंको द्विशक्तिशाली परमाणु कहते हैं। ये द्विशक्तिशाली परमाणु अपने-अपने स्थानमें स्थिर रहते हैं। इनके अगल-बगल जो धनविद्युत्कण हैं, उनकी ओर इन द्विशक्तिशाली कणोंका ऋणविद्युदग्र प्रवृत्त होता है और ऋणविद्युत्कणोंकी ओर इनका धनविद्युदग्र ।

२०. इस प्रकार द्विशक्तिशाली परमाणुओंकी एक माला बन जाती है । एक द्विशक्तिशाली परमाणुका धनविद्युदग्र उससे अलग होता और दूसरे द्विशक्तिशाली परमाणुके ऋण-विद्युदग्रसे जा मिलता है । एक क्षणके शतांश कालमें यह क्रिया होती है और बराबर उसी प्रकार जारी रहती है। इन द्विशक्तिशाली कणोंके क्रियाकलापसे एक गति निर्माण होती है और उस गतिसे देहगत नाडियोंका आकुञ्चन-प्रसरण हुआ करता है, उसीसे नेत्रों और हस्त-पादादि इन्द्रियोंके व्यापार होते हैं। परन्तु इस द्विशक्तिशाली परमाणुके धनविद्युदग्रको अलग करनेकी क्रिया करनेवाला कौन है, इसका पता वैज्ञानिकों-को नहीं चला है । यह क्रिया करनेवाली शक्ति मन है। परन्तु मनःशक्तिके कार्यकरी होनेके लिये प्राणशक्तिकी अनु-कूलता आवश्यक है । नाडियोंमें जो द्विशक्तिशाली परमाणु होते हैं, उनसे शरीरके सब अवयवोंकी आकुञ्चन-प्रसरण-क्रिया सतत हुआ करती है । इस क्रियाके कारण ही हस्त-पादादिक इन्द्रियोंके दृष्ट कर्म होते रहते हैं; और इसी प्रकार पित्त-पिण्डसे पित्तका उत्पन्न होना, लंब-पिण्ड (Thyroid) से रसका निर्माण होना, शिखरीसे हृदय-क्रियाका सङ्कोच-विकास होना अथवा उसका बंद होना—ये सब अदृष्ट क्रियाएँ भी होती रहती हैं । ये सब क्रियाएँ प्राणशक्तिसे ही होती हैं ।

२१. इन परमाणुओंके आकारानुरूप जो स्नायुवर्द्धक परमाणु रक्तमें होते हैं, वे वर्तुलाकार होते हैं। शरीरकी आकुञ्चन-प्रसरण-क्रियाके होते हुए शरीरमें इनशुलिन, थायरोग्लोबिन आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं; परन्तु रक्त जब किसी चोटसे एक जगह जम जाता है, तब उस रक्तमें उन परमाणुओंका आकार छड़ी-सा लंबा देख पड़ता है। सामान्य नाडीपुञ्जके द्विशक्तिशाली परमाणुओंके चतुर्दिक् जो धनविद्युत् अथवा ऋणविद्युत्कण देख पड़ते हैं उनके आकारसे रक्तगत परमाणु शतगुण बड़े होते हैं ।

२२. द्विशक्तिशाली परमाणुओंके अन्तर्गत प्राण-परमाणु

होते हैं। प्राण-परमाणु पृथक्-पृथक् देख पड़ते हैं, पर होते हैं सब प्राणशक्तिसे एकत्र ही। इसलिये प्राण-परमाणुओंके विभाज्य होनेपर भी प्राणशक्ति अविभाज्य है और उसके अविभाज्य होनेसे तथा प्राण-परमाणु भी प्राणशक्तिप्रेरित ही होनेके कारण प्राण-परमाणुओंको भी अविभाज्य कह सकते हैं। मधुमक्खियोंका छत्ता अनेकों पेशियोंसे युक्त होता है। परन्तु मधुमक्खियाँ उसे अपना एक ही घर समझती हैं और यथार्थमें वह एक ही होता भी है। प्राण-परमाणु प्राणशक्तिके कारण जैसे अविभाज्य हैं, वैसे ही मधुमक्खियोंका छत्ता मधुरसके कारण अविभाज्य है।

२३. यहाँतक प्राण-परमाणुओंकी बात हुई। अब इन प्राण-परमाणुओंसे घटित प्राणमय शरीर कैसा होता है? यह विचारें। सर आलिवर लाज कहते हैं कि प्राणमय शरीरके घटक वियत्तत्त्व (Ether) के बने होते हैं। मैडम ब्लावेट्स्कीके मतसे वियत्तत्त्व और प्राणतत्त्व एक चीज नहीं है। उनका कहना है कि प्राण-परमाणु वियत्तत्त्व (Ether) के घटकोंकी अपेक्षा सूक्ष्म हैं। डा० हेनरी लिंडाल्का यह मत है कि अखिल ब्रह्माण्डमें जो-जो शक्तियाँ अनुभूत होती हैं, उन सबका मूल स्थान प्राणशक्ति है। विद्युत्का प्रकाश या गति काँचके बल्ब अथवा कारबनके तन्तुपर अवलम्बित नहीं होती। काँचका बल्ब हटा देनेसे विद्युत् प्रकाशित न होगी पर उसकी गति बन्द नहीं होगी और विद्युद्वनिवाहक प्राण-परमाणु भी नष्ट नहीं होंगे। दूरध्वनियन्त्र (रेडिओ) की सहायतासे हम दूर देशोंके शब्द सुन लेते हैं और यह यन्त्र यदि खराब हो जाय तो हम उन शब्दोंको न सुन सकेंगे; परन्तु इससे उन विद्युत्तरङ्गोंकी गति और आक्रमण और शब्द या रूपवाहनक्षमता नहीं नष्ट होती, उसका कार्य तो होता ही रहता है।

२४. इन बातोंसे यह स्पष्ट होता है कि प्राणोंका बना हुआ प्राणमय शरीर स्थूलदृष्टिसे दृश्य न होनेपर भी अपनी सत्ता तो रखता ही है। मनुष्यकी शकलके किसी काँचके बर्त्तनमें पानी भरा जाय तो पानी उसमें सर्वत्र फैल जायगा और वह बर्त्तन भरा हुआ देख पड़ेगा। मनुष्यके स्थूलशरीरमें प्राणमय शरीर भी इसी प्रकारसे है। अन्तर इतना अवश्य है कि पानी उस काँचके बर्त्तनके बाहर बर्त्तनको भेदकर न जायगा, पर प्राणमय शरीर स्थूलशरीरके बाह्य आवरणमें अटका नहीं रहता। दिव्यदृष्टिवाले मनुष्य प्राणमय शरीरको स्थूलशरीरके अंदर-बाहर ओतप्रोत देख सकते हैं।

२५. इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्यका बाह्य शरीर जब छूट जाता है तब उसका प्राणमय शरीर स्थूलशरीरके रहते जितना प्रभावशाली था उससे अधिक प्रभावशाली हो जाता है। कारण, प्राणमय शरीर स्थूलशरीरकी अपेक्षा अधिक वेगवान् होता है और स्थूलशरीरके परमाणुओंकी अपेक्षा प्राणमय शरीरके परमाणु अधिक सूक्ष्म और शुद्ध होते हैं। प्राणमय शरीरके इन्द्रियगोलक सूक्ष्म होते हैं और सूक्ष्मतर इन्द्रियार्थसन्निकर्षमें समर्थ होते हैं। स्थूल द्रव्य जिस प्रकार स्थूल इन्द्रियोंको सत्य भासते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म द्रव्य सूक्ष्म इन्द्रियोंको सत्य प्रतीत होते हैं। प्राणमय शरीरके परमाणु संस्कारके द्वारा उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम हो सकते हैं और तब प्राणशक्तिकी गति और ज्ञानशक्ति भी उसी क्रमसे बढ़ती है।

२६. ग्रीस देशके तत्त्वदर्शी पिथागोरसने आजसे २५०० वर्ष पहले यह सिद्धान्त सामने रक्खा था कि सब सृष्ट पदार्थोंमें तीन ही तत्त्व हैं—द्रव्य, गति और संख्या। आश्चर्य यह है कि आधुनिक पाश्चात्त्य विज्ञानका सिद्धान्त इससे मेल खाता जा रहा है। पिथागोरसका 'द्रव्य' वही है जो पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंका विश्वव्यापी त्वाष्ट्र (Universal Ether) अथवा प्राच्य शास्त्रकारोंका आकाशतत्त्व है। पिथागोरसका 'गति' तत्त्व आधुनिक विज्ञानकी विद्युत् है और 'संख्या' आधुनिक विज्ञानका अणु और अणुके अंदर गतिमान् ऋणविद्युत्कण (Electrons) है। प्राणमय शरीर (Astral *body*) के सम्बन्धमें डा० विण्डार्सकी यही कल्पना है। इस विषयमें पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंका ज्ञान अभी बहुत अधूरा है। फिर भी उनका यह विश्वास है कि प्राणशरीरका ठीक पता शीघ्र ही चल जायगा और वह चलेगा रसायनशालाकी मेजपर ही।

२७. कुछ वर्ष पूर्व पेरिसमें सार्वराष्ट्रिक परलोकविद्याविशारदोंकी एक सभा हुई थी। उस समय विनोदसे यह बात कही गयी थी कि एक मक्खीके पंखके बराबर प्राणमय शरीरका वजन हो सकता है। एंड्रू जैकसनका यह कहना है कि प्राणमय शरीरका तौल एक औंस यानी ढाई तोला हो सकता है। बहुतोंका यह भी कहना है कि इसका तौल कुछ हो ही नहीं सकता। पर प्राण जब एक द्रव्य है, तब उसका वजन तो होना ही चाहिये। बहुतेरोंका यह मत है कि वियत्-शरीर (Ethereal body) और वियत् अर्थात् आकाश

एक पञ्चीकृत तत्त्व है, इसलिये प्राणमय शरीरके साथ उसका वजन जरूर हो सकता है ।

२८. हेगके डा० माल्थ और जेल्ट, इन दो व्यक्तियोंने परलोकगत जीवोंके साथ वार्त्तालाप करनेके लिये डायना-मिस्टोग्राफ नामका एक यन्त्र आविष्कृत किया और इसकी मददसे विना किसी मीडियमके परलोकगत जीवोंके सन्देश पाये । इस यन्त्रके छोरपर, एक अक्षर-लम्बक लगा रहता है, जिसके स्पर्श होनेके साथ ही एक बड़े पतले कागजपर टाइपराइटरकी तरह अक्षर उठते जाते हैं । एक बारके प्रयोगमें तो एक सम्पूर्ण भाषण ही इस तरह लिख गया । बात यह हुई कि अत्यन्त सूक्ष्म स्पर्शसे उस लम्बकपर आघात हुआ और इस आघातके होनेके लिये आघात कर सकनेयोग्य सूक्ष्म परमाणुओंका आकाश-परमाणु-संघटित प्राणमय मानव-शरीर बना हुआ है, यह बात ध्यानमें आयी । इसी प्रकारके प्रयोगोंका वर्णन मि० कारिंगटनने अपने 'अर्वाचीन मनो-वैज्ञानिक दृश्य' नामक ग्रन्थमें किया है । उन्होंने लिखा है कि हमने अपनी प्रयोगशालामें यह सिद्ध किया है कि आकाश-परमाणु-संघटित प्राणमय शरीर होता है । उन्होंने प्रयोग करके देखा है कि शरीर आकुञ्चन-प्रसरणशील है और यह आकुञ्चन-प्रसरण मनुष्यकी इच्छाशक्तिपर निर्भर है । मनुष्यकी इच्छाशक्ति इस शरीरपर काम करती है अर्थात् शरीर गुरुत्वाकर्षणक्षम है । एक शक्ति ऐसी है, जिसमें शरीरके परमाणु एक जगह इकट्ठे होते हैं । प्राणमय शरीरके अणु बहुत ही सूक्ष्म होते हैं । बाहरके वातावरणमें अणुओंकी जितनी घनता होती है, उतनी घनता प्राणमय शरीरके अणुओंमें होती है । बाहरके वातावरणका दबाव बढ़नेसे शरीरके अणुओंका भी दबाव उसी हिसाबसे बढ़ता है । ऐसे इस प्राणमय शरीरका वजन ढाई औंस यानी पाँच तोला होता है । प्राणमय शरीरके अणुओंका दृश्य साथ दिये हुए चित्रमें दिखाया गया है (चित्र नं० २ देखिये) । डा० माल्थ और जेल्टके मतानुसार तथा सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाले लोगोंकी सूक्ष्म दृष्टिके द्वारा देखे हुए दृश्यके अनुसार यह चित्र चित्रित किया गया है ।

२९. हैवेरहिलमासके डा० डकन मैकडूगलने मास नामक स्थानमें एक ऐसा प्रयोग किया कि क्षय-रोगसे मरनेवाले एक मनुष्यका, मरनेसे पहले, उन्होंने वजन कर लिया । रोगीकी चारपाई एक अति सूक्ष्म भारदर्शक काँटेपर रक्खी गयी और वजन किया गया । वजनका काँटा ठीक लगाकर रखा गया । मृत्यु होनेके साथ ही काँटा पीछे सरका । यह देखा गया कि मृत्यु होनेके साथ ही उस शरीरका ढाई औंस या पाँच तोला वजन तुरंत घट गया । डच वैज्ञानिकोंने भी प्रयोग करके इसको प्रत्यक्ष किया है ।

३०. मनुष्यके महाप्रयाणकालमें उसका वियत्-शरीर-सहित प्राणमय शरीर स्थूलशरीरसे बाहर जाता हुआ कैसा देख पड़ता है (चित्र नं० ३ देखिये) । यह स्पष्ट ही देख पड़ता है कि अन्नमय शरीर और प्राण-प्रयाणकालीन प्राणमय शरीर, दोनों बिलकुल एक-से ही होते हैं । बुद्धदेवके मतसे प्राणमय शरीर अणुपरिमाण हो सकता है; पर इस चित्रसे उनका मत ठीक नहीं था, यही कहना पड़ता है । ऑलिवर क्रामवेलको ७ वर्षके लिये राज्याधिकार देनेवाले पिशाचका (ऑकल्ट रिव्यू एप्रिल १९३६) अथवा हैम्लेटको उसके पिताका जो प्राणमय शरीर देख पड़ा और ऐसे-ही-ऐसे जो अन्य अनेक उदाहरण हैं, उनसे यही सिद्ध होता है कि स्थूल-शरीरके छूटनेपर मनुष्य स्थूलशरीरके ही आकारवाले प्राणमय शरीरमें स्थित रहता है और अन्नमय शरीरवालोंके सामने प्रकट होनेके लिये वियत्तत्त्वके परमाणु संग्रह कर वह अपनी सत्ता प्रकट कर सकता है । प्राणमय शरीर और वियत्-शरीर-को दृश्य बनानेके लिये प्राणमय शरीरके परमाणुओंका वेग अपनी मनःशक्तिसे कम किया जा सकता है और इस क्रियासे वह स्थूलशरीरधारियोंको दिखायी दे सकता है ।

३१. चीन और मिश्र देशोंमें मृत मनुष्यके स्थूल-शरीरको कुछ रासायनिक क्रियाओंके द्वारा और कई प्रकारके लेप लगाकर शरीरके ही आकारके संदूकमें सम्हाल कर रखते हैं । वह परलोकगत जीव, जिसका यह शरीर होता है, उसे देखनेके लिये लौट आया करता है । वह उसे देखना चाहता है और इसी पार्थिवबन्धनसे बँधकर कई परलोकगत जीव इस प्रकार लौट आते हैं । शरीरको सम्हालकर रखनेसे—चाहे वह किसी संदूकमें रक्खा हो या किसी कब्रमें दफन हो—उस शरीरकी आशासे परलोकगत जीव लौटा करते हैं, इसमें सन्देह नहीं । कर्णप्रयागमें स्वामी भास्करा-नन्द जब समाधि ले चुके उसके बाद उनकी समाधिका बड़े ठाठसे जब पूजन-अर्चन हो रहा था, तब स्वामीजी कर्ण-प्रयागसे प्राणमय शरीरसे कोल्हापुर लौट आये, यह तो लेखकने स्वयं देखा है ।

३२. चीन देशमें 'ममी' (रासायनिक क्रियासे सम्हालकर

रक्खे हुए मृत शरीर) को उस 'ममी' देहका परलोकगत स्वामी जीव किस प्रकार देखने आया करता है, इसका चित्र इस लेखके साथ दिया है (चित्र नं० १ देखिये ।) । चीन देशमें ममीको इस प्रकार देखनेके लिये आनेवाले दृश्य प्राणमय शरीरवाले जीवको 'का' कहते हैं ।

३३. चीन देशके 'लामा' साधु इन परलोकगत जीवोंका इस तरह पार्थिव आशासे बँधकर लौटना रोकनेके लिये तथा उनके प्रकाशमार्गसे अर्थात् देवयानमार्गसे ऊपरकी ओर जानेके लिये एक क्रिया किया करते हैं । China's Book of the Dead (चीनके मृत मनुष्योंका ग्रन्थ) नामक पुस्तकमें वह प्रक्रिया दी है । वह यही है कि महाप्रयाणके समय उस मनुष्यके कानोंके पीछेकी दोनों प्राणवाहिनी नाडियोंको (श्वास-प्रश्वास-नाडियोंको नहीं) लामा लोग इस तरह दबाकर पकड़ रखते हैं कि उसके प्रभावसे वह जीव महाप्रयाणके अन्तिम क्षणमें धूममार्गसे हटकर प्रकाशमार्गसे चला जाता है । यह लेखक कई लामाओंसे मिला, पर इस क्रियाको किये हुआ उनमें कोई भी न था ।

३४. श्रीमद्भगवद्गीताके 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति......' इत्यादि श्लोकके अर्थके विषयमें बहुत भ्रम फैला हुआ है । लोग यही समझते हैं कि महाप्रयाणके बाद मनुष्य तुरंत ही दूसरी योनिमें चला जाता है । उसे अपने कर्मके अनुसार दूसरा जन्म प्राप्त होता है और पूर्वजन्ममें जो कुछ अनुभव हुआ, उसी अनुभवको बढ़ाना उसके दूसरे जन्मका हेतु होता है । परन्तु यह बात पशुवत् इन्द्रियलोलुप जीवोंके विषयमें तो नहीं कही जा सकती । इनके जो जन्म होते हैं, वे उन्हीं पहलेके ही इन्द्रियविशिष्ट सुखोंको भोगनेके लिये होते हैं । मृत्युके पश्चात् जीव किस स्थितिमें होता है, इस विषयके अनेकानेक वर्णन पाश्चात्त्य परलोक-विद्याविशारदोंने अपने ग्रन्थोंमें किये हैं । गीताके उस श्लोकका आशय यह है कि जीवको इस जगत्में इस जगत्के लिये व्यवहारोपयोगी जैसा स्थूलशरीर प्राप्त है, वैसा ही उसी आकारका वियत्-शरीर भी है—जिसके सात कोश हैं । मनुष्य प्रयाणकालमें स्थूलशरीर और वियत्-शरीरके सात कोशोंमेंसे तीन कोश, सब मिलाकर चार शरीर यहाँ छोड़ जाता है । तथापि वियत्-शरीरके चार उपशरीर तथा प्राणमय शरीरकी सहायतासे वह जीव अन्तरालके पितृलोकमें जा रहता है । कुछ कालपश्चात् वियत्-शरीरके चार उपशरीर नष्ट हो जाते हैं, तब वह प्राणमय कोश (Astral body) में जाता है और अपने कर्मानुरूप उच्चसे उच्चतर महर्लोकादि लोकोंमें रहकर अपनी उन्नति कर सकता है ।

३५. प्राणमय शरीरमें रहते हुए मनुष्य आगे अनुभव प्राप्त करनेके लिये भूलोकमें आनेकी इच्छा करता है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अपना स्थूलशरीर यदि किसी अपघातसे नष्ट हुआ हो तो उसे किसी ऐसे दूसरे शरीरमें, जिसका शरीरी उसे अभी-अभी छोड़ गया हो, प्रवेश करना पड़ता है ।

३६. आजसे लगभग ४० वर्ष पूर्व एक ऐसी स्त्रीको देखा था जो मराठी भाषा लिख-पढ़ सकती थी । उसके पति ग्रेजुएट थे । उस स्त्रीके सोलहवें वर्षमें ऐसी घटना हुई कि उसके शरीरमें एक दूसरी ही स्त्रीके जीवका प्रवेश हुआ । यह दूसरी स्त्री संस्कृत और अंग्रेजी भाषाओंको खूब जानती थी । उस स्त्रीके शरीरमें इसका प्रवेश सन्ध्याके ६ बजेसे भोर ६ बजेतक रहा करता था । इस अवस्थामें वह अपने पतिसे अंग्रेजी और संस्कृतमें बातचीत करती और न्याय-शास्त्रके बड़े कठिन परिष्कार भी कर दिया करती थी । इस प्रकार इसमें उस 'दूसरी स्त्रीका जो प्रवेश हुआ करता था, वह कुछ विशेष अनुभवोंको प्राप्त करनेके लिये ही हुआ करता होगा।'

३७. पूनेमें स्वर्गीय गोंदवलेकर महाराजके शिष्य श्रीहरि-भक्तिपरायण भाऊसाहब केतकर रहा करते हैं । उनकी देहमें श्रीगोंदवलेकर महाराज आकर रहते और बातचीत करते हैं । सातारामें श्रीमुलेजी महाराज बड़े अच्छे सत्पुरुष हैं, उनकी देहमें भी इसी प्रकारसे महान् सिद्ध आकर बातें करते हैं । सावंतवाडीमें १२ वर्ष वयस्के एक पुरुष सीताराम महाराजके नामसे प्रसिद्ध थे । उनके शरीरमें उनकी वयस्के १६ वें वर्षतक एक संत आकर रहा करते थे । उस समय उनके मुखसे श्रीतुकाराम महाराजकी-सी ही 'अभङ्ग' वाणी निकला करती थी ।

३८. हाला और मितगोल दो बालिकाएँ थीं । दोनोंमें परस्पर बड़ा स्नेह था । हाला एक किसानकी लड़की थी और बड़ी सुन्दरी थी । मितगोल किसी कालेजके प्रिंसिपल-की लड़की थी और पिताकी देखभालमें रहकर विदुषी हो गयी थी । एक दिन सन्ध्यासमय दोनों लड़कियाँ गाने-बजाने-के किसी जलसेमें गयीं । लौटते हुए मोटर-दुर्घटना

हुई और दोनों गतप्राण हुई। हालाके शरीरमें कोई चोट नहीं थी, पर मितगोलका शरीर जख्मोंसे छिन्न-भिन्न हो गया था। आश्चर्यकी घटना यह हुई कि किसीने (किसी अदृश्य शक्तिने) मितगोलके प्राणमय शरीरको पकड़कर हालाके शरीरमें डाल दिया, हाला जी उठी। परन्तु हालाका यह केवल स्थूलशरीर था, प्राणात्मा तो मितगोलका था।

३९. दोनों लड़कियोंके बाप उन्हें देखने आये। हालाके बापने हालाको जीता पाया और उसे हाला कहकर पुकारा। उसने कहा, 'मैं हाला नहीं हूँ, मितगोल हूँ।' मितगोलके पितासे उसने कहा, 'मैं मितगोल हूँ, हाला नहीं।' उसके सामने शीशा लाया गया, शीशेमें अपना मुँह देखकर वह अकचका गयी। तब मितगोलने अपने पितासे पूछा, 'यह क्या हुआ?' उन्होंने कुछ काल विचारमें डूबकर कहा, 'यह पुनर्जन्म है।' मितगोलने पूछा, 'यह कैसा पुनर्जन्म? मैं हालाके शरीरमें कैसे चली गयी?' उन्होंने उत्तर दिया, 'यह तेरा नवशरीरग्रहण (Re-embodiment) है।' इसके बाद एक दिन कालेजके अध्यापकों और विद्यार्थियोंके सामने मितगोलने 'स्पिनोजाका तत्त्वज्ञान' इस विषयपर व्याख्यान देकर यह सिद्ध किया कि 'मैं ही मितगोल हूँ'। तब सबको यह विश्वास हुआ कि यह शरीरान्तर हुआ है। अन्नमय शरीर तो हालाका ही था, पर उसको मितगोलके प्राणमय शरीरने अधिकृत कर लिया था। किसी अन्य शक्तिने यह काम किया। श्रीमदाद्य शङ्कराचार्यने तो स्वयं ही सुधन्वाके शरीरमें प्रवेश किया था। इस नवीन सुधन्वाके अगाध ज्ञानको देखकर उसके दरबारी चकित-विस्मित हुए थे। मितगोलका परकायप्रवेश पराश्रित था और श्रीमत् आचार्यपादका स्वाश्रित। परकायप्रवेशके सम्बन्धमें आगे और लिखना है।

४०. सन् १९१४–१८ के यूरोपीय महायुद्धमें डान और बाब नामके दो आदमी लड़ाईपर गये थे। ये दोनों एक दूसरेके बड़े प्रेमी मित्र थे। लड़ाईमें इनके मारे जानेकी खबर भी छप चुकी थी। बाबके शरीरपर कोई जख्म नहीं था, पर डानका छिन्न-विच्छिन्न हो गया था। किसी अदृश्य शक्तिने डानका प्राणात्मा बाबके शरीरमें डाल दिया और डान-बाब जी उठा। डान अपने माँ-बापसे मिलने गया, पर वे उसे कैसे पहचानते!

४१. डानकी माँने कहा, 'मेरा डान साँवला था और तुम तो गोरे हो' इत्यादि। पर जब डानने जीवनकी पिछली सब बातें बतायीं और उसके माँ-बापने देखा कि इसका स्वभाव, बोलनेका ढंग और रहन-सहन तो अपने डान-जैसा ही है, तब उन्हें निश्चय हुआ कि यह डान ही है।

४२. इन बातोंसे यह मालूम होता है कि मनुष्यका पुनर्जन्म उसके वशमें ही हो, यह बात नहीं है। अध्यात्म-रामायणमें भगवदवतारोंको स्वाधीनसम्भव कहा है। संत-महात्मा भी अपनी इच्छासे जन्म लेते हैं। श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं कि 'हम वैकुण्ठके रहनेवाले हैं; भगवान्ने सत्य-भाषका कर्म करने भेज दिया, इसलिये चले आये।' इस प्रकार भगवदवतार और सत्पुरुषजन्म स्वाधीनसम्भव होते हैं।

४३. अन्य जीवोंके जन्म किस प्रकार होते हैं, वे स्वयं आते हैं, अथवा भेजे जाते हैं, उन्हें भेजनेवाली कौन-सी शक्ति या देव-देवी हैं—इसका अब किञ्चित् विचार करें।

४४. हमारे इस भूलोककी अपेक्षा सूक्ष्म और सूक्ष्मतर लोक भुवः और स्वः हैं। भुवर्लोकमें रहनेवाले जीवोंमें कामदेव, रूपदेव और अरूपदेव, ये तीन एक-से-एक ऊँची कोटिके देव हैं। कामदेव प्राणमय शरीरवाले हैं। मनोमय शरीरधारी देवों-तक इनकी गति होती है। रूपदेव मनोमय शरीरधारी होते हैं और अरूपदेव वासनामय शरीरधारी अर्थात् कारणदेहधारी होते हैं। अरूपदेव कभी-कभी मनोमय शरीर धारण करते हैं, प्राणमय शरीर सहसा नहीं धारण करते।

४५. अरूपदेवोंकी कोटिसे भी उच्च कोटिके देवोंकी और चार श्रेणियाँ हैं। ये श्रेष्ठ देव ब्रह्मालाधिष्ठित देव हैं। उपर्युक्त तीन देवकोटियोंसे विशेष सम्बन्ध न रखनेवाले पर पृथ्वी, अप्, वायु और तेज—इन तत्त्वोंपर स्वामित्व रखनेवाले चार देवराज हैं। ये इन चार तत्त्वोंके साथ पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर—इन चार दिशाओंके भी राजा हैं। पुराणोंमें इनके धृतराष्ट्र, विरूपाक्ष, विरुद्धक और वैश्रवण नाम बताये हैं। इनके अधीन गन्धर्व, कुम्भक, नाग और यक्ष हैं—जो निम्नकोटिके देवदूत हैं। इन चार महाराजाओंके वर्ण यथाक्रम शुभ्र, नील, रक्त और हैम हैं। प्रत्येक धर्मग्रन्थमें किसी-न-किसी नामसे इन चार महाराजाओंका वर्णन अवश्य हुआ है।

४६. विधाताने इन महाराजाओंको पृथ्वीपर उत्पन्न

होनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका नियन्त्रण-कार्य सौंपा है। अर्थात् पृथ्वीपर रहनेवाले मनुष्योंकी उन्नतिके सूत्र इन्हींके हाथोंमें हैं। अखिल विश्वके जो कामदेव हैं, उन्हें लिपिका कहते हैं। प्राणमय शरीरवाले जीवके कर्मानुसार भुवर्लोकमें उसका अधिवासकाल जब समाप्त होता है, तब ये लिपिकादेव उसके कर्माकर्मका हिसाब देखते और उस जीवको भावी अनुभव-क्षेत्र दिलानेके लिये दूसरे जन्मके योग्य प्राणमय शरीर निर्माण करते हैं और पृथ्वी, अप्, वायु, तेज—इन चार तत्त्वोंके अधिपति देवराज लिपिकाके उद्देश्यानुसार उस जीवका अन्नमय शरीर गढ़ते हैं। मनुष्यको इच्छा-स्वातन्त्र्य दिया गया है और तदनुरूप कर्म-स्वातन्त्र्य भी। इसलिये भूलोकमें आकर मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार सदसत् कर्म करता है, फिर उन्हीं कर्मोंके अनुसार उसका भावी जन्म निर्धारित होता है।

४७. उपर्युक्त विवरणसे यह मालूम हो जाता है कि किस शक्तिने स्तम्भ ३८ से ४१ तकमें वर्णित मितगोल और डानको दूसरे जीवके शरीरमें डाला। प्राण और प्राणमय शरीरका यहाँतक वर्णन हुआ। अब यह देखें कि अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशका उद्गमन क्या है?

४८. सिद्ध पुरुषोंके चरित्रोंसे यह पता लगता है कि कितने ही सिद्ध पुरुषोंने आपद्ग्रस्त भक्तोंके संकटनिवारणार्थ योगकी प्रक्रियासे अन्नमय शरीरसे निकलकर प्राणमय शरीरसे दूर देशोंमें जाकर उन्हें बचाया है। आज भी चीन देशके लामाओंमें यह शक्ति है और उसके अनुभवी लोगोंने यह बात लिख रक्खी है कि ये लोग प्राणायामकी सहायतासे अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशको निकाल लेनेकी क्रिया सिद्ध कर लेते हैं।

४९. मनमें अनेक प्रकारकी वृत्तियाँ उठा करती हैं, उनके अनुसार स्थूलशरीरसे प्रत्यक्ष क्रियाके होनेमें प्राणमय शरीरकी क्रियाकी रोक या तो मनःसंयमसे होती है या वायु-संयमसे। मनःसंयमसे किया जानेवाला चित्तवृत्तियोंका निरोध ही वास्तविक प्राणायाम है और यही श्रेष्ठ कोटिका प्राणायाम है। यह सबसे भले ही न सधता हो, पर इससे शरीरमें कोई बिगाड़ नहीं होता। वायु-संयमनमें शरीरकी बड़ी सम्हाल रखनी पड़ती है और गुरुके समीप रहकर ही इसका अभ्यास करना होता है। इस लेखमें सूचित प्राणायाम मनःसंयमसे ही करना चाहिये, यही इस लेखकका मत है। उससे अन्नमय शरीरसे प्राणमय शरीरको निकाल लेनेका कौशल प्राप्त होता है।

५०. हिन्दुस्तानमें पहाड़ोंके अंदर खोदकर बनी हुई कितनी ही गुफाएँ हैं। उनमें ५०० वर्ष पहलेके खुदे हुए चित्र भी हैं। परन्तु इन चित्रोंमें अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशके बाहर निकालनेका दृश्य दिखानेवाला कोई चित्र नहीं है। एरूल, जलगाँव, साँची आदि स्थानोंके समीपकी गुफाओंको लेखकने स्वयं देखा है। अस्तु। बहुत प्राचीन कालसे चीन देशके धर्मगुरु लामाओंमें योगविषयक सब प्रकारके शास्त्रोंका अभ्यास हुआ करता था और आज भी तिब्बतके लामाओंमें कोई-कोई लामा गुरु हठयोगमें बड़े निपुण होते हैं। इन लामाओंके आश्रमों और बौद्ध विहारोंमें उनके गुरुओंके चित्र होते हैं। इन चित्रोंमेंसे कुछ अमेरिकन और यूरोपियन यात्रियोंको प्राप्त हुए हैं। अमेरिकाके प्रोफेसर निकोलस रोरी लासामें २० वर्षतक रहे। वे स्वयं बौद्ध हो गये। ये अपने साथ अमेरिका जो चित्र ले गये, उनमें एक चित्र अन्नमय शरीरसे प्राणमय शरीरके बाहर निकलनेका था, यह बात उन्होंने अपनी 'हार्ट ऑव् एशिया' नामकी पुस्तकमें लिख रक्खी है।

५१. सिलवानजे-मुलडोन और हेरेवार्ड कैरिंगटन नामके दो सज्जनोंने सन् १९२९ में 'प्राणमय शरीरका उत्क्षेप' (The projection of astral body) नामकी पुस्तक लिखी। उसे लंदनके मेसर्स राइडर ऐंड को०ने प्रकाशित किया है। इस लेखमें जो चित्र दिये गये हैं, वे सब उसी पुस्तकमें प्रकाशित चित्रोंकी नकलें हैं। पुस्तकप्रकाशककी आज्ञासे ही वे इस लेखमें छापी गयी हैं। उनकी इस उदारताके लिये लेखक उनका कृतज्ञ है।

५२. स्तम्भ ५० में वर्णित चीनी लामाका चित्र स्तम्भ ५१ में वर्णित प्रकाशककी पुस्तकसे लिया गया है (चित्र नं० ४ देखिये)। लामा गुरुके इस चित्रमें शिराओंके मध्यभाग अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रसे एक जीवन-तन्तु (सिल्वर कॉर्ड) निकला है और ऊपर उसके छोरसे उन्हींका फोटो निकला हुआ देख पड़ता है। इस प्रकारसे प्राणमय शरीरका उत्क्षेप जाग्रत् अवस्थामें किया जा सकता है। पर उत्क्षेप होनेपर स्थूलशरीर तना बैठा नहीं रह सकता। चित्रमें स्थूल-शरीर जो तना बैठा दिखाया गया है, वह भूल है। तथापि प्राणशरीरके उत्क्षेपका यह अच्छा निदर्शन है।

५३. फ्रांसके मोशिये डुरावेलने भी 'प्राणमय शरीरका उत्क्षेप' इसी नामसे ऐसा ही एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें प्राणशरीरके उत्क्षेपके चित्र दिये हैं। इसी पुस्तकसे मि०

मुलडोनने अपनी पुस्तकमें उपर्युक्त चित्र लिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने किये हुए कई प्रयोग सचित्र प्रकाशित किये हैं। प्राणशरीर जब स्थूलशरीरसे बाहर निकलता है, तब जैसा देख पड़ता है उसका चित्र दिया है (चित्र क्रमाङ्क ५ देखिये)। यह चित्र मि० मुलडोनने मोशिये डुरावेलकी पुस्तकसे लिया है।

५४. स्तम्भ २८ में प्राणमय शरीरके अणुओंका चित्र है। इसके बादकी अवस्था अन्तरालमें प्राणमय शरीरका देख पड़ना है। प्राणमय शरीरकी अणुमयताका यह दृश्य इस चित्र (चित्र नं० ५ देखिये) में देख पड़ता है। पाठकोंमें जो लोग ज्ञानमार्गी हों अर्थात् पञ्चीकरणका अभ्यास करके जो कुछ आगे बढ़े हों उन्हें लिङ्ग अथवा सूक्ष्म शरीर, भोगायतन प्राणमय शरीर अथवा निर्माणकायका औपपत्तिक ज्ञान तो अवश्य होगा ही। लेखकको अबतक ऐसे सौ-दो सौ मनुष्योंसे मिलनेका अवसर हुआ है। ज्ञानमार्गकी सप्तभूमिकाओंका विवेचन भी कई बार इन ज्ञानमार्गियोंसे सुना है। परन्तु क्रियायोगके द्वारा औपपत्तिक ज्ञानको प्रत्यक्ष अनुभव करने या करा देनेवाले बहुत ही कम व्यक्ति मिले। हठयोगी और राजयोगी सिद्ध पुरुषोंके सम्बन्धमें ऐसी बातें सुनी जाती हैं कि अमुक सिद्धने एक ही समयमें दो जगह दर्शन दिये। परन्तु उनके शिष्योंमें कोई ऐसे साधक नहीं मिलते, जो इसकी प्रक्रिया जानते हों या इस शक्तिको पानेका जिन्होंने यत्न किया हो। साम्प्रदायिक शिष्योंकी मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी देख पड़ती है कि वे अपने गुरुको इतनी बड़ी पदवीको प्राप्त समझते हैं कि उनसे यह कहना कि हमें अमुक क्रिया सिखाइये, उन्हें एक बड़ा अपराध-सा मालूम होता है, छोटे मुँह बड़ी बात मालूम होती है। अस्तु। भविष्यमें ऐसे सिद्ध पुरुष होंगे, जो इन क्रियाओं-का अपने शिष्योंको अनुभव करा देंगे और उनके मृत्यु-कालीन कष्ट, भय और संशय दूर कर देंगे।

५५. इस विषयमें और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। परन्तु जो लोग इस विषयको विशेषरूपसे जानना चाहते हों, उनके लिये मि० मुलडोनद्वारा लिखित 'प्राणमय शरीरका उद्गमन' ग्रन्थका निर्देश ही यहाँ कर दिया जाता है। (Mr. Muldone's Projection of Astral Body. Publishers: Messrs. Rider and Co., Paternaster Row, London E. C.) इस ग्रन्थमें दिये हुए प्राणशरीरोद्गमनके प्रयोग गुरुसन्निधिके बिना भी किये जा सकते हैं। इसके लिये कुछ आत्मसंयम आवश्यक होता है, प्रयोग करनेमें समय भी बहुत लगाना पड़ता है और इन प्रयोगोंको करना ही अपना खास उद्योग बना लेना पड़ता है। आजीविकाके निमित्त जिनके पीछे बहुत-सी उपाधियाँ लगी हुई हैं, वे इन प्रयोगोंको नहीं कर सकते। कम-से-कम दो महीने लगातार किसी एकान्त स्थानमें रहना होगा, आहार-विहार परिमित रखना होगा। ऐसा करनेसे मि० मुलडोनको जो अनुभव प्राप्त हुए, वे चाहे जिस अभ्यासीके लिये कर-तलामलकवत् हो जायँगे। इस लेखके लेखकने ये तथा ऐसे ही अन्य प्रयोग करके देख लिये हैं।

५६. प्राच्य पद्धतिसे प्राणमय शरीरके उद्गमनका अभ्यास गुरुके समीप ही किया जा सकता है। पातञ्जल योग-सूत्रमें इसके यौगिक उपाय बताये हैं। मन्त्र, यन्त्र और तन्त्रके ग्रन्थोंमें भी प्राणमय शरीरके उद्गमन अर्थात् परकाय-प्रवेशके साधन मिलते हैं। शौनक ऋषिका ऋग्विधान (२।२।१; ७।७।१)—सुषुमादि सप्तसूक्तों तथा निवर्त्तध्वम्' 'से शुरू होनेवाले सात सूक्तोंके पाठकी बात कहता है—

> सुषुमादिसप्तसूक्तानि जपेद्वै विष्णुमन्दिरे।
> मार्गशीर्षेऽयुतं धीमान् परकायं प्रवेशयेत्॥
> निवर्त्तध्वं जपेत् सूक्तं परकायाच्च निर्गतः।
> कार्तिक्यां त्वयुतं धीमान् कीर्तिमान् विष्णुमन्दिरे॥

शौनक ऋषिके इस प्रयोगमें मार्गशीर्ष मासमें परकाय-प्रवेश करनेपर इसके ग्यारह महीने बाद परकाय-निर्गमनका विधान है। यह उन्हींका स्वानुभूत प्रयोग हो सकता है।

५७. श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यने लिखा है कि श्रीपतञ्जलि महामुनिके 'यथाभिमतध्यानाद्वा' इस सूत्रके अनुसार ध्यान करनेसे परकायप्रवेश सिद्ध होता है। पाश्चात्त्य क्रियायोगमें भी भ्रूमध्यमें 'मैं इस शरीरके बाहर जा रहा हूँ' यह ध्यान ही करनेको कहा गया है। श्रीमत् शङ्कराचार्यने इस विद्याके साधनके लिये एक यन्त्र भी बताया है, जिसके साथ 'सौन्दर्य-लहरी' के एक श्लोकका पाठ भी करना होता है। वह श्लोक, वह यन्त्र और मन्त्र प्रक्रियासहित नीचे दिया जाता है।

५८. सौन्दर्यलहरी, श्लोक ८७—

> हिमानीहन्तव्यं हिमगिरिनिवासैकचतुरौ
> निशायां निद्राणं निशि चरमभागे च विशदौ।
> वरं लक्ष्मीपात्रं श्रियमतिसृजन्तौ समयिनां
> सरोजं त्वत्पादौ जननि जयतश्चित्रमिह किम्॥*

* इस श्लोककी क्रम-संख्या और पाठ वाणीविलास प्रेससे प्रकाशित पुस्तकके अनुसार है।

यह यन्त्र सोनेके पत्रेपर लिखे और इक्कीस दिनतक इसे मधु, चित्रान्न और पायसका भोग लगावे। उपर्युक्त श्लोक नित्य सहस्र बार जपे और इस यन्त्रको सहस्र बार हलदी बिछे हुए किसी पीढ़ेपर लिखे। इससे परकायप्रवेशकी विद्या सिद्ध होती है।

५९. हठयोगकी खेचरी-मुद्रासे भी परकायप्रवेशका सिद्ध होना हठयोगके ग्रन्थोंमें लिखा है। परन्तु शारीरिक उपायोंसे खेचरी सिद्ध करनेके पूर्व खेचरीकी सिद्धिके लिये योगकुण्डल्युपनिषद्ने नीचे लिखा मन्त्र और यन्त्र बताया है—

मन्त्र—ॐ ह्रीं गं सं मं फं लं अं सू ख् क्रों ग् स्मू लों।

यन्त्र—
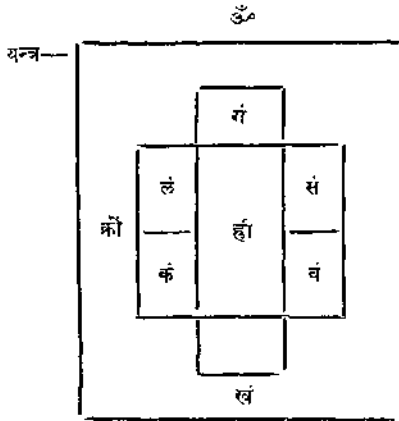
मेलनमन्त्र

सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत्।
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम्॥
तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेन परं मुने।
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमी॥
इन्दोश्च बहुभिन्ने च कूटोऽयं परिकीर्तितः।
....
तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते॥

—योगकुण्डल्युपनिषद्

६०. मेलनमन्त्रराजमुद्धरति—खेचरेति। खवाच्यतया चरतीति खेचरः हकारः, आवकृथमिति धारणाशक्तिरीकारः, रेति वह्निः, अम्बुमण्डलमिति बिन्दुः। एतत्सर्वं मिलित्वा भूषितं ह्रीमिति खेचरीबीजमाख्यातम्। तेनैव लम्बिकायोगः प्रसिद्ध्यति। शिष्टबीजषट्कमप्यम्बुमण्डलभूषितमिति ज्ञेयम्। सोमांशः सकारः चन्द्रबीजं तत्प्रतिलोमेन नवकं वर्णमुद्धरेत् भमिति। तस्माद् भकारादनुलोमेन त्र्यंशकं चन्द्रबीजमाख्यातं समिति। तस्मात् सकाराद् विलोमेन अपरमष्टमं वर्णमुद्धरेद् ममिति। तथा मकाराद् विलोमेन अपरं पञ्चवर्णं पमिति विद्धि। पुनरिन्दोश्च बीजं समित्युद्धरेत्। बहुभिः ककारषकारबिन्दुभिः युक्तोऽयं कूटः क्षमिति। आहृत्य बीजानि सप्त—ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं इति।

६१. प्राच्य साधनक्रममें तत्त्वसाधन आवश्यक होता है। प्रातःकाल प्रथमतः आकाशतत्त्वके उदय होनेपर अभ्यासके द्वारा आकाशतत्त्वको बारह घंटे साधे रहना पड़ता है। इसका जब स्थायी भाव होता है, तब खेचरी मुद्रा सिद्ध करके बैठ सकते हैं। इस मुद्राका साधन करते हुए स्तम्भ ५७ और ५८में दिये हुए मन्त्र और यन्त्रको साधना होता है। मन्त्रके विना भी खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। परन्तु किसी भी कार्यके सिद्ध होनेमें देवता-प्रसाद और देवता-साहाय्य आवश्यक होता है। खेचरी सिद्ध करनेके पूर्व उसी प्रकार देवता-प्रसाद प्राप्त होनेसे वह खेचरी फलवती और सुखदायिनी होती है। खेचरीका साधन बंबईके स्वामी कुवलयानन्द अथवा स्वामी अभयानन्द या वीरभद्र, पोस्ट ऋषिकेशके स्वामी सत्यानन्दके पास जानेसे सुगम हो सकता है। स्तम्भ ५९में कुण्डल्युपनिषद्का मन्त्रोद्धार—ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं—दिया जा चुका है। स्तम्भ ५५में लिखे अनुसार पाश्चात्त्य प्रक्रियासे प्राणमय शरीर अन्नमय शरीरके बाहर निकाल लिया जा सकता है और प्राणमय शरीरमें जागनेपर अन्नमय शरीरसे बाहर निकल आनेकी प्रतीति भी होती है।

६२. इस प्रकार अन्नमय शरीरसे प्राणमय शरीरको बाहर लिया ला सकते हैं और जब यह प्रतीति होती है कि अन्नमय शरीरको छोड़नेपर हम हर तरहसे जागते हुए रहते हैं, तब एक प्रकारका विलक्षण आनन्द होता है। यह आनन्द अपने अमरत्वकी प्रतीतिका है। यह अमरत्व केवल औपपत्तिक नहीं, प्रत्यक्ष प्रयोगसिद्ध है। निरे औपपत्तिक ज्ञानसे जो समाधान हो सकता है, उससे हजार गुना अधिक समाधान प्रयोगसिद्धिसे होता है—यह तो हमलोग हर बातमें नित्य ही अनुभव करते हैं। इस अमृतत्वको लाभ करना ही मृत्युको

जय करना है। मृत्युकी क्रिया केवल अन्नमय शरीरके साथ प्राणमय शरीरको बाँधनेवाले जीवनतन्तुका टूटकर अलग होना ही है। परन्तु अन्नमय शरीरमें रहते हुए ही जब हम इस जीवन-तन्तु और प्राणमय शरीरको अनुभव कर लेते हैं, तब उस जीवन-तन्तुके अन्नमय शरीरको छोड़ देनेपर भी साधकको मृत्युका भय नहीं होता।

६३. स्तम्भ २८के साथ जो चित्र दिया है, उसके अनुसार उस अणुघटित प्राणमय शरीरको अपने स्थूलशरीरके समीप लाकर उसका आकार अपने स्थूलशरीरमें देख पड़े—यह उसके बादकी अवस्था है। उस चित्रका दर्शन धूमकेतुका-सा है। हमारा जो स्वप्नशरीर है, वही हमारा प्राणमय शरीर है। जो लोग इसके अभ्यासी हैं, वे निद्रावश होनेके पूर्व अपने मनमें इसी निश्चयको जागता हुआ रखकर तब सोते हैं। स्वप्नमें अनेक बार आकाशमें उड़नेका अनुभव होता है। इसका मतलब यही है कि प्राणमय शरीर उस समय स्थूल-शरीरके बाहर निकलकर अन्तरिक्षमें तैरता रहता है। इसके बादकी अवस्था यह है कि स्थूलशरीर निद्रावस्थामें जहाँ जैसे पड़ा है, उसे वैसा ही देखते हुए उससे ४ इंचके फासलेपर उसी स्थूलशरीरकी प्रतिमूर्ति अभ्यासीको देख पड़ती है। इस प्रकार अभ्यासीका प्राणमय शरीर स्थूलशरीरसे दूर चला जाता है। इस क्रियाका छायाचित्र साथ दिये हुए चित्रक्रमाङ्क ६में देखिये।

६४. इस चित्रमें (चित्र नं० ६ देखिये) चारपाईपर पड़े हुए स्थूलशरीर और स्थूलशरीरके बाहर दीखनेवाले प्राणमय शरीर अथवा स्वप्नशरीरके आकारके बीच एक तन्तु जुड़ा हुआ देख पड़ता है। इसे ही जीवन-तन्तु (Silver cord या Astral cord) कहते हैं। इस प्रकार प्राणमय शरीर स्थूलशरीरसे १५ फीट दूर चला जाता है। चित्रमें जैसा दिखाया है वैसा ही यह तन्तु देख पड़ता है, पीछे वह सूक्ष्म होता जाता है। हमारे स्थूलशरीरमें जो प्राणनाडी है, उसीके साथ यह तन्तु जुड़ा हुआ रहता है। इस जीवन-तन्तुके घटक प्राण-परमाणु ही हुआ करते हैं। प्राणमय शरीर इस प्रकार सहस्रों मील दूर जा सकता है। श्रीमत् आद्य शङ्कराचार्यने इसी रीतिसे राजा सुधन्वाके मृत शरीरमें प्रवेश किया था और उसके पूर्व अपने स्थूलशरीरको सम्हाल रखनेके लिये अपने शिष्योंसे कह रक्खा था। राजा सुधन्वाके कुलगुरु और प्रधान सचिवको यह निश्चय हो गया था कि परकायप्रवेशकी विद्यासे राजाके शरीरमें प्रवेश करके कोई महापुरुष आये हैं। इसीलिये उन्होंने यह आज्ञा प्रचारित की कि जहाँ कहीं गिरि-कन्दराओं और गुहाओंमें जो कोई मृतवत् मानव-शरीर सुरक्षित हों, वे जला दिये जायँ। ऐसे सुरक्षित मृतवत् शरीरोंकी ढूँढ़-खोज करनेके लिये जासूस भी भेजे गये थे। हेतु यह था कि राजा सुधन्वाके शरीरमें आ बैठे हुए महापुरुषका स्थूलशरीर मिल जाय तो यह जला दिया जाय, जिससे उस स्थूलशरीरसे जीवन-तन्तु टूट जाय और उन महापुरुषको राजाके शरीरमें ही रहना पड़े। मनुष्य जब इहलोकसे प्रयाण करता है, तब उसका यह जीवन-तन्तु टूट जाता है। इसे तोड़ना कभी-कभी इस स्थूलदेहधारी जीवके हाथमें होता है और सब समय स्तम्भ ४३ में उक्त उन चार महाराजाओंके हाथमें होता है, जो जीवके नियत ऐहिक कर्मके समाप्त होते ही जीवन-तन्तुको तोड़ डालने अथवा जीवमें ही उसे तोड़ डालनेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न करते हैं। यहाँतक प्राणमय शरीरके उद्गमनका प्रकार वर्णित हुआ; अब उसकी क्रिया क्या है? उसे देखें।

६५. प्राणमय शरीरके उद्गमनकी दो क्रियाएँ हैं—एक विज्ञात उद्गमनकी और दूसरी अज्ञात उद्गमनकी। अज्ञात उद्गमन निद्राकालमें होता है। अज्ञात उद्गमन मानव-जातिकी निद्रावस्थाका एक आवश्यक कर्म है। यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि जाग्रत् अवस्थामें शरीरव्यापारके चलानेमें प्राणशक्तिका जो व्यय होता है, उसकी पूर्ति निद्राश्रित उद्गमनसे होती है।

६६. हेरवार्ड कैरिंगटन कहते हैं कि 'निद्राके विषयमें अबतक अनेकोंके अनेकों विचार प्रकट हुए हैं। कोई इसकी रासायनिक उपपत्ति बताते हैं अर्थात् यह बताते हैं कि जाग्रत् अवस्थामें शरीरके अंदर जो विषयुक्त रस उत्पन्न होते हैं, वे निद्रासे नष्ट हो जाते हैं। कुछ यह बतलाते हैं कि मनुष्यके मस्तिष्कमें होनेवाली रक्ताभिसरणकी एक विशिष्ट क्रिया है, जिससे निद्रा आती है। कोई शरीरके कुछ विशिष्ट मांसपिण्डोंकी क्रियाको इसका कारण बतलाते हैं। कोई शरीरके स्नायुओंकी शिथिलतासे निद्राका लगना मानते हैं और कोई दृढ़तापूर्वक यह प्रतिपादन करते हैं कि बाह्य विषयोंसे इन्द्रियोंको उत्तेजित करनेवाली कोई चीज जब नहीं मिलती, तब ही निद्रा आ जाती है। इन बातोंसे निद्राके कारणका कोई पता नहीं चलता। मनुष्यके स्थूलशरीरमें एक

प्राणमय शरीराभिमानी आत्मा है और स्थूलशरीरके बाहर सर्वत्र अनन्त अमित प्राणशक्ति भरी हुई है । निद्राकालमें यह प्राणमय आत्मा स्थूलशरीरके बाहर निकलकर बाहरकी प्राणशक्तिसे अपनी आवश्यकताभर प्राणशक्ति बटोरकर फिर अन्नमय शरीरमें आ जाता है, इस बातको माने बिना इस समस्याका कोई समाधान नहीं होता ।'

६७. मि० वाल्टा कहते हैं कि मानव-शरीर वाष्पयन्त्रवत् नहीं; बल्कि विद्युद्-यन्त्रके समान है । अन्नरससे शरीरके सब व्यापार होते हैं, यह कहना सही नहीं है; बल्कि निद्राकालमें प्राणमय आत्मा जो शक्ति सञ्चित कर रखता है, उसीसे शरीरके सब व्यापार होते हैं । अन्नरससे उसके जीर्ण स्नायुओंमें उत्साह लाया जा सकता है । यदि यह मानें कि अन्नरससे शरीरके व्यापार होते हैं तो निद्राकी फिर कोई आवश्यकता नहीं रहती; निद्राके बदले अन्नरस ही देनेसे निद्राका काम हो जाना चाहिये । पर ऐसा तो नहीं होता । मि० मुलडोनका यह मत है कि हमारा प्राणमय शरीर बाह्य प्राणशक्तिका सञ्चय-स्थान है । प्राणमय शरीरको बाह्य प्राणशक्ति और स्थूल मानवशरीरके मज्जातन्तुजालके बीचकी लड़ी समझिये । स्थूलशरीरके निद्राकालमें यह प्राणमय शरीर बाह्य प्राणशक्तिका आकर्षण कर संग्रह करनेके लिये स्थूलशरीरके बाहर निकला करता है अर्थात् अन्नमय शरीरसे उसका उद्गमन हुआ करता है । यही स्तम्भ ६१में कथित प्राणमय शरीरकी अज्ञात उद्गमनक्रिया है ।

६८. विज्ञात उद्गमन (Conscious projection) दो प्रकारका है । एक है प्राच्य योगशास्त्रकी क्रियासे सिद्ध होनेवाला और दूसरा पाश्चात्त्य प्रयोगसे अर्थात् स्वप्नस्थिति-नियन्त्रणसे सिद्ध होनेवाला ।

६९. 'बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः' (पातञ्जल योगसूत्र तृ० पा० सूत्र ३८) । कर्मवशात् प्राप्त होनेवाले शरीरभोगोंका भोक्ता जो जीव है, उसे उस भोगसे जो अवस्था प्राप्त होती है, उसे बन्ध कहते हैं । जब सुख-दुःख, पाप-पुण्यादिके विषयमें साधकको कोई प्रतिकूल या अनुकूल वेदना नहीं होती अर्थात् इन द्वन्द्वोंको उसकी चित्तवृत्ति पार कर जाती है या यह कहिये कि उसका बन्धन विलीन हो जाता है, तब वह साधक चित्तवहा नाडीमें प्रवेश करता है । यह चित्तवहा नाडी प्राणवहा नाडीकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होती है । इसमें प्रवेश करनेपर साधकको अपने अंदरकी तथा दूसरोंके अंदरकी चित्तवहा नाडीके प्रचारका ज्ञान होता है और वह किसी चेतन-अचेतन प्राणीके शरीरमें प्रवेश कर सकता है । इस प्रकार दूसरेके शरीरमें जब चित्तवहा नाडीसे प्रवेश करता है, तब मधुमक्खियोंकी रानीके पीछे-पीछे जैसे अन्य मधुमक्खियाँ चलती हैं वैसे ही उस साधककी चित्तवहा नाडीके पीछे-पीछे उसकी अन्य इन्द्रियाँ भी उस शरीरमें प्रवेश करती हैं । इस प्रकार वह साधक अपने प्राणमय शरीरसे दूसरेके स्थूलशरीरमें रहकर सब काम करता है । श्रीमदाचार्यप्रोक्त परकायप्रवेशयन्त्र-विधि स्तम्भ ५५ में निर्दिष्ट है ।

७०. प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पाँच वृत्तियाँ हैं । इनमें जो निद्रावृत्ति है, उसके निरोधसे परकायप्रवेशकी क्रिया सिद्ध होती है । इसलिये इसी वृत्तिका यहाँ विचार करें । पर इससे पहले स्मृतिवृत्तिका भी किञ्चित् विचार कर लेना आवश्यक है । स्मृतिवृत्तिके निरोधके लिये साधकको अपने मनोमय शरीरमें अन्तर्हित होना पड़ता है । मनोमय शरीरमें जानेके लिये चन्द्रनाडीका निरोध करना पड़ता है । चन्द्रनाडी वाम नासा-रन्ध्रसे बहनेवाले श्वासको कहते हैं, और वह ठीक है । परन्तु यहाँ चन्द्रनाडीका अभिप्राय उस चन्द्रनाडीसे नहीं है । यहाँ चन्द्रनाडी प्राण-तत्त्ववाहिनी नाडी है । ये नाडियाँ अनेक हैं और शरीरके आभ्यन्तर भागमें हैं । पाचक रसका उत्पन्न होना और बाहर निकलना, खाये हुए पदार्थोंमेंसे सार-भाग निकाल लेना, रक्ताभिसरणकी क्रियाका होना और श्वास-प्रश्वासका चलना—ये सब कार्य चन्द्रनाडियोंमें प्रवाहित होनेवाली प्राणशक्तिसे हुआ करते हैं । पहले तत्त्वाभ्यास करके, प्रातःकाल या सायंकाल चन्द्रस्वरको २ घंटे २४ मिनट स्थिर रखकर उस समय खेचरीमुद्रा सिद्ध करके उस समताको यदि स्थिर रक्खा जाय तो चन्द्रनाडीका निरोध होता है और उससे हृदय-क्रिया बंद होती और नाडियोंमें होनेवाला रक्तप्रवाह बंद हो जाता है । उस समय प्राणमय शरीर अन्नमय शरीरमेंसे बहने लगता है, अर्थात् बाहर निकलकर स्वच्छन्दगामी होता है । ऐसे समय अन्नमय शरीर स्फटिक मणि-सा उज्ज्वल देख पड़ता है । उस समय प्रकाश-साक्षात्कार होता है । दूर-शब्द-श्रवण, दूरदर्शन आदि क्रियाएँ सिद्ध होती हैं । यही स्मृतिवृत्तिका निरोध है । अन्नमय शरीरमें लौट आते समय ऐसा प्रतीत होता है कि स्थूलशरीरमें मानो सहस्रों जलधाराएँ एक साथ प्रवाहित हो रही हों और इससे स्थूल-शरीरमें एक विलक्षण महान् आनन्द अनुभूत होता है ।

७१. निद्रावृत्तिके निरोधके लिये वरणा नाडीका निरोध आवश्यक होता है। वरणा नाडी मनोमय शरीरमें नादबिन्दु-कला और आज्ञाचक्रतक फैली हुई है। चन्द्रनाडीकी अपेक्षा यह नाडी सूक्ष्म है और इसे मनोवहा नाडी कहते हैं। सुषुम्णा नाडीके कन्दमें अर्थात् सहस्रारके अंदर अतिशय आभ्यन्तरमें इस नाडीका होना अनुभूत होता है। चन्द्रनाडीके निरोधसे इसका निरोध होता है और इसके निरोधसे निद्रावृत्तिका निरोध होता है। वरणा नाडीके निरोधसे पूर्वजन्मस्मृति प्राप्त होती है। चन्द्रनाडीके निरोधसे प्राणमय शरीर अन्नमय शरीरके बाहर उससे पृथक् देख पड़ता है और वरणाके निरोधसे मनोमय शरीर प्राणमय शरीरके साथ अन्नमय शरीरके बाहर निकाल लिया जा सकता है। यही परकायप्रवेशके लिये उपयुक्त परिस्थिति है।

७२. पाश्चात्त्य लोगोंके प्राणमयशरीरोद्गमनकी क्रिया स्तम्भ ६८ में कहे अनुसार स्वप्नस्थितिनियन्त्रण है। हमलोगोंका निद्रावृत्तिनिरोध और उन लोगोंका स्वप्नस्थितिनियन्त्रण दोनों क्रियाएँ प्रायः एक ही हैं। साधकको चाहिये कि पहले स्वप्ननियन्त्रणका अभ्यास करे। स्वप्नका नियन्त्रण यही है कि आज रातको अमुक प्रकारका स्वप्न ही हम देखें, यह निश्चय करके सो जाय। इस प्रकार अभ्याससे जब स्वप्नस्थितिका नियन्त्रण हो लेगा, तब ऐसी भावना करना आरम्भ करे कि आजकी स्वप्नस्थितिमें हमारा प्राणमय शरीर अन्नमय शरीरके बाहर अमुक स्थानमें जाय। ऐसी दृढ भावना करके सोनेका अभ्यास करे। इस अभ्याससे यह अनुभव होगा कि प्राणमय शरीर सङ्कल्पके अनुसार तत्तत् स्थानमें पहुँचता है, अभ्यासी यह अनुभव दूसरोंको भी करा दे सकता है। प्रबल सङ्कल्पबलसे स्थूल पदार्थ भी स्पर्शशक्तिसे हिलाये जा सकते हैं।

यहाँतक पाश्चात्त्योंके सिद्ध प्रयोगका वर्णन हुआ। इन प्रयोगोंको किये हुए व्यक्ति पाश्चात्त्योंमें अभी ५-६ से अधिक नहीं हैं। इनमें मि० मुलडोन, मि० आलिवर फाक्स फ्रेंचमैन और मोशिये डुराविलने इस विषयमें ग्रन्थ लिखे हैं। मि० मुलडोनकी पुस्तकमेंसे अन्नमय शरीरसे प्राणमय शरीरके उद्गमनकी विधिके सम्बन्धमें कुछ सूचनाएँ नीचे देते हैं।

७३. मत्स्य-मांस और उत्तेजक पदार्थ सेवन न करे। जिस दिन प्रयोग करना हो, उस दिन उपवास करना अच्छा है। कम-से-कम प्यास बनी रहे, उसे न बुझावे। हृदयक्रियाके बंद होनेकी बीमारी जिसे हो या जो जल्द घबरा जाता हो, उसे यह प्रयोग नहीं करना चाहिये। प्रयोग दिनमें न करे, प्रयोग करते समय दीपक भी न हो। चारपाईपर पीठके बल लेट जाय। दोनों आँखोंकी पुतलियोंको भ्रूमध्यकी ओर ले जाकर स्थिर करे और यह भावना करे कि हम बिन्दुके समीप हैं। अनन्तर यह भावना करे कि हमारा प्राणमय शरीर उसी बिन्दुसे बाहर निकल रहा है। इस क्रियासे आँखें दुखेंगी। पर है यह क्रिया बहुत ही कार्यक्षम। एक दूसरी क्रिया भी है। रातको जल्दी सो जाय और लगभग २ बजे रातमें उठे। ऐसी प्रबल इच्छा करे कि प्राणमय शरीरको बाहर ले जाना है। ऐसी भावना करे कि किसी हवाई जहाजमें बैठे या लिफ्टमें खड़े-खड़े ऊपर चले जा रहे हैं। इस भावनाके साथ सो जाय अथवा ऐसी भावना करे कि किसी सरोवरमें तैरते हुए या चक्राकार गतिसे ऊपरकी ओर जा रहे हैं, आगे-पीछे अगल-बगल चलनेवाले वायुकी ओर हम देख रहे हैं अथवा शङ्खाकार किसी महान् शङ्खसे बाहर निकल रहे हैं। अथवा यह भावना करे कि अग्नि-ज्वाला सामने है और उसमें हम मिल गये हैं अथवा विमानमें बैठे ऊपर जा रहे हैं। प्रयोगवाले दिन पानी बिलकुल न पीये। जब न रहा जाय, तब नमक डालकर एक घूँट पानी पी ले, इससे प्यास बढ़ती जायगी। जलवाले घरमें लोटा या गिलास पानी भरकर रक्खे और उसपर दृष्टि गड़ाकर सो जाय और सोनेके कमरेसे वहाँतकका रास्ता ध्यानमें ले आवे। इससे नींदके लगते ही प्राणमय शरीर जलसे भरे उस गिलासके पास पहुँच जायगा। जिस दिन जहाँ इस प्रकार जानेकी इच्छा हो, उसीको दिनभर सोचता रहे और यह भी निश्चय कर ले कि वहाँ जाकर अमुक मनुष्यसे मिलना है। कुछ दिन पहलेसे ही समय और स्थान निश्चित करके उस दिन और समयकी प्रतीक्षा करता रहे। भावना दृढ होनेसे उस दिन उस समय उस स्थानमें उसके पास आ पहुँचे, यह उस व्यक्तिको अनुभव होगा।

७४. मृत्यु क्या चीज है? कोई महाबली मनुष्य, देव या दानव नहीं है, बल्कि एक अवस्थान्तरमात्र है। इस अवस्थान्तरका ज्ञान न होनेसे सब प्राणी ही पूर्वजन्मस्मृतिके कारण मृत्युको भीषण, महाभयावह मानते हैं। छोटा बच्चा नहीं जानता कि मृत्यु क्या है, पर उससे वह डरता जरूर है; क्योंकि पूर्वजन्ममें शरीर-वियोगके समय जो दुःख हुआ था, उसकी स्मृति किसी रूपमें उसमें छिपी हुई है। 'जातस्य

हि ध्रुवो मृत्युः' इस वाक्यको जोर-जोरसे घोषनेपर भी अथवा 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्' की खूब मीमांसा करनेपर भी मरणका समय तो भयप्रद ही मालूम होता है। कितने प्राणी सिंह या साँपके समीप आते ही बेहोश होकर गिर पड़ते या मर जाते हैं। श्रीयम (नियमन करनेवाले) राजा और उनके दूतोंकी एक कथा है। यमराजने दूतोंसे कहा, ४०० मनुष्य ले आओ। काम पूरा करके दूत लौटे, पर उनके साथ ८०० मनुष्य थे। इसपर यमराज बिगड़े। उन्होंने कहा—मैंने तो ४०० को लानेको कहा था, ये ८०० क्यों ले आये? दूतोंने कहा—हमलोग तो ४०० को ही ला रहे थे, पर बाकी भयसे आप ही मरे; इसलिये उन्हें भी ले आये। तात्पर्य, कभी-कभी केवल भयसे ही मनुष्य मर जाता है। इस लेखकको याद है कि एक बार एक घरमें साँप निकला, उसको देखते ही उस घरका एक मनुष्य तुरंत मर गया। भयसे शरीरकी सब क्रियाएँ बंद हो जाती हैं। मन दुर्बल होनेसे शारीरिक शक्ति भी क्षीण होती है।

७५. मनुष्य बराबर मरते जा रहे हैं, फिर भी मनुष्य अमर होनेकी इच्छा किया ही करता है और श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं कि 'अमर होओ, अमर ही तो हो, सच-झूठ स्वयं देख लो।' तुकारामके कथनका मतलब यह है कि तुम सूक्ष्मदेहसे अमर हो; मरता केवल तुम्हारा स्थूलशरीर है, तुम नहीं मरते।

७६. सच पूछिये तो ऐसे उपदेशकी आवश्यकता है कि तुम अमर हो, तुम्हारा स्थूलशरीर तुम्हारे शरीरपरके वस्त्रके समान है, प्राणमय शरीरका यह स्थूलशरीर वस्त्र ही है। प्राणमय शरीरसे मनोमय शरीरमें पहुँचनेतक तुम अमर ही हो और आनन्दमय शरीरमें पहुँचनेपर तो तुम ब्रह्मस्वरूप ही हो।

७७. इस प्रकारसे जीवात्मा और परमात्माका एकत्व-सम्पादन होता है। वेदान्तकी घोषणा भी तो यही है कि 'जीवात्मा परमात्मा एक ही हैं।' योगके क्रियाकलापसे इस ऐक्यको प्राप्त करना मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है। वेदान्त-विचारसे शब्द-ज्ञान होगा, पर स्वानुभूत ज्ञानके लिये राजयोग-का आश्रय करना ही होगा।

७८. सम्पूर्ण लेखका सारांश यही है कि अन्नमय कोशसे प्राणमय कोश बाहर निकल सकता है और उससे अन्नमय कोशकी असत्यता प्रमेय, प्रमाण और प्रत्यक्षानुभवसे सिद्ध होती है। अन्नमय कोशका छूटना अर्थात् लौकिक मृत्युका होना अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशका निकलना है, उद्गमन है, मृत्यु नहीं। इस प्रकार प्राणमय कोशकी सत्यता जँच जानेपर अन्नमय और प्राणमय कोशोंका परस्पर-विच्छेद होना मृत्यु नहीं, किन्तु अवस्थान्तर है—यह बात सामने आ जाती है। प्राणमय कोशसे मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशकी परम्परया अनुभूति होनेपर जीव-शिवके ऐक्यको जानना ही प्राणमय शक्तिके सिद्ध होनेकी फलश्रुति है। इसके केवल औपपत्तिक ज्ञानसे नहीं, बल्कि इसका प्रयोगसिद्ध ज्ञान होनेसे जीव-शिवके एकत्वके विषयमें कोई संशय नहीं रहेगा। इस लेखसे यदि इतना काम बन जाय तो लेखकको इस बातका सन्तोष होगा कि उसके इस प्रयत्नकी दिशा तो ठीक है।

इस प्रकार पाठकोंकी मनोभूमि तैयार हो और वे अमर-पदको प्राप्त करें—'शिवोऽहम्', 'ब्रह्माहम्', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इन परम सत्य वचनोंकी भूमिकातक पहुँचें, यही श्रीनाथ-माता और राजराजेश्वरी श्रीललिता भगवतीसे प्रार्थना कर यह लेख समाप्त करता हूँ।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्॥

काम

तन मन जारै काम हीं चित कर डाँवाडोल।
धरम सरम सब खोय के रहै आप हिये खोल॥
नर नारी सब चेतियो दीन्हों प्रगट दिखाय।
पर तिरिया पर पुरुष हो भोग नरक को जाय॥

—चरनदासजी

तान्त्रिक साधन

(लेखक—श्रीदेवेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय बी०ए०, काव्यतीर्थ)

इस संसारमें जितने प्रकारके साधन हैं, उनमें चार प्रकारके साधन ही श्रेष्ठ हैं। प्रथम वेदविहित साधनचतुष्टय; द्वितीय सांख्यप्रदर्शित साधनत्रय; तृतीय योगशास्त्रोक्त साधनकी रीति तथा चतुर्थ तन्त्रशास्त्रोक्त साधनप्रणाली। परन्तु कलिकालमें केवल तन्त्रशास्त्रोक्त साधन ही प्रशस्त और सिद्धिप्रद हैं। यही शास्त्रकी उक्ति है। महानिर्वाण-तन्त्रमें कहा गया है—

> तपःस्वाध्यायहीनानां नृणामल्पायुषामपि।
> क्लेशप्रयासाशक्तानां कुतो देहपरिश्रमः॥
> गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा आगमोक्ताः कलौ शिवे।
> नान्यमार्गैः क्रियासिद्धिः कदापि गृहमेधिनाम्॥

कलिकालमें मनुष्य तपसे हीन, वेदपाठसे रहित और अल्पायु होंगे; वे दुर्बलताके कारण उस प्रकारके क्लेश और परिश्रमके सहनेमें समर्थ न होंगे। अतएव उनसे दैहिक परिश्रम किस प्रकार सम्भव हो सकता है? कलिकालमें गृहस्थलोग केवल आगमोक्त विधानोंके अनुसार ही कर्मानुष्ठान करेंगे। दूसरे प्रकारकी विधियोंसे अर्थात् वैदिक, पौराणिक और स्मार्त्तसम्मत विधियोंका अवलम्बन करके क्रियानुष्ठान करनेसे कदापि सिद्धिलाभ करनेमें समर्थ न होंगे।

(१) षट्चक्रभेद

तान्त्रिक साधन दो प्रकारका है—बहिर्याग और अन्तर्याग। बहिर्यागमें गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, तुलसी, बिल्वपत्र और नैवेद्यादिके द्वारा पूजा की जाती है। अन्तर्यागमें इन सब बाह्य वस्तुओंकी आवश्यकता नहीं होती। मानसोपचारके उपकरण स्वतन्त्र होते हैं, इसमें पञ्चभूतोंके द्वारा उपचार-कल्पना करनी पड़ती है। यथा—

> पृथिव्यात्मकगन्धः स्यादाकाशात्मकपुष्पकम्।
> धूपो वाय्वात्मकः प्रोक्तो दीपो वह्न्यात्मकः परः॥
> रसात्मकं च नैवेद्यं पूजा पञ्चोपचारिका।

पृथ्वीतत्त्वको गन्ध, आकाशतत्त्वको पुष्प, वायुतत्त्वको धूप, तेजस्तत्त्वको दीप, रसात्मक जलतत्त्वको नैवेद्यके रूपमें कल्पना करके इस पञ्चोपचारद्वारा पूजा करनी पड़ती है। इसीका नाम अन्तर्याग है। षट्चक्रोंका भेद ही इस अन्तर्यागका प्रधान अङ्ग है।

षट्चक्रोंका अभ्यास हुए विना आत्मज्ञान नहीं होता; क्योंकि किसी वस्तुके प्रत्यक्ष हुए विना मनका सन्देह नहीं छूटता, अतएव वास्तविक ज्ञान नहीं होता। दार्शनिक विचारोंके द्वारा केवल मौखिक ज्ञान होता है, यथार्थ ज्ञान नहीं होता। इसके प्रत्यक्ष होनेका उपाय है षट्चक्र-साधन।

षट्चक्र क्या हैं?

> इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत्खलु।
> षट्स्थानेषु च षट्शक्तिं षट्पद्मं योगिनो विदुः॥

इडा और पिङ्गलानामक दो नाडियोंके मध्यमें जो सुषुम्णानामक नाडी है, उसकी छः ग्रन्थियोंमें पद्माकारके छः चक्र संलग्न हैं। गुह्यस्थानमें, लिङ्गमूलमें, नाभिदेशमें, हृदयमें, कण्ठमें और दोनों भ्रूके बीचमें—इन छः स्थानोंमें छः चक्र विद्यमान हैं। ये छः चक्र सुषुम्णा-नालकी छः ग्रन्थियोंके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इन छः ग्रन्थियोंका भेद करके जीवात्माका परमात्माके साथ संयोग करना पड़ता है। इसीको प्रकृत योग कहते हैं। यथा—

> न योगो नभसः पृष्ठे न भूमौ न रसातले।
> ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥

(देवीभागवत)

'योगविशारदलोग जीवात्माके साथ परमात्माकी एकता साधन करनेको ही योगके नामसे निर्देश करते हैं।' और योगकी क्रिया-सिद्धिके अंशका नाम साधन है।

अब किस स्थानमें कौन-सा चक्र है? इसे क्रमशः स्पष्ट किया जाता है—

गुह्यस्थलमें मूलाधारचक्र चतुर्दलयुक्त है, उसके ऊपर लिङ्गमूलमें स्वाधिष्ठानचक्र षड्दलयुक्त है, नाभिमण्डलमें मणिपूरचक्र दशदलयुक्त है, हृदयमें अनाहतचक्र द्वादशदलयुक्त है, कण्ठदेशमें विशुद्धचक्र षोडशदलयुक्त है और भ्रूमध्यमें आज्ञाचक्र द्विदलयुक्त है। ये षट्चक्र सुषुम्णा-नाडीमें ग्रथित हैं।

मानव-शरीरमें तीन लाख पचास हजार नाडियाँ हैं।

इन नाडियोंमें चौदह नाडियाँ प्रधान हैं—सुषुम्णा, इडा, पिङ्गला, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, कुहू, सरस्वती, पूषा, शङ्खिनी, पयस्विनी, वारुणी, अलम्बुषा, विश्वोदरी और यशस्विनी। इनमें भी इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा—ये तीन नाडियाँ प्रधान हैं। पुनः इन तीनोंमें सुषुम्णा नाडी सर्वप्रधान है और योगसाधनमें उपयोगिनी है। अन्यान्य समस्त नाडियाँ इसी सुषुम्णा नाडीके आश्रयसे रहती हैं। इस सुषुम्णा नाडीके मध्यगत चित्रा नाडीके मध्य सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर ब्रह्मरन्ध्र है। यह ब्रह्मरन्ध्र ही दिव्यमार्ग है, यह अमृतदायक और आनन्दकारक है। कुलकुण्डलिनीशक्ति इसी ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा मूलाधारसे सहस्रारमें गमन करती है और परम शिवमें मिल जाती है, इसी कारण इस ब्रह्मरन्ध्रको दिव्यमार्ग कहा जाता है।

इडा नाडी वामभागमें स्थित होकर सुषुम्णा नाडीको प्रत्येक चक्रमें घेरती हुई दक्षिणनासापुटसे और पिङ्गला नाडी दक्षिण भागमें स्थित होकर सुषुम्णा नाडीको प्रत्येक चक्रमें परिवेष्टित करती हुई वामनासापुटसे आज्ञाचक्रमें मिलती है। इडा और पिङ्गलाके बीच-बीचमें सुषुम्णा नाडीके छः स्थानोंमें छः पद्म और छः शक्तियाँ निहित हैं। कुण्डलिनी देवीने अष्टधा कुण्डलित होकर सुषुम्णा नाडीके समस्त अंशको घेर रक्खा है तथा अपने मुखमें अपनी पूँछको डालकर साढ़े तीन घेरे दिये हुए स्वयम्भूलिङ्गको वेष्टन करके ब्रह्मद्वारका अवरोध कर सुषुम्णाके मार्गमें स्थित हैं। यह कुण्डलिनी सर्पका-सा आकार धारण करके अपनी प्रभासे देदीप्यमान होकर जहाँ निद्रा ले रही हैं, उसी स्थानको मूलाधारचक्र कहते हैं। यह कुण्डलिनीशक्ति ही वाग्देवी हैं अर्थात् वर्णमयी बीजमन्त्रस्वरूपा हैं। यही सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंकी मूलस्वरूपा प्रकृति देवी हैं। इस कन्दके बीचमें बन्धूकपुष्पके समान रक्तवर्ण कामबीज विराजमान है। इस स्थानमें द्विरण्ड नामक एक सिद्धलिङ्ग और डाकिनी शक्ति रहती है।

जिस समय योगी मूलाधारस्थित स्वयम्भूलिङ्गका चिन्तन करता है, उस समय उसकी समस्त पापराशि क्षणमात्रमें ध्वंस हो जाती है तथा मन-ही-मन वह जिस वस्तुकी कामना करता है, उसकी प्राप्ति हो जाती है। इस साधनाको निरन्तर करनेसे साधक उसे मुक्तिदाताके रूपमें दर्शन करता है।

मूलाधारचक्रके ऊपर लिङ्गमूलमें विद्युद्वर्ण षड्दल-विशिष्ट स्वाधिष्ठाननामक पद्म है। इस स्थानमें बालनामक सिद्धलिङ्ग और देवी राकिणी शक्ति अवस्थान करती है। जो योगी सर्वदा इस स्वाधिष्ठानचक्रमें ध्यान करते हैं, वे सन्देह-विरहित चित्तसे बहुतेरे अश्रुत शास्त्रोंकी व्याख्या कर सकते हैं तथा वे सर्वतोभावेन रोगरहित होकर सर्वत्र निर्भय विचरण करते हैं। इसके अतिरिक्त उनको अणिमादि गुणोंसे युक्त परम सिद्धि प्राप्त होती है।

स्वाधिष्ठानचक्रके ऊपर नाभिमूलमें मेघवर्ण मणिपूर-नामक दशदल पद्म है। इस मणिपूरपद्ममें सर्वमङ्गलदायक रुद्रनामक सिद्धलिङ्ग और परम धार्मिकी देवी लाकिनी शक्ति अवस्थान करती है। जो योगी इस चक्रमें सर्वदा ध्यान करते हैं, इहलोकमें उनकी कामनासिद्धि, दुःखनिवृत्ति और रोगशान्ति होती है। इसके द्वारा वे परदेहमें भी प्रवेश कर सकते हैं तथा अनायास ही कालको भी वञ्चित करनेमें समर्थ हो सकते हैं; इसके अतिरिक्त सुवर्णादिके बनाने, सिद्ध पुरुषोंका दर्शन करने, भूतलमें ओषधि तथा भूगर्भमें निधिके दर्शन करनेकी सामर्थ्य उनमें उत्पन्न हो जाती है।

मणिपूरचक्रके ऊपर हृदयस्थलमें अनाहतनामक एक द्वादशदल रक्तवर्ण पद्म है। इस पद्मकी कर्णिकाके बीचमें विद्युत्प्रभासे युक्त धूम्रवर्ण पवनदेव अवस्थित हैं तथा इस षट्कोण वायुमण्डलमें यं बीजके ऊपर ईशाननामक शिव काकिनी शक्तिके साथ विद्यमान हैं। कुछ लोगोंके मतसे इन्हें त्रिनयनी शक्तिके साथ बाणलिङ्ग कहा जाता है। इस बाणलिङ्गके स्मरणमात्रसे दृष्टादृष्ट दोनों वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। इस अनाहतनामक पद्ममें पिनाकी नामक सिद्धलिङ्ग और काकिनी शक्ति रहती है। इस अनाहतचक्रके ध्यानकी महिमा नहीं कही जा सकती। ब्रह्मा प्रभृति समस्त देवगण बहुत यत्नपूर्वक इसको गुप्त रखते हैं।

कण्ठमूलमें विशुद्धनामक चक्रका स्थान है। यह चक्र षोडशदलयुक्त है और धूम्रवर्ण पद्माकारमें अवस्थित है। इसकी कर्णिकाके बीचमें गोलाकार आकाशमण्डल है, इस मण्डलमें श्वेत हस्तीपर आरूढ़ आकाश हं बीजके साथ विराजित है। इसकी गोदमें अर्द्धनारीश्वर शिवमूर्त्ति है—दूसरे मतसे इसे हर-गौरी कहते हैं। इस शिवके गोदमें पीतवर्ण चतुर्भुजा शाकिनी शक्ति विराजित है। इस चक्रमें पञ्च स्थूल-भूतोंके आदिभूत महाकालका स्थान है। इस आकाशमण्डल-से ही अन्यान्य चारों स्थूल भूत क्रमशः चक्ररूपमें उत्पन्न हुए

हैं अर्थात् आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई है। इस चक्रमें छगलाण्डनामक शिवलिङ्ग और शाकिनीनामक शक्ति अधिदेवतारूपमें विराजित हैं। जो प्रतिदिन इस विशुद्धचक्रका ध्यान करते हैं, उनके लिये दूसरी साधना आवश्यक नहीं होती। यह विशुद्धनामक षोडशदल कमल ही ज्ञानरूप अमूल्य रत्नोंकी खान है। क्योंकि इसीसे रहस्यसहित चतुर्वेद स्वयं प्रकाशित होते हैं।

ललाटमण्डलमें भ्रूमध्यमें आज्ञानामक चक्रका स्थान है। इस चक्रको चन्द्रवत् श्वेतवर्ण द्विदल पद्म कहा जाता है। इस चक्रमें महाकालनामक सिद्धलिङ्ग और हाकिनी शक्ति अधिष्ठित हैं। इस स्थानमें शरत्कालीन चन्द्रके समान प्रकाशमय अक्षर बीज (प्रणव) देदीप्यमान है। यही परमहंस पुरुष है। जो लोग इसका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे किसी भी कारणसे दुःखी या शोक-तापसे अभिभूत नहीं होते।

पहले कहा गया है कि सुषुम्णा नाडीकी अन्तिम सीमा ब्रह्मरन्ध्र है तथा यह नाडी मेरुदण्डके आश्रयसे ऊपर उठी हुई है। इडा नाडी इस सुषुम्णा नाडीसे ही लौटकर (उत्तर-वाहिनी होकर) आज्ञापथकी दाहिनी ओरसे होकर वाम-नासापुटमें गमन करती है। आज्ञाचक्रमें पिङ्गला नाडी भी उसी रीतिसे बायीं ओरसे घूमकर दक्षिण नासापुटमें गयी है। इडा नाडी वरणा नदीके नामसे और पिङ्गला नाडी असी नदीके नामसे अभिहित होती है। इन दोनों नदियोंके बीच-में वाराणसी धाम और विश्वनाथ शिव शोभायमान हैं।

योगीलोग कहते हैं कि आज्ञाचक्रके ऊपर तीन पीठस्थान हैं। उन तीनों पीठोंका नाम है—बिन्दुपीठ, नादपीठ और शक्तिपीठ। ये तीनों पीठस्थान कपालदेशमें रहते हैं। शक्ति-पीठका अर्थ है ब्रह्मबीज ॐकार। ॐकारके नीचे निरालम्बपुरी तथा उसके नीचे षोडशदलयुक्त सोमचक्र है। उसके नीचे एक गुप्त षड्दल पद्म है, उसे ज्ञानचक्र कहते हैं। इसके एक-एक दलसे क्रमशः रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द और स्वप्न-ज्ञान उत्पन्न होते हैं। इसीके नीचे आज्ञाचक्रका स्थान है। आज्ञाचक्रके नीचे तालुमूलमें एक गुप्त चक्र है, इस चक्रको द्वादशदलयुक्त रक्तवर्ण पद्म कहा जाता है। इस पद्ममें पञ्चसूक्ष्मभूतोंके पञ्चीकरणद्वारा पञ्चस्थूलभूतोंका प्रादुर्भाव होता है। इस चक्रके नीचे विशुद्धचक्रका स्थान है।

अब सहस्रारकी बात सुनिये। आज्ञाचक्रके ऊपर अर्थात् शरीरके सर्वोच्च स्थान मस्तकमें सहस्रार कमल है। इसी स्थानमें विवरसमेत सुषुम्णाका मूल आरम्भ होता है एवं इसी स्थानसे सुषुम्णा नाडी अधोमुखी होकर चलती है। इसकी अन्तिम सीमा मूलाधारस्थित योनिमण्डल है।

सहस्रार या सहस्रदलकमल शुभ्रवर्ण है, तरुण सूर्यके सदृश रक्तवर्ण केशरके द्वारा रञ्जित और अधोमुखी है। उसके पचास दलोंमें अकारसे लेकर क्षकारपर्यन्त सबिन्दु पचास वर्ण हैं। इस अक्षरकर्णिकाके बीचमें गोलाकार चन्द्रमण्डल है। यह चन्द्रमण्डल छत्राकारमें एक ऊर्ध्वमुखी द्वादशदलकमलको आवृत किये है। इस कमलकी कर्णिकामें विद्युत्-सदृश अकथादि त्रिकोण यन्त्र है। उक्त यन्त्रके चारों ओर सुधासागर होनेके कारण यह यन्त्र मणिद्वीपके आकारका हो गया है। इस द्वीपके मध्यस्थलमें मणिपीठ है, उसके बीचमें नाद-बिन्दुके ऊपर हंसपीठका स्थान है। हंसपीठके ऊपर गुरु-पादुका है। इसी स्थानमें गुरुदेवके चरण-कमलका ध्यान करना पड़ता है। गुरुदेव ही परम शिव या परम ब्रह्म हैं। सहस्रदलकमलमें चन्द्रमण्डल है, उसकी गोदमें अमर-कला नामकी षोडशी कला है तथा उसकी गोदमें निर्वाण-कला है। इस निर्वाणकलाकी गोदमें निर्वाणशक्तिरूपा मूल-प्रकृति बिन्दु और विसर्ग शक्तिके साथ परमशिवको वेष्टन किये हुए है। इसके ध्यानसे साधक निर्वाण-मुक्तिको प्राप्त कर सकता है।

सहस्रदलस्थित परमशिव-शक्तिको वेदान्तके मतसे परम ब्रह्म और माया कहते हैं तथा पद्मको आनन्दमय कोष कहते हैं। सांख्यमतसे परमशिव-शक्तिको प्रकृति-पुरुष कहा जाता है। इसीको पौराणिक मतसे लक्ष्मी-नारायण, राधा-कृष्ण तथा तन्त्रमतसे परमशिव और परमशक्ति कहते हैं।

(२) नवचक्रसाधन

यहाँतक शिवसंहिताकारके मतसे सुषुम्णास्थित षट्चक्रोंका वर्णन संक्षेपमें किया गया। अब अन्यान्य तन्त्रोंमें कथित नवचक्रोंका वर्णन किया जाता है। यथा—

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे यो न जानाति स योगी नामधारकः॥

'शरीरमें नवचक्र, षोडशाधार, त्रिलक्ष्य और पञ्च प्रकारके व्योमको जो व्यक्ति नहीं जानता वह व्यक्ति केवल नामधारी योगी ही है।'

नवचक्र ये हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, तालु, ब्रह्मरन्ध्र और सहस्रार।

षोडशकलाधार इस प्रकार हैं—अङ्गुष्ठ, पादमूल, गुह्यदेश, लिङ्गमूल, जठर, नाभि, हृदय, कण्ठ, जिह्वाग्र, तालु, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, नासापुट, भ्रूमध्य और नेत्र। त्रिलक्ष्य ये हैं—स्वयम्भूलिङ्ग, बाणलिङ्ग और ज्योतिर्लिङ्ग। पञ्चव्योम ये हैं—आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश।

प्रथम चक्रसाधन

पहला ब्रह्मचक्र अर्थात् आधारचक्र भगाकृति है। इसमें तीन आवर्त्त हैं। यह स्थान अपानवायुका मूलदेश है और समस्त नाड़ियोंका उत्पत्तिस्थान है, इसी कारण इसका नाम कन्दमूल है। कन्दमूलके ऊपर अग्निशिखाके समान तेजरूपी कामबीज 'क्लीं' है—इस स्थानमें स्वयम्भूलिङ्ग हैं। इन स्वयम्भूलिङ्गको तेजोरूपा कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन बार गोलाकार वेष्टन करके अधिष्ठित है। इस ज्योतिर्मयी कुण्डलिनी शक्तिको जीवरूपमें ध्यान करके उसमें चित्तको लय करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

द्वितीय चक्रसाधन

स्वाधिष्ठाननामक द्वितीय चक्र है। यह प्रवालाङ्कुरके समान और पश्चिमाभिमुखी है। इसमें उड्डीयान पीठके ऊपर कुण्डलिनी शक्तिका ध्यान करनेसे जगत्‌को आकर्षण करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है।

तृतीय चक्रसाधन

तृतीय मणिपूरनामक नाभिचक्र है। उसमें पञ्च आवर्त्त-से विशिष्ट विद्युद्वर्णी है। चित्स्वरूपा मध्यशक्ति भुजगावस्थामें रहती है। उसका ध्यान करनेसे योगी निश्चयपूर्वक सर्व-सिद्धियोंका पात्र हो जाता है।

चतुर्थ चक्रसाधन

चतुर्थ अनाहतचक्र हृदयदेशमें अधोमुख अवस्थित है। उसके बीचमें ज्योतिःस्वरूप हंसका यत्नपूर्वक ध्यान करके उसमें चित्तलय करना चाहिये। इस ध्यानसे समस्त जगत् वशमें हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं।

पञ्चम चक्रसाधन

पञ्चम विशुद्धनामक कालचक्र कण्ठदेशमें स्थित है। उसके वामभागमें इडा, दक्षिणभागमें पिङ्गला और मध्यमें सुषुम्णा नाडी है। इस चक्रमें निर्मल ज्योतिका ध्यान करके चित्त लय करनेसे योगी सर्वसिद्धिका भाजन हो जाता है।

षष्ठ चक्रसाधन

षष्ठ ललना वा तालुका चक्र है। इस स्थानको घंटिका-स्थान और दशमद्वारमार्ग कहते हैं। इसके शून्य स्थानमें मनोलय करनेसे उस लययोगी पुरुषको निश्चय ही मुक्ति प्राप्त होती है।

सप्तम चक्रसाधन

आज्ञापुरमें भ्रूमध्यमें भ्रूचक्रनामक सप्तम चक्र है। इस स्थानको बिन्दुस्थान कहते हैं। इस स्थानमें वर्तुलाकार ज्योतिका ध्यान करनेसे मोक्षपदकी प्राप्ति हो जाती है।

अष्टम चक्रसाधन

अष्टम चक्र ब्रह्मरन्ध्रमें है। यह चक्र निर्वाण प्रदान करनेवाला है। इस चक्रमें सूचिकाके अग्रभागके समान धूम्राकार जालन्धरनामक स्थानमें ध्यान करके चित्त लय करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

नवम चक्रसाधन

नवम ब्रह्मचक्र है। यह चक्र षोडशदलमें सुशोभित है। उसमें सच्चिद्-रूपा अर्द्धशक्ति प्रतिष्ठित है। इस चक्रमें पूर्णा चिन्मयी शक्तिका ध्यान करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

इन नौ चक्रोंमें एक-एक चक्रका ध्यान करनेवाले योगीके लिये सिद्धि और मुक्ति करतलगत हो जाती है। क्योंकि वे ज्ञाननेत्रके द्वारा कोदण्डद्वयके मध्य कदम्बके समान गोला-कार ब्रह्मलोकका दर्शन करते हैं और अन्तमें ब्रह्मलोकको गमन करते हैं।

एतेषां नवचक्राणामेकैकं ध्यायतो मुनेः।
सिद्धयो मुक्तिसहिताः करस्थाः स्युर्दिने दिने॥
कोदण्डद्वयमध्यस्थं पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषा।
कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते॥

विनय

हरि ! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों ।

साधन धाम बिबुध दुरलभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हों ॥

कोटिहुँ मुख कहि जात न प्रभुके एक एक उपकार ।

तदपि नाथ ! कछु और माँगिहौं दीजै परम उदार ॥

बिषय-बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक ।

ताते सहौं बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक ॥

कृपाडोरि बनसी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो ।

एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो ॥

हैं श्रुतिबिदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरै ।

'तुलसिदास' येहि जीव मोह-रजु जेहि बाँध्यो सोइ छोरै ॥

—तुलसीदासजी

श्रीवल्लभसम्प्रदायसम्मत साधना

(स्वतन्त्र भक्तिमार्ग अथवा पुष्टिभक्ति)

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

साधनसे ही साध्यकी प्राप्ति होती है, यह सिद्धान्त नियत नहीं है। कंसके समयमें प्रायः सबको दुःख हो रहा था। सबको दुःखाभाव साध्य था। उसके लिये पृथ्वी, ब्रह्मा और देवगणने स्तुति-स्तोत्रादि साधनोंका अनुष्ठान किया; किन्तु गँवार व्रजवासियोंने कौन-सा साधन किया था? उनके सब दुःख अपने-आप दूर हो गये।

भगवत्प्राप्तिमें भक्ति ही साधन है, यह सब कोई जानते और मानते भी हैं। किन्तु व्रजनारियोंको भगवान्‌की प्राप्ति पहले हो गयी और भक्ति पीछे हो पायी। ऐसी अवस्थामें साधनसे ही साध्यकी सिद्धि होती है, यह नियत सत्य नहीं है। हाँ, कहीं-कहीं ऐसा हो सकता है।

अंग्रेजोंने आकाशगमनके लिये विमान बनाये, सैकड़ों कोसकी बातें सुननेके लिये अनेक यन्त्र बनाये, बड़े श्रम किये, अनेक साधन किये—यह ठीक है। किन्तु हम-आप, जिन्होंने उसके लिये कभी हाथ-पैर नहीं हिलाये, एक दिनमें ही रेलके द्वारा सैकड़ों कोसकी यात्रा कर आते हैं। घर बैठे दूरका गाना और बातें सुना करते हैं। यह क्या बात है? अपने साधनानुष्ठान करनेसे ही साध्यकी प्राप्ति होती है, यह सार्वत्रिक नियत नियम नहीं है। वाद-विवाद करनेके लिये यह वक्तव्य नहीं है।

इन बातोंसे यह स्पष्ट होता है कि कोई एक ऐसा मार्ग भी है जहाँ प्रसिद्ध और नियत साधनोंके अनुष्ठानके बिना भी फलकी प्राप्ति हो जाती है। स्वतन्त्र भक्तिमार्ग किंवा पुष्टिमार्ग ऐसा ही है। दोनों एक ही पदार्थ हैं। भगवान्‌के अनुग्रहको 'पुष्टि' कहते हैं—'पोषणं तदनुग्रहः'। उस अनुग्रहसे जो भक्ति—भगवत्प्रेम प्राप्त हो, वह पुष्टिभक्ति है। यह भक्ति स्वरूपसे रागमयी है, इसलिये रागात्मिका भी कही जा सकती है। कितने ही रागात्मिकाके स्थानपर रागानुगा शब्दका प्रयोग करते हैं; पर इस शब्दका अर्थ जबतक समझमें न आवे तबतक उसके विषयमें कुछ कहना साहस है। 'रागम् अनुगच्छति असौ, किंवा रागस्य अनुगा रागानुगा' दोनों तरहकी व्युत्पत्ति मूल अर्थका स्पर्श नहीं करती। रागका अर्थ प्रेम या स्नेह है, यह ठीक है; किन्तु वही भक्ति भी है। भक्ति यदि कोई दूसरा पदार्थ हो और वह रागका अनुगमन करती हो, तब उसे रागानुगा कह सकते हैं। 'रागस्य अनुगा' में भी वही अड़चन आती है। अस्तु,

राग, स्नेह या प्रेम ही भक्तिपदार्थ है—यह तो अनुभवकी बात है। नारदसूत्र, शाण्डिल्यसूत्र और नारदपाञ्चरात्र प्रभृति शास्त्रोंने भी स्नेहको ही भक्तिशब्दार्थ माना है—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' (नारदसूत्र); 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (शां० सू०)। पाञ्चरात्रमें भी कहा है—

> माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
> स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

स्नेहात्मिका, रागात्मिका या प्रेममयी भक्ति भगवान्‌के अनुग्रहसे भी प्राप्त होती है—यह निर्विवाद है। इसे ही पुष्टिभक्ति भी कहते हैं। कितनोंका तो यह कहना है कि 'भी' नहीं, भक्ति तो भगवान्‌के अनुग्रहसे ही प्राप्त होती है। जहाँ हमें भक्तिके कारण अन्य साधन दीख रहे हैं, वहाँ भी भगवदनुग्रह ही साधन है। भगवान्‌की भक्ति भगवान्‌के अनुग्रहसे मिलती है, यह निर्विवाद है। 'पुष्टि' शब्द अनुग्रहमें रूढ है। श्रीभागवतके षष्ठ स्कन्धका नाम ही अनुग्रहस्कन्ध है। वहाँ इस अनुग्रह-शब्दार्थका प्रमाण-प्रमेय, साधन और फलके द्वारा खूब विस्तार किया गया है। मैंने भी अपने 'अनुग्रहमार्ग' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थमें अनुग्रहका स्पष्ट विवेक कर दिया है।

अनुग्रह या पुष्टि भगवद्धर्म है। भगवान्‌में संक्षेपसे छः प्रधान धर्म स्वतन्त्र रहते हैं और विस्तारसे अनन्त धर्म रहते हैं। भगवान्‌के वीर्य (पराक्रम)-विशेषको अनुग्रह कहते हैं। 'भगवान्' शब्दकी व्युत्पत्तिमें ही छः धर्म स्थित हैं—

> ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
> ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

भगमस्यास्तीति भगवान्। भगवद्वीर्य—अनुग्रहरूपा पुष्टिसे जो भक्ति प्राप्त होती है, वही पुष्टिभक्ति है। 'भक्ति'

शब्दका अर्थ तो यहाँ भी जो है सो ही है। भज्-ति—'भज्' प्रकृति और 'ति' प्रत्यय। 'भज्' प्रकृतिका अर्थ सेवा और 'ति' प्रत्ययका अर्थ भाव। परिचर्या (चाकरी) सेवाका खुलासा है। अर्थात् भावसहित सेवाको भक्ति कहते हैं। किंवा भावात्मक सेवाको भी भक्ति कहते हैं। यह मार्ग ऐसा है, जहाँ साधन ही फल माना गया है। ऐकान्तिक भक्तलोग भगवत्प्रेमको ही परम फल मानते हैं। 'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।'—'मेरे भक्त मेरी प्रेमात्मक सेवाके सिवा अन्य फल नहीं ग्रहण करते', 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः'—'भगवद्भक्त रहनेमें ही अपना सब फल पूर्ण हुआ मानते हैं।' भेद इतना ही है कि भावसहित सेवा (चाकरी) साधन है और फलावस्थामें वही भक्ति या सेवा भावात्मक रह जाती है। कल्पनामयी सेवाको भावात्मिका सेवा नहीं समझना चाहिये।

कितने ही कहते हैं कि नारदपाञ्चरात्रमें माहात्म्यज्ञान भी भक्तिमें सम्मिलित है, फिर केवल स्नेहको ही भक्ति किस तरह कहते हो। ठीक है। 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु' यहाँ माहात्म्यज्ञानको भी लिया है, पर 'पूर्वः'। प्रारम्भमें माहात्म्यज्ञान रहता है, फिर सर्वदा नहीं रहता। प्रेम होनेके बाद तो केवल स्नेह ही रह जाता है। बड़प्पनको 'माहात्म्य' कहते हैं। बड़प्पनवालेमें जो स्नेह किया जाता है, वह भक्ति है। बड़प्पन भगवान्में रहता है, स्नेह भक्तमें रहता है; इसलिये प्रेम तो केवल ही रहा।

भगवान् अपने अनन्त धर्मोंमेंसे कितने ही ज्ञानादि प्रसिद्ध धर्मोंका दान जीवके लिये भी करते हैं। उनमें एक भक्ति भी है। सच्चिदानन्द भगवान्के प्रधानतम धर्म सत्, चित् और आनन्द हैं। सृष्टि-अवस्थामें कभी-कभी भगवान् किसी जीवको इनका दान भी करते हैं। भगवान्के सत्से क्रिया, चित्से ज्ञान और आनन्दसे भक्ति या प्रेम लिया गया है। ये तीनों ही सृष्टिमें फैले हुए हैं। सब जगत् यह है। इस विषयको भी हम अपने 'ब्रह्मवाद' ग्रन्थमें स्पष्ट कर चुके हैं। भक्तिमें भी सत्-चित्-आनन्द तीनों मिले हुए रहते हैं। भक्तिमें क्रियाविशेष भी है और आनन्दविशेष भी है ही। परिचर्या (चाकरी) क्रियाविशेष है और यह 'भज्' प्रकृतिका अर्थ है। माहात्म्यज्ञान चिद्विशेष है तथा प्रेम ही आनन्दकी लहर है। यह दोनों ति-प्रत्ययका अर्थ है। प्रकृति-प्रत्ययार्थ मिलाकर एक भक्ति-शब्दार्थ है। किन्तु प्रकृति-प्रत्ययार्थमें प्रत्ययार्थ ही मुख्य माना गया है। इसलिये प्रेम ही 'भक्ति' शब्दका मुख्य अर्थ है। साधनावस्थामें भले माहात्म्यज्ञान रहा आवे, पर पूर्ण स्नेह होनेपर वह नहीं रहता।

महामहोपाध्याय पण्डितजी किसी गरीबके घर गये। उस समय चाहे उस गरीबके हृदयमें उनका स्नेह रहे या न रहे, पर माहात्म्यज्ञान तो पूर्ण है। बड़ी कृपा की; आसन,कुर्सी, दण्डवत् प्रणाम, स्तुति, स्तोत्र, भेंट—ये सब माहात्म्यज्ञानके ही आडम्बर हैं। किन्तु जब घनिष्ठ परिचय होनेसे दोनोंमें पूर्ण प्रेम हो गया, तब फिर धीरे-धीरे माहात्म्यज्ञानके वे सब अंश (चोचले) दूर होते जाते हैं। धरतीपर बैठे तो क्या और कुर्सीपर बैठे तो क्या? बरफी-पेड़े हुए तो क्या और दाल-भात हुआ तो क्या? स्तुति-स्तोत्र न हुए और गाली दे दी तो क्या? केवल स्नेह ही रह गया। अतएव किसी मर्मज्ञने कहा है—

> उपचारः कर्तव्यो यावदनुत्पन्नसौहृदाः पुरुषाः।
> उत्पन्नसौहृदानामुपचारः कैतवं भवति॥

'जबतक स्नेह न हो, तबतक माहात्म्यज्ञानसम्बन्धिनी चेष्टाएँ हों तो ठीक है। पर जब पूर्ण स्नेह हो चुका, तब भी यदि उपचार किये जायँ तो वह कपट मालूम देता है।' श्रीकृष्णने जब गोवर्धनगिरिको धारण किया तो नन्दादि गोपगणोंको थोड़ी देरके लिये भगवान्का माहात्म्य समझमें आया, पर थोड़ी देरमें ही वह हट भी गया। पर्वतको यथास्थान रख देनेके बाद जब सब लोग श्रीकृष्णसे मिलने लगे तो वह माहात्म्यज्ञान न जाने कहाँ गया। केवल प्रेम-ही-प्रेम रह गया। अतएव वहाँ कहा है—

> तं प्रेमवेगान्निभृता व्रजौकसो
> यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः।
> गोप्यश्च सस्नेहमपूजयन्मुदा
> दध्यक्षताद्भिर्युयुजुः सदाशिषः॥

'गिरिराजको यथास्थान धर देनेके बाद व्रजवासी गोप-गोपियोंका प्रेमप्रवाह भगवान् श्रीकृष्णकी तरफ दौड़ा। अतएव वे सब अपने-अपने अधिकारके अनुसार भगवान्से गलेसे गला, छातीसे छाती लगाकर मिले। कितनी ही गोपियाँ लोकलज्जासे सबके देखते पुरुषोंकी तरह न मिल सकीं तो उन्होंने भगवान्के स्नेहको दूसरी तरह प्रकाशित

किया। किसीने उनपर दधि डाला, किसीने अक्षत फेंके और किसी प्रियाने भगवान्‌पर पानी ही डाल दिया। और जो भगवान्‌से उमरमें बड़ी—अथवा माता, मौसी प्रभृति सम्बन्धवृद्धा थीं, उन्होंने 'बेटा! तेरी उमर बड़ी हो' इत्यादि सुन्दर-सुन्दर आशीर्वाद दिये।' ऐसी अवस्थामें प्रेमके सिवा माहात्म्यज्ञान कहाँ रहा?

—इत्यादि कारणोंसे स्पष्ट होता है, 'भक्ति' शब्दसे तो केवल स्नेहकारी वस्तुता मालूम देती है। प्रेमके पहले माहात्म्यज्ञान भले रहे, पर प्रेम होनेके बाद माहात्म्यज्ञान नहीं रहता। उस समय तो केवल प्रेम ही रहता है। यह प्रेम फलरूप है। यह फलात्मक प्रेम भगवान्‌के अनुग्रहसे ही प्राप्त होता है, इसलिये इसे 'पुष्टिभक्ति' कहते हैं। भगवान्‌का अनुग्रह होनेमें भगवदिच्छा किंवा भगवान्‌के सिवा दूसरा कारण किंवा साधन नहीं हो सकता। भगवान्‌का अनुग्रह साधन-साध्य नहीं। सत्कर्म, योगाभ्यास, भक्तिप्रभृति किसी साधनके परतन्त्र अनुग्रह नहीं है और न वह अनित्य ही है। अतएव वह किसी साधनके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।

साधनानुष्ठानका निषेध नहीं है, पर साधनोंका कुछ देना नहीं आता, जो भगवान् अनुग्रह करें ही। अनुग्रह परतन्त्र रहते भी स्वतन्त्र है, नित्य है, कार्य नहीं। साधनानुष्ठानके अनन्तर भगवान् अनुग्रह करें ही—इसका तो यह अर्थ होता है कि भगवान् और भगवान्‌का अनुग्रह परतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं। भगवान् भक्त-परतन्त्र हैं, इस प्रसिद्धिका आशय दूसरा है। भगवान् जिसपर अनुग्रह करते हैं, उसके परतन्त्र हो जाते हैं—इसका अर्थ यह है कि वे आप अपने ही परतन्त्र हैं। मैं किसी प्रेमीको अपने घर निमन्त्रण देकर स्नेहसे उसकी सेवा करता हूँ तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि मैं उसका नौकर हूँ या परतन्त्र हूँ। मैं तो अपने स्नेहके वशमें अर्थात् अपने आपका ही परतन्त्र हूँ। भगवान् भी किसीके परतन्त्र नहीं हैं। स्नेहके या अनुग्रहके या भक्तके परतन्त्र रहते भी वे अपने ही तन्त्रमें हैं, स्वतन्त्र हैं। इसी तरह अनुग्रह भी स्वतन्त्र है। सभी भगवद्धर्म नित्य पदार्थ हैं। मर्यादामार्गमें भगवान् परतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं। मर्यादामार्गकी रचना भिन्न है और पुष्टिमार्गकी रचना भिन्न है। मर्यादामार्गमें भगवान् साधन-परतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं। इस मार्गमें भगवान्‌को अपनी बाँधी हुई मर्यादाओंकी रक्षा करना अभीष्ट है। अतएव वे साधनोंके परतन्त्र हैं। जो कोई जैसा कर्म, जैसा ज्ञान, किं या जैसी भक्ति सम्पादन करेगा उसे वैसा-वैसा नपा-तुला फल देना ही पड़ेगा।

पर पुष्टिभक्तिमें यह नहीं है। पुष्टिभक्तिमें भगवान् 'भिन्नसेतुः' हैं। भगवान्‌ने जब हमें पुष्टिभक्तिका दान कर दिया तब फिर भगवान् साधन-परतन्त्र नहीं, स्वतन्त्र हैं। हजार दण्डवत्-प्रणाम, यज्ञ-यागादि, तत्त्वज्ञान आदि साधन पासमें हों पर फल नहीं देते और कुछ भी साधन न करनेपर भी सब कुछ दे देते हैं। इतना ही नहीं, भक्त भी स्वतन्त्र हो जाता है। साधन असाधन हो जाते हैं। असाधन साधन हो जाते हैं। गालियाँ स्तुति बन जाती हैं। उपचारोंमें उपचारता ही नहीं रह जाती। अतएव कहना पड़ता है कि पुष्टिमार्गमें भगवान् स्वतन्त्र, भक्त स्वतन्त्र और भक्ति भी स्वतन्त्र है। पर उसका मूल भगवान्‌की स्वतन्त्रता है। भगवान् स्वतन्त्र हैं, इसलिये भक्त और भक्ति स्वतन्त्र हैं। बहुत-से लोग इन बातोंसे चिढ़ेंगे, पर क्या किया जाय? वस्तुका यथार्थ विवेचन तो करना ही पड़ता है।

अब यह विचार करना है कि 'स्वतन्त्र' शब्दमें 'स्व'का अर्थ क्या करना चाहिये। निषेध तो हो नहीं सकता अर्थात् स्वतन्त्रका अतन्त्र अर्थ हो नहीं सकता। क्योंकि शब्दकी ऐसी कोई सीधी मर्यादा नहीं, जिससे 'स्व' का निषेध अर्थ हो सके। दूसरी बात यह भी है कि अतन्त्र होनेसे ही वह परतन्त्र नहीं हो सकता। खाली जगहमें हर कोई बैठ सकता है। जो किसीका नौकर नहीं है, उसे हर कोई नौकर रख सकता है। आजतक न तो कोई पदार्थ अतन्त्र होकर पैदा हुआ है और न वह वैसे ठहर ही सकता है।

कितने ही कहते हैं कि आकाश-पदार्थ नित्य है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती, अतएव वह अतन्त्र, अनधीन या स्वतन्त्र है। किन्तु यह मान्यता आस्तिककी नहीं हो सकती। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि वेदवाक्योंके अनुसार सभी आस्तिक आकाशकी उत्पत्ति मान रहे हैं। आकाशको भगवत्कार्य मान लेनेपर भी आकाश अतन्त्र नहीं रह सकता, इसलिये अतन्त्र तो स्वका अर्थ नहीं।

अब स्वके तीन अर्थ बाकी रहते हैं—ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान; भक्त, भजनीय और भक्ति किंवा जीव, ईश्वर और प्रेम। इनमें ज्ञाता तो स्वयं ही परतन्त्र है, अतएव वह भक्तिमार्गको अधीन कैसे रख सकता है? जीव स्वका अर्थ

नहीं। देह, इन्द्रिय और बुद्धिके परतन्त्र पदार्थ स्वका अर्थ या स्वतन्त्रका अर्थ नहीं हो सकता। अतएव भक्ति ज्ञातृ-परतन्त्र नहीं हो सकती। यही अतिदेश भक्तिमें भी है, भक्ति भक्तपरतन्त्र भी नहीं हो सकती। अब रहा ज्ञेय-भजनीय–ईश्वर। हाँ, यह 'स्वतन्त्र' शब्दके स्वका अर्थ हो सकता है किंवा है ही। भक्तिमार्ग ईश्वर-परतन्त्र है, भगवत्परतन्त्र है। इसीको मैं स्वतन्त्र भक्तिमार्ग कहता हूँ। इस मार्गको अनुग्रहमार्ग कहो, पुष्टिमार्ग कहो या स्वतन्त्र भक्तिमार्ग कहो—सब एक ही पदार्थ हैं। यह मार्ग जीवकृतिसाध्य नहीं किन्तु भगवत्कृत दानसाध्य है। अतएव भगवत्परतन्त्र है, स्वतन्त्र है।

सर्ग-विसर्ग आदि जिस प्रकार श्रीपुरुषोत्तमकी लीलाएँ हैं, उसी तरह भक्ति, अनुग्रह या पुष्टि भी भगवान्‌की लीला ही है। भगवान् सर्ग क्यों करते हैं—यह प्रश्न जैसे नहीं हो सकता, उसी तरह भगवान् अनुग्रह क्यों करते हैं—यह प्रश्न भी नहीं हो सकता। भगवान् स्वतन्त्र हैं, उनकी क्रीडामें प्रश्न भी नहीं हो सकता। हमारी या हमारे बालकोंकी क्रीडा* में हेतु या प्रश्न हो सकता है? अतएव कहा है—

> क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः।
> स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः॥

अप्रयास, अप्रयोजन, अपनी खुशीसे कुछ-न-कुछ औंधा-सूधा करते रहना—इसको लीला या क्रीडा कहते हैं। बालकमें यह है। पालनेमें सोता हुआ बच्चा अप्रयास, अप्रयोजन, अपनी मर्ज़ीसे औंधा-सूधा कुछ भी करता ही रहता है। यह रहते भी उसमें तीन बातें हैं—उद्यम, काम (विलासेच्छा) और दूसरेके साथकी अपेक्षा। किन्तु भगवान् स्वतः पूर्ण हैं, तृप्त हैं। उद्यम बिना ही सब कुछ करते हैं और उनके लिये कोई अन्य है ही नहीं। ऐसी अवस्थामें लीला या क्रीडा क्यों करते हैं? यह प्रश्न हो सकता है और विदुरजीने मैत्रेयसे किया ही है। उसका उत्तर भी मैत्रेयजीने प्रश्नकर्ताके अधिकारानुसार दिया है। किन्तु ये प्रश्न और उत्तर दोनों मर्यादामार्ग (वैदिक मार्ग) के अनुसार हैं, पुष्टिमार्ग किंवा स्वतन्त्र भक्तिमार्गके अनुसार नहीं हैं।

* लीला नाम विलासेच्छा। कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्या बहिः कार्यं जन्यते। जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्। नापि कर्तरि प्रयासं जनयति। किन्त्वन्तःकरणे पूर्णे आनन्दे तदुल्लासेन कार्यजननसदृशी क्रिया काचिदुत्पद्यते इत्यादि। सुबोधिनी, भाग० ३ स्कन्धे।

पुष्टिमार्गमें भगवान् पूर्ण हैं, असंकुचित सर्वसामर्थ्यवान् हैं। यहाँ उद्यम भी है, काम भी है; अन्य भी है, क्रीडेच्छा भी है। पुष्टिमार्गीय भगवान् तृप्त नहीं, अतृप्त हैं; निष्काम नहीं, विलासेच्छु हैं; निष्क्रिय नहीं, सक्रिय हैं; अद्वितीय नहीं, सद्वितीय हैं; निर्धर्मक नहीं, सधर्मक हैं; निर्दोष हैं, निर्गुण हैं, निर्विकार हैं। पुष्टिमार्गीय पूर्ण पुरुषोत्तम ईश्वर श्रीकृष्ण हैं। पुरुषोत्तमके ही रूपान्तरका नामान्तर श्रीकृष्ण है। पुरुषोत्तम आन्तरस्वरूप है, यह बाह्यस्वरूप। पुरुषोत्तम मार्यादिक भी हैं, पौष्टिक भी। श्रीकृष्ण भी मार्यादिक हैं और पौष्टिक भी। लेखका विस्तार होनेसे मैं इन बातोंका विशेष खुलासा नहीं कर सकता। जो लोग ईश्वरको अपूर्ण और संकुचित-सामर्थ्य मान रहे हैं उनका ईश्वर अनीश्वर ही है, कहनेमात्रका ईश्वर है। ईष्टे असौ ईश्वरः। यहाँ असंकुचित सामर्थ्य ही वास्तविक अभीष्ट है। 'पूर्ण' शब्द भी असंकुचित है। लोकमें कोई ईश्वर, पूर्ण या पुरुषोत्तम है ही नहीं। एक पौष्टिक ईश्वर ही ईश्वर, पूर्ण और पुरुषोत्तम है। श्रीकृष्ण वास्तविक ईश्वर, पूर्ण और पुरुषोत्तम हैं। 'पुरमुषतीति पुरुषः।' पुरुष सब दोषोंको भस्म कर दे और पुरुषोत्तम न कर सके तो वह पुरुषोत्तम कैसा?

जो लोग श्रीकृष्णको ईश्वरेश्वर, पूर्ण और पुरुषोत्तम नहीं मानते, उनके प्रति मेरा यह लेख नहीं है। किन्तु मेरा यह लेख 'कल्याण'के लिये है। कल्याणके पाठक, जो कल्याणेच्छु हैं, मुझे विश्वास है कि मुझे गालियाँ देते जायँगे, पढ़ते जायँगे और स्वीकार करते जायँगे। मर्यादाके भयङ्कर पक्षपाती लोग चाहे मुझे गालियाँ दें, किन्तु सत्य बात कहनी ही पड़ती है। जितने मर्यादाके ईश्वर हुए हैं वे सब वास्तविक अपूर्ण, संकुचित (अनीश्वर) सामर्थ्यवाले हैं। पुष्टिमार्गीय ईश्वर सदोष है, निर्दोष भी है। सदोष होनेसे ही हमारे कामका है। स्वतन्त्र भक्तिमार्गीय ईश्वरमें सबसे ज़बरदस्त दोष तो विषमता है। अर्जुनको अच्छा कहते हैं, अर्जुनके लिये प्राण देते हैं। 'विजयरथकुटुम्बे' अर्जुनके रथको अपना कुटुम्ब समझते हैं। भीष्म, द्रोण, कर्ण आदिको मरवाना चाहते हैं। महाभारतमें अनेकत्र इस ईश्वरकी विषमता खोली गयी है। यदि वे केवल निर्दोष होते तो हमारी तरफ देखते ही क्यों? शास्त्र जैसे पापियोंका बहिष्कार किये रहता है, वैसे वे भी हमसे बचते रहते। ईश्वरकी विषमता ही गरीब और सदोषोंका जीवन है।

अतएव कहना पड़ता है कि स्वतन्त्र भक्तिमार्गके 'स्व'

शब्दका अर्थ पुष्टिमार्गीय ईश्वर है। यह भक्ति भगवान्‌के अधीन है। भगवान् ही साधन हैं। पुष्टिमार्गीय भक्तोंसे जो यह भगवान् कभी-कभी धर्माचरण, ब्रह्मभाव और भजन आदि कराते हैं, यह सब इनका ढोंग है। मर्यादामार्गकी रक्षा और मर्यादामार्गीय साधनोंकी रक्षा करनेके लिये यह सब ढोंग रच रक्खा है। इसके मार्ग (अनुग्रह) में कोई साधन ही नहीं है। यह आप ही साधन है। इसके धर्म और यह धर्मी दोनों एक ही पदार्थ हैं। राजाने एक चमारको अपना दोस्त बना लिया हो तो लोग कहते हैं कि राजाने चमारको दोस्त बना लिया, या यह भी कहते हैं कि राजाके अनुग्रहने उसे बड़ा ऊँचा कर दिया। दोनों एक ही हैं। हमने एक दिन जब इस ईश्वरकी चालाकी छिपकर देख पायी तो मालूम हुआ कि मर्यादामार्गमें भी साधनोंकी आड़-ही-आड़ है, वास्तवमें काम तो यही कर रहा है। सबका उद्धार करनेमें साधन तो ये स्वयं ही हैं; पर वेदकी रक्षा, ब्राह्मणोंका पालन और साधनोंकी रक्षा करनेके लिये कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि साधनोंको आगे कर रक्खा है।

> कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः कालादिबाधिका।
> अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावान्निरूपितः॥
> देवगुह्यत्वसिद्ध्यर्थं नामध्यानार्चनादिकम्।
> पुरस्कृत्य हरेर्वीर्यं नामादिषु निरूप्यते॥

अनुग्रहमार्ग वेदसिद्ध नहीं है, लोकसिद्ध है—लोकमें सर्वत्र प्रचलित है। गूढ़ भावसे उसका प्रकाश होता है। भगवान् अन्य मार्गों (वैदिक मार्गों) की रक्षा करनेके लिये अपने अनुग्रहको छिपा रखना चाहते हैं। भगवान्‌का अनुग्रह देवगणको भी मालूम नहीं हो पाता। अतएव नाम, ध्यान, अर्चन आदि मर्यादामार्गीय साधनोंकी आड़ रखते हैं। साधनानुष्ठानरहितका भी उद्धार करना है, दुष्ट और महा-दुष्टका भी उद्धार करना है; पर नाम-ध्यानादिको आगे रखकर। अपने वीर्यसे (अनुग्रहसे) उद्धार करना है; पर नामग्रहण, ध्यान, अर्चन आदिका यश गवाना है। सदोष अजामिलका उद्धार करना है, पर साँचे-झूठे नामग्रहणको आगे रखकर। भगवन्नामसे अजामिलका मोक्ष हो गया, यह कहलवाना है। नाम, ध्यान, अर्चन आदि साधनोंकी आबरू रखनी है। यह कपट यदि भगवान्‌में न होता तो हम पापियोंका उद्धार कौन करता? भगवान् सदोष भी हैं, निर्दोष भी हैं; डरते भी है, डराते भी हैं और इसीमें जीवका उद्धार अन्तर्निहित है। उनकी सभयता, निर्भयता दोनों जीवोद्धारमें साधन हैं।

'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' यह उस ईश्वरेश्वर श्रीकृष्णकी निर्भयता है। वे सबको डराते हैं।

> गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
> या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।
> वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
> सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥

युधिष्ठिरकी माता जब अपने भतीजे (श्रीकृष्ण) की माता यशोदासे मिलने नन्दग्राम गयीं तो वहाँ क्या देखती हैं कि सैकड़ों गोपस्त्रियोंकी भीड़ लगी हुई है और मध्यमें श्रीकृष्ण डरे हुए सिर झुकाये खड़े हैं, आँखोंमेंसे काजल-से गँदले अश्रु निकल रहे हैं और कभी माताको और कभी माँके हाथकी रस्सीको देख लेते हैं और फिर मुँह नीचा कर लेते हैं। कुन्तीने किसी गोपीसे पूछा कि यशोदाजी अपने बच्चे-को क्यों मारती हैं तो उसने उत्तर दिया कि अजी, बड़ा अधमी छोरा है; आज इसने दहीका माट फोड़ दिया, अब लाला पिट रहे हैं। कुन्ती भगवान्‌की स्तुति करते समय कह रही हैं कि नाथ! उस समय तो मुझे वह आपका डरना, रोना और आपकी वह दशा ठीक और सत्य मालूम होती थी; पर '*इदानीं सा मां विमोहयति*'—आज वह मुझे भुलावेमें डाल रही है। जिससे काल भी डरता है, क्या वह माँसे डरे? डरना सत्य है या निर्भयता और डराना सत्य है, कुछ समझमें नहीं आता।

किसी लँगोटियेने कहा है—

> गोपीक्षीरघटीविलुण्ठनविधिव्यापारवार्ताविदोः
> पित्रोस्ताडनशङ्कया शिशुवपुर्देवः प्रकाश्य ज्वरम्।
> रोमाञ्चं रचयन् दृशौ मुकुलयन् प्रत्यङ्गमुत्कम्पयन्
> सीत्कुर्वन् तमसि प्रसर्पति गृहे सायं समागच्छति॥

श्रीदामा गोपबालकने श्रीनन्द-यशोदासे जाकर कहा कि आज तो तुम्हारे श्रीकृष्णने हठीला (गोपी) की दूधकी मटकी भर रास्ते लूट ली। यह सुनकर दोनों माँ-बाप श्रीकृष्णपर बड़े गुस्सा हो रहे थे। यह बात श्रीकृष्णने जान ली। अब तो डरके मारे घरमें भोजनतक करने न आये। पर कहाँतक? आखिर अँधेरा हुआ, बाहर डर लगने लगा।

बालक ही तो ठहरे। रातको कहीं घर आये, पर ज्वरका प्रकाश करते। सारे शरीरमें रोमाञ्च हो आया है, अङ्ग-अङ्ग काँप रहा है। कभी आँखोंको मूँदते हैं, कभी शीतके आवेगसे सीत्कार करते हैं। यह अनुग्रहमार्ग है, यही भगवन्मार्ग है और यही स्वतन्त्र भक्तिमार्ग है।

कितने ही कहते हैं कि हम तो गीताको और गीताके श्रीकृष्णको मानते हैं। मानो भाई!! हमारी दृष्टिमें तो गीता और भागवत दोनोंके श्रीकृष्ण एक हैं।

सर्वानेव गुणान् विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम्॥

'जो विचक्षणलोग श्रीकृष्णके सभी गुणोंका समान भावसे वर्णन, श्रवण और स्मरण करते हैं वे अमृतके समुद्र कहे गये हैं और उनके वचनामृतका पान करना बहुत महँगा है।' तथापि यदि गीतापर ही किसीका प्रेम हो तो यहाँ भी यही कहा है कि जीवोद्धार करनेमें ईश्वरेश्वर पुष्टिमार्गस्थित पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही सब साधनोंके मूल साधन हैं। हम पहले कह चुके हैं कि ईश्वर मर्यादास्थित पुरुषोत्तम भी हैं और पुष्टिस्थित भी। मर्यादामार्ग भी है और पुष्टिमार्ग भी है। साधन भी है, अनुग्रह भी है। भागवतमें दोनों हैं, श्रीगीतामें भी दोनों हैं। प्रत्युत गीताका उपसंहार पुष्टिमार्गपर ही है। गीतामें जहाँ यह है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
... ...

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
... ...

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

—वहीं यह भी है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
... ... ।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
.... मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
... ... ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

इस तरह शास्त्र और अनुभवके द्वारा यह स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्र भक्तिमार्गमें एक श्रीकृष्ण ही शरण हैं। विशेष तो क्या, मेरा सन्देह तो यह भी है कि मर्यादामार्गके सर्वसाधनोंके भीतर भी उन परम दयालु भगवान्‌की कृपा छिपी हुई है। अन्यथा शास्त्रकार ऐसा क्यों कहते?—

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥

'जिसके स्वरूप और नामका स्मरण कर लेनेमात्रसे तप, यज्ञ किंवा अन्य क्रिया, ज्ञान, भक्ति आदिकी न्यूनता (कमी) सम्पूर्ण हो जाती है उन भगवान् श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ।'

इसलिये—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

—इतना कहकर मैं अपने वक्तव्यको सम्पूर्ण करता हूँ।

शोकादि कबतक रहते हैं ?

श्रीब्रह्माजी भगवान्से कहते हैं—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥
(श्रीमद्भा० ३।९।६)

हे प्रभो! तभीतक धन, घर और मित्रोंके कारण होनेवाले भय, शोक, कामना, तिरस्कार और लोभ रहते हैं, तभीतक समस्त दुःखोंका मूल 'यह मेरा है,' इस प्रकारकी झूठी धारणा भी रहती है, जबतक जीव तुम्हारे भयरहित चरणकमलोंकी शरण नहीं ग्रहण करता।

श्रीचैतन्य और रागानुगा भक्ति

(लेखक—प्रभुपाद श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी, एम्० ए०, विद्याभूषण)

ब्रजेर निर्मल राग शुनि भक्तगण।
रागमार्गे भजे येन छाड़ि धर्म कर्म॥

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु चिरकालसे अनर्पित जिस व्रजप्रेमका दान करनेके लिये अवतीर्ण हुए थे, उस प्रेमका तात्पर्य रागमार्गीय भजनपद्धतिसे ही है। महाप्रभुने श्रीराय रामानन्दके साथ इसी भक्तिका माधुर्य आस्वादन किया था। उन्होंने स्वयं श्रीरूप, श्रीसनातन और श्रीरघुनाथदास गोस्वामीको इस साधनाका उपदेश दिया था। स्वरूप-दामोदर आदि अन्तरङ्ग भक्तोंके साथ महाप्रभुने इसी मधुर रसका आस्वादन करते हुए गंभीराकी नन्ही-सी कोठरीमें लगातार बारह वर्षका लंबा समय बिताकर जीवोंको व्रजमाधुरीका परिचय कराया था। महाप्रभुके द्वारा प्रवर्तित *गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदायमें आज भी इस रागमार्गीय* भक्ति-साधनाके लिये एक विशिष्ट स्थान सुरक्षित है।

श्रीरूपगोस्वामिपादने भक्तिरसामृतसिन्धुमें इस रागभक्तिका लक्षण बतलाया है—

इष्टे स्वारसिको रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोच्यते॥

रागका स्वरूपलक्षण है—इष्ट विषयमें गाढ़ तृष्णा और तटस्थलक्षण है—इष्टमें परम आविष्टता। इस प्रकारकी रागमयी भक्तिका नाम ही रागात्मिका भक्ति है। कोई-कोई भाग्यवान् पुरुष इस रागात्मिका भक्तिकी बात सुनकर इसके प्रति लुब्ध होते हैं। रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शादि प्राकृत विषयोंको प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छा विषयी पुरुषोंमें स्वाभाविक ही देखनेमें आती है। इन्द्रियाँ सहज ही भोगलोलुप होकर विषयोंके प्रति खिंची जाती हैं। रूपादि विषयोंका ग्रहण करनेके लिये चक्षु आदि इन्द्रियोंका जो यह प्रबल इच्छामय प्रेम है, इसीको राग कहते हैं। यह राग वैषयिक है। किसी भाग्यवान्‌के हृदयमें जब भगवत्-सम्बन्धसे ऐसा प्रेम प्रकट होता है, तब वही यथार्थ राग कहलाता है। भक्तिसन्दर्भमें श्रीजीवगोस्वामीजीने कहा है—

'तत्र विषयिणः स्वाभाविको विषयसंसर्गेच्छामयः प्रेमा रागः, यथा चक्षुरादीनां सौन्दर्यादौ। तादृश एवात्र भक्तस्य श्रीभगवत्यपि राग इत्युच्यते।'

श्रीकृष्णदास कविराज महोदयने श्रीचैतन्यचरितामृतमें लिखा है—

इष्टे गाढ़ तृष्णा रागस्वरूपलक्षण।
इष्टे आविष्टता तटस्थलक्षणकथन॥
रागमयी भक्तिर हय रागात्मिका नाम।
ताहा शुनि लुब्ध हय कोन भाग्यवान॥

रागात्मिका भक्ति कामरूपा और सम्बन्धरूपा भेदसे दो प्रकारकी है। नित्यसिद्ध भक्त ही इस द्विविध भक्तिके आश्रय हैं। वैकुण्ठ, अयोध्या, द्वारका आदि भगवद्धामोंमें भी रागात्मिका भक्ति है; परन्तु व्रजवासी भक्तोंमें तो यही भक्ति मुख्यरूपसे है। 'रागात्मिका भक्ति मुख्या व्रजवासी जने' (चै० च०)। व्रजवासियोंका जो श्रीकृष्णविषयक 'राग' है, उसीकी अनुगामिनी भक्तिको 'रागानुगा भक्ति' कहते हैं। यह रागानुगा भक्ति महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवकी विशेष देन है।

विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोदिता॥
(श्रीरूप)

जिनके हृदयमें इस रागानुगाका उदय होता है, उनके लिये किसी शास्त्रका, युक्तिका या किसी विधि-निषेधका बन्धन नहीं रहता। एक स्वाभाविक प्रेमकी प्रेरणासे ही उनकी जीवन-गति चलती है। व्रजवासियोंके प्रेमकी कथा साधकको इस प्रकार लुभा लेती है कि फिर साधक अपनी योग्यता-अयोग्यताका विचार नहीं कर पाते। उनकी भजनकी प्रवृत्तिको वह लोभ ही जगा देता है। उनके मनमें केवल एक तीव्र लालसा फूट निकलती है और वे परवश होकर दिन-रात उस व्रजप्रेमकी प्राप्तिके लिये ही व्याकुल प्राणसे प्रार्थना किया करते हैं।

लोभे व्रजवासीर भावे करे अनुगति।
शास्त्रयुक्ति नाहि माने रागानुगार प्रकृति॥

इस प्रकारकी रागानुगा भक्तिका भक्तहृदयमें किस प्रकार उदय होता है, इसका क्रमानुसन्धान करनेसे पता लगता है कि इसमें साधकका अपना पुरुषार्थ कुछ भी नहीं है। व्रजके भक्तोंकी प्रेमसेवाकी चर्चा सुनकर किसी

भाग्यवान्‌के चित्तमें जो लोभ होता है, वह लोभ ही इस रागानुगाका मूल कारण है। श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं—

'यस्य पूर्वोक्तरागविशेषे रुचिरेव जातास्ति न तु रागविशेष एव स्वयं तस्य तादृशरागसुधाकरकराभास-समुल्लसितहृदयस्फटिकमणेः शास्त्रादिश्रुतासु तादृश्या रागात्मिकाया भक्तेः परिपाटीष्वपि रुचिर्जायते।'

व्रजवासियोंकी इस रागात्मिका भक्तिमें रुचि होनेपर जिनके चित्त स्फटिकमणिके सदृश स्वच्छ हैं, उन्हींके चित्तमें व्रजवासियोंके इस रागरूपी चन्द्रमाका किरणाभास प्रतिफलित होता है—जिससे रुचि अथवा व्रजवासियोंके चरित्रानुकरणका लोभ उत्पन्न हो जाता है। 'रागवर्त्मचन्द्रिका'में विश्वनाथ चक्रवर्ती महोदय कहते हैं—'वह लोभ भगवत्कृपाहेतुक और अनुरागिभक्तकृपाहेतुक भेदसे दो प्रकारका होता है। फिर भक्तकृपाहेतुक लोभमें भी प्राक्तन और आधुनिक—ये दो भेद होते हैं। पूर्वजन्ममें प्राप्त भक्तकृपाहेतुक लोभ प्राक्तन है और इस जन्ममें किसी प्रेमी भक्तकी कृपासे उत्पन्न लोभ आधुनिक है। जन्मान्तरमें प्राप्त लोभ होनेपर उस लोभके बाद वैसे ही प्रेमी गुरुका चरणाश्रय होता है; और आधुनिक भक्तकृपाका क्षेत्र होनेपर गुरुचरणाश्रयके बाद लोभ उत्पन्न होता है।

तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते।
नात्र शास्त्रं न युक्तिश्च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्॥

व्रजराजनन्दन श्यामसुन्दर और उनके प्रिय व्रजवासियोंके प्रेम-माधुर्यादिकी कथा सुननेपर वैसे ही भावकी प्राप्तिके लिये शास्त्र और युक्तिकी अपेक्षा न करके जो एक लोभका उदय होता है, उसीके द्वारा रागानुगा भक्तिका परिचय मिलता है। श्रीवल्लभाचार्यके सम्प्रदायमें इसी भक्तिमार्गको पुष्टिमार्ग कहा गया है। कहीं-कहीं इसे 'अविहिता भक्ति' भी कहा गया है—

'माहात्म्यज्ञानयुतेश्वरत्वेन प्रभौ भक्तिर्विहिता, अन्यतः प्राप्तत्वात् कामाद्युपाधिजा त्वविहिता' (अणुभाष्य)

अविहिता भक्ति कामजा और स्नेहजा तथा कामानुगा और सम्बन्धानुगा भेदसे चार प्रकारकी है। श्रीजीवगोस्वामी अविहिताका निर्णय करते हुए कहते हैं—

'अविहिता रुचिमात्रप्रवृत्त्या विधिप्रयुक्तत्वेनाप्रवृत्तत्वात्।'

'रुचिमात्रप्रवृत्तिके कारण ही इस प्रकारकी भक्तिको अविहिता कहते हैं।' इसकी प्रवृत्तिके मूलमें किसी विधिका प्रयोग नहीं होता। भगवत्-सम्बन्धी स्नेह-कामादिमें कोई विधान नहीं होता। 'स्नेहकामादीनां विधातुमशक्यत्वात्।' 'मुक्ताफल' नामक ग्रन्थमें श्रीबोपदेवने भी इस भक्तिको अविहिता ही कहा है। 'श्रीगोविन्दभाष्य' ग्रन्थमें श्रीबलदेव विद्याभूषण इसको 'रुचिभक्ति' कहते हैं।—'रुचिभक्तिर्माधुर्यज्ञानप्रवृत्ता, विधिभक्तिरैश्वर्यज्ञानप्रवृत्ता।'

'रुचिरत्र रागः। तदनुगता भक्तिः, रुचिभक्तिः। अथवा रुचिपूर्वा भक्तिः, रुचिभक्तिः। इयमेव 'रागानुगा' इति गदिता॥'

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके श्रीहरिव्यासजीने अपनी 'सिद्धान्त-रत्नाञ्जलि' टीकामें अविहिता भक्तिका उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि व्रजके परिकर श्रीनन्द अथवा सुबल आदिके भावसे लोभवश अविहिता भक्तिका अनुष्ठान हो सकता है। परन्तु 'महावाणी'में उन्होंने ही सखीभावसे नित्य वृन्दावनमें श्रीराधागोविन्दकी युगल-सेवाप्राप्तिकी साधना बतलायी है। महावाणीमें दास, सखा या पिता-माताका उल्लेख नहीं है। गौडीय वैष्णवोंकी रागानुगा भक्तिके साथ श्रीहरिव्यासजीकी साधनाका भेद इस विषयमें सुस्पष्ट है। महाप्रभुका सम्प्रदाय कहीं भी दास, सखा, पिता-माताको बिल्कुल बाद देकर केवल युगल-भजनका निर्देश नहीं करता। 'कुत्रापि तद्रहिता न कल्पनीया।' फिर, श्रीहरिव्यासजीमें श्रीकृष्णकी देवलीलापरायणता है। परन्तु गौडीय वैष्णव केवल नरलीलामें ही माधुर्योपासक हैं।

इस माधुर्यका आस्वादन करनेके लिये जिनके चित्तमें सदिच्छा उत्पन्न हो गयी है, वे ही इस रागानुगा भक्तिके अधिकारी हैं। श्रीसनातन गोस्वामीने इस सम्बन्धमें भागवत-की व्याख्याके उपसंहारमें कहा है—

भक्तौ प्रवृत्तिरत्र स्यात्तच्चिकीर्षा सुनिश्चया।
शास्त्राल्लोभात्तच्चिकीर्षू स्यातां तदधिकारिणौ॥

कलियुगपावनावतार श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने विद्या-नगरमें राय रामानन्दके साथ साध्य-साधनतत्त्वका विचार करते समय श्रीराधाकृष्ण युगल सरकारकी कुञ्जसेवाको ही सर्वश्रेष्ठ साध्य निर्णय किया है। इस साध्यकी प्राप्तिके लिये श्रीराधाजीकी प्रिय सखियोंके अनुगत होनेके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें है—

राधा कृष्णेर लीला एइ अति गूढ़तर।
दास्य वात्सल्यादि भावेर ना हय गोचर॥

सखी बिना एइ लीलाय अन्येर नाहि गति।
सखीभावे तारे जेइ करे अनुगति॥
राधाकृष्ण कुञ्जसेवा साध्य सेइ पाय।
सेइ साध्य पाइते आर नाहिक उपाय॥

अनुगत सखीभावके लोभी साधकको निरन्तर अन्तर्मुखी मनसे स्मरण करना चाहिये—अपने-अपने अभीष्ट श्रीकृष्णका और उनकी प्रियतमा श्रीराधाजी, ललिता, विशाखा और श्रीरूपमञ्जरी गोपीजनोंका। साथ ही उन्हे श्रीहरिनाममें और लीलाकथाके श्रवणमें रत होकर श्रीव्रजधाममें निवास करना चाहिये। सेवाप्राप्तिकी इस साधनाके सम्बन्धमें पूर्वाचार्योंने कहा है—

कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा॥ (श्रीरूप)

रागानुगा भक्तिमें बाह्य और आन्तर भेदसे दो प्रकारके साधन होते हैं। साधकको साधनाकी प्रारम्भिक स्थितिसे लेकर अपने साधक और सिद्ध देहके भेदको जानना चाहिये। रघुनाथदास गोस्वामीको महाप्रभुने जो शिक्षा दी है, उसे याद रखना चाहिये। ग्राम्यवार्त्ता (दुनियाकी चर्चा), दूसरोंकी समालोचना करना और सुनना साधकके लिये निषिद्ध है। बढ़िया चीजें खाने और बढ़िया कपड़े पहननेका त्याग करना चाहिये। स्वयं अमानी होकर दूसरोंका सम्मान करना चाहिये। साधकदेहसे सदा 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे'—इन नामोंका कीर्तन करना चाहिये। मनमें सिद्धदेहकी भावना करके वृन्दावनधाममें श्रीराधागोविन्दकी सेवा करनी चाहिये। जहाँतक हो सके साधकका वृन्दावनमें रहना ही कर्तव्य है, नहीं तो मन-ही-मन वृन्दावनमें रहना चाहिये। सनातन गोस्वामीको भी महाप्रभुने कहा है कि उपर्युक्त प्रकारसे रागानुगा भक्तिकी साधना करनेपर श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रीति उत्पन्न होती है, इसी प्रीतिसे भगवान् भक्तोंके वश होते हैं। इस रागानुगा भक्तिसे ही प्रेमसेवाकी प्राप्ति होती है।

रागानुगा भक्तिमें स्मरणकी ही प्रधानता है। श्रीसनातन गोस्वामीजीने 'बृहद्भागवतामृत' ग्रन्थमें इसका विस्तारसे वर्णन किया है। राग मनका धर्म है। इस साधनमें मानसिक सेवा और संकल्प ही मुख्य हैं। रघुनाथदास गोस्वामीके 'विलापकुसुमाञ्जलि' और श्रीजीवगोस्वामीके 'संकल्पकल्पद्रुम' आदि ग्रन्थोंमें रागानुगा भक्तिके अनुकूल संकल्प और मानसी सेवाके क्रमका वर्णन मिलता है।

सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥

यथावस्थित देह ही साधकदेह है और अंदरमें अपने इष्ट श्रीराधागोविन्दकी साक्षात् सेवा करनेके लिये जो उपयोगी देह है, वह सिद्धदेह है। जो व्रजभावको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते और उसके लिये ललचाते हैं, उनको निश्चय ही व्रजवासियोंके अनुगत होकर अपने साधक-देह और सिद्धदेहसे कभी बाह्य उपचारोंसे और कभी मानसिक उपचारोंसे भगवत्सेवा करनी चाहिये। सिद्धदेहकी भावनाके सम्बन्धमें सनत्कुमारतन्त्रमे कहा गया है—

आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥

रागानुगाके साधनमें जो 'अजातरति' साधक है अर्थात् जिनको रतिकी प्राप्ति नहीं हुई है, उनको अपने लिये गुरुदेवके उपदेशानुसार सखीकी सङ्गिनीके भावसे मनोहर वेश-भूषादिसे युक्त किशोरी रमणीके रूपमें भावना करनी चाहिये। सखीकी आज्ञाके अनुसार सदा सेवाके लिये उत्सुक रहते हुए श्रीराधाजीके निर्माल्यस्वरूप अलङ्कारोंसे विभूषित साधकोंके सिद्धस्वरूप इस मञ्जरी-देहकी भावना निरन्तर करनी चाहिये। मञ्जरी-स्वरूपमें तनिक भी सम्भोगकी वासना नहीं है। इसमे केवल सेवा-वासना है। जो साधक 'जातरति' हैं, अर्थात् जिनको रति प्राप्त हो गयी है, उनमें इस सिद्धस्वरूपकी स्फूर्ति अपने-आप ही हो जाती है। प्रसङ्गवश यहाँ हमें 'द्रविडोपनिषत्-तात्पर्य' ग्रन्थमें उल्लिखित प्राचीन आळवार भक्त शठारि मुनिका स्मरण हो आता है। शठारि मुनिके साधकदेहमें ही सिद्धदेहका भाव उतर आया था। उन्होंने अनुभव किया था कि एक श्रीभगवान् ही पुरुषोत्तम हैं, अखिल जगत् स्त्री-स्वभाव है। अन्तमें शठारिमें कामिनी-भावका आविर्भाव हो गया था—

पुंस्त्वं नियम्य पुरुषोत्तमताविशिष्टे
स्त्रीप्रायभावकथनाज्जगतोऽखिलस्य।
पुंसां च रञ्जकवपुर्गुणवत्त्यापि
शौरेः शठारियमिनोऽजनि कामिनीत्वम्॥
(बँगला वैष्णवधर्म)

गौडीय वैष्णव साधकगण 'गोविन्दलीलामृत' और 'कृष्णभावनामृत' आदि ग्रन्थोंके क्रमानुसार गुरु गौराङ्गदेवके अनुगत भावोंसे श्रीराधा-गोविन्दकी अष्टकालीन लीलाका स्मरण करते हैं। इस लीलाके ध्यानमें ही मानसोपचारसे इच्छित सेवा होती रहती है। बंगालके साधक श्रीनिवास आचार्य किसी समय मञ्जरी-देहसे श्रीराधाकृष्णलीलाका ध्यान कर रहे थे। उन्होंने देखा श्रीकृष्ण गोपीजनोंके साथ यमुनाजीमें क्रीड़ा कर रहे हैं, परन्तु हाय! यह क्या हुआ? श्रीराधाके कानका एक मणिकुण्डल जलमें गिर पड़ा। सखियाँ और उनकी अनुगता मञ्जरी दासियाँ सभी खोज रही हैं, परन्तु वह मिलता नहीं। अन्तर्देहमें इस कुण्डलकी खोजमें श्रीनिवासका एक सप्ताहका समय पूरा हो गया। साधकदेह निष्पन्द प्राणहीनकी तरह आसनपर विराजित था। श्रीनिवासजीकी पत्नी और अन्यान्य सभी लोगोंने समझा कि श्रीनिवासजीने देहत्याग कर दिया है। वनविष्णुपुरके राजा वीरहम्मीर उन्हें देखने आये, सौसे अधिक आदमी उनके साथ थे। किसी भक्तने कहा, 'रामचन्द्र कविराजको बुलाना चाहिये, श्रीनिवास आचार्यके हृदयसे वे ही परिचित हैं।' रामचन्द्र वहाँ बुलाये गये। प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करके रामचन्द्रने जान लिया कि ये इस समय मञ्जरीदेहके आवेशमें हैं। रामचन्द्र भी इस दिशामें पहुँचे हुए थे। वे भी अपने सिद्धदेहकी भावना करके अन्तर्जगत्में श्रीनिवासकी अनुगता दासीके रूपमें उनके साथ हो लिये। वहाँ उन्होंने देखा, अभी कुण्डलकी खोज चल ही रही है। नवीन मञ्जरी-देहसे खोजनेके काममें चतुर रामचन्द्रको थोड़ी ही देरमें एक कमलपत्रके नीचे श्रीराधाजीका कुण्डल दिखलायी पड़ा। उसी क्षण उठाकर उन्होंने श्रीनिवासजीके हाथमें दे दिया। सखी-मञ्जरियोंमें आनन्दकी तरङ्गें उछलने लगीं। श्रीनिवासजी अपनी गुरुपरम्परासे सखियोंके साथ श्रीराधाजीके चरणोंमें पहुँचे और नवीन मञ्जरीद्वारा मिला हुआ कुण्डल उन्हें दे दिया। श्रीराधारानीने प्रसन्न होकर अपना चबाया हुआ पान उन्हें पुरस्कारके रूपमें दिया। रामचन्द्र और श्रीनिवास दोनों ही सोकर उठनेवालोंकी तरह साधकदेहमें लौट आये, देखा गया कि सचमुच ही श्रीराधाजीका दिया हुआ पान-प्रसाद उनके मुखोंमें था।

महाप्रभुका दिया हुआ यह रागानुगा-भजन विश्वका कल्याण करे।

> **स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां**
> **ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।**
> **मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे**
> **आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥**

'विश्वका कल्याण हो, दुष्टलोग निष्ठुरताका त्याग करके प्रसन्न हों, समस्त जीव कल्याणका चिन्तन करें; उनके मन शान्त कल्याणमय भावको धारण करें एवं उनकी तथा हमारी सबकी मति निष्काम होकर अधोक्षज भगवान् श्रीगोविन्दमें प्रवेश कर जाय।'

सच्ची बानी

जो मैं हारौं राम की जो जीतौं तौ राम॥
जो जीतौं तौ राम राम से तन मन लावौं।
खेलौं ऐसो खेल लोक की लाज बहावौं॥
पासा फेंकौं ज्ञान नरद बिस्वास चलावौं।
चौरासी घर फिरै अड़ी पौबारह नावौं॥
पौबाराह सिखाय एक घर भीतर राखौं।
कच्ची मारा पाँच रैनि दिन सत्रह भाखौं॥
पलटू बाजी लाइहौं दोऊ बिधि से राम।
जो मैं हारौं राम की जो जीतौं तौ राम॥

—पलटू

प्रेम-साधना

(लेखक—पूज्यपाद श्रीभोलानाथजी महाराज)

कार बग़ैर इश्क़ न दारम दर जहाँ।
इश्क़स्त कार मा व बदीं कार आमदेम॥

I have no mission except Love in this world,
My mission is Love and my work is Love.

इस संसारमें मेरा सिवा प्रेमके और दूसरा काम ही क्या है ? प्रेम मेरा सिद्धान्त है और उसीके लिये मैं आया हूँ।

प्रश्न–आपको 'प्रेम' इतना प्यारा क्यों है ?

उत्तर–चूँकि यह अति सुन्दर वस्तु है और यह नियम है कि जहाँ सौन्दर्य होता है, वहाँ प्रेम होता है।

प्र०–लेकिन जब सौन्दर्य हो तो उससे प्रेम हो; मगर आप तो 'प्रेम'को प्रेम करते हैं ?

उ०–चूँकि प्रेम ही सौन्दर्य है, इसलिये यह प्रियतम भी है और सौन्दर्य भी।

प्र०–यह सुन्दर क्यों है ?

उ०–चूँकि सुन्दर है।

प्र०–इसके सौन्दर्यके लक्षण क्या हैं ?

उ०–यह एक ऐसा तत्त्व है जिसमें सब ख़ूबियाँ मौजूद हैं।

प्र०–प्रेम परिच्छिन्न (limited) है या अपरिच्छिन्न (unlimited) ?

उ०–अपरिच्छिन्न भी है और परिच्छिन्न भी।

प्र०– एक ही समयमें दो विरोधी बातें कैसे इकट्ठी हो सकती हैं ?

उ०–विरोधी तो देखनेवालोंकी नज़रमें हैं, अपनी असलियतमें नहीं। यह अपरिच्छिन्न तो अपने सामान्य रूपमें है और परिच्छिन्न अपने विशेष रूपमें। जिस तरह एक लकड़ीको रगड़कर उसके कोनेपर आग पैदा कर दी जाय तो वह एक तरहसे तो परिच्छिन्न हुई, क्योंकि अपने विशेष रूपमें केवल एक जगह प्रकट हो रही है; लेकिन अपनी असलियतमें वह अपरिच्छिन्न है, क्योंकि वह लकड़ीके हर हिस्सेमें मौजूद है।

'तो प्रेमके अपरिच्छिन्न और असीम (unlimited) होनेका प्रमाण क्या है ?'

'सूरजके होनेका प्रमाण क्या है—सूरज खुद आप या कोई और ?'

'आँखें ?'

'लेकिन आँखें सूरजको किससे देखती हैं ? उसीसे या किसी मोमबत्ती (candle) वग़ैरहसे ?'

'उसको उसीके प्रकाशसे देखा जाता है।'

तो बस, प्रेमके अपरिच्छिन्न होनेका प्रमाण प्रेम खुद आप है। प्रेम संसारके हर हिस्सेमें मौजूद है। प्रेमके बग़ैर संसारकी स्थिति असम्भव है। प्रेमके बग़ैर कोई मुल्क, क़ौम या देश नहीं रह सकता—यहाँतक कि प्रेमके बग़ैर अपना आप भी नहीं रहता। प्रेम मनुष्योंमें है, पशुओंमें है, पक्षियोंमें है; प्रेम पञ्चभूतोंमें आकर्षण (gravitation)के रूपमें प्रकट होता है। संसारका नियमितरूपसे चलना इसी प्रेमपर निर्भर है। संसारके एक परमाणुका दूसरे परमाणुकी तरफ़ खिंचना प्रेम ही तो है। आपने जलकी बूँदको पुष्पकी पत्तीपर रक्खा, सूरजके प्रकाशने उसको धुँआ बनाकर उड़ा दिया, मानो वह नष्ट-सी हो गयी। वहाँसे हवाने उसको गोदमें लिया और पहाड़ोंपर झूला झुलाने लगी। सरदीने उसका स्वागत किया। फिर वह पानी बनाकर पहाड़की चट्टानोंपर फेंकी गयी, वहाँसे नालोंमें मिली, फिर दरियामें आयी और आखिर समुद्रमें जाकर समुद्रसे एक हो गयी, चारों तरफ़ लहराने लगी। अपने मामूली-से अस्तित्वको खोकर उसने पूर्ण और बड़े आकारको धारण कर लिया।

आपने आकाशकी तरफ़ पत्थर फेंका, वह ज़मीनकी तरफ़ चला आया। उसको अपनी धरती (पृथ्वी) से प्रेम है। आपने मोमबत्ती (candle) जलायी, प्रकाश ऊपरको हो गया, चूँकि उसका ध्येय सूरज वहाँ मौजूद है। आपने फ़ुटबालके tube को फाड़ा, उसकी हवा कुलमें दौड़कर चली गयी। इत्यादि।

मनुष्य अपनेसे प्रेम करता है, अपने सम्बन्धियों और प्रिय वस्तुओंसे प्रेम करता है। संसारमें हर परमाणुमें किसी-न-किसी वस्तुके लिये—जानते या न जानते हुए—आकर्षण पाया जाता है, जिसका मतलब यह है कि वह आकर्षण प्रेम है। यहाँतक कि भगवान्‌को संसारसे प्रेम है। अगर भगवान्‌को संसारसे प्रेम न होता तो वह उसको पैदा ही न करता। यदि कहीं रुद्ररूप बनकर वह संसारको तोड़ता नज़र आता है तो उसका मतलब यह है कि वह उसको तोड़कर कोई और अच्छी शक्ल देना चाहता है। संसारको उससे प्रेम है। संसार जानता या न जानता हुआ अपने ध्येयकी तरफ़ जा रहा है। और सबका ध्येय अपने ध्याताके प्रेममें यहाँतक मग्न है कि हर वक्त ध्याताको प्रसन्न करनेके नये-नये सामान तैयार करता रहता है।

सिद्धान्त——संसारमें कोई ऐसा परमाणु नहीं कि जिसमें प्रेम न हो और जहाँ प्रेम न होगा, वह परमाणु रह ही नहीं सकता। उसका कारण यह है कि जिसको अपनेसे प्रेम न होगा उसको अपनेसे घृणा होगी; नतीजा यह होगा कि वह अपना नाश चाहेगा और एक दिन अपनेको नष्ट कर डालेगा, क्योंकि संसारमें हर परमाणु कायम रहना चाहता है और अपने नाशसे भय मानता है। इसलिये हर परमाणुको अपनेसे प्रेम है। यही संसारकी स्थितिका बड़ा भारी तत्त्व है। मनुष्यके नित्य होनेका प्रमाण यह भी है कि हर मनुष्यको अपनी आत्मासे प्रेम है। संसारमें तमाम जीवित प्राणी या तो किसी दूसरेसे प्रेम करते हैं या अपने-आपसे। और जड पदार्थ न जानते हुए भी प्रेमके वश किसी-न-किसी ओर खिंचे जाते हैं। यह है प्रेमकी अपरिच्छिन्नता (unlimitedness) का प्रमाण।

प्र०—लेकिन जहाँ प्रेमाकर्षण एक ओर खींचता है तो दूसरेसे नफ़रत नज़र आती है; इसलिये जो स्थान नफ़रत—घृणाका होता है, वह तो प्रेमसे खाली ही हुआ?

उ०—यह भी ग़लत है; क्योंकि घृणा खुद तो कोई पदार्थ है नहीं, केवल प्रेमके अभावका नाम घृणा है। इसलिये पहले तो यह मानना होगा कि जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ शून्य है। मगर यदि ग़ौरसे देखें तो मालूम होता है कि घृणा उस अवस्थाका नाम है कि जहाँ हमारा प्रेम दूसरी ओर मुड़ता है, गोया प्रेमके दूसरी ओर मुड़नेका नाम घृणा है। इसका मतलब यह हुआ कि प्रेम वहाँ भी मौजूद है, लेकिन शक्ल ऐसी है कि समझमें नहीं आता।

प्रेम परमेश्वर

फिर यह भी सुननेमें आता है कि प्रेम भगवान् है और भगवान् प्रेम—

'God is Love and Love is God.'

——क्योंकि दोनोंके गुण समान हैं। और जब दो पदार्थ एक ही गुणवाले हो जायँ तो उनका भेद केवल नाममात्रका ही रह जाता है, वास्तविक नहीं। दो चिनगारियाँ अलहदा-अलहदा उड़ती हुई क्या हैं? सिर्फ़ आग। इसी तरह जब प्रेम और परमात्माके गुण एक हो जायँ तो दोनों एक ही तो हुए। परमात्मा सुखका समुद्र है, प्रेम भी सुखका समुद्र है; परमात्मा पूर्ण सौन्दर्य है, प्रेम भी पूर्ण सौन्दर्य है, परमात्मा व्यापक है, प्रेम भी व्यापक है। और अगर कोई कहता है कि नहीं, प्रेम तो परमात्माका गुण है तो हम पूछते हैं कि परमात्माका गुण किसी एक अंशमें है या सर्वांशमें। अगर एक अंशमें कहें तो बाक़ी परमात्माको प्रेमसे खाली मानना पड़ेगा और अगर सर्व अंशोंमें है तो परमात्मासे प्रेम जुड़कर एक है या ऐन वही होकर? अगर जुड़कर एक है तो बाक़ी हिस्सा जो परमात्माका बचा है कि जो इस जोड़से बाहर है, उसमें प्रेमका अभाव पाया जायगा और अगर बग़ैर जोड़के परमात्मासे एक है और हम उसमें और परमात्मामें कोई अन्तर कायम नहीं कर सकते तो परमात्मा और प्रेममें फ़र्क़ ही क्या रहा? जब अग्निको गरमीकी दृष्टिसे देखा तो कह दिया कि आग गरम है और जब गर्मीको (analyse) विश्लेषित किया या अच्छी तरह देखा तो गरमी सिवा आगके और है ही क्या? इसलिये प्रेम परमात्माका गुण होता हुआ परमात्मासे एक है। प्रेम गुण भी है और गुणी भी। कार्यरूपमें प्रेम गुण है और कार्यकी समाप्तिपर परमात्माका ही स्वरूप है। किसीने उसका नाम प्रेम रक्खा और किसीने परमात्मा।

प्र०—परमात्माके प्रेमस्वरूप होनेका प्रमाण क्या है?

उ०—सृष्टिकी उत्पत्ति और नाश परमात्माके प्रेमस्वरूप होनेका प्रमाण है।

प्र०—लेकिन जो नाश करता है, वह कौन है?

उ०—वह भी वही है कि जो उत्पत्ति और पालन करता है।

प्र०—तो उसमें प्रेमका अभाव तो ज़रूर पाया ही जायगा ?

उ०—नहीं, उसके तोड़नेमें भी प्रेम है; वह नयी चीज़ोंको बनानेके लिये पुरानी तोड़ता है, एक सङ्कल्पको तोड़कर दूसरा बनाता है, एकको गिराकर दूसरा क़ायम करता है।

प्र०—लेकिन जिसको गिराता है, उससे तो प्रेम नहीं करता ?

उ०—चूँकि उसीको फिर नया बनाता है, इसलिये प्रेम ही तो हुआ।

प्रेम सुखरूप है

प्रेमके बग़ैर सुख असम्भव है। यह प्रेम ही एक ऐसी वस्तु है कि जिससे सुखका अनुभव हो सकता है। जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ सुख नहीं। पतंगेको अगर लाख रुपयेके फ़ानूसपर छोटा-सा प्रकाश नज़र न आवे तो उसके लिये वह व्यर्थ है, और अगर एक मिट्टीका दीपक टिमटिमाता हुआ नज़र आवे तो वह उसपर अपना सर्वस्व निछावर कर देता है। अगर झोंपड़ीसे प्रेम है तो वहाँ सुख है, अगर महलसे घृणा है तो उसमें सुखका अभाव पाया जाता है। यहाँतक कि प्रेम दुःखको भी सुख बना देता है।

एक समय भगवान् श्रीकृष्णका नाख़ून (नख) श्रीराधेजीको लग गया, कई महीनोंतक तो वह ज़ख्म ताज़ा रहा। एक दिन अचानक भगवान्‌ने देखकर पूछा कि 'राधाजी ! यह ज़ख्मका निशान कैसा है ?' तो हँसकर जवाब दिया कि 'हाँ, आपको क्यों मालूम हो ! आप तो ऐसे दाता हैं कि सब कुछ देकर भूल जाते हैं।' वाह, वाह, दातापनका क्या प्रमाण दिया ! देकर सब कुछ भूल जाते हैं ! देखिये हम किसीको एक पैसा देते हैं तो सौ आदमियोंको दिखाते हैं। अगर कोई हमको पैसा देते वक्त देखनेवाला न हो तो ज़ोरसे खाँसकर राह चलतोंकी नज़र अपनी ओर आकर्षित करते हैं और अपनी आँखें उनकी आँखोंसे जोड़कर उस भिक्षुकको कहते हैं कि 'ले पैसा, यह है तुम्हारे सामने।' मगर वाह री दानशीलता ! दान प्रभुका कि जिसने हमको सब कुछ देकर अपना मुँह इस तरह छुपा लिया कि कोई ढूँढ़ कर तो दिखाये। शायद उनको यह ख्याल है कि कोई यह न कह दे कि यह मेरा दाता है ! लेकिन तमाशा तो यह है कि प्रभु जितना छुपते हैं, उतना ही और प्रकट हो जाते हैं। जिस तरह सूरज जब छुपनेके लिये बादलका परदा मुँहपर लेता है तो और प्रकट हो जाता है। प्रभु दान करके छुप गये। उनके छुपनेने उनको और भी मशहूर कर दिया कि देखो कैसा देता है कि जिसने हमको सब कुछ देकर अपना आप छुपा लिया। हे प्रभो ! आप तो छिपे थे कि कोई आपको देख न ले, लेकिन आप तो और भी प्रकट हो गये। इसलिये अब अगर छुपना है तो दूसरा ढंग अख्त्यार कीजिये, वह यह कि अगर आप छुपनेसे प्रकट होते हैं तो प्रकट होकर छुप जाइये ! फिर तो आपके सामने आनेपर लोगोंको लेनेकी फ़िकर और झोलियाँ भरनेकी फ़िकर होगी। यह कहेगा ही कौन कि यह है दाता ! सम्भव है लेते-लेते लोग इतना भी भूल जायँ कि देनेवाला है ही कौन—जैसा कि रोज़ देखनेमें आता है कि जिसने सब कुछ दिया, उसको तो भूल ही बैठे हैं।

एक बैरिस्टर साहबने एक दिन मेरे पास आकर फूल चढ़ाये। मैंने जान-बूझकर बैरिस्टर साहबको तो न देखा और फूलोंको देखना शुरू कर दिया और वह भी इस हदतक कि उनको अपनी ख़ामोशीको इस तरह तोड़ना पड़ा कि 'महाराज क्या खूब, फूलोंमें इस तरह लग गये कि देनेवालेकी याद ही नहीं आ रही।' जब मैंने उनकी यह बात सुनी तो आँख ऊपर कर कहा कि 'बड़ा आश्चर्य तो यह है कि आपकी तरफ़ देखनेसे भी आप प्रसन्न न होते; क्योंकि उस समय आपको यह शिकायत होती कि 'वाह महाराज ! अच्छे रहे, मेरी तरफ़ ही देखते जा रहे हैं और जो फूल दिये हैं, उनको देखतेतक नहीं। तो फिर ऐसी अवस्थामें भी आपको ज़रूर शिकायत होती।' इसके बाद मैंने कहा, 'लीजिये अपने फूल, मैं बाज़ आया। यह आपने मुझको फूल दिये या शिकायतका दफ्तर खोल दिया ?' मैंने उनके फूल उनके हाथमें लौटा दिया तो उन्होंने फिर कहा कि 'महाराज ! इस तरह भी तो शिकायत रफ़ा न हुई; क्योंकि आपने मेरे फूल ही लौटा दिये।' तो मैंने कहा कि 'नहीं, अब तो शिकायत न रहनी चाहिये, क्योंकि मैं आपको और आपके फूलोंको एक ही नज़रसे देख रहा हूँ।' वह हँस पड़े और कहकहा लगाया ! उन्होंने पूछा 'महाराज ! इस तमाम किस्सेसे आपका भावार्थ क्या है ?'

मैं—सिर्फ़ शिकायत रफ़ा करना और उसके साथ यह भी कि भगवान्‌ने सृष्टि बनायी और हमारे सामने रक्खी। अगर हम इसीको देखने लग जाते हैं तो उनको ज़रूर शिकायत होती है कि वाह अच्छे रहे, दुनियाको यहाँतक देखने

लगे कि बनानेवालेका ख्यालतक नहीं आता। अगर हम इसको बिल्कुल भी न देखते तो यह शिकायत पैदा होती कि खूब ! इतनी अच्छी दुनिया बनाकर दी और ये देखतेतक नहीं, सिर्फ़ मुझहीको देखे जाते हैं। फिर यह शिकायत तो इसी तरह रफ़ा हो सकती है कि प्रभुकी दुनिया उनके सामने रक्खें और उसको और उसकी दुनियाको एक ही नज़रसे देखते जायँ।

वे बहुत प्रसन्न हुए। लेकिन हम तो दूसरी तरफ़ आ गये ! हमको तो यह कहना था कि प्रभु ऐसे दाता हैं कि देकर छुप जाते हैं या देकर ऐसी बात बना देते हैं कि किसीको यह पता न चले कि देनेवाला कौन था। और है भी सच। कौन कहता है कि प्रभुने मुझको यह दिया, वह दिया। अक्सर यही सुननेमें आता है कि फ़लाँ कामसे हमको यह मिला, फ़लाँ business से यह प्राप्ति हुई, वग़ैरह। यह भी कोई कहता है कि प्रभुने हमको यह दिया। और अगर कोई मुँहसे कह भी देता है तो अंदरसे ज़रूर जानता है कि अगर हम यह काम न करते तो आज यह बात कैसे बनती। प्रभुने अपने आपको छुपानेके लिये गोवर्धनको ग्वालोंके डंडे इसीलिये लगवाये थे, कि कोई यह न कह दे कि काम उस छोटी-सी उँगलीका था। भगवान् श्रीकृष्णको माखन खानेका शौक़ था और जब माखन खाते तो झट बछड़ोंके मुँहमें मल देते और जब माँ पूछती कि किसने माखन खाया तो झट प्यारी-प्यारी उँगली उठाकर मुँह बनाकर यह कह देते कि जिसके मुँहको लगा होगा उसने खाया होगा। वाह-वाह ! क्या बात है ! मला भी उनके मुँहपर कि जो आगेसे यह भी न कह सकें कि हमने नहीं खाया, खानेवाले तो यह आप ही हैं।

इधर पञ्चभूत जड और उधर आत्मा चेतन। जड बेचारा तो करेगा ही क्या, और चेतन कुछ ऐसे ढंगके कि सब कुछ कर-कराकर अपने माथे कोई बात लगने दें तो फिर चतुराई ही क्या हुई ! अगर पूछ बैठिये कि आप करनेवाले नहीं तो यह और करनेवाला कौन है, तो झट जवाब दे देते हैं कि 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'— हम तो केवल साक्षी हैं। इस अदापर कुर्बान !

इस सादगीपर कौन न मर जाय, ऐ खुदा !
लड़ते हैं और हाथमें तलवार भी नहीं॥

एक मस्त स्त्री सड़कोंपर बैठी कहा करती थी—

जो बिगड़ी हमसे बिगड़ी, तुमसे क्या बिगड़ी ?
नहीं, जो बिगड़ी तुमसे बिगड़ी, हमसे क्या बिगड़ी ?
जो किया हमने किया, तुमने क्या किया ?
नहीं, जो किया तुमने किया, हमने क्या किया ?

वाह वाह ! कैसी लीला है ! शायद दान कर छुप जानेका *मतलब यह है कि अपने भिक्षुकोंके मनमें* इस तरह अपने प्रेमकी आग भड़काकर उन्हें इधर-उधर तलाश करते देखकर खुश हों।

एक आदमी रातको सफ़ेद वस्त्र सिरहाने रखकर सो गया। सुबह जब वह उठा तो क्या देखता है कि उसके वस्त्र रँगे हुए थे। इतना प्रिय रंग है कि आँख झपकानेको दिल नहीं चाहता। लेकिन किसी ख्यालसे आँखको इधर-उधर उठाना ही पड़ा कि कौन है वह रँगरेज़ कि जिसने इतना सुन्दर रंग मेरे वस्त्रोंको दिया है ! जब इधर-उधर नज़र न आया तो फिर सोचा और दिलमें प्रेमकी आग भड़क गयी कि आह, यह दयालु रँगरेज़ कौन है कि जिसने वस्त्र भी इतने सुन्दर रँगे और खुद भी छुप गया। इसमें तो स्वार्थ बिल्कुल नहीं। झट वस्त्रोंको पहन लिया, लेकिन फिर भी मस्त हुआ किसी औरको ढूँढने लगा। वह था उसका प्रीतम रँगरेज़ कि जिसने उसके हृदयरूपी वस्त्रपर—उसके वस्त्रोंको रँगकर—अपने प्रेमका रंग चढ़ाया था। यह *घबराया, इसका धीरज टूट गया* और 'रँगरेज़-रँगरेज़' करने लगा। यह उन वस्त्रोंको पहनकर इधर-उधर भागा फिरता था कि कहाँ है वह प्रियतम रँगरेज़ कि जिसने इतना सुन्दर रंग बग़ैर रँगाई लिये ही रँग दिया है।

यह एक तरफ़को दौड़ा कि शायद उधर वह मिल जाय; लेकिन क्या देखता है कि वहाँ एक आदमी जा रहा है कि जिसकी पगड़ीपर उसी रंगके छींटे हैं कि जैसा उसके *कपड़ोंका रंग था*। यह जाकर उससे *लिपट गया*—'क्या आप ही हैं वह रँगरेज़ कि जिन्होंने मेरे वस्त्र रँगे थे ?' उसने रोकर कहा—'नहीं, मैं भी उसको ढूँढ रहा हूँ। जिसने ये सुन्दर छींटे मेरे कपड़ोंपर डाले हैं।' अच्छा हुआ दो प्रेमी उसीके ढूँढनेवाले इकट्ठे हो गये।

क्या खूब गुज़रेगी जब मिल बैठेंगे दीवाने दो॥

लेकिन जब यह कुछ और दूर निकल गया तो क्या देखता है कि एक आदमीकी पगड़ी उसी रंगकी है कि

जिस रंगके इसके कपड़े रँगे हुए थे। इसने उससे भी पूछा, लेकिन उत्तर 'न' में मिला। यह कभी इधर भागता और कभी उधर दौड़ता था, मगर सिवा निराशाके और कोई बात सामने न आती थी। आखिर हार गया, थक गया। हर चीजकी हद होती है, जब इसी तलाशमें भागता-भागता थककर गिर गया तो बेहोश हो गया। मगर इसको अपनी मूर्छाका भी ज्ञान न था, क्योंकि अगर ऐसा होता तो यह होशवाला कहलाता।

मुझसे एक शख्सने आकर कहा कि महाराज! मैं बिल्कुल अज्ञानी हूँ। तो मैंने हँसकर कहा कि नहीं, यह गलत है। उसने पूछा कि यह कैसे, तो मैंने जवाब दिया कि अगर आप बिल्कुल अज्ञानी होते तो आपको यह ज्ञान कहाँसे होता कि आप अज्ञानी हैं। अपने अज्ञानका ज्ञान होना भी तो एक ज्ञान है।

कुछ देरके बाद उसको होश आया तो क्या देखता है कि उसको किसीने उठा रक्खा है और जिसने उठा रक्खा है, उसके हाथ उसी रंगसे अभीतक रँगे हुए हैं (क्योंकि रँगरेजको भाग-दौड़में फ़ुरसत ही कहाँ मिली कि वह अपने हाथ धो लेता)। उसने हैरान होकर पूछा कि आप कौन हैं, तो जवाब मिला कि मैं········। लेकिन उसने झट अपने रँगरेज़का बाजू (हाथ) पकड़ लिया और कहा कि अब तो बता दीजिये कि आप कौन हैं। रँगरेज़ने दबी जबानसे कहा कि 'मैं वही हूँ, वही हूँ कि जिसने तुम्हारे कपड़े रँगे थे।' उसने सवाल किया कि क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आप इस तरहसे मेरे वस्त्र रँगकर छुप क्यों गये, सामने क्यों न आये। रँगरेज़ने जवाब दिया कि 'मैं वस्त्र रँगनेके बाद तुम्हारे दिलमें अपना प्रेम फूँककर यह देखना चाहता था कि तुम मेरे रँगे वस्त्र पहिनकर मुझको किस तरह ढूँढ़ते फिरते हो। और जब तुम दौड़ते फिरते थे तो मैं तुम्हारे पीछे-पीछे होता था और यह देखकर खुश होता था कि वाह! रंग क्या ही अच्छा चढ़ा!' लेकिन उससे रहा न गया और उसने फिर पूछ ही लिया कि 'यह तो बताइये कि जब छुपना ही था तो अब क्यों सामने आकर पकड़े गये?' तो रँगरेज़ने जवाब दिया कि 'क्या करता! जब तुमको अपने प्रेममें मस्त होकर इस तरह गिरते देखा तो मुझे यह ख्याल आया कि ऐसा न हो कि मेरे रँगे वस्त्र खराब हो जायँ और तुमको कोई चोट आ जाय। भला, मैं अपने रंगको खराब होते कैसे देख सकता था!' वह आदमी रँगरेज़ और उसकी दयाकी तरफ देखने लगा।

शायद प्रभु देकर इसलिये भी छुप जाते हैं कि उसके दिलमें प्रेम पैदा हो।

बस, श्रीराधेजीको कहना ही पड़ा कि प्रभो! आप तो इतने भोले हैं कि ऐसे दान करके भी भूल जाते हैं!

भगवान्—तो क्या मैं ऐसा दाता हूँ कि मैं ज़ख्म लगाता हूँ?

राधेजी—नहीं, इसको ज़ख्म कौन कहता है? यह तो संसारके ज़ख्मोंको दूर करनेकी मरहम है। यह वह दीपक है, जिससे अंधकार दूर होता है; यह वह सुन्दर पुष्प है कि जिसमें काँटा है ही नहीं। यह वह दर्द है कि जिसको दवाकी आवश्यकता नहीं। प्रभो! इसको ज़ख्म न कहिये।

भगवान्—शायद मेरा मन रखनेके लिये ऐसा कह रही हो?

राधेजी—नहीं भगवन्, आपका मन कौन रख सकता है? आप तो संसारका मन रखनेवाले हैं, तभी तो माखन-चोर कहलाते हैं यानी मन-चोर। माखनका पहला हिस्सा है म और अन्तिम न, और मध्यका भाग अ और ख रह जाता है—अर्थात् अख या आँख। गोया आप आँख लड़ाकर मनको चुरानेवाले हैं।

भगवान्—(हँसकर) आपने तो हमको और भी बड़ा चोर बना दिया। अच्छी तारीफ की!

राधेजी—जो बीमारीको चुराये, वह वैद्य या डाक्टर कहलाता है; जो अज्ञानको चुराये, वह गुरु। फिर जो मनको चुराये, वह सिवा भगवान्के और हो ही कौन सकता है?

भगवान्—वह क्यों? भला, मनके चुरानेसे फायदा?

राधेजी—तमाम संसार नाम-रूपमें रहता है, नाम-रूप देश-कालमें और देश-काल मनमें रहते हैं। इसलिये जब आपने किसीका मन ही चुरा लिया या अपने पास रख लिया तो फिर उसका देश-काल कहाँ रहा और जब देश-काल नहीं तो नाम-रूप कहाँ? और जब नाम-रूप नहीं तो अपना-बेगाना कहाँ, अपने-बेगानेके अभावसे राग-द्वेष कहाँ? जब

राग-द्वेष गये; पाप-पुण्य भी गये और जब पाप-पुण्य गये तो दुःख-सुख आप ही उड़ गये यानी बन्धन और उसका भय भी जाता रहा। आपने किसीका मन क्या चुराया, उसको तमाम दुःखोंसे ही मुक्त कर दिया। उसके तमाम आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक ताप नष्ट हो गये। वाह! कैसे सुन्दर चोर हैं कि जिसका मन चुराते हैं, उसे सबसे बड़ा रत्न परमानन्दका दे देते हैं। या यों कहिये कि परमानन्द, जो कि प्रेमका समुद्र है, उसको दे देते हैं, जिसका कि मन चुराते हैं। आपने जिसका मन चुराया, उसके अंदर आप और आपका प्रेम बैठ गया। अब लिया तो मन जो कि अति चञ्चल था, विक्षिप्त था, इधर-उधर भागता था, हर समय पीड़ित रखता था और दिया वह प्रेम जिससे उसको यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिकी कुल अवस्थाएँ सहज ही प्राप्त हो गयीं। प्रेमीकी इन्द्रियाँ बहिर्मुख नहीं रहतीं, उसका *नियम प्रभुकी तरफ़ देखना होता है। प्रेमीका आसन यह* है कि प्रेम उसको विह्वल करके जिस किसी भी साँचेमें ढाल दे, वही उसका आसन बन जाता है। प्रेमी जमीनपर पड़ा है, अश्रुपात हो रहे हैं, हिचकियाँ बँधी हैं। कभी आँखें खुलती हैं तो इस आशामें कि शायद कभी सामनेसे आ जायँ और बंद होती हैं तो इस भावसे कि शायद भीतर ही उनके दर्शन हो सकें। प्रेमीको बाहरकी मामूली-सी सरसराहट भी शङ्कित कर देती है कि कहीं उसका प्रीतम तो नहीं आ रहा है!

प्रेमीका आसन क्या है? प्रेम जिस साँचेमें उसको ढाल दे।

प्रेमीका प्राणायाम—उसको अपने प्राणोंकी गतिपर क़ाबू पानेकी आवश्यकता नहीं होती, बल्कि उसका मन प्रभुमें जुड़ जानेसे और मनकी गति ठीक हो जानेसे उसे स्वाभाविक ही उस प्रकारके प्राणायामकी प्राप्ति हो जाती है जिससे पारमार्थिक पथपर वह ज़ोरोंसे चलता जाय।

प्रेमीका प्रत्याहार—मन, इन्द्रियाँ स्वभावतः प्रभुकी तरफ़ दौड़ती हैं।

प्रेमीकी धारणा—*केवल यह है कि उसने हृदयमें सदा* प्रभुको धारण किया है।

प्रेमीका ध्यान—भगवान्‌का ध्यान है।

प्रेमीकी समाधि—वह अपने प्रियतम और उसके सौन्दर्य-में यहाँतक विलीन हो जाता है कि फिर उसको न तो दूसरा नज़र आता है और न उसको दूसरा देखनेकी फ़ुरसत ही होती है। वह किसी औरको देखे तो क्यों? क्या उससे कोई सुन्दर है? और अगर कोई सुन्दर है भी तो उसको क्या? *पहलेसे फ़ुरसत मिले तो दूसरेकी तरफ़ देखे!* उसको तो यहाँतक भी फ़ुरसत नहीं कि प्रियतमको देखता हुआ अपनी तरफ़ भी देख सके। क्योंकि वह जानता है कि मैं जितने समयतक अपनी ओर देखूँगा अपने प्रीतमकी ओर न देख सकूँगा। दरअसल बात यह भी नहीं—अगर वह यह जानकर और इस भयसे अपनी तरफ़ नहीं देखता कि कहीं प्रीतमकी तरफ़से आँख न हट जाय, तो भी वह ग़लत है; *क्योंकि ऐसा करनेसे वह अपनी तरफ़ तो नहीं देखता लेकिन* उन विचारोंकी तरफ़ ज़रूर देखता है कि जिनमें 'अपनी तरफ़ देखनेसे अपने प्रीतमकी तरफ़ न देखे जाने' का भय *मौजूद है। वह तो अपनी तरफ़ इसलिये नहीं देखता कि* वह अपनी तरफ़ देख ही नहीं सकता और किसी औरकी तरफ़ इसलिये नहीं देखता कि उसको न तो कोई और नज़र आता है और न उसको अपने प्रियतमसे इतनी फ़ुरसत ही मिलती है कि किसी औरकी तरफ़ देख सके।

ध्यानकी पहली अवस्था

पहले प्रेमी प्रीतमका ध्यान करता है और यह कमज़ोर *अवस्था होती है, क्योंकि ध्यान न लग सकनेकी वजहहीसे तो वह* ध्यान करता है। इस अवस्थामें अभीतक प्रेमीके मनमें संसार और उसकी भावनाएँ होती हैं और उसके साथ आप भी होता है और प्रीतम भी। यह एक विचित्र कशमकशकी अवस्था होती है। वह कभी तो अपने मनको संसार-से हटाता है और कभी भगवान्‌में जोड़ता है। जब संसारकी तरफ़ बढ़ता है तो प्रियतमका सौन्दर्य उसके बीचमें आकर खड़ा हो जाता है और जब वह घबराकर उससे लिपटना चाहता है *तो संसार बीचमें आ खड़ा होता है। यह है* प्रेमीके 'ध्यान करनेकी अवस्था'। अक्सर लोग पूछा करते हैं कि 'कारण क्या है—दिनभर तो मन अच्छा ही रहता है, लेकिन जहाँ भगवान्‌का ध्यान किया झट संसारकी भावनाएँ सामने आ खड़ी हुईं! इस ध्यानसे तो न ध्यान करना ही अच्छा हुआ।' तो मैंने जवाब दिया कि जब तुम पहलवान बनकर बाहर निकलोगे तो तुम्हें गिरानेके लिये दूसरे पहलवान आयेंगे ही। अगर तुम डर गये तो और वर्जिश करना,

और अगर उनको गिरा लिया तो पहलवानोंके सरताज बन जाओगे ।

वह—महाराज ! इस तरह तो भगवत्प्राप्तिमें देर लगती है।

मैं—देर ही तो एक ऐसी चीज़ है कि जिससे भगवत्-प्राप्तिका सुख मिलता है । अच्छा, यह तो बताइये कि अगर भूख लगनेपर उसी समय आपकी भूख मिट जाय तो बेचारे रसोइयेकी यह तमाम मिहनत ज़ाया न हो जायगी कि जो उसने अच्छे-अच्छे भोजन बनानेमें लगायी है ।

ध्यानकी दूसरी अवस्था

इस अवस्थामें प्रेमी ध्यान नहीं करता बल्कि उसका प्रीतम उसके अंदर बैठकर अपना ध्यान करवाता है । जब पतङ्गेने दीपकको देख लिया तो दीपक उसके अंदर आ गया । अब देखनेमें तो यह आता है कि पतङ्गा दीपककी तरफ़ दौड़ता है, लेकिन असलियत यह है कि दीपक पतङ्गेमें बैठकर अपनी ओर आप भागता है । और यह नियम भी है कि सजातीय सजातीयकी तरफ़ जाता है । दीपक उसके अंदरको अंदर बैठकर जलाता है और उसके बाह्य आकारको अपने अंदर खींचकर भस्म कर देता है । गोया दीपक परवानेके घरमें उसके नेत्रोंके दरवाज़ेसे घुसकर उसके घरको आग लगा देता है और उसके तमाम सामानको आग लगाकर आग ही बना देता है ।

प्रेमकी त्रिपुटी

प्रेमकी त्रिपुटी एकाकार इस तरह होती है—प्रेमी, प्रेम और प्रीतम । यह हुई प्रेमकी त्रिपुटी या Trinity । एकके बग़ैर दूसरा रह नहीं सकता । प्रेमी और प्रीतम एक दूसरेसे खड़े हैं । प्रेमी प्रीतमके ध्यानमें जुड़कर जब अपना आपा खो बैठता है तो उसके इस त्याग (sacrifice) को देखकर प्रीतम उसका प्रेमी बन जाता है । प्रेमी तो प्रीतमके ध्यानमें अपना आपा खो बैठा और प्रीतम प्रेमीके ध्यानमें अपना आपा भूल गया । या यों कहिये कि जब प्रेमी न रहा तो प्रीतम भी न रहा और जब प्रेमी और प्रीतम न रहे तो प्रेम कहाँ रहा ? इस तरहसे प्रेमका अन्तिम सार वह अवस्था है कि जो अनिर्वचनीय है । लेकिन यह शून्य नहीं बल्कि वह अवस्था है कि जिसको मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ पकड़ नहीं सकतीं । जिस तरह ज्ञानी अपनी अन्तिम सीढ़ीपर पहुँचकर ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयभावसे ऊपर हो जाता है उसी तरह प्रेमी अपनी अन्तिम अवस्थामें पहुँचकर प्रेमी, प्रीतम और प्रेमके भावसे ऊपर हो जाता है । यह है प्रेमीकी समाधि और ध्यानकी परिपक्वता । लेकिन इससे पहले जहाँतक कि धारणा और ध्यानकी अवस्थाएँ हैं, वहाँतक प्रेमी दूसरे दर्जेमें ध्यान और धारणाको प्रयत्नद्वारा नहीं करता बल्कि कराया जाता है । यानी प्रेम उसके अंदर बैठकर उसको अष्टाङ्गयोगकी उन तमाम सीढ़ियोंसे आप ही गुज़ारता जाता है कि जिनको योगी लोग प्रयत्नद्वारा करते हैं । जिस तरह जब दवा खा ली जाती है तो उसके बाद दवा खानेवालेको यह फ़िकर करनेकी ज़रूरत नहीं होती कि वह दवाके ज़रिये बीमारीको जगह-बजगहसे निकालता फिरे । यह दवाका काम है कि उस बीमारीको दूर करे और बीमारका काम है दवा खाना ।

इसलिये जब भगवान् किसीके मनको चुराते हैं तो उसके मनमें अपना प्रेम फूँक देते हैं—जिससे उसको धारणा, ध्यान और समाधिकी अवस्थाएँ आहिस्ता-आहिस्ता खुद ही प्राप्त हो जाती हैं ।

देखा, आप कितने सुन्दर चोर हैं कि जिसका मन चुराते हैं, उसको सब कुछ दे देते हैं और उसका दिल फिर चाहता है कि वह एक मन चुराये जानेपर दूसरा मन पैदा करे, ताकि आप उसको भी चुरायें ! खूब चोरी है ! मन क्या चुराया, माया ही चुरा ली !!

भगवान्—नहीं, हमें जल्दी है । पहले यह बताओ कि ज़ख्म लगा कैसे और कब ?

राधेजी—प्रभो, जवाब न देना भी ठीक नहीं; इसलिये बता ही देती हूँ कि यह ज़ख्म किस तरह और कब लगा । प्रभो ! एक दिन आपका हाथ अचानक बढ़ा तो मेरे लग गया और यह है इस ज़ख्मका कारण ।

भगवान्—लेकिन यह तो बताया ही नहीं कि वह लगा कब ?

राधेजी—प्रभो ! बहुत दिन हो गये ।

भगवान्—नाखूनका ज़ख्म तो एक-दो दिनमें ठीक हो जाता है और यहाँ इसको कई दिन हो गये । आखिर कारण क्या है कि अच्छा नहीं हुआ ?

राधेजी—लेकिन भगवान्, मैंने कब कहा कि यह अच्छा नहीं हुआ ?

भगवान्—फिर आप कहें या न कहें, लेकिन नज़र तो आ रहा है ।

राधेजी—अच्छा, अगर आपको नज़र आता है तो बताये देती हूँ कि प्रभो ! न तो यह अच्छा हुआ है और न मैं चाहती ही हूँ कि यह अच्छा हो; क्योंकि जब इसपर अंगूर आता है, मैं इसको हाथोंसे छील देती हूँ ।

भगवान्—(चौंककर) यह क्यों ?

राधेजी—यह इसलिये कि यह हरा हो जावे और यह इसलिये कि इसमें दर्द हो और यह कायम रहे ।

भगवान—यह क्यों ?

राधेजी—यह इसलिये कि जब मैं इसको छीलती हूँ तो इसमें दर्द होता है और जब दर्द होता है तो बुद्धि प्रश्न करती है कि यह किसका दिया दर्द है । तब उस आइने (शीशे) में आप नज़र आते हैं और जब आप नज़र आते हैं तो कोई दर्द ही नहीं रहता । फिर मैं इसको दर्द कहूँ या कुल दर्दोंकी दवा ? इसको काँटा कहूँ या फूल ? इसको दुःख कहूँ या सुख ? हे प्रभो ! आपके प्रेमका ज़ख्म जो इन दिलोंपर लगा हुआ है, उसको कभी न भरने देना, ताकि उस दुःखका अभाव न हो जावे कि जिसके होनेसे और कोई दूसरा दुःख हो ही नहीं सकता ।

इसलिये प्रेम वह पदार्थ है कि जो दुःखको सुख बना देता है । अब सुख तो सुख है ही, लेकिन जिसने दुःखको भी सुख बना लिया, उसके लिये फिर दुःख रहा कहाँ ? जिस वस्तुसे तुम प्रेम करते हो, वह सबसे सुन्दर हो जाती है ।

प्रेम खुद सौन्दर्य है

प्रेम खुद सौन्दर्य है, क्योंकि जबतक किसी पदार्थको प्रेम न करें, वह कभी सुन्दर नहीं हो सकता । एक प्रेमीसे किसीने कहा कि 'तुम्हारा प्रीतम काला है ।' उसने कहा 'झूठ, बिल्कुल झूठ; उस-सा तो सुन्दर कोई नहीं ।' उसने कहा—'मैं सच कहता हूँ, वह काला है' । तो उसने फिर पूछा कि तुमने किस औज़ारसे देखा है । तो जवाब दिया कि 'जिससे कुल संसार देखता है ।' उस प्रेमीने कहा—'तो इसका यह मतलब है कि तुमने अपने नेत्रोंसे देखा है ।' उसने कहा 'हाँ' । उसने झट ही कह दिया कि 'तभी तो तुमको मालूम न हो सका कि उसका वास्तविक सौन्दर्य क्या है ।' उसने पूछा—'क्या उसको देखनेका कोई और औज़ार है ?' उसने कहा 'हाँ, वह हैं मेरी आँखें ।' उसने पूछा कि 'इसमें विशेषता क्या है ? आँखें तो सब समान ही होती हैं ।' उसने कहा कि 'ठीक है । लेकिन जो प्रेमरूपी सुरमा मेरी आँखोंमें पड़ा है, वह तुम्हारीमें नहीं और जबतक वह सुरमा किसी आँखमें न पड़े, सौन्दर्यका पता ही नहीं चल सकता ।'

प्रेम स्वर्ग है

प्रेम स्वर्ग है; क्योंकि जहाँ प्रेम है, वहाँ दुःख रह नहीं सकता । दुःखका स्वरूप प्रतिकूलता है और जहाँ प्रेम है, वहाँ प्रतिकूलता रह नहीं सकती । जहाँ प्रतिकूलता नहीं, वहाँ अनुकूलता है और अनुकूलताका नाम स्वर्ग है ।

प्रेमी unity है

असाँ देखी काती अत घनी जा एकसे दो करे ।
बहलोल काती प्रेम दी जो दोसे एक करे ॥

'हमने देखा है कि तलवार काटकर एकको दो बनाती है, लेकिन प्रेमकी तलवारका काम कुछ विचित्र ही है । यह दोको एक करती है ।'

यह तलवार जिस दिलपर चली, वह एक हो गया । जिस मुल्कमें चली, वह एक हो गया । जिस संसारमें चली, वह एक हो गया और जब ईश्वर और जीवके दर्म्यान तो दोनो एक हो गये ! वाह-वाह ! कैसी विचित्र चीज़ है जो दोको एक करती है !

प्रभु अकेले थे, दो हो गये और अब फिर दोसे एक होना चाहते हैं । यह है उनकी लीला और दोसे एक करना प्रेमका काम है । बात तो यह है कि एकसे दो होना भी प्रेमही-का काम है, क्योंकि एकसे दो इसलिये हुआ था कि दो होनेके बाद फिर एक होनेका आनन्द ले सकें !

एक जलकी बूँदने समुद्रसे शिकायत की कि 'यह तूने क्या किया जो मुझको अपनेसे जुदा कर दिया ? इसमें सन्देह नहीं उच्च-से-उच्च और सुन्दर-से-सुन्दर स्थान मुझको संसारमें प्राप्त हैं । मैं आँखोंमें आँसू बनकर नहीं बैठी, बल्कि फूलपर ओस बनकर बैठी हूँ; लेकिन मुझको यहाँ चैन नहीं, सन्तोष

नहीं, धीरज नहीं। क्योंकि इतने उच्च और कोमल तथा सुन्दर स्थानपर होते हुए भी हवाकी लहरें मुझको डरा रही हैं कि हम तुझको नष्ट किये बग़ैर न रहेंगी और जब हवाकी तेज़ रफ्तारका ख़्याल आता है तो मेरा तमाम सुख नष्ट हो जाता है, मेरा हृदय काँपने लगता है और धड़कन शुरू हो जाती है। उफ़! यह तूने क्या किया जो मुझको अपनेसे जुदा कर दिया और इस संसारके दुःखोंमें डाल दिया, मुझे थोड़ा-सा लालच देकर क्यों फेंक दिया?' समुद्रने उत्तर दिया 'यह तो सब ठीक है, लेकिन मैंने तुझको जुदा इसलिये किया है कि तू इस जुदाई (वियोग) से मेरे संयोगका आनन्द ले सके।'

आपको कभी यह ख़्याल नहीं आता कि आप अपनेसे मिले हैं, क्योंकि आपको अपनेसे जुदा होनेका भी ख़्याल नहीं आता और दरअसल आप जबतक दो नहीं होते अपना मुँह देख ही नहीं सकते। आखिर शीशेमें भी तो अपने आपको देखनेके लिये दूसरा बनना ही पड़ता है।

तो प्रभुने केवल संयोगका आनन्द देनेके लिये यह वियोग पैदा किया है। बस, इस वियोगके पैदा करनेमें प्रेम ही है, इसलिये कि उससे संयोगका आनन्द मिल सकता है। दायरा (circle) जहाँसे शुरू होता है, वहीं आकर मिलता है। जब बिन्दु (point) था, हरकत न थी; जब हरकत हुई, दायरा बन गया। अब यह हरकत क्या है? नुक़्ते (बिन्दु) का अपने नुक़्तेसे मिलना और यह हरकतके बाद। इसी तरह प्रभु एकसे चलकर दो बने और फिर दो बनकर एककी तरफ़ चल दिये। पस, इस क्रियामें सिवा प्रेमके और कुछ है ही नहीं।

प्रेम क्या है?

प्रेम क्या है? त्याग—अहंकारका त्याग, खुदीका तर्क (Self-abnegation)।

When shall I be free?

When 'I' shall cease to be.

प्रेम क्या है? योग यानी वह आकर्षण या वृत्ति कि जो दोको एक करती है। सारांश यह कि प्रेम ही सब कुछ है। अपने सामान्य रूपमें यह परमात्मासे एक हो रहा है और विशेषरूपमें भक्तोंके हृदयमें चमकता है और जहाँ विशेषरूपमें चमकता है, वहाँ प्रेमी बनकर अपने प्रीतमको सामने रखता है और इस तरह अपने प्रीतमसे एक होनेकी कोशिश करता है।

प्रेमके कुछ दर्जे

(१) **पहली अवस्थामें**—प्रेम मनुष्यके अंदर होता हुआ भी अनहुआ-सा होता है और यह मालूम नहीं होता कि उसका प्रीतम कौन है। वह जीवित होता है। उसमें प्रेम प्रेमके रूपमें नहीं रहता बल्कि तलाशकी शक्लमें रहता है और संसारमें अपने प्रियतमको ढूँढ़ता फिरता है, लेकिन यह जानकर नहीं कि वह प्रियतमको ढूँढ रहा है। उसके अंदरका असली स्वभाव उसे प्रीतमकी तलाशमें दौड़ाता है, लेकिन वह समझता है कि वह संसारमें ही कुछ ढूँढ रहा है। इस दर्जेमें प्रेम तो होता है, लेकिन दूसरी शक्ल अख़्त्यार करके। उसकी तलाश प्रीतमके लिये ही होती है; लेकिन जिन चीज़ोंमें वह उसे ढूँढ़ता है, वहाँ वह नहीं मिलता। यह अजब ग्रहण और त्यागकी अवस्था होती है। एकको छोड़ता है तो दूसरीको पकड़ता है, दूसरीको छोड़ता है तो तीसरीको पकड़ता है। लगातार कशमकश बनी रहती है। इसे न ग्रहणमें सुख होता है न त्यागमें। इसकी भूख कहीं नहीं मिटती। आखिर इसको मालूम हो जाता है कि चैन यहाँ नहीं।

(२) **दूसरी अवस्था**—इसकी आँख अपने प्रियतमसे लड़ जाती है, लेकिन प्रियतम खुद बहुत दूर होता है। यह उसको पकड़ना चाहता है, लेकिन पकड़ नहीं सकता। इस अवस्थामें इसको एक बात तो ज़रूर प्राप्त हो जाती है—यह यह कि वह समझ लेता है कि पहली अवस्थाकी दौड़-धूप रहस्यपूर्ण थी। उसका भावार्थ यह था कि जिस चीज़की उसको तलाश थी, वह उनमें न थी कि जिनमें वह आजतक ढूँढ़ता रहा। दूसरी अवस्थामें जब प्रीतमसे आँख लड़ती है और यह उसको पा नहीं सकता तो इसके अंदर संयोग और वियोग दोनों इकट्ठे काम करते हैं। संयोग तो इसलिये कि यह इसको पानेकी कोशिश करता है। इस अवस्थामें प्रेमीकी विचित्र हालत होती है। उस प्यारेका ध्यान बाक़ी तमाम सांसारिक वृत्तियोंको दबा लेता है। सब ध्यान ख़त्म होकर एक ही ध्यान रह जाता है। इस प्रेमके आते ही बाक़ी सब मोह-जाल और इच्छाएँ गिर जाती हैं। लोक और परलोक इसकी दृष्टिसे यों गिर जाते हैं कि जिस तरह नेत्रोंमें सुरमा डालनेसे दो आँसू। इसे बाह्य वृत्तियोंको रोकने और

मिथ्या पदार्थोंको त्यागनेके लिये प्रयत्न ज़रा भी नहीं करना पड़ता। न वैराग्यकी किताबें ही पढ़नी पड़ती हैं और न अपने मनको बार-बार यह समझाना पड़ता है कि ये पदार्थ दुःखदायी हैं, मिथ्या हैं, मृगतृष्णाके जलवत् हैं। बल्कि ये खुद ही इन शक्लोंमें ढल जाते हैं। एक प्रेमीके सामने सुन्दर-से-सुन्दर चीजें अपने प्रियतमके न होनेपर बेकार हो जाती हैं और प्रीतमके साथ छोटे-से-छोटे पदार्थ भी बड़े-से-बड़े हो जाते हैं। प्रीतमके न होनेपर प्रेमीको फूल काँटे, सुख दुःख, स्वर्ग नरक और ज़िंदगी मौतसे बदतर हो जाती है। प्रेमीके मनको प्रीतमके वियोगमें कोई दूसरा पदार्थ प्रसन्न नहीं कर सकता। प्रेमीका मन उसी दिनसे संसारभरके प्रलोभनोंसे निश्चिन्त हो जाता है कि जिस दिनसे उसकी आँख अपने प्रियतमसे लड़ जाती है। सारांश यह कि ऐसे प्रेमीको न तो कोई लालच ही रहता है और न भय। लालच तो इसलिये नहीं कि वह इन चीजोंको चाहता नहीं और भय इसलिये नहीं कि उसे अपने ध्यानकी परिपक्वतामें अपने जीवनकी याद ही भूल जाती है। अगर कोई उसके पास उसके प्रियतमका नाम ले दे तो वह मरा-मरा भी जी उठता है और भूल जानेपर जीवनको भी मौत ख्याल करता है।

(३) तीसरा दरजा—जब प्रेमी अपने प्रियतमको देख लेता है और उसकी समीपताको चाहने लगता है और वह आहिस्ता-आहिस्ता अपने प्रभुके समीप होता जाता है, यहाँतक कि प्रभुकी अत्यन्त समीपता उसको प्राप्त हो जाती है। इस अवस्थामें प्रेमीको भगवान् हर समय सामने ही नज़र आते हैं, थोड़ी भी दूरी नहीं रहती। इस उच्च अवस्थामें संसार और उसके प्रलोभनोंका तो ज़िक्र ही क्या है, आसुरी वृत्तियाँ तो नामको भी वहाँ नहीं पहुँच सकतीं। प्रेमीका खाना-पीना, सोना-बैठना, जागना-उठना एक ही ध्यानमें लीन हो जाता है। वह सब क्रियाएँ करता रहता है, लेकिन क्षणमात्रके लिये भी उसके ख्यालसे अलहदा नहीं होता। लेकिन इस अवस्थामें भी प्रेमीको यह ख्याल आता है कि मैं प्रभुके अत्यन्त समीप हूँ। इसमें भी इसको पूरा चैन नहीं मिलता, या यों कहिये कि इसका वियोग पूर्णरूपसे दूर नहीं होता; क्योंकि यह उसकी समीपताको अनुभव करता है। 'समीपता' शब्दका अर्थ यह है कि वह उसके नज़दीक है—जिसका मतलब यह है कि इसमें अभी अपना आप उसने नहीं खोया, वरना समीपताका ख्याल और दूर होनेका भय भी कैसे होता? यह अवस्था बड़ी उच्च होती है, लेकिन हम इसको पूर्ण नहीं कह सकते। क्योंकि प्रेमीकी पूर्ण अवस्था वह होती है कि जिसमें प्रेमी खुद रहता ही नहीं और समीपताका ख्याल बगैर अपने हुए हो ही नहीं सकता। ऐसी अवस्थामें कभी तो प्रेमीको अभिमान और कभी भय आकर दुःख देते हैं। अभिमान तो इस बातका कि मैं पूर्ण सौन्दर्यके क़रीब बैठा हूँ और भय इस बातका कि कहीं यहाँसे अलहदा न किया जाऊँ। और अक्सर इस प्रकारका मोह भी इस अवस्थामें आ जाता है कि 'देखा, आखिर हमने भगवान्‌को पा ही लिया!' जब भगवान् अपने प्रेमीको इन बातोंका शिकार होते देखते हैं तो उसको थोड़ा-सा परे कर देते हैं और फिर वह अपनी कोशिशसे भगवान्‌को पाना चाहता है, लेकिन नहीं पा सकता। इस हालतमें उसका अभिमान टूट जाता है और इसमें एक प्रकारकी आजिज़ी (दीनता) आ जाती है। अब यह समझने लगता है कि यह प्रेम मेरा अपना न था, यह प्रभुकी देन थी; क्योंकि जबतक दीपक न जले, पतंगा उसमें जल ही नहीं सकता। इसलिये अहंकार और अज्ञानका तो नाश हो गया और भयका नाश भी इसलिये हो गया कि वह समझ लेता है कि जिसने इतनी कृपा करके अपनाया है, वह मुझको क्यों फेंकने लगा।

(४) चौथा दरजा—चौथी अवस्थामें प्रेमीका रहा-सहा अहंकार उस भड़कती हुई प्रेमकी अग्निमें जलकर खत्म हो जाता है, जिस तरह लकड़ी आगमें जलकर खत्म हो जाती है। इस अवस्थामें प्रेमी पूर्णतः अपने आपको प्रभुके अर्पण कर देता है। फिर जिधर भी देखता है, सिवा एक भगवान्‌के और कुछ नज़र ही नहीं आता। अपना-बेगाना, छोटा-बड़ा, दोस्त-दुश्मनको देखतातक नहीं; केवल प्रभु-ही-प्रभु रह जाते हैं। ज्ञान तो इस अद्वैतवादतक गहरी युक्तियों द्वारा लाता है, लेकिन प्रेम बगैर किसी विज्ञान (philosophy) और तर्क (logic) के इसी मंज़िलपर ला खड़ा करता है। अब देखनेको तो प्रेमी 'प्रेमी' कहलाता है, लेकिन उसमें सिवा प्रीतमके और कुछ नहीं होता; यह है प्रेमका सर्वोत्तम लक्षण। भावार्थ यह है कि जहाँ ज्ञानयोग, राजयोग, कर्मयोग मनुष्यको उठाकर यत्नद्वारा लाते हैं, वहाँ यह प्रेम प्रेमीको अपने कंधेपर उठाकर ला डालता है। धन्य है यह प्रेम! लेकिन यह ज़रूर है कि इसकी प्राप्ति सच्चे प्रियतमकी इच्छापर ही निर्भर है।

ना बूद शुदम बूद नमी दानम चीस्त ।
अक्नूँ शुदा अम दूद नमी दानम चीस्त ॥
दिल दादमो जाँ दादमो ईमाँ दादम ।
सूदस्त दिगर सूद नमी दानम चीस्त ॥

मैं नाश हो गया, अब मुझे अपने पहले 'होने' की याद नहीं। मैं सुलगता हुआ कोयला बन गया, मुझे धुँआका ज्ञान नहीं। मैंने हृदय, प्राण और धर्म प्रभुकी भेंट कर दिये—और मुझको सबसे बड़ा फ़ायदा यही मालूम हुआ; इसके अलावा दूसरे फ़ायदेको मैं जानता ही नहीं।

प्रश्न—आप अपने पहले अस्तित्वको भूलकर नाश हो गये! इससे क्या फ़ायदा हुआ? क्या नाश होना भी कोई फ़ायदा है?

उत्तर—बीमारीका नाश होना, अंधकारका नाश होना, बुराईका नाश होना, परिच्छिन्नताका नाश होना और उस अहंकारका नाश होना, जो अपने प्रियतमसे दूर रखता है, क्या फ़ायदा नहीं?

प्रश्न—यह ठीक है। लेकिन बीमारीके दूर होनेपर बीमार तो रहता है, यहाँ तो आप ही नष्ट हो गये?

उत्तर—यह नाश इस प्रकारका नाश है कि जिसमें नाश कुछ भी नहीं होता बल्कि अल्पज्ञता सर्वज्ञताके, परिच्छिन्नता अपरिच्छिन्नताके, किरण सूर्यके और जलकी बूँद समुद्रके अर्पण कर दी जाती है। जलकी बूँदको समुद्रमें फेंका, किरण सूरजमें लिपट गयी तो क्या इनका वास्तविक नाश हो गया? जिस तरह जलकी बूँद समुद्रमें गिरकर नाश हो जाती है, उसी तरह अहंकार प्रभुमें मिलकर नाश हो जाता है। जलकी बूँद समुद्रमें गिरकर अपने आपको फिर कभी नहीं दिखाती बल्कि समुद्रको और उसकी बड़ाईको ही सामने रखती है। कोई भूलकर भी यह नहीं कहता कि यह क़तरा है। इसी तरह जब अहंकार प्रभुमें मिल जाता है तो वह अपने उस नाशसे प्रभुके अस्तित्वको दिखाता है लेकिन खुद कहीं बाहर नहीं जाता। क़तरा (बूँद) तो समुद्रका अंश है। उसको कोई हक उसके नाश करनेका नहीं। हाँ, जिस क़तरेने जल और समुद्रसे अलहदा अपनी हस्ती मुक़र्रर कर ली है और जो इस तरह जल और समुद्रसे अलहदा बन गया है, उसको तो उसे नाश करना ही पड़ता है। वह कहता है कि मैं क़तरा हूँ, मेरी एक खास हस्ती है, मैं एक खुदमुख्तार पदार्थ हूँ। लेकिन जब वह जलको देखता है तो उसका अपना सब कुछ सिवा जलके और कुछ नहीं निकलता। जलतक तो उसको अपनी अलहदा 'मैं' क़ायम करनेका अख्त्यार नहीं; क्योंकि वह 'मैं' जलकी है और जलके बग़ैर क़तरा कुछ रहता नहीं। बस, इस दृष्टिमें क़तरेको कहना पड़ता है कि 'मैं अपने प्रियतमको देखकर नाश हो गया।' वैसे तो कुछ नाश-वाश हुआ नहीं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

नाश हो किसका सकता था? जलका?

वह तो एक सत् पदार्थ था।

नाम-रूपका?

वे थे ही नहीं।

बस, न 'होने'का नाश हो सकता है और न 'न होने' का। हाँ, उस भ्रमका नाश जरूर हो गया, जिसने दूसरेकी चीज़पर झूठा क़ब्ज़ा कर रक्खा था। प्रेमी खुद, जो कि अपने प्रीतमका अंश है, उस अंशको प्रीतमसे अलहदा करके उसपर अपना क़ब्ज़ा जमा लेता है और फिर कुछ-का-कुछ बन जाता है। कहीं शरीर है, कहीं मन है, कहीं बुद्धि है, कहीं प्राण है, कहीं ब्राह्मण है, क्षत्रिय है, महात्मा है, राजा है, गरीब है, अमीर है, छोटा है, बड़ा है, ज्ञानी है, अज्ञानी है, इज्ज़तवाला है, क़िस्मतवाला है—इत्यादि। यह फिर प्रभुके पवित्र अंशपर जो प्रेमीका सांसारिक आरोप होता है, प्रेम उसको जलाकर खाक कर देता है और शेष जो कुछ रह जाता है, वह प्रियतमका वह अंश होता है कि जिसपर प्रेमीने अपने जुदा अहंकारकी दुनिया क़ायम की होती है।

प्रेमकी अग्नि अहंकारको जला देती है और जब यह जल जाता है तो उसको फिर कभी याद भी नहीं आता कि वह था क्या। इस नाशपर सौ जान कुर्बान कि जो प्रियतमसे एक कर देता है! क़तरा समुंदरमें ग़र्क़ होकर समुंदरसे जुदा नहीं रह जाता। जबतक लकड़ीका अपना अस्तित्व आगमें रहता है, उससे धुआँ निकलता रहता है, लेकिन जब जलकर ऐन आग बन जाती है तो धुआँ भी खत्म हो जाता है। इसी तरह जबतक अहंकारका कोई अंश भी प्रीतमके साथ रहता है, दुःख और भ्रमका नाश नहीं होता; और जब बिलकुल मिट गया तो धुआँ खत्म हो गया। मैंने अपने प्रीतमके प्रेममें अपना दिल, प्राण और धर्म सब कुछ दे दिये।

प्रश्न—वाह, अच्छे रहे ! सब कुछ मिलना चाहिये या या सब कुछ दे देना ?

उत्तर—जिस देनेमें फ़ायदा हो, उसका दे देना ही अच्छा है। जब दिल दिया, झगड़े खत्म हो गये; प्राण दिये, मौतसे आज़ाद हो गये ! और जब सांसारिक धर्म उनकी भेंट किया तो बड़ा धर्म मिल गया, क्योंकि बड़ा धर्म यही है कि उसको अपना सर्वस्व देकर उससे एक हो जावे । प्रेमीको लेनेकी फ़ुरसत ही कहाँ है ? उसे तो सब कुछ देना-ही-देना है । सब कुछ प्रियतमको दिया, वह तो लालचमें आकर ले गये; लेकिन प्रेमी अजीब चतुर निकला कि अपना आप उनको देकर उनके नज़दीक बैठ गया और जब कभी प्रभुने उस धनपर ये शब्द फरमाये कि 'ये हैं मेरी चीजें' तो प्रेमी फूला नहीं समाया और कहने लगा कि 'हाँ, मैं इनका हूँ' और दबी ज़बानसे यह भी कह दिया कि 'यह मेरे हैं ।' वाह, वाह, क्या सौदा है !

(शेष फिर)

प्रत्याहार-साधन

(परमपूजनीय श्रीश्रीभार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द स्वामीजीके साधनसम्बन्धी उपदेशसे)

प्रत्याहार किसे कहते हैं ? प्रत्याहारका अर्थ है इन्द्रियोंको विषयोंसे लौटाकर ध्येय पदार्थमें संलग्न करना । इन्द्रियाँ विषयको प्राप्त करना चाहती हैं भोग करनेके निमित्त । विषयके प्रति इन्द्रियोंकी बहुत दिनोंसे एक प्रकारकी प्रीति (आसक्ति) उत्पन्न हो गयी है, इसी कारण इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर जाना चाहती हैं । विषय क्या हैं ? रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध । (विपूर्वक 'षीञ् बन्धने' धातुसे विषय शब्द बनता है) ये विषय विशेष करके मनको बाँधे रखते हैं और भगवान्‌की ओर नहीं जाने देते; इसी कारण इनका नाम विषय है । मन कभी रूपकी ओर, कभी रसकी ओर, कभी शब्दकी ओर, कभी स्पर्शकी ओर और कभी गन्धकी ओर दौड़ता है । यही उसका स्वभाव है । यदि ऐसी कोई वस्तु प्राप्त की जा सके, जिसमें ये सभी विषय प्राप्त हों, तो फिर इन्द्रियाँ विषयोंके लिये चलायमान न होंगी । जिससे उत्कृष्टतर कोई रूप नहीं है, इस प्रकारके रूपको यदि नेत्र देख पावें, तो वे फिर अन्य किसी रूपको देखनेके लिये लालायित न होंगे । जिससे बढ़कर कोई मधुर रस नहीं, ऐसे रसका आस्वादन यदि रसना कर सके, तो वह पुनः किसी दूसरे रसका स्वाद लेनेके लिये लोलुप न होगी । जिससे मधुरतर और कोई शब्द नहीं है, इस प्रकारका शब्द यदि श्रोत्र श्रवण कर सकें, तो वे पुनः अन्य किसी शब्दके श्रवणके लिये व्याकुल न होंगे । जिससे बढ़कर कोई सुखकर स्पर्श नहीं, यदि इस प्रकारके स्पर्शका अनुभव स्पर्शेन्द्रिय (त्वक्) को प्राप्त हो जाय, तो वह फिर अन्य किसी स्पर्शका अनुभव करनेके लिये चञ्चल न होगी । जिससे बढ़कर कोई दूसरा मनोहर गन्ध नहीं, यदि घ्राणेन्द्रिय इस प्रकारके गन्धका आघ्राण—भोग कर सके, तो फिर वह किसी अन्य वस्तुके आघ्राणके—उपभोगके लिये व्यस्त न होगी । देखा जाता है कि जिससे उत्कृष्टतर रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध कहीं नहीं है, इस प्रकारके रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्धके एकमात्र आधार श्रीभगवान् ही हैं । अतएव यदि विषयोंसे मनको हटाकर भगवान्‌में लगाया जाय, तभी यथार्थ प्रत्याहार-धर्मका साधन किया जा सकता है ।

स्वभावतः हमारी इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर जाना चाहती हैं, विषयोंमें ही रहना चाहती हैं; इसीलिये उपासनाके समय उन्हें बलपूर्वक लौटा करके भगवान्‌के चरणमें लगाते समय इतना कष्ट होता है । इन्द्रियाँ जो कुछ देखना चाहती हैं, सुनना चाहती हैं, अथवा अन्य किसी विषयको प्राप्त करना चाहती हैं, उन सबको यदि तुम भगवान्‌के रूपमें ही परिणत कर सको, तो फिर इन्द्रियोंको इन विषयोंसे लौटा लेनेकी आवश्यकता ही न होगी तथा तज्जनित कष्टका भी अनुभव न होगा । इन्द्रियाँ जहाँ चाहें वहाँ रहें, परन्तु रहें उसे भगवान् ही समझकर । भूलोकमें जो कुछ स्थित है, भुवर्लोकमें जो कुछ विद्यमान है, स्वर्लोकमें जो कुछ है, सब कुछ राम ही हैं—यदि तुम इस प्रकारका चिन्तन कर सकते हो तो इसके परिणामस्वरूप भूर्भुवः स्वः—इन तीनों लोकोंके चाहे किसी भी विषयमें इन्द्रियाँ क्यों न रहें, उससे कोई हानि नहीं हो सकती; वह भी प्रत्याहार ही कहलायेगा । इस प्रकारकी भावना प्रत्याहार-सिद्धिका एक बहुत उत्तम साधन है ।

—रामशरण ब्रह्मचारी

निराकार-उपासनाका साधन

(पुरोहित पं० श्रीहरिनारायणजी, बी० ए०, विद्याभूषण)

परमात्माको स्मरण करनेके इस संसारमें प्रायः दो ही मार्ग देखे जाते हैं—(१) निराकार-उपासनामार्ग, (२) साकार-उपासनामार्ग । संसारके धर्मोंके इतिहास और धर्मानुसारी जातियोंके अनुभवसे यह बात प्रत्यक्ष और निर्विवाद है । ईश्वर-स्मरण और उपासनाके विषयमें यह बात ध्यानपूर्वक विचारनेकी है कि साधारण जनसमुदायमें—संसारमें कहीं भी दृष्टि डालकर देख लीजिये—यह बात मनुष्योंके नैसर्गिक, स्वाभाविक तथा अकृत्रिम भावनाओंमें तुरंत प्रकट होती है कि भगवान्‌को लोग अपनेसे बाहर ही कहते हैं, जानते हैं और लिखतेतक हैं । बातोंमें कहीं भगवान्‌की बातकी प्रतीति या शपथ अथवा प्रमाणकी बात आती है तो साधारण जन हाथ या अँगुलीको आकाशकी ओर उठाते हैं, या किसी देवालय, उपासना-स्थान अथवा उपास्य देवको याद करते हैं । ध्यान-पूजनतकमें साधारण आदमी ऐसा ही करते हैं । अपने उपास्य इष्टदेवोंके स्थान, लोक और निवासस्थानोंके ग्रन्थोंतकमें गहरे रंगके साथ विस्तृत वर्णन हैं । स्वर्ग, सत्यलोक, विष्णुलोक, शिवलोक, 'अर्श' और 'फलक', परलोक, सचलोक (सिक्खोंके मतमें) अथवा अकाल पुरुषका लोक इत्यादि स्थानादि ईश्वरके या देवोंके बताये जाते हैं । इनसे ईश्वरका अपने बाहर होनेका मानुषीय साधारण प्रकृतिका भाव जाना जाता है । सिद्धान्तकी बात, उच्चकोटिके विचारोंकी बात जब आती है तो ईश्वरको सर्वव्यापक कहनेसे ईश्वरका सर्वभूत-प्राणी-व्यक्तिमें वर्तमान होना कहनेसे उसका मनुष्यशरीरमें भी विराजना कहा जाता है । और वेदान्त, 'सूफी' मत, 'थिऑसाफी', 'साइकिकल' सम्प्रदाय इत्यादिमें तथा योगियों, पहुँचे हुए फ़क़ीरों, उच्चकोटिके महात्माओंमें ईश्वरको हृदयमें, दिलमें, मन और बुद्धिमें, सारे शरीरमें, जीवात्मामें, आत्माका आत्मा, जीवका जीव, 'जानका जान' इत्यादि वचनोंसे स्मरण करते हैं ।

इतना-सा कहनेका उपासनाके साधनोंकी नैसर्गिक स्थितिका दिग्दर्शन करा देना ही प्रयोजन है । साकार-उपासनासे शनैः-शनैः निराकार-उपासनाकी स्थिति अंशतः प्राप्त होने लगती है, यदि सद्गुरुका उपदेश और शिक्षण भगवत्कृपा और प्रारब्धसे अनुकूल होता जाय । वेदों, उपनिषदों और अद्वैत वेदान्तके ग्रन्थोंके अनुसार परमात्मा निराकार ही प्रमाणित हुआ है । यद्यपि कहीं-कहीं उसे साकार भी कहा गया है, परन्तु वहाँ साकारके कथनसे माया या प्रकृति-उपहित चेतनका ही तात्पर्य है । उस दशामें ईश्वर उभयरूप है । कहीं-कहीं उपनिषदोंमें दोनों रूपोंका उल्लेख दिखायी पड़ता है । यथा—

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' (बृहदारण्यक० २ । ३ । १)—ब्रह्मके दो रूप हैं । तथा 'एतद्वै सत्यकाम ! अपरं च परं च' (प्रश्नोपनिषद् ५ । २)—हे सत्यकाम ! यही तो परब्रह्म है, यही अपर ब्रह्म है । और श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में 'मायिनं तु महेश्वरम्'—परब्रह्म जब मायासे युक्त होते हैं, तब वे महेश्वर हैं । और कठोपनिषद् (१ । ३ । १५) में—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'—वह ब्रह्म न तो कानोंसे सुना जाता है न स्पर्शमें आता है, न उसका कोई रूप है; वह तो अव्यय है, उसका कुछ घटता-बढ़ता नहीं है । और छान्दोग्योपनिषद्‌में तो—'सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः' (३ । १४ । २)—उसीसे वा उसीमें सब कर्म है, सब इच्छाएँ हैं, सब प्रकारकी गन्ध हैं, सब प्रकारके रसादि हैं—ऐसा कहा है । यह सगुण और निर्गुणका प्रत्याख्यान हुआ । कहीं-कहीं तो सगुण और निर्गुणमें कोई भेद ही नहीं बताया है—वही ब्रह्म निर्गुण-निराकार और वही सगुण-साकार, वही पर और वही अपर ऐसा कहा है । यथा—मुण्डकोपनिषद् (२ । २ । ८) में 'तस्मिन् दृष्टे परावरे'—वह पर और अवर दिखायी देता है, वही निर्गुण-सगुण है—ऐसा प्रतीत होता है । यद्यपि ऐसा कथन है, परन्तु वस्तुतः सिद्धान्तमें परमात्मा परब्रह्म निर्गुण-निराकार ही है । उसका साकारत्व, सगुणत्व उसके योगमायासे समावृत होनेसे है, उपाधिके कारणसे है । अनेक उपनिषदोंमें अनेक स्थलोंपर परब्रह्मका जो वर्णन है, उससे ब्रह्मका निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, केवल, निरामय इत्यादि विशेषणोंसे निश्चय जाना जाता है । यथा—

(१) 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् ।'

(बृहदारण्यक० २ । ५ । १९)

---

(१) वह यह ब्रह्म अपूर्व है, उस-सा और कोई नहीं है, अबाह्य है, सर्वव्यापक अन्तर्यामी है ।

चले; तब वह गुरुदेव कृपा करके ज्ञान सिखावेंगे, विधि और मार्ग बतावेंगे और सुझावेंगे। ऐसे सत्यज्ञानके पारङ्गत गुरु जैसा मार्ग बताते हैं, वह वेदान्तशास्त्रमें वर्णित है। परन्तु वह गुरुगम्य ही होता है। उसका थोड़ा-सा भान नीचे लिखे वर्णनसे भी हो सकेगा।

जिज्ञासुको प्रथम उस ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये वह तैयारी करनी पड़ती है, जिससे वह उसका अधिकारी और उसके योग्य बनता है। गुरुदेवसे ध्यानपूर्वक सारभूत ज्ञान लेता रहे और साधना करता रहे—

'यत्सारभूतं तदुपासितव्यम्।' 'सारभूतमुपासीत ज्ञानं यत् स्वार्थसाधकम्।'

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥

जो साररूप ज्ञानके पदार्थ हैं, उनको लेकर साधन करे। अपने अर्थकी साधक जो बात हो उसको--क्या बड़े और क्या छोटे-ग्रन्थादि उपदेशोंसे, भौंरा जैसे पुष्परसोंको ग्रहण करता है, वैसे ही ग्रहण करे। ऐसा न करेगा तो ज्ञान तो अनन्त समुद्र है, उसका पार ही क्या। अनेक आयु पा लेनेपर भी पार नहीं आवेगा। गुरु-कृपा और अपने सच्चे भाव और साधनसे सारग्राही होकर ज्ञानोपार्जन करनेपर शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। अति नम्रता और विनय तथा भक्तिपूर्वक गुरुसे ज्ञान सीखे और जहाँ न समझे, वहाँ फिर पूछे, सीखे हुएका निरन्तर विवेकवृत्तिसे अभ्यास करे। सीखे हुएको मननपूर्वक बुद्धिमें धारण करता रहे। इस प्रकार ज्ञानकी उन्नति होती रहेगी। जिस शिष्यने पहले सत्कर्म और सदुपासनाके साधनोंसे अपने अन्तःकरणकी उत्तम शुद्धि कर ली है, उसपरके मल और विक्षेपको शनैः मिटा लिया है, अर्थात् निष्काम कर्मोंके अनुष्ठानोंद्वारा मल दूर किया है और इष्टकी उपासना (भक्ति-सेवा-साधनादि) द्वारा विक्षेप दोष दूर कर लिया है—उसके अब केवल अज्ञानका ही आवरण शेष रहा है। ऐसा जिज्ञासु मोक्षकी इच्छा रखता हुआ गुरुसे मोक्षमार्गकी प्रार्थना करे। तब गुरु उसे कृपा कर वह ज्ञानमार्ग—मोक्षकी सड़क—बताते हैं।

प्रथम विवेकको बताते हैं कि आत्मा नाश और विकारसे रहित है। इसमें कोई क्रिया भी नहीं है। यह अटल-अचल है। परन्तु यह संसार विकारी है; इसमें परिवर्तन, परिणाम और क्रिया होती रहती हैं। इससे यह जगत् आत्मतत्त्वका विरोधी स्वभाववाला है। ऐसा ज्ञान रखना ही विवेक है। यह विवेक ही सारे साधनोंका प्रधान मूल है। विवेक हो जानेसे वैराग्य, त्याग आदि सब साधन उत्तरोत्तर होते जायँगे। विवेकके उत्पन्न हुए बिना अन्य साधन बन ही नहीं सकते।

विवेकके आगे वैराग्य होता है। फिर शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा—ये छः साधन शमादि षट्-सम्पत्ति कहलाते हैं। यह शमादि षट्सम्पत्ति ज्ञानका विख्यात साधन है। यों इन तीन साधनोंके होनेसे शिष्यको मुमुक्षु (मोक्षकी इच्छा और प्राप्तिवाला) होनेका अधिकार हो जाता है। तब वह मुमुक्षुताका साधन करता है। यों विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता—ज्ञानके इन चार अन्तरङ्ग साधनोंकी मुख्यता है।

इनकी साधनाके साथ या इनसे आगे श्रवण (गुरुद्वारा शास्त्रोंका ज्ञान सुनना-सीखना), मनन (जीव-ब्रह्मकी एकताको प्रतिपादन करनेवाली और भेदको निवारण करनेवाली युक्तियोंका चिन्तन करना), निदिध्यासन (अनात्म-पदार्थोंके ज्ञानसे जो वृत्तियाँ उत्पन्न हों, उनको ज्ञानशक्ति और विचारसे हटाकर मननके फल और तारतम्यसे ब्रह्माकार वृत्ति—सत्-चित्-आनन्दरूपताके साथ ध्यानोन्नत अवस्था वा स्थिति रखना) ये तीन साधन हैं। निदिध्यासनकी परिपक्व अवस्थाहीको समाधि कहते हैं। समाधि कोई पृथक् या भिन्न साधनविधि नहीं है। ये श्रवण, मनन और निदिध्यासन—तीनों साधन बुद्धिके संशय और विपर्यय (असम्भावना और विपरीतभावना) के नाशक हैं। इसलिये ये ज्ञानप्राप्तिके हेतु हैं। इन तीनों साधनोंके सिद्ध हो जानेपर ही गुरुदेव अपने शिष्यको चौथा साधन (जो विवेकादि चार और श्रवणादि तीनके अनन्तर आठवाँ है) वेदान्तके वाक्योंका ज्ञान कराते हैं। तत् पद और त्वं पदका शोधन अर्थके प्रतिपादनद्वारा बताते हैं। जब गुरु शिष्य अधिकारीको 'तत्त्वमसि' (वह ब्रह्म तू आत्मा है—अर्थात् तेरी आत्मा ब्रह्म है) ऐसा वाक्य कहें, तब अधिकारी मुमुक्षु शिष्यको यह ज्ञान-भान होता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं—मेरी आत्मा—ब्रह्म ही है)। जैसे किसी देवदत्त-को शिवदत्त ऐसा कहे कि तुम 'बड़े बुद्धिमान् हो' तो इस

शिवदत्तके वाक्यको सुनते ही देवदत्तको तुरंत ही यह ज्ञान भान हो जायगा कि 'मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ ।' (मुझे शिवदत्त बुद्धिमान् बताता है, अतः मैं बुद्धिवाला पुरुष हूँ) । इसी प्रकार उपर्युक्त वेदान्तवाक्यके श्रवणसे मुमुक्षु अधिकारी शिष्यको यह ज्ञान-भान हो जाता है कि मेरी आत्मा ब्रह्मस्वरूप है और इस ज्ञानके शोधनसे आत्मा और परमात्माकी एकता—अर्थात् ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान उसे प्राप्त होता है । यही उसका परम और चरम ध्येय है । इस ध्येयको प्राप्त करके वह कृतकृत्य हो जाता है ।

वेदान्तवाक्य श्रवण करके गुरुकी शिक्षाके अनुसार अधिकारी मुमुक्षु उस वाक्यके अर्थको अपने आत्मामें गहरी रीतिसे विचारता है । ऐसी विवेकभरी विवेचना करता है—जैसे ब्रह्म तो अधिष्ठान है और जगत् अध्यस्त है, ब्रह्म द्रष्टा—साक्षी चेतन है और प्रकृतिजन्य संसार दृश्य और जड है, ब्रह्म तो साक्षी कूटस्थ है और सृष्टि साक्ष्य और विकारी है । वह, जैसे हंस क्षीरमें मिले हुए नीरको क्षीरसे पृथक् कर देता है वैसे ही विवेक-ज्ञान-मननद्वारा और गुरुकी बतायी हुई प्रक्रियासे सत्को असत्से, अपने विचारके लोकमें, न्यारे करके दिव्य ज्ञान प्राप्त करता है । वह पहले वेदान्तके उन वाक्योंके अर्थ और रहस्यको विचारता है जो ब्रह्म, जीव, माया और उनके प्रतिपादक पदार्थोंको बताते हैं । यथा'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि—इनसे ब्रह्मके लक्षणोंका परोक्ष ज्ञान ही हुआ । ऐसे वेदान्तवाक्य 'अवान्तरवाक्य' ही कहलाते हैं । और 'तत् त्वम् असि' (तत्त्वमसि)—इत्यादि वेदान्तवाक्य ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान प्रतिपादन करते हैं, इससे वे 'महावाक्य' कहे जाते हैं ।

जिस जिज्ञासुका बहिरंग साधनों (कर्म और उपासना आदि) से अन्तःकरण शुद्ध हो गया, उसको अन्तरंग साधन (श्रवण, मनन, निदिध्यासन और वेदान्तवाक्योंके संशोधनसे पूर्व विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता—साधनचतुष्टय) निरन्तर करनेसे दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

शम (विषयोंसे मनका रोकना), दम (इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना), श्रद्धा (गुरुके वचन और वेदादि सच्छास्त्रमें विश्वासरूपी निश्चय) एवं समाधान (शब्दादि विषयोंसे रोके हुए अन्तःकरणको श्रवणादि साधनोंमें तथा उनके अनुसारी या उपकारी अभिमानरहितता आदि साधनोंमें निरन्तर लगाना और चिन्तन करना), उपरति (साधनों-सहित बहिरंग कर्मका त्याग करते हुए विषयोंको विष-समान त्यागना), तितिक्षा (सहनशीलता; सुख-दुःख, गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदिको सहना, इनसे घबराना नहीं)—ये शमादि छः साधन परस्पर सम्बन्ध रखते हैं—एक-दूसरेके सहायक होते हैं । यदि न हों तो इन्हें साधनमें विघ्नरूप जानना चाहिये । ये छहों एक वर्गमें रहकर एक साधन ही कहाते हैं । परन्तु यह बहुत आवश्यक है । मुमुक्षुका यह एक मुख्य साधन है ।

इसके साथ विवेक और वैराग्य प्रथम और मुमुक्षुता (संसारके बन्धनों और अज्ञानरूपी अध्याससे निवृत्त होकर सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति हो, ऐसी उत्कट इच्छा या मनकी गहरी लगन) अनन्तर होती रहे और उस तीव्र इच्छासे ब्रह्मप्राप्तिके साधन गुरुसे प्राप्त करे ।

वे साधन श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा 'तत्' पद, 'त्वं' पद आदि वेदान्तवाक्योंका शोधन—जैसा कि ऊपर कहा गया [उपर्युक्त विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता—इन चारको लेकर] आठ ज्ञानके अन्तरंग साधन हुए । साधनसम्पन्न मुमुक्षु जिज्ञासु अधिकारीको गुरुदेव वेदान्तके महावाक्योंका ज्ञान प्राप्त कराते हैं । उस अधिकारीका निर्मल शुद्ध अन्तःकरण उन वाक्योंसे पवित्र अद्वैत ब्रह्मज्ञान-को पाकर अपरोक्षानुभवमें प्रवेश करके ब्रह्मानन्दको पाता है । परमानन्दकी प्राप्ति ही सब साधनोंका मुख्य प्रयोजन और ध्येय है । उस आनन्दकी प्राप्ति प्रभुकृपा और गुरुकृपासे मिल जानेपर ज्ञानसाधनके निरन्तर प्रभावसे ब्रह्मपरोक्षानुभव होता है । यह किन्हीं दिव्य आत्माओंको तो शीघ्र थोड़े कालमें ही हो जाता है और वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं—उनको परमहंसगति प्राप्त होती है और अन्य शुद्ध आत्माओंको क्रमशः इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें अथवा कई-एक जन्मोंमें मिल ही जाती है । अर्थात् उस ज्ञानीकी आत्मा

ब्रह्ममें लीन हो जाती है, उसका फिर जन्म नहीं होता; वह तो सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्म या ब्रह्मीभूत अवस्थाको पहुँच जाता है। बस, हो गया निरञ्जन निराकार उपासना-साधनाका महोच्च सुफल। अन्य साधनोंसे भी उत्तम गति प्राप्त होती है, परन्तु उनसे जन्मान्तर नहीं मिटता।

यह विषय महान् और बहुत गम्भीर है। इसमें बहुत कुछ कहना शेष है। परन्तु यहाँ न स्थान है और न समय ही इतना है कि विस्तारसे लिखा जाय।

इस युगकी साधना

(लेखक—श्रीयुत नलिनीकान्त गुप्त)

सबसे प्रथम और आदि सत्य है जड—जड जगत्, जिसका अंश हमारा यह स्थूलशरीर है। इस क्षेत्रमें केवल जड शक्तिकी क्रिया होती है, स्थूल-भौतिक रासायनिक क्रिया और प्रतिक्रिया होती है।

परन्तु सृष्टिमें एकमात्र जड ही नहीं है; एक सजीव वस्तु, प्राणवान् सत्ता भी है। देहके अतिरिक्त भी हमारे अंदर हमारा जीवन, हमारा प्राण है। यह प्राण जडका ही एक विशेष धर्म या क्रिया या रूपमात्र नहीं है। इसकी अपनी पृथक् सत्ता भी है; इसका अपना धर्म, कर्म और सार्थकता भी है। जडके समान ही प्राणका भी एक सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है और उसीका अंश हमारी प्राणशक्ति है, विश्वजीवनके अंदर ही हमारा जीवन घुला-मिला है। जडके ऊपर दूसरा स्तर यह प्राण है।

प्राणके अतिरिक्त, प्राणके अंदर और ऊपर और एक वस्तु है—वह है मन। यह मन प्राणकी ही एक विशेष क्रियामात्र नहीं है, इसकी भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता और सार्थकता है। इसका भी एक सम्पूर्ण लोक है। हमारा मन इस विश्व-मनका अंश और व्यष्टिरूप है। यह मन है तीसरा स्तर।

यह मन ही अन्तिम वस्तु नहीं है। मनोमय लोकके ऊपर और पीछे और एक लोक है—उसको कभी-कभी विज्ञानमय लोक कहते हैं—हम साधारण तौरपर उसका नाम अध्यात्मचेतनाका लोक रख सकते हैं। यह है चौथा या तुरीय अधिष्ठान।

विश्वसृष्टिका रहस्य यही है कि इस लोकपरम्पराके चिरकालसे वर्तमान रहनेपर भी, इन लोकोंके अनादि, अनन्त, सनातन होनेपर भी इनका प्राकट्य हुआ है एकके बाद एक—इस क्रमसे। सबसे पहले लोकके अंदर, उसका आश्रय लेकर सृष्टिका अभियान शुरू हुआ और वहींपर अन्यान्य लोक एकके बाद एक मूर्त्त हो रहे हैं।

अनेक युगोंतक आरम्भमें केवल जड था—जड-ही-जड था—निर्जीव, प्राणहीन वस्तुओंका ही समारोह था। उसके अंदर एक दिन प्राण उतर आया। इस कारण एक प्रकारका विप्लव, रूपान्तर उपस्थित हुआ। सृष्टिके एक अंशमें प्राणके धर्मने जडको अधिकृत, नियन्त्रित किया—जीवकी, प्राणीकी उत्पत्ति हुई। जीवके, प्राणीके अंदर जडका धर्म अब अक्षुण्ण नहीं रहा; वह एक बृहत्तर, ऊर्ध्वतर धर्मके द्वारा परिवर्तित हुआ।

इसी प्रकार एक और विपर्यय, विप्लव उपस्थित हुआ जब और जहाँपर प्राण इतना पुष्ट और परिपक्व हो गया कि उसके अंदर मनोमय शक्ति अवतरित हुई—फलस्वरूप मनुष्यका आविर्भाव हुआ। मनके धर्मके द्वारा प्राण और देहको गठित, नियन्त्रित करना ही मनुष्यत्वकी साधना हुई।

मनुष्य अपनी मनन-शक्तिके जोरसे अपने जीवनमें मनसे ऊर्ध्वतर, ऊर्ध्वतम शक्तिको उतारकर जीवनको नयी मूर्तिमें ढालनेका प्रयत्न युग-युगसे करता आ रहा है। साधक, शिल्पी, संस्कारक, आदर्श व्रती—सबने अपने-अपने मार्गसे यही साधना की है।

परन्तु वर्तमान समयमें आवश्यकता है पूर्वकालकी युगसन्धियोंकी तरह एक प्रकारके आमूल परिवर्तनकी, विप्लवकी—एक नये जगत्को, नये जगत्की शक्तिको नीचे उतारकर एक प्रकारकी नयी सृष्टिके लिये आयोजन करनेकी।

हम कह चुके हैं कि मनके ऊपरका लोक है विज्ञानमय,

अध्यात्मलोक । इसी अध्यात्मलोकको नीचे उतारकर मनोमय लोकमें प्रतिष्ठित करना होगा—अध्यात्मके धर्मके द्वारा मनोमय, प्राणमय और अन्नमय स्थितिको गठित, नियन्त्रित करना होगा ।

अध्यात्मलोककी किरण, कण, प्रभा पृथ्वीके मनोमय लोकमें बहुत बार दिखायी पड़ी है, इसमें सन्देह नहीं—जहाँ-तहाँ उसने रूप ग्रहण करनेकी भी चेष्टा की है । परन्तु वह समूचा लोक अर्थात् उसकी पूर्ण शक्ति चिरस्थायी होकर, पृथ्वीके ऊपर पृथ्वीके अच्छेद्य और स्वाभाविक अङ्गके रूपमें, अभीतक प्रतिष्ठित नहीं हुई है ।

जिस प्रकार पृथ्वीपर उद्भिज्ज समाज, प्राणी-समाज, मानव-समाज विद्यमान है उसी प्रकार मनुष्यके बाद सिद्धोंका, आध्यात्मिक पुरुषोंका समाज—देवसमाज भी वर्तमान रहेगा ।

मनुष्यतक, मनुष्यको जन्म देनेके समयतक प्रकृतिकी अवचेतन साधना चलती रही है । अब मनुष्यके मनोमय पुरुषका आश्रय लेकर प्रकृति सचेतन हो गयी है—प्रकृतिका सचेतन यन्त्र होकर मनुष्यको मनुष्यके ऊपर चला जाना होगा, उसे पहुँचना होगा अध्यात्मलोककी अध्यात्म-चेतनामें, उसके अंदर स्थिरप्रतिष्ठ होकर, उसके अंदर परिपूर्ण होकर उसे नीचे उतार लाना होगा—मनको, प्राणको और देहतकको उसी चेतनाके द्वारा और उसी सत्ताकी ज्योतिके द्वारा अमर बना देना होगा ।

सृष्टिकी, प्रकृतिकी गति, परिणतिका सम्भवतः यहाँ भी अन्त नहीं हो जायगा—विवर्तनकी धारा सम्भवतः अनन्त है । परन्तु आजकी साधना है एक विशेष युगसन्धिका प्रयास—इसका अर्थ है अपरार्द्धसे परार्द्धमें सृष्टिका आरोहण—अपरार्द्धका ऊपर परार्द्धके अंदर पहुँच जाना । अबतक सृष्टिकी चेतनाकी गति अन्धकारसे आरम्भ होकर अस्पष्ट प्रकाशके अंदर आयी थी, अब वह गति प्रकाशसे—पूर्ण प्रकाशसे चलकर पूर्ण प्रकाशके भीतरसे होकर पूर्ण प्रकाशके अंदर उपस्थित होगी ।

अपरार्द्धमें—देह, प्राण और मनको लिये हुए जो अर्द्ध है उसके अंदर ऊर्ध्वतर प्रतिष्ठान निम्नतर प्रतिष्ठानको पूर्णरूपसे आयत्त या रूपान्तरित नहीं कर सकता । प्राण जड़को आयत्त करके, नियन्त्रित करके प्राणीके रूपमें परिणत तो हुआ—प्राणीके अंदर प्राणशक्ति प्रधान तो हुई; फिर भी प्राण जड़के आकर्षणको, प्रभावको पूर्णरूपसे अतिक्रम नहीं कर सका । उसी तरह मनका आविर्भाव होनेपर जब मनुष्य उत्पन्न हुआ तब मन, प्राण और जड़ देहको आधार तो बनाया, उन्हें नियन्त्रित तो किया; पर स्वयं भी बहुत कुछ उनके द्वारा प्रभावान्वित होकर ही रहा । एक परार्द्धमें ही जब हम पहुँचते हैं तब नीचेके सभी धर्मोंको पूर्णरूपसे पार कर जाते हैं; तभी ये पूर्णरूपसे ऊपरके धर्मके अधीन होते हैं, ये एकदम रूपान्तरित हो जाते हैं । इसका कारण यह है कि इनकी जो निगूढ़ सत्य सत्ता है, उसका मूल उस परार्द्धकी चेतनामें ही है ।

बिना गुरुका साधक

नाव मिली, केवट नहीं कैसे उतरै पार ॥
कैसे उतरै पार पथिक बिस्वास न आवै ।
लगै नहीं बैराग यार कैसे कै पावै ॥
मन में धरै न ज्ञान, नहीं सतसंगति रहनी ।
बात करै नहिं कान, प्रीति बिन जैसे कहनी ॥
छुटी डगमगी नाहिं, संत को बचन न मानै ।
मूरख तजै बिबेक, चतुराई अपनी आनै ॥
पलटू सतगुरु शब्द का तनिक न करै बिचार ।
नाव मिली, केवट नहीं कैसे उतरै पार ॥

—पलटू

पञ्चदेवोपासना

(लेखक—पं० श्रीहनूमानजी शर्मा)

चिन्मयस्याप्रमेयस्य निष्कलस्याशरीरिणः । साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥ १ ॥

(तन्त्रसार)

पूर्वाङ्ग

(१) देवपूजासे मनुष्यका कल्याण होता है। सुख, शान्ति और सन्तोष मिलते हैं। उत्तम विचारोंका उदय होता है। शरीरमें अलौकिक शक्ति आती है। स्वभावमें स्वाधीनता बढ़ती है और ब्रह्मकी ओर मन लगता है। देवता ब्रह्मके अंश-प्रसूत हैं। 'पञ्चदेव' ब्रह्मके प्रतिरूप हैं। ब्रह्म अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप एवं अशरीरी हैं। ब्रह्मके साम्राज्यमें हमारे सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र या भूमण्डल-जैसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं और ब्रह्म उनके अधिष्ठाता हैं। वे सर्वगत होनेपर भी जाने नहीं जा सकते। उनको वही जान सकते हैं जो संसारी बन्धनोंसे मुक्त, लोक-व्यवहारोंसे विमुक्त और फलाशाओंसे सर्वथा उन्मुक्त हैं। सामान्य मनुष्योंसे ऐसा हो नहीं सकता। जिसने किसी प्राणी, पदार्थ या देवादिको देखा नहीं वह उसके स्वरूपको हृदयाङ्कित कैसे कर सकता है? मान लीजिये किसीने गौ, कमल, रुपये या राजाको कभी देखा नहीं और उससे उनका स्वरूप पूछा जाय तो कैसे बता सकता है! यही बात ब्रह्मके सम्बन्धमें है। अतएव अमूर्त ब्रह्मको हृदयङ्गम करनेके लिये मूर्त ब्रह्म 'पञ्चदेव' (विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और शक्ति) की साधना अवश्य ही आवश्यक और श्रेयस्कर है और इसीलिये यहाँ उसका परिचय दिया जाता है।

(२) 'पञ्चदेव' की साधनामें यह सन्देह हो सकता है कि अन्य देवोंकी अपेक्षा इनका ऐसा प्राधान्य क्यों है। इसके समाधानमें दो उपक्रम उपस्थित करते हैं। एक यह है कि 'पञ्चदेव' पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाशके अधिष्ठाता या तन्मय हैं और पञ्चतत्त्व ब्रह्मके स्वरूप हैं। अतएव अशरीर ब्रह्मकी उपासना सशरीर पञ्चदेवके द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है। कपिलतन्त्रमें लिखा है—

आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी ।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः ॥

'विष्णु आकाशके, सूर्य वायुके, शक्ति अग्निकी, गणेश जलके और शिव पृथ्वीके अधिपति हैं।'

दूसरा यह है कि व्याकरणके नियमानुसार अन्य देवोंकी अपेक्षा पञ्चदेवके धात्वर्थक नाम ही ऐसे हैं, जिनसे उनका ब्रह्म होना द्योतित होता है। यथा 'विष्णु' (सबमें व्याप्त), 'शिव' (कल्याण-कारी), 'गणेश' (विश्वगत सर्वगणोंके ईश), 'सूर्य' (सर्वगत) और 'शक्ति' (सामर्थ्य)—इन नामोंका पूर्ण अर्थ ब्रह्ममें ही घटता है। अतएव अन्यकी अपेक्षा इनकी साधना अधिक हितकर है।

(३) वेद, पुराण और धर्मशास्त्रोंमें देवपूजाका महान् फल लिखा है। इसकी साधनासे ब्रह्मकी उपासना स्वतः हो जाती है। संसारमें देवपूजा स्थायी रखनेके प्रयोजनसे वेदव्यासजीने ब्रह्मा, विष्णु, महेशादिके जुदे-जुदे पुराण निर्माण किये हैं। उनमें प्रत्येकमें प्रत्येक देवताका प्राधान्य प्रतिपादित किया है—यथा विष्णुपुराणमें 'विष्णु' का, शिवपुराणमें 'शिव' का, गणेशपुराणमें 'गणेश' का, सूर्यपुराणमें 'सूर्य' का और शक्तिपुराणमें 'शक्ति' का। इन सभीको (अपने-अपने पुराणोंमें) सृष्टिके पैदा करनेवाले, पालन करनेवाले और संहार करनेवाले सूचित किया है और इन्हींको ब्रह्म बतलाया है। इसी कारण यजन-याजनके अधिकांश अनुरागी अपनी-अपनी रुचिके अनुसार कोई ब्रह्मा-विष्णु-महेशादिको, कोई सूर्य-शक्ति-समीरादिको, कोई राम-कृष्ण-नृसिंहादिको और कोई भैरव, गणेश या हनूमान्जीको पूजते हैं। किसीको भी पूजें, पूजा-उपासना एक ब्रह्मकी ही होती है। क्योंकि जिस प्रकार अनन्त आकाशके अगणित तारोंपर ब्रह्मके प्रत्यक्ष प्रतिरूप सूर्यनारायणका जब प्रकाश पड़ता है तभी वे प्रकाशित होते हैं, यदि न पड़े तो दीख ही नहीं सकते; उसी प्रकार चराचर सृष्टिके प्रत्येक प्राणी, पदार्थ और देवादिमें ब्रह्मका ही अंश विद्यमान रहता है, तभी वह अमुकामुक माने जाते हैं, यह न हो तो वे दीख ही नहीं सकते। उनमें पञ्चदेव तो ब्रह्मके प्रतिरूप ही हैं। अतएव किसी भी प्राणी, पदार्थ या देवादिकी साधना, उपासना या आराधनामें ब्रह्मका ही ध्यान होता है और वही उनके इष्टदेवमें प्रविष्ट रहकर अभीष्ट फल देते हैं। पञ्चदेवकी उपासना तो उनकी है ही। अस्तु,

(४) देवता कौन और कितने हैं, इसमें मतभेद है। इस विषयके प्राप्त प्रमाण नीचे दिये जाते हैं। (१) वेदान्ती केवल ब्रह्मको ही देवता मानते हैं। (२) यास्कने दान और दीपन करनेवाले जो 'द्यौः' नामक स्थानमें रहते हैं, उनको देवता बतलाया है। (३) अथवा सृष्टिमें जो भी प्रकाशमान हैं, वे सब देवता हैं। (४) किसीका मत है कि प्राचीन कालमें सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, अग्नि और तारागणोंसे संसारके अनेक कार्य और उपकार होते देखकर इन्हींको देवता माना गया था। (५) कात्यायनके कथनानुसार जिनकी कथा या वाक्य हैं, वे ऋषि हैं; जिनका विषय उन्हींसे ज्ञात होता है, वे देवता हैं और ऋषि, छन्द तथा देवता—इनसे वेद बने हैं। संख्याकी दृष्टिसे (६) वेदान्तके अनुसार केवल एक ब्रह्म है। (७) जनता प्रकृति और पुरुष दो जानती है। (८) पुराणोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश—तीन हैं। (९) ऋग्वेदमें इन्द्र, मित्र, वरुण और वह्नि—चार लिखे हैं। (१०) आह्निकतत्त्वमें विष्णु, रुद्र, गणेश, सूर्य और शक्ति—ये पाँच बतलाये हैं। (११) ब्रह्मवैवर्तके मतानुसार गणेश, महेश, दिनेश, वह्नि, विष्णु और उमा—ये छः हैं। (१२) शतपथमें ८ वसु, ११ रुद्र, १२ सूर्य, १ इन्द्र और १ प्रजापति—ये ३३ हैं। (१३) ऋग्वेदमें एक जगह ११ स्वर्गके, ११ पृथ्वीके और ११ अन्तरिक्षके—सब ३३ देवता लिखे हैं। (१४) दूसरी जगह अग्नि, वायु, इन्द्र और मित्रादि ३३ देवता और सरस्वती, सूनृता, इला और इन्द्राणी आदि १२ देवियोंके नाम दिये हैं। और (१५) तीसरी जगह तीन हजार, तीन सौ उन्तालीस देवता लिखे हैं। (१६) ऐतरेयमें ३३ 'सोमप' और ३३ 'असोमप'—कुल ६६ बतलाये हैं। उनमें १ इन्द्र, १ प्रजापति, ८ वसु, ११ रुद्र और १२ आदित्य 'सोमप' (अमृत पीनेवाले) हैं और ११ प्रयाज, ११ अनुयाज और ११ उपयाज 'असोमप' (अमृतेतर पेय पीनेवाले) हैं। उनकी तृप्ति गन्ध-पुष्पादिसे और इनकी यज्ञादिके पशुओंसे होती है। (१७) अग्निपुराणके अनुसार १४९ देवी और (१८) आदित्यपुराणके अनुसार २०० देवता हैं। (१९) हिंदू-संसारमें ३३ करोड़ देवता विख्यात हैं और (२०) पद्मपुराणमें भी यही संख्या निर्दिष्ट की गयी है। अस्तु,

(५) देवता चाहे एक हों, अनेक हों, तीन हों, तैंतीस हों या ३३ करोड़ और अर्ब-खर्ब हों—हमारे उपास्य 'पञ्चदेव' प्रसिद्ध हैं और शास्त्रोंमें इनके नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। 'उपासनातत्त्व' (परिच्छेद ३) में लिखा है—

> आदित्यं गणनाथं च देवीं रुद्रं च केशवम्।
> पञ्चदैवतमित्युक्तं सर्वकर्मसु पूजयेत्॥
> एवं यो भजते विष्णुं रुद्रं दुर्गां गणाधिपम्।
> भास्कं च धिया नित्यं स कदाचिन्न सीदति॥

'आदित्य, गणनाथ, देवी, रुद्र और विष्णु—ये पाँच देव सब कामोंमें पूजने योग्य हैं। जो विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और शक्तिकी आदरबुद्धिसे आराधना करते हैं वे कभी हीन नहीं होते अर्थात् उनके यश-पुण्य और नाम सदैव रहते हैं।'

अतएव इनकी पूजा उसी तरह आवश्यक है, जिस तरह ब्राह्मणोंका नित्यस्नान है। यदि यह न की जाय तो प्रत्यवाय होता है। पूजा नित्य, नैमित्तिक और काम्य—तीन प्रकारकी होती है—(१) जो प्रतिदिन की जाय, वह 'नित्य', (२) पुत्रजन्म या व्रतोत्सवादिमें की जाय, वह 'नैमित्तिक' और (३) सुख-सम्पत्ति एवं सन्तान आदिकी सम्प्राप्ति अथवा आपन्निवारणार्थ की जाय, वह 'काम्य' होती है। ये सब (१) 'पञ्चोपचार' (२) 'दशोपचार' (३) 'षोडशोपचार' (४)

(१, ६) 'एकमेव ब्रह्म' (वेदान्त)। (२) दानाद्वा दीपनाद्वा द्युस्थानगो भवति (यास्क० ७। १५)। (९) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्० (ऋग्-मन्त्र)। (१०) आदित्यं गणनाथं च० (आह्निक०)। (११) गणेशं च दिनेशं च० (ब्रह्मवैवर्तपुराण)। (१२) कतमेते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या एकत्रिंशत्, इन्द्रश्च प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशत्। (शतपथ)। (१३) ये देवासो दिव्येकादश स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् (ऋक् १। २०। १३९। ११)। (१५) त्रीणि सहस्राणि त्रीणि शता त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्। (ऋक् ३। १। ९। ९)। (२०) सदारा विबुधाः सर्वे स्वानां स्वानां गणैः सह। त्रैलोक्ये ते त्रयस्त्रिंशत्कोटिसंख्यतयाभवन्॥ (पद्मोत्तर०)

(१) **पञ्चोपचार**—गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य।

(२) **दशोपचार**—उक्त ५ के सिवा पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क और पुनराचमन।

(३) **षोडशोपचार**—आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य आचमन, स्नान, वस्त्र, (यज्ञोपवीत) गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल और दक्षिणा।

(४) **अष्टादशोपचार**—षोडशोपचारके सिवा स्वागत और आभूषण।

'अष्टादशोपचार' (५) 'षट्त्रिंशदुपचार' (६) 'चतुःषष्ट्युपचार' (७) 'राजोपचार' (८) 'आवरण' और (९) 'मानसोपचार' आदि यथालब्ध और यथोचित उपचारोंसे सम्पन्न होती हैं। इन सबमें गणेशपूजन अनिवार्य है। 'आह्निकतत्त्व' में लिखा है—

देवतादौ यदा मोहाद् गणेशो न च पूज्यते।
तदा पूजाफलं हन्ति विघ्नराजो गणाधिपः॥ १॥

'देवपूजामें अज्ञानवश गणपति-पूजन न किया जाय तो विघ्नराज गणेशजी उसका पूजाफल हर लेते हैं।' अस्तु,

(५) षट्त्रिंशदुपचार—आसन, अभ्यञ्जन, उद्वर्तन, निरूक्षण, सम्मार्जन, सर्पिःस्नपन, आवाहन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, मधुपर्क, पुनराचमन, यज्ञोपवीत-वस्त्र, अलङ्कार, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, पुष्पमाला, अनुलेपन, शय्या, चामर, व्यजन, आदर्श, नमस्कार, गायन, वादन, नर्तन, स्तुतिगान, हवन, प्रदक्षिणा, दन्तकाष्ठ और विसर्जन।

(६) चतुःषष्ट्युपचार—(शक्तिपूजामें) पाद्य, अर्घ्य, आसन, तैलाभ्यङ्ग, मज्जनशालाप्रवेश, पीठोपवेशन, दिव्यस्नानीय, उद्वर्तन, उष्णोदकस्नान, तीर्थाभिषेक, धौतवस्त्रपरिमार्जन, अरुणदुकूलधारण, अरुणोत्तरीयधारण, आलेपमण्डपप्रवेश, पीठोपवेशन, चन्दनादि दिव्य-गन्धानुलेपन, नानाविधपुष्पार्पण, भूषणग्रहण, नवमणिमुकुटधारण, चन्द्रशकल, सीमन्तसिन्दूर, तिलकरत्न, कालाञ्जन, कर्णपाली, नासाभरण, अधरयावक, ग्रथनभूषण, कनकचित्रपदक, महापदक, मुक्तावली, एकावली, देवच्छन्दक, केयूरचतुष्टय, वलयावली, ऊर्मिकावली, काञ्चीदाम-कटिसूत्र, शोभाख्याभरण, पादकटक, रत्ननूपुर, पादाङ्गुलीयक, चार हाथोंमें क्रमशः अङ्कुश, पाश, पुण्ड्रेक्षुचाप और पुष्पबाणका धारण, माणिक्यपादुका, सिंहासनारोहण, पर्यङ्कोपवेशन, अमृतासवसेवन, आचमनीय, कर्पूरवटिका, आनन्दोल्लासविलासहास, मङ्गलार्तिक, श्वेतच्छत्र, चामरद्वय, दर्पण, तालवृन्त, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, पुनराचमन, ताम्बूल और वन्दना।

(७) राजोपचार—षोडशोपचारके सिवा छत्र, चामर, पादुका, दर्पण।

(८) आवरण—कामनाविशेष या स्थापन-व्रतोत्सवादिमें पूजा-पद्धतिके अनुसार उपर्युक्त उपचारोंका कई बार उपयोग होनेसे होता है।

(९) मानसोपचार—इसमें स्नान-गन्धादि सभी साधनोंका केवल ध्यानमात्रसे उपयोग किया जाता है, प्रत्यक्ष वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती। आगे 'पूजाविधि' दी गयी है, उसके अनुसार किसी भी देवताकी पूजा की जा सकती है।

(६) भारतमें पञ्चदेवोंकी उपासना कितनी अधिक व्यापक है, इसका विचार किया जाय तो मालूम हो सकता है कि इनकी सामूहिक साधना करनेवाले, पृथक्-पृथक् उपासना करनेवाले अथवा इनमें किसी एकहीकी पूजा करनेवाले अनेक साधक हैं और वे अपनी पूजा पद्धतिके अनुसार अर्चन करते हैं। उनके विषयमें 'तन्त्रसार' में लिखा है—

शैवानि गाणपत्यानि शाक्तानि वैष्णवानि च।
साधनानि च सौराणि चान्यानि यानि कानि च॥

[जिस प्रकार ब्रह्मके उपासक 'ब्राह्म' होते हैं] उसी प्रकार विष्णुके उपासक 'वैष्णव', शिवके उपासक 'शैव', गणपतिके उपासक 'गाणपत्य', सूर्यके उपासक 'सौर' और शक्तिके उपासक 'शाक्त' होते हैं। इनमें शैव, वैष्णव और शाक्त विशेष विख्यात हैं। भारतमें इन सम्प्रदायोंके सर्वत्र मन्दिर हैं। उनमें कई मन्दिर बड़े ही भव्य, विशाल, विश्वमोहक, सुदर्शनीय या साधारण भी हैं और उनमें सिद्धि-साधना या दर्शनार्थ अगणित नर-नारी प्रतिदिन जाते हैं। उनके सिवा सैकड़ों साधक अपने मकानमें या बटुएमें भी भगवान्‌की मूर्ति रखते और यथोचित विधिसे पूजते हैं।

(७) उपर्युक्त पाँचों सम्प्रदायोंके सुविशाल या साधारण मन्दिरोंमें जगदीश, द्वारकाधीश, बुद्धगया, लक्ष्मण-बाला और गोविन्ददेवादि 'विष्णु' के; रामेश्वर, कालेश्वर, विश्वनाथ, सोमनाथ और पशुपतिनाथादि 'शिव' के; चतुर्थीविनायक, साक्षी विनायक, गढ़गणेश, गणपति और गणराजादि 'गणेश' के; त्रिभुवनदीप, अरुणादित्य, सूर्यनारायण, लोकमणि और द्वादशादित्यादि 'सूर्य' के; तथा ज्वालाजी, कालीजी, अन्नपूर्णा, कामाख्या, मीनाक्षी और विन्ध्यवासिनी आदि 'शक्ति' के कई एक मन्दिर (मूर्तियाँ या विग्रह) विशेष विख्यात हैं। और उनके दर्शनार्थ भारतके प्रत्येक प्रान्तसे अगणित यात्री आते हैं। स्मरण रहे कि जिस प्रकार ये मन्दिर अद्वितीय हैं उसी प्रकार इनके साधन-समारोह, पूजा-विधान या भोगरागादिके आयोजन भी अद्वितीय हैं। इन मन्दिरोंमें या सद्गृहस्थोंके घरोंमें आमलक-सम शालग्रामजी-जैसे छोटे और भूधराकार हनूमान्‌जी-जैसे बड़े अगणित देव प्रतिदिन पूजे जाते हैं। उनमें चाहे भैरव, भवानी, शीतला आदि हों; चाहे शिव, गणेश, सूर्यादि हों और चाहे गोविन्द, मुकुन्द, लक्ष्मीनारायणादि हों; सब उसी ब्रह्मकी सत्ता हैं और पञ्चदेवके ही रूपान्तर या नामान्तर हैं। अतः

साधकोंको चाहिये कि आगे दी हुई पूजाविधिके अनुसार पञ्चदेवकी—सामुदायिक या पृथक्-पृथक्—अथवा जो इष्ट हों, उनकी पूजा करें और उनके अनन्य भक्त हो जायँ।

पराङ्ग

(१) पञ्चदेवस्थापन—

यदा तु मध्ये गोविन्दमैशान्यां शङ्करं यजेत्।
आग्नेय्यां गणनाथं च नैर्ऋत्यां तपनं तथा॥ १॥
वायव्यामम्बिकाञ्चैव यजेन्नित्यं समाहतः।
यदा तु शङ्करं मध्ये ऐशान्यां श्रीपतिं यजेत्॥ २॥
आग्नेय्यां च तथा हंसं नैर्ऋत्यां पार्वतीसुतम्।
वायव्यां च सदा पूज्या भवानी भक्तवत्सला॥ ३॥
हेरम्बं तु यदा मध्ये ऐशान्यामच्युतं यजेत्।
आग्नेय्यां पञ्चवक्त्रं तु नैर्ऋत्यां द्युमणिं यजेत्॥ ४॥
वायव्यामम्बिकाञ्चैव यजेन्नित्यमतन्द्रितः।
सहस्रांशुं यदा मध्ये ऐशान्यां पार्वतीपतिम्॥ ५॥
आग्नेय्यामेकदन्तं च नैर्ऋत्यामच्युतं तथा।
वायव्यां पूजयेद्देवीं भोगमोक्षैकभूमिकाम्॥ ६॥
भवानीं तु यदा मध्ये ऐशान्यां माधवं यजेत्।
आग्नेय्यां पार्वतीनाथं नैर्ऋत्यां गणनायकम्॥ ७॥
प्रद्योतनं तु वायव्यामाचार्यस्तु प्रपूजयेत॥ *

(२) पञ्चदेवध्यान—

(१)

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम्॥

विष्णो रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसि वैष्णवमसि विष्णवे त्वा॥ (यजु० ५। २१)

(२)

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानं
विश्वाद्यं विश्ववन्द्यं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम्॥

नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः॥ २॥ (यजु० १६। १)

(३)

श्वेताङ्गं श्वेतवस्त्रं सितकुसुमगणैः पूजितं श्वेतगन्धैः
क्षीराब्धौ रत्नदीपैः सुरवरतिलकं रत्नसिंहासनस्थम्।
दोर्भिः पाशाङ्कुशाब्जाभयधरमनिशं चन्द्रमौलिं त्रिनेत्रं
ध्यायेच्छान्त्यर्थमीशं गणपतिममलं श्रीसमेतं प्रसन्नम्॥

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः॥ (यजु० १६। २५)

* 'पञ्चदेव' के पूजनमें इष्टदेवको मध्यस्थ करके शेषको नीचेके कोष्ठकमें लिखे अनुसार स्थापित कर पूजन करें। (यदि चित्र या एकत्र निर्मित विग्रह हों तो उनमें इष्टको मध्यस्थ मानकर शेषकी यथाक्रम कल्पना करें) यथा—'विष्णु' इष्टदेव हों तो मध्यमें विष्णु, ईशानमें शिव, अग्निमें गणेश, नैर्ऋत्यमें सूर्य और वायव्यमें शक्तिकी स्थापना करके (या चित्रादि हों तो उनमें वैसे मानकर) वहीं उनका यथाविधि पूजन करें और शेषके लिये नीचेके कोष्ठकमें (१), (२), (३), (४), (५) को देखें। आरम्भमें पञ्चदेवका एक चित्र है—आराधक चाहें तो नित्यके सामूहिक अथवा पृथक्-पृथक् पूजनमें अपने इष्टदेवको सुगमतासे मध्यमें स्थापन करनेके लिये उस चित्रके अनुसार काठ, कागज, चाँदी या मकरानेके चौकोर ५ टुकड़ोंपर पञ्चदेवकी अलग-अलग मूर्ति बनवा लें और उनका यथेष्ट स्थापन करके पूजन करें। नित्यके पूजनमें इससे सुविधा होती है और स्नान-गन्धादि नित्य धोये जा सकते हैं। पहलेके पञ्चदेव-उपासक ऐसे ही साधन रखते थे। अब भी जयपुरमें कागजके ५) में, काठके ८) में, चाँदीके १०–१५) में और संगमरमर (मकराने) के २०–२५) में बन सकते हैं। चाँदी या मकरानेके समचौरस ९ टुकड़े बनवाकर ५ में विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और शक्ति तथा ४ में फूल बनवाके उनको समचौरस चौखटेमें रख लें और पूजाके समय इच्छानुसार वैसा बना लें।

<table>
<tr><td>वि. । सू.
(२)
—शि.—
शा. । ग.</td><td>पू. /
उ. * द.
प. \</td><td>वि. । शि.
(३)
—ग.—
शा. । सू.</td></tr>
<tr><td>\ पू.
उ. * द.
/ प.</td><td>शि. । ग.
—वि.—
(१)
शा. । सू.</td><td>पू. /
उ. * द.
प.</td></tr>
<tr><td>वि. । शि.
—शा.—
(५)
सू. । ग.</td><td>पू.
उ. * द.
प.</td><td>शि. । ग.
—सू.—
(४)
शा. । वि.</td></tr>
</table>

(४)

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ २॥ अजस्रम् । तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान् सम्पश्यन् विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ (यजु० १७ । ५८)

(५)

श्यामाङ्गीं शशिशेखरां निजकरैर्दानं च रक्तोत्पलं
रत्नाढ्यं कलशं परं भयहरं संबिभ्रतीं शाश्वतीम् ।
मुक्ताहारलसत्पयोधरनतां नेत्रत्रयोल्लासिनीं
ध्यायेत्तां सुरपूजितां हरवधूं रक्तारविन्दस्थिताम् ॥

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय । पशूनाꣳ रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा ॥ (यजु० ३९ । ४)*

(३) पञ्चदेव-आवाहन—

(१)

आवाहयेत्तं गरुडोपरि स्थितं
रमार्द्धदेहं सुरराजवन्दितम् ।
कंसान्तकं चक्रगदाब्जहस्तं
भजामि देवं वसुदेवसूनुम् ॥

---

* 'पञ्चदेवके ध्यान' में (१) शङ्ख-चक्रधारी, किरीट और कुण्डलोंसे विभूषित, पीताम्बर पहने हुए, सुन्दर कमल-जैसे नेत्रवाले और वक्षःस्थलमें वनमालामण्डित कौस्तुभमणिकी शोभावाले 'विष्णु'; (२) चाँदीके पर्वतके प्रभावाले, रत्नमय आभूषणभूषित, उज्ज्वलाङ्ग, हाथोंमें सुन्दर मृग-मुद्रा और परशुवाले, पद्मासनस्थ, देववन्दित, व्याघ्रचर्म धारण करनेवाले, निखिलभयहारी, विश्वाद्य और विश्ववन्द्य 'शिव'; (३) क्षीराब्धिमें रत्नसिंहासनपर विराजे हुए, श्वेताङ्ग, श्वेतवस्त्र, श्वेतपुष्पादिसे पूजित, देवताओंमें श्रेष्ठ, हाथोंमें अङ्कुश, अभय, कमल और पाश रखनेवाले त्रिनेत्र 'गणेश'; (४) सूर्यमण्डलमें कमलासनपर विराजे हुए, मकराकार कुण्डल, केयूर और किरीटधारी, सुवर्णतुल्य शरीरवाले और शङ्ख-चक्र धारण करनेवाले 'सूर्यनारायण'; तथा (५) लाल कमल, रत्नाढ्य कलश, वर और अभयमुद्रा धारण करनेवाली, मुक्ताहारादिसे शोभित, श्यामाङ्गी, शशिशेखरा और त्रिनेत्रा 'शक्ति'; इन पञ्चदेवोंका उक्त स्वरूपमें ध्यान करें ।

यदि पूर्वोक्त प्रकारका चित्र या मूर्त्तियाँ अथवा काठ, चाँदी या मकरानेके समचौरस ५ टुकड़ोंमें बने हुए सुदर्शनीय विग्रह हों तो उनको सामने रख लें ।

ॐ इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पाꣳसुरे स्वाहा ॥ (यजु० ५ । १५)

(२)

एह्येहि गौरीश पिनाकपाणे
शशाङ्कमौले वृषभाधिरूढ ।
देवाधिदेवेश महेश नित्यं
गृहाण पूजां भगवन्नमस्ते ॥

ॐ नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ (यजु० १६ । ४१)

(३)

आवाहयेत्तं गणराजदेवं
रक्तोत्पलाभासमशेषवन्द्यम् ।
विघ्नान्तकं विघ्नहरं गणेशं
भजामि रौद्रं सहितं च सिद्धया ॥

ॐ गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम । आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥ (यजु० २३ । १९)

(४)

आवाहयेत्तं द्युमणिं महेशं
सप्ताश्ववाहं द्विभुजं दिनेशम् ।
सिन्दूरवर्णप्रतिमावभासं
भजामि सूर्यं कुलवृद्धिहेतोः ॥

ॐ आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च । हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ (यजु० ३३ । ४३)

(५)

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भुवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः ।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम् ॥

ॐ अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मा नयति कश्चन । स सस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम् ॥*

---

*(१)'पञ्चदेव'-आवाहन करते समय अञ्जलि बाँधकर विनम्रभावसे कहे कि—हे गरुड़ारूढ, रमार्द्धदेह, इन्द्रवन्दित, कंसारि, चक्र-गदा और पद्मधारी 'वसुदेवसुत'! आप पधारें ॥(२)—हे गौरीश, पिनाकपाणि, शशाङ्कधर, वृषभासीन, देवाधिदेव 'महेश'! आपको नमस्कार

पूजा-प्रयोग

(१) प्रातरुत्थाय शुचिर्भूत्वा सुस्नातः कृतसन्ध्याद्यावश्यककर्मा देवमन्दिरं गत्वा द्वारसन्धौ तालत्रयं दत्त्वा कपाटमुद्घाट्य, अन्तः प्रविश्य (स्वगेहे वा देवसमीपे उपविश्य) हस्तौ प्रक्षाल्य पूजनपात्राणि सम्मृज्य जलेन प्रक्षाल्य वस्त्रेण प्रोञ्छ्य च यथास्थाने सुस्थाप्यानि । सुवासितजलपूर्णं कुम्भं दक्षिणभागे संस्थाप्य, वामे घण्टाम्, पुरतः गंधपुष्पभूषणानि, दक्षिणतः शङ्खदीपौ, वामे तु धूपम् अन्यामपि पूजनोपयुक्तसामग्रीं च यथास्थानं संस्थाप्य, आचम्य, प्राणानायम्य, मङ्गलोच्चारणं कुर्यात् ।

(२) मङ्गलमन्त्राः—

ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

(ऋ० १ । १४ । ८९ । ६)

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

(ऋ० १ । १४ । ८९ । ८)

तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः ।
नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः ॥

(यजु० १५ । ५०)

सुमुखश्चैकदन्तश्च०, धूम्रकेतुर्गणाध्यक्षो०, विद्यारम्भे विवाहे च०, शुक्लाम्बरधरं०, अभीप्सितार्थ० इत्यादयः ।

श्रीलक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः, उमामहेश्वराभ्यां० शचीपुरन्दराभ्यां० मातापितृभ्यो० इष्टदेवताभ्यो० कुलदेवताभ्यो० ग्रामदेवताभ्यो० स्थानदेवताभ्यो० ।*

(३) ततो हस्ते जलमादाय—

ॐ तत्सदद्य मासोत्तमे मासे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकतिथौ अमुकवासरे अमुकगोत्रोत्पन्नोऽमुकशर्मा (वर्मा, गुप्तः) अहं यथामिलितोपचारद्रव्यैर्विष्णु (शिव-गणपति-सूर्य-शक्ति) पूजनं करिष्ये—इति सङ्कल्प्य; तत्रादौ कलशे—वरुणाय नमः, वरुणमावाहयामि, सर्वोपचारार्थे गन्धाक्षतपुष्पाणि समर्पयामि—इति गन्धपुष्पादिभिः सम्पूज्य; एवं घण्टास्थगरुडाय नमः इति घण्टाम्, सर्वदेवेभ्यो नमः इति च शङ्खं पूर्ववत् सम्पूज्यान्यपात्रेषु च गन्धादि क्षिपेत् । अत्रैव कार्यविशेषे—अन्यदेवार्चने वा—गणानां त्वा इति० 'गणनाथम्', इदं विष्णुरिति 'विष्णुम्', नमः शम्भवायेति 'शिवम्', आ कृष्णेनेति 'सूर्यम्', अम्बे अम्बिके० इति 'शक्तिम्' च पञ्चोपचारैः पूजयेत् ।

(४) ततोऽङ्गन्यासं कुर्यात् ।

ॐ तत्सदद्येत्यादि० अमुकशर्माहं पञ्चदेवपूजार्थं (तन्मध्ये अमुकेष्टदेवपूजार्थं अन्यदेवार्चने वा) अङ्गन्यासं करिष्ये । ॐ सहस्रशीर्षा० इति वामकरे । ॐ पुरुष एवेदꣳ० इति दक्षिणकरे । ॐ एतावानस्य० इति वामपादे । त्रिपादूर्ध्व० इति दक्षिणपादे । ततो विराडजायत० इति वामजानुनि । तस्माद्यज्ञात्० इति दक्षिणजानुनि । तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः० इति वामकट्याम् । तस्मादश्वा० इति दक्षिणकट्याम् । तं यज्ञं० इति नाभौ । यत्पुरुषं व्यदधुः० इति हृदये । ब्राह्मणोऽस्य० इति वामकुक्षौ । चन्द्रमा मनसो० इति दक्षिणकुक्षौ । नाभ्या० इति कण्ठे । यत्पुरुषेण० इति वक्त्रे । सप्तास्यासन्० इत्यक्ष्णोः । यज्ञेन यज्ञ० इति मूर्ध्नि । ततः पूजां समारभेत ।*

है । आप पूजन ग्रहण करें ॥ (३)—हे गणराज, लालकमल-जैसी प्रभावाले, सर्ववन्द्य, विघ्ननाशक, विघ्नहर, रुद्रसुत 'गणेश' ! आप पधारें ॥ (४)—हे ग्रहेश, दिनमणि, सात घोड़ोंके रथपर आरूढ, द्विभुज, दिनेश, सिन्दूर-सम प्रभावाले 'सूर्य' ! आप पधारें ॥ (५) और हे भक्तजनोंको लक्ष्मी एवं आनन्द और पापात्माओंको दीनता देनेवाली तथा विद्वानोंके हृदयमें बुद्धिका प्रकाश फैलानेवाली और विश्वका पालन करनेवाली 'देवी' ! आप पधारें और मेरी की हुई पूजा ग्रहण करें ॥

*'देवपूजा-प्रयोग' के प्रारम्भमें प्रातःकाल उठकर शौचादिसे निवृत्त हो सन्ध्यादि नित्यकर्म करें और देवताके मन्दिरमें जाकर द्वार-सन्धिमें तीन ताली देकर कपाट खोल अंदर प्रवेश करें । (यदि अपने मकानमें ही मन्दिर हो या देवमूर्ति रखते हों तो वहाँ देवताके समीप उपस्थित होकर) हाथ धोवें, पूजनके पात्रोंको माँजें, जलसे धोकर वस्त्रसे साफ कर लें और यथास्थान रख दें । सुगन्धियुक्त जलपूर्ण कुम्भ दाहिनी तरफ, धूप और घण्टा बायीं तरफ, गन्ध, पुष्प, अर्घ्य एवं आभूषण सामने, और शेष यथोचित स्थानपर रखके आचमन करें और प्राणायाम करके मङ्गलमन्त्रोंका उच्चारण करें । मङ्गलमन्त्रोंमें 'स्वस्ति न इन्द्रो०' 'भद्रं कर्णेभिः' 'तं पत्नीभिः' मुख्य हैं । इनके सिवा सुमुखश्चैकदन्तश्च० आदिसे गणेशस्मरण करके उपर्युक्त देवोंको नमस्कार करें ।

* फिर हाथमें जल लेकर वर्तमान मास, पक्ष, तिथि, वार और अपना गोत्रसहित नाम उच्चारण करके पञ्चदेव या उनमें किसी एक देव अथवा भैरव, भवानी, गङ्गा, हनुमान् आदि अन्य देवमें जिसका पूजन करना

संसार-समुद्रसे उत्तीर्ण होनेकी इच्छावाले पुरुषको भगवान् पुरुषोत्तमकी लीलाओंके कथामृतसेवनके सिवा अन्य कोई भी प्लव (पार उतारनेकी नौका) नहीं है।'

(२) कीर्तन-भक्ति

भगवान्‌की मङ्गलमय लीलाओंके महत्त्वसूचक चरित्रोंका कीर्तन अर्थात् भगवच्चरित्रोंकी कथाओंका पाठ अथवा भगवान्‌के नामोंका कीर्तन और जप आदि 'कीर्तन-भक्ति' है।

भक्तिके अङ्गोंमें श्रवण, कीर्तन और स्मरण—ये तीन अङ्ग मुख्य हैं—

> तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
> श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥
> (श्रीमद्भा० २।१।५)

इन तीनोंमें भी कीर्तन प्रधान है। इसका तात्पर्य श्रवण और स्मरणकी न्यूनता बतानेका नहीं, किन्तु बात यह है कि श्रवण और स्मरणमें चित्तकी एकाग्रताका होना परमावश्यक है। चित्तकी एकाग्रता विना श्रवण और स्मरण (ध्यान) यथावत् नहीं हो सकता, परन्तु नाम-कीर्तनके विषयमें तो यहाँतक कहा गया है—

> अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
> सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥
> (श्रीमद्भा० ६।२।१८)

'अनजानमें अथवा जानमें उत्तमश्लोक भगवान्‌का नाम-कीर्तन करनेवाले पुरुषके पाप तत्काल वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे अग्निसे ईंधन।' इसीसे कीर्तन-भक्तिको प्रधानता दी जाती है। कीर्तन-भक्तिद्वारा परा भक्ति प्राप्त होती है। श्रीशुकदेवजीने कहा है—

> इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
> वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि।
> अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
> भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत॥
> (श्रीमद्भा० ११।३१।२८)

'हे राजन्! जो मनुष्य इस प्रकार यहाँ (भागवतमें) तथा अन्यत्र पुराण-इतिहासादिमें वर्णन किये गये भगवान् श्रीकृष्णके मङ्गलमय बालचरित एवं अवतारोंके पराक्रम-सूचक अन्य चरित्रोंका कीर्तन करता है, वह परमहंस-गतिको देनेवाले भगवान्‌में परा भक्ति प्राप्त करता है।'

कीर्तन-भक्तिका महत्त्व श्रीमद्भागवतके अनेक प्रसङ्गोंमें बताया गया है। वेदव्यासजीके यह पूछनेपर कि मेरेद्वारा वेदोंका विस्तार, वेदान्तदर्शन और महाभारत एवं पुराणादिकी रचना किये जानेपर भी मेरा चित्त अकृतार्थकी भाँति क्यों असन्तुष्ट है, मुझमें क्या न्यूनता है, जिससे मुझे शान्ति नहीं मिलती, देवर्षि नारदजीने कहा है—

> भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम्।
> येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम्॥
> (श्रीमद्भा० १।५।८)

'आपने प्रायः भगवान्‌के यशका कीर्तन नहीं किया। वह ज्ञान, जिससे भगवान् सन्तुष्ट न हों, न्यून ही है अर्थात् आपकी अशान्तिका कारण एकमात्र भगवान्‌के गुणानुवादका अभाव ही है' क्योंकि—

> इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
> स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
> अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
> यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्॥
> (श्रीमद्भा० १।५।२२)

'तपका, शास्त्रोंके श्रवणका, स्विष्ट अर्थात् यज्ञादिविहित कर्मोंका, सूक्त अर्थात् अच्छी प्रकारकी वाक्यरचनाके ज्ञानका और दान आदिका अविच्युत अर्थ (परम फल) कवियोंने यही निरूपण किया है कि उत्तमश्लोक भगवान्‌के गुणोंका कीर्तन किया जाय।'

कीर्तन-भक्तिके भी तीन भेद हैं—भगवान्‌की लीलाओंका, गुणोंका और नामोंका कीर्तन। इन तीनोंमें नाम-कीर्तन मुख्य है। भगवन्नाम-कीर्तन केवल साधकोंके ही नहीं, किन्तु समाधिप्राप्त शुद्धान्तःकरण निष्काम योगीजनोंके लिये भी परमावश्यक कहा गया है—

> एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
> योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥
> (श्रीमद्भा० २।१।११)

'हे राजन्! जो दुःखरूप इस संसारसे विरक्त हो गये हैं और निर्भय होना चाहते हैं, उन योगीजनोंके लिये एकमात्र भगवान् हरिके नामोंका कीर्तन ही सारभूत निर्णय किया गया है।'

ब्रह्माजीने देवर्षि नारदजीसे कहा है—

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
ते नैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥
(श्रीमद्भा० ३।९।१५)

'जिन भगवान‍्के अवतारोंके गुण और कर्मोंके सूचक देवकीनन्दन, कंसनिकन्दन, कालियमर्दन, भक्तवत्सल और गोवर्धनधारी इत्यादि नामोंको प्राणान्तके समय विवश होकर भी जो पुरुष उच्चारण करते हैं, उनके अनेक जन्म-जन्मान्तरोंके पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। वे खुले हुए मोक्षद्वारमें सीधे चले जाते हैं। ऐसे भगवान‍्की शरणमें मैं प्राप्त होता हूँ।'

सभी प्रकारके पापोंके प्रायश्चित्तके लिये तो भगवान‍्का नाम-कीर्तन सर्वोपरि है, अजामिलोपाख्यानमें यमदूतोंके प्रति भगवान‍्के पार्षदोंका कथन है—

स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग्ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे ॥
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥
(श्रीमद्भा० ६।२।९-१०)

'भगवान‍्का नाम-कीर्तन श्रद्धा-भक्तिसे किया जाय उसका तो कहना ही क्या, किन्तु अवज्ञादिसे भी नाम ले लिया जाय तो वह सब पापोंको हर लेता है।'

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः ।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ॥
(श्रीमद्भा० ६।२।१४-१५)

'संकेतसे, हँसीसे, गानके आलापको पूरा करनेके लिये, अवहेलनासे किसी भी प्रकारसे लिया गया भगवान‍्का नाम सब पापोंका हरनेवाला है। धबड़ाकर गिरा हुआ, मार्गमें ठोकर खाकर पड़ा हुआ, अङ्ग-भङ्ग हुआ, सर्प आदिसे डसा हुआ, ज्वरादिसे सन्तप्त और घायल मनुष्य विवश होकर भी यदि 'हरि' पुकार उठता है तो वह यातनाओंको नहीं भोगता।'

कलियुगमें तो केवल भगवन्नाम-कीर्तन ही मुख्य है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(श्रीमद्भा० १२।३।५१-५२)

'हे राजन्! कलियुग यद्यपि सब दोषोंसे भरा हुआ खजाना है, फिर भी इसमें एक बड़ा भारी गुण यह है कि भगवान् श्रीकृष्णके नाम-कीर्तनमात्रसे ही पुरुष मुक्तसङ्ग होकर परमपदको प्राप्त हो जाता है। सत्ययुगमें जो फल भगवान‍्के ध्यानद्वारा, त्रेतामें जो फल यज्ञादिके यजनद्वारा और द्वापरमें जो फल भगवान‍्की पूजाके द्वारा प्राप्त होता है, वही फल कलिकालमें केवल हरि भगवान‍्के कीर्तनमात्रसे प्राप्त हो जाता है अर्थात् अन्य युगोंमें ध्यान, यज्ञ और पूजा आदिकी साधनाके लिये अत्यन्त दुष्कर साधन अपेक्षणीय है, किन्तु कलियुगमें केवल हरि-कीर्तनमात्रसे ही बेड़ा पार हो जाता है।'

नाम-कीर्तनमें नामके अपराधोंसे बचना परमावश्यक है। नामके अपराधोंमें दो अपराध मुख्य हैं। एक तो भगवान‍्के नामके भरोसेपर यह समझकर कि नाम-कीर्तनसे पाप तो सब नष्ट हो ही जायँगे, पाप करना। इस अपराधकी शुद्धि यम-नियमादिके साधनद्वारा भी नहीं हो सकती।

नाम्नो बलाद्यस्य हि पापबुद्धि-
र्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः ।

और दूसरा अपराध है शास्त्रोक्त नाम-माहात्म्यको केवल प्रशंसात्मक समझना। जो ऐसा समझते हैं वे अवश्य ही नरकगामी होते हैं। कहा है—

अर्थवादं हरेर्नाम्नि सम्भावयति यो नरः ।
स पापिष्ठो मनुष्याणां निरये पतति ध्रुवम् ॥

(२) स्मरण-भक्ति

भगवान‍्के प्रभावशाली नाम, रूप, गुण और लीला आदिके किये गये कथामृतके श्रवण अथवा कीर्तनका मनन करना और भगवान‍्की लोकोत्तर लावण्यमयी श्रीमूर्तिका ध्यान करना स्मरण-भक्ति है। स्मरण-भक्तिको भी परा भक्तिका साधन बताया गया है—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥
(श्रीमद्भा० १२।१२।५४)

'भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंका स्मरण (ध्यान) समग्र अमङ्गलोंका नाश और शान्तिका विस्तार करता है, एवं सत्त्वकी शुद्धि, परमात्माकी भक्ति और वैराग्यसहित विज्ञानका विस्तार करता है ।'

अन्तःकरण-शुद्धिका सर्वोपरि साधन भगवत्-स्मरण (ध्यान) ही है । श्रीशुकदेवजीने कहा है—

विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री-
तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा
यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ॥
(श्रीमद्भा० १२ । ३ । ४८)

'विद्या (शास्त्र-अध्ययन), तप (अनशन आदि), प्राणायामादि योगक्रिया, मैत्री(अहिंसा आदि), तीर्थस्थान, व्रत (एकादशी आदि), दान, जप आदिसे अन्तःकरणकी वैसी शुद्धि नहीं होती है, जैसी अनन्त भगवान् हरिके हृदय-में स्थापित करनेसे होती है ।'

गीताजीमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आज्ञा करते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(१२ । ६-७)

ज्ञानीजनोंकी अव्यक्तोपासनाको अधिक दुःसाध्य बताकर भगवान् कहते हैं—कि 'हे पार्थ ! जो मेरे परायण रहनेवाले सगुणोपासक भक्तजन अपने सम्पूर्ण कर्मोंको मुझ सगुणरूप वासुदेवमें अर्पण करके अनन्यभक्तियोगके द्वारा मेरा ध्यान करते हैं, उन मुझमें चित्त लगानेवाले भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे पार करनेवाला होता हूँ ।'

भगवान्‌का स्मरण द्वेष, भय आदि भावोंसे भी करनेसे सारूप्य और सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है । देवर्षि नारदजीने कहा है—

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्र-
शाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः ।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ५ । ४८)

'शिशुपाल, पौण्ड्रक और शाल्व आदि राजागण सोते-बैठते और खाते-पीते समय सर्वदा भगवान् श्रीकृष्णकी गमन और चितवन आदि चेष्टाओंका वैरभावसे भी चिन्तन करनेसे भगवान्‌के साम्यको प्राप्त हो गये । तब भगवान्‌में एकान्त अनुरक्त रहनेवाले भक्तोंकी तो बात ही क्या है—वे तो जीवन्मुक्त ही हैं ।'

भगवान्‌के श्रीविग्रहके ध्यानका प्रकार श्रीमद्भागवतमें अनेक प्रसङ्गोंपर बड़ा चित्ताकर्षक वर्णन किया गया है । विस्तारभयसे यहाँ केवल श्रीकपिलदेवजीद्वारा वर्णित ध्यानका उल्लेख किया जाता है—

प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।
नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥
लसत्पङ्कजकिञ्जल्कपीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ॥
मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया ।
परार्ध्यहारवलयकिरीटाङ्गदनूपुरम् ॥
काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम् ।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥
अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम् ।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम् ॥
कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम् ।
ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः ॥
स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम् ।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा ॥
तस्मिँल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम् ।
विलक्ष्यैकत्र संयुज्यादङ्गे भगवतो मुनिः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २८ । १३—२०)

'विकसित कमलके समान प्रसन्न मुखारविन्द, कमलके मध्यभागके समान रक्त नेत्र, नील कमलदलके समान श्याम-सुन्दर देह-कान्ति, हस्तकमलोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित, कमलकी केसरके समान पीताम्बर धारण किये हुए, वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न और ग्रीवामें कौस्तुभमणि विभूषित, गुञ्जायमान मत्त भ्रमरोंसे युक्त वनमाला धारण किये हुए, अन्य अङ्गोंमें यथास्थान बहुमूल्य हार, कङ्कण, किरीट, मुकुट, बाजूबन्द और नूपुर आदि आभूषणभूषित, कटिस्थलपर काञ्चन-की किङ्किणी, भक्तजनोंके हृदयरूप आसनपर विराजमान, मन और नेत्रोंको आनन्ददायक दर्शनीय शान्त स्वरूप, किशोरा-

वक्षःमें स्थित, सबके द्वारा वन्दनीय, भक्तोंपर अनुग्रह करनेमें व्यग्र, पवित्र और कीर्तनीय यशवाले और भक्तजनोंका यश बढ़ानेवाले भगवान्‌के सर्वाङ्ग विग्रहका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये। और इस प्रकार सर्वाङ्ग ध्यान भली प्रकार हृदयस्थ हो जानेपर भगवान्‌के प्रत्येक अङ्गका पृथक्-पृथक् ध्यान करना चाहिये।

(४) पादसेवन

पादसेवन-भक्ति एक तो भगवान्‌की साक्षात् पादसेवा है और दूसरा भगवान्‌के पाद-पद्मोंका भजन। इसमें प्रथम प्रकारकी पाद-सेवा बड़ी दुर्लभ है। जिसके लिये ब्रह्माजी भी लालायित होकर भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३०)

'हे नाथ! इस जन्ममें अब अथवा आगे जहाँ कर्मवश प्राप्त होनेवाले पशु, पक्षी आदि किसी भी तिर्यक् योनिके जन्ममें मुझे वह सौभाग्य प्राप्त हो जिसमें मैं भी आपके भक्त-जनोंमेंसे एक होकर आपके पाद-पल्लवकी सेवा करूँ।'

ब्रह्माजीने भगवान्‌के साक्षात् पाद-सेवनकी प्राप्तिको अति दुर्लभ समझकर फिर भगवान्‌के प्रिय व्रजवासियोंके चरण-रजकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना की है कि—

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३४)

'यह मेरा सौभाग्य होगा यदि मनुष्यलोकमें विशेषतया गोकुल या व्रजके किसी वनमें किसी भी पशु, पक्षी, कीट, पतंग और वृक्ष आदि—योनिमें मेरा जन्म हो, जिससे भगवान् मुकुन्द ही हैं सर्वस्व जिनके ऐसे व्रजवासियोंकी चरण-रजका मेरेपर अभिषेक होता रहे, जिस चरण-रजको श्रुति भी अनादिकालसे ढूँढ़ रही है किन्तु प्राप्त न कर सकी है।'

अतएव साक्षात् पादसेवन तो भगवान्‌के निरन्तर समीपवर्ती श्रीसीताजी, लक्ष्मीजी, रुक्मिणीजी आदि महारानियोंको तथा व्रजके गोपबाल और व्रजाङ्गनाओंको तथा उद्धवजी आदि अनन्यभक्तोंको ही उपलब्ध है, फिर भी वे भगवान्‌के पादसेवनकी अभिलाषा करते ही रहते हैं।

पादसेवनकी अभिलाषाके विषयमें गोपाङ्गनाएँ भगवान्‌से प्रार्थना करती हैं—

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥

(श्रीमद्भा० १० । २९ । ३७)

'जिन लक्ष्मीजीका कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मादि देवगण बड़े तप आदिद्वारा प्रयास करते हैं, लक्ष्मीजी आपके वक्षःस्थलमें निवास पाकर भी अपनी सपत्निरूप तुलसीके साथ आपके भृत्यगणोंसे सुशोभित चरणारविन्दके रजकी अभिलाषा करती हैं, उसी प्रकार हम भी आपकी चरण-रजको प्राप्त हुई हैं।'

श्रीरुक्मिणीजी भी भगवान्‌से यही प्रार्थना करती हैं—

अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग
आत्मन्रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः।

(श्रीमद्भा० १० । ६० । ४६)

'आप निजानन्दमें रमण करनेवाले हैं, अतः आप मुझपर उपेक्षा-दृष्टि रखते हैं। मेरी तो यही प्रार्थना है कि मुझे आपके चरणोंमें अनुराग (पादसेवा) प्राप्त हो।'

भगवान्‌की साक्षात् पाद-सेवन भक्ति तो साध्य भक्तिके अन्तर्गत ही कही जा सकती है। साधन-भक्तिके अन्तर्गत तो भगवान्‌के पादपद्मोंके भजनरूप पाद-सेवन भक्ति ही है।

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः
परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४३)

'इस प्रकार अच्युत भगवान्‌के चरणकमलकी सेवा करनेवाले भक्तको भगवद्भक्ति, वैराग्य और भगवद्विषयक ज्ञान—ये सब एक साथ ही प्राप्त हो जाते हैं और उसके पश्चात् वह आत्यन्तिक क्षेमको प्राप्त हो जाता है'। यहाँ पाद-सेवनभक्तिको परा भक्तिका साधन कहा गया है।

भगवान्‌के पाद-पद्मका भजन भी अनिर्वचनीय है। श्रीसनत्कुमार आदिराज पृथु महाराजसे कहते हैं—

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥
कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां
षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीरिषन्ति।
तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं
कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम्॥
(श्रीमद्भा० ४। २२। ३९-४०)

'जिस भगवान्‌के चरण-कमलके पत्ररूप अङ्गुलियोंकी कान्तिकी भक्तिद्वारा कर्माशयोंकी वासनामयी ग्रन्थिको भक्तजन जिस प्रकार (आसानीसे) काट सकते हैं, उस प्रकार सब इन्द्रियोंको वशीभूत करनेवाले निर्विकल्प समाधिनिष्ठ योगीजन नहीं काट सकते, इसलिये उस शरण्य भगवान् श्रीवासुदेवका भजन करो। काम-क्रोधादि षड्वर्गोंसे व्याप्त संसार-समुद्रको जो भगवान्‌के चरणकमलरूप नौकाके बिना अन्य साधनोंके द्वारा उत्तीर्ण होना चाहते हैं, उनको महान् कष्ट प्राप्त होता है। अतएव हे राजन्! तुम हरि भगवान्‌के, भजन करने योग्य चरणकमलोंको नौका करके इस दुस्तर संसार-समुद्रसे उत्तीर्ण हो।'

(५) अर्चन-भक्ति

बाह्य सामग्रियोंके द्वारा अथवा मनके द्वारा कल्पित सामग्रियोंसे भगवान्‌का श्रद्धापूर्वक पूजन करना 'अर्चन-भक्ति' है।

स्वयं भगवान्‌ने अपने पूजनके अधिष्ठान (आश्रय) प्रतिमा, स्थण्डिल, अग्नि, सूर्य, जल, हृदय, गौ और ब्राह्मण आदि बताये हैं—

इनमें पूर्व-पूर्वकी अशक्यतामें उत्तरोत्तरका विधान है, प्रतिमा आठ प्रकारकी बतायी गयी है—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥
(श्रीमद्भा० ११। २७। १२)

'पाषाणमयी अर्थात् शालग्राम और पाषाणनिर्मित, काष्ठ-मयी, सुवर्ण आदि धातुमयी, चन्दनादिद्वारा लेपन की हुई, चित्रमयी, मृत्तिकामयी, मनोमयी (मनद्वारा कल्पित) और रत्नमयी।' इनकी पूजाके उपचार अधिष्ठान-भेदसे भिन्न-भिन्न हैं। पाषाण, धातु और मृत्तिकाकी प्रतिमाओंका पूजन स्नानादि षोडशोपचारद्वारा, चित्रादिका मार्जन आदिद्वारा, मनोमयीका मानसोपचारद्वारा, स्थण्डिलका तत्त्वन्यासद्वारा, अग्निका घृतादिकी आहुतिद्वारा, सूर्यका उपस्थान एवं अर्घ्यादिद्वारा, जलका जलाञ्जलि आदिद्वारा, ब्राह्मणोंका आतिथ्यद्वारा, गौका घास आदिद्वारा पूजन किया जाता है। भगवान्‌का अर्चन तीन प्रकारसे वैदिक (वेदमन्त्रोंद्वारा), तान्त्रिक (स्मृति-पुराणादि तन्त्र-ग्रन्थोंके मन्त्रोंद्वारा) और इन दोनोंके (वैदिक तथा तान्त्रिकके) मिश्रित मन्त्रोंसे किया जाता है।

भगवान्‌की पूजनविधि श्रीमद्भागवतके कई प्रसङ्गोंमें वर्णन की गयी है। भगवान्‌के अर्चनमें श्रद्धा ही मुख्य है। स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते॥
(श्रीमद्भा० ११। २७। १७-१८)

'श्रद्धापूर्वक यदि जल भी अर्पण किया जाय तो वह मुझे अत्यन्त प्रिय है, श्रद्धारहित अमूल्यवस्तु भी अर्पणकी हुई मेरे लिये सन्तोषप्रद नहीं हो सकती।'

अर्चनभक्तिको भी परा भक्तिका साधन स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्॥
(श्रीमद्भा० ११। २७। ५३)

'निष्काम भक्तियोगद्वारा जो इस प्रकार मेरी पूजा करता है, उसको मेरी भक्ति अर्थात् प्रेमलक्षणा परा भक्ति प्राप्त होती है।'

गृहस्थोंके लिये तो विशेषतया अर्चनभक्ति कर्तव्य है—

अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः।
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः॥
(श्रीमद्भा० १०। ८४। ३७)

'द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) गृहस्थके लिये यही कल्याणकारक है कि सन्मार्गसे प्राप्त हुए द्रव्यद्वारा श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का अर्चन करे।'

किन्तु जो मनुष्य भगवान्‌की अर्चन-भक्ति सांसारिक

कामनाओंके लिये करते हैं, उनके विषयमें ध्रुवजीने कहा है—

> नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
> ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः ।
> अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
> मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम् ॥
> (श्रीमद्भा० ४ । ९ । ९)

'निश्चय ही उन लोगोंकी बुद्धि आपकी मायासे मोहित है, जो जन्म-मरणसे छुटकारा करनेवाले कल्पवृक्षरूप आपकी पूजा तुच्छ सांसारिक विषय-भोगादिके लिये करते हैं, जो नारकीजनोंको भी प्राप्त है ।'

(६) वन्दन-भक्ति

वन्दनका अर्थ है प्रणाम—दण्डवत् । भगवान्के श्रीचरणोंमें श्रद्धाभक्तिपूर्वक अनन्यभावसे प्रणाम करना वन्दन-भक्ति है ।

प्रणाम करनेकी विधि स्वयं भगवान्ने इस प्रकार बतायी है ।

> स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि ।
> स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत् ॥
> शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम् ।
> प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात् ॥
> (श्रीमद्भा० ११ । २७ । ४५-४६)

'अनेक प्रकारके वेदोक्त, पुराणोक्त एवं तन्त्रोक्त और प्राकृत स्तोत्रोंसे स्तुति करके यह निवेदन करे—'हे भगवन् ! आप प्रसन्न हों, और दण्डकी भाँति गिरकर पृथ्वीपर इस प्रकार प्रणाम करे, सिरको मेरे चरणोंमें रखकर दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना करे—हे प्रभो ! इस संसारसागरके मृत्युरूप ग्रहसे मेरी रक्षा कीजिये ।'

भगवान्को प्रणाम करनेका महत्त्व पाण्डवगीतामें कहा है—

> एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
> दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
> दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
> कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥

'भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी प्रणाम करना दश अश्वमेध यज्ञके अवभृथ-स्नानके तुल्य है किन्तु अश्वमेधयज्ञ

करनेवालोंको पुनर्जन्मकी प्राप्ति होती है, पर भगवान्को प्रणाम करनेवालोंको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता । यह विशेषता है ।' उनकी मुक्ति हो जाती है । ब्रह्माजीने भी श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
> भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
> हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
> जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥
> (श्रीमद्भा० १० । १४ । ८)

'आपकी कृपा कब प्राप्त होगी ? इस प्रकार प्रतीक्षा करते हुए और अपने कर्मोंके फलको भोगते हुए एवं शरीर, वाणी और मनसे आपकी वन्दन-भक्ति करते हुए जो जीवित रहते हैं, वे मुक्तिपदके भागीदार हो जाते हैं, अर्थात् उनको मुक्ति सुलभ हो जाती है ।'

(७) दास्य-भक्ति

भगवान्की श्रद्धा और प्रेमपूर्वक दास्यभावसे सेवा करना दास्य-भक्ति है, दास्य-भक्तिके लिये भगवान्ने स्वयं आज्ञा की है—

> सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः ।
> गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया ॥
> (श्रीमद्भा० ११ । ११ । ३९)

'भगवान्के मन्दिरका मार्जन, लेपन, सिञ्चन, मण्डल आदिकी रचना (चौक पूरना, स्वस्तिक बनाना आदि सेवा) निष्कपटभावसे दासकी भाँति करनी चाहिये ।'

भगवान्का दास्य-भाव प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है । भगवान्के पूर्ण कृपापात्र भक्त भी दास्य-सेवाके लिये उत्कण्ठित रहते हैं, प्रह्लादजीने भगवान् श्रीनृसिंहजीसे प्रार्थना की है—

> यस्मात्प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म-
> शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः ।
> दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं
> भूमन् भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम् ॥
> (श्रीमद्भा० ७ । ९ । १७)

'हे भूमन् ! प्रिय और अप्रिय पदार्थोंके संयोग और वियोगसे उत्पन्न होनेवाले अग्निसे सब योनियोंमें तापित होकर मैंने जो-जो ओषधि की, उससे शान्ति न मिलकर यद्यपि उलटा

दुःख ही मिलता रहा है; पर उनको मैं दुःख न समझकर भ्रमसे सुख समझता हुआ इस संसारमें भ्रमता रहा हूँ। अतएव अब आप अपना दास्ययोगरूप अमोघ ओषधि प्रदान कीजिये, जिससे सदाके लिये उस तापका नाश होकर शान्ति प्राप्त हो।'

श्रीमद्भागवतमें गोपीजनोंने प्रार्थना की है—

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ३८)

'हे दुःखनाशक पुरुषोत्तम! आपकी सेवा करनेकी आशा रखनेवाली हम अपने घरोंको त्यागकर आपके चरणोंके समीप आयी हुई हैं। हमारा हृदय आपके सुन्दर मन्द हास्यपूर्वक कटाक्षपातसे उत्पन्न प्रेमाग्निसे संतप्त हो रहा है अतएव आप अपनी दास्य-सेवा देनेकी कृपा कीजिये।'

भगवान्‌की सेवा जो मनुष्य स्वार्थके लिये करते हैं उनमें वह दास्य-भाव नहीं है—वह तो लेन-देन करनेवाले वैश्योंके व्यापारके समान है—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥

(श्रीमद्भा० ७। १०। ४)

(८) सख्य-भक्ति

भगवान्‌में मित्रभावसे प्रेम करना सख्य-भक्ति है। भगवान्‌में सख्यभाव भगवान्‌की पूर्ण कृपाद्वारा ही प्राप्त हो सकता है। अतः सख्य-भक्तिका अधिकार तो भगवान्‌की इच्छापर ही निर्भर है। सख्य-भक्ति श्रीरामावतारमें कपिराज सुग्रीव और विभीषणादिको तथा श्रीकृष्णावतारमें व्रजके गोप-गोपाङ्गनाओंको तथा उद्धव एवं पाण्डुपुत्र अर्जुन आदि कतिपय सौभाग्यशाली जनोंको ही प्राप्त हो सकी है। सख्य-भक्तिप्राप्त भक्तोंका, भगवान्‌में अनन्य श्रद्धा एवं पूज्य-भाव रहते हुए भी वे भगवान्‌के साथ मित्रोंके समान बर्ताव करते हैं और उनके प्रति कठोर वाक्य भी कह उठते हैं। श्रीव्रजाङ्गनाएँ कहती हैं—

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद्य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। १७)

'जिन्होंने रामावतारमें व्याधकी भाँति बालीका वध कर दिया तथा अपनी पत्नीके वशीभूत होकर बेचारी कामातुरा शूर्पणखाके नाक-कान काटकर कुरूप कर दिया, यही नहीं इसके पूर्व वामनावतारमें राजा बलिके सर्वस्व अर्पण करनेपर भी उसको इस प्रकार वरुण-पाशसे बाँधकर स्वर्गसे गिरा दिया, जैसे काक पक्षी किसी वस्तुको कुछ खाकर नीचे गिरा देता है, अतएव ऐसे काले वर्णवालोंकी मित्रतासे हम बाज आयीं। यद्यपि ऐसोंकी चर्चा-कथा भी उचित नहीं है, फिर भी न मालूम क्यों श्रीकृष्णकी चर्चा किये बिना हमसे नहीं रहा जाता।'

भगवान्‌ने सख्य-भाव यहाँतक निभाया है कि व्रजवासियोंको अपनी पीठतकपर बिठा लिया है—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।

(श्रीमद्भा० १०। १८। २४)

भगवान् श्रीकृष्णने खेलमें पराजित होकर श्रीदामानामक गोपको पीठपर चढ़ाया, सख्य-भक्तिके विषयमें ब्रह्माजीने कहा है—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३२)

'अहो! नन्दादि व्रजवासी गोपोंके धन्य भाग्य हैं! धन्य भाग्य हैं! जिनके सुहृद् परमानन्दरूप सनातन पूर्णब्रह्म आप हैं।'

(९) आत्मनिवेदन

अहङ्काररहित अपने तन, मन, धन और परिजनसहित अपने-आपको तथा सर्वस्वको श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्‌के समर्पण कर देना आत्मनिवेदन भक्ति है। श्रीनिमि योगेश्वरने कहा है—

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान्सुतान्गृहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ११। ३। २८)

'यज्ञ, दान, तप, जप, अपने वर्णाश्रमानुसार किये हुए

धर्मानुष्ठान, पूर्त, आत्माको प्रिय करनेवाले सदाचार, स्त्री, पुत्र, घर और प्राण सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण करे।'

आत्मनिवेदन करनेवाले भगवान्‌के अनन्य भक्त होते हैं। वे ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, रसातलका आधिपत्य और योगद्वारा प्राप्त सिद्धियाँ ही नहीं, किन्तु भगवान्‌के सिवा वे कैवल्य मोक्षतककी इच्छा नहीं करते—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

क्योंकि ऐसे भक्तोंको भगवान्‌की पराभक्ति प्राप्त हो जाती है और उन्हें कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता। कहा है—

एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥
(श्रीमद्भा० ११। १९। २४)

गीताजीके अन्तमें भगवान्‌ने अर्जुनको शरणागत होनेकी ही आज्ञा की है। शरणागति आत्मनिवेदन ही है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

'सब धर्मोंको त्यागकर तू एक मेरी शरणमें ही आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू सोच मत कर।'

श्रीमद्भागवतमें उद्धवजीके प्रति भी भगवान्‌ने यही कहा है—

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥
(११। १२। १५)

'सब देहधारियोंके आत्मारूप एकमात्र मेरी ही अनन्यभावसे शरणमें आ जा जिससे मेरे द्वारा अकुतोभय हो जायगा।'

शरणागत भक्तके रक्षक भगवान् स्वयं हो जाते हैं। राजा अम्बरीषके प्रसङ्गमें महर्षि दुर्वासाजीसे भगवान्‌ने कहा है—

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान्वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
(श्रीमद्भा० ९। ४। ६५)

'जो स्त्री, पुत्र, घर, कुटुम्ब, सबसे अधिक प्राण, धन, यह लोक और परलोक सभीको त्यागकर मेरी शरण आ गये हैं, उनकी उपेक्षा मैं किस प्रकार कर सकता हूँ?'

शरणागतके विषयमें तो भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने यहाँतक प्रतिज्ञारूपमें आज्ञा की है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वा० रा० युद्ध० १८। ३३)

'जो एक बार भी मेरी शरणमें आ जाता है और 'मैं तुम्हारा हूँ' इस प्रकारकी प्रार्थना करता है उसको मैं प्राणिमात्रसे अभयदान दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

फिर भला, अनन्यभावसे जो भक्त शरणागत होता है, उसकी तो बात ही क्या?

नवधा भक्तिका विषय अत्यन्त विस्तृत है, इस विषयके अनेक ग्रन्थ हैं। श्रीमद्भागवतमें तो अनेक स्थलोंपर प्रत्येक प्रसङ्गपर विस्तारके साथ भक्तिका वर्णन है। उसमेंसे प्रायः यहाँ बहुत संक्षिप्तरूपसे दिग्दर्शनमात्र कराया जा सका है। सम्भव है, प्रसङ्गानुकूल इसमें बहुत कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों, उनके लिये मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ।

भगवान्‌को जीवन समर्पण करनेवाला चाण्डाल भी ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है

श्रीप्रह्लादजी कहते हैं—

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥
(श्रीमद्भा० ७। ९। १०)

बारह गुणोंसे युक्त किन्तु भगवान्‌के चरणकमलोंसे विमुख ब्राह्मणकी अपेक्षा मैं उस चाण्डालको श्रेष्ठ मानता हूँ, जिसने अपनी वाणी, मन, चेष्टा, धन और प्राण भगवान्‌को समर्पित कर दिये हैं। वह चाण्डाल अपने कुलको पवित्र करता है; परन्तु वह अभिमानी ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता।

भक्तिका स्वरूप

अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः ।
कलितश्यामाललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति ॥

चित्तवृत्तिका निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे अपने इष्टस्वरूप श्रीभगवान्‌में लगे रहना अथवा भगवान्‌में परम अनुराग या निष्काम अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है। भक्तिके अनेक साधन हैं, अनेकों स्तर हैं और अनेकों विभाग हैं। ऋषियोंने बड़ी सुन्दरताके साथ भक्तिकी व्याख्या की है। पुराण, महाभारत-रामायणादि इतिहास और तन्त्र-शास्त्र भक्तिसे भरे हैं। ईसाई, मुसल्मान और अन्यान्य मतावलम्बी जातियोंमें भी भक्तिकी बड़ी सुन्दर और मधुर व्याख्या और साधना है। हमारे भारतीय शैव, शाक्त और वैष्णव-सम्प्रदाय तो भक्ति-साधनाकी ही जय-घोषणा करते हैं। वस्तुतः भगवान् जैसे भक्तिसे वश होते हैं, वैसे और किसी भी साधनसे नहीं होते। भक्तिकी तुलना भक्तिसे ही हो सकती है। भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु भक्तिके मूर्तिमान् दिव्य स्वरूप हैं। उनके अनुयायियोंने भक्तिकी बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की है और उसीके आधारपर यहाँ कुछ लिखनेका प्रयास किया जाता है।

जिनके असाधारण सौन्दर्य और माधुर्यने बड़े-बड़े महात्मा, ब्रह्मज्ञानी और तपस्वियोंके मनोंको बरबस खींच लिया; जिनकी सबसे बढ़ी हुई अद्भुत, अनन्त प्रभुतामयी पूर्ण ऐश्वर्य-शक्तिने शिव, ब्रह्मातकको चकित कर दिया, उन सबके मूल आश्रयतत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके लिये जो अनुकूलतायुक्त अनुशीलन होता है, उसीका नाम भक्ति है। अनुकूलताका तात्पर्य है, जो कार्य श्रीकृष्णको रुचिकर हो, जिससे श्रीकृष्णको सुख हो, शरीर, वाणी और मनसे निरन्तर वही कार्य करना। श्रीकृष्णके लिये अनुशीलन तो कंस आदिमें भी था, परन्तु उनमें उपर्युक्त आनुकूल्य नहीं था। श्रीकृष्णसे यहाँ श्रीराम, नृसिंह, वामन आदि सभी भगवत्स्वरूप लिये जा सकते हैं, परन्तु गौड़ीय वैष्णव भगवान् श्रीकृष्ण-स्वरूपके निमित्त और तत्सम्बन्धिनी अनुशीलनरूपा भक्तिको ही मुख्य मानते हैं।

भक्तिकी उपाधियाँ

भक्तिमें दो उपाधियाँ है—१—अन्याभिलाषिता और २—कर्मज्ञानयोगादिका मिश्रण। इन दोनोंमेंसे जबतक एक भी उपाधि रहती है तबतक प्रेमकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

अन्याभिलाषा—भोग-कामना और मोक्ष-कामनाके भेदसे दो प्रकारकी होती है, और ज्ञान, कर्म तथा योगके भेदसे भक्तिका आवरण तीन प्रकारका होता है। यहाँ ज्ञानसे 'अहं ब्रह्मास्मि', योगसे भजनरहित हठयोगादि और कर्मसे भक्तिरहित याग-यज्ञादि शास्त्रीय और भोगादिकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले लौकिक कर्म समझने चाहिये। जिस ज्ञानसे भगवान्‌के स्वरूप और भजनका रहस्य जाना जाता है, जिस योगसे चित्तकी वृत्ति भगवान्‌के स्वरूप, गुण, लीला आदिमें तल्लीन हो जाती है और जिस कर्मसे भगवान्‌की सेवा बनती है, वे ज्ञान-योग-कर्म तो भक्तिमें सहायक हैं, भक्तिके ही अङ्ग हैं। वे भक्तिकी उपाधि नहीं हैं।

सकाम भक्ति

जिस भक्तिमें भोग-कामना रहती है, उसे सकाम भक्ति कहते हैं। सकाम भक्ति राजसी और तामसी भेदसे दो प्रकारकी है—विषय-भोग, यश-कीर्त्ति, ऐश्वर्य आदिके लिये जो भक्ति होती है, वह राजसी है; और हिंसा, दम्भ तथा मत्सर आदिके निमित्तसे जो भक्ति होती है, वह तामसी है। विषयोंकी कामना रजोगुण और तमोगुणसे ही उत्पन्न हुआ करती है। इस सकाम भक्तिको ही सगुण भक्ति भी कहते हैं। जिस भक्तिमें मोक्षकी कामना है, उसे कैवल्यकामा या सात्त्विकी भक्ति कहते हैं।

उत्तमा भक्ति

उत्तमा भक्ति चित्स्वरूपा है। उस भक्तिके तीन भेद हैं—साधन-भक्ति, भाव-भक्ति और प्रेम-भक्ति। इन्द्रियोंके द्वारा जिसका साधन हो सकता हो, ऐसी श्रवण-कीर्तनादिका नाम साधन-भक्ति है।

इस साधन-भक्तिके दो गुण हैं—क्लेशघ्नी और शुभदायिनी। क्लेश तीन प्रकारके हैं—पाप, वासना और अविद्या। इनमें पापके दो भेद हैं—प्रारब्ध और अप्रारब्ध। जिस पापका फल मिलना शुरू हो गया है उसे 'प्रारब्ध पाप' और जिस पापका फलभोग आरम्भ नहीं हुआ, उसे 'अप्रारब्ध पाप' कहते हैं। पापका बीज है—'वासना' और वासनाका कारण है 'अविद्या'। इन सब क्लेशोंका मूल कारण है—भगवद्-विमुखता; भक्तोंके सङ्गके प्रभावसे भगवान्‌की सम्मुखता प्राप्त होनेपर क्लेशोंके सारे कारण अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं। इसीसे साधन-भक्तिमें 'सर्वदुःखनाशकत्व' गुण प्रकट होता है।

'शुभ' शब्दका अर्थ है—साधकके द्वारा समस्त जगत्‌के प्रति प्रीति-विधान और सारे जगत्‌का साधकके प्रति अनुराग, समस्त सद्गुणोंका विकास और सुख। सुखके भी तीन भेद हैं—विषयसुख, ब्राह्मसुख और पारमैश्वर-सुख। ये सभी सुख साधन-भक्तिसे प्राप्त हो सकते हैं।

भावभक्तिमें अपने दो गुण हैं—'मोक्षलघुताकृत्' और 'सुदुर्लभा'। इनके अतिरिक्त दो गुण—'क्लेशनाशिनी और शुभदायिनी' साधन-भक्तिके इसमें आ जाते हैं। जैसे आकाशके गुण वायुमें और आकाश तथा वायुके गुण अग्निमें—इस प्रकार अगले-अगले भूतोंमें पिछले-पिछले भूतोंके गुण सहज ही रहते हैं, वैसे ही साधन-भक्तिके गुण भाव-भक्तिमें और साधन-भक्तिके तथा भाव-भक्तिके गुण प्रेमभक्तिमें रहते हैं। इस प्रकार भाव-भक्तिमें कुल चार गुण हो जाते हैं और प्रेमभक्तिमें—'सान्द्रानन्दविशेषात्मा' और 'श्रीकृष्णाकर्षिणी' इन दो अपने गुणोंके सहित कुल छः गुण हो जाते हैं। यह उत्तमा भक्तिके छः गुण हैं।

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु)

१—क्लेशनाशिनी और २—सुखदायिनीका स्वरूप तो ऊपर बतलाया ही जा चुका है।

३—मोक्षलघुताकृत्‌से तात्पर्य है कि यह भक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य—पाँच प्रकारकी मुक्ति)—सबमें तुच्छ बुद्धि पैदा करके सबसे चित्त हटा देती है।

४—सुदुर्लभाका अर्थ है—साम्राज्य, सिद्धि, स्वर्ग, ज्ञान आदि वस्तु विभिन्न साधनोंके द्वारा मिल सकते हैं, उनको भगवान् सहज ही दे देते हैं परन्तु अपनी भाव-भक्तिको भगवान् भी शीघ्र नहीं देते। निष्काम साधनोंके द्वारा भी यह सहजमें नहीं मिलती। यह तो उन्हीं भक्तोंको मिलती है, जो भक्तिके अतिरिक्त मुक्ति-भुक्ति सबका निरादर करके केवल भक्तिके लिये सब कुछ न्यौछावर करके भगवान्‌की कृपापर निर्भर हो रहते हैं।

५—सान्द्रानन्दविशेषात्माका अर्थ है करोड़ों ब्रह्मानन्द भी इस प्रेमामृतमयी भक्ति-सुखसागरके एक कणकी भी तुलनामें नहीं आ सकते। यह अपार और अचिन्त्य प्रेम-सुखसागरमें निमग्न कर देती है।

६—श्रीकृष्णाकर्षिणीका अभिप्राय है कि यह प्रेमभक्ति समस्त प्रियजनोंके साथ श्रीकृष्णको भक्तके वशमें कर देती है।

साधन-भक्ति

पूर्वोक्त साधन-भक्तिके द्वारा भाव और प्रेम साध्य होते हैं। वस्तुतः भाव और प्रेम नित्यसिद्ध वस्तु हैं, ये साध्य हैं ही नहीं। साधनके द्वारा जीवके हृदयमें छिपे हुए भाव और प्रेम प्रकट हो जाते हैं। साधन-भक्ति दो प्रकारकी होती है—१—वैधी और २—रागानुगा।

अनुराग उत्पन्न होनेके पहले जो केवल शास्त्रकी आज्ञा मानकर भजनमें प्रवृत्ति होती है, उसका नाम वैधी भक्ति है। भजनके ६४ अङ्ग होते हैं (इनका वर्णन दूसरे लेखमें देखिये)। जबतक भावकी उत्पत्ति नहीं होती, तभीतक वैधी भक्तिका अधिकार है।

व्रजेन्द्रनन्दन-श्यामसुन्दर श्रीकृष्णमें जो स्वाभाविकी परमाविष्टता अर्थात् प्रेममयी तृष्णा है उसका नाम है राग। ऐसी रागमयी भक्तिको ही रागात्मिका भक्ति कहते हैं।

रागात्मिका भक्तिके भी दो प्रकार हैं—कामरूपा और सम्बन्धरूपा। जिस भक्तिकी प्रत्येक चेष्टा केवल श्रीकृष्णसुखके लिये ही होती है अर्थात् जिसमें काम प्रेमरूपमें परिणत हो गया है, उसीको कामरूपा रागात्मिका भक्ति कहते हैं। यह प्रख्यात भक्ति केवल श्रीगोपीजनोंमें ही है; उनका यह दिव्य और महान् प्रेम किसी अनिर्वचनीय माधुरीको पाकर उस प्रकारकी लीलाका कारण बनता है, इसीलिये विद्वान् इस प्रेम-विशेषको काम कहा करते हैं।

मैं श्रीकृष्णका पिता हूँ, माता हूँ—इस प्रकारकी बुद्धिका नाम सम्बन्धरूपा रागात्मिका भक्ति है।

इस रागात्मिका भक्तिकी जो अनुगता भक्ति है, उसीका नाम रागानुगा है। रागानुगा भक्तिमें स्मरणका अङ्ग ही प्रधान है।

रागानुगा भी दो प्रकारकी है—कामानुगा और सम्बन्धानुगा। कामरूपा रागात्मिका भक्तिकी अनुगामिनी तृष्णाका नाम कामानुगा भक्ति है। कामानुगाके दो प्रकार हैं—सम्भोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छात्मा। केलि-सम्बन्धी अभिलाषासे युक्त भक्तिका नाम सम्भोगेच्छामयी है; और यूथेश्वरी व्रजदेवीके भाव और माधुर्यकी प्राप्तिविषयक वासनामयी भक्तिका नाम तत्तद्भावेच्छात्मा है।

श्रीविग्रहके माधुर्यका दर्शन करके या श्रीकृष्णकी मधुर लीलाका स्मरण करके जिनके मनमें उस भावकी कामना जाग उठती है, वे ही उपर्युक्त दोनों प्रकारकी कामानुगा भक्तिके अधिकारी हैं।

जिस भक्तिके द्वारा श्रीकृष्णके साथ पितृत्व-मातृत्व आदि सम्बन्धसूचक चिन्तन होता है और अपने ऊपर उसी भावका आरोप किया जाता है, उसीका नाम सम्बन्धानुगा भक्ति है।

भाव-भक्ति शुद्ध-सत्त्व-विशेषस्वरूप प्रेमरूपी सूर्यकी किरणके सदृश रुचिकी अर्थात् भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा, उनके अनुकूलताकी अभिलाषा और उनके सौहार्दकी अभिलाषाके द्वारा चित्तको *स्निग्ध करनेवाली* जो *एक मनोवृत्ति* होती है, उसीका नाम भाव है। भावका ही दूसरा नाम रति है। रसकी अवस्थामें इस भावका वर्णन दो प्रकारसे किया जाता है—स्थायिभाव और सञ्चारी-भाव। इनमें स्थायिभाव भी दो प्रकारका है—प्रेमाङ्कुर या भाव और प्रेम। प्रणयादि प्रेमके ही अन्तर्गत हैं। ऊपर जो लक्षण बतलाया गया है, यह प्रेमाङ्कुर नामक भावका ही लक्षण है। नृत्य-गीतादि सारे अनुभाव इसी भावकी चेष्टा या कार्य हैं। इस प्रकारका भाव भगवान्‌की और उनके भक्तोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है, किसी दूसरी साधनासे नहीं। तो भी उसे साध्य-भक्ति बतलानेका भी एक विशेष कारण है। साधन-भक्ति भाव-भक्तिका साक्षात् कारण न होनेपर भी उसका परम्परा कारण अवश्य है। साधन-भक्तिकी परिपक्वता होनेपर ही श्रीभगवान्‌की और उनके भक्तोंकी कृपा होती है और उस कृपासे ही भाव-भक्तिका प्रादुर्भाव होता है। निम्नलिखित नौ प्रीतिके अङ्कुर ही इस भावके लक्षण हैं—

१. क्षान्ति—धन-पुत्र-मान आदिके नाश, असफलता, निन्दा और व्याधि आदि क्षोभके कारण उपस्थित होनेपर भी चित्तका जरा भी चञ्चल न होना।

२. अव्यर्थ-कालत्व—क्षणमात्रका समय भी सांसारिक विषय-कार्योंमें वृथा न बिताकर मन, वाणी, शरीरसे निरन्तर भगवत्सेवासम्बन्धी कार्योंमें लगे रहना।

३. विरक्ति—इस लोकके और परलोकके समस्त भोगोंसे स्वाभाविक ही अरुचि।

४. मानशून्यता—स्वयं उत्तम आचरण, विचार और स्थितिसे सम्पन्न होनेपर भी मान-सम्मानका सर्वथा त्याग करके अधमका भी सम्मान करना।

५. आशाबन्ध—भगवान्‌के और भगवत्प्रेमके प्राप्त होनेकी चित्तमें दृढ़ और बद्ध-मूल आशा।

६. समुत्कण्ठा—अपने अभीष्ट भगवान्‌की प्राप्तिके लिये अत्यन्त प्रबल और अनन्य लालसा।

७. नाम-गानमें सदा रुचि—भगवान्‌के मधुर और पवित्र नामका गान करनेकी ऐसी स्वाभाविकी कामना कि जिसके कारण नाम-गान कभी रुकता ही नहीं और एक-एक नाममें अपार आनन्दका बोध होता है।

८. भगवान्‌के गुण-कथनमें आसक्ति—दिन-रात भगवान्‌के गुण-गान, भगवान्‌की प्रेममयी लीलाओंका कथन करते रहना और ऐसा न होनेपर बेचैन हो जाना।

९. भगवान्‌के निवासस्थानमें प्रीति—भगवान्‌ने जहाँ मधुर लीलाएँ की हैं, जो भूमि भगवान्‌के चरण-स्पर्शसे पवित्र हो चुकी है, वृन्दावनादि—उन्हीं स्थानोंमें रहनेकी प्रेमभरी इच्छा।

जब उपर्युक्त नौ प्रीतिके अङ्कुर दिखलायी दें, तब समझना चाहिये कि भक्तमें श्रीकृष्णके साक्षात्कारकी योग्यता आ गयी है।

उपर्युक्त लक्षण कभी-कभी किसी-किसी अंशमें कर्मी और ज्ञानियोंमें भी देखे जाते हैं; परन्तु वह भगवान्‌में रति नहीं है, रत्याभास है। रत्याभास भी दो प्रकारका होता है—प्रतिबिम्बरत्याभास और छायारत्याभास। गद्गद-भाव और आँसू आदि दो-एक रतिके लक्षण दिखलायी देनेपर भी जहाँ भोगकी और मोक्षकी इच्छा बनी हुई है, वहाँ प्रतिबिम्बरत्याभास है; और जहाँ भक्तोंके सङ्गसे कथा-कीर्तनादिके कारण नासमझ मनुष्योंमें भी ऐसे लक्षण दिखलायी देते हैं, वहाँ छायारत्याभास है।

प्रेम-भक्ति भावकी परिपक्व अवस्थाका नाम प्रेम है। चित्तके सम्पूर्णरूपसे निर्मल और अपने अभीष्ट श्रीभगवान्‌में अतिशय ममता होनेपर ही प्रेमका उदय होता है। किसी भी विघ्नके द्वारा जरा भी न घटना या न बदलना प्रेमका चिह्न है। प्रेम दो प्रकारका है—महिमाज्ञानयुक्त और केवल। विधिमार्गसे चलनेवाले भक्तका प्रेम महिमाज्ञानयुक्त है; और

राग-मार्गपर चलनेवाले भक्तका प्रेम केवल अर्थात् शुद्ध माधुर्यमय है । ममताकी उत्तरोत्तर जितनी ही वृद्धि होती है, प्रेमकी अवस्था भी उत्तरोत्तर वैसी ही बदलती जाती है । प्रेमकी एक ऊँची स्थितिका नाम है स्नेह । स्नेहका चिह्न है, चित्तका द्रवित हो जाना । उससे ऊँची अवस्थाका नाम है राग । रागका चिह्न है, गाढ़ स्नेह । उससे ऊँची अवस्थाका नाम है प्रणय । प्रणयका चिह्न है गाढ़ विश्वास । श्रीकृष्णरति-रूप स्थायिभाव विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावके साथ मिलकर जब भक्तके हृदयमें आस्वादनके उपयुक्त बन जाता है, तब उसे भक्ति-रस कहते हैं । उपर्युक्त कृष्णरति शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरके भेदसे पाँच प्रकारकी है । जिसमें और जिसके द्वारा रतिका आस्वादन किया जाता है, उसको विभाव कहते हैं । इनमें जिसमें रति विभावित होती है, उसका नाम है, आलम्बन-विभाव; और जिसके द्वारा रति विभावित होती है, उसका नाम है उद्दीपन-विभाव । आलम्बन विभाव भी दो प्रकारका है–विषयालम्बन और आश्रयालम्बन । जिसके लिये रतिकी प्रवृत्ति होती है, वह विषयालम्बन है, और इस रतिका जो आधार होता है, वह आश्रयालम्बन है । इस श्रीकृष्ण-रतिके विषयालम्बन हैं—श्रीकृष्ण और आश्रयालम्बन हैं—उनके भक्तगण । जिनके द्वारा रतिका उद्दीपन होता है, वे श्रीकृष्णका स्मरण करानेवाली वस्त्रालङ्कारादि वस्तुएँ हैं उद्दीपन-विभाव ।

नाचना, भूमिपर लोटना, गाना, जोरसे पुकारना, अङ्ग मोड़ना, हुँकार करना, जँभाई लेना, लम्बे श्वास छोड़ना आदि अनुभावके लक्षण हैं । अनुभाव भी दो प्रकारके हैं—शीत और क्षेपण । गाना, जँभाई लेना आदिको शीत; और नृत्यादिको क्षेपण कहते हैं ।

सात्त्विक भाव आठ हैं—स्तम्भ (जड़ता), स्वेद (पसीना), रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय (मूर्छा) । ये सात्त्विक भाव स्निग्ध, दिग्ध और रूक्ष भेदसे तीन प्रकारके हैं । इनमें स्निग्ध सात्त्विकके दो भेद हैं—मुख्य और गौण । साक्षात् श्रीकृष्णके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध सात्त्विक भाव मुख्य है और परम्परासे अर्थात् किञ्चित् व्यवधानसे श्रीकृष्णके सम्बन्धमें उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध-सात्त्विक भाव गौण है । स्निग्ध-सात्त्विक भाव नित्यसिद्ध भक्तोंमें ही होता है । जातरति अर्थात् जिनमें प्रेम उत्पन्न हो गया है—उन भक्तोंके सात्त्विक भावको दिग्ध भाव कहते हैं और अजातरति अर्थात् जिसमें प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ है, ऐसे मनुष्यमें कभी आनन्द-विस्मयादिके द्वारा उत्पन्न होनेवाले भावको रूक्ष भाव कहा जाता है ।

ये सब भाव भी पाँच प्रकारके होते हैं—धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त और सूद्दीप्त । बहुत ही प्रकट, परन्तु गुप्त रखने योग्य एक या दो सात्त्विक भावोंका नाम धूमायित है । एक ही समय उत्पन्न होनेवाले दो-तीन भावोंका नाम ज्वलित है । ज्वलित भावको भी बड़े कष्टसे गुप्त रक्खा जा सकता है । बढ़े हुए और एक ही साथ उत्पन्न होनेवाले तीन-चार या पाँच सात्त्विक भावोंका नाम दीप्त है, यह दीप्त भाव छिपाकर नहीं रक्खा जा सकता । अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त एक ही साथ उदय होनेवाले छः, सात या आठ भावोंका नाम उद्दीप्त है । यह उद्दीप्त भाव ही महाभावमें सूद्दीप्त हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त रत्याभासजनित सात्त्विक भाव भी होते हैं, उनके चार प्रकार हैं । मुमुक्षु पुरुषमें उत्पन्न सात्त्विक भावका नाम रत्याभासज है । कर्मियों और विषयी जनोंमें उत्पन्न सात्त्विक भावका नाम सत्त्वाभासज है । जिनका चित्त सहज ही फिसल जाता है या जो केवल अभ्यासमें लगे हैं, ऐसे व्यक्तियोंमें उत्पन्न सात्त्विक भावको निःसत्त्व कहते हैं । और भगवान्‌में विद्वेष रखनेवाले मनुष्योंमें उत्पन्न सात्त्विक भावको प्रतीप कहा जाता है ।

व्यभिचारी भाव ३३ हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मरण, आलस्य, जाड्य, लज्जा, अनुभाव-गोपन, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, असूया, चपलता, निद्रा, सुप्ति और बोध ।

भक्तोंके चित्तके अनुसार इन भावोंके प्रकट होनेमें तारतम्य हुआ करता है । आठ सात्त्विक और तैंतीस व्यभिचारी भावोंकी व्याख्या स्थानाभावसे यहाँ नहीं की जाती है । इन तैंतीस व्यभिचारी भावोंको ही सञ्चारी भाव भी कहते हैं, क्योंकि इन्हींके द्वारा अन्य सारे भावोंकी गतिका सञ्चालन होता है ।

अब स्थायिभावकी बात रही। स्थायिभाव सामान्य, स्वच्छ और शान्तादि भेदसे तीन प्रकारका है। किसी रस-निष्ठ भक्तका सङ्ग हुए बिना ही सामान्य भजनकी परिपक्वताके कारण जिनमें एक प्रकारकी सामान्यरति उत्पन्न हो गयी है, उसे सामान्यस्थायिभाव कहते हैं। शान्तादि भक्तोंके सङ्गसे सङ्गके समय जिनके स्वच्छ चित्तमें सङ्गके अनुसार रति उत्पन्न होती है, उस रतिको स्वच्छ स्थायिभाव कहते हैं और पृथक्-पृथक् रस-निष्ठ भक्तोंकी शान्तादि पृथक्-पृथक् रतिका नाम ही शान्तादि स्थायिभाव है। शान्तादि भाव पाँच प्रकारका है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ है। (इन पाँच रसोंका विस्तृत वर्णन पाठकोंको अन्य लेखोंमें देखना चाहिये।) इन पाँच रसोंके अतिरिक्त हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स—ये सात गौण रस और हैं। भगवान्‌का किसी भी रसके द्वारा भजन हो, वह कल्याणकारी ही है, परन्तु साधनके योग्य आदर्श पाँच मुख्य रस हैं।*

साधन-भक्तिके चौसठ अङ्ग

१–श्रीगुरुके चरण-कमलोंका आश्रय-ग्रहण।

२–श्रीगुरुदेवसे श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा लेकर भगवद्-विषयमें शिक्षा प्राप्त करना।

३–विश्वासके साथ गुरुकी सेवा करना।

४–साधु-महात्माओंके आचरणका अनुसरण करना।

५–भागवतधर्मके सम्बन्धमें विनयपूर्वक प्रश्न करना।

६–श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये भोगादिका त्याग करना।

७–द्वारका, अयोध्या आदि भगवान्‌के लीलाधामोंमें और गङ्गादि तीर्थोंमें रहना।

८–जितने व्यवहारके बिना काम न चले, नियमपूर्वक उतना ही व्यवहार करना।

९–एकादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी आदिका उपवास करना।

१०–आँवला, पीपल, तुलसी आदि पवित्र वृक्ष और गौ-ब्राह्मण तथा भक्तोंका सम्मान करना।

ये दस अङ्ग साधन-भक्तिके सहायक हैं; और ग्रहण करने योग्य हैं।

११–भगवद्-विमुख असाधु पुरुषका सङ्ग बिलकुल त्याग कर देना।

१२–अनधिकारीको, प्रलोभन देकर या बलपूर्वक किसीको शिष्य न बनाना, अधिक शिष्य न बनाना।

१३–भगवान्‌के सम्बन्धसे रहित आडम्बरपूर्ण कार्योंका आरम्भ न करना।

१४–बहुत-से ग्रन्थोंका अभ्यास न करना, व्याख्या या तर्क-वितर्क न करना। भगवत्सम्बन्धरहित कलाओंको न सीखना।

१५–व्यवहारमें अनुकूलता न होनेपर दीनता न लाना।

१६–शोक, मोह, क्रोधादिके वश न होना।

१७–किसी भी दूसरे देवता या दूसरे शास्त्रका अपमान न करना।

१८–किसी भी प्राणीको उद्वेग न पहुँचाना।

१९–सेवापराध और नामापराधसे सर्वथा बचे रहना।†

२०–श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णके भक्तोंके द्वेष और निन्दा आदिको न सह सकना।

इन दस अङ्गोंके पालन किये बिना साधन-भक्तिका यथार्थ उदय नहीं होता।

२१–वैष्णव-चिह्न धारण करना।

२२–हरिनामाक्षर धारण करना।

२३–निर्माल्य धारण करना।

२४–श्रीभगवान्‌के सामने नृत्य करना।

२५–श्रीभगवान्‌को दण्डवत् प्रणाम करना।

२६–श्रीभगवान्‌की मूर्तिको देखते ही खड़े हो जाना।

* यहाँ बहुत ही संक्षेपमें केवल परिचयमात्र दिया गया है। जिनको विशेष जानना हो वे श्रीरूपगोस्वामीरचित 'हरिभक्ति-रसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक संस्कृत ग्रन्थोंका अध्ययन करें। —सम्पादक।

† सेवापराध और नामापराधका वर्णन इसी अङ्कमें दूसरी जगह देखिये।

२७–श्रीभगवान्‌की मूर्तिके आगे-आगे या पीछे-पीछे चलना ।

२८–श्रीभगवान्‌के स्थानों अर्थात् उनके धाम और मन्दिरोंमें जाना ।

२९–परिक्रमा करना ।

३०–श्रीभगवान्‌की पूजा करना ।

३१–श्रीभगवान्‌की परिचर्या या सेवा करना ।

३२–श्रीभगवान्‌का लीला-सम्बन्धी गान करना ।

३३–श्रीभगवान्‌के नाम, गुण और लीला आदिका उच्च स्वरसे कीर्तन करना ।

३४–श्रीभगवान्‌के नाम और मन्त्रादिका जप करना ।

३५–श्रीभगवान्‌के समीप अपनी दीनता दिखलाकर उनके प्रेमके लिये, सेवा प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना करना ।

३६–श्रीभगवान्‌की स्तुतियोंका पाठ करना ।

३७–महाप्रसादका सेवन करना ।

३८–चरणामृत पान करना ।

३९–धूप और माला आदिका सुगन्ध ग्रहण करना ।

४०–श्रीमूर्तिका दर्शन करना ।

४१–श्रीमूर्तिका स्पर्श करना ।

४२–आरति और उत्सवादिके दर्शन करना ।

४३–श्रीभगवान्‌के नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण करना ।

४४–श्रीभगवान्‌की कृपाकी ओर निरन्तर देखते रहना ।

४५–श्रीभगवान्‌का स्मरण करना ।

४६–श्रीभगवान्‌के रूप, गुण, लीला और सेवा आदिका ध्यान करना ।

४७–सारे कर्म श्रीभगवान्‌को अर्पण करके अथवा उन्हींके लिये सब कर्म करते हुए भगवान्‌का अनन्य दास बन जाना ।

४८–दृढ़ विश्वास और प्रीतिके साथ अपनेको श्रीभगवान्‌का सखा मानना ।

४९–श्रीभगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर देना ।

५०–अपनी उत्तम-से-उत्तम और प्यारी-से-प्यारी सब वस्तुएँ भगवान्‌के प्रति निवेदन कर देना ।

५१–भगवान्‌के लिये ही सब चेष्टा करना ।

५२–सब प्रकारसे सर्वथा श्रीभगवान्‌के शरण हो जाना ।

५३–उनकी तुलसीजीका सेवन करना ।

५४–उनके शास्त्रोंका सेवन करना ।

५५–उनकी पुरियोंका सेवन करना ।

५६–उनके भक्तोंका सेवन करना ।

५७–अपने वैभवके अनुसार सज्जनोंके साथ मिलकर भगवान्‌का महोत्सव करना ।

५८–कार्तिकके व्रत करना ।

५९–जन्म और यात्रा-महोत्सव मनाना ।

६०–श्रद्धा और विशेष प्रेमके साथ भगवान्‌के चरण-कमलोंकी सेवा करना ।

६१–रसिक भक्तोंके साथ मिलकर श्रीमद्भागवतके अर्थ और रसका आस्वादन करना ।

६२–सजातीय और समान आशयवाले, भगवान्‌के रसिक महापुरुषोंका सङ्ग करना ।

६३–नाम-सङ्कीर्तन करना

और

६४–व्रज-मण्डलादि मधुर लीलाधामोंमें वास करना ।

हरिनाम-उच्चारणका फल

विष्णुदूत कहते हैं—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा । वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः । हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥

(श्रीमद्भा० ६ । २ । १४–१५)

भगवान्‌का नाम चाहे जैसे लिया जाय, किसी बातका सङ्केत करनेके लिये, हँसी करनेके लिये, रागका अलाप पूरा करनेके लिये, अथवा तिरस्कारपूर्वक ही क्यों न हो, वह सम्पूर्ण पापोंको नाश करनेवाला होता है । पतन होनेपर, गिरनेपर, कुछ टूट जानेपर, डँसे जानेपर, बाह्य या आन्तर ताप होनेपर और घायल होनेपर जो पुरुष विवशतासे भी 'हरि' यह नाम उच्चारण करता है वह यम-यातनाके योग्य नहीं ।

सेवापराध और नामापराध

सेवापराध

१–सवारीपर चढ़कर अथवा पैरोंमें खड़ाऊँ पहनकर श्रीभगवान्‌के मन्दिरमें जाना।

२–रथ-यात्रा, जन्माष्टमी आदि उत्सवोंका न करना या उनके दर्शन न करना।

३–श्रीमूर्तिके दर्शन करके प्रणाम न करना।

४–अशौच-अवस्थामें दर्शन करना।

५–एक हाथसे प्रणाम करना।

६–परिक्रमा करते समय भगवान्‌के सामने आकर कुछ न घूमकर फिर परिक्रमा करना अथवा केवल सामने ही परिक्रमा करते रहना।

७–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने पैर पसारकर बैठना।

८–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दोनों घुटनोंको ऊँचा करके उनको हाथोंसे लपेटकर बैठ जाना।

९–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने सोना।

१०–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने भोजन करना।

११–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने झूठ बोलना।

१२–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने जोरसे बोलना।

१३–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने आपसमें बातचीत करना।

१४–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने चिल्लाना।

१५–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने कलह करना।

१६–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीको पीड़ा देना।

१७–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीपर अनुग्रह करना।

१८–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीको निष्ठुर वचन बोलना।

१९–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने कम्बलसे सारा शरीर ढक लेना।

२०–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी निन्दा करना।

२१–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी स्तुति करना।

२२–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने अश्लील शब्द बोलना।

२३–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने अधोवायुका त्याग करना।

२४–शक्ति रहते हुए भी गौण अर्थात् सामान्य उपचारोंसे भगवान्‌की सेवा-पूजा करना।

२५–श्रीभगवान्‌को निवेदन किये विना किसी भी वस्तुका खाना-पीना।

२६–जिस ऋतुमें जो फल हो, उसे सबसे पहले श्रीभगवान्‌को न चढ़ाना।

२७–किसी शाक या फलादिके अगले भागको तोड़कर भगवान्‌के व्यञ्जनादिके लिये देना।

२८–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहको पीठ देकर बैठना।

२९–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरे किसीको भी प्रणाम करना।

३०–गुरुदेवकी अभ्यर्थना, कुशल-प्रश्न और उनका स्तवन न करना।

३१–अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना।

३२–किसी भी देवताकी निन्दा करना।

श्रीवाराह-पुराणमें ३२ सेवापराधोंका वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया गया है—

१–राजाके अन्नका भक्षण करना।

२–अँधेरेमें श्रीविग्रहका स्पर्श करना।

३–नियमोंको न मानकर श्रीविग्रहका स्पर्श करना।

४–बाजा या ताली बजाये विना ही श्रीमन्दिरके द्वारको खोलना।

५–अभक्ष्य वस्तुएँ निवेदन करना।

६–पादुकासहित भगवान्‌के मन्दिरमें जाना।

७–कुत्तेकी जूँठन स्पर्श करना।

८–पूजा करते समय बोलना।

९–पूजा करते समय मलत्यागके लिये जाना।

१०–श्राद्धादि किये विना नया अन्न खाना।

११–गन्ध और पुष्प चढ़ानेके पहले धूप देना।

१२–निषिद्ध पुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा करना।

१३–दँतवन किये विना भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना।

१४–स्त्री-सम्भोग करके भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना।

१५–रजस्वला स्त्रीका स्पर्श करके ,, ,,

१६–दीपका स्पर्श करके ,, ,,

१७–मुर्देका स्पर्श करके ,, ,,

१८–लाल वस्त्र पहनकर ,, ,,

१९–नीला वस्त्र पहनकर ,, ,,

२०–बिना धोया हुआ वस्त्र पहनकर भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना।

२१–दूसरेका वस्त्र पहनकर ,, ,,

२२–मैला वस्त्र पहनकर ,, ,,

२३–शवको देखकर ,, ,,

२४–अधोवायुका त्याग करके ,, ,,

२५–क्रोध करके ,, ,,

२६–श्मशानमें जाकर ,, ,,

२७–खाया हुआ अन्न पचनेसे पहले खाकर ,, ,,

२८–पशुओंका मांस खाकर ,, ,,

२९–पक्षियोंका मांस खाकर ,, ,,

३०–गाँजा आदि मादक द्रव्योंका सेवन करके ,, ,,

३१–कुसुम्भ साग खाकर ,, ,,

और

३२–शरीरमें तैल मलकर ,, ,,

गङ्गास्नान करनेसे, यमुनास्नान करनेसे, भगवान्‌की सेवा करनेसे, प्रतिदिन गीताका पाठ करनेसे, तुलसीके द्वारा श्रीशालग्रामजीकी पूजा करनेसे, द्वादशीके दिन जागरण करके तुलसीका स्तवन करनेसे, भगवान्‌की पूजा करनेसे और भगवान्‌के नामका आश्रय लेकर नाम-कीर्त्तन करनेसे सेवापराध छूट जाता है। भगवान्‌के नामसे सारे अपराधोंकी क्षमा हो जाती है। श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

मम नामानि लोकेऽस्मिन्छ्रद्धया यस्तु कीर्त्तयेत्।
तस्यापराधकोटीस्तु क्षमाम्येव न संशयः॥

'इस संसारमें जो पुरुष श्रद्धापूर्वक मेरे नामोंका कीर्त्तन करता है, मैं उसके करोड़ों अपराधोंको क्षमा कर देता हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

नामापराध

१–सत्पुरुषोंकी निन्दा करना।

२–शिव और विष्णुके नामोंमें ऊँच-नीचकी कल्पना करना।

३–गुरुका अपमान करना।

४–वेदादि शास्त्रोंकी निन्दा करना।

५–'भगवान्‌के नामकी जो इतनी महिमा कही गयी है, यह केवल स्तुतिमात्र है, असलमें इतनी महिमा नहीं है।' इस प्रकार भगवान्‌के नाममें अर्थवादकी कल्पना करना।

६–'भगवान्‌के नामसे पापोंका नाश होता ही है, पाप करके नाम लेनेसे पाप नष्ट हो ही जायँगे, पाप हमारा क्या कर सकते हैं?' इस प्रकार भगवान्‌के नामका आश्रय लेकर नामके बलपर पाप करना।

७–यज्ञ, तप, दान, व्रत आदि शुभ कर्मोंको नामके समान मानना।

८–श्रद्धारहित और सुनना न चाहनेवाले व्यक्तिको उपदेश करना।

९–नामकी महिमा सुनकर भी नाममें प्रीति न करना। और

१०–'मैं' और 'मेरे'के फेरमें पड़कर विषय-भोगोंमें आसक्त होना।

ये दस नामापराध हैं। नामापराधसे भी छुटकारा नामके जप-कीर्त्तनसे ही मिलता है।

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।
अविश्रान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च॥

'नामापराधयुक्त पुरुषोंका पाप नाम ही हरण करता है और निरन्तर कीर्त्तन किये जानेपर वह सारे मनोरथोंको पूरा करता है।'

जीवोंका परम धर्म क्या है ?

यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः। भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥
नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः। अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत॥
एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।
विक्रुश्य पुत्रमघवान्यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्॥

(श्रीमद्भा० ६। ३। २२–२४)

इस संसारमें जीवोंका इतना ही परम धर्म है—भगवान्‌के नामोच्चारण आदिके द्वारा भगवान्‌में परमभक्ति करना। हे दूतो! भगवान्‌के नामोच्चारणकी महिमा साक्षात् आँखोंसे देख लो कि जिससे अजामिल भी मृत्युपाशसे छूट गया। भगवान्‌के गुण, लीला और नामोंका कीर्तन, बस, इतना ही जीवोंके पापनाशके लिये पर्याप्त है। क्योंकि पापी अजामिल भी मरते समय 'नारायण' इस नामसे अपने पुत्रको पुकारकर मुक्तिको प्राप्त हुआ। (फिर जो पुण्यात्मा हैं—जीवनमें श्रद्धा-भक्तिसे भगवान्‌का नाम लेते हैं उनका तो कहना ही क्या है!)

अटपटा साधन—प्रेम

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

नातजुर्बेकारी[1] से वाइज़[2] की हैं ये बातें !
इस रंग को क्या जाने पूछो तो कभी पी है !!
उस मय[3] से नहीं मतलब दिल जिस से है बेगाना !
मक़सूद[4] है उस मय से दिल ही में जो खिंचती है !!

—अकबर

साध्य एक है—साधन अनेक; पर सबसे बड़ी कमी है साधकोंकी । मार्ग बतानेवालोंकी कमी नहीं, कमी है मार्गपर चलनेवालोंकी । नेता और उपदेशकोंका टोटा नहीं, टोटा है तो उनके उपदेशोंको मानकर बताये हुए पथपर चलनेवालोंका । मज़ा तो यह है कि जो मार्ग बताते हैं, वे स्वयं ही उस मार्गपर नहीं चलते । 'आपु न जावे सासुरे औरन को सिख देइ !' वाली मसल है । भगवद्भक्तिके मार्गका भी ऐसा ही हाल है । इस ओर भी धर्मोपदेशकोंकी कमी नहीं । साधन बतानेवालोंका टोटा नहीं । और फिर भारतकी तो बात ही क्या कही जाय ! यहाँकी तो गली-गलीमें वेदान्त बिखरा पड़ा है । यहाँके वज्रमूर्ख भी जगत्‌की नश्वरता, आत्माकी अमरता और भोगोंकी अस्थिरतापर घंटों विवाद कर सकते हैं । आजके इन उपदेशकोंकी भीड़में तुलसी और कबीर, मीरा और सूरदास, नरसी और रैदास, चैतन्य और नामदेव, रामकृष्ण और रामतीर्थ, विवेकानन्द और अरविन्द-जैसे साधक कितने हैं ? अरे, दालमें नमक बराबर भी तो नहीं । और वास्तवमें बात तो यह है कि सच्चे साधक तो उपदेश और प्रचारसे सर्वथा परे रहते हैं । यह दूसरी बात है कि उनके मुखोंसे यदा-कदा निकली पावन वाणीका लोग इस कार्यके लिये उपयोग कर लें; पर वे स्वतः इसके लिये सचेष्ट रहते हों, ऐसा प्रायः देखनेमें नहीं आता । कहा ही है कि—

जो जानै सो कहै नहिं, कहै सो जानै नाहिं ।

अधभरी गगरी ही अधिक छलका करती है, भरी नहीं । प्रेमानन्दमें विभोर रहनेवालोंको, ज्ञानानन्दसे आकण्ठ परिपूर्ण रहनेवालोंको तो यह चिन्ता रहती ही नहीं कि कोई अन्य व्यक्ति जाने कि वे कितने गहरेमें हैं ? उन्हींकी अवस्थाका परिचय देते हुए कबीर कहते हैं—

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ?
हीरा पायो गाँठ गठियायो ।
बार बार वाको क्यों खोले ॥ १ ॥
हलकी थी तब चढ़ी तराजू ।
पूरी भई तब क्यों तोले ॥ २ ॥
सुरत कलारी भइ मतवारी ।
मदवा पी गई बिन तोले ॥ ३ ॥
हंसा पाये मान सरोवर ।
ताल तलैया क्यों डोले ॥ ४ ॥

पर जो हो, हमारी आध्यात्मिक भूख मिटानेके लिये तो कुछ-न-कुछ चाहिये ही । हमारे अन्तरकी तीव्र पिपासा तो मिटनी ही चाहिये । वह पिपासा एक-दो दिनकी पिपासा तो है नहीं । वह है न जाने कितने जन्म-जन्मान्तरोंकी ! सहज ही वह मिट जाय, यह आशा करना तो व्यर्थ ही है । यह अवश्य है कि मृगतृष्णाके जलसे वह कुछ देर बहला भले ही रक्खी जाय । पर ऐसा बहलाना कबतक काम देगा ?

अन्तरकी पिपासा जब हमारे भीतर जाग्रत् होती है तो हम व्याकुल हो उठते हैं उसे शान्त करनेके लिये । परन्तु उस समय न तो हमारा जाना हुआ मार्ग होता है और न उस मार्गपर जानेका साधन । उस समय जो लोग हमारे पथ-प्रदर्शकके रूपमें हमारे सम्मुख आते हैं, वे बेचारे स्वयं ही पथ नहीं जानते और इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होता है कि वे आप तो डूबते ही हैं, साथमें हमें भी ले डूबते हैं । हम अन्धकारमें ही टटोलते रह जाते हैं और वर्षोंके परिश्रमके उपरान्त भी अपनेको उसी स्थानपर खड़ा पाते हैं, जहाँसे हमने आगे चलना आरम्भ किया था । कारण ? कारण स्पष्ट है । पहला तो यह कि हमारी पिपासाकी तीव्रतामें कमी और दूसरा उचित साधनका अज्ञान । तीव्रतामें कमी इसलिये कि उसके तीव्र होनेपर व्यर्थ ही इधर-उधर भटकनेकी कम गुंजाइश रहती है और प्रलोभन मार्गमें किसी भाँतिकी बाधा डालनेमें समर्थ नहीं हो पाते और उचित साधनका अज्ञान तो रहता ही है । जब पथ-प्रदर्शक ही पथभ्रान्त हैं तब उचित साधन ही कैसा ! जब वे ही अन्धकारमें टटोल रहे हैं तो हमें प्रकाश कहाँसे मिलेगा ?

और फिर, माना कि हमारी आध्यात्मिक भूख भली

१. अनुभवहीनता, २. उपदेशक, ३. शराब, ४. लक्ष्य, उद्देश्य ।

प्रकार जाग्रत् हो पड़ी है और हमें साधन भी ज्ञात हो गया है, तथा हम उसपर चलने लगे हैं। किन्तु जब हम देखते हैं कि इस मार्गपर चलते हमें इतना समय बीत गया और कुछ भी सिद्धि नहीं मिली तो हमारी साधनपरसे श्रद्धा विचलित हो उठती है और बस, हम गिर जाते हैं। हम सर्वथा भूल बैठते हैं, कि—

साधनाये सिद्धि लाभ एके दिन नाहिं हय,
श्रमेर साफल्य आछे ए जगते सुनिश्चय।
सुदिन होले आगत पूर्ण हवे मनोरथ,
सद्यः जात तरु शाखा फुटे ना कुसुमभार।
समये दिबेन प्रभु श्रम योग्य पुरस्कार॥

समय आनेपर श्रमका पुरस्कार मिलेगा ही। अतः साधनाके पथमें हताश होनेकी बात होती ही नहीं, परन्तु हम तो चाहते हैं कि हमें आनन-फानन फल मिले। थोड़ा-सा भी विलम्ब न लगे। भाँति-भाँतिके प्रलोभन भी आकर हमारा मार्ग रोकने लगते हैं और हम इस मार्गकी बाधाओंसे अनभिज्ञ होनेके कारण उनपर विजय न प्राप्त कर पथ-भ्रान्त हो जाते हैं।

योग, यज्ञ, तप, व्रत, दान, होम आदि-आदि न जाने कितने साधन हैं प्रभु-प्राप्तिके। सभीके द्वारा भक्त और ज्ञानी उनके सन्निकट पहुँचे हैं। भक्तोंकी पावन गाथाएँ पुकार-पुकारकर इसकी दुहाई पीट रही हैं, परन्तु आज हम इन सब साधनोंको अत्यन्त ही कष्टसाध्य पाते हैं। दूरकी बात ही क्यों, समीपकी ही ले लीजिये। कोई छोटा-मोटा पाठ या अनुष्ठान आरम्भ करते ही न जानें कितनी झंझटें हमारे सम्मुख आ उपस्थित होती हैं। फलस्वरूप हम या तो उन्हें अधूरा छोड़कर बैठ रहते हैं और यदि पूरा भी करते हैं तो ऐसे मानो इतना सबक हमें किसी-न-किसी तरह दोहरा ही जाना है। भला, कहीं इस प्रकारसे भगवत्प्राप्ति हुआ करती है? कौड़ी देकर कहीं हीरा खरीदा जाता है? उस सच्चे पारखीकी भी आँखोंमें किसी भाँति धूल झोंकी जा सकती है? इस तरह यदि बेगार काटनेसे चला करता या तोते-जैसे पाठसे अनुपम फलकी प्राप्ति हुआ करती तो जगन्नियन्ताको और किसी नामसे भले ही पुकार लिया जा सकता था, उसे न्यायकारी और कर्मानुसार फल देनेवाला तो कभी भी न कहा जाता। वह न्यायाधीश ही कब कहला सकता है जिसके दरबारमें अन्याय होता है? यह सब सोचकर यही जीमें आता है कि कोई साधन ऐसा होता जो कष्टसाध्य भी न होता और उससे अपना मतलब भी हल हो जाता। परेशानी भी न होती और काम भी चलता। तमाम तूमार भी न बाँधना होता और उद्देश्यमें सफलता भी प्राप्त होती।

हताश होनेकी बात नहीं। सच्चे साधकोंने ऐसा मार्ग भी खोज निकाला है। उस मार्गका नाम है—प्रेम। सरल-से सरल होनेपर भी वह बड़ा ही अटपटा मार्ग है।

इस मार्गके कुछ पथिकोंका अनुभव भी सुन लीजिये। एक साहब फरमा रहे हैं—

कूचए इश्कमें 'अहसान' सँभलकर चलना,
हजरते खिज्र भी भूले हैं ठिकाना अपना!

दूसरे साहब कहते हैं—

इश्ककी चोट कलेजे पै न खाये कोई,
जान से जाये मगर दिल न लगाये कोई!

तीसरे साहबका अनुभव है—

अल्लाह इश्क भी है कोई ऐसी मासियत,
एक आग सी लगी है दिले बेकरार में।

चौथे साहबका कहना है—

ये वो शै है कि न बात इसमें करे,
संखिया खाके मरे, इसको जबां पर न धरे!

हमारे बोधा कवि भी ऐसा ही कुछ गुनगुना रहे हैं—

यह प्रेम को पंथ कराल महा, तलवार की धार पै धावनो है।

कुछ औरोंकी बानगी इस प्रकार है—

सीस काटिके भुँइ धरै ता पर राखै पाँव।
इश्क चमन के बीचमें ऐसा हो तो आव॥
प्रेम पंथ अति ही कठिन सब पै निबहत नाहिं।
चढ़िके मोम तुरंग पै चलिबो पावक माहिं॥
'नारायण' प्रीतम निकट सोई पहुँचनहार।
गेंद बनावे सीस की खेलै बीच बजार॥

यह सब होनेपर भी अनुभवियोंका यही कहना है कि—

प्रेम बराबर योग नहिं, प्रेम बराबर ध्यान।
प्रेम भक्ति बिन साधना, सब ही थोथा ज्ञान॥

प्रेम-पथकी गहनता, गुरुता और गम्भीरताको स्वीकार करते हुए भी प्रेमीलोग इस बातके क़ायल हैं कि चाहे कुछ क्यों न हो जाय पर किया तो प्रेम ही जाय! उनका तो बार-बार यही कहना है कि—

कोई लज्जत नहीं है फिर भी दुनिया जान देती है,
खुदा जाने मुहब्बतमें मजा होता तो क्या होता !

पर उनका ऐसा कहना भी अर्थ रखता है और वह यह कि मुहब्बत वास्तवमें बड़ी ही मज़ेदार चीज़ है। उसमें मज़ा है और इतना गहरा मज़ा है कि सारी दुनिया उसके पीछे पागल बनी फिरती है। जिधर देखिये उधर ही प्रेमका राग छिड़ा है। प्रेमकी महिमा अपार और अनन्त है। उसकी एक छोटी-सी भी झाँकी हमारा मन मुग्ध कर लेती है और हमें बरबस उसकी अलौकिक सत्ताको स्वीकार कर लेना पड़ता है। माताके कलेजेका रक्त बच्चेके लिये श्वेत दूधके रूपमें परिवर्तित हो जाता है, क्यों—कभी सोचा है ? शायद नहीं। यह उसके अन्तस्तलका प्रेम ही है जिसके कारण ऐसा होता है। एक-दो नहीं सैकड़ों ऐसे उदाहरण प्रतिदिन हमारे नेत्रोंके सम्मुखसे निकलते हैं जो प्रेमकी महिमाको हमारे सामने स्पष्ट कर जाते हैं और हमसे पुकार-पुकारकर कहते हैं—मूर्ख ! तू भी प्रेमका दीवाना बन। जीवनका एकमात्र सार प्रेममें ही है। निष्प्रेम रहकर तेरे जीवनका कोई मूल्य ही नहीं। तेरे हृदयमें यदि प्रेम न होगा तो तुझे कोई कौड़ी-मोल भी न पूछेगा। और सचमुच, इस जगत्‌में है ही ऐसा कौन जो प्रेमकी सत्ताको स्वीकार न करे ? लौकिक प्रेम ही जब इतना मनमुग्धकर है तब पारलौकिककी तो बात ही क्या कही जाय ? जिस प्रेममें वासनाका थोड़ा-सा भी पुट रहता है वह निकृष्ट श्रेणीका प्रेम समझा जाता है। उसमें वह मज़ा नहीं रहता जो सच्चे प्रेममें रहना चाहिये। पर सच्चे प्रेमके तो दर्शन भी दुर्लभ हैं। हम लौकिक प्रेमसे ही पारलौकिक प्रेमके आनन्दकी कल्पना कर सकते हैं। और उसके लिये इतना सोच लेना ही यथेष्ट है कि उसकी बदौलत सब कुछ सम्भव है। इतनेमें ही सब कुछ आ जाता है। प्रभुके चरणारविन्दोंतक पहुँचनेके लिये योगी और यति, महात्मा और ऋषि अनन्तकालीन साधनामें निरत रहे और उन्हें प्राप्त करना अत्यन्त ही दुरूह बताते रहे, परन्तु आँखें तो तब खुलीं जब देखा कि अरे, वही प्रभु जिसके लिये हम ऐसा कहते हैं—

ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।

फिर तो उन्हें झख मारकर स्वीकार करना पड़ा कि—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन गायन, वेद रिचा पढ़ी चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो न कहूँ कबहूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
ढूँढ़त ढूँढ़त ढूँढ़ि फिर्‌यो 'रसखानि' बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो, दुर्‌यो वह कुंज कुटीरन, बैठ्यो पलोटत राधिका पायन॥

देखा आपने ? हज़रत मिले भी तो कहाँ ? और जनाब ड्यूटी कौन सी अदा कर रहे थे ? श्रीमती राधारानीकी चरणसेवामें तल्लीन थे ! है न ये चक्करमें डाल देनेवाली बात ? अरे, वे बेचारे तो टापते ही रह गये जो बरसोंसे जप, तप, नियम, उपवासमें लगे थे और बाज़ी मार ले गयीं राधारानी ! राधारानीमें ऐसे कौन-से सुरखाबके पर लगे थे कि श्रीमान्‌जी उनकी तरफ तो इतने झुक गये कि पैर पलोटने लगे और इन लोगोंसे सीधे मुँह बात करना तो दूर किनार एक बार अपनी झाँकीतक न दिखायी ? है न सरासर अन्धेर—परन्तु बात तो यह है कि—

हम आह भी करते हैं तो हो जाते हैं बदनाम,
वह ज़ुल्म भी करते हैं तो चरचा नहीं होती !

उनकी दयादृष्टि जिसपर पड़ जाय उसके सौभाग्यका क्या कहना ! और यह दयादृष्टि डालना एकबारगी ही उनकी मर्ज़ीपर है। जिसे चाहें निहाल कर दें और जिससे चाहें मुँह फेर लें। ऐसा सोचकर हम उन्हें मनमौजी भले ही कह लें, परन्तु वास्तवमें बात यह है कि प्रेम-अस्त्रके सामने उनकी भी कोई दाल नहीं गलती। और सारे अस्त्र निरर्थक हो जाते हैं, परन्तु प्रेम-अस्त्रका वार चूक जाय—यह असम्भव है। और उसके बलपर श्रीमान्‌जीसे चाहे जैसा ठुमका नाच नचवा लीजिये। बिना किसी ननु-नचके आप सब कुछ करनेको तैयार हो जायँगे। तभी तो इसीकी बदौलत—

वेद भेद जाने नहीं नेति नेति कहै बैन।
ता मोहन पै राधिका कहै महावरु दैन॥

शायद आप पूछ उठें कि यह प्रेम मिले कैसे ? इस साधनको उपलब्ध करनेका उपाय क्या है तो उसके लिये ग़ालिब साहब साफ कह गये हैं कि—

इश्क पर ज़ोर नहीं है ये वो आतिश 'ग़ालिब',
जो लगाये न लगे और बुझाये न बुझे !

यह आग तो दिलमें अपने आप पैदा होती है। है तो सभीके दिलके भीतर परन्तु उसपर राख पड़ी हुई है—सांसारिक मायामोहकी, अज्ञान और अविद्याकी, विषय-भोगों और भाँति-भाँतिके प्रलोभनोंकी। यह राख फूँक दी जाय तो प्रेमका दहकता हुआ अँगारा निकल आये ! फिर तो पूछनेकी भी जरूरत न रहे कि क्या करना है और किधर जाना है। तब तो स्वतः ही प्रेमका यह तीव्र उद्रेक होगा कि सब कुछ भूलकर एकमात्र प्रियतमका ही आठ पहर

चौसठ घड़ी ध्यान रहेगा। उसीका स्मरण होगा और उसीका चिन्तन। हृदयमें वह तीव्र बेचैनी उत्पन्न हो जायगी जो प्रेमियोंकी एकमात्र बपौती है। उसके आगे तो कुछ कहना रह ही नहीं जाता। वह प्रेमानन्दका अलौकिक आनन्द, वह प्रेम-विह्वलता, वह प्रेमाश्रुओंका अविरल प्रवाह सबके भाग्यमें नहीं होता। उसे प्राप्त तो कोई भी कर सकता है पर सच्चे दिलसे उसके लिये कोई सचेष्ट भी तो हो! सब कुछ भूलकर कोई उस अलबेले प्रियतमको पानेके लिये छटपटाये भी तो। सच्चे दिलसे उसके लिये रोये भी तो! फिर यह हो नहीं सकता कि उसका रुदन व्यर्थ जाय—उसकी पुकार सुनी जायगी और अवश्य सुनी जायगी और—

सलवत इश्क सलामत है तो इंशा अल्लाह,
कच्चे धागेमें चले आयँगे सरकार बँधे॥

यह ध्रुव सत्य है।

वर्णाश्रमसाधनका तत्त्व

(लेखक—प्रोफेसर श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

अनन्त विषमताओंसे भरे इस प्राकृत जगत्‌में अन्यान्य प्राणियोंकी भाँति ही मनुष्य भी शक्ति, ज्ञान, रुचि और संस्कारोंकी विचित्रताओंको लेकर ही जन्म-ग्रहण करता है। उसके बाहर भी विचित्रता है और अंदर भी विचित्रता है। जागतिक विचित्रताके साथ संयोग-वियोग होनेके कारण उसके जीवनमें भी विचित्रताएँ फूट निकलती हैं। वह अपने अंदर विचित्र अभावोंकी प्रताड़ना, विचित्र प्रयोजनोंकी प्रेरणा, विचित्र भावोंकी लहरियाँ और विचित्र आदर्शोंके आकर्षणका अनुभव करता है। वह अपने जीवनपथमें जितना ही अग्रसर होता है, उतना ही अपनी व्यक्तिगत विशिष्टता और दूसरोंके साथ अपनी पृथक्ताकी उपलब्धि करता रहता है। मनुष्य केवल दूसरे प्राणियोंसे ही अपनी पृथक्ताका अनुभव करता हो, इतनी ही बात नहीं है। मनुष्यके साथ भी मनुष्यके असंख्य प्रकारके भेद हैं। उनमें शक्तिका भेद है, बुद्धिका भेद है, स्वार्थका भेद है और अवस्थाका भेद है। इन सब भेदोंके कारण मनुष्योंका परस्पर संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। प्रत्येक मनुष्यको मानो अनवरत संग्राम करते हुए ही इस जगत्‌में अपनी जीवन-रक्षा और स्वार्थ-साधन करना पड़ता है।

जो मनुष्य प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्वितामें विशेष दक्ष नहीं है, उसके लिये मानो इस संसारमें आत्मरक्षा करनेका कोई उपाय ही नहीं है। इसीलिये मनुष्यके जीवनपथमें स्वाभाविक ही हिंसा, द्वेष, घृणा और भय आदि अनिवार्यरूपमें प्रकट होते रहते हैं। इसीलिये मानवजातिमें अशान्तिका कभी अभाव नहीं होता। जिस स्वार्थसिद्धिके लिये मनुष्य सदा वैर मोल लेनेको तैयार रहता है, उस स्वार्थका भी प्रतिक्षण नाश होता रहता है। जगत्‌में दुःख और अतृप्तिसे रहित पूर्ण सुखभोग और आत्मतृप्ति किसीको भी नसीब नहीं होती। लगातार युद्ध करने और नये-नये युद्धोंकी तैयारी करनेमें ही जीवन बीत जाता है। इस युद्धके लिये ही मनुष्य सङ्घ बनाता है, भाँति-भाँतिके दाव-पेचोंका जाल फैलाना सीखता है, नये-नये अस्त्र-शस्त्र और कल-कारखानोंका आविष्कार करता है और प्रकृतिकी शक्तियोंपर अधिकार जमाकर उनको भी युद्धके साधन बना लेता है। इसीके परिणामस्वरूप युद्धकी भीषणता क्रमशः बढ़ती ही जाती है। व्यक्तिके साथ व्यक्तिका संग्राम तो चलता ही है; वही और भी भयङ्कर रूप धारण करके जातिके साथ जातिके, सम्प्रदायके साथ सम्प्रदायके और श्रेणीके साथ श्रेणीके युद्धके रूपमें परिणत होकर संसारको श्मशान बना देनेके लिये तैयार हो जाता है। इतना होते हुए भी मनुष्यके प्राण इस वैर-विरोध और संग्रामकी स्थितिको कभी पसंद नहीं करते। वे सदा-सर्वदा शान्तिके लिये, तृप्तिके लिये, अपने अंदरकी पूर्णताको प्राप्त करनेके लिये और सबके साथ प्रेमका सम्बन्ध जोड़नेके लिये व्याकुल रहते हैं।

मनुष्य जब कभी अपने अन्तरात्माकी ओर देखता है, तभी उसे यह वाणी सुनायी पड़ती है कि 'संग्रामके द्वारा जीवनकी सार्थकता सम्भव नहीं है,—प्रकृतिके द्वारा युद्धके लिये खींचे जानेपर भी युद्धसे छुटकारा पाना ही उसके जीवनका आदर्श है,—प्राकृत जगत्‌में जीवन-संग्राम एक स्वाभाविक विधान होनेपर भी वह इस संग्रामसे ऊपर उठकर शान्तिमय राज्यमें निवास करनेका अधिकारी है।' अन्तरात्माके अंदर यह शान्ति, तृप्ति, समता और प्रेमका आदर्श नित्य निहित है—यही कारण है कि मनुष्यको संग्राम-क्षेत्रमें भी शान्तिके वचन सुनाने पड़ते हैं, हिंसावृत्तिको चरितार्थ करते

समय भी यह घोषणा करनी पड़ती है कि इसमें उसका उद्देश्य शान्ति, प्रेम, न्याय और साम्यकी स्थापना करना ही है। वस्तुतः मनुष्य-जीवनमें अन्तरात्माके आदर्श और बाह्य प्रकृतिकी प्रताड़नामें एक द्वन्द्व—झगड़ा सदासे ही चला आ रहा है। मनुष्यका अन्तरात्मा प्राकृत जगत्‌के इस संग्रामको आत्यन्तिक सत्य माननेके लिये कभी राजी नहीं होता।

मनुष्यके अन्तरात्माका यह दावा है कि मनुष्यको अपनी साधनाके द्वारा सब प्रकारके भेद, द्वन्द्व, कलह और युद्धोंके स्तरको लाँघकर शान्तिमय, सौन्दर्यमय और कल्याणमय अभेद-राज्यमें पहुँचना और वहाँ अपनेको प्रतिष्ठित करना पड़ेगा। भेदमें अभेदकी प्रतिष्ठा, विषमतामें समताकी प्रतिष्ठा, द्वन्द्वमय जगत्‌में शान्तिकी प्रतिष्ठा और मृत्युमय जगत्‌में अमृतत्वकी प्रतिष्ठा—यही मानवात्माका जीवनव्रत है, यही उसकी धर्म-साधना है। ज्ञानमें ऐक्यदर्शन, प्रेममें ऐक्यानुभूति और कर्ममें ऐक्यनिष्ठा,—यही मनुष्यके धर्मानुशीलनका आदर्श है। विचार-बुद्धिके सम्यक् अनुशीलनसे उसको सब प्रकारके भेद और विषमताओंके मूलमें एक अद्वितीय सच्चित् प्रेमानन्दघन परमतत्त्वको प्राप्त करना होगा। प्रेमके सम्यक् अनुशीलनके द्वारा सबके अंदर एक 'सत्य-शिव-सुन्दर' प्राणका अनुभव करके सबके जीवनके साथ अपने जीवनको मिला देना होगा। सबके स्वार्थमें ही अपने यथार्थ स्वार्थका परिचय पाकर अपने वैचित्र्यमय जीवनके समस्त विभागोंकी कर्मधाराको उसी उद्देश्यके अनुकूल बहा देना होगा। इस परम कल्याणमय ऐक्यके आदर्शद्वारा अनुप्राणित होकर सब प्रकारके द्वन्द्व, सङ्घर्ष, हिंसा, द्वेष और अशान्तिके स्तरसे ऊपर मानवजीवनको प्रतिष्ठित करनेका व्रत ही वास्तवमें मनुष्योचित साधना है।

इस जगत्‌में मानव-जीवनको इस प्रकार द्वन्द्वातीत, अमृतमय और शान्तिमय बनानेके लिये जितना अपने देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिका अनुकूल होना आवश्यक है, उतना ही सामाजिक स्थितिका भी अनुकूल होना अभीष्ट है। समाजके साथ व्यक्तिका अङ्गाङ्गी सम्बन्ध है। समाजसे अलग करके मानव-जीवनपर विचार करना सम्भव नहीं। समाजके सम्पर्कसे ही मनुष्यका परिचय प्राप्त होता है। समष्टिगत जीवनके साथ सम्बन्ध हुए बिना व्यष्टिगत जीवनका कोई परिचय ही नहीं मिल सकता। मनुष्यका जन्म, स्थिति, वृद्धि और परिणाम सब समाजके अंदर ही होता है। समाजसे ही प्रत्येक व्यक्ति अपने देह-धारणके लिये, मनोविकासके लिये और धर्मसाधनाके लिये आवश्यक उपकरण प्राप्त करता है। दूसरी ओर, प्रत्येक व्यक्ति इन सब उपकरणोंका जिस रीतिसे व्यवहार करके अपने-अपने जीवनको नियन्त्रित करता है, समाज-जीवनकी गतिपर ही उसका प्रभाव पड़ता है। जनसाधारणकी जीवन-धाराके लिये बहुत अंशमें समाज जिम्मेवार है। वैसे ही समाजकी विधि-व्यवस्थाके लिये जनसाधारणपर भी कम दायित्व नहीं है। समाजमें जो लोग विशेष बुद्धिमान्, शक्तिसम्पन्न और प्रभावशाली होते हैं, उन्हींके विचार, भाव और कर्मकी धारा सामाजिक विधि-व्यवस्थामें प्रतिफलित हुआ करती है। मानव-समाजके श्रेष्ठ विद्वानोंके चित्तमें यह समस्या सदा ही बनी रहती है कि—समाजकी सङ्गठन-विधि और रीति-नीति कैसी बनायी जाय जिससे मनुष्यके अन्तरात्माका मनोरथ समाजके द्वारा पूर्णरूपसे सिद्ध हो सके? व्यष्टिके साथ समष्टिका, व्यक्तिके साथ परिवारका, श्रेणीके साथ जातिका, श्रेणीके साथ श्रेणीका और राष्ट्रका सम्बन्ध किस प्रकारका हो, जिससे द्वन्द्व, कलह, ईर्ष्या, घृणा और द्वेषके सारे कारण यथासम्भव दूर हो जायँ और समग्र मानव-समाजमें एकप्राणताकी प्रतिष्ठा हो? सामाजिक जीवन-प्रवाहको किस प्रकारके आदर्शद्वारा अनुप्राणित किया जाय और वह आदर्श किस प्रकारके आचरण और कर्मोंके अंदर स्थापित किया जाय, जिससे प्रत्येक नर-नारी मानव-जीवनके महान् व्रतके सम्बन्धमें सदा-सर्वदा सजग रहे और उनका ज्ञान, प्रेम, कर्म, स्वाभाविक ही तद्भाव-भावित होकर ही परम कल्याणकी ओर अग्रसर हो? मनुष्यके साथ मनुष्यके नाना प्रकारके भेद और विषमताओंके होनेपर भी, मनुष्यकी शक्ति और ज्ञानमें तारतम्य होनेपर भी, कर्मक्षेत्रकी विभिन्नता और प्रयोजनोंकी विलक्षणता होनेपर भी, किस उपायसे मनुष्यके साथ मनुष्यके प्राण मिलाये जा सकते हैं, किस उपायसे रुचि, प्रकृति, शक्ति आदिके भेदसे युक्त पृथक्-पृथक् आवश्यकताओंसे प्रेरित मनुष्य परस्पर प्रेमकी डोरीसे बँधकर शान्तिपूर्वक सभी अपने-अपने जीवन-विकासके मार्गपर अग्रसर हो सकते हैं, मानव-समाजके सामने यह एक सनातन समस्या है।

भारतीय साधनाके क्षेत्रमें जो वर्णाश्रमका विधान है, वह इसी जटिल समस्याको सुलझानेकी एक महान् चेष्टा है। लाखों वर्षोंसे इस वर्णाश्रमविधानने भारतीय समाजके सभी एक-से-एक विलक्षण श्रेणीके नर-नारियोंमें एक महान् समन्वयकी स्थापना करके उनके मनुष्योचित साधनाके मार्गको

प्रशस्त कर रक्खा है। समस्त मानव-समाजके लिये यह विधान परम आदर्श है। समाज-नीतिकी दृष्टिसे भी इस विधानके अंदर छिपा हुआ तत्त्व विशेषरूपसे देखने योग्य है।

मनुष्योंमें परस्पर असंख्य प्रकारके भेद हैं और उनका रहना अनिवार्य है। इन सब भेदोंके अंदरसे ही अभेदकी प्रतिष्ठाका मार्ग खोज निकालना होगा। ऐसा किये बिना, समाज सदा अत्यन्त भयंकर संग्राम-क्षेत्र ही बना रहेगा। इस अभेदकी प्रतिष्ठा कैसे हो ? मनुष्योंमें जहाँ-जहाँ भेद अवश्यम्भावी है, वहाँ-वहाँ उस भेदको स्वीकार कर लेनेकी मनोवृत्तिका जनसाधारणके चित्तमें विकास होना आवश्यक है; नहीं तो सभी जगह प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष, संग्राम, असन्तोष और अशान्ति बनी ही रहेगी। परन्तु ऐसी मनोवृत्ति यदि उपायहीनता और निराशाकी अनुभूतिसे उत्पन्न हो तो उससे मनुष्योचित जीवन-विकासके मार्गमें बाधा ही होगी। समाजकी जो व्यवस्था सभी नर-नारियोंको उनके जीवनकी सम्पूर्ण सार्थकताके मार्गपर बढ़ानेमें सहायक न हो, उस व्यवस्थासे उपर्युक्त समस्याका समाधान कभी नहीं हो सकता। समाजकी व्यवस्था तो ऐसी होनी चाहिये कि जिससे प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक श्रेणी सन्तुष्ट-मनसे अनिवार्य भेदोंको स्वीकार कर ले और साथ ही प्रत्येकके मनमें अपनी-अपनी अवस्था, शक्ति और तदनुरूप कर्म और साधनामें गौरवका भाव जाग्रत् रहे। प्रत्येक मनुष्यके सामने एक ऐसा मूर्तिमान् सजीव आदर्श रहना चाहिये कि जिससे अपने-अपने अधिकारके अनुसार प्राप्त कर्तव्य-कर्मोंका स्वेच्छापूर्वक प्रेमके साथ सम्पादन करते हुए अपनेको समाजका एक गौरवपूर्ण अङ्ग समझे और उसीको मनुष्यत्वके विकासका साधन मानकर जीवनके व्रतके रूपमें ग्रहण करनेको उत्साहित हो।

मनुष्यके साथ मनुष्यके जितने भी सङ्घर्ष होते हैं, सभी उसकी देह, इन्द्रिय और मनकी आकांक्षा तथा आवश्यकताके क्षेत्रमें होते हैं। प्रत्येक मनुष्यको अन्न, वस्त्र, घर और धनकी आवश्यकता है। प्रत्येक मनुष्यके मनमें सुख, ऐश्वर्य, प्रभाव, मान-सम्मानकी आकांक्षा है और इसी क्षेत्रमें एकका स्वार्थ दूसरेके स्वार्थके साथ टकराता है। यदि अन्न-वस्त्रादिकी वृद्धि और सुख-सम्पत्ति तथा स्वामित्वकी स्थापनाको ही मानव-साधनाके क्षेत्रमें एक श्रेष्ठ आदर्श मान लिया जाय तब तो मानव-समाजमें स्वार्थका विरोध, व्यक्तिगत और श्रेणीगत संग्राम और उसके फलस्वरूप आधिभौतिक उन्नतिके साथ-ही-साथ दुःखदायी अशान्तिका भोग भी अवश्यम्भावी है।

बाह्य सम्पत्तिके आदर्शको नींव बनाकर जिस समाज-मन्दिरका निर्माण होगा, उसमें प्रारम्भमें आर्थिक उन्नति, राष्ट्रीय प्रभावकी वृद्धि हो सकती है, जड-जगत्सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञानकी उन्नति भी हो सकती है; परन्तु ये सब उन्नतियाँ होती हैं व्यक्तिके साथ व्यक्तिकी, सम्प्रदायके साथ सम्प्रदायकी और जातिके साथ जातिकी प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, सङ्घर्ष और संग्रामके द्वारा ही। इसीलिये यह उन्नति जन-साधारणकी नहीं होती; कुछ लोग जो बुद्धि-शक्ति, कल्पना-शक्ति, संघटन-शक्ति और निर्माण-शक्तिमें बढ़े हुए होते हैं, वस्तुतः उन्हींकी होती है, धन-सम्पत्ति और प्रभुत्वपर उन्हींका अधिकार होता है; और जो बलहीन तथा अपेक्षाकृत बुद्धिहीन होते हैं, वे अपनेको उनकी गुलामीमें लगाकर—उन्हींके स्वार्थ-साधनके उपकरण बनकर उन्हींके दिये हुए टुकड़ोंपर जीवन-निर्वाह करनेको बाध्य होते हैं ! इधर वे शक्तिशाली प्रभुश्रेणीके लोग भी सदा एक-दूसरेके भयसे सशङ्कित रहते हैं, सुखकी सामग्रियोंका ढेर होनेपर भी उनके जीवनमें सुख-शान्ति कभी नसीब नहीं होती। मानव-समाजकी सभ्यता ही संग्रामात्मिका हो उठती है। संग्राममें कुशलता ही सभ्यताका लक्षण होता है। इस सभ्यतामें कोई प्राणी, कोई व्यक्ति, कोई श्रेणी और कोई भी जाति दीर्घकालतक ऐश्वर्य और प्रभुत्वका भोग नहीं कर सकती। ऐश्वर्य और प्रभुत्व दोनों ही लगातार एकसे दूसरेके हाथमें जाते रहते हैं। जब जिनके हाथमें ये ऐश्वर्य और प्रभुत्व होते हैं, तब उनको आत्मरक्षाके लिये ही व्यस्त रहना पड़ता है। जन साधारणके सुख और कल्याणके लिये उनका उतना-सा ही धन या प्रभाव खर्च होता है, जितनेकी उनके अपने स्वार्थसाधनके लिये आवश्यकता होती है—आत्मरक्षाके लिये प्रयोजन होता है। समाज उन्हें त्यागके लिये—सेवाके निमित्त स्वार्थत्याग करनेके लिये किसी प्रकार भी प्रेरणा नहीं कर सकता। 'त्याग और सेवाके अंदर ही उनका यथार्थ स्वार्थ निहित है'—यह बतलानेका समाजके पास कोई साधन नहीं होता, क्योंकि समाजका आदर्श वैसा नहीं होता, उसका तो संगठन ही हुआ है बाह्य सम्पत्तिके आदर्शको लेकर। बाह्य सम्पत्तिको आदर्श माननेवाले समाजमें शान्तिकी कोई सम्भावना नहीं है, साम्यके स्थापनकी कोई योग्यता नहीं है, संघर्षके दूर करनेका कोई उपाय नहीं है और मानवताकी महान् उन्नतिके लिये कोई प्रेरणा नहीं है। यहाँ संग्रामके बाद संग्राम और विप्लवके बाद विप्लव अनिवार्य हैं। मनुष्यके अन्तरात्माका यह आर्त्तनाद इस प्रकारके समाजमें कभी-कभी कवियों, दार्शनिकों और

धार्मिकोंकी वाणीसे प्रकट होता रहता है, परन्तु सामाजिक जीवनमें अन्तरात्माके इस दुःखको मिटानेके लिये कोई उपाय नहीं दिखायी पड़ता। इसी सभ्यताका परिणाम है कि आज सारे भूमण्डलपर सभी एक-दूसरेके भयसे काँप रहे हैं और भोगोंके उपकरणोंकी बहुलता होनेपर भी चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है!

मानवसमाजको यथार्थ मानवताके विकासके योग्य और साम्य, शान्ति तथा सौन्दर्यका भाण्डार बनानेके लिये, एक ऐसे आदर्शको केन्द्र बनाकर समाजकी व्यवस्था और नियन्त्रण करनेकी आवश्यकता है, जो आदर्श मनुष्यकी स्वाभाविक सुख-सम्पत्ति और प्रभुत्वकी आकाङ्क्षाके ऊपर राज्य करनेमें स्वयं समर्थ हो; जिस आदर्शके सामने मनुष्यकी यह सुख-सम्पत्ति और प्रभुताकी स्पृहा अपने-आप ही सिर झुकाकर गौरवका बोध कर सके, जो आदर्श मनुष्यकी अन्तरात्माके आदेशको बाह्य जीवनके आदेशका शक्तिसम्पन्न नियमन करनेवाला बनाकर खड़ा कर सके। जिस समाज-विधानसे मनुष्यकी आधिभौतिक आवश्यकताएँ आध्यात्मिक आदर्शके द्वारा संयमित होती हैं, काम और अर्थ धर्मके द्वारा अनुशासित होते हैं, आत्मिक उन्नतिके तारतम्यके द्वारा सामाजिक मर्यादाका निरूपण होता है, ज्ञान, प्रेम, त्याग और तपस्याका स्थान सुख-सम्भोग, धन-सम्पत्ति और प्रभुत्वके बहुत ऊपर माना जाता है,—वस्तुतः उसी समाजविधानके द्वारा मानव-समाजमें अनन्त प्रकारकी विषमताओंके रहते भी सच्चे साम्यकी स्थापना सम्भव है, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विताके क्षेत्रमें भी सहयोगिता और समप्राणताकी प्रतिष्ठा सम्भव है और अशान्तिके कारणरूप अनेकों प्राकृतिक नियमोंके रहते हुए भी शान्तिकी स्थापना सम्भव है। भारतीय ऋषियोंने वर्णाश्रम-व्यवस्थामें इसी आदर्शकी स्थापना की है और हजारों-हजारों वर्षोंसे इसी व्यवस्थाके द्वारा नियन्त्रित होकर भारतीय जीवन-धारा कल्याण और शान्तिके मार्गपर प्रवाहित होती आ रही है।

वर्णाश्रम-विधानमें मुख्य ध्यान देने योग्य विषय यह है कि इसमें समाजके सर्वोच्च स्थानपर प्रतिष्ठित किया गया है ब्राह्मण और संन्यासीको। ब्राह्मण और संन्यासी सभी वर्णों और आश्रमोंके आदर्श माने जाते हैं। सभी विभागोंके सभी नर-नारी ब्राह्मण और संन्यासीके अनुशासनके अनुसार ही अपने कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करते हैं और उन्हींके आचरणको आदर्श मानकर अपने जीवनको नियन्त्रित करते हैं। ब्राह्मण और संन्यासी 'काम' और 'अर्थ' की साधनामें प्रवृत्त नहीं होते; सुख, ऐश्वर्य और प्रभुत्वकी आकांक्षासे प्रेरित होकर कोई कार्य नहीं करते; कृषि-शिल्प-वाणिज्य आदि बाह्य सम्पदाको बढ़ानेवाले उपायोंका अवलम्बन नहीं करते, देशके शासन, संरक्षण और दण्ड-विधानका काम भी अपने हाथमें नहीं लेते और किसीके अधीन होकर नौकरी भी नहीं करते। ये सारे कार्य उनके स्वधर्मसे प्रतिकूल हैं, उनकी मर्यादामें ठेस पहुँचानेवाले हैं। वे होते हैं तत्त्वकी खोज करनेवाले, ज्ञानतपस्वी, सर्वभूतहितमें रत और विश्वप्रेमी। त्याग, सेवा, ज्ञानवितरण और तपश्चर्या ही होते हैं उनके जीवनके व्रत! दरिद्रताका तो वे स्वयं अपनी इच्छासे वरण करते हैं! वे अपनी सारी शक्तिको लगा देते हैं समाजके उत्थान और अपनी संस्कृतिकी उन्नतिमें तथा मनुष्य-जीवनके सर्वश्रेष्ठ आदर्शकी स्थापनामें। इनमें ब्राह्मण गृहस्थ होकर भी, स्त्री-पुत्र-कन्याओंसे घिरे रहकर भी त्याग, सेवा, तपस्या और निःस्वार्थ ज्ञान-दान आदिका आदर्श स्थापित करते हैं। और संन्यासी यह सिद्ध कर देते हैं कि मानव-जीवनकी चरम शान्ति है—सर्वत्यागी और प्राणिमात्रमें समदर्शी होकर ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मध्यान और ब्रह्मानन्द-रसका पान करनेमें। ब्राह्मण और संन्यासी समाजके सभी स्तरोंके नर-नारियोंको इस महान् आदर्शके द्वारा अनुप्राणित करते हैं, इसीलिये समाजमें उनका आसन सबसे ऊपर और सबसे श्रेष्ठ है। उनके देह-पोषणके लिये, शारीरिक जीवननिर्वाहके लिये और उनके तपस्यामय जीवन-व्रतकी अनुकूलताका सम्पादन करनेके लिये जो कुछ भी आवश्यक है, उसका सारा भार समाजने अपने ऊपर ले लिया है। राष्ट्रिय शक्ति और आर्थिक शक्तिके सञ्चालकगण श्रद्धा और सम्मानके साथ उनकी सुविधा और स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिये सदा प्रयत्नशील रहते हैं और उनके उपदेश तथा उनके जीवनके आदर्शके अनुसार अपनी शक्ति और सम्पत्तिका बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, सर्वभूतहिताय और भगवत्प्रीत्यर्थ प्रयोग करके अपने आन्तरिक जीवनकी कृतार्थता-का अनुभव करते हैं। वर्णाश्रम-व्यवस्थाका यही मुख्य स्वरूप है।

बाह्य सम्पत्तिसे उदासीन स्वार्थबुद्धिसे रहित विश्वप्रेमी उन ब्राह्मण और संन्यासियोंके ऊपर ही समाज और राष्ट्रके व्यवस्थापूर्वक सञ्चालनके लिये विधि-निषेधकी रचना करनेका—कायदे-कानून बनानेका भार रहता है। अपना व्यक्तिगत और श्रेणीगत कोई स्वार्थ न रहनेके कारण वे ही सब श्रेणियोंके

प्रतिनिधि होनेकी योग्यता रखते हैं। वे मानवजीवनके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिकी ओर अविचलित दृष्टि रखते हुए सभी श्रेणियोंके नर-नारियोंके लिये कर्तव्याकर्तव्यका निर्देश करते हैं। राष्ट्रिय शक्तिका व्यवहार किस प्रकार करना चाहिये, किस प्रकार धनको पैदा करना और बाँटना चाहिये, सभी श्रेणीके लोगों-द्वारा अपने-अपने अधिकारानुसार किस प्रकारका कार्य करनेसे सारे समाजकी भलाई हो सकती है, अपनी-अपनी सम्पत्ति और शक्तिका किस प्रकार व्यवहार करके मनुष्य परमकल्याण भगवत्प्राप्तिकी ओर अग्रसर हो सकता है,—ब्राह्मण और संन्यासी अपने पक्षपातरहित सुनिपुण विचारद्वारा इन सब बातोंका निर्णय करनेमें समर्थ हैं।

ब्राह्मण और संन्यासीको राष्ट्र और समाजके केन्द्रस्थलमें आदर्शरूपमें और सर्वोच्च मर्यादामें प्रतिष्ठित करके समाजका संगठन, राष्ट्रका संगठन और कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिका नियन्त्रण करना, यही भारतीय जातिकी विशेषता है और इसीमें भारतकी प्राणशक्ति निहित है। इसी प्राणशक्तिने जाति और समाजके सारे अवयवोंमें सुन्दर सामञ्जस्यकी स्थापना करके सब प्रकारके द्वन्द्व और सङ्घर्षोंको मिटाकर हजारों वर्षोंसे इसकी जीवन-धाराको अक्षुण्ण बना रक्खा है। इसीसे हिंदूजाति जीवित है।

एक बात और विशेष ध्यान देनेकी है, वह है जातिमें राष्ट्रशक्ति और अर्थशक्तिका—प्रभुत्व और सम्पत्तिका सम्बन्धनिरूपण। हमारी इस वर्णाश्रमव्यवस्थामें जो राष्ट्रशक्तिके सञ्चालक होते हैं, देशकी शान्तिरक्षा और शक्तिवृद्धिका भार जिनके कन्धोंपर रहता है, जो अन्तर्विप्लव और बाहरी शत्रुओंके आक्रमणसे जाति और समाजकी रक्षा करनेके लिये जिम्मेवार हैं और जो तत्त्वदर्शी दारिद्र्यव्रती सर्वजीवप्रेमी ब्राह्मण और संन्यासियोंके अनुशासनके अनुसार जाति और समाजमें न्यायकी रक्षा करते हुए जातिकी बाह्य सम्पत्ति और अध्यात्मसम्पत्तिका न्यायसङ्गत अधिकार सब श्रेणियोंके नर-नारियोंको देते हैं, वे क्षत्रिय स्वयं अर्थका सेवन नहीं करते, कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिको अपने हाथमें नहीं रखते, जातिकी बाह्य सम्पत्तिके उत्पादनमें और उसके बँटवारेमें उनका व्यक्तिगत अथवा श्रेणीगत कोई स्वार्थ नहीं होता। जातिकी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक शक्तिके उत्पन्न करने और बाँटनेका भार जैसे प्रधानतया यज्ञव्रती, त्यागशील, अध्यात्म-कल्याणनिष्ठ ब्राह्मण और संन्यासियोंके हाथमें रहता है, उसी प्रकार जातिकी बाह्य सम्पत्तिके उत्पन्न करने और बाँटनेका भार वैश्योंके हाथमें रहता है। क्षत्रियोंके कन्धोंपर तो देशकी शान्तिरक्षा और शक्तिवृद्धिका भार है। वे जैसे ब्राह्मण और संन्यासियोंसे ज्ञान-विज्ञान और नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शका आहरण करके समाजके सब स्तरोंमें उसका विस्तार करनेकी चेष्टा करते हैं, वैसे ही वैश्योंसे धनका आहरण करके उसके द्वारा समाजके सभी स्तरोंके लोगोंका अभाव दूर करते हैं। उनका खजाना जनसाधारण—विशेषतः ब्राह्मण, संन्यासी, दरिद्र, अन्धे, लूले-लँगड़े, रोगी, अपाहिज, बूढ़े-बच्चे और अनाथा विधवा आदिकी सेवाके लिये सदा-सर्वदा खुला रहता है। कहीं दुर्भिक्ष पड़ता है, अकाल पड़ता है तो उसकी जिम्मेवारी उनपर है। कहीं महामारी फैलती है तो वे उसके जिम्मेवार हैं। शत्रुका आक्रमण होनेपर उनपर दायित्व है। अन्तर्विप्लवके लिये वे दायी हैं और एक श्रेणीके द्वारा दूसरी श्रेणीपर अत्याचार होनेपर—बुद्धिमान् और शक्तिशाली व्यक्तियों अथवा श्रेणियोंके द्वारा अपेक्षाकृत बुद्धिहीन और कमजोर मनुष्यों अथवा श्रेणियोंका (उनकी शक्तिहीनताका लाभ उठाकर) शोषण किये जानेपर क्षत्रिय राजा ही जिम्मेवार हैं। देशका अर्थ ही उनका अर्थ है और देशकी शक्ति ही उनकी शक्ति है। वे देशके, जातिके और समाजके सेवक हैं। इसीलिये ब्राह्मणोंके बाद ही उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे देशमें प्रभुशक्तिका सञ्चालन करते हैं—ब्राह्मण और संन्यासियोंके चरणोंमें सिर झुकाकर! और अर्थशक्तिका सञ्चालन करते हैं—वैश्योंके पाससे जातिके लिये अर्थका संग्रह करके। अतएव प्रभुत्व और अर्थ दोनोंमें ही उनका यथा-सम्भव निर्लिप्त रहना आवश्यक होता है, नहीं तो वे स्वधर्मसे भ्रष्ट हो जाते हैं। प्रभुत्व और अर्थका नियन्त्रण करनेवाले होनेपर भी वे हैं देशके दास और त्यागव्रती।

जैसे राष्ट्रशक्तिका सञ्चालन करनेवाले क्षत्रियोंके लिये अर्थलाभजनक कृषि-शिल्प-वाणिज्यादि स्वधर्मका नाश करनेवाले और मर्यादाको घटानेवाले हैं, वैसे ही कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिके द्वारा देशकी अर्थ-सम्पत्तिको बढ़ानेमें लगे हुए वैश्योंके लिये राष्ट्रशक्तिके सञ्चालनका लोभ करना और समाजके ऊपर प्रभुत्वका दावा करना स्वधर्मसे भ्रष्ट होना है। प्रभुत्व और अर्थ दोनोंमें ही मोह है। समाजकी अर्थ-शक्ति और राष्ट्र-शक्तिके एक ही हाथमें रहनेपर अर्थोपासकोंकी प्रतिद्वन्द्विता राष्ट्रके क्षेत्रमें भी न्याय और धर्मकी सीमा लाँघनेके लिये तैयार हो जाती है। धनके पैदा करने और बाँटनेमें स्वार्थका मोह प्रबल न हो उठे, न्याय और धर्मका आदर्श बड़ी सजगताके

साथ धनके नियामकके पदपर प्रतिष्ठित रह सके, इसीलिये न्याय और धर्मनिष्ठ राष्ट्रशक्ति अर्थकी उपासनामें, धन कमानेमें न लगाकर अर्थके ऊपर प्रभुत्व करती है, और न्याय-धर्मके मूर्तिमान् आदर्श ब्राह्मण और संन्यासी राष्ट्रशक्ति और अर्थ-शक्ति (क्षत्रिय और वैश्य) दोनोंके ऊपर प्रभुत्व करते हैं, यही सनातनधर्मकी व्यवस्था है। राष्ट्रशक्ति जब अर्थशक्तिके हाथमें चली जाती है, किसान, कारीगर और वणिक्-समाज जब परस्पर प्रतिद्वन्द्विता करके अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिये राष्ट्रशक्तिपर अधिकार जमानेको लालायित हो उठते हैं, तभी समाजमें नाना प्रकारकी अशान्तिके कारण उत्पन्न हो जाते हैं और समाज संग्राम-क्षेत्रके रूपमें परिणत हो जाता है। अर्थको नियन्त्रित करनेका अधिकार यदि धर्मको हो और धर्म ही यदि राष्ट्रशक्तिका सञ्चालन करनेवाला होकर अर्थके उत्पादन और विभाजनको नियन्त्रित कर सके तो समाजमें विषमताके अंदर भी समताकी स्थापना हो सकती है, प्रतियोगिताके क्षेत्रमें भी सहयोगिताकी प्रतिष्ठा हो सकती है। अतएव समाजमें अर्थशक्तिका नियमन करनेके लिये राष्ट्रशक्तिकी और राष्ट्रशक्तिका नियमन करनेके लिये धर्मशक्तिकी स्थापना आवश्यक है। यही वर्णविभागका रहस्य है।

इसके बाद रही जन-साधारणकी बात। जिनमें ज्ञानशक्ति और कर्मशक्तिका भलीभाँति विकास नहीं हुआ है, जो स्वतन्त्ररूपसे तत्त्वका विचार करनेमें, सारे समाजका कल्याण सोचकर कर्तव्यका निर्णय करनेमें, मनुष्य-जीवनके परम आदर्शको लक्ष्य करके साधनाके क्षेत्रमें अग्रसर होनेमें, स्वतन्त्रताके साथ राष्ट्रशक्ति और अर्थशक्तिका अपने और समाजके कल्याणमें प्रयोग करनेमें यथोचित शक्ति नहीं प्राप्त कर सके हैं, परन्तु जिनकी संख्या समाजमें अधिक है और जिनकी कर्मशक्तिका सुनियन्त्रित और सुव्यवस्थितरूपसे व्यवहार हुए बिना देशमें कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिकी उन्नति सम्भव नहीं है, राष्ट्रका निर्विघ्न सञ्चालन सम्भव नहीं है और धर्म-कर्मादिका अनुष्ठान भी सम्भव नहीं है, समाजमें उन्हींकी संज्ञा शूद्र है। संख्याकी दृष्टिसे वे समाजके प्रधान अङ्ग हैं। परन्तु स्वतन्त्ररूपसे अपने-आप ही अपना सञ्चालन करके मनुष्य-जीवनकी सर्वश्रेष्ठ उन्नतिके मार्गपर अग्रसर होनेमें असमर्थ हैं। उनको समाजकी सेवामें लगाकर, उनकी शक्तिके अनुसार उनके लिये कर्तव्यका विधान कर, आवश्यकतानुसार उनके लिये भोग-सुखकी सुव्यवस्था कर उनके जीवनको उन्नत बनाना उच्च श्रेणीके मनुष्योंका दायित्वपूर्ण कर्तव्य है।

ब्राह्मणोंके यज्ञ-यागादि कर्मोंके अनुष्ठानमें, क्षत्रियोंके राष्ट्र-नियन्त्रण और युद्ध-सञ्चालनादि कार्योंमें तथा वैश्योंके कृषि-शिल्प-वाणिज्यादि व्यापारोंमें, सर्वत्र ही शूद्रोंकी सहायता आवश्यक है। और समाजकी धर्मशक्ति, राष्ट्रशक्ति और अर्थशक्तिके अनुगत होकर समाजकी सेवा करनेमें ही शूद्रोंके जीवनकी सार्थकता है। उन्नततर स्वाधीन-कर्मरत श्रेणियोंके अनुगत होकर, इच्छापूर्वक प्रेमके साथ उनके नेतृत्वको सिर चढ़ाकर, सेवात्मक कर्मके द्वारा अपने जीवनको उन्नत बनाना और सारे समाजका कल्याण करना शूद्रका धर्म है। समाजके सब प्रकारके कल्याणजनक पुण्यकार्योंमें शारीरिक शक्तिका कार्य उन्हींके जिम्मे है। वे ब्राह्मणोंकी अधीनतामें सेवक हैं, क्षत्रियोंकी अधीनतामें सैनिक हैं और वैश्योंकी अधीनतामें किसान तथा कारीगर हैं। आधुनिक समाजमें इन्हींका नाम मजदूर है।

इस प्रकार आर्य ऋषियोंने सारी मानव-जातिको चार भागोंमें बाँटकर उनके कर्म-समन्वयद्वारा समाजका सङ्गठन किया है। इसमें मनुष्यके साथ मनुष्यका जो गुण और शक्तिका स्वाभाविक भेद है, उसे स्वीकार किया गया है और साथ ही सारे मनुष्योंके समस्त गुणों और शक्तियोंको एक ही आदर्शकी ओर लगाकर सबको समाजके लिये अत्यावश्यक विभिन्न कर्मोंमें नियुक्त कर दिया है। समाजके लिये कल्याणकारक चतुर्विध कर्मोंके लिये विशेषरूपसे योग्य चतुर्विध गुण-शक्तिविशिष्ट चार प्रधान श्रेणियोंके अतिरिक्त मानव-जातिमें अन्य किसी वर्णका अस्तित्व आर्य ऋषियोंको स्वीकार नहीं है—'पञ्चमो नोपपद्यते'। समग्र समाज एक मूर्तिमान् विराट् पुरुष है। ब्राह्मण उसका वाणीसहित मस्तिष्क है। क्षत्रिय उसका बाहुसमन्वित वक्षःस्थल है। वैश्य उसका नाभिमण्डलयुक्त उदर है और शूद्र उसके चरण या गति-शक्तिस्थानीय हैं। चतुर्वर्णके द्वारा ही सारे अवयवोंसे सम्पन्न विराट् समाज-पुरुषका शरीर बना है। प्रत्येक अवयवमें ही अङ्ग-उपाङ्गोंका भेद स्वाभाविक है। एक ही प्रकारके कर्ममें भी कर्मका वैचित्र्य है और एक-एक प्रकारके कर्ममें वंश-परम्परा-क्रमसे लगे रहनेके कारण एक-एक उपवर्ण या उपजातिका निर्माण हुआ है। इस प्रकार समाजके अंदर कर्मोंकी विचित्रताके कारण विभिन्न विचित्र कर्मोंमें खास-खास योग्यताके अनुसार अनेकों उपजातियोंकी सृष्टि प्राकृतिक नियमसे ही हुई है। कर्म और गुण (अर्थात् कर्मयोग्यता) के अनुसार श्रेणी-वैचित्र्य अस्वाभाविक नहीं है; परन्तु उनमें प्रतिद्वन्द्विता,

सङ्घर्ष, हिंसा, द्वेष और कलह आदि अशान्ति उत्पन्न करनेवाले और परस्पर एक दूसरेका विनाश करनेवाले बुरे भावोंके बदले किस तरहसे सहयोगिता, समन्वय, प्रेम, मैत्री और शान्तिकी स्थापना हो, यही समस्या है। हमारे समाजका सङ्गठन करनेवाले विद्वान् ऋषियोंने इस समस्याका जैसा समाधान किया है, उसकी अपेक्षा किसी उत्तम समाधानकी कल्पना आजतक कहीं नहीं हुई।

इस समस्याके समाधानका आर्य ऋषियोंके मतसे सर्वोत्तम उपाय है कर्मको धर्म-साधनके रूपमें परिणत करके समाजके सभी स्तरोंमें उसका प्रचार करना। कर्मको यदि केवल लौकिक भोग-सुखोंका साधन ही माना जाय, तो कर्मकी अपनी कोई मर्यादा नहीं रह जाती और जिस प्रकारका कर्म जितना ही अधिक, भोग-सुख और धन-सम्पत्तिकी प्राप्तिमें सहायक होता है, उसी प्रकारके कर्मके लिये सबके मनमें लालसा होना और उसके लिये छीना-झपटी और मार-पीट होना अनिवार्य हो जाता है। ऐसे कर्मके फलस्वरूप किसीको भी सच्ची शान्ति और आतङ्कहीन आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। भोगकी अपेक्षा समाजमें कर्मका स्थान ऊँचा रहना आवश्यक है। परन्तु कर्मका कोई उद्देश्य तो होता ही है, मनुष्य कर्म क्यों करे? कर्मका यथार्थ कल्याणप्रद उद्देश्य है अपने जीवनको उन्नत करना, अपने अंदर मनुष्यत्वका परिपूर्ण विकास करना, अपने अन्तरात्माको काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, घृणा, भय आदिके बन्धनोंसे मुक्त करके एकान्त असीम आनन्द और शोक-तापादिसे रहित मृत्युभय-विजयी नित्य परिपूर्ण जीवनके योग्य बना देना। वैदिक ऋषियोंने इस प्रकारके दिव्य जीवनको ही 'स्वर्ग' कहा है। 'स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते'। 'कामस्याप्तिर्जगतः प्रतिष्ठा क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम्।' मृत्युके सारे पापोंसे छूटकर सब प्रकारके शोक, ताप, अभाव, आकांक्षा, द्वन्द्व और अशान्तिकी सम्भावनाका अतिक्रम कर, सर्वसम्पत्तिसम्पन्न अनन्त यौवनमें प्रतिष्ठित होकर, सारे विश्वके प्राणोंके साथ अपने प्राणोंको प्रेमपूर्वक मिलाकर पूर्णानन्दको प्राप्त करना ही मानवीय साधनाका लक्ष्य है।

यह संसार कर्मक्षेत्र है और यह मनुष्यशरीर कर्मशरीर है। इस संसारमें जो मनुष्य जिस प्रकारके शक्ति-सामर्थ्यको लेकर जैसे वायुमण्डलमें जन्म ग्रहण करता है, वह वैसे ही शक्ति-सामर्थ्य और वायुमण्डलके उपयोगी विहित कर्मका सम्पादन करके जीवनमें पूर्णताको प्राप्त कर सकता है—स्वर्गीय जीवनको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय अपनी शक्ति और अवस्थाके अनुसार विधिपूर्वक अपने-अपने कर्म करके जिस आध्यात्मिक कल्याणको प्राप्त करते हैं, वैश्य और शूद्र भी अपने-अपने कर्तव्य-कर्मका सम्पादन करके उसी आध्यात्मिक कल्याणको प्राप्त कर सकते हैं। एकको दूसरेके कर्मकी ओर ललचायी दृष्टिसे देखनेका कोई भी सङ्गत कारण नहीं है, उद्देश्य ठीक रहे तो अपने-अपने कर्मके द्वारा ही प्रत्येक मनुष्य उस एक ही उद्देश्यतक सुखपूर्वक पहुँच सकता है। हाँ, पूर्वजन्मार्जित कर्मवश संसारमें लौकिक सुख-सम्पत्तिका न्यूनाधिक होना अवश्यम्भावी है; परन्तु उसका मूल्य ही क्या है? अनन्त आध्यात्मिक सम्पत्तिकी तुलनामें लौकिक सम्पत्ति सर्वथा तुच्छ और क्षणस्थायी है। आध्यात्मिक सम्पत्तिपर सभीका समान अधिकार है और उसका प्राप्त होना अपनी-अपनी शक्ति और अवस्थाके अनुसार, सन्तोषपूर्वक अपने-अपने कर्मोंके यथाविधि सम्पादनपर ही निर्भर है। इस आदर्शके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक श्रेणी, प्रत्येक सङ्घ या सम्प्रदाय दूसरेके कर्म, दूसरेके भोग और दूसरेकी मान-प्रतिष्ठाका लोभ न करके, दूसरेके साथ अस्वास्थ्यकारी प्रतिद्वन्द्विताके झगड़ेमें न पड़कर, गौरव और श्रद्धाके साथ उत्साहपूर्वक अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्यके पालनमें ही लगा रहकर अपनी चरम उन्नति कर सकता है। कर्म और भोगके सम्बन्धमें उसका मन्त्र होता है—

'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'

इस दिव्य जीवनको सर्वश्रेष्ठ आदर्श मानकर ही आर्य ऋषियोंने सभी श्रेणियोंके नर-नारियोंके लिये सब प्रकारके पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्त्तव्योंका निर्धारण किया है। मर्त्य-जीवनमें स्वर्गीय जीवन-धाराको प्रवाहित करनेके लिये शारीरिक स्वास्थ्य और स्वच्छन्दताकी, पारिवारिक और सामाजिक रीति-नीति और सत्कर्मोंकी, राष्ट्रिय दण्ड-विधि और युद्ध-विग्रह-सन्धि आदिकी, कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिके द्वारा देशमें धन-सम्पत्तिके बढ़ानेकी और साहित्य-दर्शन विज्ञानादिके समुचित अनुशीलनकी आवश्यकता है। कुल-नीति, अर्थ-नीति, समाज-नीति, राष्ट्र-नीति और सबकी आधाररूपा धर्म-नीति सभीका आदर्श दिव्य-जीवनकी प्रतिष्ठा है।

आर्य विद्वानोंने यह भी आविष्कार किया था कि समस्त

जाति और समाजके कल्याणके लिये अपनी-अपनी शक्ति और सम्पत्तिका उत्सर्ग कर देना ही प्रत्येक व्यक्तिके लिये, अपने जीवनकी उन्नतिका, दिव्य-जीवनकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है। प्रत्येक व्यक्तिका अन्तरात्मा और सारे समाजका अन्तरात्मा वस्तुतः एक है, अभिन्न है। अतएव सारे समाजकी सेवा, सारे समाजके कल्याणके लिये बाहरी क्लेश और त्यागको स्वीकार करना, वस्तुतः अपने ही अन्तरात्माकी सेवा, अपने ही आध्यात्मिक जीवनकी पूर्णताके लिये तपस्या करना है। सारे समाजके ऐहिक स्वार्थके साथ अपने आध्यात्मिक स्वार्थका कोई भेद नहीं है। अतएव त्यागके द्वारा ही यथार्थ सम्भोगका अधिकार प्राप्त होता है,—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।' यही यज्ञ-नीतिका तात्पर्य है। मनुष्यके जीवनमें यज्ञ ही मनुष्योचित कर्म है। यज्ञ ही व्यक्तिके और समाजके स्वार्थकी मिलन-भूमि है। तुम्हारे पास जो कुछ भी है, उसे सारे समाजके कल्याणके लिये दे दो; तभी सारे समाजके साथ अपनी एकताकी उपलब्धि कर सकोगे और विश्व-प्रकृति अपने अटूट भाण्डारमें-से तुम्हारी चाहके अनुरूप सारे सुन्दर फलोंको देकर तुम्हें कृतार्थ कर देगी।

मानवसमाजकी जब इस यज्ञनीतिके ऊपर स्थापना होती है, तभी सर्वत्र सुख-शान्तिका विस्तार होता है; समाजके विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें प्रतिद्वन्द्विता, ईर्ष्या, द्वेष, सङ्घर्ष और संग्रामका क्षेत्र सङ्कुचित होता है; एक ही समाज-शरीरके विचित्र अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके रूपमें एकके साथ दूसरेका प्रेम और मैत्रीका सम्बन्ध स्थापित होता है; प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक श्रेणी सारे समाज-शरीरके अङ्गरूपमें अपनेको उससे अभिन्न मानकर समाजके कल्याणमें ही अपने कल्याणकी उपलब्धि करता है; शक्ति, ज्ञान, रुचि और अवस्थामें विषमता रहनेपर भी सभीके अंदर प्राणगत एकताकी अनुभूति होती है। फिर सभी देनेके लिये ही व्याकुल हो उठते हैं, पानेके लिये कोई अधीर नहीं होता। प्राप्तिके लिये, भोगके लिये, अपनी क्षुद्र ऐहिक स्वार्थसिद्धिके लिये ही प्राणियोंमें परस्पर छीना-झपटी और मार-पीटकी जो स्वाभाविक प्रवृत्ति देखी जाती है, समाजमें यज्ञके आदर्शका बड़े परिमाणमें प्रचार होनेपर वह प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। यज्ञनीतिके अनुसार कर्म और भोगका सम्बन्ध ही ऐसा बन जाता है कि कर्म होता है—समष्टिके कल्याणके लिये व्यष्टिका दान; और भोग होता है व्यष्टिके कल्याणके लिये समष्टिका दान। मनुष्य कर्म करता है स्वतन्त्र कल्याण-बुद्धिकी प्रेरणासे, आध्यात्मिक आदर्शकी प्रेरणासे, सारे समाजके कल्याणके लिये। और अपने ऐहिक भोगके लिये निर्भर करता है सारे समाजके कल्याणके ऊपर, विश्वान्तर्यामी कल्याण-विधाता-के मङ्गल विधानके ऊपर।

आर्यजातिमें समाजके विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके कर्तव्या-कर्तव्यका अधिकांशमें जन्म और वंशानुक्रमकी दृष्टिसे निर्देश करके दूसरेके कर्मकी लालसा, दूसरेके धनकी तृष्णा और उससे होनेवाली प्रतिद्वन्द्विता और सङ्घर्षके क्षेत्रको विशेषरूपसे सङ्कुचित कर दिया है। सभीको अपनी-अपनी सहजात वृत्तिसे प्राप्त कर्मोंको और भोग सम्पत्तिको सन्तुष्ट मनसे स्वीकार करके, अपने जीवन-विकासकी साधनाके रूपमें, उत्साह-पूर्वक उन्हींपर निर्भर करके यज्ञनीतिके अनुसार बाह्यतः समाजसेवामें और तत्त्वतः आत्मसेवामें अपनेको लगा देना पड़ता है। इससे समाजमें भी शान्ति बनी रहती है और मनुष्य-जीवनकी सम्यक् सार्थकताके मार्गपर भी सबको अग्रसर होनेका सुअवसर प्राप्त होता है।

जीवनके इस आदर्शके अनुसार सार्थकताकी ओर चलनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको पहले शक्ति और ज्ञानकी साधना करनी पड़ती है। प्रथम जीवनमें सुयोग्य शिक्षककी देख-रेखमें नियन्त्रण और संयमके उच्च आदर्शसे युक्त जीवन बिताकर देह, इन्द्रिय और मन-बुद्धिकी शक्तिको बढ़ाना पड़ता है और भावी जीवनके दायित्वपूर्ण कर्मसम्पादनके उपयोगी ज्ञान-विज्ञानको प्राप्त करना पड़ता है। जीवन-प्रभातकी इस साधनाका नाम है 'ब्रह्मचर्य'।

ब्रह्मचर्य-साधनाके द्वारा स्वस्थ देह-मन, सुनियन्त्रित कर्तव्य-सम्पादनका कौशल, मनुष्यके आदर्शकी एक सुस्पष्ट धारणा और अपने सहजात शक्ति, सामर्थ्य और वृत्तिके अनुसार कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयका उपयुक्त ज्ञान प्राप्त करनेपर कर्म-जीवनमें प्रवेश करनेकी विधि है। यह कर्म-जीवन ही 'गार्हस्थ्य-जीवन' है। इसीमें परिवार, समाज, जाति और राष्ट्रके साथ साक्षात् सम्बन्धकी स्थापना होती है। इस गार्हस्थ्य-जीवनमें आध्यात्मिक आदर्शको हृदयमें रखते हुए ही यज्ञमय जीवन बिताना पड़ता है। अवश्य ही यज्ञका बाहरी रूप अपनी-अपनी शक्ति, सम्पत्ति, वृत्ति और अवस्थाके ऊपर निर्भर करता है। परन्तु ऐसी बात नहीं कि राजाके यज्ञकी अपेक्षा मजदूरके यज्ञका बाहरी रूप छोटा होनेके कारण उसके आध्यात्मिक मूल्यमें कहीं कुछ कमी आती हो। सबको अपने-अपने अधिकारके अनुसार ही यज्ञ करना पड़ेगा, परन्तु जिसके हृदयमें यज्ञका आदर्श जितने उज्ज्वलरूपमें

प्रकाशित होगा, जो जितने आध्यात्मिक भावके द्वारा अनुप्राणित होकर यज्ञ करेगा, उसका यज्ञ उतना ही सार्थक होगा।

कर्म-जीवनके अन्तमें कर्मत्यागके लिये, सर्वत्यागके लिये प्रस्तुत होना आवश्यक है। ब्रह्मचर्यके द्वारा जैसे गार्हस्थ्यके लिये योग्यता प्राप्त करना आवश्यक है, वानप्रस्थके द्वारा वैसे ही संन्यासके लिये योग्यता प्राप्त करना आवश्यक है। संन्यास-आश्रममें व्यक्तिगत जीवनके साथ विश्वजीवनका पूर्ण मिलन करा देना पड़ेगा। उस समय मनुष्यको परिवारकी, खण्ड समाज और जातिकी तथा सब प्रकारके ऐहिक प्रयोजनोंकी सीमाको लाँघकर, विश्वप्राणके साथ व्यष्टि प्राणका, विश्वात्माके साथ जीवात्मा और समाजात्माके सम्यक् ऐक्यका अपरोक्षरूपसे अनुभव करके साधनामें लग जाना पड़ेगा। इस साधनामें सिद्धि प्राप्त होना ही मनुष्य-जीवनकी सम्यक् सार्थकता है, यही 'परमसाम्य', 'पराशान्ति', 'पूर्णज्ञान' और 'परिपूर्णानन्द' है, यही 'अभयममृतं क्षेमम्' है। इसी अवस्थामें मनुष्यका अपने साथ और विश्वजनात्माके साथ सम्यक् परिचय और योगस्थापन होता है। यही वर्णाश्रम-साधनाका चरम लक्ष्य है।

गृहस्थके लिये पञ्चमहायज्ञ

(लेखक—प्रोफेसर श्रीसत्येन्द्रनाथ सेन एम्० ए०, धर्मरत्न)

संसारमें सबसे अधिक मननशील लोग प्राचीन कालके हिंदू ही थे। जीवनके सभी क्षेत्रोंका पूर्ण विचार करके प्रत्येकके सम्बन्धमें उन्होंने सच्चे सिद्धान्त स्थिर किये हैं। सुख और शान्ति इस लोकमें तथा परलोकमें भी—यही उनका बराबर लक्ष्य रहा है। उत्तम उपयोगी नागरिक बननेके लिये उन्होंने अपना जीवन ऐसा ढाला कि जिससे उनका ही नहीं, उनके पड़ोसियोंका भी और सारे संसारका कल्याण हो। भिन्न-भिन्न समाजोंके लिये जीविकाके भिन्न-भिन्न कर्म सौंप दिये गये और इस तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज सबकी जीविकाका सदाके लिये उत्तम प्रबन्ध हो गया। उनकी दिनचर्या ऐसी थी कि उनके द्वारा प्रातःकालसे सायंकालतक विविध प्रकारके ऐसे ही पवित्र कर्म हुआ करते थे जिनसे अपने-पराये सबको बड़ा सुख मिलता था। किसीके प्रति किञ्चित् भी अन्याय वे न होने देते थे। सबका जो सामान्यधर्म अहिंसा है, उसका वे बड़ी तत्परताके साथ पालन करते थे।

> अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
> दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥
> (याज्ञवल्क्य० १। १२२)

परन्तु जीवनमें पूर्ण अहिंसा असम्भव है। रसोई बनानेके लिये जब हम चूल्हेमें आग जलाते हैं तो उससे न जाने कितने असंख्य कृमि-कीटादि जीवोंकी हत्या होती है। इसी प्रकार जब हम चक्की या सील-लोढ़ासे काम लेते, झाड़ूसे बुहारते, ढेकी या ऊखलसे धान कूटते या घड़ोंमें पानी भरकर रखते हैं, तो कितने जीवोंका संहार होता है!

> पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
> कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥
> (मनु० ३। ६८)

'सूना' कहते हैं कसाईखानेको। चूल्हा, लोढ़ा, झाड़ू, ढेकी या ऊखल और घड़ा ये—सचमुच ही गृहस्थके घरके पाँच कसाईखाने हैं!

अनिवार्यरूपसे होनेवाली इस हिंसाका भी पूरा विचार हमारे पूर्वपुरुषोंने किया और इन पापोंके प्रायश्चित्त भी स्थिर किये।

> तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
> पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥
> अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
> होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥
> (मनु० ३। ६९-७०)

अन्य स्मृतिग्रन्थोंमें भी ऐसे ही श्लोक मिलते हैं। अस्तु।

ब्रह्मयज्ञ, जिसे स्वाध्याय भी कहते हैं, वेदोंका अध्ययन अध्यापन है। ब्रह्म शब्दका अर्थ है वेद। पितृयज्ञ नित्यका श्राद्ध और तर्पण है। दैवयज्ञ हवन है। भूतयज्ञ जीवोंको अन्नदान है। नृयज्ञ अतिथियोंका अर्घ्य-आसन-भोजनादिसे सत्कार है। प्रत्येक गृहस्थके लिये ये नित्य कर्त्तव्य हैं। भगवान् मनु कहते हैं कि जो इन यज्ञोंको नहीं करता वह जीता हुआ भी मरेके समान है—

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥

(मनु० ३ । ७२)

वानप्रस्थियों और शूद्र गृहस्थोंके लिये भी पञ्चमहायज्ञोंके करनेका अपना-अपना विशिष्ट प्रकार है। (मनु० ६ । ५ और याज्ञवल्क्य० १ । १२१)

इन महायज्ञोंमेंसे प्रत्येकका विवरण एक-एक करके नीचे दिया जाता है—

(१) **निष्कारणो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।**

(श्रुतिः)

'वेदको निर्हेतुक पढ़ना और जानना चाहिये ।'

सांसारिक दृष्टिसे वेदाध्ययन लाभप्रद नहीं है, क्योंकि इससे रुपया नहीं मिलता न इसमें हमारे लिये कोई आकर्षण ही है। तथापि इसका नित्य अध्ययन करना चाहिये, क्योंकि इससे मन और शरीरकी शुद्धि होती है और उससे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है जो सब जीवोंका परम लक्ष्य है। सब वेदोंका अध्ययन करना जहाँ बन नहीं सकता, वहाँ कम-से-कम एक ऋक्, एक यजुः और एक सामका पाठ अवश्य होना चाहिये—

एकामृचमेकं वा यजुरेकं वा सामाभिव्याहरेत् ।

(गौतम तथा आपस्तम्ब)

इस समयकी प्रचलित रूढ़ि यह है कि नित्य प्रातः-सन्ध्याके बाद तीनों वेदोंका एक-एक पहला मन्त्र उच्चारित किया जाता है। गायत्रीका विशेष जप कर लेनेसे भी वेदाध्ययनका काम हो जाता है। भगवान् मनु कहते हैं—

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥

(२ । १०४)

अर्थात् नित्यके अवश्य अध्येय वेदाध्ययनके लिये कम-से-कम इतना तो करना ही चाहिये कि अरण्यमें जाकर जलाशयके समीप बैठकर समाहित होकर सावित्रीका जप करे।

एक ही व्यक्तिके स्वाध्यायसे जगत्का दीर्घकालतक कोई लाभ नहीं हो सकता। इसलिये इसकी परम्पराको चलाते रहना चाहिये। ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे नये-नये वैदिक विद्वान् उत्पन्न हों। इसके लिये अधिकारी शिष्योंको वेद पढ़ाना चाहिये।

यो हि विद्यामधीत्य अर्थिने न ब्रूयात् स कार्यहा स्यात् श्रेयसो द्वारमपावृणुयात् । (श्रुतिः)

'जो वेदोंका अध्ययन करके शिष्यको उसका अध्यापन नहीं कराता वह कार्यकी हानि करता है, श्रेयस्का द्वार ही बन्द कर देता है।'

यही बात मनु भगवान् कहते हैं—

यमेव तु शुचिं विद्या नियतं ब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥

(२।११५)

'परन्तु जिसे तुम जानते हो कि यह पवित्र जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी है उस मुझ निधिके रक्षक अप्रमादी विप्रको विद्या पढ़ाओ।'

(२) पितृयज्ञ नित्य पितरोंको तिलोदक देकर तर्पण करना और एक ब्राह्मणको उनके निमित्त भोजन करा कर उनका श्राद्ध करना है। (मनु० ३ । ८३)

बहुत लोग यही समझते हैं कि पितृतर्पण केवल पितृपक्षमें ही किया जाता है। परन्तु यथार्थमें पितरोंका तर्पण तो नित्यके पञ्चमहायज्ञोंमेंसे एक महायज्ञ है। पितृपक्षकी बात यह है कि इस पक्षमें प्रतिदिन पार्वण श्राद्ध करनेका विधान है जिसके अभावमें तर्पण ही अधिक श्रद्धा और बड़ी विधिके साथ कर लिया जाता है।

(३) देवयज्ञ सूर्य, अग्नि, सोम आदि देवताओंके प्रीत्यर्थ नित्यका होम है। होमाग्निमें घृतकी जो आहुति दी जाती है, उसे आधुनिक लोग केवल अपव्यय ही समझते होंगे; परन्तु दूरदर्शी ऋषि इसके महत्त्वको जानते थे और हम लोगोंको इतना तो जानना ही चाहिये कि इससे वातावरण शुद्ध हो जाता है, जिससे आरोग्य प्राप्त होता और धान्यकी वृद्धि होती है। ये ही तो दो चीजें हैं जो सब जीवोंके जीवनके लिये आवश्यक हैं। भगवान् मनु कहते हैं—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

(३ । ७६)

'अग्निमें जो आहुति दी जाती है वह आदित्यमें पहुँचती है और आदित्यसे वर्षा होती है, वर्षासे अन्न होता है और उससे प्राणी उत्पन्न होते और जीते हैं।'

किसी देशमें महामारी आदि देशभरको उजाड़ देनेवाले रोगोंके फैलनेका कारण जाँचते हुए चरक यह बतलाते हैं कि पृथ्वी, जल, वायु आदिके दूषित हो जानेसे ये बीमारियाँ फैलती हैं, क्योंकि सबपर इस दोषका एक साथ असर पड़ता है—

ते खल्विमे भावाः सामान्या जनपदेषु भवन्ति तद्यथा–वायुरुदकं देशः काल इति । (चरक–विमानस्थान अ० ३)

आगे फिर यह बतलाते हैं कि—

सर्वेषामपि वाय्वादीनां वैगुण्यमुत्पद्यते यत् तस्य मूलमधर्मः । (चरक–विमानस्थान अ० ३)

अर्थात् 'वायु आदि सब महाभूत जो इस प्रकार दूषित हो जाते हैं, इसका मूल कारण अधर्म है।'

वायु आदि महाभूतोंमें संक्रान्त इस दोषका सर्वोत्तम परिहार यज्ञ है। नित्य ही यदि यज्ञ किया जाय तो उससे आरोग्य सदा बना रहता है। रोगको होने ही न देनेके इस साधनकी ओर कोई ध्यान न देकर हमलोग समय-समयपर आनेवाले रोगोंके इलाजके लिये अपने धन और बलका सारा जोर लगाकर अस्पताल बनवाते चले जा रहे हैं। हमलोगोंने इस बातको तो भुला ही दिया है कि रोगको हटानेका उपाय करनेकी अपेक्षा रोगको होने ही न देना अधिक अच्छा है।

(४) भूतयज्ञ सब प्रकारके जीवोंको–देव-पितर, पशु-पक्षी, कृमि-कीट, अन्त्यज और अपाहिज आदि सबको सिद्धान्न खिलाना है। यदि अन्त्यज आदि गरीब मनुष्योंको इस तरह प्रतिदिन घर-घरसे अन्न मिला करे तो उनका रोटीका प्रश्न ही हल हो जाय। आजकलका-सा दैन्य-दारिद्र्य पहले नहीं था, न आजकलका-सा वैमनस्य और संघर्ष ही था।

(५) नृयज्ञ अतिथिका सत्कार है। आजकलके लोग इसको अच्छा नहीं समझते, इससे इसका चलन कम हो गया है और जगह-जगह होटल खुलते जा रहे हैं, जो सच पूछिये तो रोगोंके घर हैं। हमलोग अपने यार-दोस्तोंकी तो खूब आवभगत करते और उन्हें खिलाते-पिलाते हैं पर यदि कोई अनाथ असहाय प्राणी द्वारपर आ जाय तो उसके लिये हमारे घरमें, हमारे हृदयमें कोई स्थान नहीं है। हमारे पूर्व-पुरुष अतिथि-अभ्यागतकी प्रतीक्षा किया करते थे। जिस दिन कोई अतिथि उनके घर न आता उस दिन वे अपनेको अभागा समझते थे। कम-से-कम एक अतिथिको भोजन करा देना प्रत्येक गृहस्थका धर्म था। अतिथिके भोजन करनेके पश्चात् ही गृहस्थ और उनकी पत्नी भोजन कर सकते थे। मनु भगवान् कहते हैं—

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् । (३।११८)

अर्थात् जो अपने लिये ही रसोई बनाता है वह केवल पाप भक्षण करता है।

महायज्ञोंका यह संक्षिप्त विवरण है। जब घर-घर ये महायज्ञ होते थे तब कोई झगड़ा नहीं था, कोई वैषम्य और संघर्ष नहीं था। जीवन सुखपूर्वक बीतता चला जा रहा था। जीवनमें कोई कृत्रिमता नहीं थी जो आजकल शुरूसे अखीर-तक हमारे जीवनका प्रधान अङ्ग हो रही है। उन पञ्च-महायज्ञोंके बदले आजकल हमारे ये पाँच यज्ञ हो रहे हैं—

(१) ब्रह्मयज्ञका स्थान अखबारोंने ले लिया है, जिनका काम झूठका प्रचार करना और लड़ाई-झगड़े और आपसकी दलबन्दीको बढ़ावा देना है।

(२) पितृतर्पणकी जगह आजकल हमलोग अपने अफसरों या अपने मुवक्किलोंकी तृप्तिका उपाय किया करते हैं।

(३) होमका काम बड़े साहबोंके पास भेजी जानेवाली डालियोंसे अथवा राजनीतिक नेताओंको दी जानेवाली थैलियोंसे हुआ करता है।

(४) भूतयज्ञका सिद्धान्न अब यार-दोस्तोंको दी जाने-वाली पार्टियोंमें समा गया है। इन पार्टियोंके हेतु इस जमाने-में जैसे हो सकते हैं, वैसे ही हुआ करते हैं।

(५) नृयज्ञ अब दाम लेकर होटलोंमें किया जाता है। इसका जो कुछ परिणाम है, वह आँखोंके सामने है। जीवनमें सुख और शान्ति नामको भी नहीं रही है। बड़े जोरसे कोई आन्दोलन उठाया जाता है, कुछ दिन चलता है और फिर बेकार हो जाता है; तब कोई दूसरा आन्दोलन उठता है और उसी क्रमसे खतम होता है। इस प्रकार आन्दोलनपर आन्दोलन उठते-मिटते चले जा रहे हैं। पता

नहीं हमलोग कहाँ जा रहे हैं । सोचने और समझनेका समय है कि मनुष्यजातिको स्नेहसूत्रमें बाँध रखनेकी सबसे बड़ी शक्ति धर्मके ही आचार-विचारमें निहित है । जहाँ धर्म नहीं, वहाँ सुसङ्गति ठहर नहीं सकती, मेल हो नहीं सकता, परस्पर द्वेष ही वहाँ बढ़ेगा और नाना प्रकारके दल वहाँ निर्माण होते रहेंगे । जब धर्म रहेगा, तब हिंदू और मुसल्मान भी एक साथ एक होकर सुखपूर्वक रह सकेंगे । धर्मके वे दिन शीघ्र आयें ।*

गृहस्थके पञ्चमहायज्ञका विवरण

(लेखक—पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़)

कर्म तीन प्रकारके होते हैं–नित्य, नैमित्तिक और काम्य । जिन कर्मोंके करनेसे किसी फलविशेषकी प्राप्ति न होती हो और न करनेसे पाप लगता हो उन्हें 'नित्य'† कहते हैं; जैसे–त्रिकालसन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ इत्यादि ।

पञ्चमहायज्ञ करनेसे आत्मोन्नति आदि अवान्तर फलकी प्राप्ति होनेपर भी, 'पञ्च सूना' दोषसे छुटकारा पानेके लिये शास्त्रकारोंकी आज्ञा है कि—

'सर्वैर्गृहस्थैः पञ्च महायज्ञा अहरहः कर्तव्याः ।'

अर्थात् गृहस्थमात्रको प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करने चाहिये । इससे यह स्पष्ट है कि पञ्चमहायज्ञके करनेसे पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु न करनेसे पापका प्रादुर्भाव अवश्य होता है ।

हमलोगोंकी जीवनयात्रामें सहज ही हजारों जन्तुओंकी प्रतिदिन हिंसा होती है; जैसे—चलने-फिरनेमें, भोजनके प्रत्येक ग्रासमें तथा श्वास-प्रश्वासमें जीवकी हिंसा अवश्य होती है । प्राणधारी मनुष्यके लिये इन पापोंसे बचना कदापि सम्भव नहीं है । अतः इन पापोंसे मुक्त होनेके लिये ही महामहिमशाली महर्षियोंने पञ्चमहायज्ञका विधान बताया है । भगवान् मनु कहते हैं—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥

(३ । ६८, ६९)

'प्रत्येक गृहस्थके यहाँ चूल्हा, चक्की, बुहारी (झाड़ू) ऊखल और जलका पात्र, ये पाँच हिंसाके स्थान हैं । इनसे होनेवाली हिंसाकी निष्कृतिके लिये महर्षियोंने गृहस्थोंके लिये प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करनेका विधान किया है ।'

* सृष्टिके कार्यका सुव्यवस्थित रूपसे सञ्चालन और सब जीवोंका यथायोग्य भरण-पोषण पाँच श्रेणियोंके जीवोंकी पारस्परिक सहायतासे सम्पन्न होता है । वे पाँच हैं—देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि भूतप्राणी । देवता संसारभरमें सबको इष्ट भोग देते हैं, ऋषि-मुनि सबको ज्ञान देते हैं, पितर सन्तानका भरण-पोषण करते, रक्षा करते और कल्याणकामना करते हैं, मनुष्य कर्मोंके द्वारा सबका हित करते हैं, और पशु, पक्षी, वृक्षादि सब जीवोंके सुखके लिये अपना आत्मदान देते रहते हैं । पाँचों ही अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार सबकी सेवा करते हैं, पाँचोंके सहयोगसे ही सबका निर्विघ्न जीवननिर्वाह होता है । इन पाँचोंमें अधिकार, साधनसामग्री और कर्मकी योग्यताके कारण कर्मयोनि मनुष्यपर ही सबकी पुष्टिका विशेष दायित्व है । पञ्चमहायज्ञसे इस लोकसेवारूपी शास्त्रीय धर्मका सम्पादन होता है जिससे सबकी पुष्टि होती है । अतएव मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ भी सिद्ध करे—कमावे उसमें इन सबका भाग समझे और सबको देकर ही उसे अपने उपयोगमें लावे । जो मनुष्य सब जीवोंको उनका उचित हिस्सा देकर बचा हुआ खाता है—अपने उपयोगमें लाता है, वही अमृताशी (अमृत खानेवाला) है । जो ऐसा न करके केवल अपने ही लिये कमाता और अकेला ही खाता है, वह पाप खाता है ।

'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥'

† पूर्वकर्मानुसार जन्म ग्रहणकर जो मनुष्य जिस कक्षा (श्रेणी) में प्रविष्ट होता है, उसमें अपनी स्थिति बनी रहे, इसके लिये ही उसे अपनी कक्षाके योग्य समस्त कर्म करने पड़ते हैं, जिससे उसका उच्चस्थानसे अधःपतन नहीं हो सकता । इसलिये नित्यकर्मोंके करनेसे पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती, बल्कि इन्हें न करनेसे पाप अवश्य लगता है; क्योंकि उनके किये बिना उस कक्षामें स्थायी स्थिति सर्वथा असम्भव है ।

यज्ञके दो भेद होते हैं—एक यज्ञ, दूसरा महायज्ञ। यज्ञ तथा महायज्ञके स्वरूप तथा इसकी विशेषताका वर्णन महर्षि भारद्वाजने इस प्रकार किया है—

'यज्ञः कर्मसु कौशलम्' 'समष्टिसम्बन्धान्महायज्ञः।'

'कुशलतापूर्वक जो अनुष्ठान किया जाता है उसे 'यज्ञ' कहते हैं।' 'पश्चात् समष्टि-सम्बन्ध होनेसे उसीको 'महायज्ञ' कहते हैं।'

इसी बातको महर्षि अङ्गिराने भी कहा है—

यज्ञमहायज्ञौ व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धात्।

'व्यष्टि-समष्टि सम्बन्धसे यज्ञ-महायज्ञ कहे जाते हैं।'

यज्ञका फल आत्मोन्नति तथा आत्मकल्याण है, उसका व्यष्टिसे सम्बन्ध होनेके कारण उसमें स्वार्थकी प्रधानता आ जाती है। (यही इसकी न्यूनता है।)

महायज्ञका फल जगत्का कल्याण है, उसका समष्टिसे सम्बन्ध होनेके कारण उसमें निःस्वार्थताकी प्रधानता आ जाती है। यही इसकी विशेषता है।

जिस यज्ञानुष्ठानके प्रभावसे जीवकी क्षुद्रता, अल्पज्ञता आदिका विनाश होता और वह परमात्माके साथ एकताको प्राप्त होता है, उस अनुष्ठानका महत्त्व सर्वमान्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

पञ्चमहायज्ञ

पञ्चमहायज्ञका वर्णन प्रायः सभी ऋषि-मुनियोंने अपने-अपने धर्म-ग्रन्थोंमें किया है। जिनमेंसे कुछ ऋषियोंके वचनोंको यहाँ उद्धृत किया जाता है—

तैत्तिरीयारण्यकमें—

'पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते। देवयज्ञः पितृयज्ञो मनुष्ययज्ञो भूतयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति।'

आश्वलायनसूत्रमें—

'अथातः पञ्च महायज्ञा देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञो मनुष्ययज्ञ इति।'

छन्दोगपरिशिष्टमें—

देवभूतपितृब्रह्ममनुष्याणामनुक्रमात्।
महासत्राणि जानीयात एव हि महामखाः॥

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें—

बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः।
भूतपित्रमरब्रह्ममनुष्याणां महामखाः॥

मनुस्मृतिमें—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

जो मनुष्य पूर्वकथित पञ्चयज्ञके द्वारा देवता, अतिथि, पोष्यवर्ग, पितृलोक और आत्मा—इन पाँचोंको अन्नादि नहीं देते, वे जीते हुए भी मरेके समान हैं अर्थात् उनका जीवन निष्फल है। भगवान् मनु महाराजकी आज्ञा है कि—

पञ्चैतान् यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते॥
(३।७१)

'जो गृहस्थ शक्तिके अनुकूल इन पञ्चमहायज्ञोंका एक दिन भी परित्याग नहीं करते, वे गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी प्रतिदिनके पञ्च सूनाजनित पापके भागी नहीं होते।'

पञ्चमहायज्ञके अनुष्ठानसे समस्त प्राणियोंकी तृप्ति होती है, इस प्रकारका सङ्केत भगवान् मनु महाराजने मनुस्मृतिके तृतीय अध्यायके ८०, ८१ और ७५ वें श्लोकमें किया है।

पञ्चमहायज्ञ करनेसे अन्नादिकी शुद्धि और पापोंका क्षय होता है। पञ्चमहायज्ञ किये बिना भोजन करनेसे पाप लगता है। देखिये, आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें क्या कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(३।१३)

'यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष पञ्च-हत्याजनित समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो पापी केवल अपने लिये ही पाक बनाते हैं, वे पापका ही भक्षण करते हैं।'

अतः पञ्चमहायज्ञ करके ही गृहस्थोंको भोजन करना चाहिये। पञ्चमहायज्ञके महत्त्व एवं इसके यथार्थ स्वरूपको जानकर द्विजमात्रका कर्तव्य है कि वे अवश्य पञ्चमहायज्ञ किया करें—ऐसा करनेसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सुतरां प्राप्ति होगी।

ब्रह्मयज्ञ

वेदोंके पठन-पाठनको 'ब्रह्मयज्ञ'* कहते हैं। वेदमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें ज्ञानकी ही प्रधानता और परमावश्यकता बतलायी गयी है। ज्ञानके ही कारण जीवान्तरकी अपेक्षासे मनुष्य-देह उत्तम माना गया है। शास्त्रोक्त सदाचार तथा धर्मानुष्ठानमें तत्पर रहना ही मनुष्यकी मनुष्यता है और वही मनुष्य वास्तविक मनुष्यत्वका अधिकारी समझा जाता है। इसके बाद कर्मकाण्डद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि हो जानेपर मनुष्य उपासनाकाण्डका अधिकारी बनता है, तदनन्तर भगवत्कृपाकटाक्षके लेशसे ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। यह मनुष्योंका सामान्य उन्नतिक्रम है। क्रमिक उन्नतिमें ज्ञानका प्राधान्य है। अतः सभी अवस्थाओंमें ज्ञानकी ही आवश्यकता है। इसलिये प्रथमावस्थामें भी ज्ञानके बिना असदाचरणका परित्याग तथा धर्मानुष्ठानमें प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती।

'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।'

इस उपदेशके अनुसार बलवान् इन्द्रियसमूह उसमें प्रतिबन्धक अवश्य है; तथापि इन्द्रियाँ प्रथमावस्थामें मनुष्यको अपनी ओर प्रवृत्त करती हैं न कि धर्मानुष्ठानादिमें। इसी समय माता, पिता तथा गुरुजन भी धर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त तथा अधर्मानुष्ठानसे निवृत्त करते हैं। इस प्रकार सभी अवस्थाओंमें ज्ञानकी ही प्रधानता सिद्ध होती है। अतएव ज्ञानयज्ञरूप स्वाध्याय (वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन) करना चाहिये।

ब्रह्मयज्ञ करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है। ब्रह्मयज्ञ करनेवाला मनुष्य ज्ञानप्रद महर्षिगणका अनृणी और कृतज्ञ हो जाता है।

देवयज्ञ

अपने इष्टदेवकी उपासनाके लिये परब्रह्म परमात्माके निमित्त अग्निमें किये हुए हवनको 'देवयज्ञ' कहते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

भगवान्‌के इस वचनसे सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमात्मा ही समस्त यज्ञोंके आश्रयभूत हैं। इसलिये ब्रह्मयज्ञमें ऋषिगण, पितृयज्ञमें अर्यमादि नित्य पितृगण और परलोकगामी नैमित्तिक पितृगण, भूतयज्ञमें देवरूप अनेक प्राणियोंको जानकर 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वम्' इस गीतोक्त भगवद्वचनके अनुसार ईश्वर-विभूतिधारी देवताओंकी जो-जो पूजा की जाती है, वह सर्वव्यापक अन्तर्यामी परमात्माकी अर्चना (पूजा) के अभ्यासके लिये ही की जाती है।

नित्य और नैमित्तिक भेदसे देवता दो भागोंमें विभक्त हैं। उनमें रुद्रगण, वसुगण और इन्द्रादि नित्य देवता कहे जाते हैं।

ग्रामदेवता, वनदेवता और गृहदेवता आदि अनित्य कहे जाते हैं।

दोनों तरहके ही देवता इस यज्ञसे तृप्त होते हैं। जिन देवताओंकी कृपासे जडभावको प्राप्त होते हुए भी विनश्वर कर्मसे फल उत्पन्न हो रहा है, जिनकी कृपासे समस्त सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है, जिनकी कृपासे संसारके समस्त क्रियाकलापकी भलीभाँति उत्पत्ति और रक्षा होती है, उन देवताओंसे उऋण होनेके लिये 'देवयज्ञ' करना परमावश्यक है।

भूतयज्ञ

कृमि, कीट, पतङ्ग, पशु और पक्षी आदिकी सेवाको 'भूतयज्ञ' कहते हैं।

ईश्वररचित सृष्टिके किसी भी अङ्गकी उपेक्षा कभी नहीं की जा सकती, क्योंकि सृष्टिके सिर्फ एक ही अङ्गकी सहायतासे समस्त अङ्गोंकी सहायता समझी जाती है, अतः 'भूतयज्ञ' भी परम धर्म है।

प्रत्येक प्राणी अपने सुखके लिये अनेक भूतों (जीवों) को प्रतिदिन क्लेश देता है, क्योंकि ऐसा हुए बिना क्षणमात्र भी शरीरयात्रा नहीं चल सकती।

प्रत्येक मनुष्यके निःश्वास-प्रश्वास, भोजन-प्राशन, विहार-सञ्चार आदिमें अगणित जीवोंकी हिंसा होती है। निरामिष भोजन करनेवाले लोगोंके भोजनके समय भी अगणित जीवोंका प्राणवियोग होता है, आमिषभोजियोंकी तो कथा ही क्या

---

* मनुभगवान्‌ने तो 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः' ही लिखा है; परन्तु—

गुरावध्ययनं कुर्वञ्छुश्रूषादि समाचरेत्।
स सर्वो ब्रह्मयज्ञः स्यात्तपः परमुच्यते॥

इस कुल्लूक भट्टकृत भाष्यके अनुसार अध्ययनको भी 'ब्रह्मयज्ञ' कहते हैं।

है ! अतः भूतों (जीवों) से उऋण होनेके लिये 'भूतयज्ञ'* करना आवश्यक है ।

भूतयज्ञसे कृमि, कीट, पशु, पक्षी आदिकी तृप्ति होती है।

पितृयज्ञ

अर्यमादि नित्य पितरोंकी तथा परलोकगामी नैमित्तिक पितरोंकी पिण्डप्रदानादिसे किये जानेवाले सेवारूप यज्ञको 'पितृयज्ञ' कहते हैं ।

सन्मार्गप्रवर्त्तक माता-पिताकी कृपासे असन्मार्गसे निवृत्त होकर मनुष्य ज्ञानकी प्राप्ति करता है । फिर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि सकल पदार्थोंको प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। ऐसे दयालु पितरोंकी तृप्तिके लिये, उनके सम्मानके लिये, अपनी कृतज्ञताके प्रदर्शन तथा उनसे उऋण होनेके लिये 'पितृयज्ञ' करना नितान्त आवश्यक है ।

पितृयज्ञसे समस्त लोकोंकी तृप्ति और पितरोंकी तुष्टिकी अभिवृद्धि होती है ।

मनुष्ययज्ञ

क्षुधासे अत्यन्त पीड़ित मनुष्यके घर आ जानेपर उसकी भोजनादिसे की जानेवाली सेवाको 'मनुष्ययज्ञ' कहते हैं ।

अतिथिके घर आ जानेपर वह चाहे किसी जाति या किसी भी सम्प्रदायका हो, उसे पूज्य समझकर उसकी पाद्य और अर्घ्यादिसे समुचित पूजा कर उसे अन्नादि देना चाहिये । इस विषयकी पुष्टि भगवान् मनु महाराजने भी अपनी स्मृतिके तीसरे अध्यायमें (३ । ९९-१०२, १०७, १११) विशदरूपसे की है । इससे यह सिद्ध हुआ कि पृथ्वीके सभी समाजवालोंको अतिथिसेवारूप धर्मका परिपालन अवश्य करना चाहिये ।

प्रथमावस्थामें मनुष्य अपने शरीरमात्रके सुखसे अपनेको सुखी समझता है, फिर अपने पुत्र, कलत्र, मित्रादिको सुखी देखकर सुखी होता है । तदनन्तर स्वदेशवासियोंको सुखी देखकर सुखी होता है । इसके बाद पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेपर वह समस्त लोकसमूहको सुखी देखकर सुखी होता है । परन्तु वर्तमान समयमें एक मनुष्य समस्त प्राणियोंकी सेवा नहीं कर सकता, इसलिये यथाशक्ति मनुष्यमात्रकी सेवा करना ही 'मनुष्ययज्ञ' कहा जाता है । मनुष्ययज्ञसे धन, आयु, यश और स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है ।

इस प्रकार सूत्ररूपसे गृहस्थके पञ्चमहायज्ञका विवरण है । आशा है, विज्ञ पाठकगण इससे अवश्य सन्तुष्ट होंगे ।

सबमें स्थित भगवान्‌का तिरस्कार न करो !

भगवान् कपिलदेव माता देवहूतिजीसे कहते हैं—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा । तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् । हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः । भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे । नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २९ । २१-२४)

मैं समस्त प्राणियोंमें उनकी आत्माके रूपसे सर्वदा स्थित रहता हूँ, मेरे उस स्वरूपका तिरस्कार करके मनुष्य पूजाकी विडम्बना करता है । जो समस्त प्राणियोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ ईश्वरको छोड़कर पूजा करता है, वह मूर्खतावश राखकी ढेरमें ही हवन करता है । जो एक शरीरमें अभिमान होनेके कारण अपनेको अलग समझता है, और दूसरे शरीरमें स्थित मुझसे ही द्वेष करता है, प्राणियोंके प्रति वैर-भावना रखनेवाले उस पुरुषका मन कभी शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता । जो मनुष्य प्राणियोंका अपमान करता है, उसके द्वारा बहुत-सी सामग्रियोंसे किये हुए मेरे पूजनसे भी मैं प्रसन्न नहीं होता ।

---

* देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषाद्भूतबलिं हरेत् । अन्नं भूमौ श्वचाण्डालवायसेभ्यश्च निक्षिपेत् ॥ (या० स्मृ०)

'देवयज्ञसे बचे हुए अन्नको जीवोंके लिये भूमिपर डाल देना चाहिये और वह अन्न पशु, पक्षी एवं गौ आदिको देना चाहिये ।'

करनेयोग्य

छः वेगोंका दमन करो—

वाणीका वेग, मनका वेग, क्रोधका वेग, उदरका वेग, उपस्थका वेग और जिह्वाका वेग। इन छः दुर्निवार वेगोंका दमन करनेवाला पृथ्वीभरपर शासन कर सकता है।

छः बातोंका त्याग करो—

अधिक आहार, व्यर्थ कार्य, व्यर्थ अधिक बोलना, भजनके नियमका त्याग, विषयी जनोंका सङ्ग और विषय-लालसा। ये छः भक्तिमें बाधा देनेवाले हैं। इनके रहते भजनमें प्रेम नहीं होता। जो इनका त्याग करता है, वह भक्ति प्राप्त करता है।

छः बातोंको ग्रहण करो—

भजनमें उत्साह, दृढ़ निश्चय, धैर्य, भजनमें प्रवृत्ति, बुरे सङ्गका सर्वथा त्याग और साधुके आचरण—ये छः कर्तव्य हैं। इनके पालनसे बहुत शीघ्र भक्तिकी कृपा प्राप्त होती है।

(श्रीरूपगोस्वामी)

प्राणशक्ति और मनःशक्तिका साधन

(लेखक—स्वामी विभूतिनन्दजी सरस्वती)

प्राणशक्ति, मनःशक्ति, क्रियाशक्ति, भावनाशक्ति और बुद्धिशक्ति—ये पाँच शक्तियाँ हैं और इन्हींके अनुक्रमसे पाँच ही योग हैं—हठयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। इनमें प्राणशक्ति और मनःशक्ति, ये दोनों अत्यन्त प्रबल हैं। इन दो शक्तियोंको जो वशमें कर लेता है, वह संसार-विजयी होता है।

प्राणशक्तिका साधन

प्राणशक्तिको वशमें करनेवाला साधक इस पृथ्वीपर रहनेवाले प्राणियों और आकाशमें उड़नेवाले पक्षियोंको वशीभूत कर सकता है और नक्षत्र-मण्डलकी वार्ता भी जान सकता है। प्राणके आधारपर ही यह अखिल ब्रह्माण्ड स्थित है। यही प्राण सबको वायुरूपसे प्रतीत हो रहा है। अथर्ववेदके ग्यारहवें काण्डमें इस प्राणका वर्णन है—

> प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते।
> प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥

'प्राण विराट् है, सबका प्रेरक है; इसलिये सब इसकी उपासना करते हैं। प्राण ही सूर्य और चन्द्रमा है, प्राणको ही प्रजापति कहते हैं।'

प्राणशक्तिके कारण ही हमारे शरीरकी नसों एवं नाड़ियोंमें रक्तका प्रवाह चल रहा है, उसी प्रकार प्राणशक्तिके बलपर ही सूर्यादि लोक घूम रहे हैं। अन्न, वनस्पति आदि सूर्यकी प्राणशक्तिसे ही उत्पन्न होते हैं। प्राण ही तेज है। इस पाञ्चभौतिक शरीरको प्राण जब छोड़ देता है, तब यह शरीर निस्तेज होता और नष्ट हो जाता है। प्राणियोंका प्राण ही ईश्वर है।

> प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
> यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
>
> (अथर्व० कां० ११)

'उस प्राणको मेरा नमस्कार है, जिसके अधीन यह सारा जगत् है, जो सबका ईश्वर है, जिसमें यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है।'

प्राण परमेश्वरकी एक शक्ति है। इसका साधन गुरुमुखसे ही जानकर करना चाहिये। मूलाधारचक्रसे साधन आरम्भ किया जाता है। बायें पैरकी एड़ीसे गुदद्वारको बन्द करके मूलबन्ध लगाया जाता है और जननेन्द्रियके मूलको दोनों एड़ियोंसे दबाकर कुण्डलिनीको जगाया जाता है।

स्वाधिष्ठानचक्रके ऊपर जो कन्द है, उसे दोनों एड़ियोंसे दबानेसे कुण्डलिनी जागती है। वहाँसे ऊपर चढ़कर मणिपूर-चक्रको भेदकर प्राण अनाहतचक्रमें पहुँचता है। वहाँ ज्योतिका साक्षात्कार होता है। तब और ऊपर चढ़कर विशुद्धचक्रको भेदकर प्राण आज्ञाचक्रमें जाता है। वहाँ शिवके दर्शन होते हैं। यहींसे अमृतस्राव होता है। योगी लोग खेचरी मुद्रा लगाकर इसे पान करते और अमर हो जाते हैं। नाभिमें जालन्धरबन्ध और वक्षःस्थलमें उड्डीयान-बन्ध लगाकर योगीलोग प्राणको मस्तिष्कमें ले जाते हैं, जहाँसे ऊपर सहस्रार है—जो श्रीविष्णुभगवान्‌का धाम और सबका मोक्षस्थान है। पूरक, रेचक, कुम्भक—इस त्रिविध प्राणायाम-से यह साधन बनता है। बाहरी कुम्भक और भीतरी कुम्भकसे जो प्राणको अपने वशमें कर लेता है यह अपनी शक्तिसे अनायास आकाशमें वायुके समान सञ्चार कर सकता है, सशरीर अन्य लोकोंमें आ सकता है, अपने स्थानमें बैठे-बैठे सहस्रों कोसकी दूरीपर अपना कार्य कर सकता है, रोगियोंको रोगोंसे मुक्त कर सकता है, बन्दियोंके बन्धन छुड़ा सकता है। यह सब तो मैंने लिख दिया, पर इसका साधन गुरुके समीप रहकर ही ठीक तरहसे हो सकता है।

मनःशक्तिका साधन

मन बड़ा चञ्चल है। यही बात अर्जुन-जैसे धीर-वीरने मनःसंयमके प्रसङ्गमें कही है—

> चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

'यह मन बड़ा चञ्चल, बड़ा बलवान्, दृढ और मथनेवाला है। इसको रोककर स्थिर करना वायुकी गतिको रोकनेके समान अत्यन्त कठिन है।'

मनका यह स्वभाव है कि यह बन्दरकी तरह यहाँसे वहाँ, एक डारपरसे दूसरी डारपर कूदता-फाँदता रहता है, एक क्षणमें उत्तरसे दक्षिण और पूर्वसे पश्चिमकी सैर कर आता है, बात-की-बातमें चारों धामकी यात्रा और पृथ्वीकी परिक्रमा कर लेता है। इसकी चञ्चलताका क्या ठिकाना है। मन-दुर्योधनसे युद्ध किये बिना आत्मराज्यका पाना असम्भव है और बिना राज्यके सुख और भोग कहाँ? परन्तु यह इतना बलवान् है कि सहस्रों हाथियोंके पाँवोंमें जंजीर डाल देना या सहस्रों सिंहोंको पिंजड़ेमें बंद रखना आसान है, पर इसे स्थिर करना आसान नहीं। मनने ही तो काशीपति श्रीविश्वनाथकी समाधि भङ्ग कर दी थी, विश्वामित्र और अगस्ति-जैसे महातपस्वियोंको पृथ्वीपर पटक दिया था, देवर्षि नारदको अपने मोहनास्त्रसे बाँध लिया था और भगवान् रामचन्द्रतकको पत्नी-वियोगसे रुला दिया था। यह अपनी ही चालपर इतनी दृढ़तासे डटा रहता है कि किसीके हटाये वहाँसे हटता ही नहीं और सब इन्द्रियोंको अपने अधीन करके सारे शरीरमें खलबली मचा देता है। इसे तो लक्ष्मण-जैसे यति, हनूमान्-जैसे योद्धा, भीष्मपितामह-जैसे महायोगी ही जीत सकते हैं। योग जो कुछ है, इसी मनकी वृत्तियोंका निरोध है। जो इसका निरोध कर सकता है, वही ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है। जो कुछ भी किया जाता है, वह मनके द्वारा किया जाता है। अच्छा या बुरा, मनके बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। जब यह मन शुभ सङ्कल्पोंवाला होता है, तब वह अनन्त सुखका कारण होता है। इसकी बिखरी हुई सब वृत्तियाँ जब किसी स्थानमें एकत्र निरुद्ध होती हैं, तब मनुष्य अनन्त शक्तिशाली होता है। बन्ध या मोक्ष, दोनोंका कारण मन ही है।

शास्त्रोंने इस मनको स्थिर करनेके उपाय बताये हैं। पर बड़े भाग्य और पुण्यके प्रतापसे ही किसीका मन स्थिर और शान्त हो पाता है। अब अधिक विस्तार न करके मनको स्थिर करने और मनःशक्ति प्राप्त करनेका एक साधन यहाँ लिखते हैं। मनका दसमंजिला मकान है, एक-एक मंजिलपर दस-दस मुकाम हैं, एक-एक मुकामपर सौ-सौ पैड़ियाँ हैं। इस मकानकी छतपर जो साधक चढ़ जाय और फिर उलटे पैरों लौट आये, वही संत है—चाहे वह गृहस्थ हो या ब्रह्मचारी, वर्ण और जातिमें श्रेष्ठ हो या कनिष्ठसे भी कनिष्ठ। यहाँ—

> जात-पाँत पूछे नहिं कोई। हरिको भजै सो हरिका होई॥

मनका यह मकान मनःकल्पित ही है। आप शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, सूर्य, ॐ—चाहे कोई भी एक नाम लीजिये और उसे १०० तक गिनिये। यह एक मुकाम है। वहाँसे उलटे लौटकर वैसे ही गिनते हुए एकपर आइये। इस प्रकार अभ्यास बढ़ाते हुए एक हजारतक चढ़ जाइये, फिर वहाँसे उलटे पैरों लौटिये। आप देखेंगे कि आपका मन कितना शान्त होता है। अब दो हजारतक चढ़िये, यह दूसरी मंजिल आ गयी। वहाँसे उलटे पैरों फिर लौटिये। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं, नवीं और दसवीं मंजिलतक—१० हजारतक चढ़ आइये और

उलटी गिनती करते हुए लौटिये। आपको विलक्षण शान्ति मिलेगी और जप भी होगा। पर इस प्रकार जपका होना और उलटी-सीधी गिनतीमें मनका लगना भी बड़े पुण्यसे होता है। महान् पुण्योदयके बिना भगवान्की ओर मन नहीं लगता।

प्राण और मनका साधन सङ्ग

प्राणायाम करते हुए कुम्भककी क्रियामें जहाँ प्राण रुकेगा, वहीं मन भी स्थिर होगा—यह निश्चित बात है। मनःसाधनकी गिनती करते हुए जब आप एक हजारतक पहुँचें तब वहीं चुप होकर बैठ जायँ, मनको कहीं इधर-उधर जाने न दें। इसके बाद लौटिये। जब एकपर आ जायँ तब चुप होकर मनको भीतर ही रोक रक्खें और कुछ देर हृदय और नाभिचक्रका ध्यान करें। फिर अधखुले नेत्रोंसे, मनको नासिकाके अग्रभागपर या भ्रूमध्यमें स्थिर करें। इस अभ्याससे यह मन कुछ दिनोंमें शान्त होगा, आपको बड़ा आनन्द आवेगा और आत्मानुभव होने लगेगा।

पलङ्ग या चारपाईपर लेट जाओ। तकिया हटा दो। कपड़ोंको ढीला कर दो। शरीरको भी ढीला छोड़ दो। प्राणको उलटा खींचो, पेटमें ले आओ, फिर छातीतक ले आओ, फिर पेटमें नाभितक घुमाओ। ऐसा करनेसे आपका नाभि-सूर्य प्रकाशित होगा। कुछ दिन इस प्रकार करके तब मनको इसीमें लगानेसे बड़ी शान्ति मिलेगी।

यदि शक्तिशाली बनना चाहते हो तो किसी मैदानमें खड़े हो जाओ, शरीर ढीला छोड़ दो, हाथोंको नीचे लटका दो, प्राणको आकाशमें फेंक दो। फिर प्राणको भीतर खींचते हुए मनसे यह काल्पनिक योग करो कि मैं अमुक शक्तिको खींचकर अपने अंदर ला रहा हूँ। कुछ दिन ऐसा अभ्यास करनेसे आपमें उस शक्तिका प्रवेश हो जायगा। हमारे महान् पूर्व पुरुष मन और प्राणकी इन शक्तियोंसे जो चाहते कर सकते थे। आप भी साधन सम्पन्न होंगे तो जो चाहेंगे कर सकेंगे।

पाँच शक्तियोंमेंसे मनःशक्ति और प्राणशक्तिका यहाँतक कुछ वर्णन किया गया। क्रियाशक्ति, भावनाशक्ति और बुद्धिशक्ति इन्हीं दो शक्तियोंमें समा जाती हैं; इनका पृथक्-पृथक् वर्णन यहाँ नहीं किया गया। जो लोग इन दो शक्तियोंका शोधन कर लेंगे, उन्हें इनके अलौकिक गुणोंका आप ही अनुभव होगा।

मनुष्यमात्रके तीस धर्म

देवर्षि नारदजी कहते हैं—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः। अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः। नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः। तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः। त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥

(श्रीमद्भा० ७। ११। ८—१२)

हे युधिष्ठिर! सब मनुष्योंके लिये यह तीस लक्षणवाला श्रेष्ठ धर्म कहा गया है। इससे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं। वे तीस लक्षण ये हैं—सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, आत्म-निरीक्षण, बाह्य इन्द्रियोंका संयम, आन्तर इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदृष्टि, सेवा, दुराचारसे निवृत्ति, लोगोंकी विपरीत चेष्टाओंके फलका अवलोकन, मौन, आत्मविचार, प्राणियोंको यथायोग्य अन्नदानादि, समस्त प्राणियोंमें विशेष करके मनुष्योंमें आत्मबुद्धि—इष्टदेव-बुद्धि, महात्माओंके आश्रयभूत भगवान्के गुणनाम आदिका श्रवण-कीर्तन, स्मरण, सेवा, यज्ञ, नमस्कार, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन।

प्रेमसिद्धा मीरा

पग घुँघरु बाँध मीरा नाची रे ।

मैं तो मेरे नारायनकी आपहि हो गइ दासी रे ।

लोग कहैं मीरा भई बावरी न्यात कहैं कुळनासी रे ॥

विषका प्याला राणाजी भेज्या पीवन मीरा हाँसी रे ।

मीराके प्रभु गिरधर नागर सहज मिले अबिनासी रे ॥

माई री ! मैं तो लियो गोबिंदो मोल ।

कोइ कहै छाने कोइ कहै छुपके, लियो री बजंता ढोल ॥

कोइ कहै मुँहघो कोइ कहै सुहँघो लियो री तराजू तोल ।

कोइ कहै काळो कोइ कहै गोरो, लियो री अमोलक मोल ॥

कोइ कहै घरमें कोइ कहै बनमें राधाके संग किलोल ।

मीराके प्रभु गिरधर नागर आवत प्रेमके मोल ॥

—मीराबाई

साधनाके गभीर स्तर

(लेखक—श्रीमेहरबाबा)

धार्मिक क्रिया-कलापकी भूमिका-से ऊपर उठकर साधनाके गभीर स्तरोंमें प्रवेश

अधिकांश लोगोंके लिये आध्यात्मिक साधनाका स्वरूप अपने-अपने धर्मोंद्वारा निर्दिष्ट क्रिया-कलापका बाह्य अनुष्ठान होता है। प्रारम्भिक अवस्थाओंमें इस अनुष्ठानका भी एक महत्त्व होता है, क्योंकि इससे आत्मशुद्धि और मनोनिग्रहमें सहायता मिलती है; परन्तु अन्ततोगत्वा साधकको बाह्य नियमोंके पालनकी अवस्थासे ऊपर उठकर आध्यात्मिक साधनाके गभीर स्तरोंमें प्रवेश करना पड़ता है। जब साधक इस भूमिकामें पहुँच जाता है, तब धर्मका बाह्यरूप उसके लिये गौण हो जाता है और उसकी रुचि धर्मके उन मूल तत्त्वोंकी ओर हो जाती है, जो सभी बड़े-बड़े मजहबोंमें व्यक्त हुए हैं। सच्ची साधना उस जीवनको कहते हैं, जिसके मूलमें आध्यात्मिक बोध रहता है और यह बोध उसीको होता है, जिसकी रुचि वास्तवमें आध्यात्मिक तत्त्वोंकी ओर होती है।

साधन-भेद

साधनका अर्थ कठोर नियमोंका बन्धन नहीं समझना चाहिये। सबके जीवनमें अखण्ड और अटल एकरूपता हो नहीं सकती और न उसकी आवश्यकता ही है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधन-भेदके लिये काफी अवकाश है। जो साधन किसी एक साधकके लिये उपयोगी होता है, वह अवश्य ही उसके संस्कारों और मनोवृत्तिकी अपेक्षा रक्खेगा और इस प्रकार, यद्यपि सबका आध्यात्मिक ध्येय एक ही होता है, उस विशिष्ट साधकका साधन विशेष प्रकारका हो सकता है। किन्तु ध्येय सबका एक होनेके कारण साधनगत भेद विशेष महत्त्वके नहीं होते और साधनाके गभीर स्तरभेदोंके रहते हुए भी सभी साधकोंके लिये महत्त्वपूर्ण होते हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधना भौतिक क्षेत्रकी साधनासे भिन्न होती है।

आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधना भौतिक क्षेत्रकी साधनासे अवश्य ही तत्त्वतः भिन्न होगी, क्योंकि आध्यात्मिक क्षेत्रका ध्येय भौतिक क्षेत्रके ध्येयोंसे स्वरूपतः भिन्न होता है। भौतिक क्षेत्रका ध्येय एक ऐसा पदार्थ होता है, जिसका कालकी दृष्टिसे आदि और अन्त होता है और जो किसी अन्य वस्तुका कार्य होता है; आध्यात्मिक क्षेत्रका ध्येय पूर्णता है, जो कालकी सीमासे अतीत है। अतः भौतिक क्षेत्रकी साधनाका लक्ष्य ऐसी वस्तुकी प्राप्ति होता है, जो अभी भविष्यके गर्भमें है; किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधनाका लक्ष्य उस वस्तुकी प्राप्ति होता है, जो सदा रही है, सदा रहेगी और इस समय भी है।

आध्यात्मिक साधनाके ध्येयका सामान्य रूप।

जीवनके आध्यात्मिक ध्येयको जीवनके भीतर ही ढूँढ़ना चाहिये, जीवनके बाहर नहीं; अतः आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधना इस प्रकारकी होनी चाहिये कि वह हमारे जीवनको उस जीवनके अधिकाधिक निकट ले जाय, जिसे हम आध्यात्मिक समझते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधनाका ध्येय किसी सीमित अभीष्टकी प्राप्ति नहीं होता, जो कुछ दिन रहकर फिर सदाके लिये मिट जाय—इस तरह मिट जाय कि जैसे वह कोई बिल्कुल ही नगण्य वस्तु हो; उसका ध्येय होता है जीवनके स्वरूपका आमूल परिवर्तन, जिससे कि वह सदाके लिये चिरस्थायी **वर्तमानमें** महान् सत्यको अभिव्यक्त कर सके। साधना आध्यात्मिक दृष्टिसे तभी सफल होती है, जब वह साधकके जीवनको ईश्वरीय उद्देश्यके अनुकूल बनानेमें समर्थ होती है, जो जीवमात्रको ब्रह्मभावकी आनन्दमय अनुभूति कराना है। साधनको इस ध्येयके स्वरूपके सर्वथा अनुकूल बनाना पड़ेगा।

साधन साध्यमें मिल जाता है

आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधनाके प्रत्येक अङ्गका ध्येय जीवनके सभी स्तरोंमें दिव्यताकी प्राप्ति-रूपी आध्यात्मिक लक्ष्यकी सिद्धि होना चाहिये; अतः एक दृष्टिसे आध्यात्मिक साधनाके विभिन्न स्तर आध्यात्मिक पूर्णताकी स्थितिके निकट पहुँचनेकी ही भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं। साधना उतने ही अंशमें पूर्ण होती है जितने अंशमें वह इस आध्यात्मिक आदर्शको व्यक्त करती है, अर्थात् जितने अंशमें वह पूर्ण जीवनके सदृश होती है। इस प्रकार साधन और साध्यमें जितना ही अधिक अन्तर होता है, साधना उतनी ही अपूर्ण होती है; और साधन और साध्यमें जितना कम अन्तर होता है, साधना उतनी

ही पूर्ण होती है। और जब साधना पूर्ण होती है, तब साधन पूर्ण आध्यात्मिक साध्यमें जाकर मिल जाता है और इस प्रकार साधन और साध्यका भेद अखण्ड सत्ताकी अविकल पूर्णतामें लीन हो जाता है।

साधनका अर्थ है साध्यकी आंशिक प्राप्ति।

साधन और उसके द्वारा प्राप्त किये जानेवाले साध्यका जो यह सम्बन्ध है, वह भौतिक क्षेत्रमें रहनेवाले साध्य और साधनके सम्बन्धसे भिन्न ही प्रकारका है। भौतिक क्षेत्रका साध्य प्रायः जिस साधनके द्वारा उसकी प्राप्ति होती है, उसके न्यूनाधिकरूपमें सर्वथा बाहर रहता है; और साधन एवं उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले साध्यके स्वरूपमें भी स्पष्ट भेद होता है। उदाहरणके लिये बंदूकके घोड़ेको खींचना किसी मनुष्यकी मृत्युका साधन हो सकता है; परन्तु मनुष्यकी मृत्यु और घोड़ेके खींचनेकी क्रियामें स्वरूपतः महान् अन्तर है, दोनोंमें किसी प्रकारकी सजातीयता नहीं है। किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधन और उसके द्वारा प्राप्तव्य साध्य एक दूसरेसे सर्वथा बाह्य नहीं हो सकते और उनमें कोई स्पष्ट स्वरूपगत भेद भी नहीं है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधन और साध्यके बीचमें ऐसा अन्तर नहीं रक्खा जा सकता जो किसी प्रकार पट ही न सके; और इससे यह बात निष्पन्न होती है—जो देखनेमें असङ्गत-सी मालूम होती है—कि आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधनका अर्थ ही साध्यकी आंशिक प्राप्ति होता है। इस प्रकार बहुत-से आध्यात्मिक साधनोंको वास्तवमें जो साध्य मानकर चलना पड़ता है, इसका कारण भी समझमें आ जाता है।

ज्ञान, कर्म और भक्तिकी साधना।

साधनाके गभीर स्तरोंमें आध्यात्मिक साधनका अर्थ होता है—(१) ज्ञान-मार्ग, (२) कर्म-मार्ग और (३) भक्ति-मार्गका अनुसरण। ज्ञानके साधनका स्वरूप होता है—(क) यथार्थ बोधसे उत्पन्न होनेवाले वैराग्यका अभ्यास, (ख) ध्यानकी भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ और (ग) विवेक और अन्तर्दृष्टिका निरन्तर उपयोग। आध्यात्मिक ज्ञानकी प्राप्ति अथवा अभिव्यक्तिके इन त्रिविध प्रकारोंकी कुछ व्याख्या करनेकी आवश्यकता है।

वैराग्य।

जीव इस नामरूपात्मक जगत्के जालमें फँसकर इस बातको भूल गया है कि वह ईश्वरकी ही सत्ताका एक अंश है। यह भूल अथवा अज्ञान ही जीवका बन्धन है और इस बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करना ही आध्यात्मिक साधनाका उद्देश्य होना चाहिये। अतः सांसारिक विषयोंके बाह्य त्यागकी बहुधा मोक्षके साधनोंमें गणना की जाती है; परन्तु यद्यपि इस प्रकारके बाह्य त्यागका भी एक अपना महत्त्व हो सकता है, वह सर्वथा आवश्यक नहीं है। आवश्यकता है सांसारिक विषयोंकी स्पृहाके भीतरी त्यागकी। और जब इस स्पृहाका त्याग हो जाता है, तब इस संसारके पदार्थोंका त्याग गौण हो जाता है; क्योंकि जीवात्माने इस नामरूपात्मक मिथ्या जगत्से भीतरी सम्बन्धका त्याग कर दिया है और मुक्तिकी अवस्थाके लिये तैयारी कर ली है। वैराग्य ज्ञानके साधनका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

ध्यान।

आध्यात्मिक ज्ञानको प्राप्त करनेका दूसरा साधन ध्यान है। ध्यानके सम्बन्धमें ऐसा नहीं मानना चाहिये कि वह पर्वत-कन्दराओंमें रहनेवाले मुनियोंके ही करनेकी कोई अनोखी क्रिया है। प्रत्येक मनुष्य अपनेको किसी-न-किसी वस्तुका ध्यान करते हुए पाता है। इस प्रकारके स्वाभाविक ध्यान और साधकके ध्यानमें अन्तर यही है कि साधकका ध्यान क्रमबद्ध और नियमितरूपसे होता है और वह ऐसी वस्तुओंका चिन्तन करता है, जो आध्यात्मिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण होती हैं। साधनरूपमें किया जानेवाला ध्यान साकार भी हो सकता है और निराकार भी।

साकार ध्यान वह होता है, जिसका सम्बन्ध किसी ऐसे व्यक्तिसे होता है, जो आध्यात्मिक दृष्टिसे पूर्ण हो। साकार ध्यानके लिये (साधककी रुचिके अनुसार) पूर्वके अवतारोंमेंसे अथवा वर्तमानके सिद्ध महापुरुषोंमेसे किसीको चुना जा सकता है। इस प्रकारके साकार ध्यानका अभ्यास करनेसे साधकके अंदर उसके ध्येयके समस्त दैवी गुणों अथवा आध्यात्मिक ज्ञानका संक्रमण होने लगता है; और प्रेम तथा आत्मसमर्पणका भाव ध्यानके अन्तर्गत रहनेसे उससे

ध्येयकी कृपाका आकर्षण होता है और चरम सिद्धि उस कृपासे ही सम्भव होती है। इस प्रकार साकार-ध्यानकी साधनासे साधक अपने ध्येयके समान ही नहीं बन जाता वरं उसके साथ तत्त्वतः एक हो जानेमें भी सहायता मिलती है।

निराकार-ध्यानका सम्बन्ध परमात्माके निराकार एवं अपरिच्छिन्न स्वरूपसे होता है। इससे साधक परमात्माके निराकार स्वरूपकी प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर हो सकता है; परन्तु सामान्यतः साकार-ध्यानके अभ्यास और सदाचारमय जीवनके द्वारा जबतक साधक भलीभाँति तैयार नहीं हो जाता, तबतक निराकार-ध्यान व्यर्थ ही होता है। अनन्त परमात्माकी चरम अनुभूतिमें न तो आकाररूप उपाधि रहती है और न सत्-असत्का भेद ही रहता है; इस अनुभूतिको प्राप्त करनेके लिये तो साकारसे निराकारमें और सत्से परमात्मामें जाना पड़ता है, जो सत् और असत् दोनोंसे परे हैं। निराकार-ध्यानके द्वारा तत्त्वको प्राप्त करनेकी दूसरी शर्त यह है कि साधकको अपना चित्त बिलकुल स्थिर कर लेना चाहिये। परन्तु यह तभी सम्भव होता है, जब चित्तके विभिन्न संस्कार नष्ट हो जायँ; और संस्कारोंका आत्यन्तिक विनाश ईश्वर अथवा महापुरुषकी कृपासे ही सम्भव होता है, निराकार-ध्यानके मार्गमें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये भी ईश्वर अथवा महापुरुषकी कृपाके बिना काम नहीं चलता।

विवेक और अन्तर्दृष्टिका उपयोग

ज्ञानका साधन तबतक अधूरा ही रहता है, जबतक साधक निरन्तर विवेकका अभ्यास नहीं करता और अपनी उच्चतम अन्तर्दृष्टिका विकास नहीं करता। ईश्वरका साक्षात्कार उसी साधकको होता है, जो सत्य एवं नित्य वस्तुओंके सम्बन्धमें अपनी अन्तर्दृष्टि एवं विवेकसे काम लेता है। प्रत्येक मनुष्यके अंदर अनन्त ज्ञानका भंडार छिपा रहता है, उसे प्रकट करनेकी आवश्यकता होती है। मनुष्यके अंदर जो कुछ भी थोड़ा बहुत आध्यात्मिक ज्ञान होता है, उसे आचरणमें उतारना ही ज्ञानकी वृद्धिका उपाय है। ज्ञानी महापुरुषोंके द्वारा जो कुछ उपदेश मानव-जातिको समय-समयपर प्राप्त होते रहे हैं और साधकको जन्मसे ही जो विवेक-बुद्धि प्राप्त रहती है, उससे उसे इसके आगे उसे क्या करना है, इस विषयमें यथेष्ट प्रकाश मिलता है। जो कुछ ज्ञान उसे प्राप्त है, उसको अमलमें लाना ही कठिन है।

कर्मका महत्त्व

ज्ञानके साधनकी सफलताके लिये यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक अवस्थामें कर्म-सत्कृत हो। दैनिक जीवन विवेकानुसारी होना चाहिये और उसमें ऊँची-से-ऊँची अन्तर्दृष्टिकी प्रेरणा होनी चाहिये। बिना किसी भय अथवा शङ्काके हृदयकी सर्वोत्तम प्रेरणाओंके अनुसार आचरण करना ही कर्मयोग अथवा कर्ममार्गका स्वरूप है। साधनमें आचरणकी ही प्रधानता है, केवल विचारकी नहीं। सम्यक् विचारकी अपेक्षा सम्यक् आचरणका बहुत अधिक महत्त्व है। अवश्य ही जो आचरण सम्यक् ज्ञानके ऊपर प्रतिष्ठित है, वह अधिक लाभदायक होगा; किन्तु आचरणकी दिशामें एक भी भूल होनेसे उससे हमें महत्त्वपूर्ण शिक्षा मिल सकती है। जो विचार केवल विचारके लिये ही होता है अर्थात् जिसके अनुसार आचरण नहीं किया जाता, उससे कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं होता—चाहे वह कितना ही निर्भ्रान्त क्यों न हो। इस प्रकार जो मनुष्य बहुत पढ़ा-लिखा तो नहीं है, किन्तु जो सच्चे मनसे भगवान्का नाम लेता है और अपने छोटे-से-छोटे कर्तव्यका पूरे मनसे पालन करता है, वह उस मनुष्यकी अपेक्षा भगवान्के अधिक समीप हो सकता है, जिसे दुनियाभरका दार्शनिक ज्ञान तो है, परन्तु जिसके विचारोंका उसके दैनिक जीवनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

एक गदहेका दृष्टान्त।

साधनके क्षेत्रमें विचारकी अपेक्षा आचरणका कितना अधिक महत्त्व है—यह बात एक गदहेके आख्यानसे, जो प्रसिद्ध है, स्पष्ट हो सकती है। एक गदहेको, जो बहुत देरसे चल रहा था, बड़ी भूख लगी। थोड़ी देर बाद उसको घासकी दो ढेरियाँ दिखलायी दीं, एक तो रास्तेकी दाहिनी ओर कुछ दूरपर थी और दूसरी मार्गकी बाँयीं ओर थी। गदहेने सोचा कि उन दोनों ढेरियोंमेंसे किसीके पास जानेका विवेकपूर्वक निश्चय करनेके पूर्व इस बातको निश्चितरूपसे जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि दोनों ढेरियोंमेंसे कौन-सी ढेरी सब ओरसे विचार करनेपर अधिक वरणीय ठहरती है। बिना भलीभाँति विचार किये और दूसरीकी अपेक्षा एकको पसंद करनेके लिये यथेष्ट कारण न होते हुए दोनोंमेंसे किसी एकको चुन लेना उसके लिये विवेकपूर्ण कार्य न होकर केवल इच्छाप्रेरित होगा। इसलिये पहले उसने इस बातपर विचार किया कि जिस रास्तेपर वह चल रहा है, वहाँसे दोनों ढेरियोंकी दूरी

कितनी है। दुर्भाग्यवश बड़ी देरतक विचार करनेके बाद वह इस निश्चयपर पहुँचा कि दोनों ही ढेरियाँ मार्गसे समानान्तरपर हैं। अतः अब वह किसी दूसरे कारणको ढूँढ़ने लगा, जिसके आधारपर उन ढेरियोंके तारतम्यका ठीक-ठीक निर्णय किया जा सके और इस विचारसे दोनों ढेरियोंमें कौन-सी बड़ी और कौन-सी छोटी है—इसपर विचार करने लगा। परन्तु इस बार भी वह विचारके द्वारा यह निर्णय नहीं कर सका; क्योंकि इस बार भी वह इसी निश्चयपर पहुँचा कि दोनों ढेरियाँ परिमाणमें भी बराबर ही थीं, छोटी-बड़ी नहीं। तब उसने अपनी स्वभावोचित धीरता और अध्यवसायके साथ घासकी उत्तमता आदि अन्य बातोंपर विचार किया; परन्तु प्रारब्धकी बात, सभी बातोंमें—जिनको लेकर वह विचार कर सकता था—उसे ऐसा मालूम हुआ कि दोनों ढेरियाँ समानरूपसे अभीष्ट हैं।

अन्तमें यह हुआ कि जब गदहेके ध्यानमें कोई ऐसी बात नहीं आयी कि जिसके आधारपर वह विचारपूर्वक कह सकता कि दोनों ढेरियोंमेंसे कौन-सी अधिक वरणीय है, वह उनमेंसे किसीके समीप नहीं गया किन्तु पहलेकी ही भाँति क्षुधापीड़ित और थका-माँदा सीधा चला गया; घासकी दो ढेरियाँ मिलनेपर भी वह उनसे कोई लाभ उठा नहीं सका। यदि वह विवेकपूर्वक विचारद्वारा ठीक-ठीक निर्णय करनेके आग्रहको छोड़कर दोनोंमेंसे किसी एक ढेरीके समीप चला गया होता तो सम्भव था वह ढेरी उतनी अच्छी न होती, जितनी दूसरी ढेरी रही होगी; परन्तु बुद्धि-द्वारा निर्णय करनेमें भूल रह जानेपर भी व्यावहारिक दृष्टिसे वह अनन्त गुना लाभमें रहता। आध्यात्मिक जीवनमें किसी मार्गपर चलना प्रारम्भ करनेके लिये यह आवश्यक नहीं है कि हमारे पास उस मार्गका पूरा मानचित्र हो, बल्कि मार्गका पूरा ज्ञान प्राप्त करनेका आग्रह होनेसे यात्रामें सहायता मिलनेकी अपेक्षा उल्टी रुकावट हो सकती है। आध्यात्मिक जीवनके गूढ़ रहस्य उन्हींके सामने प्रकट होते हैं, जो जोखिम उठाकर वीरतापूर्वक अपनेको परीक्षामें डालते हैं; जो आलसी मनुष्य एक-एक कदम आगे बढ़नेके लिये हानि न होनेकी गारंटी चाहता है, उसके सामने वे रहस्य कभी प्रकट नहीं होते। जो मनुष्य समुद्रके किनारे खड़ा होकर उसके सम्बन्धमें विचार करता है, उसे केवल समुद्रके ऊपरी भागका ही ज्ञान होगा; परन्तु जो समुद्रकी थाह लेना चाहता है, उसे समुद्रके जलमें गोता लगानेके लिये तैयार होना पड़ेगा।

निष्काम सेवा। कर्मयोगकी साधनामें सफल होनेके लिये इस बातकी आवश्यकता है कि कर्मका उद्गम ज्ञानसे होना चाहिये। ज्ञानपूर्वक कर्म बन्धन-कारक नहीं होता, क्योंकि वह अहङ्कार-मूलक न होकर अहङ्कारशून्य होता है। स्वार्थपरायणता अज्ञानका ही स्वरूप है और अहङ्कारशून्यता तत्त्वज्ञानका प्रतिबिम्ब है; हमें निःस्वार्थ सेवाका जीवन इसीलिये अङ्गीकार करना चाहिये कि उसके मूलमें ज्ञान रहता है, बाह्य परिणामकी दृष्टिसे नहीं। परन्तु निष्काम कर्ममें विलक्षणता यह है कि उससे साधकको इतना अधिक लाभ होता है, जितना अज्ञान-जनित स्वार्थपरायणतासे कभी प्राप्त हो ही नहीं सकता। स्वार्थपरायणताका परिणाम होता है सङ्कीर्ण जीवन, जिसका केन्द्र होता है सीमित एवं पृथक् व्यष्टिसत्ताका मिथ्या भाव; परन्तु निष्काम-कर्मसे भेद-भ्रमका नाश करनेमें सहायता मिलती है और हम अनन्त जीवनमें प्रवेश कर पाते हैं, जहाँ सर्वात्मभावकी अनुभूति होती है। मनुष्यके पास जो कुछ भी है, वह नष्ट हो सकता है और वह जिस वस्तुकी आकाङ्क्षा करता है, वह सम्भव है उसे कभी प्राप्त न हो; परन्तु जो कुछ वह परमात्माके अर्पण कर देता है, वह तो लौटकर उसीको मिल जाता है। कर्मयोगके साधनका यही स्वरूप है।

भक्ति। ज्ञान अथवा कर्मके साधनकी अपेक्षा भी भक्ति अथवा प्रेमका साधन और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह प्रेमहीके लिये किया जाता है। वह स्वतः पूर्ण है और किसी दूसरे सहायककी अपेक्षा नहीं रखता। संसारमें बड़े-बड़े संत हो गये हैं, जिन्होंने किसी भी और वस्तुकी अपेक्षा न करके भगवत्प्रेममें ही सन्तोष माना था। वह प्रेम प्रेम ही नहीं है, जो किसी आशासे किया जाता है। भगवत्प्रेमके अतिरेकमें प्रेमी प्रियतम भगवान्‌के साथ एक हो जाता है। प्रेमसे बढ़कर कोई साधन नहीं है, प्रेमसे ऊँचा कोई नियम नहीं है और प्रेमके परे कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है; क्योंकि प्रेम भगवत्स्वरूप होनेपर अनन्त हो जाता है। भगवत्प्रेम और भगवान् एक ही वस्तु हैं; और जिसमें भगवत्प्रेमका उदय हो गया, उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो चुकी।

प्रेमको साधन और साध्य दोनोंका ही अङ्ग माना जा सकता है; परन्तु प्रेमका महत्त्व इतना अधिक स्पष्ट है कि बहुधा इसे किसी अन्य वस्तुकी प्राप्तिका साधन मानना भूल समझा जाता है। प्रेमके मार्गमें भगवान्‌के साथ एकीभाव जितना सुगम और पूर्ण होता है, उतना किसी भी साधनमें नहीं होता। जहाँ प्रेम ही हमारा पथप्रदर्शक होता है, वहाँ सत्यकी ओर ले जानेवाला मार्ग सहज और आनन्दमय होता है। साधारणतः साधनामें प्रयत्न रहता ही है, और कभी-कभी तो घोर प्रयत्न करना पड़ता है—उदाहरणतः उस साधकको जो प्रलोभनोंके रहते वैराग्यके लिये चेष्टा करता है। परन्तु प्रेममें प्रयत्नका भाव नहीं रहता; क्योंकि प्रेम करना नहीं पड़ता, अपने-आप होता है। स्वाभाविकपन ही सच्ची आध्यात्मिकताका स्वरूप है। ज्ञानकी सबसे ऊँची अवस्थाको, जिसमें चित्त सर्वथा तत्त्वाकार हो जाता है, सहजावस्था कहते हैं—जिसमें स्वरूप-ज्ञान अबाधित रहता है। आध्यात्मिक साधनामें एक विलक्षण बात यह है कि साधकका सारा प्रयत्न निःसाधनताकी अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये होता है।

साधनसे निःसाधनताकी प्राप्ति।

एक कस्तूरी-मृगका बड़ा ही सुन्दर आख्यान है, जिससे सब प्रकारकी आध्यात्मिक साधनाका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। एक कस्तूरी-मृग एक बार उत्तराखण्डके पहाड़ोंमें विचर रहा था। सहसा उसे कहींसे ऐसी मनोमोहक गन्ध आती प्रतीत हुई, जिसका उसने जीवनमें कभी अनुभव नहीं किया था। उस गन्धसे वह इतना मुग्ध हो गया कि वह उसके उद्गम-स्थानका पता लगानेके लिये चल पड़ा। जहाँसे वह गन्ध आ रही थी, उस वस्तुको प्राप्त करनेके लिये उसके मनमें इतनी तीव्र उत्कण्ठा थी कि वह हिम-प्रदेशकी कठोर सर्दीकी तनिक भी परवा न कर इधर-से-उधर दौड़ने लगा। कड़ाकेकी सर्दीमें और जेठकी दुपहरियाके प्रचण्ड घाममें, वर्षा, आँधी, बिजली अथवा वज्राघातकी परवा न करके रात-दिन उस सुगन्धित द्रव्यकी खोजमें जी तोड़कर भागता रहा। उसके मनमें न भय था न शङ्का थी; किन्तु उस सुगन्धकी टोहमें एक चट्टानसे दूसरे चट्टानको वह भागता रहा। भागते-भागते एक जगह उसका पैर इस तरहसे फिसला कि वह एक सीधी चट्टानसे नीचे गिरा जिससे कि उसके प्राणोंपर बन आयी। मरते-मरते उस मृगको यह पता लगा कि जिस सुगन्धसे वह इतना मुग्ध हो रहा था और जिसे पानेके लिये उसने इतना घोर परिश्रम किया, वह उसीकी नाभिसे आ रही है। किन्तु मृगके जीवनका यह अन्तिम क्षण सबसे अधिक सुखदायक था, और उसके चेहरेपर एक अनिर्वचनीय शान्ति थी।

कस्तूरी-मृगका दृष्टान्त।

साधककी आध्यात्मिक साधना उस कस्तूरी-मृगकी दौड़-धूपके समान है। साधनाकी चरम सिद्धिमें साधकके व्यष्टि-जीवनका अन्त हो जाता है; परन्तु उस क्षणमें उसे यह अनुभूति होती है कि एक प्रकारसे अपनी सारी खोज और प्रयत्नका विषय वह स्वयं रहा है और जो कुछ भी सुख-दुःखका अनुभव उसने किया, जो कुछ भी जोखिम उठायी और जो कुछ भी त्याग और जीतोड़ परिश्रम किया, उस सबका एकमात्र लक्ष्य अपने स्वरूपका ज्ञान ही था—जिस स्वरूप-ज्ञानमें वह अपने सीमित व्यष्टिभावको त्यागकर यह अनुभव करता है कि वह वास्तवमें परमात्मासे अभिन्न है और परमात्मा सभी पदार्थोंमें विद्यमान है।

स्वरूपज्ञान ही साधनाका लक्ष्य है।

कौन इन्द्रिय किस काममें लगे ?

कुबेरपुत्र भगवान्‌से कहते हैं—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१०।३८)

हे प्रभो! वाणी आपके गुणोंके गायनमें, कान आपकी कथाके श्रवणमें, हाथ आपके कर्ममें, मन आपके चरण-कमलोंकी स्मृतिमें, सिर आपके निवासस्थान जगत्‌के प्रणाममें और आँखें आपके शरीरभूत संतोंके दर्शनमें लगी रहें।

साधन और उसकी प्रणाली

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीसीतारामजी शास्त्री)

प्रत्येक भाषामें कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिन्हें यदि अकेले प्रयोग किया जाय तो उनका पूरा अर्थ अभिव्यक्त नहीं होता। इसलिये उनके साथ कुछ अन्य शब्द जोड़नेकी आवश्यकता होती है। जैसे कोई कहे कि 'पिताको लाओ' तो इस वाक्यमें केवल 'पिता' शब्द होनेसे अभीष्ट व्यक्तिका बोध नहीं होता। इसलिये उसके पूर्व 'मेरे', 'अपने' अथवा 'रामके'–ऐसे किसी सम्बन्धबोधक शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता होती है; तभी पितृपदवाच्य व्यक्तिका बोध हो सकता है। 'साधन' शब्द भी इसी प्रकारका है। यह 'साध' धातुसे सिद्ध होता है। इसका अर्थ है 'उपाय या युक्ति करना'। अतः जबतक यह निश्चय न हो कि किसका उपाय या युक्ति, तबतक इसका पूरा अर्थ समझमें नहीं आ सकता। इसलिये इसके पहले 'मुक्तिका', 'ब्रह्मप्राप्तिका' या 'ईश्वरप्राप्तिका'–ऐसा कोई पद और जोड़नेकी आवश्यकता होती है। तभी इसका पूरा स्वारस्य अभिव्यक्त होगा। परन्तु लोकमें यह शब्द इतना परिचित हो गया है कि अकेले प्रयोग करनेसे भी इसका पूरा भाव हृदयङ्गम हो जाता है।

अतः इसका अर्थ 'ईश्वरप्राप्तिका उपाय' ऐसा मानकर यहाँ कुछ विचार किया जाता है। आरम्भमें ही ये प्रश्न होते हैं कि ईश्वरप्राप्तिका साधन एक है या अनेक, और वे कौन-से हैं तथा कितने हैं। इन प्रश्नोंका निर्णय करनेके लिये यह भी विचार करना आवश्यक होगा कि ईश्वरप्राप्ति कहते किसे हैं और वह होती भी है या नहीं, तथा ईश्वर किसको कहते हैं और वह है या नहीं। इसी प्रकार यह विचारधारा और भी कई दिशाओंमें चल सकती है। अतः इस प्रश्नपरम्पराके विशेष झमेलेमें न पड़कर हम यह मानकर ही चलेंगे कि ईश्वर है और वह इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके उत्पादन, पोषण, नियन्त्रण, निग्रह, अनुग्रह और विनाश करनेमें समर्थ एक शक्ति अथवा शक्तिशाली तत्त्वविशेष है। उसका आर्यधर्म तथा अन्यान्य धर्मोंमें अनेकों नामसे बोधन होता है। वस्तु एक होनेपर भी भावना-भेदके कारण उसके अनेकों नाम और रूप हैं। सर्वसाधारणमें उसकी सत्ता अनुमान और शास्त्रप्रमाणके आधारपर ही सिद्ध होती है, क्योंकि उसे प्रत्यक्ष देखनेकी शक्ति हर किसीमें नहीं है। अनुमानके लिये विशिष्ट हेतुकी आवश्यकता होती है। यहाँ ईश्वरको स्वीकार किये बिना विश्वके उत्पादनादिकी कोई ठीक व्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिये जगत्के जन्मादि ही उसकी सत्ताके अनुमापक लिङ्ग हैं।

कुछ लोग डार्विनके सिद्धान्तानुसार क्रमिक विकासको ही जगत्की सब प्रकारकी व्यवस्थामें हेतु मानकर ईश्वर या धर्मादिकी कोई आवश्यकता नहीं समझते। किन्तु इस प्रकार तो धर्म-कर्म छूट जानेके कारण संसारमें किसी भी प्रकार शान्ति नहीं रहेगी और न शास्त्रोंका ही प्रामाण्य रहेगा। जड वस्तुओंका क्रमिक विकास भी किसी चेतनकी प्रेरणाके बिना नहीं हो सकता। अतः इस सिद्धान्तमें कोई सार नहीं है और हमें शास्त्रोंमें श्रद्धा रखकर शास्त्रोक्त प्रणालीसे ही ईश्वरकी प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिये।

शास्त्रोंमें ईश्वरसाक्षात्कारके दो स्वरूप बताये हैं—(१) ईश्वरको अनुग्राहकरूपसे अनुभव करना तथा (२) ईश्वरकी सत्तामें अपनेको लीन कर देना। इनमें प्रथम पक्षको 'ईश्वरकी सिद्धि' कहते हैं और द्वितीय पक्षको 'मुक्ति'। ईश्वरसाक्षात्कार इन स्थूल इन्द्रियोंसे नहीं होता। उनमें विशेष सामर्थ्य आ जानेपर ही उसकी अनुभूति होती है। जिस उपायसे वह विशेष सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है, उसीका नाम 'साधन' है। उस सामर्थ्यकी प्राप्तिके लिये सबसे पहले मनपर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। मनका विजय एका-एकी होना बहुत कठिन है। उसके लिये बड़ी एकाग्रताकी आवश्यकता है और यह एकाग्रता सच्चे वैराग्य और दीर्घकाल-तक तत्परतापूर्वक निरन्तर अभ्यास करनेसे ही प्राप्त हो सकती है। सच्चा वैराग्य इसे कहते हैं कि तरह-तरहके भोग्य विषय सामने हों और उन्हें भोगनेके लिये किसी प्रकारका प्रतिबन्धक भी न हो, तो भी उन्हें सेवन करनेके लिये मनकी तनिक भी प्रवृत्ति न हो। यह बड़े-बड़े तपस्वियोंके लिये भी दुर्लभ है। ऐसी स्थितितक पहुँचनेके लिये विषयोंमें दोषदृष्टि करना ही उपाय बताया गया है। अभ्यासका अर्थ है चित्तको बार-बार किसी एक ही लक्ष्यमें लगाना। इसके लिये साकार और निराकार दोनों प्रकारके आलम्बन हो सकते हैं। किन्तु आरम्भमें निराकारमें चित्तको स्थिर करना प्रायः सम्भव नहीं है। इसलिये विष्णु, शिव, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य और दुर्गा आदि साकारस्वरूपोंका ही पहले चिन्तन करना चाहिये। मनकी

चञ्चलताके कारण इनका चिन्तन भी आसान नहीं है। इसीसे पहले षोडशोपचारसे नित्य-प्रति पूजन करनेकी आवश्यकता होती है। पूजनके समय भी मन इधर-उधर जा सकता है, इसलिये उपचार-समर्पणके समय मन्त्रपाठकी विधि है। मन्त्रपाठ केवल पूजनके ही समय होता है; अतः अन्य समय चित्तकी विक्षिप्त वृत्तिको शान्त रखनेके लिये हर समय भगवन्नामजपकी आवश्यकता बतायी है। नाम-जपके समय भी मन इधर-उधर प्रत्यक्ष या परोक्ष विषयोंकी ओर चला जाता है, इसलिये उसे एक जगह फँसानेके लिये झाँझ और मृदङ्गादिकी तालके साथ सुमधुर स्वरसे नामसङ्कीर्तन करना उपयोगी है। इस प्रकार नामसङ्कीर्तनसे लेकर निराकार-ध्यान-पर्यन्त सब प्रकारके साधन चिन्तन या अभ्यासकी पुष्टिके लिये ही हैं। इनकी सहायतासे सब ओरसे हठपूर्वक हटाया हुआ मन असहाय और निर्विण्ण होकर किसी एक ही आलम्बनमें लग सकता है और जब उसे उसके चिन्तनका अभ्यास हो जाता है तो उसकी ओर उसका आकर्षण बढ़ जाता है। इस प्रकार इष्टके प्रति अनुरागकी वृद्धि हो जानेपर फिर उसे सारे लौकिक और अलौकिक विषय तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। फिर किसी प्रकार उसकी उनके प्रति प्रवृत्ति नहीं होती और वह निरन्तर भगवत्-ध्यानमें मग्न रहता है।

जब साधकको इस प्रकार निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन रहने लगता है तो उसे जहाँ-तहाँ अपने प्रियतमकी मधुर मूर्ति-की झाँकी होने लगती है। फिर धीरे-धीरे प्रभुका अनुग्रह होने लगता है और वे अपने भक्तकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये प्रत्यक्षरूपसे उसके सामने प्रकट हो जाते हैं। यही साकार भगवान्‌की प्राप्ति है। यहाँतक पहुँचनेके लिये भक्तको उपर्युक्त समस्त साधना-सोपानोंको पार करना होता है। साकार-चिन्तन-में विशेष प्रगाढ़ता होनेसे फिर आकार स्वयं ही लीन होने लगता है। अतः साकार-चिन्तकके लिये फिर निराकार-ध्यान भी अनायास सिद्ध हो जाता है। इसके पश्चात् निराकार-चिन्तनकी भी अधिक गाढ़ता होनेपर भगवान्‌के उस स्वरूप-का अनुभव होता है, जिसे उपनिषदोंमें 'विद्या' कहा है। इस समय ध्याता-ध्यान-ध्येयरूप त्रिपुटीका भी भान नहीं होता, चित्त केवल चिन्मात्र सत्तामें लीन हो जाता है। उपनिषदोंमें उद्गीथविद्या, मधुविद्या, दहरविद्या, शाण्डिल्यविद्या, उपकोसल-विद्या, भूमविद्या आदि कई विद्याओंके नाम आये हैं। इनमें कुछ नाम तो आरम्भिक आलम्बनकी दृष्टिसे हैं और कोई उसके प्रवर्तक ऋषिकी दृष्टिसे। इन विद्याओंमें यद्यपि कोई बाह्य आलम्बन नहीं रहता, तो भी इनका आरम्भ किसी काल्पनिक आलम्बनको लेकर तो होता ही है। कालान्तरमें अभ्यासकी दृढ़ता होनेपर वह काल्पनिक आलम्बन छूट जाता है और साधक भगवान्‌के शुद्ध स्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है। इस स्थितिको प्राप्त करनेपर वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका अत्यन्ताभाव देखता है और अपनी पृथक् सत्ताको खोकर भगवद्रूपमें ही मिल जाता है। इसीका नाम मुक्ति है।

किन्तु इस स्थितितक पहुँचनेके लिये चित्तशुद्धिकी बड़ी आवश्यकता है। चित्त शुद्ध हुए विना उक्त जप-ध्यानादि साधनोंमें मनुष्यकी रुचि ही नहीं हो सकती। अतः आरम्भमें रुचि न होनेपर भी अपना कर्तव्य समझकर चित्त-को हठपूर्वक इनमें जोड़ना चाहिये। पीछे स्वयं ही इनमें शनैः-शनैः रस आने लगेगा। चित्तकी साधनमें अनायास प्रवृत्ति होनेके उद्देश्यसे ही हमारे ऋषि-मुनियोंने यज्ञ, दान, तप आदि वर्णाश्रम-धर्मोंकी व्यवस्था की थी। अतः जो जिस वर्ण और जिस आश्रममें स्थित है, उसे इच्छा न होनेपर भी अपने धर्मोंका पालन करना ही चाहिये। इससे लौकिक सदाचारकी सुव्यवस्था रहनेके साथ-साथ चित्तमें भगवद्भजन-की योग्यता भी बढ़ती है। जो मनुष्य जिस वर्णमें उत्पन्न हुआ है, उसमें पितृपरम्परासे उसके अनुकूल संस्कार रहते हैं। उन्हें जबरदस्ती हटानेकी चेष्टा करना दुःसाहसमात्र ही है। ऐसा करनेसे व्यवहारमें विशृङ्खलता तो आती ही है, भगवत्प्राप्ति या मुक्तिके मार्गमें भी रोड़े खड़े हो जाते हैं। वस्तुतः वर्णाश्रमोचित कर्म तो भगवत्प्राप्तिके साधन ही हैं। उनके द्वारा तो भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करके साधक बड़ी सुगमतासे सिद्धि लाभ कर सकता है। गीतामें श्रीभगवान्‌ने भी यही बात कही है—

> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
> (१८।४६)
>
> स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
> (१८।४५)
>
> स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
> (३।३५)

इसके सिवा हमारे शास्त्रोंमें एक स्वतन्त्र साधनपद्धति भी है, जिसे योग कहते हैं। इसके द्वारा भी चित्तकी शुद्धि होकर चरम लक्ष्यकी प्राप्ति हो जाती है। इसके कई अङ्ग हैं, उनका क्रमशः अनुष्ठान करनेसे अन्तःकरणके मलका नाश होकर मोक्षपद प्राप्त हो जाता है। योगके कई भेद हैं; उनमें राज-

योग या अष्टाङ्गयोग प्रधान है। इस अष्टाङ्गयोगके महर्षि पतञ्जलिने आठ अङ्ग बताये हैं; यथा—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमेंसे प्रत्येक अङ्गका अभ्यास करते हुए अन्तमें निर्बीज समाधिमें स्थिति होती है। यही मुक्तिपदका अन्तिम सोपान है। किन्तु योगमें प्रगति होना कोई साधारण बात नहीं है। जिनकी देह और अन्तःकरण शुद्ध नहीं हैं, उनका इसके राज्यमें कदापि प्रवेश नहीं हो सकता। इसीलिये पहले यम-नियमादिके विधिवत् पालनकी आवश्यकता होती है, उसके पश्चात् ही धारणादि मनोजयकी भूमिकाओंपर अधिकार होना सम्भव है। इसीसे योगदर्शनमें पहले पाँच अङ्गोंको बहिरङ्ग और अन्तिम तीन अङ्गोंको अन्तरङ्ग साधन माना है, तथा निर्बीज समाधिकी अपेक्षा इन तीनको भी बहिरङ्ग बताया है। यथा—

'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः' (पा० सू० ३।७)
'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य' (पा० सू० ३।८)

भगवान् शङ्कराचार्यने 'साधनपञ्चक' नामका एक पाँच श्लोकोंका ग्रन्थ रचा है। उसमें सब प्रकारके साधनोंका बड़ी कुशलतासे वर्णन किया गया है। वे कहते हैं—

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम्।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसन्धीयता-
मात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम्॥ १॥

'नित्य वेदाध्ययन करो, सम्यक् प्रकारसे वेदोक्त कर्मोंका आचरण करो, उस कर्माचरणसे भगवान्‌की पूजा करो और काम्य कर्मोंकी वासना छोड़ दो। सब प्रकारके पापपुञ्जका नाश कर दो, सांसारिक सुखोंमें दोषदृष्टि करो, परमात्माकी इच्छाका अनुसरण करो और तुरंत ही अपने घरको छोड़ दो'॥ १॥

सङ्गः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढा धीयतां
शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं कर्माशु सन्त्यज्यताम्।
सद्विद्वानुपसृप्यतां प्रतिदिनं तत्पादुका सेव्यतां
ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरोवाक्यं समाकर्ण्यताम्॥ २॥

'सत्पुरुषोंका सङ्ग करो, भगवान्‌में सुदृढ़ अनुराग रक्खो, शम-दमादिका पूर्णतया पालन करो, काम्य कर्मोंको छोड़ दो तथा सच्चे संतोंके समीप जाकर प्रतिदिन उनके चरणोंकी सेवा करो और उनसे एकाक्षर ब्रह्म प्रणवका अर्थ कराओ तथा वेदान्तवाक्योंका श्रवण करो'॥ २॥

वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरःपक्षः समाश्रीयतां
दुस्तर्कात्सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्।
ब्रह्मास्मीति विभाव्यतामहरहर्गर्वः परित्यज्यतां
देहेऽहंमतिरुज्झ्यतां बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम्॥ ३॥

'उन वेदान्तवाक्योंके अर्थका विचार करो, औपनिषद सिद्धान्तका आश्रय लो, कुतर्कसे दूर रहो, श्रुतिसम्मत युक्तियोंका अनुसन्धान करो, 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी भावना करो, नित्यप्रति अभिमानको छोड़ते जाओ, देहमेंसे अहंबुद्धि निकाल लो और बोधवानोंके साथ वाद-विवाद करना छोड़ दो'॥ ३॥

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात्प्राप्तेन सन्तुष्यताम्।
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथा वाक्यं समुच्चार्यता-
मौदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्॥ ४॥

'भूखको व्याधि समझकर उसकी चिकित्सा करो, उसके लिये प्रतिदिन भिक्षारूप औषधका सेवन करो, स्वादिष्ट अन्न मत माँगो; दैवयोगसे जो मिल जाय, उसीसे सन्तुष्ट रहो; सर्दी, गर्मी आदि द्वन्द्वोंको सहन करो; वृथा वचन मत बोलो, उदासीनताकी ही इच्छा करो तथा अन्य लोगोंके प्रति कृपा और कठोरता दोनों ही छोड़ दो'॥ ४॥

एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयतां
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम्।
प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम्॥ ५॥

'एकान्तमें शान्तिसे बैठो और परात्पर ब्रह्ममें चित्तको समाहित करो। सर्वत्र पूर्णब्रह्मका अनुभव करो और इस जगत्‌को उसके द्वारा बाधित देखो। पूर्व-सञ्चित कर्मोंका चिदात्माके आश्रयसे बाध कर दो, भावी कर्मोंसे असङ्ग रहो तथा प्रारब्धका इसी जन्ममें भोग कर लो। [इस प्रकार कर्म-बन्धनसे छूटकर] फिर परब्रह्मरूपसे स्थित हो जाओ'॥ ५॥

उपर्युक्त पाँच श्लोकोंमें आचार्यपादने जिस साधनपद्धति-का वर्णन किया है, वह प्रधानतया विरक्ताश्रमियोंके लिये है; तथापि उसमें जिन शम, दम, तितिक्षा, समाधान एवं वैराग्यादिके अभ्यासपर जोर दिया गया है वे तो सभी

कल्याण-कामियोंके लिये परम आवश्यक हैं। इसलिये आचार्य-के इन उपदेशवाक्योंसे सभी श्रेणी और सभी आश्रमोंके साधक लाभ उठा सकते हैं।

इस प्रकार साधारणतया सर्वसाधारणके लिये जिन साधनोंकी अपेक्षा है, उनका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया। साधक अपनी-अपनी स्थिति और प्रवृत्तिके अनुसार इनमेंसे किसी भी प्रणालीका अनुसरण कर सकते हैं। परन्तु एक बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये कि हम एक बार जिस मार्गको अपने लिये चुन लें, उसपर ही दृढ़तापूर्वक बढ़ते चले जायँ। यह नहीं कि आज कुछ किया और कल कुछ और करने लगे। जो बार-बार अपने मार्गोंको बदलते रहते हैं, वे मार्गोंमें ही भटकते रहते हैं, लक्ष्यतक कभी नहीं पहुँच पाते। इसलिये अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिये कि सारे मार्ग उस एक ही लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये हैं; यदि आप दूसरी ओर न देखकर एक ही मार्गपर बढ़ते चले जायँगे तो एक दिन अवश्य अपने ध्येयको पा लेंगे। भगवान् अपनी प्राप्तिके साधनोंमें मनुष्यमात्रकी प्रवृत्ति करें और वे उनके आश्रयसे उत्तरोत्तर प्रभुकी ओर अग्रसर हों—यही अन्तमें हमारी प्रार्थना है।

कल्याणका साधन-सर्वस्व

(लेखक—ज्ञानतपस्वी श्रीगीतानन्दजी शर्मा)

गीताकारके मतमें—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥

(१८। १८)

अर्थात् कोई कर्म हो—यहाँतक कि ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य (तत्-त्वम्-असि) आदि ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म ही क्यों न हों—उसकी प्रेरणा एवं संग्रह अवश्य रहते हैं।

साधन भी एक कर्म है। इस दृष्टिसे उक्त त्रिपुटी-नियम उसमें भी लागू होता है।

इसलिये साध्य क्या है, साधक कौन है और साधन कैसा है—इनका विचार पहले किया जाता है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

(२। ६६)

सुखतक आकर प्रश्न-परम्परा शेष हो जाती है। अतएव मनुष्यका—किं बहुना, प्राणिमात्रका—चरम साध्य सुख है, यह सिद्धान्त हुआ।

इस सुखके स्वरूपका किञ्चित् परिचय गीतामें यों दिया है—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

(६। १९—२३)

योगवर्णनके प्रसङ्गमें यह कहा जानेपर भी इसमें सुखका स्वरूप यथार्थभावसे चित्रित किया गया है।

सांसारिक सुख अनात्मपदार्थके योगसे उत्पन्न होता है; इस कारणसे यह प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव एवं अत्यन्ताभावसे भी ग्रस्त हो जाता है। १९ वें श्लोकमें उपमाद्वारा कहा गया है कि यह सुख अव्यय है, न्यूनाधिकता-से रहित है। उपमा एकदेशीय होती है। यहाँ केवल अचलतामें तात्पर्य है। अन्यथा वायुरहितता समान रहनेपर भी तेल, बत्ती आदिकी विषमतासे दीपशिखाका छोटा-बड़ापन अनिवार्य है। अस्तु,

'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।'

(यो० द० विभूति० १०)

—यह सूत्र यहाँ अनुसन्धेय है। २०वें श्लोकसे स्पष्ट है कि इसके आत्मजन्य होनेके कारण ही यह अविकारी है। आत्मा ब्रह्मस्वरूप है और—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
(गीता १४ । २७)

'[अव्यभिचारी भक्तियोगके गुणातीत एवं ब्रह्मभावमें हेतु होनेका समर्थन करते हैं] क्योंकि मैं (ब्रह्म, परमात्मा) ब्रह्मकी (अर्थात् त्रिगुणमय महद्ब्रह्मकी—१४ । ३, ४) प्रतिष्ठा हूँ, तथा अविनाशी अमृत (सत्) सनातन धर्म (चित्) एवं अखण्ड एकरस सुख (आनन्द) की भी प्रतिष्ठा (आधार) हूँ ।'

अतः आत्मयोगजन्य सुख भी अविनाशी एवं अखण्ड, एकरस है । एक प्रसङ्गप्राप्त शङ्काका निराकरण किया जाता है —

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
(गीता १५ । ७)

उपर्युक्त श्लोकमें भगवान् तो जीवात्माको अपना अंश बताते हैं । इसलिये आत्मयोगजनित सुखमें ब्रह्मानन्दकी सम्पूर्ण अंशमें समानता कैसे होगी ?

जीव-ब्रह्मकी एकताकी मीमांसा वेदान्तसूत्रमें की गयी है—

'अंशो नाना व्यपदेशात् ।'

जीवको नाना क्यों कहा ? 'बहु स्याम्' ऐसा श्रुतिवचन है ।

समाधान यह है कि नानात्वका हेतु व्यपदेश (संज्ञा या प्रसिद्धि) है ।

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।' अर्थात् नाम-रूपमें नानात्व, बहुत्व है; वस्तु एक ही है ।

ऊपर ६।२३में सुखका एक बहुत ही सारगर्भ विशेषण दिया गया है । वह है 'दुःखसंयोगवियोगम् ।'

इस लोकको भगवान् असुख और दुःखालय कहते हैं (८ । १५; ९ । ३३) । 'असुख'के अन्तर्वर्ती नञ् (अ) को पर्युदास (सुखभिन्न=दुःख) तथा प्रसज्यप्रतिषेध (सुखाभाव) दोनों ही अर्थोंमें लिया गया है । अर्थात् 'दुःखसंयोगवियोगम्' पदमें दुःखका अर्थ हुआ—यह देह । इसमें चार प्रकारका दुःख है—

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
(गीता १३ । ८)

इस श्लोकार्द्धमें बौद्धदर्शनका मानो सार-तत्त्व आ गया है । अस्तु,

इस संसारमें आदिसे अन्ततक इतना दुःख ओतप्रोत-भावसे रहनेपर भी—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
(गीता ३ । ३३)

ज्ञानी मनुष्यका भी उसके साथ अभिनिवेश नहीं छूटता ।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ।
(यो० द० सा० ९)

कर्मसिद्धिके जो पाँच हेतु कहे गये हैं (१८ । १४), उनमें चेष्टा भी एक है । चेष्टा सुखका नाम है । ज्ञानी होकर भी मनुष्य गुणातीत नहीं हो जाता । क्योंकि ज्ञान भी त्रिगुणभेदसे भिन्न है और गुण मनुष्यद्वारा नित्य कर्म कराते हैं । अतः ज्ञानीको भी किसी-न-किसी सुखकी अपेक्षा रहती ही है । यद्यपि योगभाष्यकार कहते हैं कि 'सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति—मा न भूवम्, भूयासमिति' (सभी प्राणियोंको यह इच्छा नित्य ही बनी रहती है कि मेरा नाश न हो, मैं बना ही रहूँ), तथापि मृत्युका भय केवल प्रधान अभिनिवेशरूप क्लेश है । उसी तरहसे अन्यान्य प्रकारका भी अभिनिवेश होता है । जैसे राग सुखानुशयी (सुखका स्मरण दिलानेवाला) और द्वेष दुःखानुशयी (दुःखका स्मरण दिलानेवाला) क्लेश है, वैसे ही सुख-दुःख-विवेकज्ञानशून्य मोहरूप क्लेशका नाम अभिनिवेश है ।

फलतः यह बात आयी कि संसारमें दुःखबोध होनेपर भी उसको न त्यागकर यदि उसका दुःखांश मात्र निवृत्त किया जा सके और उसका सुखांश बना रहे तो मूढवत् विद्वान्को भी अभीष्ट ही होगा । परन्तु द्वन्द्वका रहना अनिवार्य होनेसे दुःख-का संयोग भी रहे, वियोग भी रहे; तो भी दुःखाभाव सिद्ध होनेसे मनुष्यको वह इष्ट है । उसका आत्मानन्द तो नष्ट हो ही नहीं सकता ।

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत् ॥
(श्रुतिः)

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।
(श्रुतिः)

इस प्रकार साध्यका निश्चय हुआ । अविनाशी सुख ही

सबका ध्येय है। अब इसका साधन क्या है, यह देखना चाहिये। साध्यके विचारमें ही एक प्रकारसे यह प्रश्न आ जाता है; क्योंकि यह सुख 'योग'-जन्य है, ऐसा कहा गया है। तथापि यह बात सामान्यरूपसे ही कही गयी है। अब इस विषयमें कुछ विशेष कथन किया जाता है।

जिसको प्रस्थानत्रयी कहते हैं, वह परमपुरुषार्थकी सीढ़ी है। उसका उल्लेख गीताके पुष्पिकाकल्प वाक्यमें यों पाया जाता है—'उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे।'

इन तीनों सीढ़ियोंपर चढ़ना आवश्यक है, तथापि इन तीनोंका परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध होनेसे सबका एक साथ अनुष्ठान होता है। यहाँ अवतारके विषयमें कुछ बातें अवश्यज्ञातव्य हैं। इनका प्रस्तुत विषयसे सम्बन्ध सुस्पष्ट है।

गीताके अनुसार अवतार चार प्रकारके होते हैं। यथा—

(१) 'स्वयं भगवान्'

(१८।७५)

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(४।६)

(२) 'साक्षाद् भगवान्'

(१८।७५)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

(४।७)

(३) 'योगेश्वर भगवान्'

(१८।७५)

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(४।८)

(४) 'कृष्ण भगवान्'

(१८।७५)

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(४।९)

इस प्रकार भगवान्ने 'स्वयं' की हैसियतसे उपनिषद् दी; साक्षात्की हैसियतसे ब्रह्मविद्या, योगेश्वरकी हैसियतसे योगशास्त्र कहा और श्रीकृष्णकी हैसियतसे अर्थात् 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' 'एवं मानुषीं तनुमाश्रितम्' के अनुसार श्रीकृष्ण-रूप अर्जुनके सखाकी हैसियतसे श्रीकृष्णार्जुनसंवाद किया।

इस स्थलपर भगवान्के कहे हुए योगशास्त्रसे ही मेरा प्रयोजन है। यह अर्जुनके २।८ श्लोकमें पूछे हुए प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।—

इसके अष्टाङ्ग छठे अध्यायमें वर्णन किये गये हैं। १-२४ श्लोकोंमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार—इन पाँच बहिरङ्ग साधनोंका वर्णन करके, २५ वें श्लोकमें धारणा ('देशबन्धश्चित्तस्य धारणा')—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।

२६ वें श्लोकमें ध्यान ('तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्')—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

तथा २७ वें श्लोकमें समाधि ('तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः')—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

—ये तीन अन्तरङ्ग साधन कहकर—

(विज्ञ पाठकोंको कहना अनावश्यक है कि 'त्रयमेकत्र संयमः' के अनुसार २५, २६, २७में धारणादित्रय एककालीन हैं।) इसके बाद २८वें श्लोकमें वितर्कानुगत,

२९ ,, विचारानुगत,
३० ,, आनन्दानुगत और
३१ ,, अस्मितानुगत

सम्प्रज्ञातका स्वरूप दिखाकर—

३२वें श्लोकमें असम्प्रज्ञातको कहा है।

इसका योगदर्शनोक्त लक्षण यह है—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।

(यो० द० समाधि० १८)

अब अन्तमें साधकका विचार शेष रहा। अर्थात् योगानुष्ठानका अधिकारी कौन है, यह जानना चाहिये।

गीता इसका उत्तर यों देती है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

(६।३)

यदि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति', यदि 'नाय-

मात्मा बलहीनेन लभ्यः', यदि 'नास्ति योगात् परं बलम्', तब तो गीताका उपदेश (भगवान्के स्वमुखसे दिया हुआ) हमलोगोंको नहीं भूलना चाहिये—

'तस्माद् योगी भवार्जुन ।' (६ । ४६)

यहाँपर 'तस्मात्'का कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥

तपस्वीसे तपोयोगी श्रेष्ठ है, क्योंकि—

'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति ।' (२ । ४०)

ज्ञानीसे ज्ञानयोगी श्रेष्ठ है, क्योंकि—

'प्रत्यवायो न विद्यते' (२ । ४०)

और कर्मीसे कर्मयोगी श्रेष्ठ है, क्योंकि—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ (२ । ४०)

अभिक्रम (प्रारम्भ) का नाश क्यों नहीं ? व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि 'एक' होनेसे । प्रत्यवाय—न करनेमें दोष क्यों नहीं ? ज्ञानके 'निस्त्रैगुण्य' होनेसे । थोड़े-से कर्मसे भी महान् भयसे रक्षा कैसे होती है ?

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

—इसलिये ।

गीतोक्त ज्ञानके आधारपर यह लेख प्रस्तुत किया गया है । इस ज्ञानका हमलोगोंको मिलना कितना कठिन है, इसका निदर्शक एक सुप्रसिद्ध श्रौतवचन (योगभाष्यकार माधवाचार्यके मतानुसार) देकर इसकी इति करता हूँ—

अन्धो मणिमविन्दत
तं निरङ्गुलिरावयत् ।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्
तमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥

दिव्यदृष्टिशून्य (अतएव अन्ध) सञ्जयको (व्यासप्रसादसे) गीतासंवादरूप मणि मिला ।

स्वयं लिखनेमें असमर्थ (अतएव निरङ्गुलि) भगवान् वेदव्यासजीने उस मणिको महाभारतके अंदर ग्रथित किया ।

गजके मस्तकको धारण करनेवाले (अतएव अग्रीव) गणेशजीने उसको गलेमें धारण किया अर्थात् उसका मर्मार्थ समझकर लिखा ।

मौनव्रती (अतएव अजिह्व) विद्वानोंने उसकी प्रशंसा की—

'यतो वाचो निवर्तन्ते'

संतोंकी प्रत्येक चेष्टा लोककल्याणके लिये होती है !

श्रीवसुदेवजी कहते हैं—

भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम् । कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम् ॥
भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च । सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४-५)

हे देवर्षे ! जैसे माता-पिताका शुभागमन बालकोंके हितके लिये और भगवान्की ओर चलनेवाले संतोंका शुभागमन तापतप्त प्राणियोंके हितके लिये होता है । वैसे ही आपका शुभागमन समस्त प्राणियोंके परम कल्याणके लिये है । देवताओंके आचरण कभी प्राणियोंके सुखके लिये होते हैं तो कभी दुःखके लिये भी हो जाते हैं । परन्तु जो आपके-जैसे महात्मा हैं, जो भगवन्मय हैं, उनकी तो प्रत्येक चेष्टा ही प्राणियोंके सुखके लिये होती है ।

गीताकी साधना

(लेखक—डा० एस्० के० मैत्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

श्रीमद्भगवद्गीता वस्तुतः साधनाका ग्रन्थ है। यह न ज्ञानपरक है न कर्मपरक और न भक्तिपरक ही है, यद्यपि इन सबका विचार आत्मसाक्षात्कारकी दृष्टिसे इसमें अवश्य हुआ है।

गीता योगशास्त्र है, 'योग' शब्दका अर्थ—

भगवद्गीता वास्तवमें योगशास्त्र है। प्रत्येक अध्यायके अन्तमें ये शब्द आते हैं—'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे''''''योगो नाम ''''''अध्यायः।' प्रत्येक अध्यायको एक-एक योगके नामसे कहा गया है—जैसे, 'अर्जुनविषादयोग', 'सांख्ययोग', 'कर्मयोग' इत्यादि।

इस 'योग' शब्दका अर्थ क्या है? श्रीयुत डी० एस्० शर्मा अपनी 'भगवद्गीता-परिचय' (Introduction to the Bhagavadgita) नामक पुस्तकमें योगका अर्थ भगवान्‌के साथ संयोग या भगवत्साहचर्य बतलाते हैं। इसी प्रकार महात्मा श्रीकृष्णप्रेम भी अपने 'गीतोक्त योग' (The Yoga of the Bhagavadgita) नामक ग्रन्थमें यों कहते हैं—'योगका अभिप्राय यहाँ 'योग' नामसे परिचित किसी विशिष्ट साधनपद्धतिसे—ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग अथवा महर्षि पतञ्जलिके अष्टाङ्गयोगसे नहीं है; प्रत्युत इसका अभिप्राय उस मार्गसे है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने परिच्छिन्न व्यष्टिस्वरूपको अनन्त अपरिच्छिन्न परमात्माके साथ युक्त कर देता है।'

इस प्रकार योगका अर्थ है ईश्वरके साथ जुड़ जाना। पर ईश्वरके साथ जुड़ जानेके तीन अर्थ होते हैं—(१) अपने साथ युक्त होकर अपने व्यष्टिस्वरूपका साक्षात्कार करना, (२) विश्वके साथ एक होकर विश्वात्माका साक्षात्कार करना और (३) उपर्युक्त दोनों पूर्णयोगोंका योग करके आत्मसाक्षात्कार या ईश्वरसाक्षात्कार करना। इस प्रकारसे गीतामें जिन विभिन्न योगोंका वर्णन किया गया है, उनके तीन मुख्य विभाग किये जा सकते हैं—(१) जिनका ध्येय व्यष्टिचेतन या जीवात्माका साक्षात्कार कराना है, (२) जिनका लक्ष्य समष्टिचेतन या विश्वात्माका साक्षात्कार कराना है और (३) जिनका लक्ष्य पूर्ण आत्मसाक्षात्कार अथवा ईश्वरसाक्षात्कार कराना है। हाँ, एक बात आरम्भमें ही अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। यद्यपि विषयको समझानेकी सुविधाके लिये उपर्युक्त तीन विभाग किये जा सकते हैं, तथापि यह बात ध्यानमें रहे कि गीता एक अविच्छिन्न अनुभूतिको मानती है, खण्ड-खण्ड अनुभूतिमें विश्वास नहीं करती। इस अनुभूतिके अठारह साधन हैं, जो गीताके अठारह अध्यायोंमें वर्णित हैं।

अधिकारी कौन है?

साक्षात्कारका प्रसङ्ग छेड़नेके पूर्व दो एक बातोंको स्पष्ट कर लेना जरूरी है। पहली बात यह है कि गीतामें जिस अनुभूतिका वर्णन है, वह किसकी अनुभूति है—एक सामान्य मनुष्यकी या किसी असाधारण ज्ञानी पुरुषकी? यह प्रश्न बड़े महत्त्वका है। क्योंकि गीताने यदि किसी असाधारण विशिष्ट-शक्ति-सम्पन्न पुरुषको होनेवाली अनुभूतिका ही वर्णन किया हो, तब तो यह सबके कामका ग्रन्थ नहीं रह जाता; कुछ थोड़े-से विशिष्ट लोग ही इससे लाभ उठा सकते हैं। परन्तु यदि सामान्य मनुष्यकी अनुभूतिका इसमें प्रतिपादन हुआ है तो यह सभी सामान्य मनुष्योंके कामकी चीज है।

गीतामें अर्जुनकी अनुभूतिका वर्णन किया गया है। अर्जुन कौन है? वह कोई साधारण मनुष्य है या कोई असाधारण शक्ति-सम्पन्न प्रबुद्ध व्यक्ति? अर्जुन क्षत्रिय है, उत्तम कुलका है—चन्द्रवंशमें उत्पन्न हुआ है, क्षात्रोचित शिक्षा उसे मिली है, द्रोणाचार्य-जैसे महान् धनुर्विद्याविशारदसे उसने युद्ध-विद्या भी सीखी है। पर अध्यात्मविद्यामें वह कोरा ही है। ब्रह्मविद्यामें उसकी कोई गति नहीं है और न इस ओर उसका कोई विशेष झुकाव ही है। एक तरहसे वह वहमी भी है, क्योंकि वह असगुन देखता है (निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव)। उसमें भावुकता विशेष है। अपने स्वजनोंको अपने विरुद्ध युद्धमें खड़े देख उसका शरीर काँप उठता है, अङ्ग शिथिल हो जाते हैं और धनुष हाथसे छूट जाता है। ये लक्षण किसी विशेष आध्यात्मिक उन्नतिके नहीं हैं, बल्कि निम्नावस्थाके ही हैं। युद्धसे हटनेका उसका निश्चय भी किसी महान् नैतिक सिद्धान्तसे प्रेरित नहीं

है। वह अहिंसावादी नहीं था, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। उसकी यह स्थिति उसके भावोंकी प्रबलताके कारण हो गयी थी, जिनसे उसका विवेक दब गया था। युद्ध न करनेके लिये जो युक्तियाँ उसने पेश की थीं, वे सत्याभासके सिवा और कुछ भी नहीं और इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' कहकर जो उसकी चुटकी ली, वह ठीक ही थी। उसने स्वयं ही यह स्वीकार किया है कि मेरी बुद्धि शोकसे अभिभूत हो गयी है, भ्रमित हो गयी है, मैं यह निर्णय नहीं कर पाता कि मेरा क्या कर्तव्य है (गीता २। ७)। इसलिये यह कहना कि युद्धसे हटनेमें अर्जुनका बहुत ऊँचा भाव था, सरासर गलत है। श्रीशर्माजीने अपने उपर्युक्त ग्रन्थमें इस बातको बड़ी खूबीके साथ प्रमाणित किया है। इसीलिये मैं मानता हूँ कि अर्जुन एक सामान्य मनुष्य ही था। अवश्य ही वह उपदेशका अधिकारी था, अन्यथा जगद्गुरु भगवान् उसे अपने उपदेशका निमित्त न बनाते। उसमें विनय है, यद्यपि वह अहङ्कारसे सर्वथा रहित नहीं; क्योंकि जहाँ उसने कहा है 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' (मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम्हारी शरणमें हूँ, मुझे शिक्षा दो), वहाँ तुरंत ही उसने यह भी कहा है कि 'न योत्स्ये' (मैं लड़ूँगा नहीं)। अर्जुन अधिकारी तो है, परन्तु ज्ञानी अथवा अध्यात्ममार्गमें बहुत आगे बढ़ा हुआ नहीं। अर्जुनके इस अधिकारको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भगवत्-प्राप्तिके क्षेत्रमें अर्जुनके लिये जो कुछ साध्य है, वह किसी भी सामान्य मनुष्यके लिये साध्य है, यदि वह सच्चा जिज्ञासु हो। यह कहना भी ठीक नहीं है कि अर्जुनको दिये हुए उपदेशके अधिकारी केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही हो सकते हैं, दूसरे नहीं। गीताकी दृष्टि अत्यन्त उदार है। अठारहवें अध्यायकी समाप्तिमें कहा गया है—

> श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
> सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥
>
> (गीता १८। ७१)

केवल असूयारहित श्रद्धा होनी चाहिये। जिसमें ऐसी श्रद्धा है, वही इस उपदेशका अधिकारी है। परन्तु यह बात तो सभी उपदेशोंके लिये लागू है। दोषदृष्टियुक्त बुद्धिसे किसी भी उपदेशका ग्रहण नहीं हो सकता। गीतोपदेशका अधिकार विशिष्ट वर्णोंको ही नहीं, सबको है—जो भी उसे श्रद्धासे ग्रहण करना चाहें।

गीतोपदेशका प्रसङ्ग

दूसरा प्रश्न यह है कि वह प्रसङ्ग या आकस्मिक घटना क्या है, जिससे गीतोपदेशका आविर्भाव हुआ? आत्माकी ओर मुड़नेकी बुद्धि किसी ऐसे ही प्रसङ्गसे हुआ करती है, जिससे जीवकी धर्मबुद्धि आन्दोलित हो उठे, उसके लिये आत्माके सिवा और कोई सहारा न जान पड़े। गीताके पहले अध्यायमें इसी प्रसङ्गका वर्णन है। दूसरे अध्यायके ४ से ८ तकके श्लोकोंमें भी यही प्रसङ्ग है। यह है अर्जुनके भाव और कर्तव्यके बीचमें युद्ध। अर्जुनकी मानसिक स्थितिका सच्चा चित्र पहले अध्यायके २९ वें और ३० वें श्लोकोंमें खींचा गया है। उससे उसकी अतिशय भावुकता प्रकट होती है, जिसके कारण उसकी बुद्धि धर्मसङ्कटमें पड़कर भ्रमित हो गयी है। ऐसा धर्मसङ्कट मनुष्यके लिये कोई बहुत असाधारण बात नहीं है। भय अथवा शोकके प्रसङ्गमें ऐसा अनुभव बहुतोंको होता है। अर्जुनके सामने अपने स्वजनोंको ही मारनेका प्रसङ्ग उपस्थित था। केवल इतनेसे ही उसके मनमें धर्मसङ्कट उपस्थित न होता; पर बात यह थी कि उसके अंदर छिपे-छिपे यह बुद्धि भी अपना काम कर रही थी कि इस युद्धमें लड़ना तो मेरा कर्तव्य है। उसके अव्यक्त मनमें यह जो कर्तव्य-बुद्धि छिपी हुई थी, उसीके प्रभावको हटानेके लिये वह इसके विपरीत युक्तियोंको सामने रख रहा था। उसके मनोभाव ही अपने असली रूपको छिपानेके लिये इन युक्तियोंका जामा पहन रहे थे। फ्रूड और उनके शिष्योंके ग्रन्थोंका जिन्हें कुछ भी परिचय है, उनसे भावोंकी—अपने-आपको छिपानेकी यह कला छिपी नहीं है। अन्ततः ४६ वें श्लोकमें जब अर्जुन यहाँतक कह देता है कि 'कौरव हाथमें शस्त्र लेकर, मेरे हाथमें शस्त्र न रहते, मुझे मार डालें—यही मेरे लिये अधिक अच्छा होगा।' तब परदा फट जाता है और उसके मनकी असली हालत जाहिर हो जाती है। जिसकी बुद्धि भावोंसे अभिभूत हो गयी है, उसीके मुँहसे ऐसी बात निकल सकती है। अतएव उसके अव्यक्त मनमें काम करनेवाली उसकी अस्पष्ट कर्तव्य-बुद्धि तथा उसके भावोंके बीच होनेवाला युद्ध ही यह धर्मसङ्कट उपस्थित कर देता है।

ऐसे धर्मसङ्कटको तब योग क्यों कहा है? अर्जुनकी इस स्थितिका 'अर्जुनविषादयोग' नाम क्यों रक्खा गया? यह तो योगके सर्वथा विपरीत अवस्था है। यह सच है कि अर्जुनकी बुद्धि भ्रमित हो गयी है, मूढ़ हो गयी है; पर यह मोह—यह

मूढ़ावस्था भगवत्प्राप्तिकी पहली सीढ़ी है और इसलिये इसे 'योग' कहना ठीक ही है। आध्यात्मिक अनुभूतिकी मनोगत अवस्थाओंका पूर्ण परिज्ञान गीताके वक्ताको था, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। अनेकानेक साधु-महात्माओं और पैगम्बरोंके जीवनमें यह बात देखनेमें आती है कि इसी प्रकारके विषाद और मानसिक सङ्कटोंमें पड़कर ही वे साधनाके पथपर आरूढ़ हुए। उदाहरणार्थ—रोग, जरा और मृत्युके दृश्य देखकर ही बुद्धदेवके चित्तपर ऐसा आघात पहुँचा कि वे राजपाट त्यागकर सत्यकी खोजमें बाहर निकल पड़े। साधारण मनुष्योंमें भी यह देखा जाता है कि जब किसी मनुष्यको कोई महान् नैराश्य या शोक आकर हिला डालता है, तब वहींसे उसका एक नवीन आध्यात्मिक जीवन आरम्भ होता है। इसीलिये अर्जुनके विषादको योग कहना ठीक ही है, यद्यपि योगके सब लक्षण उसमें विद्यमान नहीं हैं।

गीताका योग और उसके व्यावहारिक लक्षण

अब श्रीमद्भगवद्गीताका योग क्या है, इसको हम देखें। गीताने योगके कुछ सामान्य लक्षण बतलाये हैं, जिन्हें हम योगके तटस्थ या व्यावहारिक लक्षण कह सकते हैं। प्रत्येक प्रकारके योगमें ये लक्षण होने ही चाहिये, केवल एक विषाद-योगमें नहीं होते।

प्रत्येक योगके व्यावहारिक लक्षण गीताके विभिन्न अध्यायोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे बतलाये गये हैं। मुख्य-मुख्य लक्षण ये हैं—कर्मफलकी इच्छाका न होना (२। ४७; ४। २०; ५। १२), विषयोंके प्रति अनासक्ति (२। ४८; ३। १९), समत्व (२। ४८), निष्कामता (४। १९), सुख-दुःख एवं हानि-लाभमें समता (२। ३८), शीतोष्ण एवं मानापमानमें उदासीनता (६। ७; १२। १८), तथा मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, बन्धु आदिमें पक्षपात-राहित्य (६। ९)। इन सबको एक शब्दमें कहें तो 'विषयोंसे अनासक्ति' कह सकते हैं। ये लक्षण अभावात्मक हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक योगमें कुछ भावात्मक लक्षण भी हैं—जैसे सब कर्म भगवान्‌को अर्पण करना (३। ३०; ९। २७), सब अवस्थाओंमें सन्तुष्टि (१२। १९; १२। १४), मनको भगवान्‌में लगाना (१२। ७ और ८)। और भी कई भावात्मक लक्षण गिनाये गये हैं, पर उन सबका अन्तर्भाव उपर्युक्त तीन लक्षणोंमें हो जाता है।

भिन्न-भिन्न योगोंके व्यावहारिक लक्षणोंमें जो विलक्षण साम्य है यह कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, सांख्ययोगी, भक्तियोगी आदि भिन्न-भिन्न योगियोंके वर्णन मिलाकर पढ़नेसे प्रत्यक्ष हो जाता है। स्थितप्रज्ञ या सांख्ययोगी और भक्तिमान् या भक्तियोगीके लक्षण देखिये—

स्थितप्रज्ञके लक्षण

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(गीता २। ५६-५७)

भक्तिमान्‌के लक्षण

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
(गीता १२। १७—१९)

इन्हीं लक्षणोंको १४ वें अध्यायके गुणातीतके लक्षणोंसे मिलाइये—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
(गीता १४। २४-२५)

तीनों ही वर्णनोंमें कितना विलक्षण साम्य है। इससे यही बात सिद्ध होती है कि कुछ ऐसे सामान्य लक्षण हैं, जो प्रत्येक योगमें होते ही हैं।

इन व्यावहारिक लक्षणोंका गीतामें बारंबार वर्णन होनेसे गीताके वास्तविक सिद्धान्तके सम्बन्धमें बहुतोंको भ्रम हो जाता है। जैसे कुछ लोगोंकी यह धारणा है कि गीताका सिद्धान्त कर्मयोग ही है, क्योंकि योगके उपर्युक्त सब व्यावहारिक लक्षण इसमें मिलते हैं। परन्तु ऐसा कहना इस बातको भुला देना है कि ये लक्षण जितने कर्मयोगमें मिलते हैं उतने ही सांख्य या ज्ञानयोग, ध्यानयोग या भक्तियोगमें भी मिलते हैं। इनमेंसे किसी भी योगमें इन सब लक्षणोंका

मिलना इस बातका प्रमाण नहीं है कि गीतामें उसी योगका विशेषरूपसे प्रतिपादन हुआ है ।

गीताने जर्मन-तत्त्ववेत्ता कांटकी तरह केवल धर्म या नीतिके व्यावहारिक लक्षण ही नहीं दिये हैं, बल्कि प्रत्येक योगके वास्तविक या स्वरूपभूत लक्षण भी बतलाये हैं। दीवानबहादुर के० एस्० रामस्वामी शास्त्री अपनी 'Problems of the Bhagavadgita' (भगवद्गीताके विचारणीय विषय) नामक पुस्तकमें लिखते हैं—'आत्म-संयम, कामनाका त्याग, प्राणिमात्रसे प्रेम, अहङ्कारशून्यता, निर्ममता, शीतोष्ण, सुख-दुःख एवं निन्दा-स्तुति आदिमें समता तो सभी योगोंके सामान्य लक्षण हैं; पर कर्मयोग कर्मपर विशेष जोर देता है, राजयोग ध्यानपर, भक्तियोग भक्तिपर और ज्ञानयोग ज्ञानपर विशेष जोर देता है।' प्रत्येक योगका एक निश्चित भावात्मक लक्षण है, वही उसके लक्ष्यका निर्देश है। जैसे कर्मयोगका निश्चित लक्ष्य लोक-संग्रह अर्थात् सब लोगोंका कल्याण है, ज्ञानयोगका लक्ष्य 'वासुदेवः सर्वमिति' यह ज्ञान है, सांख्ययोगका लक्ष्य ब्राह्मी स्थिति (२ । ७२) है, और राजयोग या ध्यानयोगका लक्ष्य ब्रह्मसंस्पर्शरूप अक्षय सुखकी प्राप्ति (६ । २८) है। इसी प्रकार विश्वरूपदर्शनयोगका लक्ष्य भगवान्‌के विश्वरूप-का दर्शन है और भक्तियोगका लक्ष्य भगवान्‌का अतिशय प्रिय होना (१२ । २०) है । इस प्रकार सामान्य व्याव-हारिक लक्षणोंके अतिरिक्त प्रत्येक योगका अपना एक निश्चित भावात्मक स्वरूप भी है ।

गीता किसी एक ही योगका उपदेश देती है या सभी योगोंको एक-सा महत्त्व देती है ?

इस प्रश्नने गीताके सम्बन्धमें बड़े-बड़े वाद खड़े कर दिये हैं! पूर्वके महान् आचार्योंने गीताको ज्ञान अथवा भक्तिका प्रतिपादक ग्रन्थ माना; परन्तु लोकमान्य तिलकने इसे कर्मयोग-शास्त्र कहा है । यहाँ इस विवादकी एक-एक बातको लेकर चर्चा करना स्थानाभावके कारण असम्भव है। पर दो-एक बातें कही जाती हैं, जिनसे यह मालूम होगा कि गीताका प्रतिपाद्य कोई एक ही विशिष्ट योग हो और अन्य सब योग उसके साधक हों—ऐसी बात नहीं है । यदि ऐसी बात होती तो अन्य योगोंका इसमें इतना विस्तार होनेका कोई कारण नहीं था; केवल एक ही विशिष्ट योगका विस्तारसे निरूपण करके यह कह देना पर्याप्त था कि अन्य सब योग उसीके सहायक अथवा अन्तमें उसीमें मिल जानेवाले हैं। पर गीतामें इस तरहकी कोई बात नहीं कही गयी है । यह सही है कि कहीं-कहीं विभिन्न योगोंको अभिन्न बताया गया है, जैसे—पाँचवें अध्यायके ४थे और ५वें श्लोकोंमें सांख्ययोग और कर्मयोगको स्पष्ट शब्दोंमें अभिन्न तथा एक ही लक्ष्यतक पहुँचानेवाला बतलाया गया है। उसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें यह बात भी कही गयी है कि कर्मसंन्यास अर्थात् सांख्ययोग-की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है । परन्तु यहाँ हमें इन विभिन्न वचनोंका प्रसङ्ग भी अच्छी तरह देख लेना चाहिये। पाँचवें अध्यायके उपक्रममें अर्जुनने पूछा है कि 'हे कृष्ण ! आप एक ओर तो कर्मोंके संन्यासकी प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर कर्मयोगको अच्छा बतलाते हैं; अतः इनमें जो उत्तम फल देनेवाला हो, वह मार्ग मुझे सुनिश्चितरूपसे बताइये।' ऊपरके वाक्य इसी प्रश्नके उत्तरमें कहे गये हैं। यथार्थमें चौथा अध्याय कर्मसंन्यासका प्रतिपादन नहीं करता, जैसा कि उसके इन दो अन्तिम श्लोकोंसे सर्वथा स्पष्ट है—

> योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
> आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥
> तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
> छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥

इस स्पष्टोक्तिमें सन्देहकी कोई गुंजायश ही नहीं है । 'आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति' इन पदोंका तो कुछ अर्थ ही न रह जाय, यदि इन श्लोकोंको कर्मसंन्यासका प्रतिपादक माना जाय। फिर भी अर्जुनके मुखसे जो सन्देह प्रकट किया गया है उसका अभिप्राय, जैसा कि लोकमान्यने बतलाया है, यही मालूम होता है कि भविष्यमें चतुर्थ अध्यायके तात्पर्यके विषयमें किसीको सन्देह हो जाय तो उसके समाधानके लिये पाँचवें अध्यायमें अर्जुनकी शङ्का और उसका फिर समाधान है ।

परन्तु 'संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ' कहनेमें गीताका क्या अभिप्राय है? गीताका अपना सिद्धान्त तो यह नहीं है कि कर्मसंन्याससे मोक्ष होता है, बल्कि इसके विपरीत तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें यह स्पष्ट कहा गया है कि कर्मसंन्याससे सिद्धि नहीं प्राप्त होती । फिर भी संन्यास और कर्मयोग दोनोंको ही जो निःश्रेयसकर कहा गया है, इसका कारण विचारनेमें वही बात सामने आती है, जो तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने कही है, कि 'सृष्टि-

के आरम्भमें मैंने निःश्रेयसके दो मार्ग बताये थे—सांख्ययोगियों-के लिये ज्ञानयोगका (जिसमें कर्मका संन्यास करना पड़ता है) और कर्मयोगियोंके लिये कर्मयोगका ।' सृष्टिके आरम्भमें कही हुई इस बातको गीताने बिल्कुल एक नये रूपमें ग्रहण किया है; क्योंकि गीता कर्मसंन्यासको नहीं मानती पर एक दूसरे ही प्रकारका संन्यास बतलाती है, जिसमें कर्मफलका सन्यास किया जाता है । गीताने संन्यासकी नयी परिभाषा की है—'विद्वान् लोग काम्य कर्मोके न्यासको ही संन्यास कहते हैं (१८ । २)' और संन्यासीकी भी नयी परिभाषा की है—'कर्मफलका आश्रय छोड़कर जो कर्तव्य-कर्म करता है वही संन्यासी है और वही योगी है, निरग्नि और निष्क्रिय नहीं (६ । १) ।'

सांख्य और योगको एक ही (एकं सांख्यं च योगं च) बतलानेमें भी गीताका अभिप्राय यह नहीं है कि एकका दूसरेमें लय हो सकता है, बल्कि यह दिखलाना है कि दोनों-में कोई विरोध नहीं है । सच पूछिये तो गीताकी यह एक प्रधान विशेषता है कि वह दोनोंका अपने योगके सिद्धान्त-द्वारा बहुत सुन्दर ढंगसे समन्वय कर देती है । सांख्य तो कर्मशून्य था, गीतामें आकर वह सांख्ययोग हो गया—जो कर्मका समर्थक है । और कर्म, जिसके मूलमें था काम, गीतामें आकर कर्मयोग हो गया—जिसका आधार है कामनाका अभाव । ऐसे ही संन्यास, जिसका अर्थ था कर्मोंका संन्यास, गीतामें आकर संन्यासयोग हो गया—जिसमें अहंकार और कर्मफलका न्यास होता है । इस प्रकार अपने योगके सिद्धान्तद्वारा गीता सांख्य, कर्म और संन्यासके वास्तविक स्वरूपकी रक्षा करते हुए भी इन मार्गोंमेंसे परस्पर विरोध उत्पन्न करनेवाले भावोंको हटा देती है ।

इसलिये मेरे विचारमें गीता किसी विशिष्ट योगका, अन्य योगोंके व्यतिरेकसे, प्रतिपादन नहीं करती और न एक योग-का दूसरे योगके साथ कोई विरोध ही मानती है । गीतामें जिस क्रमसे इन विभिन्न योगोंका वर्णन किया गया है, वह साधनाका ही क्रम है । द्वितीय अध्यायमें प्रतिपादित सांख्य-योगसे आगे बढ़कर साधक स्वभावतः कर्मयोगमें प्रवेश करता है, जो तीसरे अध्यायका विषय है । तीसरे अध्यायकी साधनासे साधक अपने-आप चतुर्थ अध्यायके कर्मसंन्यास—ज्ञानयोगमें पहुँच जाता है । चतुर्थ अध्यायका उपदेश ग्रहण करनेपर साधकके मनमें अनिवार्यरूपसे संन्यास और कर्मके परस्पर सम्बन्धका प्रश्न उठता है, और यही पाँचवें अध्यायका विषय है—जिसका नाम कर्मसंन्यासयोग रक्खा गया है । इस प्रकार कर्म, ज्ञान और संन्यासका परस्पर सम्बन्ध निर्धारित हो जानेपर ध्यानके द्वारा प्राप्त होनेवाली सिद्धिके स्वरूपका प्रश्न आता है; यही छठे अध्यायमें बतलाया गया है और इसीलिये इसे ध्यानयोग या आत्मसंयमयोग कहते हैं । यहाँतक जीवात्माके साक्षात्कारके सम्बन्धमें जितने साधन अथवा योग हैं, उनका प्रतिपादन हुआ । इसके बाद जो योग आते हैं, वे समष्टि-चेतन या विश्वरूप भगवान्‌की प्राप्तिके साधन हैं । सातसे बारह तकके अध्यायोंमें इन्हींका वर्णन है । अन्तमें इन दोनों सिद्धियोंका एकत्व साधन करनेवाले अर्थात् पूर्ण आत्मसाक्षात्कार या ईश्वर-साक्षात्कार करानेवाले योगोंका शेष छः अध्यायोंमें वर्णन है ।

(१) व्यष्टिचेतन अर्थात् जीवात्माका साक्षात्कार करानेवाले योग

ऊपर योगोंके जो तीन विभाग किये गये हैं, वे सिद्धिके स्वरूपको लेकर ही किये गये हैं । तदनुसार प्रथम वर्गके योग व्यष्टिचेतन या जीवात्माका साक्षात्कार करानेवाले हैं । यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि कोई भी सिद्धि केवल व्यष्टि-चेतनको लेकर नहीं होती, प्रत्येक सिद्धिका सम्बन्ध तीनों ही सिद्धियोंके साथ रहता है । परन्तु पहले छः अध्यायोंका विषय मुख्यतया व्यष्टिचेतन या जीवात्माके साक्षात्कारका ही है । व्यष्टिचेतनके साक्षात्कारमें सबसे बड़ा विघ्न उसके अंदर होनेवाले सङ्घर्ष हैं । ये सङ्घर्ष आरम्भसे छठे अध्यायतक किसी-न-किसी रूपमें ही बने रहते हैं । छठे अध्यायमें ध्यानयोग या राजयोगके द्वारा अपनी विभिन्न सत्ताओंको एकीभूत कर साधक अपने समग्र व्यष्टिस्वरूपका साक्षात्कार करता है । फिर भी जीवात्माके समग्र स्वरूपका पूर्ण साक्षात्कार अठारहवें अध्यायमें होता है, इससे पहले नहीं । जहाँ अर्जुन कह उठता है कि 'अब मेरा मोह नष्ट हो गया, संशय दूर हुआ; मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ।'

(२) विश्वरूप भगवान्‌का साक्षात्कार करानेवाले योग

जीवात्माके साक्षात्कारके बाद विश्वरूप भगवान्‌के साक्षात्कारका साधनक्रम सातवें अध्यायसे आरम्भ होता है । इसी अध्यायसे गीताका उपदेश सार्वभौम रूप धारण करना आरम्भ करता है । जीवात्माका यहीं विश्वात्माके साथ गँठ-बन्धन आरम्भ होता है । इसी सातवें अध्यायमें परा और अपरा प्रकृतिके भेदका निरूपण हुआ है । परा प्रकृति वह

बतायी गयी है, जो जीव बनी हुई ('जीवभूता') इस जगत्‌को धारण कर रही है ('ययेदं धार्यते जगत्')। परा प्रकृतिका यह लक्षण सारगर्भित है; इससे भगवान्‌की परा-प्रकृतिके साथ व्यष्टिचेतनका जो सम्बन्ध है, वह अधिक स्पष्ट हो जाता है और जीवके लिये भगवत्प्राप्तिका रास्ता खुल जाता है।

आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें कर्मके सार्वभौम अर्थका विशदीकरण हुआ और फिर सारे अध्यायमें जीवकी गतिका वर्णन किया गया है। नवें अध्यायमें भी यही विषय चला है। इसी अध्यायमें आगे चलकर वे प्रसिद्ध श्लोक आते हैं, जिनमें भगवत्स्वरूपका वर्णन है। भगवान्‌का वह स्वरूप जो सारे विश्वसे परे है, और वह स्वरूप जो विश्वमें ओतप्रोत है—दोनोंकी ही झाँकी यहाँ मिलती है, यद्यपि उनके पिछले स्वरूपपर अधिक जोर दिया गया है—जो ठीक ही है। क्योंकि विश्वरूप भगवान्‌की ओर ही विशेषरूपसे ध्यान दिलाना यहाँ अभिप्रेत है। दसवें अध्यायका नाम विभूतियोग यथार्थ ही है, क्योंकि इसमें भगवान्‌का विभुत्व—विश्वव्यापकत्व—और भी विशद किया गया है। इस अध्यायमें भगवान् अपने मानवातीत, विश्वव्यापक रूपपर अधिक जोर देते हैं—

> न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
> अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥
> यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
> असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
> (गीता १० । २-३)

श्रीकृष्णप्रेमजी कहते हैं कि 'गीताके जो वक्ता गीतामें बोल रहे हैं, कोई मनुष्य नहीं, बल्कि वे परब्रह्म हैं—जिनमेंसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और जिनमें फिर यथासमय लय हो जाते हैं।'*

परन्तु भगवान्‌का यह विश्वव्यापक रूप अपनी परिपूर्णता, महान् ऐश्वर्य और अनन्त महिमाके साथ प्रकट होता है ग्यारहवें अध्यायमें ही। वहाँ जिस विश्वरूपका दर्शन होता है, वह इतना विराट् और भीषण है कि उसे देखकर अर्जुन भयसे काँप उठता है और भगवान्‌से पुनः अपने सौम्य मानुषरूपमें प्रकट होनेकी प्रार्थना करता है (११ । ४५)। भगवान्‌के विश्वरूपका जिसे दर्शन हो जाता है, वह भक्तिका ही अवलम्बन करेगा; इसलिये विश्वरूपदर्शनयोगके बाद भक्ति-योगका प्रारम्भ स्वाभाविक ही है। आत्माके उत्थानसे सम्बन्ध रखनेवाले योगोंका प्रतिपादन यहाँ समाप्त हो जाता है। अर्जुनको भगवान्‌की अनन्त महिमा और अनन्त शक्तिकी एक झाँकी मिल गयी। परन्तु इस विराट् रूपके दर्शनसे उसकी आँखें चौंधिया गयीं और वह भयभीत हो गया। कहाँ तो अनन्त ऐश्वर्यसम्पन्न भगवान् और कहाँ क्षुद्र जीव! श्रीअरविन्द कहते हैं—'जीवकी परिच्छिन्न प्राकृत पृथग्भूत क्षुद्रातिक्षुद्र व्यष्टि-सत्ताके लिये इस अनन्त सत्ताका अपार अमित महातेज अत्यन्त दुस्सह है। इसलिये इस महान् और इस अल्पके बीच सम्बन्ध जोड़नेवाला कोई सूत्र होना चाहिये, जिससे यह व्यष्टिजीव उस महान् विश्वरूप भगवान्‌को अपने प्राकृत आधारमें अपने समीप अनुभव कर सके, केवल अपनी सर्वशक्तिमत्तासे अपनी अपरिमेय समष्टि-शक्तिके द्वारा उसकी समग्र सत्ताका नियमन करनेवाले नियन्ताके रूपमें ही नहीं, बल्कि उसके साथ व्यक्तिगत निकट सम्बन्ध जोड़कर उसे सहारा देने, उठाने और अपने साथ एक करनेवाले मनुष्यके रूपमें।' ('Essays on the Gita', second series, P. 197) यह सूत्र हैं मनुष्यरूप धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण।

(३) द्विविध अनुभूतिकी एकता अर्थात् पूर्ण आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वर-साक्षात्कार करानेवाले योग

अब हम गीताके अन्तिम भागकी ओर आते हैं, जिसका प्रतिपाद्य विषय है पूर्वकी द्विविध सिद्धियोंकी एकता; जिसका परिणाम है सम्पूर्ण आत्मसाक्षात्कार अथवा भगवत्साक्षात्कार। यही चरम सिद्धि है। भगवान् और मनुष्यके बीच सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये भगवान्‌का मनुष्यरूप धारण करना किस प्रकार आवश्यक है, यह हम अभी देख चुके। पर इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि मनुष्य भगवान्‌के विश्वरूपका साक्षात्कार करके संसारमें उतरे और इस साक्षात्कारके प्रकाशमें संसार-क्षेत्रके अंदर अपने कर्तव्योंका अवकलन करे। दूसरे शब्दोंमें मनुष्यको चाहिये कि वह अनन्त परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध बनाये रहे और उन्हें अपना वास्तविक आत्मा समझे। इसकी जो कुछ साधना है, वही अन्तिम छः अध्यायोंका विषय है।

यह स्पष्ट है कि इन अध्यायोंमें ज्ञानकी काफी चर्चा होगी। शायद इसीलिये इस अन्तिम भागको ज्ञानकाण्ड

* 'The Yoga of the Bhagavadgita.' P. 91

कहते हैं। परन्तु यह स्मरण रहे कि यहाँ जो ज्ञान कहा गया है, वह सातवें अध्यायमें विवृत ज्ञानसे भिन्न है। वहाँ 'वासुदेवः सर्वमिति' कहकर जिस ज्ञानका वर्णन किया है, वह केवल विचारात्मक ज्ञान है। यहाँ जिस ज्ञानका निरूपण किया गया है, वह हमें दो बातें बतलाता है—एक तो यह है कि आत्माका संसारके साथ क्या सम्बन्ध है और दूसरी यह है कि उसका भगवान्‌के साथ क्या सम्बन्ध है।

यह दोहरी दृष्टि तेरहवें अध्यायमें स्पष्ट देख पड़ती है। उक्त अध्यायके ८ से १२ तकके श्लोकोंमें ज्ञानके जो लक्षण बतलाये गये हैं उनमें अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, आर्जव, आचार्योपासन, शुचिता, स्थिरता, आत्मनिग्रह इत्यादि गुण ही गिनाये गये हैं। ये आत्मज्ञानके लक्षण नहीं, बल्कि नैतिक गुण ही समझे जाते हैं। पर इन्हें ज्ञानके लक्षण बताया गया है, इससे यह जाहिर है कि गीता यहाँ केवल ज्ञानका सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि उसका व्यावहारिक रूप भी बतला रही है—जो संसारके साथ आत्माके सम्बन्धको दृष्टिमें लिये हुए है। इस दृष्टिसे इस अध्यायका नाम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग बहुत ठीक रक्खा गया है। संसारके साथ आत्माका सम्बन्ध क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका सम्बन्ध है। संसार क्षेत्र है, आत्मा क्षेत्रज्ञ। इस अध्यायमें क्षेत्रका जो वर्णन पाँचवें और छठे श्लोकोंमें दिया गया है उसमें शरीर, मन, इन्द्रिय और प्राण सभी कुछ आ जाते हैं। आत्मा इस क्षेत्रका ज्ञाता है, अज्ञ नहीं। आत्माका यह स्वरूप जीवात्माका परमात्माके साथ एकत्व बतलाता है। आत्मा और परमात्मामें यही तो अन्तर है कि आत्मा एक क्षेत्रका ज्ञाता है और परमात्मा समस्त क्षेत्रोंका। श्रीकृष्णप्रेमजीके शब्दोंमें, इस अध्यायका निचोड़ यही है कि 'जगत्‌की ज्योति तुम्हारे अंदर है।'

आत्मा और परमात्माके बीच भेदकी जो दीवार खड़ी है, वह इस तरह टूट जाती है। आत्माका स्वरूप परमात्माके स्वरूपका निर्देश करता है। इसीलिये आत्मस्वरूपके बाद ही इस अध्यायमें परमात्मस्वरूपका वर्णन आता है। २८ से ३४ तकके सुन्दर श्लोक आत्मस्वरूपके साथ-साथ परमात्मस्वरूपका भी वर्णन करते हैं।

गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवें अध्यायकी अवतारणा संसारके साथ आत्माके व्यवहारकी बात पूरी करनेके लिये हुई है। वह बात है—गुणोंके ऊपर उठनेकी, गुणातीत होनेकी। दूसरे अध्यायके ४५ वें श्लोकमें भी निस्त्रैगुण्य होनेका उपदेश दिया गया है। पर वहाँ गुणोंका वर्णन नहीं हुआ है और न यह बतलाया गया है कि निस्त्रैगुण्य होना क्यों आवश्यक है। बहुत-सी बातें इन पिछले अध्यायोंमें ऐसी आयी हैं, जो पहलेके छः अध्यायोंमें आ चुकी हैं; परन्तु दोनोंमें अन्तर यह है कि यहाँ उस विषयका अधिक पूर्ण और अधिक स्पष्टरूपमें उल्लेख हुआ है तथा आत्मा एवं जगत्‌के स्वरूपके विवेचनपूर्वक हुआ है।

तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंमें आत्माके स्वरूप और संसारके साथ उसके सम्बन्धका निरूपण करके पन्द्रहवें अध्यायमें पुरुषोत्तम-योगका वर्णन किया गया है। भगवान्‌के सम्बन्धमें गीताका सर्वोत्तमभाव पुरुषोत्तमभाव है। इस भावको यथार्थरूपमें ग्रहण न करनेके कारण इसके सम्बन्धमें अनेक भ्रम उत्पन्न हो गये हैं। अनेकों विद्वानोंने पुरुषोत्तमभाव और अक्षर-ब्रह्मको एक ही समझ लिया है। श्रीअरविन्दके गीताभाष्य (Essays on the Gita) की आलोचना करते हुए 'मॉर्डन रिव्यू' में स्वर्गीय एम्० सी० घोषने श्रीअरविन्दकी गम्भीर विचारशैलीको यह कहकर उड़ा दिया था कि 'अक्षरब्रह्म' से ऊँचा कोई 'पुरुषोत्तम' नहीं हो सकता। परन्तु 'अक्षरब्रह्म' और 'पुरुषोत्तम' दो अलग-अलग भाव हैं। इन दोनोंमें जो अन्तर है, वह पंद्रहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट किया गया है। यही गीताकी सबसे बड़ी चीज है, इसके बिना गीताकी पूर्णता नहीं। श्रीअरविन्द कहते हैं कि 'आत्माकी परतमा स्थिति पुरुषोत्तममें निवास है, पूर्ण लय नहीं।'*

पुरुषोत्तमका साक्षात्कार ही गीताकी सर्वोत्तम अनुभूति है और इसीलिये इसे 'गुह्यतम शास्त्र' कहा गया है। परन्तु इस गुह्यतम ज्ञानके प्रकाशमें आत्माके लिये संसारमें रहते हुए क्षेत्रज्ञके नाते सांसारिक कर्तव्योंका पालन करनेमें संसार-विषयक जिस ज्ञानको ग्रहण कर लेनेकी आवश्यकता है, वही दैवासुरसम्पद्विभाग है, जो सोलहवें अध्यायका योग है। और इन सब योगोंमें साधकके लिये सबसे अधिक आवश्यक वस्तु है—श्रद्धा, जिसके बिना सारा ज्ञान और कर्म व्यर्थ हो जाता है, उसका न इहलोकमें कोई फल होता है न परलोकमें ('असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह') इसलिये श्रद्धाका स्वरूप उसके विविध भेदोंके विवरणके साथ सत्रहवें अध्यायमें बताया गया है, जिसमें इन सब योगोंके साधनमें साधककी श्रद्धाका योग हो। अन्तिम अध्याय गीताका उपसंहार है। सांख्य, कर्म आदि जो-जो योग पहले बताये गये, उन सबकी

* Essays on the Gita, second series P. 276

पूर्णता इसी अध्यायमें आकर होती है और आत्मसाक्षात्कारके सब योगोंकी परिसमाप्ति भी। और इसीलिये सम्पूर्ण योगोंके पश्चात् स्वयं श्रीपुरुषोत्तम भगवान् यह महान् आश्वासन देते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

वैसा ही श्रद्धा-भक्तिपूर्ण महान् उत्तर अर्जुनकी ओरसे भी आता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥
(गीता १८। ७३)

यही जीवात्माकी आत्मा, विश्वात्मा और पुरुषोत्तम—इस त्रिविध स्थितिकी सिद्धिका योगशास्त्र है। यही गीताकी साधना है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

वृन्दावनकी प्रेम-साधना

(लेखिका—बहिन श्रीरैहाना तय्यबजी)

वृन्दावन!

—नामका उच्चारण-स्मरण करनेके साथ, कानोंको चुपचाप यह नाम प्रेम और उत्कण्ठासे सुना देनेके साथ ही मानस-पटलपर भीतरसे कैसे-कैसे सुन्दर समुज्ज्वल चित्र हृदयकी आँखोंके सामने आने लग जाते हैं।

वृन्दावन! ओ हरे-भरे, सुहावने, प्यारे वृन्दावन! कमनीय कुसुमोंकी कुञ्जस्थली, मधुर विहग-काकलीके प्रवाह, कालिन्दीके कलकल निनादसे झङ्कृत और निर्झरोंके रूपमें मन्दस्मितसे युक्त वृन्दावन! सारा जीव-जगत् जहाँपर एक है और एकत्वके अनुभवमें आनन्दमग्न है!

क्या आश्चर्य जो मूर्तिमान् प्रेम पृथ्वीपर अवतीर्ण होनेकी इच्छासे वृन्दावनमें पधारे और इसीको उन्होंने अपना धाम बनाया!

वृन्दावन, जब वे नहीं आये थे, तब कैसा था?

जंगलोंमें उस समय भी हरियाली रही होगी, फूलोंमें विविध रंग और मोहक सुगन्ध रही होगी। भोले-भाले कृष्णसार मृग तथा अन्य छोटे-छोटे वन्य जीव सुखपूर्वक विचरते होंगे; पक्षियोंके कलरवमें भी मधुरता रही होगी; जल भी स्वच्छ, उज्ज्वल और मीठा रहा होगा—उस समय भी, जब वे नहीं आये थे। हरी-भरी गोचर-भूमियोंमें चरनेवाली गौएँ सरल, सीधी और शान्त रही होंगी। गोप-गोपी भी अपने दैनिक गृहकार्यमें मग्न, अपने ग्राम्य जीवनके आनन्दमें मस्त, भोले-भाले लोग रहे होंगे।

किस बातमें ये अन्य लोगोंसे भिन्न थे? क्या इनमें कोई विशेष बात थी? क्या ये कुछ और भी थे?

वृन्दावनमें वे प्रेमस्वरूप किसलिये पधारे? वृन्दावनको उन्होंने अपना दिव्य धाम क्यों बनाया? इन गोप-गोपियोंको क्या समझकर उन्होंने अपनाया, सिर चढ़ाया और अमर कर दिया? इनमें ऐसी कौन-सी बात थी, जो उन्हें खींच लायी? वह कौन-सी चीज़ थी इनके अंदर, जो उनकी पुकारपर दौड़ पड़ी?

कोई बात जरूर रही होगी। प्रेमकी पुकार हर जगह हर समय हो रही है; पर सब कोई तो उसे नहीं सुन सकते, न उसके पीछे चल ही सकते हैं। कोई चीज़ इनके अंदर अवश्य रही होगी, जिससे इनके नेत्रोंमें वह निर्मलता आ गयी कि बालरूपधारी वृन्दावनविहारीको देखते ही इन्होंने पहचान लिया, आनन्दसे उछल पड़े और उनकी भगवत्ताकी महिमाका अनुभव कर उसीमें डूब गये। कोई चीज़ इनके अंदर अवश्य रही होगी, जिससे इनके कान इतने पवित्र हो गये कि उनकी वंशीकी ध्वनिमें इन्होंने वह चीज़ सुनी जो गोकुलकी ब्राह्मणपत्नियाँ शास्त्र-संस्कारसे संस्कृत होनेपर भी नहीं सुन सकीं। कोई चीज़ इनके अंदर अवश्य रही होगी, जिससे इनका हृदय इतना विशुद्ध हो गया कि ज्यों ही वे इनके सामने आये, ये आत्मसमर्पणकी सहज अदम्य दीप्ति और दमकके साथ सर्वात्मभावसे उनपर उत्सर्ग हो गये। यह 'कोई चीज़' क्या रही होगी? क्या यह इनकी अनेक जन्मोंकी निरन्तर कठिन तपस्या या शक्ति-उपासना थी?

इनके जीवनपर दृष्टि डालो। कितना सादा, कितना आडम्बरशून्य! और इनके घर?—वे ही अरण्य-कुटीर! इनकी धन-सम्पत्ति?—वही गोधन! इनका आहार?—वही

मेरा स्वप्न

(ले०—सौ० बहिन इन्दुमति इ० देसाईजी)

'उषा, प्रातःकालकी मधुर उषाकी लालिमा गोकुल-वृन्दावनपर छाने लगी है। सुहावनी समीर-लहरी श्रीहरिके ध्यानमें मस्त तपस्वियोंको प्रफुल्लित कर रही है। श्रीहरिके चरण-कमल-मकरन्दका पान करनेवाली भ्रमरी—प्रेमोन्मादिनी गोपिकाएँ—श्रीकृष्णसङ्गकी प्रेम-केलियोंके मधुर स्वप्नका अनुभव करती हुई, जिनके मुखपर मन्द मुस्कान छिटक रही है, श्रीमन-मोहनके साथ प्रेमकलहमें लगी हैं; परन्तु इस उषाने उनके साथ वैरिणीका काम किया। पक्षियोंकी मधुर काकलीको सुनकर, शय्याका त्याग करके वे श्रीकृष्णका गुणगान करती हुई प्रातः-कृत्यसे निवृत्त होकर उतावली-उतावली श्रीनन्द-जीके महलमें पहुँचीं। नौबतखानेकी नौबतोंकी आवाजसे, मीठे मृदंग-चंगोंकी मधुर ध्वनिसे, भक्तोंके भावभरे भजनोंसे और यशोदामैयाके प्रेमवाक्योंसे विश्वविमोहन परब्रह्म श्यामसुन्दर सहज ही आलससे अङ्ग मरोड़कर सुखसेजपर उठ बैठे और प्रेमपाशमें बँधकर माताके चरणोंमें प्रणाम करने लगे। माताने उन्हें उठाकर गोदमें ले लिया। अगली गोपिकाओंने प्रेमविह्वल नेत्रोंसे इस अनुपम रूप-माधुरीका पान करके श्रीहरिके चरणोंमें वन्दन किया। कोई लायी थी माखन-मिश्री, कोई मीठा मलाईदार दही और कढ़ा हुआ दूध; कोई ताजी-ताजी रोटियाँ, कोई सेव-सुहाल और घेवर—जिससे जो बना, सबने प्रभुके सामने रक्खा। वे पहले अपने प्रेमी भक्तोंकी बानगी आरोगें, पीछे मैं—मैं तो सबसे अन्तमें काम आनेवाली चीजें ही ले गयी थी—सुगन्धभरा ताम्बूल, चन्दन, कलगी और वनमाला!

सारे गोपबालक—कन्हैयाके सखा कैसे आनन्दसे श्यामसे कहते हैं—*कन्हैया, प्यारे कान्हा! चल-चल जल्दी, देख न, गायोंका झुंड तुझे निरखनेके लिये, तुझे स्पर्श करनेके लिये* किस आतुरतासे पुकार रहा है। और कन्हैया! छोड़ सब बातोंको, चल जल्दी अपनी कुञ्जगलियोंमें, यमुनाजीके हरियाले तटपर और गोवर्धनकी गहरी गुफाओंमें। अरे मोहन! तेरी मुरली कहाँ है? उसके बिना कैसे काम चलेगा? गोपाल! गायें कैसे आवेंगी और कैसे लौटेंगी? तेरी इस मुरलीने क्या-क्या कर डाला है···········!

गोपियोंने यह सुनकर उलाहनेभरी आँखोंसे गोप-बालकोंकी ओर देखा। समझे कि नहीं? इनके प्रिय पुरुषोत्तमको ये बालक यों सबेरे-सबेरे ही ले जायँ—भला, इनसे यह कैसे सहा जाय? सारा-सारा दिन श्रीहरिके बिना कैसे कटे! ये बालक क्यों ऐसा करते हैं! 'जाओ-जाओ तुम सब यहाँसे, आज हमारे हरि नहीं जायँगे। आज तो सब सखियोंने सुन्दर भोजन बनाकर हमारे और तुम्हारे कन्हैया-को जिमानेका निश्चय किया है। और फिर! फिर हम भी खेलेंगी कबड्डी, गुल्ली-डंडा, आँखमिचौनी—ऐसे बहुतेरे खेल मोहनको खेलावेंगी—और रातको रास—'

ये भोले गोपबालक कहाँ जानते थे कि इन गोपियोंने श्यामसुन्दरको अपने नयनोंमें छिपा रक्खा है। पर—पर सबके लिये यही तो रचा हुआ है—एकको संयोग, दूसरेको वियोग। उसी प्रकार इस अमूल्य दृश्यको देखकर मेरी भी आँखें खुल गयीं। मेरे श्याम! तुम्हारे बिना इस स्वप्नको सच्चा करनेवाला कौन है? कब? कब? ओ मेरे हरि! ज्ञान-चक्षु देकर इस स्वप्नवत् संसारको स्वप्नके समान दिखानेवाली, मेरी सच्ची आँखें कब खोलोगे? और मेरे मोहन! कब अपने दिव्य रूपकी मधुर झाँकीके पावन दर्शन इस दीन इन्दुको कराओगे?—

मेरे गिरधर—'सुध लीजिये मुरारी, दीन इन्दु है तुम्हारी।'

विनय

अबके माधव ! मोहि उधारि ।

मगन हौं भव-अंबु-निधिमें कृपासिंधु मुरारि ॥

नीर अति गंभीर माया लोभ लहरि तरंग ।

लिये जात अगाध जलमें गहे ग्राह अनंग ॥

मीन इंद्रिय अतिहि काटत मोह अघ सिर भार ।

पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह-सँवार ॥

काम क्रोध समेत तृस्ना पवन अति झकझोर ।

नाहिं चितवन देत तिय सुत नाक-नौका ओर ॥

थक्यो बीच बेहाल बिहवल सुनहु करुनामूल ।

स्याम भुज गहि काढ़ि डारहु 'सूर' ब्रजके कूल ॥

—सूरदासजी

साधन-तत्त्व

(लेखक—श्री 'अप्रबुद्ध')

पाश्चात्य वैज्ञानिकों और भारतीय वैदिकोंकी सत्यानुसन्धान-पद्धतियोंमें जो बड़ा भारी अन्तर है, वह मानव-विचारके 'आरम्भ-बिन्दु' के विषयमें है । वैदिकोंका अनुसन्धान जिस स्थानसे आरम्भ होता है, पाश्चात्योंके अनुसन्धानमें उसका कोई स्थान ही नहीं है । पाश्चात्योंकी विचार-प्रणालीमें पञ्चदशीमें दिये हुए दृष्टान्तके समान अपना विचार छोड़कर शेष नवसंख्यकोंका विचार होता है । इसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें शेष संसारका तो ज्ञान हुआ; पर अपना ज्ञान न होनेसे शेष संसारका ज्ञान उनकी अपनी उन्नतिमें किसी तरह भी लाभकारी नहीं हुआ । पाश्चात्य वैज्ञानिकोंके महदाश्चर्यकारक अनेकानेक आविष्कारोंके रहते हुए भी उनके आत्माको उनसे कोई तृप्ति नहीं मिली । वह आत्मा अब मानो यह कह रहा है कि हमारे विज्ञानने सुख-साधनोंकी तो खूब समृद्धि की, पर हम अपने अंदर इससे कोई परिवर्तन हुआ नहीं देखते । आल्फ्रेड दि ग्रेटके समयमें इंग्लैंडकी सरकार घोड़ेकी सवारी करती थी और अब हमारे बड़े लाट विमानोंमें बैठकर सैर कर आते हैं । पर बाहरी दिखावेकी इस उन्नतिमें जीवकी भीतरी उन्नति क्या हुई ?

वैदिक प्राज्ञ पुरुषोंकी विचारप्रणालीमें विचारक आप ही अपने विचारका आरम्भस्थान होता है; कारण, अपने आपके रहनेसे जगत्‌के साथ अपना सम्बन्ध है । यदि आप न हो तो जगत्‌से या जगत्‌के कर्ता ईश्वरसे भी क्या नाता ? अपनेसे ही विचारका आरम्भ करनेपर सबसे पहले अपने शरीरका विचार होता है । विचारपूर्वक देखनेसे हमें अपने इस शरीरके अंदर दो प्रकारके प्रवाह काम करते हुए देख पड़ते हैं, जिनमेंसे एक स्वाधीन है और दूसरा पराधीन । ये ही दो प्रवाह बाह्य दृश्य-जगत्‌में भी देख पड़ते हैं । हम भोजन करते हैं, भोजन करनेमें कौर उठाकर मुँहमें डालनेतक ही हमारा अधिकार है, पाचन करनेवाली शक्ति या उसके कार्यपर हमारा कोई अधिकार नहीं । यही बात बाह्य जगत्‌के सम्बन्धमें भी है और इसीलिये गीतामें भगवान्‌ने कर्ममात्रमें 'दैवं चैवात्र पञ्चमम्' कहकर दैवको पञ्चम कारण बताया है । इस प्रकार ये जो दो प्रवाह हैं, इनका सामञ्जस्य और एकीकरण किया जा सके तो अपने शरीरको अपने वशमें रखनेके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है । इसके लिये हमारे वैदिक पूर्वजोंने जो प्रयत्न किया, उसीका नाम साधना या उपासना है । भगवान् शङ्कराचार्यने उपासनाका यही तो लक्षण किया है—'उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणम् ।' पाश्चात्य वैज्ञानिक इन दो प्रवाहोंकी खबर भले ही रखते हों; पर इन्हें एक करनेकी कला वे निश्चय ही नहीं जानते ।

ये दोनों प्रवाह एक दूसरेसे सर्वथा पृथक् नहीं बल्कि सम्बद्ध हैं । इनके छोर एक-दूसरेसे मिले हुए हैं । इसलिये हमारे साथमें जो छोर है, वह उस प्रवाहमें जा मिलता है जो हमारे हाथमें नहीं है । हमारे अंदर चार शक्तियाँ ऐसी हैं, जिनके इधरके छोर हमारे हाथमें हैं पर उधरके नहीं । ये शक्तियाँ हैं प्राण, मन, बुद्धि और वाक् । इन चारोंका एक-एक छोर हमारे हाथमें है, पर दूसरा हमारे हाथमें नहीं । यदि हम इन चारों शक्तिप्रवाहोंका सीढ़ियोंकी तरह उपयोग कर सकें तो 'इतस्त्वन्याम्' जो परा प्रकृति है, उसके दिव्य आनन्दमय परप्रदेशमें प्रवेश-लाभ कर सकें । वह परप्रदेश अतीन्द्रिय है ।

इस इन्द्रियगोचर विश्वके परे अतीन्द्रिय अनन्त विश्वकी स्थिति है । उसीसे इस स्थूल इन्द्रियगोचर विश्वके उत्पत्ति-स्थिति-लय हुआ करते हैं । इस स्थूल विश्वके सञ्चालनकी सारी शक्तिका आगम वहींसे होता है । यह स्थूल विश्व इस तरह पराधीन है । इसकी स्वाधीन सत्ता न होनेसे यह अनित्य और सुख-दुःखादि वैषम्यसे परिपूर्ण है और वह स्वाधीन होनेसे नित्य, एकरस, अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप है । वैदिकोंने यह अनुसन्धान किया कि उस सच्चिदानन्दस्थितिको जीव कैसे प्राप्त हो सकता है । उन्हें यह प्रत्यक्ष हुआ कि किसी यन्त्रको चलानेवाली शक्ति जिस प्रकार उस यन्त्रके एक-एक पुर्जे और कील-काँटेतकमें व्याप्त रहती है, उसी प्रकार इस विश्वको चलानेवाली सच्चिदानन्दमयी शक्ति इसके एक-एक अणु-रेणुमें व्याप्त है । प्रत्येक शरीरके एक-एक परमाणुमें वही शक्ति व्याप्त है । पर इसके प्रवाहको अपने अधीन करना सुसाध्य नहीं है । यदि यह शक्तिप्रवाह अपने हाथमें आ जाय तो मनुष्य स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाय ।

यह शक्ति हमारे अंदर पूर्वोक्त चार प्रकारसे काम करती

है। इन चार शक्तिप्रवाहोंमेंसे किसी भी एक प्रवाहको कोई अपने वशमें कर ले तो 'नदीमुखेनैव समुद्रमाविशत्'के न्यायसे वह उसके साथ विरलभावको प्राप्त होकर मूल संवित्से युक्त हो सकता है। इसी सिद्धान्तके आधारपर मूलतः चार साधन-मार्ग निर्दिष्ट हुए और पीछे उनके परस्पर मिलनके अनेक-विध तारतम्यसे हजारों-लाखों साधनमार्ग चल पड़े। प्राण-शक्तिको हाथमें लेकर उससे अन्य शक्तिप्रवाहोंको अपने वश-में करके स्वयं शक्तिस्वरूप होना हठयोग कहलाया। मनकी शक्तिको वशमें कर एक तरफ शरीरसहित प्राण और दूसरी तरफ बुद्धि और वाणीपर विजय पाना और इस प्रकार शक्ति-स्वरूप होना राजयोग हुआ। इन दोनों मार्गोंका क्रम शरीर और मन अर्थात् इस जड दृश्यसे आरम्भ कर उसे चैतन्यमें रूपान्तरित करना है; परन्तु बुद्धि और वाणीका क्रम इससे भिन्न, इसके विपरीत है। इस क्रममें शरीरके एक-एक सूक्ष्म तत्त्वको चिद्रूप करते हुए अन्तमें जड शरीरको भी चैतन्यमय करना है। बुद्धिका आश्रय करके इस साधनको करना ज्ञान-योग है और गीताशास्त्रोक्त शरणागतिसे इसे सिद्ध करना भक्तियोग है। बुद्धि निश्चयरूपिणी है। चित्परमाणु जीव अपनी इस बुद्धि या निश्चयसे ही जीवरूप होता है। इस कारण उसका सम्पूर्ण शरीर निश्चयके ही आधारपर है। अत्यन्त दृढ़ और बलवान् निश्चयसे सम्पूर्ण शरीर क्रमशः चिद्रूपमें परिवर्तित हो सकता है। परन्तु निश्चयके इस मार्गपर करोड़ोंमेंसे कोई एकाध ही ठहर सकता है। राजयोग और कर्मयोग भी, प्रतिकूल परिस्थितिके कारण, सबके लिये समानरूपसे लाभप्रद नहीं होते। भक्तियोगका तत्त्व प्रेम है और प्रेम ईश्वरकृपासे ही प्राप्त होता है, अन्य किसी उपाय या ग्रन्थोंके अध्ययनसे नहीं। इसलिये वैदिक ऋषियोंने चौथी शक्ति जो वाक् है, उसके आश्रयसे एक दूसरा मार्ग निर्दिष्ट किया। इस योग-मार्गका तत्त्व 'वेद' अर्थात् वेदसे निकला हुआ मन्त्रशास्त्र है। वर्णाश्रम-धर्म और भावयोग मन्त्रशास्त्रके ही आधार-पर स्थित हैं। यह साधन सुलभ है। अपने-अपने वर्णके अनुसार आचार-पालन करने, वेद पठन करने तथा मन्त्र या नाम जपनेसे इसमें सिद्धि प्राप्त होती है।

वेदोंका परम प्रतिपाद्य आद्य तत्त्व 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' है। इससे यह प्रतिसिद्धान्त आप ही निकलता है कि इस विश्वमें अकेले जीवकी ही स्थिति नहीं है, बल्कि वह विश्वका एक अविभाज्य, नित्यसम्बद्ध अङ्ग है। अतएव जीव और विश्व परस्पराश्रयी होते हैं, एक दूसरेको छोड़कर स्वतन्त्रता-से वे कुछ भी नहीं कर सकते। इसीलिये गीतामें भगवान्ने कहा है—'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'। अतएव इन दोनोंको अपने परस्पर-कार्यमें सङ्गति बैठाकर ही सब कुछ करना पड़ता है। इसलिये जीव और विश्वका परस्पर सहायक होकर दोनोंका सच्चिदानन्दस्वरूपको प्राप्त होना—यही ब्रह्मलोककी स्थिति हो सकती है। मनुष्यके शरीरका जडत्व इसमें बाधक है; यदि यह जडत्व हटा दिया जाय तो इनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष होगा और यह काम सुगम हो जायगा। वाक्शक्तिसे यह सुगमता सिद्ध होती है।

वाक्शक्ति आकाश-तत्त्व है। यह शब्दरूप है। यही विश्वका मूल कारण है। व्यक्त सृष्टिके आकाशस्वरूप मूलरूप-में प्रतीत होनेवाले शब्दसमूह ही मन्त्र या वेद हैं। ये स्वयम्भू हैं, इन्हें किसीने बनाया नहीं; ये नित्यसिद्ध, अपौरुषेय और ज्ञान, इच्छा, क्रिया—इन तीन शक्तियोंसे युक्त हैं। आधुनिक पदार्थविज्ञानसे भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि यह जगत् जो कुछ है, वेदका ही व्यक्तरूप है। (इस विषयमें 'वैदिक धर्म' के वेदाङ्कमें मेरा 'वेदोंका अपौरुषेयत्व' लेख जिज्ञासु पाठक देखें।) यहाँ संक्षेपमें इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्राणशक्ति, मनःशक्ति या निश्चयशक्तिसे जो कुछ होता है वह सब वाक्शक्तिसे भी होता है। इसीलिये कलियुगमें भगवन्नाम-का विशेष माहात्म्य कहा गया है। आत्मार्पणरूप बुद्धियोग और वाग्रूप मन्त्रयोगके मिश्रणसे ही भावयोगकी सृष्टि होती है। भगवन्नामसे सब कुछ हो सकता है—यह केवल अर्थवाद नहीं, परम शास्त्रीय सत्य है। माण्डूक्योपनिषद्में कहा है—

'ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वम्। सर्वꣳ ह्येतद्ब्रह्म।' 'सोऽय-मात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादाः।' '…ॐकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद॥'

इन चार शक्तिप्रवाहोंके चार मार्गोंमेंसे किसी एकका आश्रय करके उपासना करनेसे अन्य भी सिद्ध हो जाते हैं। प्राण, मन और बुद्धिसे अक्षरब्रह्म आत्माकी प्राप्ति होती है और तब वेदोंका भी साक्षात्कार हो जाता है। वेदकी उपासना और नामसाधनसे ॐका साक्षात्कार होता है और अक्षर-स्वरूप आत्मसाक्षात्कार भी। इस प्रकार किसी साधनाके द्वारा स्वाधीनचित्त हो जानेपर जीव या तो व्यतिरेकके द्वारा अमनस्कता लाभकर त्रिगुणातीत हो सद्योमुक्ति प्राप्त कर सकता है अथवा अक्षरब्रह्मको प्राप्त कर निजनिर्द्धार, स्वानन्द-विलास करते हुए क्रममुक्ति। ये ही दो मार्ग उसके सामने रहते हैं।

साधन-तत्त्व

(लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया)

इस वर्ष 'कल्याण' के विशेषाङ्क 'साधनाङ्क' द्वारा साधन-सम्बन्धी बातें पाठकोंकी सेवामें उपस्थित की जा रही हैं। ऐसे अवसरपर मैं भी अपने अपरिपक्व विचारोंको पाठकोंके सम्मुख प्रकट कर रहा हूँ। मेरे विचारोंमें भूलों और त्रुटियोंका होना स्वाभाविक है; अतएव प्रेमी पाठकगण अपने सौजन्यपूर्ण हृदयसे उनकी उपेक्षा करके मुझे क्षमा करेंगे और जितना अंश ठीक समझेंगे, उसीको उपयोगमें लायेंगे।

यह बात सर्वसम्मत है कि किसी भी ध्येयको प्राप्त करनेका मार्ग साधन ही है। ध्येय कोई भी क्यों न हो, उसकी सिद्धि साधनद्वारा ही होती है; और वह साधन ध्येयके अनुरूप ही हुआ करता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि साधनके अनुरूप ही फलकी प्राप्ति होती है अर्थात् साधक स्वयं ध्येयका स्वरूप ही बन जाता है। यही ध्येयकी प्राप्ति है। साधनके अनेक भेद हैं। उन सबको मुख्यतः दो भागोंमें विभक्त किया जाता है—एक प्रारम्भिक या प्राथमिक साधन और दूसरे उत्तरकालिक साधन। इन दोनों श्रेणियोंके साधनोंका यथाक्रम अभ्यास करनेसे ही साध्यकी सिद्धि होती है। यदि कोई साधक प्रारम्भिक साधनोंकी उपेक्षा करके उत्तरकालिक साधनोंके मार्गपर ही चलना चाहे तो मेरे निश्चयके अनुसार न वह चल सकता है और न उसे लक्ष्यकी ही प्राप्ति हो सकती है। उस अवस्थामें वह अपने लक्ष्यको भूलकर किसी ऐसी ही वस्तुको प्राप्त होगा, जो ऐसे संकर साधनोंका परिणाम होती है। आवश्यकता है साध्यके अनुरूप साधन करनेकी। साध्य वस्तुको प्रकटमात्र करनेसे वह प्राप्त नहीं हो सकती। वास्तवमें साधनके अनुरूप ही साध्य माना जाता है, उसको केवल वाणीसे व्यक्त करनेका कोई मूल्य नहीं है। साधन और साध्यका यह पारस्परिक अविचल सम्बन्ध प्राकृतिक एवं सनातन है। यदि कोई एक व्यक्ति यह कहे कि मेरा उद्देश्य सच्चाईपर चलनेका है, दूसरा यह कहे कि मेरा उद्देश्य किसीको न सतानेका है; परन्तु व्यवहारमें पहला व्यक्ति सत्यपर और दूसरा अहिंसापर दृढ़ नहीं है; तो उन दोनोंको भगवदीय न्यायसे स्वाभाविक वही फल प्राप्त होगा, जो असत्यवादी एवं हिंसापरायणको होता है। इसमें परमात्मा किसीकी मुरौवत नहीं करते। जिस प्रकार इमलीका बीज बोकर आमकी आशा करनेवाला अथवा जायफलके बदले जमालगोटा खाकर दस्त रोकनेकी चाह रखनेवाला निराश होता है, उसी प्रकार साधनाके क्षेत्रमें विपरीत साधन करनेवाला अपने लक्ष्यकी प्राप्तिसे हाथ धो बैठता है। साध्यकी सिद्धि उसी साधकको होती है जो ठीक-ठीक उसके अनुकूल साधना करता है, न कि जो केवल वाणीसे कहता है अथवा किसी सम्प्रदायविशेषका अवलम्बनमात्र करता है। केवल वाणीद्वारा साध्यका वर्णन करना अथवा उसके लिये किसी सम्प्रदाय-विशेषका अवलम्बनमात्र ग्रहण करना मुख्य बात नहीं है, बल्कि क्रिया और भाव ही प्रधान हैं। यदि कोई मनुष्य बाहरसे भक्तिका आडम्बर करे, परन्तु उसकी क्रिया और भाव लोगोंको ठगने तथा स्वार्थसिद्धिके लिये हों तो उसे कभी भी सच्चे भक्तकी स्थिति नहीं प्राप्त हो सकती, उसको अपने दम्भका फल भोगना ही पड़ेगा। अस्तु,

मेरे कथनका तात्पर्य यह है कि आधुनिक युगमें साधनोंका स्वरूप प्राचीन शास्त्रानुमोदित साधनोंके स्वरूपसे भिन्न होता जा रहा है। आजकल प्रायः भक्तियोगवाले साधक श्रवण-कीर्तनादिसे, ज्ञानयोगवाले साधक श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे, अष्टाङ्गयोगवाले साधक आसन-प्राणायामसे और कर्मयोगवाले साधक वाचिक निष्काम कर्मसे ही अपनी-अपनी साधना आरम्भ करते हैं। कृपालु पाठकगण मुझे क्षमा करेंगे, मैं यहाँ किसीपर कटाक्ष नहीं कर रहा हूँ और न किसी साधना-पद्धतिकी व्यर्थता ही सिद्ध करने जा रहा हूँ। मेरा अभिप्राय आभ्यन्तरिक स्थितिमात्रको, जिससे मैं सुपरिचित हूँ, साधारणरूपसे प्रकट कर देनेका है और साथ ही उपर्युक्त उत्तरकालिक साधनोंकी सार्थकताके उपायके सम्बन्धमें भी निवेदन करनेका है, जिसको आजकलके अधिकांश साधक प्रायः उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं। प्रारम्भिक साधनोंकी उपेक्षा करके सहसा उत्तरकालिक साधनोंका अभ्यास करनेसे आजकल जो परिणाम निकलता है, उसको सभी जानते हैं; उसके सम्बन्धमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। कोई इमारत कितनी भी सुन्दर क्यों न हो, यदि उसकी नींव कमजोर है तो वह जल्दी ही टूटकर गिर जायगी; उसकी सुन्दरता उसे नहीं बचा सकती, उसको बचानेवाली कोई चीज है तो उसकी

बुनियाद ही है। यही बात साधनके सम्बन्धमें है। आजकल साधनाके क्षेत्रमें यह गड़बड़ी बड़े जोरोंसे फैल रही है कि प्राथमिक साधनोंकी तो उपेक्षा कर दी जाती है और साधकोंको केवल उत्तरकालिक साधनोंकी ही चर्चा सुनायी जाती तथा शिक्षा भी दी जाती है। साधकगण भी संयमके अभावके कारण प्राथमिक साधनोंको कष्टसाध्य समझकर छोड़ देते हैं तथा उत्तरकालिक साधनोंका ही अभ्यास करने लगते हैं। यदि उनसे कोई यह पूछे कि प्राथमिक साधनोंके विना सिद्धि कैसे प्राप्त होगी तो उनकी ओरसे यह उत्तर मिलता है कि उत्तरकालिक साधनोंका अभ्यास करनेसे प्रारम्भिक साधन आप-से-आप सिद्ध हो जायँगे। पता नहीं, उन लोगोंका यह कथन कहाँतक ठीक है, जब कि केवल उत्तरकालिक साधनोंका अभ्यास करनेवालेको जो फल मिलता है वह प्रायः सबके सामने है।

पाठकगण मुझसे पूछेंगे कि वे प्रारम्भिक साधन कौन-से हैं, जिनका इतना गौरव है तथा जिनके विना उत्तरकालिक साधन व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। अतः मैं यहाँपर संक्षेपमें कुछ प्राथमिक साधनोंका वर्णन करूँगा। उत्तरकालिक साधनोंका वर्णन यहाँ करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे 'कल्याण' के द्वारा पाठकोंके सम्मुख अनेक बार आ चुके हैं तथा 'साधनाङ्क' में भी उनका विस्तारपूर्वक वर्णन मिलेगा। यहाँ तो केवल उन प्राथमिक साधनोंकी ही कुछ चर्चा होगी, जिनकी अवज्ञा करके उत्तरकालिक साधनोंका अभ्यास करनेसे वे सार्थक सिद्ध नहीं होते, परन्तु उन प्राथमिक साधनोंकी सिद्धि हो जानेपर उत्तरकालिक साधन आप-से-आप अनायास सिद्ध हो जाते हैं। यद्यपि प्राथमिक साधनोंके भी अनेक भेद हैं, तथापि उनमें ये मुख्य हैं—

१-अहिंसा, २-सत्य, ३-अस्तेय, ४-ब्रह्मचर्य, ५-सार्वभौम प्रेम, ६-समस्त भूतोंके हितमें रत रहना, ७-समत्वभाव, ८-घृणाका अभाव, ९-निष्कपटता, १०-दया, ११-क्षमा, १२-निरहङ्कारता।

इन बारह साधनोंको मैं प्रधानतथा प्राथमिक साधन मानता हूँ। अब संक्षेपमें इन सबका कुछ स्पष्टीकरण कर देना ठीक होगा। यथा—

अहिंसा—मन, वाणी अथवा शरीरसे किसीको कष्ट न पहुँचाना। हिंसा तीन प्रकारकी होती है—कृत, कारित और अनुमोदित। कृत वह है जो स्वयं की जाय, कारित वह है जो दूसरेसे करायी जाय और दूसरेकी की हुई हिंसाका समर्थन करना अनुमोदित हिंसा है। इन तीनोंसे बचे रहना ही अहिंसा है (देखिये गीता अध्याय १६, श्लोक २ तथा योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)।

सत्य—अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा अनुभव किया गया हो, उसी भावको प्रिय शब्दोंमें स्पष्ट वर्णन करना। इसमें प्रमाद, लोभ, क्रोध, हास्य, भय आदिके द्वारा कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये (गीता अध्याय १६, श्लोक २ तथा योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)।

अस्तेय—जो वस्तु अपने अधिकारकी न हो, उसपर किसी प्रकारसे भी अपना अधिकार न कायम करना (योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)।

ब्रह्मचर्य—आठों प्रकारके मैथुनोंसे मन, वाणी और शरीरको बचाये रखना (गीता अध्याय १७, श्लोक १४; योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)।

सार्वभौम प्रेम—जगत्के सम्पूर्ण जीवोंके प्रति समानभावसे निश्छल प्रेम रखना, उन सबको भगवान्की मूर्ति समझना (गीता अध्याय १२, श्लोक १३)।

समस्त भूतोंके हितमें रत रहना—संसारके समस्त प्राणियोंकी सेवामें रत रहना और उनकी सेवाको भगवान्की पूजा समझना, उनमें किसी प्रकारका भी भेदभाव न करना (गीता अध्याय १२ श्लोक ४)।

समत्वभाव—जगत्के सब जीवोंको समान अधिकारी समझकर उनके सुख-दुःखोंको अपने सुख-दुःखके समान समझना (गीता अध्याय १२, श्लोक ४,१८; अध्याय ६, श्लोक ३२)।

घृणाका अभाव—ईश्वरकी सृष्टिमें ईश्वररचित सभी जीव उनके प्रतीक हैं, अतएव कोई भी जीव घृणाके योग्य नहीं है—ऐसा दृढ़ निश्चय (गीता अध्याय ५, श्लोक १८; अध्याय ६, श्लोक ९)।

निष्कपटता—व्यवहार तथा कथन दोनोंमें सब प्रकारके कपटका अभाव होना।

दया—जगत्के किसी भी जीवके दुःखको देखकर द्रवित हो जाना और उसको अपने दुःखसे अधिक मानकर हार्दिक सहानुभूतिसहित उसे दूर करनेकी चेष्टा करना (गीता अध्याय १६, श्लोक २)।

क्षमा–किसीके द्वारा सताये जानेपर भी उसके साथ प्रेमका व्यवहार करना (गीता अध्याय १६, श्लोक ३)।

निरहङ्कारता–उपर्युक्त साधनोंको करते हुए अपनेमें किसी प्रकारके भी विशिष्ट भावका आरोप न होने देना। अपने ऊपर समस्त भगवत्स्वरूप प्राणियोंकी दया समझना, न कि मैं किसीपर दया करता हूँ—ऐसा अभिमान करना (गीता अध्याय १८, श्लोक १७)।

ये सभी साधन शास्त्रानुमोदित हैं और इन्हींकी जड़ मजबूत होनेपर उत्तरकालिक साधनोंकी सफलता सिद्ध हो सकती है; परन्तु आजके युगमें अधिकांश साधक इनको कठिन समझकर इनकी उपेक्षा कर देते हैं और इनके बादके साधनोंकी ओर दौड़ते हैं। फल वही होता है, जो इन साधनोंकी सिद्धिके अभावमें होना चाहिये। कुछ लोग तो यों ही अपनेको इन साधनोंसे सम्पन्न मान लेते हैं। वस्तुतः इन साधनोंकी यथार्थ परीक्षा किसी दूसरेके द्वारा होनी भी कठिन है। साधक मनुष्योंको तो अपनी परीक्षा अपने-आप करनी चाहिये। यदि कोई साधक विवेकपूर्वक निष्पक्ष भावसे अपनी परीक्षा अपने-आप करे तो अवश्य ही उसके स्वरूपका सच्चा और स्पष्ट चित्र उसकी आँखोंके सामने आ जायगा। सच्ची चाह होनी चाहिये–अपने दोषोंको जानकर उनका नाश करनेकी, न कि उन्हें दलीलोंसे ढकनेकी। मनुष्यका वास्तविक स्वरूप कोई और नहीं दिखा सकता। आजकलके लोग प्रायः साधु-महात्माओं अथवा विद्वान् पुरुषोंके पास जाकर उनसे अपने वास्तविक स्वरूपको दिखानेकी प्रार्थना किया करते हैं, परन्तु वे लोग यह नहीं समझते कि उनका सच्चा चित्र तो वे आप ही देख सकते हैं। गीताके अध्याय ६, श्लोक ५ में भगवान्ने स्वयं कहा है कि अपने आत्माकी अधोगति न करके अपना उद्धार अपने-आप करना चाहिये। जीवात्मा आप ही अपना मित्र और आप ही अपना शत्रु है। दूसरा कोई भी शत्रु या मित्र नहीं है।

यदि कोई यह पूछे कि मेरा सच्चा चित्र और कोई नहीं प्रकट कर सकता, इसका क्या कारण है, तो इसका कारण स्पष्ट है। अपने दोषों और गुणोंको हम जितना जानते हैं, उनको यदि हम किसीके सामने वाणीद्वारा प्रकट करने लगेंगे तो कुछ हदतक ही प्रकट कर सकेंगे, वाणीकी अक्षमताके कारण सब दोषों और गुणोंका यथार्थ वर्णन करना सहज नहीं है। फिर अपने भाव और उद्देश्यका वर्णन करना तो और भी कठिन है, क्योंकि उद्देश्य अन्तरकी सूक्ष्म वस्तु है। अतः एक तो दूसरेके सामने वाणीके द्वारा अपने बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग क्रिया-कलापों और भावोंका ठीक-ठीक वर्णन नहीं हो पाता; दूसरे ऐसे संत-महात्माओंका मिलना भी कठिन है, जो त्रिकालदर्शी हों और अन्तरकी सारी सूक्ष्म बातोंको जानते हों। इसलिये किसी मनुष्यका सच्चा स्वरूप कोई दूसरा नहीं बता सकता। जैसा कि ऊपर कहा गया है, मनुष्यके बाहर-भीतरका सच्चा चित्र प्रकट करनेवाला तो वह परमात्मा ही है, जो सबके अंदर आत्मरूपसे सदा स्थित है (अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः)। जो प्रकट-अप्रकट सब क्रियाओं और भावोंका साक्षी है तथा जिससे कुछ भी छिपाया नहीं जा सकता, वही परमात्मा हमारी सच्ची तस्वीर हमारे सामने रख सकता है; परन्तु तब जब कि हमें अपनी उस तस्वीरकी चाह होगी। वह तस्वीर हमारे कर्म और भावानुसार भद्दी भी हो सकती है तथा सुन्दर भी; परन्तु होगी वह सर्वथा अकृत्रिम–असली। सच बात तो यह है कि मनुष्य अपनी भद्दी और भयङ्कर तस्वीर देखना नहीं चाहता, देखनेकी हिम्मत नहीं करता, उससे डरता है। इसलिये वह उसे भरसक छिपाये रखना चाहता है, परन्तु कबतक छिपा सकता है? एक-न-एक दिन तो उसका कुरूप, कालिमाओंसे युक्त और विकलाङ्ग चित्र उसके सामने आयेगा ही। फिर जब अनिवार्य होकर वह चित्र सामने आयेगा तब उसमें सुधार होना अत्यन्त कठिन होगा। इसलिये मृत्युके पहले ही अपने उस चित्रको देखकर दोषोंका पता लगा लेना चाहिये। तभी उसे दोषोंसे विनिर्मुक्त करके सुन्दर बनाया जा सकता है और अन्तमें 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्' को चरितार्थ किया जा सकता है। असलमें भगवान्की प्राप्ति भगवदाज्ञानुसार आचरण करनेवालेको ही हो सकती है। जैसा भाव और व्यवहार भगवान्ने बताया है, वैसा ही भाव और व्यवहार साधकका होना चाहिये; अन्यथा उसकी साधनाकी सफलता और भगवत्प्राप्ति सम्भव नहीं है।

अन्तमें एक कहानीका संक्षिप्त उल्लेख करके लेख समाप्त करना है। किसी स्थानपर चार भक्त आपसमें भगवच्चर्चा कर रहे थे। उनके सामने यह विषय उपस्थित हुआ कि कैसे आचरणवालोंको भगवान् मिलते हैं। इसपर एक भक्तने कहा—

रोड़ा हो रह बाटका, तज मनका अभिमान।
ऐसा जो कोइ दास हो, ताहि मिलै भगवान॥

दूसरे भक्तने कहा कि 'नहीं, यह मार्ग कुछ दोषयुक्त है। भगवत्प्राप्तिका सरल मार्ग मैं बताता हूँ'—

रोड़ा भया तो क्या भया, पंथीको दुख देय।
हरिजन ऐसा चाहिये, ज्यों धरतीकी खेह॥

तीसरे भक्तने कहा कि 'यह मार्ग भी ठीक नहीं। मैं बताता हूँ, सुनिये'—

खेह भया तो क्या भया, उड़ उड़ लागे अंग।
हरिजन ऐसा चाहिये, ज्यों पानी सरबंग॥

चौथे भक्तने कहा कि 'यह मार्ग भी बिल्कुल ठीक नहीं है।' तब उपर्युक्त कथन करनेवाले तीनों भक्तोंने पूछा कि 'अच्छा, अब आप बताइये, किसको भगवान्की प्राप्ति हो सकती है।' इसपर चौथे भक्तने यह कहा—

पानी भया तो क्या भया, जो सीरा ताता होय।
हरिजन ऐसा चाहिये, हरि ही जैसा होय॥

इस कथनको सुनकर सब भक्तोंको सन्तोष हो गया। वास्तवमें इस जगत्का ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो प्रभुकी उपमाके योग्य हो। प्रभुकी उपमाके योग्य तो स्वयं प्रभु ही हैं। अतएव सच्चे कल्याणेच्छु साधकोंको चाहिये कि वे भगवत्प्राप्तिके सब साधनोंका यथाक्रम अभ्यास करें। ऊपरके वर्णित प्रारम्भिक साधन उपेक्षणीय नहीं हैं, बल्कि वे प्रधान हैं और प्रभुके व्यवहारके द्योतक हैं। उन्हींकी सिद्धिसे आगे चलकर उत्तरकालिक साधन भी सफल होंगे और फिर सबके फलस्वरूप भगवान्की प्राप्ति सुगम हो जायगी। ऐसा मेरा निश्चय है, आगे पाठकगण स्वयं इन बातोंकी मीमांसा करें।

इस युगका एक महासाधन

(लेखक—श्रीनर्मदाशंकर भगवानलाल दूरकाल एम्० ए०, विद्यावारिधि, धर्मविनोद)

आत्मकल्याणसिद्धिके लिये जगदीश्वर परमात्मा और महात्माओंने अनेक साधन निर्माण किये हैं। इनमेंसे अभी हमें ऐसे साधनका विचार करना है, जो वर्तमान समयमें काम दे, सबके लिये सुलभ हो और सबको लाभ पहुँचावे। कर्मयोग और ज्ञानयोग इस समयके लिये अनुकूल नहीं पड़ते और इनके अधिकारी भी बहुत कम हैं; क्योंकि अधिकांश मनुष्योंके मन राग और त्यागके मध्यवर्ती प्रदेशमें ही झूलते रहते हैं। ऐसे लोगोंके लिये भक्तिका मार्ग ही सरल और अनुकूल होता है।

शास्त्रोंने कलियुगमें भक्तिका ही प्राधान्य बताया है। वर्तमान युगके अधिकांश धर्माचार्यों और पंथप्रवर्तकोंने प्रधानतः भगवद्भक्तिका ही उपदेश किया है। भगवान् श्रीमत् शङ्कराचार्यके भक्तिरसपरिप्लुत ललित मधुर स्तोत्र प्रसिद्ध ही हैं। चीन, जापान और बर्मा आदि देशोंमें भगवान् बुद्धदेवकी मूर्तियोंका भक्तिभावसे पूजन-अर्चन ही सर्वत्र होता है। श्रीमद् रामानुज, श्रीमद् वल्लभ आदि आचार्य भक्ति-सम्प्रदायके ही आचार्य कहे जाते हैं। ब्रह्मसमाजके प्रचारक केशवचन्द्र सेनके भगवद्भक्तिविषयक व्याख्यान ही उनके श्रोताओंको सबसे अधिक मुग्ध किया करते थे। श्रीरामकृष्ण परमहंस भगवतीके परम उपासक भक्त थे ही। हजरत ईसा और हजरत महम्मदके उपदेशोंमें भगवान्की वन्दनाके लिये ही सबसे अधिक आग्रह है। अपने देशके सुविख्यात महात्मा गाँधीका सबसे बड़ा भरोसा भगवान्की भक्ति और प्रार्थना ही तो है।

इस प्रकार भक्ति कल्याणका महामार्ग है। इस महामार्गसे चलनेवाला साधक निःश्रेयसके महाशिखरतक पहुँच सकता है और मार्गमें उसे अभ्युदय और सब प्रकारके प्रेयस् भी प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि प्रेयस्के सरिता-सरोवर और अभ्युदयके फल-फूलोंसे सुशोभित सुवासित रम्य वनोपवन इस मार्गमें मिलते ही हैं। साधककी जैसी इच्छा होती है, वैसा उसे लाभ होता है। प्रेयस्की इच्छा निन्द्य या तिरस्करणीय नहीं होती; क्योंकि अविद्या-काम-कर्मसे उत्पन्न जीवोंमें सौमेंसे निन्यानवे जीव दैवी माया और वासनाओंसे ही बद्ध रहते हैं। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने सकाम भक्ति करनेवालोंको 'उदार' कहकर सम्मानित ही किया है। हाँ, राग-द्वेष वा किसी बाह्य विषयका अभिनिवेश इस मार्गमें जितना ही कम हो, उतनी ही शीघ्र साध्यकी सिद्धि होती है। भक्तिसे मुक्ति-जैसी सर्वोत्तम सिद्धि भी जब मिल जाती है, तब किसी शुभ कामनाका सिद्ध होना कौन-सी बड़ी बात है? इसके प्राचीन और वर्तमान उदाहरण भी असंख्य हैं, जिनकी पुनरुक्ति यहाँ करनेकी आवश्यकता नहीं।

हाँ, सकाम भक्तिके परे जो प्रेम है, उसका होना बहुत

ही दुर्लभ है; अनेक जन्मोंके पुण्योंका उदय होनेसे ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान् वेदव्यासने इस उत्कट भक्ति-भाव या प्रेमका हृदयमें प्रादुर्भाव करानेके लिये एक महा-साधन अवश्य बताया है। वह साधन है श्रीमद्भागवतका सप्ताह-यज्ञ। इस यज्ञकी महिमा भारतवर्षमें सर्वत्र विदित है और इसका प्रचार भी बहुत कुछ है। असंख्य नर-नारी आजतक इस यज्ञसे कृतकृत्य हुए हैं। परन्तु आजकलके नवयुवकोंको इसकी महिमाका कुछ भी पता न हो, यह बड़ी सोचनीय बात है। उन्हें यह जानना चाहिये कि सर्वोत्कृष्ट रस-साहित्यसे परिपूर्ण इस भक्ति-सदाचार-रसामृत ग्रन्थमें जीवन-परिवर्तन-की विलक्षण दिव्य शक्ति है। सप्ताह-यज्ञमें इसका जिस रूपमें विनियोग है, वह मानसशास्त्र और समाजशास्त्रकी खूबियोंसे भरा हुआ है। केवल भागवतका पाठ कर लेनेसे ही यज्ञ सम्पन्न नहीं होता। इसमें तो एक साथ ही भगवत्प्रेरित किसी दिव्य जीवन-सन्देशकी प्राप्ति, अपने सब स्नेही-सम्बन्धियों-का भगवदधिष्ठानमें एक दिव्य सम्मेलन, एक सप्ताहका श्रद्धा-युक्त ब्रह्मचर्यपालन और तपश्चरण, आत्मस्वरूपकी पहचान-के लिये आवश्यक सार्वदेशिक ज्ञानका विहंगदर्शन, आर्यजाति-के दिव्य अमोघ आदर्शों, भावों और सिद्धान्तोंका आवर्तन— ये उत्तमोत्तम, अत्यन्त उपादेय कार्य सिद्ध होते हैं। सप्ताहमें भागवतका जो वक्ता हो, वह अवश्य ही भागवतनिष्ठ होना चाहिये।

यह सही है कि एक सप्ताहमें जल्दी-जल्दी सम्पूर्ण भागवत पढ़ जाने या सुन लेनेसे भागवत-ज्ञानका पूर्ण आकलन और भागवत-रसका पूर्ण आस्वादन सामान्य मनुष्य नहीं कर सकते। पर इस सप्ताहकी योजना इसके लिये है ही नहीं। यह यज्ञ तो भगवान्‌की मनोहारिणी वाङ्मयी मूर्तिकी झाँकी करने और जीवनके धन्य क्षणको पानेके लिये किया जाता है। फरहाद शीरींको या रोमिओ जूलिएटको किसी जलसेमें एक बार एक निगाह देख भर लेता है। वह उसकी महिमासे अभी अनभिज्ञ है; पर दर्शनमात्रसे वह उसका प्रेमी बन जाता है, अपना जीवन उसीकी अर्चनामें लगा देता और अन्तमें उसे उसीपर उत्सर्ग भी कर देता है। उसी प्रकार इस सप्ताहयज्ञमें जीवात्मा अपने परम प्रेमास्पदकी वह झाँकी कर लेता है, जिसके करनेपर उससे अधिक प्यारी चीज संसारमें उसके लिये कोई नहीं रह जाती और जगत्‌से इसका नाता जो कुछ रह जाता है, वह उसी प्रियतमके लिये और उसीके सम्बन्धमें ही रहता है।

सप्ताह-यज्ञमें भगवान्‌की वाङ्मयी मूर्तिका दर्शन होनेके साथ ही धर्मका भी दर्शन होता है, जो प्रभुका हृदय है और उस हृदयमें सदा रहनेवाली भक्तिमयी श्रीराधिकाजी दर्शन देती हैं। इस केन्द्रकी परिक्रमा करते हुए जगत्‌के इतिहास और सृष्टिनिरूपण मिलते हैं और विराट्‌रूपमें भगवान्‌के दर्शन होते हैं। एक ही परम लक्ष्यको लक्षित करानेवाली इसकी अत्यन्त बलशाली भाषाशैली श्रोताओंको उस सूत्रमें बाँध लेती है, जिससे वे कभी सत्यसे नहीं बिछुड़ते।

ऐसा यह विलक्षण ग्रन्थ है। पुराणग्रन्थ होनेसे शूद्रादिकोंके लिये भी श्रवणीय है और श्रवण करनेवाले मात्रका अत्यन्त उपकार करनेवाला है। यह कल्पनाका क्षणिक मनोराज्य नहीं, सत्यका सनातन साहित्य है। मनुष्य-जातिका परमहित उसमें निहित है। जगत्‌के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रहस्य, धर्मका गूढ़तम तत्त्व, कर्मकी गहन गति, कालात्माकी अकल कला—इन सबका मर्मोद्‌घाटन इस महान् ग्रन्थमें महामुनि भगवान् वेदव्यासकी क्रान्तदर्शिनी बुद्धिके द्वारा हुआ है।

श्रीमद्भागवतके निकट परिचयसे यह बात दृष्टिगत हुई है कि इसका जो एकादश स्कन्ध है, वह वेदमाता गायत्रीका ही महाभाष्य है। इसके ३१ अध्याय हैं। इनमें पहला और अन्तके दो अध्याय उपक्रम और उपसंहारके अध्याय हैं। इन्हें छोड़कर बाकी जो २८ अध्याय हैं उनमें प्रणव, तीन व्याहृति और चौबीस अक्षर गायत्रीके मिलकर २८ अक्षरोंका तत्त्व निहित है। इन २८ अध्यायोंमें प्रथम चार अध्याय योगेश्वरोंके उपदेश हैं; अनन्तर २४ अध्यायोंमें महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश है, जो छठे अध्यायमें 'अथ' शब्दसे आरम्भ होता है। यही गायत्रीका महाभाष्य कहा जा सकता है।

जब साधनका विचार करना है, तब पहले साध्यका विचार होना ही चाहिये। सात्त्विक विचारवाले पुरुषोंके लिये साध्यका प्रश्न कोई कठिन प्रश्न नहीं है। सामान्यतः सभी मनुष्य सुख, समृद्धि, उन्नति या अभ्युदय और निःश्रेयस ही तो चाहते हैं और ये सब भगवत्कृपासे अति शीघ्र और अनायास प्राप्त होते हैं। इसलिये सामान्य और

विशेष—सबके लिये भगवत्कृपा ही एकमात्र वाञ्छनीय वस्तु है अर्थात् भगवत्कृपा ही सबकी साध्य होनी चाहिये। भगवत्कृपारूपिणी यह कामधेनु सदा भगवान्‌के समीप ही रहती है। इसे प्राप्त करनेमें भागवतका सत्साहचर्य अत्यन्त अमोघ साधन है। इसीलिये इसे कलियुगका महासाधन कहा गया है। उसकी इस अगाध महिमाके कारणसे ही महामुनिने स्पष्ट ही निर्देश किया है कि—

साधनानि तिरस्कृत्य कलौ धर्मोऽयमीरितः।

विचार-साधन

(लेखक—श्रीमत्स्वामी शङ्करतीर्थजी महाराज)

विशोक आनन्दमयो विपश्चित्
स्वयं कुतश्चिन्न बिभेति कश्चित्।
नान्योऽस्ति पन्था भवबन्धमुक्तै
विना स्वतत्त्वावगमं सुसूक्ष्मम्॥ १॥
(भगवान् भाष्यकार श्रीशङ्कर)

शोकरहित आनन्दमय विद्वान् स्वयं किसीसे भी भयभीत नहीं होता। अतिसूक्ष्म आत्मतत्त्वज्ञानके विना भवबन्धनसे मुक्ति प्राप्त करनेका और कोई उपाय नहीं है॥१॥

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
अन्तर्बहिःशून्यमनन्यमात्मनः।
विज्ञाय सम्यङ् निजतत्त्वमेतत्
पुमान् विपाप्मा विरजो विमृत्युः॥ २॥

नित्य, विभु, सर्वगत, अतिसूक्ष्म, भीतर और बाहरसे शून्य एवं भेदरहित आत्माके स्वरूपको सम्यक् रूपसे जानकर मनुष्य पापसे रहित, तापसे रहित और मृत्युञ्जय हो सकता है॥२॥

ब्रह्माभिन्नत्वविज्ञानं भवमोक्षस्य कारणम्।
येनाद्वितीयमानन्दं ब्रह्म सम्पद्यते बुधैः॥ ३॥

ब्रह्मके साथ आत्माका अभेदज्ञान संसारसे मुक्त होनेका हेतु है। ब्रह्म और आत्माके ऐक्यज्ञानके द्वारा पण्डितलोग अद्वितीय आनन्दस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥३॥

ब्रह्मभूतस्तु संसृत्यै विद्वान्नावर्तते पुनः।
विज्ञातव्यमतः सम्यग् ब्रह्माभिन्नत्वमात्मनः॥ ४॥

जो ब्रह्मको जानकर ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं, उनका पुनः संसारमें आवागमन नहीं होता। अतएव सम्यक् रूपसे आत्मा और ब्रह्मका अभेदज्ञान प्राप्त करना चाहिये॥४॥

यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात्।
तत्सर्वं ब्रह्मैकं प्रत्यक्षाशेषभावनादोषम्॥ ५॥

यह समस्त जगत् जो अज्ञानके कारण नानारूपमें प्रतीत हो रहा है, सब सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे रहित अद्वितीय ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं है; क्योंकि ब्रह्म-तत्त्वमें भेदभावनाके दोष प्रत्यक्ष हो रहे हैं॥५॥

मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः
कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपम्।
न कुम्भरूपात् पृथगस्ति कुम्भः
कुतो मृषा कल्पितनाममात्रः॥ ६॥

मृत्तिकासे उत्पन्न वस्तु मृत्तिकासे भिन्न नहीं होती, घट सर्वत्र ही मृत्तिकास्वरूप होता है। घटरूपसे घट पृथक् नहीं होता, क्योंकि 'घट' नाम और आकार मिथ्या अर्थात् मृत्तिकामें कल्पितमात्र होता है॥६॥

केनापि मृद्भिन्नतया स्वरूपं
घटस्य सन्दर्शयितुं न शक्यते।
अतो घटः कल्पित एव मोहा-
न्मृदेव सत्यं परमार्थभूतम्॥ ७॥

कोई भी मृत्तिकासे भिन्न घटके स्वरूपको नहीं दिखला सकता। अतः अज्ञानवश मृत्तिकामें घट कल्पित ही है, एकमात्र मृत्तिका ही सत्य और परमार्थरूप है॥७॥

सद्ब्रह्म कार्यं सकलं सदेव
तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति।
अस्तीति यो वक्ति न तस्य मोहो
विनिर्गतो निद्रितवत्प्रजल्पः॥ ८॥

ब्रह्म सत्स्वरूप है, समस्त कार्य सत्स्वरूप है, ब्रह्मस्वरूप है; क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जो पुरुष कहता है कि ब्रह्मातिरिक्त कोई वस्तु है, उसकी बात सोये हुए पुरुषके प्रलापके समान मिथ्या है; क्योंकि उसका मोह नष्ट नहीं हुआ है॥८॥

मैं देह नहीं हूँ; क्योंकि देह दृश्यमान होता है, मैं द्रष्टा हूँ। मैं इन्द्रिय भी नहीं हूँ, क्योंकि इन्द्रियाँ भौतिक पदार्थ हैं और मैं अभौतिक हूँ। मैं प्राण नहीं हूँ, क्योंकि प्राण अनेक हैं और मैं एक हूँ। मैं मन नहीं हूँ; क्योंकि मन चञ्चल है, मैं स्थिर हूँ, एकरूप हूँ। मैं बुद्धि नहीं हूँ; क्योंकि बुद्धि विकारी है, मैं निर्विकार हूँ, एकरस हूँ। मैं तम नहीं; क्योंकि वह जड है, मैं चेतन हूँ, प्रकाशस्वरूप हूँ। मैं देह, इन्द्रिय आदिकी समष्टि भी नहीं हूँ, क्योंकि वे सब घटादिके समान नाशवान् हैं—मैं अविनाशी हूँ, नित्यसाक्षी हूँ। मैं देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अज्ञान आदिको प्रकाशित कर, इन देहादिमें आत्माका अभिमान करनेवाले अहङ्कारको प्रकाशित करता हूँ।

यह सारा जगत् मैं नहीं हूँ, बुद्धिका विषयसमूह भी मैं नहीं हूँ; क्योंकि सुषुप्ति आदि अवस्थामें भी साक्षीरूपमें मेरी सत्ता प्रतीत होती है। मैं सुषुप्ति-अवस्थामें जिस प्रकार निर्विकार रहता हूँ, उसी प्रकार अन्य दो अवस्थाओं अर्थात् जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें भी मैं निर्विकार रहता हूँ। स्वप्न और जाग्रदवस्थाके विषयादिके स्पर्शसे मैं विकृत नहीं होता। जिस प्रकार उपाधिगत नील, रक्त प्रभृति वर्णोंके द्वारा स्फटिक लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार काम, क्रोध आदि शरीरज दोषोंके द्वारा आत्मा लिप्त नहीं होता।

जो पुरुष देहत्रयको नित्य समझकर उसमें आत्माभिमान करता है, तथा जबतक उसमें इस प्रकारका भ्रम रहता है, तबतक वह मोहान्ध पुरुष नाना योनियोंमें जन्म ग्रहण करता रहता है। निद्रावस्थामें जो देह प्रतीत होता है, उसमें जो सुख-दुःखादिके अनुभव होते हैं, वे सब जिस प्रकार जाग्रत् शरीरको स्पर्श नहीं कर सकते, उसी प्रकार जाग्रत् शरीरमें जो समस्त दुःख-सुखादिका ज्ञान होता है, वह आत्माको स्पर्श नहीं कर सकता। निद्रावस्थामें—स्वप्नमें जिस देहकी प्रतीति होती है, वह जाग्रत् शरीरके समान सत्य-सा प्रतीत होता रहता है। परन्तु स्वप्न-कल्पित शरीरके नष्ट होनेपर जाग्रत्-अवस्थाका शरीर नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें जाग्रत् शरीर आत्मवत् प्रतीत होता है, अर्थात् उस समय जाग्रत् शरीरमें ही आत्माभिमान होता है; जब वह जाग्रत् शरीर विनष्ट हो जाता है, तब आत्मा कभी नष्ट नहीं होता। स्वप्नकल्पित शरीरके नष्ट होनेपर जिस प्रकार जाग्रत-अवस्थाका शरीर अवशिष्ट रहता है उसी प्रकार प्रबुद्ध व्यक्तिके जाग्रत्-अवस्थाके शरीरके नष्ट होनेपर आत्मा अवशिष्ट रहता है।

जिस प्रकार जिस व्यक्तिको रज्जुमें सर्प-भ्रम नहीं है, वह व्यक्ति रज्जु देखकर भयभीत नहीं होता, उसी प्रकार जो व्यक्ति ज्ञानी अर्थात् भ्रमरहित है, वह संसार तथा तज्जनित तापत्रयसे मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति अज्ञ है और काम्य कर्मोंमें निरत रहता है, वह निरन्तर संसार-चक्रमें भ्रमण किया करता है।

स्थूलशरीर मांसमय तथा सूक्ष्मशरीर वासना अर्थात् संस्कारमय होता है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च प्राण, बुद्धि और मन—इन सतरह तत्त्वोंकी समष्टिका नाम है 'सूक्ष्मशरीर'। अज्ञानको 'कारणशरीर' कहते हैं। साक्षीरूप बोध ही इस त्रिविध शरीरका प्रकाशक है। बुद्धिमें प्रतिबिम्बित बोधका आभास ही पुण्य और पापका कर्ता है। वही कर्मके वश होकर सदा इहलोक और परलोकमें गमनागमन करता रहता है। प्रयत्नपूर्वक इस बोधाभाससे शुद्धबोधको पृथक् करना चाहिये। जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थामें ही बोधाभास दृष्ट होता है। परन्तु सुषुप्तिकालमें जब बोधाभास लयको प्राप्त होता है, तब शुद्धबोध ही अज्ञानको प्रकाशित करता है। जाग्रत्-अवस्थामें भी बुद्धिका स्थिरभाव शुद्ध बोधके द्वारा प्रकाशित होता है, तथा चिदाभासयुक्त जो बुद्धिके समस्त व्यापार हैं वे भी साक्षीचैतन्यके द्वारा प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार अग्निसे प्रतप्त जल तापयुक्त होकर शरीरको तापप्रद जान पड़ता है, उसी प्रकार आभाससंयुक्त बुद्धि साक्षीचैतन्यके द्वारा प्रकाशित होकर अन्य वस्तुकी प्रकाशक बनती है। रूप-रसादि पञ्च विषयोंमें गुण-दोषरूप जो विकल्प हैं, वे बुद्धिस्थ क्रियास्वरूप हैं। चैतन्य रूपादि विषयोंके साथ इन सब क्रियाओंको प्रकाशित करता है। प्रत्येक क्षण बुद्धिके विकल्प (व्यापार) समूह विभिन्न रूप धारण करते हैं, परन्तु चैतन्य विभिन्न रूप नहीं होता। जिस प्रकार मोतीकी मालामें मोतियोंके परस्पर विभिन्न होनेपर भी सूत्र अन्यरूप नहीं होता, परन्तु सब मोतियोंमें पिरोया रहता है, उसी प्रकार बुद्धिके व्यापारोंके परस्पर भिन्न होनेपर भी चैतन्य सर्वत्र एक रूपमें अनुगत रहता है। जिस प्रकार मोतियोंके द्वारा ढका होनेपर भी सूत दो मोतियोंके बीचमें दिखलायी पड़ता है, उसी प्रकार चैतन्य बुद्धि-वृत्तिरूप विकल्पोंके द्वारा आवृत होनेपर भी दो विकल्पोंके बीचमें स्पष्ट प्रतीत होता है। पहले विकल्पके

नष्ट होनेपर जबतक दूसरा विकल्प उत्पन्न नहीं होता, तबतक निर्विकल्पक चैतन्य स्पष्टरूपसे प्रकाशित रहता है। जो लोग ब्रह्मकी अनुभूति प्राप्त करना चाहते हैं, उनको इसी प्रकार एक, दो या तीन क्षणोंमें विकल्प अर्थात् व्यापारके निरोधका क्रमशः यत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिये। जो अहं सविकल्प चैतन्य है, वही अहं एकमात्र निर्विकल्प ब्रह्म है। विकल्प स्वतः-सिद्ध, स्वाभाविक अर्थात् अविद्याकल्पित हैं। प्रयत्नपूर्वक इन सब विकल्पोंका निरोध करना चाहिये। जब शरीरमें आत्मबुद्धिके समान ब्रह्ममें आत्मबुद्धि दृढ़रूपसे हो जाती है, तभी कृतकृत्यता प्राप्त होती है; फिर शरीरकी मृत्यु होनेपर भी पुरुष मुक्त हो जाता है, इसमें कोई भी संशय नहीं।

× × × ×

मायाकी दो शक्तियाँ हैं—एक विक्षेपशक्ति और दूसरी आवरणशक्ति। विक्षेपशक्ति लिङ्गशरीरसे लेकर ब्रह्माण्ड-पर्यन्त जगत्‌की सृष्टि करती है। सृष्टि किसे कहते हैं? समुद्रमें जिस प्रकार फेन, बुद्‌बुद, तरङ्ग आदिका आविर्भाव होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दरूप परब्रह्ममें नामों और रूपोंका जो विकास होता है उसीका नाम सृष्टि है। आवरणशक्ति शरीरके भीतर द्रष्टा आत्मा और दृश्य अन्तःकरणके भेदको, तथा बाहर ब्रह्म और सृष्टिके भेदको आवृत करती है। यही आवरणशक्ति संसारका कारण है। स्थूलशरीरके साथ संयुक्त लिङ्गशरीर साक्षीके सम्मुख विराजमान रहता है। वह चैतन्यकी छायाके द्वारा सम्बन्ध होनेपर व्यावहारिक जीवके नामसे पुकारा जाता है। जीवका जीवत्व अध्यासके कारण साक्षीको जीवरूप प्रतीत होता है। आवरणशक्तिके नष्ट होनेपर अर्थात् साक्षी और जीवका भेद प्रकट हो जानेपर जीवत्व नष्ट हो जाता है। आवरणशक्ति सृष्टपदार्थ और ब्रह्मके भेदको ढककर स्थित है, इसीसे ब्रह्म कार्यजगत्‌के रूपमें प्रकट होता है। मायाकी आवरणशक्तिका नाश होने-पर ब्रह्म और सृष्ट पदार्थोंका भेद प्रकट हो जाता है। सृष्टिकालमें ब्रह्म और सृष्ट पदार्थोंका विकार होता है; परन्तु वस्तुतः ब्रह्मका कभी विकार नहीं होता, आवरणशक्तिके कारण ब्रह्म विकारयुक्त जान पड़ता है।

प्रत्येक पदार्थमें पाँच अंश दिखलायी पड़ते हैं—सत्ता, प्रकाश, आनन्द, रूप और नाम। इनमें पूर्वोक्त तीन ब्रह्मके स्वरूप हैं, नाम और रूप जगत्‌के स्वरूप हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवीमें तथा देवता, पशु-पक्षी आदि तिर्यक् जाति और मनुष्य आदिमें सत्, चित्, आनन्द अभिन्नभावसे विद्यमान हैं; केवल नाम और रूपका भेद होता है। मोक्षकी इच्छा करनेवाले मनुष्यका कर्तव्य सच्चिदानन्द-वस्तुमें एकाग्र होकर नाम और रूपकी उपेक्षा करके सर्वदा हृदयमें अथवा बाहर समाधिका अभ्यास करना है। समाधि दो प्रकारकी होती है—सविकल्प और निर्विकल्प। फिर, सविकल्प समाधि भी दो प्रकारकी होती है—दृश्यानुविद्ध अर्थात् दृश्यसे सम्बद्ध और शब्दानुविद्ध अर्थात् शब्दसे सम्बद्ध। काम आदि सब दृश्य चित्तके धर्म हैं, इनकी उपेक्षा करके इनके साक्षीस्वरूप चेतनका ध्यान करना चाहिये। इसे हृदयस्थ दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि कहते हैं। 'मैं असंग हूँ, सच्चिदानन्द हूँ, स्वयंप्रकाश—द्वैतरहित हूँ' इस प्रकार निरन्तर एकतान चिन्तनप्रवाहमें डूबे रहनेका नाम है हृदयस्थ शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि। अपने अनुभवरूप रसके आवेशके द्वारा कामादि दृश्य पदार्थ और शब्दसमूहकी उपेक्षा करके निर्वात स्थानमें स्थित दीपशिखाके समान जो समाधि होती है, उसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं। हृदयके समान बहिर्देशमें या किसी भी वस्तुमें दृश्यानुविद्ध समाधिका अभ्यास किया जा सकता है, उसमें नाम और रूपको पृथक् करके सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मका ध्यान करना पड़ता है। 'अखण्ड, एकरस, सच्चिदानन्द-स्वरूप ही ब्रह्मवस्तु है' इस प्रकार अविच्छिन्नरूपसे चिन्तन करनेको शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि कहते हैं। रसा-स्वादनके परिपाकके द्वारा पूर्ववत् जो स्तब्धता आ जाती है, उसको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। योगीको इस तरह छः प्रकारकी समाधिके द्वारा सदा काल व्यतीत करना चाहिये; शरीरसें आत्माभिमानके दूर होनेपर तथा परमात्मज्ञान होनेपर जहाँ-जहाँ मन दौड़ता है, वहीं-वहीं समाधि लगती जाती है। श्रुति कहती है—

> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

परावर ब्रह्मका दर्शन होनेपर हृदयकी कामादि ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं, समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं, तथा सञ्चित कर्मोंका क्षय हो जाता है।

जीव तीन प्रकारके हैं—बुद्धि आदिके द्वारा अवच्छिन्न, चिदाभास और स्वप्नकल्पित। इनमें अवच्छिन्न जीव पारमार्थिक है। अवच्छेद कल्पित है, परन्तु अवच्छेद्य यथार्थ है। अवच्छेद्य ब्रह्ममें जीवत्व आरोपित है, ब्रह्मत्व ही स्वाभाविक है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य पूर्ण ब्रह्मके साथ

अवच्छिन्न जीवकी एकता प्रकट करते हैं, अन्य दो जीवोंके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहते।

विक्षेपशक्ति और आवरणशक्तिसे युक्त माया ब्रह्ममें अवस्थान करती है। वह माया ब्रह्मकी अखण्डताको आवृत करके उसमें जगत् और जीवकी कल्पना करती है। बुद्धिस्थ चिदाभासको जीव कहते हैं, वही भोक्ता और कर्मकारक है। यह सब भूतभौतिक जगत् जीवका भोग्यस्वरूप है। अनादिकालसे लेकर मोक्षके पूर्वपर्यन्त जीव और जगत् व्यवहारकालमें वर्तमान रहते हैं, अतएव दोनों ही व्यावहारिक हैं। चिदाभासमें स्थित विक्षेप और आवरणशक्तिरूपा निद्रा मायाके द्वारा सृष्ट जीव और जगत्को आवृत करके नूतन जीव और जगत्की कल्पना करती है। जबतक प्रतीति है, तभीतक अवस्थिति रहती है; इसी कारण इस जीव और जगत्को प्रातिभासिक कहते हैं। क्योंकि स्वप्नसे जागे हुए व्यक्तिके लिये फिर स्वप्नमें इस जीव और जगत्की अवस्थिति नहीं रहती। प्रातिभासिक जीव प्रातिभासिक जगत्को वास्तविक समझता है, परन्तु व्यावहारिक जीव प्रातिभासिक जगत्को मिथ्या जानता है। व्यावहारिक जीव व्यावहारिक जगत्को सत्य समझता है, परन्तु पारमार्थिक जीव व्यावहारिक जगत्को मिथ्या जानता है। पारमार्थिक जीव अद्वितीय ब्रह्मको (जीव और ब्रह्मके ऐक्यको) पारमार्थिक जानता है, अन्य किसी वस्तुको पारमार्थिक नहीं समझता, बल्कि मिथ्या जानता है।

जलके धर्म माधुर्य, द्रवत्व और शैत्य जिस प्रकार तरङ्गमें व्याप्त होकर तरङ्गस्थित फेनमें व्याप्त होते हैं, उसी प्रकार साक्षीस्थित सच्चिदानन्द व्यावहारिक जीवसे सम्बद्ध होकर व्यावहारिक जीवके द्वारा प्रातिभासिक जीवमें व्याप्त हो जाते हैं। फेनके नष्ट होनेपर उसके धर्म द्रवत्व प्रभृति तरङ्गमें अवस्थित होते हैं और तरङ्गके विलय होनेपर पूर्वके अनुसार जैसे जलमें अवस्थान करते हैं, उसी प्रकार प्रातिभासिक जीवके लय होनेपर सत्-चित्-आनन्द साक्षीमें अवस्थान करते हैं।

× × × ×

जब अज्ञानके कारण अधिष्ठान, चिदाभास और बुद्धि—ये तीनों एक रूपमें प्रतीत होते हैं, तब उसे जीव नामसे पुकारा जाता है। केवल अधिष्ठान चैतन्य (कूटस्थ) जीव नहीं, क्योंकि अधिष्ठान चैतन्य निर्विकार है। चिदाभास (बुद्धिमें चित्प्रतिबिम्ब) भी जीव नहीं, क्योंकि वह मिथ्या है। और केवल बुद्धि—भी जीव नहीं, क्योंकि बुद्धि जड है। अतएव चिदाभास, कूटस्थ और बुद्धि—इन तीनोंका संयोग ही जीव कहलाता है। माया, चिदाभास और विशुद्ध आत्मा—इन तीनोंके संयोगको महेश्वर कहते हैं। माया और चिदाभासके मिथ्या होनेके कारण इनमेंसे कोई ईश्वर नहीं। आत्माको पूर्ण, विशुद्ध और निर्विकार होनेके कारण महेश्वर कहा जाता है। मायाके जडत्वके कारण भी मायाको ईश्वर नहीं कहा जाता। अतएव माया और चिदाभास 'तत्' पदके प्रतिपाद्य ईश्वर नहीं हैं। अज्ञानके कारण जीव और ईश्वर प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार महाकाशमें घटाकाश और गृहाकाश कल्पित होते हैं, उसी प्रकार चिदाभासरूप अहंमें जीव और ईश्वर कल्पित होते हैं। माया और मायाके कार्यके लय होनेपर ईश्वरत्व और जीवत्व नहीं रहता, क्योंकि चैतन्यरूप आकाशके उपाधिविहीन होनेके बाद अहं शुद्ध चैतन्यरूपमें अवस्थान करता है।

चित्स्वरूप आत्मा उपाधिधारणके कारण जीवरूपमें प्रकट होता है, परन्तु उपाधिके नाश होनेपर शिवस्वरूप परमात्माका ईश्वरत्व और जीवत्व कुछ भी नहीं रहता। शिव ही सदा जीव और जीव ही सदा शिव हैं। जिनको इन दोनोंकी एकता प्राप्त हो गयी है वे ही आत्मज्ञ हैं, और कोई आत्मज्ञ नहीं। जिस प्रकार जल दूधमें मिलकर दूधके समान दिखलायी देता है, उसी प्रकार यह अनात्मस्वरूप जगत् आत्माके सहयोगसे आत्माके समान प्रतीत होता है। जीव स्थूलदेहादिसे आत्माको पृथक् करके मुक्त होता है। यदि स्थाणुमें चोरका आरोप होता है अर्थात् उसमें चोर होनेकी भ्रान्ति होती है तो इससे उस स्थाणुका कोई विकार नहीं होता, इसी प्रकार निर्विकार आत्मामें विश्वका आरोप होनेपर भी आत्मामें कोई विकार नहीं होता। जहाँ स्थाणुमें चोरका अध्यास होता है, वहाँ स्थाणुका ज्ञान होनेपर चोरकी उपलब्धि नहीं होती, चोरकी उपलब्धि न होनेपर भय भी नहीं रहता। इसी प्रकार आत्मज्ञान होनेपर संसार नहीं रहता और संसारके न रहनेपर नाना प्रकारकी वस्तुएँ नहीं दिखलायी देतीं। अविद्याकल्पित समस्त अनर्थ निवृत्त हो जाते हैं और अविद्याकी निवृत्ति होनेपर पुरुष परमानन्दस्वरूपको प्राप्त होता है।

अविद्या या अज्ञानके कारण जीव अपनेको ब्रह्मरूप नहीं मानता, ब्रह्मात्मैक्यज्ञानके द्वारा यह अज्ञान नष्ट हो जाता है। इस अज्ञानके द्वारा ही जीव, ईश्वर और जगत्का

आविर्भाव होता है। अधिष्ठान ब्रह्मका ज्ञान होनेपर यह अज्ञान नष्ट हो जाता है—जीव, जगत् और ईश्वरभाव विलुप्त हो जाते हैं, और तब यह कहा जाता है कि जीवका मोक्ष हो गया। अन्यथा जीव स्वरूपतः (इस बद्ध-अवस्थामें भी) मुक्त है। जीवके सुख, दुःख, भय, शोक और मोह आदि सभी इसी अज्ञानके फल हैं। जबतक जीवका अज्ञान रहता है, तबतक व्यवहार रहता है। जबतक व्यवहार है, तबतक कर्म और उपासना हैं—तबतक पूजा-पाठ, प्रार्थना-स्तुति, होम, याग-यज्ञ—सभी अधिकारानुसार करने पड़ते हैं। देवता, ऋषि, गुरु सबकी आराधना करनी पड़ती है। और जबतक अज्ञान रहता है, तबतक दुःखमिश्रित सुखकी ही जीव कामना करता है। वैकुण्ठ, शिवलोक, ब्रह्मलोक आदि कामनाकी चरम सीमा हैं। यह क्रममुक्तिका मार्ग है। क्रम-मुक्तिसे भी अन्तमें अद्वैतज्ञानद्वारा निर्वाण प्राप्त होता है। परन्तु अद्वैतब्रह्मात्मैक्यज्ञान सद्योमुक्तिका मार्ग है।

> श्रुत्याचार्यप्रसादेन दृढो बोधो यदा भवेत्।
> निरस्ताशेषसंसारनिदानः पुरुषस्तदा ॥
>
> (वाक्यवृत्ति ५०)

जब श्रुति और आचार्यके अनुग्रहसे दृढ़ ज्ञान उत्पन्न होता है, तब पुरुषकी संसारकी कारणरूप समस्त अविद्या दूर हो जाती है।

> विशीर्णकार्यकरणो भूतसूक्ष्मैरनावृतः।
> विमुक्तकर्मनिगडः सद्य एव विमुच्यते ॥
>
> (वाक्यवृत्ति ५१)

जब कार्यरूप शरीर और करणरूप इन्द्रियाँ विशीर्ण हो जाती हैं, सूक्ष्म भूतोंके आवरण दूर हो जाते हैं, कर्मरूपी बन्धन नष्ट हो जाते हैं, तब मनुष्य शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त हो जाता है।

> अहं साक्षीति यो विद्याद्विविच्यैव पुनः पुनः।
> स एव मुक्तो विद्वानिति वेदान्तडिण्डिमः ॥
>
> (ब्रह्मज्ञानावलीमाला)

जो देह, इन्द्रिय प्रभृति अनात्मासे आत्माको पृथक् करके 'मैं साक्षीस्वरूप हूँ' इस प्रकारसे आत्माको जानते हैं, वे ही विद्वान् हैं, वे ही मुक्त हैं—यह समस्त वेदान्तकी घोषणा है।

> देहत्रयमिदं भाति यस्मिन् ब्रह्मणि सत्यवत्।
> स एवाहं परं ब्रह्म जाग्रदादिविलक्षणः ॥
>
> (अद्वैतानुभूति ८१)

जिस ब्रह्ममें देहत्रय सत्यके समान प्रतीयमान हो रहा है, मैं वही जाग्रदादिसे विलक्षण परम ब्रह्म हूँ।

> विश्वादिकं त्रयं यस्मिन् परमात्मनि संस्थितम्।
> स एव परमात्माहं विश्वादिकविलक्षणः ॥
>
> (वाक्यवृत्ति ८४)

जिस परमात्मामें विश्व, तैजस और प्राज्ञ—ये तीनों अवस्थान करते हैं, मैं विश्वादिसे विलक्षण वही परमात्मा हूँ।

> जाग्रदादित्रयं यस्मिन् प्रत्यगात्मनि सत्यवत्।
> स एवाहं परं ब्रह्म जाग्रदादिविलक्षणः ॥
>
> (वाक्यवृत्ति ८५)

जिस विश्वव्यापी आत्मामें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—ये अवस्थात्रय सत्यवत् प्रतीयमान होते हैं, मैं जाग्रदादि अवस्थाओं-से पृथक् वही परब्रह्म हूँ।

> विराडादित्रयं भाति यस्मिन् ब्रह्मणि नश्वरम्।
> स एव सच्चिदानन्दलक्षणोऽहं स्वयंप्रभुः ॥
>
> (वाक्यवृत्ति ८६)

जिस परब्रह्ममें विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर प्रभृति मूर्तित्रय प्रकाशमान होते हैं, मैं वही सच्चिदानन्दस्वरूप स्वयं-प्रकाश परब्रह्म हूँ।

सर्वमय भगवान्‌को प्रणाम करो

योगेश्वर कवि कहते हैं—

> खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
> सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥
>
> (श्रीमद्भा० १० । २ । ४१)

आकाश, वायु, अग्नि जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्रादि ज्योतिर्मण्डल, समस्त प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष आदि वनस्पति, नदियाँ और समुद्र सब-के-सब भगवान्‌के शरीर हैं, किसी भी जड-चेतन पदार्थको भगवान्‌का स्वरूप समझकर अनन्यभावसे प्रणाम करना चाहिये।

साधना

(लेखक—स्वामीजी श्रीभूमानन्दजी महाराज)

भारतवर्षके विभिन्न सम्प्रदायोंमें विभिन्न साधन-प्रणालियाँ प्रचलित हैं। जिस सम्प्रदायके प्रवर्तकने अपने शिष्योंमें जिस साधन-धाराका प्रचलन किया, आज वही एक-एक विशिष्ट पन्थके नामसे परिचित है। जैसे नानक-पन्थ, कबीर-पन्थ और दादू-पन्थ इत्यादि। कहीं-कहीं यह भी देखा जाता है कि एक सम्प्रदायकी साधना दूसरे सम्प्रदायकी साधनासे विपरीत है। कोई साकारके उपासक हैं तो कोई निराकार-ध्यानके पक्षपाती हैं। किसीके मतमें अहिंसा ही धर्म और साधन है, तो किसीने हिंसाको भी साधनके अन्तर्गत मान लिया है। साधनाके इस तरह विभिन्न आकार-प्रकार देखकर सहज ही मनमें एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यथार्थ साधन क्या है और साधनके नामसे किसको पुकारना चाहिये। साधना एक है या बहुत, और साधनाकी कोई आवश्यकता भी है या नहीं—ये प्रश्न विचारशील मनुष्यके मनमें घबराहट पैदा कर देते हैं।

२. शब्दार्थकी ओर ध्यान देकर विचार करनेसे पता लगता है कि साध्य विषयके लिये जो प्रयत्न, चेष्टा और अनुष्ठान किया जाता है, उसीका नाम साधन है। यही बात है तो यह भी मानना ही पड़ेगा कि साधनका विचार करनेसे पहले साध्यका निर्णय करना आवश्यक है। साध्य यदि सभीका एक हो और वह देश-काल-पात्रद्वारा परिच्छिन्न न होकर सार्वजनीन हो तो साधनका भी एक होना सम्भव है और वह सम्प्रदायगत विशेष विधि अथवा आचार नहीं हो सकता। अब विचार करना है कि साध्य क्या है?

३. जगत्‌के मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि सभी प्राणियोंकी चेष्टा और क्रियाओंपर स्थिर चित्तसे विचार करनेपर यह स्पष्ट ही दिखलायी देता है कि जीवका एकमात्र काम या साध्य 'सुख' है। इस सुख-प्राप्तिकी आशासे ही सभी जीव अपने जीवनके अन्तिम कालतक चेष्टा या साधन करते रहते हैं, परन्तु आश्चर्य है कि तृप्त कोई भी नहीं होता, अभावोंकी पूर्ण निवृत्ति किसीकी भी नहीं होती। सुखकी इच्छासे चेष्टा करनेपर यह देखा जाता है कि बहुतोंको सफलता मिलती है और वे सुखके निदानस्वरूप भोगोंको प्राप्त भी कर लेते हैं, परन्तु उनके भी अभावों और कामनाओंकी निवृत्ति नहीं होती, वरं ये उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं। इसी बातको ध्यानमें रखकर शास्त्रोंने कहा है—

> न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
> हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

इससे यह साफ मालूम होता है कि हमलोग साध्यका निश्चय किये बिना ही साधनमार्गपर बढ़ रहे हैं, इसीलिये सफलता मिलनेपर भी अभाव नहीं मिटता। अतएव विचारशील पुरुषमात्रका यह सिद्धान्त होना चाहिये कि वस्तुतः क्षणस्थायी सुख जीवकी आकाङ्क्षाका विषय नहीं है, वह तो अनादिकालसे अभावरहित नित्य सुखकी ही खोजमें लगा है और वही उसका साध्य है; परन्तु वह इस बातको नहीं जानता कि किस उपायसे अथवा किस विषयके द्वारा वह सुख प्राप्त हो सकता है और उसके अभावोंका सर्वथा अभाव हो सकता है। जगत्‌के सभी प्राणी इस एक ही अवस्थामें स्थित हैं; इसीसे यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि जब साध्य एक है, तब साधन भी एक ही होगा।

४. अब इस बातपर विचार करना है कि अभाव किसको है? हमारे इस देह और देहके संयोगसे जो कार्य, कर्म, सुख-दुःखादि-बोध, कामना-वासना आदि हो रहे हैं, उनकी ओर देखनेसे यह पता लगता है कि देह एक जड वस्तु है। यह अस्थि-चर्म, मांस-रक्त, मेद और मज्जा आदिका समष्टिभूत पिण्डमात्र है। दूसरी ओर यह भी देखा जाता है कि इसमें ज्ञान, बुद्धि, विचार और अनुभूति आदि विद्यमान हैं और इनमेंसे कोई-सा भी जडका धर्म नहीं है। अतएव यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि यह देह जड और चैतन्यका सम्मिश्रण है। इस देहमें ही इच्छा-शक्तिका विकास भी देखनेमें आता है और जडदेह उस इच्छाके अनुसार ही परिचालित होती है—यह भी देखा जाता है। अब प्रश्न यह है—यह इच्छा किसको है? कौन इस देहका कर्ता है? शास्त्रोंसे पता लगता है कि जो कर्ता है उसे देही, चैतन्य, ज्ञान, अक्षर, आत्मा और जीव आदि अनेकों नामोंसे अभिहित किया गया है। हम जिस समय कहते हैं 'यह मेरा शरीर है', उस समय भी हमारे अंदर यह ज्ञान रहता है कि शरीर 'मैं' नहीं है, शरीर 'मेरा' है; यहाँ भी

हम यह स्वीकार करते हैं कि 'मैं' देहातीत है, तो भी हम उसे पहचानते नहीं ! सूक्ष्मरूपसे विचार करनेपर यह पता लगता है कि अभावका बोध उस देही अथवा आत्माको ही है और उसीकी इच्छासे यह जडदेह अभावकी पूर्तिके लिये उसीके द्वारा परिचालित हो रही है। परन्तु अभावकी निवृत्ति करनेवाले विषयको न जाननेके कारण हमलोगोंने देहके अभावको ही आत्माका अभाव समझ लिया है और प्राणपर्यन्त चेष्टा करके दूसरे जडदेहके द्वारा इस देहके अभावकी पूर्तिमें लग रहे हैं। इसीलिये आत्माकी आकाङ्क्षा निवृत्त नहीं होती और वह दूसरे सुखकी लालसासे बार-बार दूसरे विषयोंकी प्राप्तिके लिये देहको नियुक्त करता है। जीव इसी प्रकार एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयको ग्रहण करता है और एक योनिसे दूसरी योनिमें जाकर भटक रहा है और भटकता रहेगा।

५. अब प्रश्न यह है कि फिर उपाय क्या है ? विचार करनेपर पता लगता है कि हम इन्द्रियग्राह्य विषयोंके द्वारा अतीन्द्रिय आत्माके अभावकी पूर्तिके लिये चेष्टा कर रहे हैं; इसीसे आत्माकी आकाङ्क्षा पूर्ण नहीं होती और विषय-वासना बढ़ती रहती है। विषय ही यदि आत्माके अभावको पूर्ण कर सकता तो आकाङ्क्षित विषयकी प्राप्ति होनेपर उसको लेकर आत्मा चुप हो जाता। हम बहुत बार मनचाही चीज पाते हैं; परन्तु उसे पाकर हम चुप क्यों नहीं रह सकते ? उस वस्तुसे मन क्यों हट जाता है और फिर दूसरे विषयकी कामना क्यों करते हैं ? उदर और उपस्थके सुखको ही तो जीव चरम सुख मानता है; परन्तु उनमेंसे किसीको लेकर वह स्थिर नहीं रह सकता। कामनाके समय विषयमें जितने सुखकी कल्पना की जाती है, भोगके समय अथवा प्राप्तिके दूसरे ही क्षण वह फिर उतने सुखकी वस्तु नहीं मालूम होती; फिर किसी दूसरे अभावका बोध होने लगता है। देखा जाता है जीवका अभाव नित्य है, परन्तु उसके सुखके विषय और जिसके द्वारा वह सुख-भोग करता है वह शरीर—ये दोनों ही अनित्य हैं। इसीलिये अनित्य पदार्थके द्वारा नित्य अभावकी निवृत्ति नहीं होती। वास्तवमें आत्मामें इन्द्रियग्राह्य विषयका अभाव नहीं है; इन्द्रियग्राह्य विषय तो देहको अतिक्रमकर देहीके निकट-तक पहुँच ही नहीं सकता। इसीलिये देहीका अभाव नहीं मिटता। आत्माको आत्मस्वरूपका ही अभाव है और उस अपने स्वरूपकी प्राप्तिसे ही उसके अभावकी निवृत्ति होकर उसे सुख हो सकता है और वही जीवमात्रका साध्य है।

६. विचारशील और मुमुक्षु साधक कभी साधारण बाह्य साधनासे सन्तुष्ट नहीं होते। कारण, वे जानते हैं कि इन्द्रियग्राह्य विषयोंके द्वारा अतीन्द्रिय आत्मस्वरूपका पता नहीं लग सकता। इसीलिये उपनिषद् भी कहते हैं—

न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।

इसीलिये वे आन्तर साधनकी खोजमें लगे रहते हैं। परन्तु खेदका विषय है कि इस आन्तर साधन या स्वरूप-साधनके वक्ता और श्रोता दोनों ही दुर्लभ हैं—'श्रोता वक्ता च दुर्लभः'। जो कुछ भी हो, अब प्रश्न यह है कि वह आन्तर साधन किस प्रकार किया जा सकता है ? उपनिषद् हिन्दू-धर्मके श्रेष्ठ प्रामाणिक शास्त्र हैं। उपनिषद्का उपदेश किसी भी निर्दिष्ट सम्प्रदायविशेषके लिये नहीं है। मनुष्यमात्र ही औपनिषद साधनके अधिकारी हैं। अतएव पहले यह देखना चाहिये कि इस सम्बन्धमें उपनिषद् क्या कहते हैं ?

७. उपनिषदोंने प्रणव-साधनको ही श्रेष्ठ साधन बतलाया है—

(क) स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥

(ख) प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्॥

(ग) प्रणवात्मकं ब्रह्म।

(घ) प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः।
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत्॥

अपने देहको नीचेकी अरणि और प्रणवको ऊपरकी अरणि करके ध्यानरूप मन्थनसे छिपी हुई वस्तुके समान देवको देखे। प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है, उस बाणका लक्ष्य ब्रह्म है। जितेन्द्रिय पुरुषको उसे सावधानीके साथ बेधना चाहिये। बाणके समान तन्मय हो जाय। ब्रह्म प्रणवात्मक है। प्रणवसे ब्रह्मा है, प्रणवसे हरि है, प्रणवसे रुद्र है और प्रणव ही पर तत्त्व है।

परन्तु वर्तमान युगमें प्रणवके स्वरूपको बहुत थोड़े लोग ही जानते हैं। अधिक लोग तो ॐकारके उच्चारणको या मन-ही-मन जप करनेको प्रणव-साधन समझते हैं। परन्तु उपनिषद्के कथनानुसार ॐकारका उच्चारण नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह स्वर या व्यञ्जन नहीं है और वह

कण्ठ, होठ, नासिका, जीभ, दाँत, तालु और मूर्धा आदिके योगसे या उनके घात-प्रतिघातसे उच्चारित नहीं होता—

अघोषमव्यञ्जनमस्वरं च
अकण्ठताल्वोष्ठमनासिकं च ।
अरेफजातमुभयोष्ठवर्जितं
यदक्षरं न क्षरते कदाचित् ।

८. अब प्रश्न यह है कि साधारणतः सभी शब्द कण्ठादिके द्वारा ही ध्वनित होते हैं; परन्तु यदि प्रणव कण्ठादिमें वायुके घात-प्रतिघातके विना ही ध्वनित होता है, तो फिर यह ध्वनि क्या है और किस प्रकारसे, किस उपायसे अथवा किस साधनासे वह अनुभूत हो सकती है। उपनिषदादिमें इस ध्वनिको अनाहत नाद कहा गया है, तन्त्रविशेषमें इसका नाम है 'अकृतनाद'। जिस साधनका अभ्यास करनेसे यह नाद स्वतः ही उत्पन्न होता है, वही इसका वास्तविक साधन है और वही यथार्थ उपाय है; अन्यान्य साधन तो अनुपाय ही हैं—'अनुपायाः प्रकीर्तिताः'।

९. अब विचारका विषय यह है कि वह ध्वनि क्या है। जगत्के सृष्ट सभी विषयोंकी ओर जरा सूक्ष्मरूपसे देखनेपर यह पता लगता है कि सभी जीवों और पदार्थोंमें एक क्रिया या स्पन्दन (Vibration) है। विज्ञान बतलाता है कि क्रियामात्रमें ही दो प्रकारकी गति है—एक आकर्षण (Attraction) और दूसरी विकर्षण (Repulsion)। वर्तमान युगमें यन्त्रादिकी सहायतासे विज्ञानने यह प्रमाणित कर दिया है कि पत्थर, मिट्टी आदिमें भी यह क्रिया सूक्ष्मरूपसे रहती है। मनुष्य-पशु-पक्षी-कीट-पतङ्गादिमें तो यह आकर्षण-विकर्षणात्मक क्रिया सुस्पष्टरूपसे दिखलायी देती है। थोड़ेमें यह कहा जा सकता है कि सारा जगत् ही एक आकर्षण-विकर्षणात्मक क्रियाके द्वारा नियमित हो रहा है। जगत्का 'जगत्' नाम भी इस अविराम स्पन्दन या गतिको लक्ष्य करके ही रक्खा गया है—गम् + क्विप्। साधनके सम्बन्धमें यहाँ मनुष्य-देहकी क्रियापर ही विचार करना है, इसलिये उसी क्रियाकी आलोचना करेंगे और साथ ही उसके साथ साधनाका क्या सम्बन्ध है, यह भी दिखलानेकी चेष्टा की जायगी।

१०. हमारे श्वास-प्रश्वासकी गतिकी ओर देखते ही यह पता लगता है कि एक गति अपने-आप ही नासिकाके भीतरसे ऊपरको उठती है और फिर नासिकाके छिद्रोंसे वह बाहर निकल जाती है। विज्ञान कहता है कि जहाँ स्पन्दन है, वहाँ स्पन्दनके अनुसार शब्द है; जहाँ शब्द है, वहाँ शब्दके अनुरूप स्पन्दन है। परन्तु वह शब्द सुनायी दे भी सकता है और नहीं भी, क्योंकि श्रवणेन्द्रियकी शक्ति एक निर्दिष्ट सीमावाली ही है; अतएव यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे शरीरकी इस स्वाभाविक ऊँची-नीची दोनों क्रियाओंमें भी अपना-अपना शब्द या ध्वनि है। एक बात और है, जहाँ क्रिया है वहाँ कर्ता भी है। वह कर्ता कौन है ? यदि कहें मैं ही कर्ता हूँ तो विचार करनेपर यह बात नहीं मानी जाती। कारण, सुषुप्ति-अवस्थामें तो मेरा कोई कर्तृत्व ही नहीं रहता, यहाँतक कि 'मैं' ज्ञान भी नहीं रहता; परन्तु यह क्रिया तो उस समय भी बराबर चलती ही रहती है। माताके गर्भमें भी गर्भस्थ जीवके शरीरमें बहुत सूक्ष्मरूपसे यह क्रिया चलती है और इसीसे उसका शरीर बढ़ता रहता है। अतएव यह स्वीकार करना होगा कि देहमें होनेवाली इस क्रियाका कर्ता 'मैं' नहीं हूँ। इसका कर्ता निश्चय ही कोई दूसरा है, वही इस देहमें रहकर इस अजब कलको चला रहा है। वह यदि मेरा 'मैं' हो, तो भी, उसके साथ मेरा परिचय नहीं है, उसका स्वरूप मैं नहीं जानता अर्थात् मैं मेरेको ही नहीं पहचानता। मेरा परिचय और सम्बन्ध तो केवल देहके ही साथ है, वह तो देहातीत है; यह देह उसीका है। तो उस 'मैं' का पता लगाना आवश्यक है। उसका पता पाना और आत्मस्वरूपको जानना एक ही बात है; इसीसे ईसाई धर्मोपदेशमें भी 'अपनेको जानो' (Know Thyself) कहा गया है। इस देहगत आत्माका स्वरूप जाननेके लिये भी साधनकी ही आवश्यकता है। वह साधन क्या है ?

११. नासिकाके अंदरसे जो आकर्षण-क्रिया शब्दायमान होकर धीरे-धीरे ऊपरकी ओर उठती है, उस शब्दकी ओर जरा मन लगानेपर यह अच्छी तरह समझमें आ सकता है कि वह शब्द अस्पष्टरूपसे ओंकार-जैसा है। यह शब्द कण्ठ-तालु आदिके घात-प्रतिघातकी अपेक्षा नहीं करता। यहाँतक कि नासिकागत जो वायु उस आकर्षणात्मक क्रियाका अनुसरण करता है, उसकी भी अपेक्षा नहीं करता। उस ओंकारका विश्लेषण करनेपर जाना जाता है कि वह 'उ' और 'म' इन दो वर्णों या शब्दोंकी समष्टिमात्र है, यह ओंकार ऊपर उठनेके समय क्रमसे 'उ' का परित्याग करके 'म' कारमें पर्यवसित या लीन होता है। यह अस्थर

'म' ही साधन है । इसीसे उपनिषद्में कहा है—'अस्वरेण मकारेण पदं गच्छन्त्यनामयम् ।' इस अस्वर 'म'कारका शेष अंश ही प्रणव या ॐकार है और उसका निःशब्दमें लय होना ही ब्रह्मानुभूति, आत्मानुभूति या स्वरूपप्राप्ति इत्यादि है । इसीसे तन्त्रमें कहा गया है—

निःशब्दं तु विजानीयात् स भावो ब्रह्म पार्वति ।

उपायविशेषके द्वारा इस मकारात्मक अवस्थाको प्राप्त किया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने कहा है–'शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।' किसी भी उपायसे मकारात्मक अवस्थामें पहुँच जानेपर भी, हमारे देहमें जो स्वाभाविक विकर्षणात्मक क्रिया है, वह पुनः उस अवस्थाको निम्नगामिनी करके पूर्वावस्थापर पहुँचा देगी । निम्नगामिनी प्रश्वासकी गति और शब्दपर ध्यान देनेसे यह स्पष्ट समझमें आ सकता है कि वह शब्द अस्पष्ट रूपसे हुंकारके-जैसा है । इस निम्नगामी हुंकार शब्दका विश्लेषण करनेपर हमें 'ह् + उ + म्' मिलते हैं । अर्थात् उस अवस्थाको हुंकारात्मक निम्नगामिनी क्रिया ही स्वरूपसे च्युत करती है । अब आवश्यकता यह है कि किस उपायसे इस गिरानेवाले शैतान 'ह'कारके चंगुलसे छूटा जाय । एकमात्र साधनाके द्वारा ही इसके कराल कवलसे छुटकारा मिल सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है ।

१२. जिस कौशलका अवलम्बन और अभ्यास करनेपर हकारात्मक बहिर्विक्षेपण (Repulsion) के क्रमशः मृदु होते-होते आकर्षणात्मक क्रिया क्रमसे ऊपरकी ओर जाती है और समयपर शेष सीमापर पहुँचकर निरुद्ध होकर निष्क्रिय अवस्थाको प्राप्त हो जाती है, उसका नाम हंस-योग है । यही लययोगका श्रेष्ठतम पथ है । इसीके दूसरे नाम हैं—*सहजयोग, सहजपथ, सहज प्राणायाम, आत्मयोग,* अजपा-साधन और प्रणव-साधन इत्यादि ।

इस योगाभ्यासके द्वारा आत्मज्ञान स्फुरित होता है, इसीसे उसे 'आत्मयोग' कहते हैं । बहिर्विक्षेपणका लय होता है, इसीसे इसका नाम 'लययोग' है । इस साधनमें अलग मन्त्र-जप नहीं करना पड़ता, इसीसे यह 'अजपा-साधन' कहा जाता है । इसका अभ्यास देहस्थित सहजक्रिया और शब्द-का अवलम्बन करके किया जाता है, इसीसे इसका नाम 'सहज-साधन' है । इसीके द्वारा प्रणवमें मनका लय होता है, इसीसे यह 'प्रणव-साधन' कहलाता है और 'हं' तथा 'सः' इन दो शब्दोंके योगसे इस साधनका अभ्यास करना पड़ता है, इसीसे इसको 'हंसयोग' कहते हैं । यह 'हंस' शब्द और प्रणव अभिन्न हैं । इसीसे उपनिषद्में कहा है—'हंसप्रणवयोरभेदः ।' ऋषियुगमें इस साधनाका बड़ा प्रचार था । क्रमशः मनुष्योंकी धारणाशक्तिका ह्रास और बाह्य विक्षेपकी अधिकता होनेसे भाँति-भाँतिके स्वर-व्यञ्जनयुक्त मन्त्रोंकी सृष्टि होने लगी और उसीके साथ-साथ नाना प्रकारकी कल्पित मूर्तियोंका मिश्रण होनेसे साधना एक बाह्य व्यापारके रूपमें परिणत हो गयी । इसी प्रकार सूक्ष्म प्रणव-साधन क्रमशः स्थूल पूजाके रूपमें परिणत हुआ । इसीसे शास्त्रमें कहा गया है—

साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना ।

अवश्य ही यह स्वीकार करना पड़ता है कि 'हंसयोग' का अभ्यास करना सबके लिये सम्भव नहीं है । परन्तु जानकार गुरुदेवसे कौशल सीखकर दीर्घकालतक दृढ़ताके साथ साधना करनेसे साध्य आत्मस्वरूपकी प्राप्ति अवश्य ही होती है । आत्मस्वरूपकी प्राप्ति, अभावनिवृत्ति और नित्यानन्दकी प्राप्ति—एक ही बात है । इस अवस्थाकी प्राप्ति हो जानेपर साधकके लिये फिर चाहने या पानेयोग्य और कुछ भी नहीं रह जाता । उसके सारे सन्देह दूर हो जाते हैं । जाननेके लिये फिर अन्य कोई विषय ही नहीं रह जाता । शङ्कराचार्यने इसी अवस्थाको 'ब्रह्म' बतलाया है—

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम् ।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥

१३. आकर्षणात्मक 'हं' और विकर्षणात्मक 'स' इन दो अक्षरोंके योगसे जिस 'हंस' शब्दकी उत्पत्ति होती है, उसको शास्त्रादिमें हंस-मन्त्र, सोऽहं-मन्त्र, अजपा-मन्त्र, अजपा गायत्री, आत्ममन्त्र, अनाहत मन्त्र, पुं-प्रकृतिमन्त्र, ब्रह्म-मन्त्र, जीवमन्त्र, प्राणमन्त्र, विद्यामन्त्र और शिव-शक्ति-मन्त्र आदि नामोंसे कहा गया है । उपनिषद्, तन्त्र और पुराणादिमें इस मन्त्रका माहात्म्य भरा पड़ा है । साधारण जानकारीके लिये यहाँ कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

(क) सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत् पुनः ।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

(योगशिखोपनिषद्)

(ख) अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥

(योगचूडामणि उपनिषद्)

(ग) बिभर्ति कुण्डलीशक्तिरात्मानं हंसमाश्रिता ।
हंसः प्राणाश्रयो नित्यं प्राणा नाडीपथाश्रयाः ॥
(तन्त्रसार)

(घ) हं पुमान्प्रकाशरूपेण चन्द्रेण प्रकृतिस्तु सः ।
एतद्धंसं विजानीयात् सूर्यमण्डलभेदकः ॥
(रुद्रयामलतन्त्र)

(ङ) हंसविद्यामविज्ञाय मुक्तौ यत्नं करोति यः ।
स नभोभक्षणेनैव क्षुन्निवृत्तिं करिष्यति ॥
(सूतसंहिता)

(च) हंसेन मनुना देवि ब्रह्मरन्ध्रं नयेत् सुधीः ॥
(शाक्तानन्दतरङ्गिणी तन्त्र)

(छ) आत्मनः परमं बीजं हंसाख्यं स्फटिकामलम् ॥
(गरुडपुराण)

तन्त्र और पुराणादिमें इस हंसयोगके चरम साधन बतलाये जानेपर भी वर्तमान युगमें इसकी साधनाके अधिकारी पुरुष बहुत ही थोड़े होंगे, यही अनुमान करके ऋषियोंने समयोचित नानाविध साधन-प्रणालियोंकी व्यवस्था की है ।

१४. मध्ययुगमें भारतवर्षमें जिन महापुरुषोंका आविर्भाव हुआ था, उनकी अमर वाणीकी ओर ध्यान देनेसे भी यह पता लगता है कि उन्होंने हंसयोगकी साधनासे ही आत्मज्योति-दर्शन तथा अनाहत ध्वनिका श्रवण करके उसीमें तन्मय होकर सिद्धि प्राप्त की थी । दरिया साहेब, यारी साहेब आदि कई मुसलमान संत भी इस पथके पथिक थे । दादू, कबीर, नानक आदि सिद्ध आत्मज्ञानी महापुरुषोंने अपने शिष्योंको इस हंसयोगका ही उपदेश किया था । दुःखकी बात है कि पीछेसे उनके शिष्योंने इस सार्वजनीन साधनाको अलग-अलग क्षुद्र साम्प्रदायिक सीमामें बाँधकर उसके भिन्न-भिन्न नाम रख दिये । मैंने ऐसे अनेकों सम्प्रदायोंके साधकोंसे बातचीत की, किन्तु आश्चर्यका विषय है कि उनमेंसे कोई भी अपने आदिगुरुके उपदेशका रहस्य नहीं जानते और तदनुसार साधन भी नहीं करते । वे पूजा-पाठ, भोग-राग आदि कुछ साम्प्रदायिक बाह्य आचारोंको ही साधना समझकर उन्हींका अनुष्ठान करते हैं । जो कुछ भी हो, साधनके सम्बन्धमें मध्ययुगके कुछ संतोंकी कुछ वाणियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

(क) अनहद वाणी पाइये तहँ हौमै होइ बिनासु । (नानक)
(ख) स्वास स्वास प्रभु तुमहि धियावउँ । (नानक)

(ग) (कबिरा) अजपा सुमिरन होत है सुन-मंडल अस्थान ।
कर जिह्वा तहँ ना चलै मन पंगु तहँ जान ॥
(कबीर)

(घ) कबीर हंसा न बोलै उन्मनी । (कबीर)
(ङ) दादू सहज सरोवर आतमा, हंसा करै किलोल । (दादू)
(च) सरीर माँहैं सोधी साँई अनहद ध्यान लगाई । (दादू)
(छ) चलो अगमके देस, काल देखत डरै ।
वहाँ भरा प्रेमका हौज, हंस केली करै ॥
(मीराबाई)

(ज) मान-सरोवर विमल नीर, जहँ हंस समागम तीर तीर ।
(दरियासाहेब)

(झ) घटमें प्रान अपान दुहाई । अरध आवै अरु अरध जाई ॥
ठेके प्रान अपान मिलावै । वाहि पवनतें गगन गरजावै ॥
(यारीसाहेब)

(ञ) अनहद ताल आदि सुर बानी बिनु जिभ्या गुन बेद पढ़ो ।
आपा उलटि आतमा पूजो, त्रिकुटी न्हाइ सुमेर चढ़ो ॥
(यारीसाहेब)

(ट) बुल्लेशाह भाल लाई बाजी, अनहद सबद बजाया है ।
(बुल्लेशाह)

१५. साधनपथपर अग्रसर होनेके लिये संयम और अभ्यासकी पूर्ण आवश्यकता है । मन असंयत होकर ही बहिर्मुख हो गया है; अतः इसको अन्तर्मुख करनेके लिये साधकको सबसे पहले संयमका अभ्यास करना पड़ेगा । संयम ही साधनामें प्रथम सहायक है । स्थूलतः साधकमात्रको त्रिविध संयम करना चाहिये—'आहारसंयम', 'वाक्संयम' और 'कायसंयम ।' ये सब साधकके अधिकारकी चीजें हैं, इनके लिये दूसरेकी सहायता आवश्यक नहीं है । आहार-संयम करनेके लिये दो बातोंपर ध्यान रखना आवश्यक है—आहारका 'परिमाण' और 'प्रकार' । जो जिस प्रकारका आहार सम्पूर्णरूपसे पचा सकता हो, उसके लिये वही प्रकार संयत आहार है । खायी हुई चीजोंका अजीर्ण, कुजीर्ण या अतिजीर्ण न होना ही संयत आहारका लक्षण या प्रमाण है । परिमाणके सम्बन्धमें कोई निर्दिष्ट नियम नहीं हो सकता । अपनी-अपनी पाचन-शक्तिके अनुसार परिमाणकी व्यवस्था होनी चाहिये । तथापि शास्त्रकारोंने एक साधारण नियम बतलाया है—

पूरयेदशनेनार्धं तृतीयमुदकेन तु ।
वायोः सञ्चालनार्थं च चतुर्थमवशेषयेत् ॥

'भूखसे आधापेट अन्न खाय, चौथाई जल पीवे और चौथाई वायुसञ्चालनके लिये खाली रक्खे ।'

आहारके प्रकारके सम्बन्धमें अनेकों मत हैं; परन्तु स्थूलरूपमें साधकके लिये कौन-सा आहार उपयुक्त है और कौन-सा त्याज्य है ? इस सम्बन्धमें गीतामें स्पष्टतः कहा गया है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥
(१७ । ८—१०)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले रसयुक्त, चिकने, स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही प्रिय आहार सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं। कड़ुवे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीक्ष्ण, रूखे, दाहकारक और दुःख, शोक तथा रोग पैदा करनेवाले आहार राजस पुरुषको प्रिय होते हैं और जो आहार अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट तथा अपवित्र है वह तामस पुरुषको प्रिय होता है।'

साधनमें सात्त्विक प्रवृत्तिका बढ़ना आवश्यक है, इसलिये राजस और तामस आहारका त्याग करके सात्त्विक आहार ही करना चाहिये।

सत्य, प्रिय, हित और परिमित वाक्योच्चारणके द्वारा 'वाणीका संयम' होता है। बिल्कुल न बोलने यानी मौन धारण करनेसे वाणीका संयम नहीं होता। वैसी हालतमें तो भीतरका भाव बाहर प्रकट करनेके लिये नाना प्रकारके अस्वाभाविक उपायोंको काममें लाना पड़ता है, जिससे उल्टी विक्षिप्तता बढ़ती है।

विचारके द्वारा विषयोंकी अनित्यताका ज्ञान और अभ्यासके द्वारा आवश्यकताओंका अभाव कर सकनेपर तथा सिद्धासनादि आसनोंका अभ्यास हो जानेपर 'देहसंयम' हो जाता है। सङ्ग ही सब प्रकारके परिवर्तनका मूल है। जो मनुष्य जैसा सङ्ग करता है, वह उसी रूपमें बदल जाता है। यह नित्य-प्रत्यक्ष है। अतएव साधकको अपनी साधनाके अनुकूल साधुसङ्ग, ज्ञानी महापुरुषोंका सङ्ग और शास्त्रोंका सङ्ग करना चाहिये। इनके अतिरिक्त एक और भी संयम बहुत ही आवश्यक है, जिसपर निजका कोई कर्तृत्व नहीं है—वह है 'मनका संयम।' गुरुके उपदेशानुसार अभ्यास करनेपर मनःसंयम होता है। एक मनके संयत हो जानेपर इन्द्रियादि अपने-आप ही शान्त हो जाते हैं और शरीर तथा वाणीकी चञ्चलता सदाके लिये दूर हो जाती है। जो अपनी बुद्धिसे या अपने पैदा किये हुए उपायोंसे मनको रोकनेका प्रयत्न करते हैं, वे धोखा ही खाते हैं। उनका मन एक विषयकी चञ्चलताको छोड़कर दूसरे विषयोंमें चौगुना चञ्चल हो उठता है। वह कभी अचञ्चल और स्पन्दरहित अवस्थाको प्राप्त नहीं होता।

१६. साधनाका एक सर्वप्रधान आवश्यक विषय है—मुमुक्षुत्व। 'मैं बद्ध हूँ, मैं मुक्त होऊँगा।' भीतरके इस भावका नाम मुमुक्षुत्व है। जबतक मुमुक्षुत्व नहीं पैदा होता, तबतक साधनमें रति नहीं होती। मुमुक्षुत्व पैदा होते ही मुक्तिकामी साधकको सद्गुरुकी शरणमें चले जाना चाहिये। सद्गुरु ही साधनाका सर्वोत्तम मार्ग दिखला सकते हैं और शिष्यको उपदेशके द्वारा ज्ञानका स्वरूप समझा सकते हैं। यद्यपि इस घोर कलियुगमें सद्गुरुका संयोग एक प्रकारसे असम्भव-सा हो गया है तथापि भारतवर्ष आध्यात्मिक देश है, यहाँ सद्गुरुका सर्वथा अभाव सम्भव नहीं है। 'जिन खोजा तिन पाइया।' खोज सच्ची होनी चाहिये। शास्त्र और संतोंके वचन गुरुकी महिमासे भरे पड़े हैं—

न गुरोरधिकं तत्त्वं न गुरोरधिकं तपः।
तत्त्वज्ञानात्परं नास्ति तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

तन्त्रकी प्रामाणिकता

(लेखक—पं॰ श्रीहाराणचन्द्र भट्टाचार्य)

तन्त्रशास्त्रकी प्रामाणिकताके विषयमें कुछ मतभेद पाया जाता है। मनुस्मृति (२ । १) की कुल्लूकभट्टकृत टीकामें हारीतऋषिके एक वाक्यका उद्धरण मिलता है। वह इस प्रकार है—'श्रुतिश्च द्विविधा, वैदिकी तान्त्रिकी च।'* इस वचनके आधारपर कुछ विद्वानोंकी यह धारणा हो गयी है कि श्रुति दो प्रकारकी है—वैदिक और तान्त्रिक। जिस प्रकार वेद अपौरुषेय होनेके कारण स्वतःप्रमाण हैं, उनकी सत्यताको सिद्ध करनेके लिये किसी प्रमाणान्तरकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार तन्त्र भी स्वतःप्रमाण हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी अंशमें तन्त्रके विरुद्ध होनेपर भी वेदको अप्रमाण नहीं माना जाता, उसी प्रकार किसी अंशमें वेदके विरुद्ध होनेपर भी तन्त्रको अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि वेद और तन्त्र प्रामाणिकतामें एक दूसरेसे न्यून नहीं हैं, बल्कि समकक्ष हैं। इसलिये तन्त्र किसी विषयमें वेदकी अपेक्षा नहीं रखता।

अगाध पण्डित एवं विख्यात शाक्त दार्शनिक भास्कररायने तन्त्रकी प्रामाणिकताका दूसरे प्रकारसे समर्थन किया है। उनके मतमें तन्त्रशास्त्र वेदके समकक्षरूपसे प्रमाण नहीं हैं। यदि तन्त्रशास्त्रकी वेदनिरपेक्ष स्वतन्त्र प्रामाणिकता मानी जायगी तो 'न शास्त्रपरिमाणात्' (पू॰ मी॰ सू॰ १ । ३ । ५) इस जैमिनिके सूत्रांशपर जो कुमारिलभट्टका तन्त्रवार्तिक है, उससे विरोध पड़ेगा। उक्त सूत्रके तन्त्रवार्तिकमें यह सिद्धान्त किया गया है कि 'पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, वेदके छः अङ्ग (शिक्षा, कल्पसूत्र, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष तथा छन्दःशास्त्र) और चार वेद (ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व)—इतने ही शास्त्र धर्मके विषयमें प्रमाण हैं;† इनके अतिरिक्त दूसरे शास्त्र प्रमाण नहीं हैं। तन्त्रशास्त्रको बिल्कुल स्वतन्त्र शास्त्र माननेपर मीमांसक-दृष्टिसे वह अप्रमाण हो जायगा; इसलिये तन्त्रको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं समझना चाहिये, किन्तु उसे धर्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र) के अन्तर्गत मानना चाहिये।

तन्त्रशास्त्र धर्मशास्त्रके अन्तर्गत होनेपर भी मनु, याज्ञवल्क्य प्रभृति ऋषिप्रणीत स्मृतियोंसे उसमें कुछ विशेषता है—मनु प्रभृतिकी स्मृतियाँ वेदके कर्मकाण्डसे सम्बन्ध रखती हैं, किन्तु तन्त्रशास्त्र वेदके ब्रह्म (ज्ञान) काण्डसे सम्बन्ध रखता है।‡

शारदातिलक नामक तन्त्रशास्त्रके विख्यात ग्रन्थके प्रामाणिक टीकाकार राघवभट्टने अपनी टीकाके आरम्भमें आगमशास्त्रके प्रामाण्यपर विचार किया है। उनकी सम्मतिमें आगमशास्त्र (तन्त्रशास्त्र) स्मृतिशास्त्र है। वेदके तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड। उनमें कर्मकाण्डकी व्याख्या जैमिनि आदि कर्ममीमांसक ऋषियोंने की, नारद प्रभृति भक्त ऋषियोंने उपासनाकाण्डका विवरण किया और भगवान् बादरायण तथा अन्य ब्रह्मवादी ऋषियोंने ब्रह्मकाण्डकी व्याख्या की। आगमशास्त्रका मूल वेदका उपासनाकाण्ड है। सभी स्मृतियोंका प्रामाण्य वेदके आश्रयसे है। आगमस्मृतिका प्रामाण्य भी उसी प्रकार वेदके आधारपर है। तन्त्रका प्रामाण्य स्वतन्त्ररूपसे नहीं है।

इस प्रसङ्गसे राघवभट्टने एक बात और कही है। उनके विचारमें साकार उपासनासे मनुष्योंको स्वर्गादि फल बहुत

---

* आजकल जो हारीतस्मृति मिलती है, उसमें यह वाक्य नहीं है; परन्तु विद्वानोंका कथन है कि कुल्लूकभट्ट प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थकार हैं; उनके समयकी हारीतस्मृतिमें यह वाक्य अवश्य था, पीछेके लेखकोंके प्रमादसे सम्भव है यह पाठ छूट गया हो। वास्तवमें इस समय जितने भी शास्त्रग्रन्थ मिलते हैं, उनमें सभी स्थलोंमें प्राचीन पाठ ठीक है—यह कहना बहुत कठिन है; तथा किसी पाठको सहसा अप्रमाण कहना भी साहसमात्र है।

† याज्ञवल्क्यस्मृतिमें भी लिखा है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश ॥

(१ । ३)

‡ तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भावः (वरिवस्यारहस्यप्रकाश)। परमार्थतस्तु तन्त्राणां स्मृतित्वाविशेषेऽपि मन्वादिस्मृतीनां कर्मकाण्डशेषत्वं तन्त्राणां ब्रह्मकाण्डशेषत्वमिति सिद्धान्तात्।—भास्कररायप्रणीत सौभाग्यभास्कर (ललितासहस्रनामभाष्य), प्रथम शतकका उपक्रम।

कम आयाससे प्राप्त हो जाते हैं, अन्ततक मोक्षकी प्राप्ति भी हो जाती है । कर्मकाण्ड अथवा ब्रह्मकाण्डकी सहायतासे मोक्षकी प्राप्ति इतने कम आयाससे सम्भव नहीं है । इसलिये उपासना-प्रधान आगमशास्त्र ही श्रेष्ठ है ।

ब्रह्मसूत्रोंपर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके जितने भी भाष्य इस समय उपलब्ध हैं, उनमेंसे तीन भाष्य विशिष्टाद्वैतके अनुसार हैं । उनमें रामानुजका श्रीभाष्य वैष्णव मतके अनुकूल होता हुआ विशिष्टाद्वैतका समर्थन करता है ।§ शैवमतके अनुसार भी दो भाष्य हैं, जो विशिष्टाद्वैतके पोषक हैं । उनमें श्रीकण्ठाचार्यका शैवभाष्य प्रसिद्ध है, जिसपर विश्वविख्यात पण्डित अप्पय्य दीक्षितकी 'शिवार्कमणिदीपिका' नामकी टीका है । दूसरा श्रीकर-भाष्यके नामसे प्रसिद्ध है, जो दक्षिण देशके 'वीरशैव-सम्प्रदाय' नामक शैवसम्प्रदायके अनुकूल है । ये दोनों शैवभाष्य तन्त्रके अनुगामी हैं ।

श्रीकण्ठके शैवभाष्य (२ । २ । ३८) में तन्त्रको वेदवत् प्रमाण माना गया है । उसमें लिखा है कि वेद तथा आगम (तन्त्र) के प्रामाण्यमें कोई अन्तर नहीं है, दोनोंके निर्माणकर्ता एक ही शिव हैं; इसलिये वेद भी शिवागम हैं, केवल इतना ही अन्तर है कि वेद केवल तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिये हैं और आगम सभीके लिये हैं ।×

'शिवार्कमणिदीपिका' (२ । २ । ३८, ४२) में तन्त्रके विषयमें अधिकारिभेदसे व्यवस्था की गयी है । जो वेदके अधिकारी हैं, उनका वेदके अनुकूल तन्त्रोंमें अधिकार है; तथा जो तन्त्र वेदके विरुद्ध हैं, उनमें वेदके अनधिकारियोंका अधिकार है । सारांश यह है कि वेदके अनुकूल अथवा वेदसे विरुद्ध—सभी तन्त्र भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये प्रमाण हैं । इस प्रकार अधिकारिभेदसे प्रामाण्यकी व्यवस्था होनेपर किसी तन्त्रके अप्रामाण्यकी शङ्का नहीं उठती ।* श्रीशङ्कराचार्यप्रणीत सौन्दर्यलहरी (३१) की लक्ष्मीधरकृत टीकामें भी इसी रीतिसे अधिकारिभेदसे तन्त्रके प्रामाण्यकी व्यवस्था की गयी है ।

उपासनामें तन्त्रशास्त्रका विशेष उपयोग है, इस बातको अस्वीकार करना भ्रम है । शाक्त और शैव सम्प्रदाय तो तन्त्रके अनुयायी हैं ही, वैष्णव सम्प्रदाय भी तन्त्रके अनुगामी हैं । वैष्णवोंका परम माननीय पाञ्चरात्र शास्त्र तन्त्रके ही अन्तर्गत है । श्रीमद्भागवतमें भी पाञ्चरात्रके अनुसार उपासना करनेका निर्देश पाया जाता है; इसलिये आस्तिक पुरुषोंको अपने-अपने अधिकारके अनुसार तन्त्रोंका उपयोग करना चाहिये ।

तन्त्रशास्त्रका प्रभाव इतना अधिक फैला है कि वैदिक तथा पौराणिक उपासनाओंमें भी उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव प्रतीत होता है । तन्त्रशास्त्रका बिल्कुल परित्याग करके किसी प्रकारकी उपासना करना असम्भव है, यह कहनेमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है ।

गृहस्थ क्या करे ?

वर्तेत तेषु गृहवानक्रुद्ध्यन्ननसूयकः । पञ्चभिः सततं यज्ञैर्विघसाशी यजेत च ॥

गृहस्थ पुरुष क्रोध और ईर्ष्यासे रहित होकर व्यवहार करे, नित्य पञ्चयज्ञ करे और देवता, पितर तथा अतिथियोंको भोजन करानेके बाद भोजन करे ।

(महा० शान्ति० २३५ । २५)

---

§ कुछ दिन पूर्व श्रीसम्प्रदायसे अलग होकर रामानन्दी वैष्णवोंने ब्रह्मसूत्रपर रामानन्द-भाष्य प्रकट किया है । रामानुज-भाष्यके अनुसार नारायण परमेश्वर हैं; रामानन्द-भाष्यके अनुसार रामचन्द्र परमेश्वर हैं । ये दोनों भाष्य विशिष्टाद्वैतके अनुकूल हैं । उपर्युक्त ग्रन्थके प्रकाशित होनेके पूर्व प्राच्य तथा पाश्चात्य पण्डित-मण्डली रामानन्द-भाष्यके नामसे परिचित न थी । रामानन्द-भाष्यको लेकर विशिष्टाद्वैतपरक चार भाष्य समझने चाहिये ।

× वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः । वेदोऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः, तस्य तत्कर्तृकत्वात् । अतः शिवागमो द्विविधः, त्रैवर्णिकविषयः सर्वविषयश्चेति । उभयोरेक एव शिवः कर्ता ।······उभावपि प्रमाणभूतौ वेदागमौ । (श्रीकण्ठभाष्य २ । २ । ३८)

* इस युक्तिसे किसी-किसी तन्त्रमें म्लेच्छोंतकका अधिकार सिद्ध होता है ।

कल्याण-साधन

(लेखक—श्रीस्वामी सन्तप्रसादजी उदासीन, सक्खर)

कल्याण अर्थात् मोक्षका अर्थ शास्त्रोंमें 'सर्वदुःखनिवृत्ति, परमानन्दप्राप्ति' किया है। मोक्षके चार अन्तरङ्ग साधन कहे हैं—विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता।

विवेक कहते हैं सारासारविचारको। वैराग्यका लक्षण बतलाते हैं, 'ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मतः' अर्थात् ब्रह्मलोकतकके सब पदार्थोंको तृणवत् जानना, यही वैराग्यकी अवधि है। षट्सम्पत्तिका अर्थ है—छः सम्पत्तियाँ, उनके नाम ये हैं—शम, दम, श्रद्धा, समाधान, तितिक्षा और उपरति। शम है मनको रोकना, दम इन्द्रियोंको रोकना, श्रद्धा वेद-शास्त्र तथा गुरु और साधनोंमें पूर्ण विश्वास रखना, समाधान है—समाहित होना (मनका सर्वथा स्थिर होना), तितिक्षा है शीत-उष्ण, सुख-दुःखादिको सह लेना और उपरति है सांसारिक पदार्थोंसे उपराम होना। इस षट्सम्पत्तिके बाद चौथा साधन है मुमुक्षुता अर्थात् मोक्ष पाने, संसारके जन्म-मरण-चक्रसे छूटनेकी इच्छा। इन चार साधनोंसे ही ज्ञानद्वारा मुक्ति होती है।

अधिकारिभेदसे शास्त्रोंमें कल्याणसाधनार्थ तीर्थ, व्रत, नियम, योग, निष्काम कर्म आदि अनेक साधन बताये हैं; पर सबकी सीमा इन चार साधनोंमें ही जाकर समाप्त होती है। कारण ज्ञानसे ही मोक्ष होता है और ज्ञानके ये ही चार साधन हैं जो ऊपर लिखे गये।

परन्तु जन्म-जन्मके कुसंस्कारोंसे मन मलिन हो रहा है, इस कारण इन साधनोंके करनेमें मन नहीं लगता। इसलिये इसका उपाय हमारे उदासीन साधु-सम्प्रदायके मुनि-महात्माओंने नाम-जप बतलाया है। भगवान्‌के हरि, राम इत्यादि नामोंमेंसे किसी नामका मनुष्य जप करता रहे और साथ ही निष्काम कर्माचरण करे अर्थात् फलेच्छारहित होकर तीर्थ, व्रत, यज्ञ आदि शुभ कर्म करे तो इससे मन शुद्ध होता है और उपर्युक्त साधन बनते हैं और उनसे मनुष्य कल्याणको प्राप्त होता है। नाम-जप अखण्ड होना चाहिये। उठते-बैठते सब समय नाम-उच्चारण अंदर होता रहे।

गर्व न करो—काल सबको खा जाता है

बहूनीन्द्रसहस्राणि समतीतानि वासव। बलवीर्योपपन्नानि यथैव त्वं शचीपते॥
त्वामप्यतिबलं शक्र देवराजं बलोत्कटम्। प्राप्ते काले महावीर्यः कालः संशमयिष्यति॥
य इदं सर्वमादत्ते तस्माच्छक्र स्थिरो भव। मया त्वया च पूर्वैश्च न स शक्योऽतिवर्तितुम्॥
यामेतां प्राप्य जानीषे राज्यश्रियमनुत्तमाम्। स्थिता मयीति तन्मिथ्या नैषा ह्येकत्र तिष्ठति॥
स्थिता हीन्द्रसहस्रेषु त्वद्विशिष्टतमेष्वियम्। मां च लोला परित्यज्य त्वामगाद्विबुधाधिप॥
मैवं शक्र पुनः कार्षीः शान्तो भवितुमर्हसि। त्वामप्येवंविधं ज्ञात्वा क्षिप्रमन्यं गमिष्यति॥

(महा० शान्ति० २२४। ५५–६०)

हे इन्द्र! जो बल और वीरतावाले थे, ऐसे तुम्हारे-जैसे हजारों इन्द्र हुए और चले गये। हे इन्द्र! इस प्रकार तू भी चला जायगा। हे शक्र! तू बड़ा बलवान् और देवताओंका राजा है तो भी जब तेरा समय पूरा हो जायगा तब महाबली काल तुझे भी राज्यसे भ्रष्ट कर देगा। हे इन्द्र! काल सबका संहार करता है, इसलिये तू धीरज रख, मैं, तू या जो पहले हो गये इनमेंसे कोई भी कालका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। जिस सर्वोत्तम राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करके तुम समझते हो कि यह मेरी हो गयी है, यह तुम्हारी झूठी कल्पना है क्योंकि यह कभी एक जगह स्थिर नहीं रहती। हे देवराज! तुझसे भी अधिक श्रेष्ठ हजारों इन्द्रोंके पास यह राज्यलक्ष्मी रह चुकी है (और उनके पाससे यह चली गयी है) वैसे ही यह चञ्चल राज्यलक्ष्मी मुझे भी छोड़कर तेरे पास आ गयी है। हे इन्द्र! अब आगे तू ऐसा गर्व न करना अब तू शान्त हो जा, यदि उसने जान पाया कि—तू मिथ्या घमण्डी है तो वह तुझे छोड़कर चली जायगी।

अग्निविद्या

(लेखक—पं० श्रीहरिदत्तजी शास्त्री वेदान्ताचार्य)

उपनिषदोंमें इस विद्याका वर्णन इसलिये हुआ है कि लोग पुनर्जन्मके विश्वासी बनें। पुनर्जन्म अनेक तरहसे सन्दिग्ध हो रहा है, बहुत-से नास्तिक इस शरीरसे भिन्न आत्माको नहीं मानते। आस्तिकोंमें भी मतबाहुल्य है। इस जीवको भी विभु माननेवाले बहुत-से आचार्य हैं। जब आत्मा विभु है, तब इसका परलोकादिमें गमन क्या ? और वेदान्तमें भी बहुत-से सिद्धान्त पाये जाते हैं, जिनसे जन्मकी ही सिद्धि नहीं होती; क्योंकि विभु आत्माका जन्म और मरण कैसे हो सकता है ? जो सर्वव्यापी आत्मा है, वह अत्यन्त क्षुद्र गर्भमें कैसे समा सकता है ! फिर जब एक ही आत्मा है तो मरण अथवा जीवन सर्वथा असम्भव है, क्योंकि अनेकता रहनेपर ही जन्म-मरण हो सकता है। इसके अतिरिक्त किन्हीं श्रुतियोंका तात्पर्य यह है कि यह जीव ईश्वरका प्रतिबिम्ब है; अविद्यापर जो ईश्वरका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही जीव है। अथवा जैसे सूर्यका प्रतिबिम्ब अथवा आभास घटोंमें पड़े, वैसे ही ब्रह्मका आभास अन्तःकरणोंमें पड़ता है; वही जीव कहलाता है। इन दृष्टान्तोंसे भी पुनर्जन्मकी सिद्धि नहीं होती; क्योंकि घटके फूटनेसे घटस्थ बिम्ब किसी अन्य रूपको धारण कर कहीं अन्यत्र नहीं जाता, न इस प्रतिबिम्बकी कोई विभिन्न सत्ता ही होती है। जैसे पुरुषसे भिन्न छायाकी भिन्न सत्ता नहीं, दर्पणमें मुखादिकी जो छाया पड़ती है उसकी सत्ता मुखसे पृथक् नहीं, अतः घट फूटनेपर सूर्य-प्रतिबिम्ब ज्यों-का-त्यों बना रहता है, तद्वत् ब्रह्म-प्रतिबिम्ब जो यह जीव है वह अन्तःकरणके छिन्न-भिन्न होनेपर भी ज्यों-का-त्यों बना रहेगा, कैसे कहीं जायगा—इत्यादि कारणोंसे पुनर्जन्ममें लोगोंको सन्देह न हो, अतः मातृभूता परमकल्याणकारिणी श्रुति पञ्चाग्नि-वर्णनद्वारा पुनर्जन्मका प्रतिपादन करती है।

इस प्रकार राजाने जो पाँच प्रश्न किये थे, उनका उत्तर निम्न प्रकार है। प्रथम—यहाँसे प्रजा कहाँ जाती है, इस प्रश्नके तीन उत्तर हुए—कुछ ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मलोकको जाते हैं, द्वितीय कर्मपरायण जन चन्द्रलोकको जाते हैं, तृतीय सर्वथा जन्म-मरण-प्रवाहमें डूबते और उतराते रहते हैं।

द्वितीय प्रश्न राजाका यह है कि वहाँसे पुनः कैसे प्रजा लौट आती है। इसका उत्तर यह दिया गया है कि चन्द्रलोकसे आकाशमें, आकाशसे वायुमें इत्यादि।

तृतीय प्रश्न यह है कि देवयान और पितृयानका भेद कहाँ होता है। इसका उत्तर यह है कि देवयानका पथ अर्चिसे आरम्भ होता है और पितृयानका धूमसे; पुनः देवयानगामी संवत्सरमें जाते हैं, किन्तु पितृयानगामी उसमें नहीं।

चतुर्थ प्रश्न यह है कि ब्रह्मलोक क्यों नहीं भर जाता। इसका उत्तर यह है कि मरकर सब ही प्राणी अथवा सब ही मनुष्य ब्रह्मलोकमें ही अथवा चन्द्रलोकमें ही नहीं पहुँचते, किन्तु बहुतसे जीव मरते ही तत्काल अन्य योनियोंमें प्राप्त हो जन्म लेते और मरते रहते हैं; इस हेतु वह लोक नहीं भरता।

पञ्चम प्रश्न यह है कि पाँचवीं आहुतिमें जीववाचक जल कैसे मनुष्य बन जाता है। इसका उत्तर यह है कि आदित्यलोक, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और स्त्री—ये पाँच अग्नि हैं। स्त्रीरूप अग्निमें जो आहुति दी जाती है, उससे जल पुरुषवाची हो जाता है।

कथा इस प्रकार है—

एक समय अरुणगोत्रोत्पन्न श्वेतकेतु नामका कोई कुमार पाञ्चाल देशके अधिपति प्रवहणनामक नृपतिकी समिति (सभा) में आ पहुँचा। राजा प्रवहणने निम्नलिखित पाँच प्रश्न उससे पूछे। वे प्रश्न ये हैं—

१—हे कुमार ! यहाँसे प्रजाएँ ऊपरको जहाँ जाती हैं, उसे क्या तू जानता है ?

कुमार—राजन् ! नहीं।

२—प्रवहण—ये प्रजाएँ पुनः जैसे लौट आती हैं, क्या तू जानता है ?

कुमार—नहीं।

३—प्रवहण—देवयान और पितृयान मार्गोंका वियोग-स्थान जानता है ?

कुमार—हे भगवन् ! मैं नहीं जानता।

४—प्रवहण—जिस प्रकार यह लोक नहीं भर जाता, उसको तू जानता है ?

कुमार—हे भगवन् ! मैं नहीं जानता।

५-प्रवहण-जिस कारण पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुषवाची होता है, उसे तू जानता है ?

कुमार-नहीं जानता ।

तब राजाने कहा कि विदित होता है कि 'तेरे पिताने तुझको अच्छी शिक्षा नहीं दी है ।' एवमस्तु--

तब श्वेतकेतुने अपने पिताके पास जाकर कहा कि राजा प्रवहणने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे और मैं एकका भी उत्तर न दे सका । पिता पुत्रको साथ ले राजाके निकट जा पहुँचा और कहा कि मुझे आप अग्निविद्याका उपदेश दीजिये ।

राजा बोला कि 'यह विद्या अबतक क्षत्रियोंको ही मालूम है, अन्य किसीको नहीं; दूसरे मुझ क्षत्रियकी शिष्यता आप ब्राह्मण होकर कैसे स्वीकार करेंगे ?' गौतमने कहा कि 'विद्या जहाँ कहींसे मिले, ग्रहण कर लेनी चाहिये; अतः आजसे मैं आपका शिष्य बनता हूँ, मुझे आप उपदेश दीजिये ।'

तब राजाने कहा कि 'हे गौतम ! यह लोक ही एक अग्नि है; सूर्य उसकी समिधा है, किरणें धूम हैं, दिन लपट हैं, चन्द्रमा अङ्गार है, नक्षत्र चिनगारियाँ हैं, इस अग्निमें देवगण श्रद्धाकी आहुति देते हैं, इस आहुतिसे सोमराजा उत्पन्न होता है; यही प्रथम आहुति है ।

हे गौतम ! पर्जन्य (मेघ) द्वितीय अग्नि है; उसकी वायु ही समिधा है, अभ्र (एक प्रकारका मेघ), धूम, विद्युत् ज्वाला, वज्र अङ्गार, मेघशब्द विस्फुलिङ्ग है । इस द्वितीय अग्निमें सोमराजाकी आहुति देवगण देते हैं, इसीसे वर्षा उत्पन्न होती है । यही द्वितीय आहुति है ।

हे गौतम ! यह पृथिवी तृतीय अग्नि है; उसकी संवत्सर ही समिधा, आकाश धूम, रात्रि ज्वाला, दिशाएँ अङ्गार और अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिङ्ग हैं । इस अग्निमें देवगण वर्षाकी आहुति देते हैं, उस आहुतिसे अन्न उत्पन्न होता है । यह तृतीय आहुति हुई ।

हे गौतम ! यह पुरुष चतुर्थ अग्नि है । उसकी वाणी ही समिधा, प्राण धूम, जिह्वा ज्वाला, चक्षु अङ्गार और श्रोत्र विस्फुलिङ्ग है । इस अग्निमें देवगण अन्नकी आहुति देते हैं, उस आहुतिसे रेतस् (वीर्य) उत्पन्न होता है । इसका ही नाम चतुर्थ आहुति है ।

हे गौतम ! यह स्त्री पञ्चम अग्नि है । इस अग्निमें देवगण रेतस्की आहुति देते हैं, उस आहुतिसे गर्भ उत्पन्न होता है । हे गौतम ! इस प्रकार पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुषवाची होता है । वह गर्भ नौ या दस मास उल्वावृत हो पेटमें रह बालकरूपसे उत्पन्न होता है, पुनः अपनी आयुभर सुख-दुःख भोगकर मर जाता है । उसको बन्धु-बान्धव अग्निमें जला देते हैं । इस प्रकार मानव-जीवनका एक चक्र समाप्त हो जाता है । यही अग्निविद्या या पञ्चाग्निविद्या है ।

श्रेष्ठ भागवत कौन हैं ?

योगेश्वर हरि कहते हैं--

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः । वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥
न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा । सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥
त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥
विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २ । ५०, ५२, ५३, ५५)

जिसके चित्तमें कामना और कर्मोंके बीजका उदय ही नहीं होता, जिसके एकमात्र आश्रय श्रीभगवान् हैं--वह श्रेष्ठ भागवत (संत) है । जिसकी दृष्टिमें--शरीर और धनमें अपने-परायेका भेद नहीं है; जो सब प्राणियोंके लिये सम है, शान्त है, वह श्रेष्ठ भागवत (संत) है । जिन्होंने अपने मन, इन्द्रियोंको वशमें नहीं कर पाया है उन देवताओंके लिये जो अभी ढूँढ़नेकी वस्तु है, भगवान्‌के उन चरणकमलोंसे, त्रिलोकीकी सम्पत्तिके लिये भी जो आधे क्षण या निमेषतक भी अलग नहीं होते; वे निरन्तर भगवत्स्मरण-परायण पुरुष वे श्रेष्ठ वैष्णव हैं । विवशतासे पुकारनेपर भी जो पापोंका नाश करते हैं, वे भगवान् प्रेमकी रस्सीमें अपने चरणकमलोंके बँध जानेके कारण स्वयं जिसके हृदयको नहीं छोड़ सकते, वह भक्त श्रेष्ठ भागवत (संत) है ।

आत्मोन्नतिका एक साधन–विचार

(लेखक—श्रीभोगीन्द्रराय नानालाल वैद्य बी०ए०, बी० टी०)

हम जैसे विचारोंका सेवन करेंगे, वैसे ही हो जायँगे। विचार ही हमारे भविष्यका निर्माण करते हैं—ऐसा कहनेमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। हमारा मन सर्वदा अनेकों प्रकारके संकल्प करता रहता है। ये संकल्प अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। जिस प्रकार अच्छा भोजन शरीरके लिये लाभकारी होता है, उसी प्रकार अच्छा विचार मनके ऊपर अच्छी छाप डालता है। सात्त्विक और बलवान् विचार हमारे मनको अलौकिक शान्ति, धैर्य, बल और स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। इसके विपरीत निर्बल और हल्की जातिके विचार हमें निर्बल बना देते हैं। राल्फ वाल्डो ट्राइन नामका एक विचारक लिखता है—

'It is a great law of our being that we become like those things we contemplate. If we contemplate those that are true and noble and elevating, we grow in the likeness of these.'

(What all the world's a-seeking, page 61.)

इसका तात्पर्य यह निकलता है कि हमारा भविष्य किसी अदृश्य सत्ताके हाथमें नहीं है, कोई बाह्य संयोग भी हमारे भविष्यके प्रति उत्तरदायी नहीं हैं। बल्कि अपने बुरे या भले भविष्यके लिये हम स्वयं ही जवाबदार हैं—अपना उद्धार या नाश हमारे अपने ही हाथमें है। इसलिये बाहरके संयोग या दूसरे लोगोंको दोष देना—यह बड़ी भारी भूल है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें स्पष्ट कहते हैं—

> उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
>
> (गीता ६।५)

'अपना बन्धु आप ही है और आप ही अपना शत्रु है। अतः अपनी अधोगति न करके उद्धार ही करना चाहिये।'

इससे स्पष्ट समझ सकते हैं कि आत्मोत्कर्षकी इच्छा-वालेको अपने विचारोंका हर घड़ी ध्यान रखना चाहिये। अपने हृदयमें समुद्रकी तरङ्गोंके समान बार-बार उछलते रहनेवाले विचारोंके ऊपर पूरा अङ्कुश रखनेकी आवश्यकता है। क्षुद्र विचारोंको निकाल देना—यह उनका पहला कर्तव्य है। मन तो बंदरके समान है, उसे काबूमें रखनेके लिये सर्वदा प्रयत्न करना पड़ता है। इसके लिये विशेष अभ्यासकी आवश्यकता है—ऐसे उन्नत विचारोंका सेवन करनेकी आवश्यकता है, जो हमें उत्कर्षके मार्गमें ले जायँ। संक्षेपमें हम विचारोंके गुलाम न बनें, इसके लिये उनके ऊपर हमारा प्रभुत्व होना आवश्यक है।

वैसे विचार तभी हो सकते हैं जब कि हमारा मन नीरोग, शुद्ध और तेजस्वी हो। अतः पहले उसे वैसा बनानेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। प्रथम तो शरीरको स्वस्थ रखना आवश्यक है; क्योंकि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'—धर्मका प्रथम साधन शरीर ही है। स्वस्थ शरीरके बिना स्वस्थ मन भी नहीं हो सकता। फिर मनको स्वस्थ रखनेके लिये उसे सुरुचिकर खुराक देना आवश्यक है। इसके लिये उसे अच्छे-अच्छे ग्रन्थ पढ़नेको देने चाहिये। सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय—यह एक प्रकारका सत्सङ्ग है। उनमें संत पुरुषोंके वचनामृतपर ही दृष्टि पड़ती है। सत्सङ्गका माहात्म्य सभी जानते हैं। नित्य निरन्तर साधुपुरुषोंके संसर्गमें आनेसे सद्विचारोंको उत्तेजना मिलती है। श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

> बिनु सतसंग बिबेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥
> सत संगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
> सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥

प्राचीन भारतमें मन्दिर, चौराहे और नदीतीरोंपर होते रहनेवाली कथा-वार्ता एवं भजन-कीर्तनका मुख्य उद्देश्य यही था कि उन्हें सुननेवालोंके मानसिक विचारोंकी सृष्टि शुद्ध और पवित्र बने। ऐसे अवसरोंपर बार-बार उपस्थित होने एवं कीर्तनादि उत्सवोंमें भाग लेनेसे अच्छे विचार करनेकी आदत पड़ती है और वैसी आदत पड़ जानेसे मनुष्यके मनका स्वभाव ही ऐसा हो जाता है कि उसे तरह-तरहके सत्सङ्गके बिना चैन ही नहीं पड़ता।

मनको पवित्र और शुद्ध बनानेमें प्रार्थना बड़ा काम करती है। रामकृपाके बिना तो कोई भी वस्तु सुलभ नहीं है।

अतः इस भगवत्-कृपाकी प्राप्तिके लिये अनन्यचित्तसे परम कृपालु परमात्माकी प्रार्थना करना—यह सभीका परम आवश्यक कर्तव्य है। इसमें चूक करना बड़ा पाप है। जो ईश्वरीय सत्ता हमारी रात-दिन रक्षा कर रही है, जो कठिनाईके समय हमारी बहुत-सी आवश्यकताओंकी पूर्ति करती है, उसे भूल जाना-ऐसे परम कृपालु प्रभुको बिसार देना—यह तो कृतघ्नता ही है। प्रभुको याद रखना-यही सच्चा धन है और उन्हें भूल जाना—यही पूरा दुःख है। प्रार्थनाके द्वारा प्रभुके प्रति दृढ़ विश्वास होता है और मनको एक अनिर्वचनीय शान्तिका अनुभव होता है। विपरीत प्रसङ्गोंमें भी वह एक अद्भुत स्वास्थ्यकी रक्षा कर सकता है। प्रार्थना हमारे मनको स्फटिकके समान निर्मल कर देती है। इस दिव्य अलौकिक मानसिक बलके सामने दुष्ट विचार लाचार होकर अपने-आप ही खिसक जाते हैं।

पुनः-पुनः एक ही विचार करनेसे वह मनका एक अङ्ग बन जाता है। ऋषि-मुनि निरन्तर ओंकारका जप करते थे, 'सोऽहम्' मन्त्रका जप करते थे अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्रका जप करते थे। इसमें भी एक ही सिद्धान्त समाया हुआ था कि मनुष्य जैसा ध्यान करता है, वैसा ही वह बन जाता है। 'मैं क्षुद्र हूँ, अशक्त हूँ, पापी हूँ—ऐसा विचार करनेसे मनुष्य निश्चय ही क्षुद्र, अशक्त और पापी बन जाता है। इसी प्रकार 'मैं निष्पाप हूँ' ऐसा चिन्तन करनेसे हम निष्पाप बन सकते हैं। प्रकाशका ध्यान करोगे तो तुम प्रकाश ही बन जाओगे, पुण्यका चिन्तन करोगे तो तुम पुण्यस्वरूप बन जाओगे। पुरुषसे पुरुषोत्तम हो जानेकी इच्छाका सेवन करो तो तुम अवश्य पुरुषोत्तम हो ही जाओगे। तुम्हारी जैसी भावना होगी वैसी ही सिद्धि होगी। स्वामी रामतीर्थ उच्च प्रकारकी भावनाके सेवनका समर्थन करते हुए सबसे अपने आत्मदेवके प्रति इस प्रकार सम्बोधन करनेके लिये कहते हैं—'ओ राजाधिराज! सम्पूर्ण शरीरोंके केन्द्रमें स्थित मेरे आत्मदेव! सच्चिदानन्द सम्राट्! अनन्त सत्ताधीश! आशीर्वादात्मक तत्त्वस्वरूप! ओ प्रियतम! तुम अज्ञानावरणके स्वप्नमें दासत्व स्वीकार न करो! उठो, जागो और अपनी परम सत्ताका अनुभव करो। तुम ईश्वर हो, तुम ईश्वर ही हो, और कुछ नहीं।'

अन्तमें कहना यह है कि अपने उत्कर्ष-साधनकी इच्छा रखनेवालेको प्रभुके ऊपर पूरा विश्वास रखना चाहिये। श्रद्धाके बिना किसी भी प्रकारके संकल्पकी सिद्धि होना सम्भव नहीं है। विश्वासपूर्वक मानो कि यह जगन्नियन्ता हमें शुभ मार्गपर ही ले जा रहा है। वह हमारे जीवनपथको अवश्य ही प्रकाश देगा। वह हमारा हितचिन्तक है। उसकी अनन्य भावसे शरण लो और जो हृदयको दुर्बल बनावें, उन क्षुद्र विचारोंको मनसे निकालकर सर्वदा शुभका ही चिन्तन करो। विश्वासपूर्वक प्रणवका अखण्ड जप करो। रात-दिन राम-नाम रटो। मनको किसी शुभ आलम्बनमें एकाग्र करो। कुछ समय एकान्तमें निकालो। इससे स्वयं ही शुभ विचारोंकी स्फूर्ति होगी। ऐसे उन्नत सजीव और तेजस्वी विचार स्वयं ही उत्कर्षकी ओर ले जायँगे। तेजोमय प्रभुसे माँगो कि वे तुम्हारी बुद्धिको तेजस्वी करें। निश्चय मानो कि तुम श्रेष्ठ होनेके लिये ही रचे गये हो और अपना उन्नत भविष्य तुम्हें स्वयं ही बनाना है।

महान् यशको कौन प्राप्त होते हैं ?

अनूच्यमानास्तु पुनस्ते मन्यन्तु महाजनात्। गुणवत्तरमात्मानं स्वेन मानेन दर्पिताः॥

अब्रुवन्कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन्। विपश्चिद् गुणसम्पन्नः प्राप्नोत्येव महद्यशः॥

'अभिमानवश अपनेको महान् गुणी माननेवालोंको यदि कोई उपदेश देता है तो भी वे अपने मनमें गर्व कर महात्मा पुरुषोंसे भी अपनेको विशेष गुणी मानते हैं, वे अपनेको भले ही इस प्रकार माना करें परन्तु जो किसीकी निन्दा तथा आत्मश्लाघा नहीं करता और विद्या तथा गुणोंसे सम्पन्न होता है, वह पुरुष स्वयं महान् यश प्राप्त करता है।'

(महा० शान्ति० २८७। २७-२८)

साधन-पथ

(लेखक—श्रीबिन्दुजी ब्रह्मचारी)

'साधन सिद्धि राम-पग नेहू ।'

आजकलका वातावरण कुछ ऐसा हो रहा है कि प्रत्येक श्वासोच्छ्वासमें बाह्याभ्यन्तर प्रकृतियोंमें राग-द्वेषादिके सहस्रों दूषित परमाणुओंका क्षण-क्षणमें विनिमय होता रहता है। घनतम तमोमय असंख्य परमाणुओंके सञ्चयसे प्रकृतिमें स्थूलता दृढ़ हो गयी है। जगत्पतिमें विश्वास नहीं, जगत्से अवकाश नहीं; परलोकमें निष्ठा नहीं, गुरु-वेद-वाक्योंकी प्रतिष्ठा नहीं। वृत्ति बहिर्मुखी हो गयी है। हम मुख्यतः बाह्य जगत्में ही विचरण करते हैं, भावनाओंका आधार वही हो गया है। ऐसी स्थितिमें परमार्थ-साधनका प्रश्न कितना महत्त्वास्पद हो सकता है, यह स्पष्ट है। उस पुण्य पीठसे, जहाँ आसन लगाकर वास्तविक साधनाराधन होता है और जो सिद्धियोंका केन्द्र है, हम पृथक् हो गये हैं। उसीका नाम हृदय है। चेतनताके स्थूलतामें आबद्ध हो जानेसे उसका (हृदयका) बहुत कुछ ह्रास हो गया है—उसकी शक्तियाँ अत्यधिक क्षीण हो गयी हैं और वह निर्जीव-सा हो गया है। श्रद्धा दया-दाक्षिण्यादि सद्गुण तिरोहित हो गये हैं। वास्तविकताका स्थान कृत्रिमताने ले लिया है और अनुभूतिका कोरी कल्पना और तर्कनाने। सात्त्विक हृदयके साथ दैवी सम्पत्तिका अत्यन्त ह्रास है और आसुरी सम्पत्तिके साथ तामसी बुद्धिका विकास। इसीसे आध्यात्मिक साधनका पथ बहुत ही दुर्गम और बाधित हो गया है। हृदय हमारा आवास नहीं रह गया, प्रत्युत स्थूल बुद्धि। एक तो हम साधनपथपर आरूढ़ ही नहीं होते अथवा हो पाते, और यदि आरूढ़ हुए भी तो थोड़ी ही दूर चलकर रह जाते हैं अथवा लौट आते हैं। यदि बीचमें कहीं अटक जाते हैं तो उसे ही गन्तव्य-सा मानकर रह जाते हैं और अपनेमें पूर्णताका अनुभव करने लगते हैं। हमको पता भी नहीं चलता कि हम कहाँ हैं, किधर भटक गये हैं। हम अपने भीतर टिक नहीं पाते। यदि हमारी कुछ धार्मिक भावना हुई और यदि कुछ साधनका क्रम चला, तो उसकी चरितार्थता स्थूल जगत्में ही होती है।

साधनका वही अधिकारी होता है, जिसके हृदयमें पूर्वसे कोई साध्य और लक्ष्य विद्यमान होता है। उसकी प्राप्ति अथवा संयोगकी चाह ही साधन-पथपर अग्रसर करती है। हृदय जिसकी आराधना करता है, उसीके लिये साधना भी की जाती है। जिस दर्जेकी चाह होती है, उसी कोटिकी साधना भी। ऐसा साधक ही साधन करता है और वही इष्टकी सिद्धि भी उपलब्ध करता है। कठिनाइयाँ आती हैं, परन्तु वे बाधक नहीं होतीं; उनसे ध्येयमें उसकी उत्कण्ठा और भी अधिक बढ़ती है। वह उन्हें अनायास झेल लेता है। जो किसी इष्ट अथवा प्रेयका आराधक है, वही वास्तविक साधक है। उसके साधनमें जीवन होता है, श्री होती है, सौन्दर्य होता है। उसमें इतना आकर्षण होता है कि दूसरे भी उसके अनुकरणके लिये उत्सुक होते हैं। वैसा करना वे पसंद करते हैं; ये हृदय-देशके साधक हैं; परन्तु जो वैसे नहीं हैं, वे बुद्धिके क्षेत्रमें अपने लिये उपयुक्त साधनका अन्वेषण करते हैं। और, पूर्व संस्कृति और प्रकृतिके अनुसार किसी साधनपर उनका मन टिक जाता है। कोई साधक उसी साधन-पथका अनुसरण करता है, जिसपर वह कभी कुछ चला हुआ अथवा जिसके निकट पहुँचा हुआ होता है। इसी प्रकार कोई आराधक (उपासक) भी उसी इष्टका वरण करता है, जिसमें कभी उसकी श्रद्धा हुई होती है। यह रुचि और निष्ठा पूर्वसंस्कारार्जित होती है। कोई अनायास ही उस दिशाको जाता है, जिधर कभी जा चुका है। नाना प्रकारके साधन विभिन्न अधिकारियोंहीके लिये हैं।

प्रत्येक साधक और आराधकका सबसे पहला कर्तव्य अपने ध्येय और लक्ष्यका निश्चय करना होता है। सच्चे साधक और आराधक सावधानता और संलग्नतापूर्वक ऐसा करते हैं और वे ही साधनमें प्रवृत्त होते हैं। सच्चे साधक और जिज्ञासुको ईश्वरीय प्रेरणासे सद्गुरु भी मिल जाते हैं और वह ठीक रास्तेपर आ जाता है और ठिकाने लग जाता है। जिन्हें लक्ष्य और ध्येयका निश्चय नहीं, उन्हें अवश्य ही भटकना और अटकना पड़ता है। जिसका गन्तव्य ही निर्धारित नहीं, वह कहाँ जायगा? सङ्कल्प और प्रतिज्ञाकी दृढ़तासे ही साधनमें दृढ़ता आती है। अन्तर्मुखी वृत्तिकी ध्येयमें एकतानता ही, जिसे संतोंकी भाषामें सुरति कहते हैं,

वह पथ है जो लक्ष्यतक पहुँचाता है। ध्येयकी ओर देखते हुए गुरूपदिष्ट मार्गसे सावधानतापूर्वक (पूर्ण मनोयोगसे) चले जानेहीसे अभीष्टकी सिद्धि होती है। शारीरिक स्वास्थ्य-के साथ मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहनेहीसे साधन बन पड़ता है। युक्ताहार-विहारसे शारीरिक स्वास्थ्य ठीक रहता है और वैराग्य अथवा निःस्पृहतासे मानसिक स्वास्थ्य। मानसिक नैरुज्य उसीसे प्राप्त होता है। राग-द्वेषमूलक वैषम्यके रहते कोई सर्वथा समताकी भूमिकापर प्रतिष्ठित, परमार्थका अधिकारी नहीं हो सकता। परमार्थसाधकके लिये मानसिक प्लीहा और अतिसार बड़े घातक रोग हैं। मानसिक प्लीहा जप-तप सब भीतर-ही-भीतर खा जाती है, जिससे अन्तः-करण बिल्कुल निःसत्त्व हो जाता है। वह साधनको अपना आहार और लोकको विहार-स्थल बनाती है। वह मानसिक प्लीहा आत्मश्लाघा है। मानसिक अतिसार भी शक्ति-सञ्चय नहीं होने देता। कुण्डलिनीके यत्किञ्चित् स्फुरणसे जब प्रज्ञा विकसित होने लगती है, तब तत्त्व-विचार-का क्रम चलता है। चेतनताकी किरणोंसे नाना भाव-विचार झड़ते रहते हैं। उन्हें यदि योगी पचा जाता है, तो वे विचार आचार (चरित) में परिणत होकर सद्गुण उत्पन्न करते हैं। जब विचार आचारके आशयमें भरकर ऊपर आ जाता है, तब वह प्रचार (काव्य-प्रणयन, प्रवचन, कीर्तन) का रूप धारण करता है। इससे जगत्का कल्याण होता है, जिज्ञासुओंको प्रकाश मिलता है। यदि इसके पूर्व आरम्भमें ही तत्त्व-विचार प्रचारका आकार ग्रहण करते हैं, तो साधकके हितकी हानि होती है और दूसरोंका भी उतना कल्याण नहीं होता जितना होना चाहिये। क्योंकि परिपाक न होनेसे उन विचारोंमें प्रभाव कम रहता है। पूर्ण परिपाक होनेसे उनकी स्वल्प मात्रा भी उपयोगिनी होती है,—उनमें शक्ति होती है, जीवन होता है। पूर्ण परिपाक आत्मप्रकाशमें होता है। समयके पूर्व विचारोंका प्रचारके क्षेत्रमें जाना ही मानसिक अतिसार है। निःसत्त्वता एवं अगाम्भीर्यसे ही वह कुरोग उत्पन्न होता है। आत्मालोचन तथा आत्म-संशोधनपूर्वक आत्मोन्नतिकी भावना सतत बनी रहनेसे साधक इन व्याधियोंसे बच जाता है। साधनका परिपाक होनेपर जब साधक अन्तर्जगत्में प्रवेश करता है, तब उसके पारमार्थिक पथको प्रकाशित करनेके लिये परमात्माकी ओरसे प्रकाशकी किरणें उसे मिलती हैं। यदि वह बाह्य जगत्में उनका उपयोग करता है और वृत्ति धीरे-धीरे बहिर्मुखी हो जाती है तो भीतर अन्धकारका अधिकार होने लगता है और पथभ्रष्ट होनेकी आशङ्का उपस्थित हो जाती है। जब-तक प्रकाशके उद्गम-स्थलमें नहीं पहुँच जाते, जबतक आत्मज्योतिसे भरकर अन्तःकरण तद्रूप नहीं हो जाता और अनात्मभावना नष्ट नहीं हो जाती अथवा जबतक परमप्रियतम पुरुषोत्तमका पूर्ण परिचय प्राप्त नहीं हो जाता, तबतक तमस् और ज्योतिका द्वन्द्व चला ही करता है। अतः स्थिति कोमल अथवा शङ्कनीय ही रहती है।

साधकका वास्तविक साधना-क्षेत्र अन्तर्जगत् है। उसके लिये (वास्तविक साधनाके लिये) अन्तर्मुख होना बहुत आवश्यक है (प्रत्याहार बिना धारणा नहीं बनती और धारणा बिना ध्यानकी सिद्धि नहीं होती)। बाह्यसे ज्ञान-सञ्चय करनेवाले चक्षु और श्रोत्रका पूर्ण संयम और निरोध जबतक नहीं होता, तबतक हृदय-देशमें प्रवेश भी नहीं होता और जबतक हृदय-देशमें प्रवेश नहीं होता, तबतक साधन भी नहीं बनता और सिद्धि अथवा सफलता भी नहीं होती। किसी महापुरुषने कहा है—

चश्म बन्दो, गोश बन्दो लब बबन्द।
गर न यावी सिर्रे हक़ बरमा बख़न्द॥

अर्थात् नेत्र, श्रोत्र और वाक्को बन्द करो, रोको। यदि इसपर भी सत्यका रहस्य न अवगत हो, तो मुझे हँसो। पहले लोग तीन हिस्सा भीतर रहते थे और एक हिस्सा बाहर। फिर आधा बाहर, आधा भीतर। बाद तीन हिस्सा बाहर, एक हिस्सा भीतर और अब प्रायः सम्पूर्ण अंशोंमें बाहर ही रहते हैं। सम्प्रति हृदयका अत्यधिक ह्रास हो जानेसे श्रद्धाका ही तिरोभाव हो गया। कुछ है भी तो अधिकांशमें राजसी-तामसी, जो खण्डशः चलती है और खण्डन-खण्डनमें ही रुचि रखती है। सात्त्विकी श्रद्धा तो अत्यन्त दुर्लभ हो रही है, जो परमार्थका साधन करती है। धर्म और प्रेम दोनोंही-की आधार-भूमि सत्त्व है। प्रेमके (अथवा सुख-दुःखके) लक्षण अश्रु आदि भी सत्त्वहीके क्षेत्रमें समुदित होते हैं, इसीलिये वे सात्त्विक भाव कहलाते हैं और श्रद्धा एवं धृति आदि धार्मिक शक्तियाँ भी वहीं उत्पन्न होती हैं। क्षान्ति और शान्ति-जैसे दिव्य गुणोंका भी वही उद्गम है। सत्त्व-स्थता ही स्वस्थता है। सत्त्वगत होनेहीको किसी विषयमें 'लगना' कहते हैं। ज्ञानका साधन यद्यपि बुद्धि-वृत्तिसे होता है, तथापि उसका सम्पादन और निदिध्यासन सत्त्वहीसे होता है। उसकी स्थिरता और सार्थकता उसीके आश्रयसे होती

है। शुद्ध ज्ञानका और शुद्ध प्रेमका समुदय शुद्ध अन्तःकरणमें ही होता है। शुद्ध तत्त्वके प्रकाश और विकासके लिये शुद्ध सत्त्वकी स्थिति नितान्त आवश्यक है। क्योंकि उसके बिना सर्वात्मीयताके रूपमें आत्माकी व्यापकताका अनुभव नहीं होता। राग-द्वेष दम्भके पथसे परिच्छिन्नताकी ऐसी गह्वर कन्दरामें ले जाकर डाल देते हैं, जहाँ आत्माके प्रकाशकी किरणें बिल्कुल नहीं पहुँचती। द्वेषके दुर्गम पर्वत और रागके सघन वन आत्मदेवसे इतना पृथक् कर देते हैं कि व्यापकताके लिये अवकाश ही नहीं रह जाता। भेदबुद्धि जितनी पुष्ट होगी, व्यापकता और उदारता उतनी ही बाधित होगी—यह निश्चित ही है। प्रेमका भाव ही आत्मीयता उत्पन्न करता है और द्वेषका परकीयता। जिनका हृदय आक्रीड (विहार-वन) होता है, जो आत्मज्योतिकी प्रसन्न कौमुदीसे सुरम्य उसके एकान्त प्रान्तमें प्रियके सरस साहचर्यमें रहते हैं अथवा उसके दिव्य भावसे भावित होते हैं, उनका लक्षण ही कुछ विलक्षण होता है। वे लोगोंसे मिलना, बोलना कम पसन्द करते हैं। बाह्य जगत्से वे ऊबते हैं। कौन अच्छा है, कौन बुरा है, कौन क्या करता है, क्या नहीं करता—इधर उनकी दृष्टि ही नहीं। कल्याण उनका स्वरूप, उपकार उनका चरित, करुणा उनकी चेष्टा, प्रसन्नता उनकी मुद्रा और शान्ति उनकी छटा होती है—

वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः।
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः॥

अस्तु, परमार्थ-साधनके लिये अन्तःकरण-संशोधन प्रथम वस्तु है। यदि भगवान्‌को रिझाना है, यदि उन्हे अनुकूल करना है तो उनके अनुकूल होना भी चाहिये। उसके लिये उनकी प्रिय वस्तु साधुताका अपनेमें (अपने स्वभावमें) सञ्चय करना सर्वथा सापेक्ष एवं अनिवार्य है। द्वेष-बुद्धिके पुष्ट होनेसे परदोषदर्शन और क्रोध अनायास उत्पन्न होते हैं, जो कलह-विग्रहके कारण बनते हैं। दोष-दृष्टि होनेसे दोष-ही-दोष दिखलायी देते हैं और गुण-दृष्टि होनेसे गुण-ही-गुण। द्वेष द्वेष ही उत्पन्न करता है और प्रेम प्रेम। प्रभाव अन्तःकरण अथवा मनोवृत्तिका ही पड़ता है। त्रिगुणातीत सच्चिदानन्दतत्त्व परमात्माके दर्शनके लिये दृष्टि और वृत्तिका गुणातीतताकी मर्यादातक पवित्र होना भी सर्वथा आवश्यक है—

नयन आँजि मन माँजि चेतिये चिदानंदघन राम।
अश्व हृस्व-दीरघ नहिं होवै, ऐसी कसिय लगाम॥
(भगवती मञ्जुकेशी देवी)

वर्तमान काल लौकिक और पारलौकिक अथवा पारमार्थिक—हर एक विभागमें सज्जनता और सत्पात्रताकी बड़ी मार्मिक अपेक्षा कर रहा है। अतः उसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होना सर्वाधिक वाञ्छनीय है। एक संतहृदय एकान्तमें रहकर भी अपनी सिद्ध-समुदार सद्भावनाओंसे वह लोक-कल्याण कर सकता है, जो सामान्यजन कितने ही व्याख्यानों-से भी नहीं कर सकते।

अन्तःकरण-विशुद्धि ही सकल साधना-सार।
अहै त्यौंहि एकाग्रता योग-तत्त्व समुदार॥

(२)

साधन अनेक हैं—अधिकारके अनुसार, शक्ति और रुचिके भेदसे। कोई कुछ पसन्द करता है और कोई कुछ। जो जिसे पसन्द करता और चाहता है, उसके लिये वही अच्छा है—'रुचीनां वैचित्र्याद्‌………।' 'जा कर मन रम जाहि सन………॥' जिसमें मनुष्यकी स्वभावतः अभिरुचि होती है, चाहे वह प्रेय (इष्ट) हो अथवा श्रेय (साधन), उसीमें उसके चित्तकी एकाग्रता होती है और जिसमें चित्तकी एकाग्रता होती है, उसीमें अन्तःकरणकी तल्लीनता होती है और जहाँ तल्लीनता होती है, वहीं सुख-सन्तोषकी प्राप्ति होती है। तत्त्व सत्त्वके तलस्थलमें है—अन्तःकरणकी गहराईमें है। तल्लीनता अथवा पूर्ण सुरतिसे ही उसका अपरोक्षानुभव होता है। परन्तु रुचिके साथ एक बात विचारणीय होती है। वह है शक्तिका प्रश्न। इसीको अधिकार भी कहते हैं। अभिरुचि शक्तिसे ही सार्थक होती है। और यह मानी हुई बात है कि कलियुगी जीवोंकी शक्ति क्षीण होती है, जो प्रत्यक्ष है। अस्तु, चाहे जिसका जो साधन और साध्य हो, उसमें वह निष्ठा-युक्त होता हुआ भी सर्वसुलभ स्वयं शब्दब्रह्म अन्तर्नाद रामनाम-का अवलम्बन ले सकता है—उसका एकान्त जप-योग कर सकता है। जितने आस्तिक वेदनिष्ठ सज्जन होंगे, उन्हें शब्द-वाद अभिमत ही होगा। जो शब्दवादी हैं, उनकी श्रद्धा भगवन्नाममें भी हो सकती है—चाहे वे किसी सम्प्रदायके हों। भिन्न-भिन्न धारणाओं और भावनाओंके क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुए भी कितने संत रामनामसे कृतार्थ हुए हैं। कारण यह कि जहाँ आत्मा है, वहीं राम अथवा जो आत्मा है, वही राम

एवं जो ज्योति है, वही ध्वनि और जो ध्वनि है, वही ज्योति—'ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिः ज्योतिषोऽन्तर्गतो ध्वनिः।' ध्वनि और ज्योतिकी तरह नाद-बिन्दुका भी घनिष्ठ सम्बन्ध है और वही रामनाम है। आत्मा ही वह केन्द्र है, जिसके समुज्ज्वल समतल स्थलमें सभी मतोंके संत एकत्र होकर एक स्वरसे रामनामका अखण्डमण्डलाकार मधुरालाप (अजपा जप) करते हैं। अतः जो अध्यात्मपथके पथिक और हृदय-देशके यात्री हैं, उन्हें भगवन्नामका आश्रयण, उसका एकान्त जप—ऐसा जप जिसका हृदय अभिमानी हो—करना ऐसा साधन है, जो सभी साधनाओं और निष्ठाओंको बल देता है, जिससे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, योग—सब सिद्ध होते हैं, जो निर्गुण-सगुण—उभय ब्रह्मरूपोंका साक्षी और स्वयं सबका साध्य है।

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥

राम नाम अवलंब बिनु परमारथ की आस।
तुलसी बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥

यह अवश्य लक्ष्यमें रखनेकी बात है कि वाकक्रमसे जिसका आरम्भ वैखरीसे होता है, चलनेहीसे सुगमतासे ठीक ठिकाने पहुँचते हैं—माता सरस्वती बड़ी सरलतासे मध्यमा-की उस सुरम्य सुख-पुञ्ज कक्षमें पहुँचा देती है, जिसे शाब्दिक अपनी परिभाषामें स्फोट कहते हैं, जहाँसे शब्द स्फुटित होते हैं, जहाँ रामनामके नाद-बिन्दु चिति और ह्लादिनीके साथ हिल-मिलकर खेलते रहते हैं। तात्पर्य यह कि वाङ्मार्गसे अजपा और दिव्य नाद (स्वयं शब्दब्रह्म-स्वरूप गुणातीत अनाहत) उभयकी सिद्धि होती है।

स्वतः शब्द-प्रामाण्यतः 'बिन्दु' वाक-पथ गम्य।
शब्द-ब्रह्म गमेति ध्वनि-ध्यान-धारणा रम्य॥
वही गेय, वहि ध्येय है, वही श्रेय, वहि प्रेय।
राम नाम पीयूष ही 'बिन्दु' प्राण-प्रिय पेय॥

यद्यपि आजकल सद्गुरु बहुत दुर्लभ हो गये हैं और उनसे भी दुर्लभ उनकी पहचान हो गयी है, तथापि यदि भगवत्कृपा और भाग्यसे ऐसा सुयोग लग जाय और कोई रामके प्यारे मिल जायँ, तो उनकी शरणमें प्राप्त हो उनके निर्देशसे ही भजन करना श्रेयस्कर है—

'कि सालिक बेखबर न बुवद ज़े राहो-रस्मे मंज़िलहा।'

क्योंकि गुरु मार्ग और केन्द्रोंके सब भेद जानता है। सच्चे साधक (भगवान्‌के लिये भगवान्‌के रास्तेपर चलनेवाले) को, जब उनकी सहायताका ठीक मुहूर्त्त आ जाता है, (ईश्वर अन्तिम अनिष्टकारक क्षणमें ही अचिन्त्य रीतिसे सहायता करते हैं) तब भगवान् किसी सद्गुरुसे अवश्य मिला देते हैं। यह सङ्घटन भगवान् स्वयं अपने जगद्गुरुरूपसे करते हैं—

जिसे पिय तुम अपनाते हो।
अपने मिलनेकी राह उसे आप हि बतलाते हो॥

जबतक ऐसा न हो, कोई सद्गुरु न मिलें, तबतक भगवान्‌के भरोसे पूर्ववर्ती संतोंके अनुभवोंसे लाभ उठाते हुए सावधानतापूर्वक रास्तेपर चलना चाहिये और अपनेको प्रभुके सामने सच्चा साधक और आराधक सिद्ध कर देना चाहिये। फिर तो वे सँभाल ही लेंगे। अपने कर्तव्यपालनमें वे बड़े सजग रहते हैं—'बड़ी साहिबीमें नाथ, बड़े सावधान हो।' कोई उनके लिये दो पग आगे बढ़ता है, तो वे चार पग आगे आकर उसे अपनाते हैं—

रीति प्रीति स्वारथ परमारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥

हाँ, अवश्य जान लेना चाहिये कि सच्चे गुरु एक सुदीर्घ कालके बाद मिलते हैं, जब भगवान्‌के मिलनेका मङ्गलमय समय समीप आता है—

उम्रे बायद कि यार आयद बकनार।
ईं दौलत सरमद हमा कसरा न देहन्द॥

अर्थात् इस बातके लिये एक सुदीर्घ जीवनकी अपेक्षा है कि वह प्रियतम सखा गोदमें आये। ऐ सरमद, यह सम्पत्ति सबको नहीं मिलती।

गुरु गोविन्दका मिलना उतना कठिन नहीं, जितना कठिन उनके लिये हृदयमें सच्ची चाहका होना है। सच्ची चाहमें एक अद्भुत आकर्षण होता है, जिसके सूक्ष्म शक्ति-तन्तु वहाँतक खिंचे हुए होते हैं जहाँ जिसकी चाह होती है, वह होता है। सच्ची चाह या लगन स्वयं पथप्रदर्शनका

काम करती है। वह रास्ता साफ़ करती हुई उधर ही खींच ले जाती है, जिधर वह गयी हुई होती है। सचाईका रास्ता इतना प्रशस्त, विश्वस्त, सुघटित और सुव्यवस्थित अतएव अभय होता है कि उससे कोई भटक ही नहीं सकता। जहाँ, कोई भटकेगा, वहाँ भी वही है। वह उठाकर ठिकाने ला देगा—'कस न दीदम कि गुम शुद अज़ रहे-रास्त'—किसीको सचाईके रास्तेसे गुमराह होते नहीं देखा।

अतः आन्तरिक साधनकी ओर विशेष लक्ष्य रखना उचित है। उसीके बननेसे सब बनता है। अन्तःकरणको ऐसा साधना चाहिये कि वह निश्छल और निरहङ्कार हो, जिससे उसमें भगवान्‌के लिये सच्ची चाह उत्पन्न हो सके—

> निर्मल मानसिक आवास।
> मलिन भाव बुहारि फेंकहु स्वच्छ करहु देवास।
> खींचि नभंत मदहि मारो, मदन उलटो रास॥*
> छरस, नवरस, पंचरस महँ बहै एक बतास।
> कहति 'केशी' मठ सँवारहु करहिं जेहि हरि बास॥

परमोत्कृष्ट साधन

गायत्री

(लेखक—पण्डितप्रवर श्रीद्वारकाप्रसादजी चतुर्वेदी)

हमारे-जैसे जीवात्माओंको इहलोक और परलोक दोनों लोकोंमें सुख एवं शान्ति प्रदान करनेवाला यदि कोई परमोत्कृष्ट साधन है तो वह एकमात्र वेदमाता गायत्रीकी सर्वतोभावेन आराधना ही है। अनेक जन्म धारण करके अनेकों योनियोंमें भटकनेके बाद तब कहीं भगवत्कृपा अथवा उत्कृष्ट कर्मोंके फलरूपमें इस जीवको मानव-शरीर मिलता है। मानव-योनिमें भी ब्राह्मण होना महान् पुण्यकर्मोंका फल है। फिर ब्राह्मण होकर जिसने वेदमाता गायत्रीका अनुग्रह सम्पादन कर लिया, उसको तो किसी बातकी कमी ही नहीं रह जाती।

यद्यपि वेदादि शास्त्रोंमे ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनका साधन करके द्विजवर्ग सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है; तथापि वेदमाता गायत्रीकी महिमा सबसे अधिक है। शौनकीय ऋग्विधानमें तो यहाँतक कहा गया है—

> प्रथमं लक्षगायत्रीं सप्तव्याहृतिसम्पुटाम्।
> ततः सर्वैर्वेदमन्त्रैः सर्वसिद्धिञ्च विन्दति॥

अर्थात् सप्त व्याहृतियोंसे सम्पुटित गायत्री-मन्त्रका एक लक्ष जप किये विना कोई भी वेदमन्त्र सिद्धिप्रद नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट होता है कि गायत्री-मन्त्र वैदिक साहित्यके खजानेकी मानो कुंजी है। जिसने गायत्री-मन्त्रको साध लिया, उसने मानो उभय लोकोंको अपने वशमें कर लिया।

शुक्राचार्य युद्धमें मारे गये दानवोंको जिस मृत-सञ्जीवन मन्त्रके प्रभावसे जीवित कर देते थे, वह भी गायत्रीप्रधान मन्त्र ही है। जिस ब्रह्मास्त्रसे तीनों लोक थर्रा जाते थे, उसमें भी गायत्री-मन्त्रकी ही प्रधानता है। विश्वामित्रजीके समस्त अस्त्र-शस्त्रोंको विफल करनेवाला वसिष्ठजीका ब्रह्मदण्ड गायत्री-मन्त्रात्मक ही था। गायत्रीकी आराधनासे ही विश्वामित्रजीने न केवल ब्राह्मणत्व ही प्राप्त किया था, बल्कि उनमें नवीन सृष्टि रचनेकी शक्ति भी उत्पन्न हो गयी थी। इस प्रकार कितने उदाहरण दिये जायँ। ब्राह्मणके लिये तो गायत्री कामधेनुरूपा है। जो ब्राह्मण ऐसे महामहिम गायत्री-मन्त्रका महत्त्व न समझकर उसकी साधनासे विमुख रहता है, उसका ब्राह्मणके घर जन्म लेना व्यर्थ है।

प्राचीन कालके उदाहरणोंपर ही नहीं, बल्कि आधुनिक कालकी घटनाओंपर ही यदि ध्यान दिया जाय तो भी गायत्री-मन्त्रका अनुपम प्रभाव मूर्तिमान् होकर प्रत्यक्ष दीखने लगता है। श्रीज्ञानेश्वरजीको गायत्री-मन्त्रसे जो लाभ हुआ था, वह प्रसिद्ध ही है। स्वामी दयानन्दको इतना प्रसिद्ध करनेवाला गायत्री-मन्त्र ही है। हमारी जानकारीमें एक-दो नहीं, बीसियों ऐसे ब्राह्मण हैं, जिन्होंने आजन्म गायत्रीको छोड़ अन्य किसी उपायका अवलम्ब नहीं लिया और जो इस लोक और परलोक दोनोंमें सुखी रहे। 'हिन्दी-प्रदीप' पत्रके सम्पादक स्वर्गीय पण्डित बालकृष्णजी भट्ट गायत्री-

* मदको ऊर्ध्वसे अधःमें उतारो और मदनको अधःसे ऊर्ध्वमें चढ़ाओ।

मन्त्रके ही बलपर निर्भय होकर सिंहकी तरह दहाड़ते थे। मृत पुरुषोंकी बात छोड़िये, महामना पण्डित मदनमोहनजी मालवीयको देखिये; उनका हिंदूविश्वविद्यालय वेदमाता गायत्रीकी आराधनाका ही जीता-जागता फल है। जो कार्य पहले असम्भव-सा देख पड़ता था, वही गायत्री-मन्त्रके आश्रय-ग्रहणसे अत्यन्त सरल हो गया। इस प्रकार मृत-जीवित अन्य अनेक महापुरुषोंके नाम गिनाये जा सकते हैं, जिन्हें गायत्री-मन्त्रकी आराधनासे अपार लाभ हुआ है।

इतना ही नहीं, ब्राह्मण-जाति और गायत्री-मन्त्रका कुछ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि कितने ही सच्चे ब्राह्मणोंको तो गायत्री-मन्त्रके आराधनसे आजन्म वञ्चित रहनेपर भी अन्तकालमें अपने-आप उसका स्मरण हो आता है। उदाहरणके तौरपर देशपर अपनेको न्यौछावर कर देनेवाले स्वर्गीय राष्ट्रभक्त पण्डित मोतीलालजी नेहरूको लीजिये। वे जीवनभर दूसरे वातावरणमें रहे, परन्तु शरीर छोड़ते समय पूर्वसंस्कारवश उन्हें गायत्री-मन्त्रका स्मरण हो आया! इस प्रकारकी घटनाएँ ब्राह्मण-जाति और गायत्री-मन्त्रके अविच्छेद्य सम्बन्धकी परिचायक नहीं तो और क्या हैं?

इन पंक्तियोंके लेखकके जीवनका आराध्य मन्त्र तो गायत्री-मन्त्र ही है। जब मैं अपने जीवनकी विषम कठिनाइयों और उनसे अनायास पार हो जानेके इतिहासपर दृष्टिपात करता हूँ, तब गायत्री-मन्त्रके अगणित उपकार प्रत्यक्ष हो जाते हैं और उसके प्रति मेरी निष्ठा यत्परो नास्ति हो जाती है। वारेन हेस्टिंग्ज नामक पुस्तक लिखनेके उपलक्ष्यमें तत्कालीन प्रान्तीय सरकारकी ओरसे मुझे जो पुरस्कार मिला, उसे प्रायः सभी हिन्दी-साहित्यानुरागी जानते हैं। उस समय आजीविकाहीन होकर कच्ची गृहस्थीके भारसे दब जानेके कारण मैं जिस मानसिक अशान्तिका शिकार हुआ था, उसे मैं ही जानता हूँ। परन्तु वेदमाता गायत्रीने वैसे गाढ़े समयमें भी अपना करावलम्ब देकर मुझको शोक-सागरसे हँसते-खेलते पार लगाया। मेरे जीवनमें गायत्री माताके ऐसे अनेक उपकार हैं, जिनका स्मरण करके हृदय गद्गद हो जाता है। सच पूछिये तो एकमात्र गायत्री माताकी कृपासे ही मैंने आजतक विविध विषम परिस्थितियोंमें पड़कर भी सानन्द जीवन बिताया है। उन्हींके भरोसे मैं आज भी चैनकी वंशी बजा रहा हूँ। अस्तु,

वेदमाता गायत्रीका ब्राह्मणमात्रपर वात्सल्य स्नेह है; फिर भी कितने खेदकी बात है कि आजकलके अधिकांश ब्राह्मण गायत्री माताकी साधना तो अलग रही, उनका स्मरण भी नहीं करते। फलतः वे इस जले पेटके लिये ब्राह्मणेतरोंके द्वारपर मारे-मारे फिरते हैं। मैं यह दावेके साथ कह सकता हूँ कि यदि अबसे भी ब्राह्मण-जाति सचेत हो जाय और गायत्री माताकी आराधना करने लगे तो फिर वह पहलेकी तरह शक्तिशालिनी हो सकती है। एकमात्र इसी सर्वोत्कृष्ट साधनसे कोई भी ब्राह्मण अपने लिये उभय-लोक बना सकता है। भला, जो वेदमाता गायत्री आयु, पृथिवी, द्रव्य और इन सबसे बढ़कर ब्रह्मवर्चस देनेवाली है, वह क्या कभी बिसारनेकी वस्तु है? मैं नित्य सन्ध्योपासनके समय विसर्जन करते हुए वेदमाता गायत्रीसे यह प्रार्थना किया करता हूँ—

> स्तुतो मया वरदा वेदमाता
>
> प्रचोदयन्ती पवने द्विजाता।
>
> आयुः पृथिव्यां द्रविणं ब्रह्मवर्चसं
>
> मह्यं दत्त्वा प्रजातुं ब्रह्मलोकम्॥

ब्रह्मवेत्ता मुनि कौन है?

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान्वेगान्यो विषहेदुदीर्णांस्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च॥

जो पुरुष वाणीके वेगको, मनके वेगको, क्रोधके वेगको, काम करनेकी इच्छाके वेगको, उदरके वेगको और उपस्थके वेगको रोकता है, उसको मैं ब्रह्मवेत्ता मुनि समझता हूँ।

(महा० शान्ति० २९९। १४)

विनय

कबहुँक अंब ! अवसर पाइ ।

मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ ॥

दीन सब अँगहीन, छीन मलीन अघी अघाइ ।

नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ ॥

बूझिहैं 'सो है कौन' कहिबी नाम दसा जनाइ ।

सुनत राम कृपालुके मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ॥

जानकी जगजननि जनकी किये बचन सहाइ ।

तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ ॥

—तुलसीदासजी

सहज-साधन

(लेखक—श्रीबदरीदासजी महाराज वानप्रस्थी, वेदान्तभूषण)

इस समय संसारमें जीवोंका जीवन बहुत थोड़ा रह गया है। उन्हें न तो पूर्ण आयु ही मिलती है और न वे पूर्ण सुख-सम्पत्ति और स्वाधीनताका ही उपभोग कर पाते हैं—बीचहीमें कालके वशीभूत हो जाते हैं। ऐसे अल्पजीवी जीवोंके कल्याणके लिये यदि कोई सहज-साधन बता दिया जाय तो उनका महान् उपकार हो सकता है। इसी बातको लक्ष्यमें रखकर हमारे गुरुदेव परमपूज्यपाद योगिराज ब्रह्मनिष्ठ श्री१००८ श्रीवनराजजी महाराजने हमें जो सदुपदेश दिया था, उसे ही कल्याणके पाठकोंके समक्ष उपस्थित करके हम आशा करते हैं कि इस सहज-साधनके द्वारा वे अपना और अपने इष्ट-मित्रोंका कल्याण कर सकेंगे। अस्तु,

पूज्य गुरुदेवने कहा था कि जो कार्य स्वाभाविक हो—जो सुखसे और अपनी अखण्ड प्रसन्नतासे हो सके, वही 'सहज' होता है। उस सहज-साधनसे सत्पुरुष परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं तथा अपने अज्ञानको नष्ट करके सारे जगत्का भला कर सकते हैं। अतः इस स्वल्प जीवनमें मनुष्यमात्रको इस सहज-साधनका अभ्यास करना चाहिये। इस साधनको समझनेके लिये पहले तीन शब्दोंकी परिभाषा समझ लेनी चाहिये, क्योंकि इन्हें समझे बिना सहज-साधनका अभ्यास हो नहीं सकता। वे तीन शब्द ये हैं—भ्रम, अविद्या या माया और अहङ्कार। (१) जो वस्तु वास्तवमें है नहीं, किन्तु दिखायी देती है, उसे भ्रम कहते हैं—जैसे मरुस्थलमें जल या सीपीमें चाँदी आदि। (२) जो वस्तु वास्तवमें है नहीं, किन्तु उत्पन्न हो जाती है उसका नाम अविद्या या माया है—जैसे घर, गाड़ी, धोती इत्यादि। घर वास्तवमें कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, पञ्चभूतोंकी समष्टिविशेष ही घर बन जाती है। इसी प्रकार काठ और लोहेके समूहविशेषका नाम गाड़ी है, तथा सूत ही धोती बन जाता है। (३) 'मैं' नामकी कोई वस्तु न होनेपर भी 'मैं' की प्रतीति होती है—इसीका नाम अहङ्कार है। मैं शरीरादि नहीं हूँ, फिर भी मैं अमुक अर्थात् बदरीदास हूँ—ऐसी वृत्ति होती है। इसे ही अहङ्कार कहते हैं। इस प्रकार इन तीन शब्दोंका अर्थ हृदयङ्गम हो जानेपर मनुष्यको सहज-साधनका अधिकार प्राप्त होता है। इस अधिकारके प्राप्त हुए बिना इसमें सफलता नहीं मिलती।

जिन भाग्यवानोंको यह संसार भ्रमवत् जान पड़ता है और जो कुछ होने या बननेवाले पदार्थ हैं वे ये सब अविद्या या माया हैं—ऐसा निश्चय होता है तथा मैं, तू, यह, वह—ये सब अहङ्कारके ही खेल दिखायी देते हैं, वे पुरुष या स्त्री ही इस सहज-साधनके सच्चे अधिकारी हैं। ऐसे अधिकारियोंको ही इससे सच्ची सिद्धि मिल सकती है—पापादिकी निवृत्ति तो इसके स्मरणमात्रसे हो जाती है।

मनुष्य क्या, प्राणिमात्रके भीतर प्रणवकी स्वाभाविक ध्वनि हो रही है। वह सुगमतासे सुनी जा सकती है और बड़ी प्रसन्नतासे उसका ध्यान हो सकता है। अतः स्वाभाविक होनेके कारण यह प्रणवध्यान ही सहज-साधन है। इसके अभ्याससे मनुष्य परमात्माका साक्षात्कार कर जीवन्मुक्त हो सकता है—नरसे नारायण हो सकता है। अतः 'प्रणव क्या है', 'उसका अर्थ क्या है' और 'प्रणवध्यान किस प्रकार किया जाता है' इन प्रश्नोंका संक्षेपमें उत्तर देकर कल्याणकामियोंको सहज-साधनका सुगम पथ बताया जाता है। प्रणव परमात्माका नाम है—'तस्य वाचकः प्रणवः' (यो० सू० १।२७)। नामीसे नामका भेद नहीं होता। अतः भगवन्नामस्मरण और भगवद्-ध्यान—ये दोनों समानरूपसे जीवका कल्याण करनेमें समर्थ हैं। प्रणवध्यानके विषयमें सर्वहितैषिणी भगवती श्रुति कहती है—

> प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
> अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥
>
> (मुण्डक० २।२।४)

'प्रणव धनुष है, सोपाधिक आत्मा बाण है और अक्षरब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है। अतः ब्रह्मस्वरूप लक्ष्यका सावधानीसे बेधन करना चाहिये और बाणके समान तन्मय अर्थात् ब्रह्ममय हो जाना चाहिये।

अधिकांश लोग ओंकारको ही प्रणव समझते हैं, परन्तु इन दोनोंमें एक सूक्ष्म अन्तर है। प्रणवध्वनि केवल चित्तवृत्तिको रोककर ही सुनी जा सकती है और 'ॐ' उसका गौणरूपमें उच्चारण करना है। इस प्रकार 'ॐ' प्रणवका ही स्थूल रूप है। यह ओंकार ही त्रिवर्णात्मक सगुण ब्रह्म है। इसका वाच्य अक्षरब्रह्म निर्गुण और विभु है।

ॐ ही अपर और पर ब्रह्म है। यह सम्पूर्ण विश्व ओंकार ही है। ॐ—यह अक्षर ही सब कुछ है। भूत, भविष्य और वर्तमान जो कुछ है, सब ॐ ही है। जिसको 'ॐ' कहा गया है और स्वयं ॐ—यह सब ब्रह्म ही है। ब्रह्म परमात्मा या भगवान् कृष्ण कोई परोक्ष वस्तु नहीं हैं। अन्तःकरणमें विराजमान यह आत्मा ही ब्रह्म है और यही ओंकार है।

इस ओंकारमें अ, उ, म् ये तीन वर्ण हैं। इनसे क्रमशः समष्टिमें विराट्, हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा तथा ईश्वर और व्यष्टिमें विश्व, तैजस एवं प्राज्ञका ग्रहण होता है। जिस परमात्मासे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश होते हैं उसीका नाम ॐ या प्रणव है। इसके ध्यानकी विधि नीचे लिखी जाती है।

प्रणवध्यान—"इस समय जब कि मैं जगा हुआ हूँ मेरी जाग्रत्-अवस्था है, मैं स्थूल भोगोंका भोक्ता हूँ और व्यष्टि-पिण्डाण्डमें रहनेसे मेरे शरीरका नहीं, चेतनका नाम 'विश्व' है तथा समष्टिमें यही 'विराट्' कहा जाता है। यही ओंकारकी अ मात्रा है और यही जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी विश्वात्मा है"—इस प्रकार ॐका उच्चारण करते हुए प्रायः १५ मिनट स्मरण करना चाहिये।

"जिस समय मैं स्वप्न देखता हूँ उस समय मेरी स्वप्नावस्था होती है, तब मैं सूक्ष्म विषयोंका भोक्ता होता हूँ और व्यष्टि पिण्डाण्डमें रहनेसे मेरे शरीरका नहीं, चेतनका नाम 'तैजस' होता है तथा समष्टिमें वही 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है। यही ओंकारकी दूसरी मात्रा उ है और यही स्वप्नावस्थाका अभिमानी सूत्रात्मा है"—इस प्रकार ॐका उच्चारण करते हुए प्रायः २० मिनटतक चिन्तन करे।

"जिस समय मैं सो जाता हूँ उस समय मेरी सुषुप्तावस्था होती है। तब मैं बीजरूपसे सबका भोक्ता होता हूँ और व्यष्टि पिण्डाण्डमें रहनेसे मेरे शरीरका नहीं, चेतनका नाम 'प्राज्ञ' होता है तथा समष्टिमें वही 'ईश्वर' कहा जाता है। यही ओंकारकी तीसरी मात्रा म् है और यही सुषुप्तिका अभिमानी कारणात्मा है। यह सबका ईश्वर, सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है तथा सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और लयका स्थान होनेसे सबका कारण है"—इस प्रकार ॐका उच्चारण करते हुए प्रायः २५ मिनटतक चिन्तन करना चाहिये।

अन्तमें "अब मैं समाधिस्थ हूँ। यह मेरी तुर्यावस्था है। इसके सम्बन्धमें विद्वान् लोग ऐसा मानते हैं कि न यह अन्तःप्रज्ञ है, न बहिःप्रज्ञ है, न उभयतः अर्थात् अन्तर्बहिःप्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। यह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चका उपशम, शान्त, शिव और अद्वैतरूप है। यही मैं हूँ और व्यष्टि पिण्डाण्डकी उपाधिसे मेरा ही नाम 'आत्मा' और समष्टि ब्रह्माण्डकी उपाधिसे मेरा ही नाम 'परमात्मा' है। यह तुर्यावस्थाका अभिमानी साक्षी चेतनात्मा ही साक्षात् जानने योग्य है" इस प्रकार ओंकारका चिन्तन करते हुए जितनी देरतक बाह्य वृत्ति न हो, तबतक लगातार ध्यान करता रहे। यही प्रणवध्यानकी संक्षिप्त विधि है।

इस प्रणवध्यानमें न तो किसी प्रकारका शारीरिक कष्ट ही है और न पैसेका खर्च ही। केवल सिद्ध या स्वस्तिक आसनसे अथवा जिससे भी सुखपूर्वक अधिक देरतक बैठा जा सके, बैठ जाय। इस प्रकार प्रातः, मध्याह्न और सायं तीनों कालोंमें अभ्यास करे। ऐसा करनेसे ब्रह्मतेजकी प्राप्ति होकर जीव निष्पाप हो जाता है तथा उसे परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। ओंकार मन्त्रराज है, इसीसे इसका 'सर्वकर्मारम्भे विनियोगः'—समस्त कर्मोंके आरम्भमें विनियोग किया जाता है। जिसका सब कार्योंके आरम्भमें सङ्कल्प हो, उसीको सहज या स्वाभाविक समझना चाहिये। अतः प्रणवध्यान ही सहज-साधन है और यह सबके लिये उपयोगी एवं परम पावन है।

अतएव इस सर्वोपयोगी साधनका हमें अहर्निश अभ्यास करना चाहिये। इससे हमारा, हमारे समाजका और हमारे देशका परम कल्याण होकर विश्वभरका श्रेय हो सकता है। यही सोचकर हमारे पूज्यपाद ऋषि-महर्षि और आचार्योंने भी सन्ध्याकी दशविध क्रियाओंमें सबसे पहले 'प्रणवध्यान' यानी यह सहज-साधन ही रखा है, क्योंकि इसका आबालवृद्ध सभी सुगमतासे अभ्यास कर सकते हैं।

सर्वोच्च साधनके लिये एक बात

(लेखक—पं० स्वामी श्रीपराङ्कुशाचार्यजी शास्त्री)

संसारमें जब हम विवेचनात्मक दृष्टि डालते हैं तो यह बात स्पष्ट दिखायी देती है कि प्रत्येक प्राणीकी प्रवृत्ति इष्ट-प्राप्ति और अनिष्टनिवृत्तिकी ओर ही है। सबकी यही चेष्टा रहती है कि हमें सब प्रकारके अभीष्ट सुख प्राप्त होते रहें और अवाञ्छनीय दुःख हमारे पास न फटकने पावें। परन्तु यह इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्ति केवल मनोरथमात्रसे सिद्ध नहीं हो सकती, इसके लिये विशेष उद्योगकी आवश्यकता है—

'उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।'

अतः जो इन्हें पानेके लिये उत्सुक हैं, उन्हें इनके अनुरूप उद्योग करना होगा।

किसी भी अर्थकी सिद्धिके लिये शास्त्रोंने दो प्रकारके उपाय बताये हैं—दृष्ट और अदृष्ट। पहले प्राणी दृष्ट उपायका आश्रय लेता है; जब उसे उससे सफलता नहीं मिलती तो वह अदृष्ट उपायके द्वारा अपना मनोरथ सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है। लोकमें यह बात स्पष्ट देखी जाती है कि जब कोई व्यक्ति बीमार पड़ता है तो उसके इष्ट-मित्र पहले उसकी विभिन्न वैद्य-डाक्टरोंसे चिकित्सा कराते हैं अथवा जल-वायुके परिवर्तनके द्वारा उसके स्वास्थ्यलाभके लिये प्रयत्न करते हैं। ये सब रोगनिवृत्तिके दृष्ट उपाय हैं। जब इनसे सफलता नहीं मिलती तो शतरुद्र, त्वरितरुद्र, मृत्युञ्जय, शतचण्डी, नृसिंह, सुदर्शन एवं हयग्रीव आदि मन्त्रोंके जप अथवा दुर्गासप्तशती, रामायण एवं भागवत आदि ग्रन्थोंके पारायण और दान-पुण्यादिके द्वारा उसकी व्याधिनिवृत्तिकी चेष्टा करते हैं। ये सब अदृष्ट उपाय हैं।

संसारमें दुःख इतने अधिक हैं कि उनकी ठीक-ठीक संख्या करना प्रायः असम्भव है। उन सबको हमारे पूज्य महर्षियोंने आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीन विभागोंमें विभक्त कर दिया है। इन तीन वर्गोंमें ही संसारके सारे दुःख आ जाते हैं। इसीसे ईश्वर कृष्णने सांख्यकारिकाके आरम्भमें 'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ' कहकर त्रिविध दुःखोंकी निवृत्तिके साधनकी जिज्ञासामें ही सर्वदुःखनिवृत्तिकी जिज्ञासाका समावेश कर दिया है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट ही है कि दृष्ट साधनकी अपेक्षा अदृष्ट साधन विशेष बलवान् हैं। उन अदृष्ट साधनोंमें भी किसी-न-किसी देवताके मन्त्र या स्तोत्रके जप या पाठका ही प्राधान्य रहता है। शास्त्रोंमें दुःखोंके त्रिराशीकरणकी भाँति सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे देवताओंका भी त्रिराशीकरण किया गया है। इसीसे विभिन्न अधिकारी अपनी-अपनी प्रवृत्तिके अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओंका अर्चन-पूजन करते हैं। गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥

(१७। ४)

इस श्लोकमें यह बताया गया है कि सात्त्विक प्रकृतिके पुरुष देवताओंका, राजस प्रकृतिके पुरुष यक्ष-राक्षसोंका और तामसी लोग प्रेत एवं भूतगणका पूजन करते हैं। किन्तु देवता भी सात्त्विकादि भेदसे कई प्रकारके होते हैं, जिनका साधक लोग अपनी लौकिक या अलौकिक कामनाओंकी पूर्ति और अनेकों क्षुद्र दुःखोंकी निवृत्तिके लिये पूजन करते हैं। किन्तु सर्वदुःखनिवृत्तिपूर्वक परमानन्ददायिनी मुक्तिकी प्राप्ति तो विशुद्धसत्त्वमय श्रीमन्नारायणकी उपासनासे ही प्राप्त होती है—'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्।' इस विषयमें श्रुति, स्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंसे अनेकों प्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं। अतः—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

'निष्काम हो, सकाम हो अथवा मोक्षकी कामनावाला हो, उदारबुद्धि साधकको तीव्रतर भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष श्रीनारायणकी ही उपासना करनी चाहिये।' उनकी कृपा होनेपर भक्तको भोग-मोक्ष कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता।

यद्यपि भगवान् श्रीनारायणके अनेकों नाम और मन्त्र हैं तथा वे सभी भक्तकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं, तथापि उनके अष्टाक्षर मन्त्रका शास्त्रोंमें बड़ा महत्त्व है। इसीसे कहा है—'न वेदाच्च परं शास्त्रं न मन्त्रोऽष्टाक्षरात्परः'—

वेदसे बढ़कर कोई शास्त्र नहीं है और अष्टाक्षर-मन्त्रसे बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है। श्रुति कहती है—'ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठं भुवनं गमिष्यति—'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्रकी उपासना करनेवाला वैकुण्ठलोकको जायगा।' अनुस्मृतिमें कहा है—

किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैः किं तस्य बहुभिर्जपैः।
नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः॥

'भक्तको अनेकों मन्त्र और अनेकों जपोंसे क्या प्रयोजन है? 'ॐ नमो नारायणाय' यह मन्त्र ही सम्पूर्ण अर्थोंकी सिद्धि करनेवाला है।' इस मन्त्रको चतुर्वेदसार भी कहते हैं—

चतुर्णां वेदानां हृदयमिदमाकृष्य विधिना
चतुर्भिर्यद्वर्णैः समघटि तु नारायण इति।
तदेतद्गायन्तो वयमनिशमात्मानमधुना
पुनीमो जानीमो न हरिपरितोषाय किमपि॥

अर्थात् विधाताने चारों वेदोंके हृदय (सार) को निकालकर चार वर्णोंसे 'नारायण' इस मन्त्रको रचा है। अतः हम अहर्निश इसका कीर्तन करते हुए अपनेको पवित्र करते हैं, इसके सिवा श्रीहरिको प्रसन्न करनेका कोई और साधन नहीं जानते। यह मन्त्र साधकको क्या-क्या दे सकता है, इस विषयमें एक जगह कहा है—

ऐहलौकिकमैश्वर्यं स्वर्गाद्यं पारलौकिकम्।
कैवल्यं भगवन्तं च मन्त्रोऽयं साधयिष्यति॥

'यह मन्त्र ऐहिक ऐश्वर्य, स्वर्गलोक, वैकुण्ठलोक, कैवल्य और स्वयं श्रीभगवान्‌की भी प्राप्ति करा देता है।'

इस प्रकार यद्यपि यह मन्त्र सब प्रकार कल्याणकारी और अत्यन्त महिमान्वित है तथापि विधिविशेषसे अनुष्ठान करनेपर ही इसका यथावत् फल मिल सकता है। यह ठीक है कि किसी भी प्रकार भोजन करनेसे भूख मिट सकती है, किन्तु यदि उसके साथ स्थान, काल और वातावरणकी अनुकूलता भी हो तो उसका एक विशेष लाभ होता है। इसी प्रकार मन्त्रजपके लिये भी अधिकारी और विधिविशेषकी बड़ी आवश्यकता है। नहीं तो कभी-कभी उसका विपरीत फल भी हो सकता है।

मन्त्रानुष्ठानमें सबसे पहले गुरुके उपदेशकी आवश्यकता होती है। सद्गुरुका उपदेश मिले बिना कोई भी विद्या सफल नहीं होती—'न प्रसीदति वै विद्या विना सदुपदेशतः।' श्रुतिने भी 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' ऐसा कहकर विद्याग्रहणके लिये पहले श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें जानेका ही विधान किया है। किन्तु गुरु कैसा होना चाहिये? इस विषयमें आजकल बहुत अज्ञान है। शास्त्रोंमें गुरुके जो लक्षण बताये हैं, उनका इस श्लोकमें संग्रह किया गया है—

सिद्धं सत्सम्प्रदाये स्थिरधियमनघं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं
सत्त्वस्थं सत्यवाचं समयनियतया साधुवृत्त्या समेतम्।
दम्भासूयादिमुक्तं जितविषयगणं दीर्घबन्धुं दयालुं
स्खालित्ये शासितारं स्वपरहितपरं देशिकं भूष्णुरीप्सेत्॥

अर्थात् कल्याणकामी पुरुषको ऐसे गुरुकी खोज करनी चाहिये जो सर्वसाधनोंमें पारङ्गत, सत्सम्प्रदायमें दीक्षित, स्थिरबुद्धि, निष्पाप, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, सत्त्वगुणमें स्थित, सत्यवक्ता, समयानुकूल साधुवृत्तिसे सम्पन्न, दम्भ और असूयादि दोषोंसे रहित, जितेन्द्रिय, परम सुहृद्, दयालु, शिष्यका पतन होनेपर उसका शासन करनेवाला और जीवोंके हितमें तत्पर रहनेवाला हो।

ऐसे सद्गुरुका सम्बन्ध होनेपर ही शिष्य साधन-मार्गमें अग्रसर हो सकता है। गुरुकृपाके बिना तो श्रीहरिका भी अनुग्रह नहीं होता, जैसे कि कमलको विकसित करनेवाला सूर्य ही जलसे अलग होनेपर उसे सुखा डालता है—

नारायणोऽपि विकृतिं याति गुरोः प्रच्युतस्य दुर्बुद्धेः।
कमलं जलादपेतं शोषयति रविर्न पोषयति॥

अतः जो उपर्युक्त लक्षणोंसे सम्पन्न और सम्प्रदाय-परम्परागत नारायण-मन्त्रके उपासक हों, उन सद्गुरुसे दीक्षा लेकर इस मन्त्रका अनुष्ठान करना चाहिये। मन्त्रसिद्धिके लिये पुरश्चरणकर्ताको मन्त्रके पटल, पद्धति, पीठ-पूजा, कवच और सहस्रनाम—ये पाँच अङ्ग भी अवश्य जानने चाहिये। ये पाँच अङ्ग सभी देव-देवियोंके मन्त्रोंमें होते हैं। इनके सिवा मन्त्रके ऋषि, देवता, छन्द, योग और दस प्रकारके न्यासोंका ज्ञान भी होना बहुत आवश्यक है। अपने गुरुदेवसे इन सब मन्त्रोपचारोंका उपदेश ले मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशीको नियमपूर्वक इस मन्त्रका जप आरम्भ करे। प्रत्येक दिन बीस सहस्र मन्त्र जप करना चाहिये। इस प्रकार चालीस दिनमें आठ लाख जप करके फिर श्रद्धापूर्वक प्रसन्न मनसे दशांश हवन करे तथा उसके दशांशसे तर्पण, तर्पणके दशांशसे मार्जन करे और उसका दशांश ब्राह्मणभोजन करावे।

इस प्रकार जब साधक पञ्चाङ्गादि प्रथम साधन और हवनादि उत्तर साधनोंके सहित विधिवत् पुरश्चरण कर ले तो फिर उसे यह देखना चाहिये कि मन्त्र सिद्ध हुआ या नहीं। इस मन्त्रकी सिद्धि होनेपर साधकको ये चिह्न दिखायी देते हैं—स्वप्नमें श्रीवासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, इनमें-से किन्हीं एकके अथवा सबके दर्शन होना। किसी भगवद-वतार या देवविशेषके दर्शन होना। वेदोच्चारण करते हुए विद्वान् ब्राह्मण या सिद्ध पुरुषोंके दर्शन होना अथवा उनका आशीर्वाद मिलना। पुष्प-फलान्वित वृक्षोंपर चढ़ना, हरे-भरे बाग और खेतोंको देखना। छत्र, चामर और वाहनादिका दर्शन या प्राप्त होना। राजा, राजपत्नी, राजपुरोहित, राजमन्त्री, मेघाच्छन्न गगनमण्डल अथवा वृष्टि होती देखना। जाग्रदवस्थामें मनमें अपूर्व प्रसन्नता, शान्ति, सन्तोष और उत्साह होना तथा सांसारिक प्रलोभनोंसे अकस्मात् वैराग्य हो जाना—इत्यादि। इन लक्षणोंको देखकर जब निश्चय हो जाय कि हमारा इष्ट-मन्त्र सिद्ध हो गया तो साधक इसका किसी भी लौकिक या पारलौकिक कामनाकी सिद्धिके लिये प्रयोग कर सकता है, अथवा इसीके द्वारा क्रमशः अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष सभी पुरुषार्थोंकी साधना कर सकता है। इस मन्त्रके द्वारा यदि शान्ति-कार्य सम्पादन करना हो तो स्वस्तिक मण्डलमें, पौष्टिक कार्य करना हो तो भद्रक मण्डलमें तथा अन्य अभीष्ट कार्योंकी सिद्धिके लिये चक्राब्ज मण्डलमें मन्त्रदेवकी आराधना करे।

इस प्रकार इस मन्त्रसे ऐहिक और आमुष्मिक सभी प्रकारकी कामनाएँ सिद्ध हो सकती हैं। यद्यपि लौकिक कामनाओंकी पूर्ति तो अन्यान्य मन्त्रोंसे भी हो जाती है, परन्तु निःश्रेयसरूप मोक्षदानमें तो जैसी शक्ति इस मन्त्रमें है वैसी बहुत ही थोड़े मन्त्रोंमें है। इसकी अपूर्व शक्तियोंके विषयमें अनेकों प्रमाण दिये जा सकते हैं। मन्त्रके द्वारा सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, यह बात योगाचार्य महर्षि पतञ्जलिने भी स्वीकार की है। 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः' (यो० सू० ४ । १) इस सूत्रमें जन्म, ओषधि, तप और समाधिके समान मन्त्रको भी सिद्धियोंकी प्राप्तिका एक साधन बताया है। अतः इसका चिरकालतक नियमानुसार अनुष्ठान किया जाय तो इससे अणिमादि सिद्धियोंकी प्राप्ति भी कठिन नहीं है। इसके द्वारा रोगादिकी निवृत्तिमें तो स्वयं हमारा ही पर्याप्त अनुभव है। हमें पूर्ण विश्वास है कि इसके द्वारा कठिन-से-कठिन रोग भी बहुत शीघ्र शान्त हो सकता है।

अच्युतानन्दगोविन्दनामस्मरणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

एक जिज्ञासुके प्रश्नोत्तर

(लेखक—रायसाहेब श्रीकृष्णलालजी बाफणा)

प्रश्न—हमें क्या करना चाहिये ? कोई कहते हैं कि तुम प्राणायाम करो; कोई बतलाते हैं कि सब कुछ ईश्वरपर छोड़ दो; कोई उपदेश देते हैं कि इस जगत्का प्रपञ्च दुःखमय और स्वप्नवत् है, इससे उपराम हो जाओ। कोई कहते हैं कि भगवान्की जो आज्ञा हो उसे किये जाओ; कोई बतलाते हैं कि धर्मशास्त्रोंके बताये मार्गपर चलो, नहीं तो पाप-पङ्कमें फँस जाओगे। कोई सुझाते हैं कि यह जगत् ईश्वरका विकासस्वरूप है, इसकी सेवा करो। कोई समझाते हैं कि भगवान्का भजन-पूजन और स्मरण करना ही एकमात्र कर्तव्य है, इसमें लगे रहो। कोई यह चेत दिलाते हैं कि एक आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है, तुम आत्मा ही हो, अतएव अपने आत्मस्वरूपका अनुसन्धान करते रहो; और कोई यह आदेश देते हैं कि किस पचड़ेमें पड़े हो, निर्विकल्प हो जाओ।

इस प्रकार हमें भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाये जाते हैं, इनमेंसे हम कौन मार्ग ग्रहण करें ? स्त्री-पुत्रादिकोंका मोह छोड़ा नहीं जाता। यदि हम संसारसे उन्मुख होना भी चाहें तो मनको समाधान नहीं होताः वह कहता है कि संसारकी सत्ता भी तो भगवान्की ही सत्ता है, कुटुम्बीजन भी तो भगवान्के ही अंश हैं। फिर उनको हम क्योंकर छोड़ दें ? क्या उनके प्रति हमारा कोई उत्तरदायित्व नहीं है ? जब सब कुछ भगवान् ही करते हैं तो वे जो चाहेंगे करायेंगे। उनके सामने हमारी स्वतन्त्रता ही क्या है ? और जब हम स्वतन्त्र नहीं हैं, तब हमसे यह कहना कि तुम अपने आपको भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर दो कहाँतक ठीक है ? भगवान्की प्रेरणा और आज्ञा भी कैसे समझमें आवे ? तात्पर्य यह है कि इन सब बातोंका ऊहापोह हमें जंजालमें फँसा देता है और चित्तमें विभ्रम उत्पन्न हो जाता है। फलतः हमें क्या करना चाहिये, यह बात समझमें नहीं आती।

एक रोगकी अनेक ओषधियाँ तो होती हैं; परन्तु किस रोगीको कौन-सी ओषधि अनुकूल पड़ेगी, यह भी तो बताना चाहिये । इसलिये आप हमें बताइये कि हम क्या करें ?

उत्तर—प्रश्न ठीक है । उपदेश और साधन साधकोंके स्वभाव, गुण और कर्मोंके अनुसार अलग-अलग हुआ करते हैं; अतएव सब अपने-अपने स्थानपर ही उपयुक्त हैं । मनुष्यके सहज सुन्दर जीवनकी कुंजी तो यही है—

आपकी सुधि लेय, सहजमें जो बनि आवै ।
दुर्जन हँसे न कोय, चित्तमें खेद न पावै ॥

अर्थात् जिस कार्यमें लोकापवाद न हो, जिसमें अपनेको भय और लज्जाका शिकार न होना पड़े, वही काम करना और भगवान्‌के किसी एक नामपर पूर्ण विश्वास रखकर उसे जपते रहना चाहिये । बस, एकमात्र यही मार्ग श्रेयस्कर और सुलभ है । बाकी सब जंजाल है । अपने कुल, धर्म और मर्यादाके अनुसार आचरण करते हुए श्रद्धा-विश्वास एवं प्रेमपूर्वक हरिनाम लेते रहना ही सब साधनोंका सार है ।

प्रश्न—नाम-जपमें—हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

यह मन्त्र महामन्त्र क्यों माना जाता है ? इसमें तो न प्रणव (ॐ) है, न शक्ति-बीज है और न नमस्कार ही है ?

उत्तर—इस मन्त्रके 'हरे' शब्दमें ह्रीं बीज निहित है, 'राम'में ॐकार है और 'कृष्ण' नाममें 'क्लीं' बीज है । सारा मन्त्र ही बीजोंद्वारा शक्तिसे ओतप्रोत है । फिर 'हरे' शब्दमें 'हरि' (विष्णु) और 'हर' (महादेव) दोनोंके ही दर्शन होनेके कारण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारोंके अधिपति देवोंका स्मरण हो जाता है । धर्म, आचरण और मर्यादाके पुरुषोत्तम श्रीराम हैं; अर्थके अधीश्वर लक्ष्मीपति श्रीविष्णु हैं; कामस्वरूप श्रीकृष्ण हैं और मोक्षके प्रदाता श्रीहर—महादेव हैं । इसीलिये यह मन्त्र महामन्त्र कहलाता है । 'हरे' शब्द सम्बोधनात्मक है, इसलिये इस मन्त्रमें नमस्कार और प्रार्थनाका भी समावेश है । इसलिये यह मन्त्र महामन्त्र ही है । विचार करनेपर इस महामन्त्रकी महिमा, सुन्दरता और गम्भीरता और भी अधिकाधिक प्रस्फुटित होती रहती है ।

प्रश्न—जैन-सम्प्रदायके लोग चैत्र शुक्ला १३ को और हिंदू लोग चैत्र शुक्ला १५ को अलग-अलग महावीर-जयन्ती मनाते हैं, इसका क्या रहस्य है ? दो महावीर कैसे हुए ? यह भेद केवल साम्प्रदायिक है अथवा सैद्धान्तिक ? इसका स्पष्टीकरण हो जानेसे बहुतोंकी शङ्काका समाधान हो जायगा ।

उत्तर—चैत्र शुक्ला १३को जैनियोंके तीर्थङ्कर श्रीवर्धमान भगवान्‌की जयन्ती है और चैत्र शुक्ला १५को श्रीहनुमान्‌जीकी । ये दोनों सिद्धान्ततः 'महावीर' कहलाते हैं । पहले 'वीर' शब्दकी व्याख्या करके फिर 'महावीर' की व्याख्या की जायगी, और तदनन्तर यह विवेचन किया जायगा कि किस सिद्धान्तके अनुसार उपर्युक्त दोनों महापुरुष 'महावीर' कहलाये । इन्हीं दोनोंको 'महावीर' की उपाधि क्यों मिली ? अन्य तीर्थङ्कर अथवा देवताओंको 'महावीर' क्यों नहीं कहा गया ?

'वीर' शब्दकी अनेकों व्याख्याएँ हैं, परन्तु वे पूरी नहीं उतरतीं । जैसे यह कहा जाय कि अतुलित और असाधारण बलवालेको 'वीर' कहते हैं तो यहाँ यह प्रश्न उठता है कि बलका अभिप्राय किस बलसे है—मनोबलसे, बुद्धिबलसे, तपोबलसे, शारीरिक बलसे अथवा धनबलसे ? फिर यह शङ्का होगी कि उस बलका प्रदर्शन उचित होता है या अनुचित, नैतिक होता है या अनैतिक ? एक लुटेरा साधारण जनताके मुकाबलेमें अधिक बल दिखाता है, परन्तु वह वीरोंकी गिनतीमें नहीं आ सकता । ऐसे ही यदि 'वीर' का तात्पर्य मनोबलयुक्त पुरुषसे समझा जाय, अर्थात् यह कहा जाय कि मन और इन्द्रियोंको वशमें करनेवालेको 'वीर' कहते हैं, तो भी शङ्काओंका अन्त नहीं होता । क्योंकि हम कइयोंको देखते हैं कि वे भय, लोभ, हठ और अज्ञानसे भी मन और इन्द्रियोंको रोकते हैं । लोहेकी कीलोंपर सोनेवाले, किसी वृक्षकी डालमें हाथ-पैर बाँधकर लटकनेवाले ऐसे ही तो हैं । कहीं-कहीं अशक्त व्यक्तियोंको भी अपना मन रोकना पड़ता है । अतएव यह व्याख्या भी उपयुक्त नहीं हुई । कई लोग विरोधको जीतनेवालोंको 'वीर' कहते हैं, परन्तु यह भी ठीक नहीं जँचता । चोर यदि मालके मालिकको हरा दे तो वह 'वीर' नहीं कहला सकता । फिर विरोधकी भी कोई सीमा नहीं है, अच्छे कामोंका भी विरोध होता है और बुरे कामोंका भी । इसी प्रकार यदि हम कर्मक्षय करनेवालेको 'वीर' कहें तब भी सन्तोष नहीं होता । कर्मोंका क्षय उदासीनता और अकर्मण्यतासे भी हो सकता है । परन्तु प्रमादी और आलसी व्यक्तिको कभी 'वीर' नहीं माना जा सकता ।

अस्तु, तब 'वीर' किसको माना जाय ? 'वीर' की सुन्दर व्याख्या यह है कि जो नैतिकतासे और अपने शक्तिभर पुरुषार्थसे धर्मके लिये विरोधका सामना करता है, वह 'वीर' है । एक मनुष्य शरीरसे निर्बल है, परन्तु यदि वह निःस्वार्थ-भावसे धर्मपर मर मिटता है तो वह निस्सन्देह 'वीर' है । अतः यदि यह व्याख्या मान्य हो तो अब 'महावीर' की व्याख्या शेष रही । 'महावीर' वही होगा, जो धर्मस्थापनके लिये समय-समयपर अवतरित हो । यह स्वयं भगवान् अथवा भगवत्स्वरूप महापुरुषोंसे ही हो सकता है । इसीलिये गीतामें भगवान्ने यह कहा है—'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।' ईश्वरपदमें वीरताकी सीमा समाप्त हो जाती है; वही नैतिकता, पुरुषार्थ और धर्मकी चरम सीमा है । श्रीवर्धमान भगवान् और श्रीरुद्रावतार हनुमान् ईश्वरपदके अधिकारी हैं, इसलिये वे 'महावीर' हो सकते हैं ।

संसारमें दो प्रकारकी शक्तियोंके दर्शन होते हैं—एक स्फुरण और विकास, दूसरी संकुचन और विराम; एक स्पन्दन, दूसरा स्तम्भन; एक प्रवृत्ति, दूसरी निवृत्ति; एक पॉज़ीटिव, दूसरी नेगेटिव । इन दोनोंके दो सिरे अर्थात् आदर्श भी होने अनिवार्य हैं । प्रवृत्तिका आदर्श सेवाभावमें हो सकता है, वहाँ जगत्‌के सारे प्रपञ्चोंको झेलती हुई दृढ़ निःस्वार्थताका दिग्दर्शन होता है । इसी प्रकार निवृत्तिका उच्चतम लक्ष्य शान्ति है, वहाँ त्याग-वैराग्यके द्वारा ध्येय शान्त पद पाना है । संसारके पूर्ण विकासके समय इन दोनों आदर्शोंको धारण करनेवाले भगवान् श्रीहनूमान् तथा तीर्थङ्कर श्रीवर्धमान हैं, अतएव वे ही पूर्ण ऐश्वर्यवान् हैं । सेवाभावके आदर्श श्रीहनूमान्‌जी तथा शान्त पदके आदर्श श्रीवर्धमान भगवान् हैं । इसीसे वे महावीर हैं ।

षट्कर्म

(लेखक—श्रीकमलाप्रसादसिंहजी)

'हठयोगप्रदीपिका' ग्रन्थके कर्ता स्वात्माराम योगीने १ धौति, २ वस्ति, ३ नेति, ४ नौलि, ५ कपालभाति और ६ त्राटकको षट्कर्म कहा है । आगे चलकर उन्होंने गजकरणीका भी वर्णन किया है । परन्तु 'भक्तिसागर' ग्रन्थके रचयिता चरणदासजीने १ नेति, २ धौति, ३ वस्ति, ४ गजकर्म, ५ न्योली और ६ त्राटकको षट्कर्म कहा है तथा १ कपालभाति, २ धौंकनी, ३ बाघी और ४ शङ्खपखाल—इन चार कर्मोंका नाम लेकर उन्हें षट्कर्मोंके अन्तर्गत कर दिया है । दोनोंमें यही अन्तर है कि एकने गजकर्मको और दूसरेने कपालभातिको षट्कर्मके अन्तर्गत माना है । चूँकि ये षट्कर्मकी शाखामात्र हैं, अतएव इस विभेदका कोई वास्तविक अर्थ नहीं होता ।

नियम

षट्कर्मके साधकके लिये हठयोगमें दिखलाये हुए स्थान, भोजन, आचार-विचार आदिके नियमोंको मानना परमावश्यक है । यहाँ यही कहा जा सकता है कि स्थान रमणीक और निरापद, भोजन सात्त्विक—जैसे दूध, घी, घोटा हुआ बादाम और मिश्री आदि पुष्ट और लघु पदार्थ, तथा परिमित होना चाहिये । आचार-विचारमें एकान्त-सेवन, कम बोलना, वैराग्य, साहस इत्यादि समझना चाहिये ।

नौलि, नौलिक, नलक्रिया या न्योली

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् कंधोंको नवाये हुए अत्यन्त वेगके साथ, जलकी भँवरके समान अपनी तुन्दको दक्षिण-वाम भागोंसे घुमानेको सिद्धोंने नौलि-कर्म कहा है ।

न्योली पद्मासन सों करै । दोनों पग घुटनों पर धरै ॥
पेट रु पीठ बराबर होय । दहने बायें नलै त्रिलोय ॥
जो गुरु करके ताहि दिखावै । न्योली कर्म सुगम करि पावै ॥

(भक्तिसागर)

वास्तवमें तुन्दको दायें-बायें घुमानेका रहस्य किताबोंसे पढ़कर मालूम करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है । इसका हमने कुछ अनुभव किया है, अतः इसका स्वरूप कुछ यों समझना चाहिये । जब शौच-स्नान, प्रातःसन्ध्या आदिसे निवृत्त हो लिये हों और पेट साफ तथा हलका हो गया हो, तब पद्मासन (सिद्धासन या उत्कटासन) लगाकर, रेचक कर, वायुको बाहर रोक, बिना देह हिलाये, केवल मनोबलसे पेटको दायेंसे बायें और बायेंसे दायें

चलानेकी भावना करे और तदनुकूल प्रयास करे। इसी प्रकार सायं-प्रातः स्वेद आनेतक प्रतिदिन अभ्यास करते-करते पेटकी स्थूलता जाती रहती है। तदनन्तर यह सोचना चाहिये कि दोनों कुक्षियाँ दब गयीं और बीचमें दोनों ओरसे दो नल जुटकर मूलाधारसे हृदयतक एक गोलाकार खंभ खड़ा हो गया। यही खंभा जब बँध जाय, तब नौलि सुगम हो जाती है। मनोबल और प्रयासपूर्वक अभ्यास बढ़ानेसे यह खंभा दायें-बायें घूमने लगता है। इसे चलानेमें छातीके समीप, कण्ठपर और ललाटपर भी नाड़ियोंका द्वन्द्व मालूम पड़ता है। एक बार न्योली चल जानेपर चलती रहती है। पहले-पहल चलनेके समय दस्त ढीला होता है। जिसका पेट हलका है तथा जो प्रयासपूर्वक अभ्यास करता है, उसको एक महीनेके भीतर ही न्योली सिद्ध हो जायगी।

इस क्रियाका आरम्भ करनेसे पहले पश्चिमतानासन और मयूरासनका थोड़ा अभ्यास कर लिया हो तो यह क्रिया शीघ्र सिद्ध हो जाती है। जबतक आँत पीठके अवयवोंसे भलीभाँति पृथक् न हो तबतक आँत उठानेकी क्रिया सावधानीके साथ करे, अन्यथा आँतें निर्बल हो जायँगी। किसी-किसी समय आघात पहुँचकर उदररोग, शोथ, आमवात, कटिवात, गृध्रसी, कुब्जवात, शुक्रदोष या अन्य कोई रोग हो जाता है। अतः इस क्रियाको शान्तिपूर्वक करना चाहिये। अँतड़ीमें शोथ, क्षतादिदोष या पित्तप्रकोपजनित अतिसारप्रवाहिका (पेचिश), संग्रहणी आदि रोगोंमें नौलिक्रिया हानिकारक है।

> मैल पेटमें रहन न पावे। अपान वायु तासों वश आवे॥
> तापतिरी अरु गोला शूल। रहन न पावै नेक न मूल॥
> और उदरके रोग कहावें। सो भी वे रहने नहिं पावें॥
>
> (भक्तिसागर)

> **मन्दाग्निसन्दीपनपाचनादि-**
> **सन्धापिकाऽऽनन्दकरी सदैव।**
> **अशेषदोषामयशोषणी च**
> **हठक्रियामौलिरियं च नौलिः॥**
>
> (हठयोगप्रदीपिका)

'यह नौलि मन्दाग्निका भली प्रकार दीपन और अन्नादिका पाचन और सर्वदा आनन्द करती है और समस्त वात आदि दोष और रोगका शोषण करती है। यह नौलि हठयोगकी सारी क्रियाओंमें उत्तम है।'

अँतड़ियोंके नौलिके वश होनेसे पाचन और मलका बाहर होना स्वाभाविक है। नौलि करते समय साँसकी क्रिया तो रुक ही जाती है। नौलि कर चुकनेपर कण्ठके समीप एक सुन्दर अकथनीय स्वाद मिलता है। यह हठयोगकी सारी क्रियाओंसे श्रेष्ठ इसलिये है कि नौलि जान लेनेपर तीनों बन्ध सुगम हो जाते हैं। अतएव यह प्राणायामकी सीढ़ी है। धौति, वस्तिमें भी नौलिकी आवश्यकता होती है। शङ्खपखाली क्रियामें भी, जिसमें मुखसे जल ले अँतड़ियोंमें घुमाते हुए गुदाद्वारा ठीक उसी प्रकार निकाल दिया जाता है जैसे शङ्खमें एक ओरसे जल देनेपर घूमकर जल दूसरी राहसे निकल आता है, नौलि सहायक है। नौलिक्रियाकी नकल यन्त्रोंद्वारा पाश्चात्योंसे अभीतक न बन पड़ी है।

वस्तिकर्म

वस्ति मूलाधारके समीप है। रंग लाल है और इसके देवता गणेश हैं। वस्तिको साफ करनेवाले कर्मको 'वस्तिकर्म' कहते हैं। 'योगसार' पुस्तकमें पुराने गुड़, त्रिफला और चीतेकी छालके रससे बनी गोली देकर अपानवायुको वश करनेको कहा है। फिर वस्तिकर्मका अभ्यास करना कहा है।

वस्तिकर्म दो प्रकारका है—१. पवनवस्ति २. जलवस्ति। नौलिकर्मद्वारा अपानवायुको ऊपर खींच पुनः मयूरासनसे त्यागनेको 'वस्तिकर्म' कहते हैं। पवनवस्ति पूरी सध जानेपर जलवस्ति सुगम हो जाती है, क्योंकि जलको खींचनेका कारण पवन ही होता है। जब जलमें डूबे हुए पेटसे न्योली हो जाय, तब नौलिसे जल ऊपर खिंच जायगा।

> **नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः।**
> **आधाराकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं वस्तिकर्म तत्॥**
>
> (हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् गुदाके मध्यमें छः अङ्गुल लम्बी बाँसकी नलीको रक्खे जिसका छिद्र कनिष्ठिका अँगुलीके प्रवेशयोग्य हो; उसे घी अथवा तेल लगाकर सावधानीके साथ चार अङ्गुल गुदामें प्रवेश करे और दो अङ्गुल बाहर रक्खे। पश्चात् बैठनेपर नाभितक जल आ जाय इतने जलसे भरे हुए टबमें उत्कटासनसे बैठे अर्थात् दोनों पार्ष्णियों—पैरकी एड़ियोंको मिलाकर खड़ी रखकर उनपर अपने स्फिच (चूतड़) को रक्खे और पैरोंके अग्रभागपर बैठे और उक्त आसनसे बैठकर आधाराकुञ्चन करे, जिससे बृहद् अन्त्रमें अपने-आप जल चढ़ने लगेगा। बादमें भीतर प्रविष्ट हुए जलको नौलिक्रमसे चलाकर त्याग दे। इस जलके साथ अन्त्रस्थित मल, आँव,

कृमि, अन्त्रोत्पन्न सेन्द्रिय विष आदि बाहर निकल आते हैं। इस उदरके क्षालन (धोने) को वस्तिकर्म कहते हैं। धौति, वस्ति दोनों कर्म भोजनसे पूर्व ही करने चाहिये और इनके करनेके अनन्तर खिचड़ी आदि हल्का भोजन शीघ्र कर लेना चाहिये, उसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये। वस्तिक्रिया करनेसे जलका कुछ अंश बृहद् अन्त्रमें शेष रह जाता है, वह धीरे-धीरे मूत्रद्वारा बाहर आवेगा। यदि भोजन नहीं किया जायगा तो वह दूषित जल अन्त्रोंसे सम्बद्ध सूक्ष्म नाडियोंद्वारा शोषित होकर रक्तमें मिल जायगा। कुछ लोग पहले मूलाधारसे प्राणवायुके आकर्षणका अभ्यास करके और जलमें स्थित होकर गुदामें नालप्रवेशके विना ही वस्तिकर्मका अभ्यास करते हैं। उस प्रकार वस्तिकर्म करनेसे उदरमें प्रविष्ट हुआ सम्पूर्ण जल बाहर नहीं आ सकता और उसके न आनेसे धातुक्षय आदि नाना दोष होते हैं। इसमे उस प्रकार वस्तिकर्म नहीं करना चाहिये। अन्यथा 'न्यस्तनालः' (अपनी गुदामें नाल रखकर) ऐसा पद स्वात्माराम क्यों देते ? यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि छोटे-छोटे जलजन्तुओंका नलद्वारा पेटमें प्रविष्ट हो जानेका भय रहता है। अतएव नलके मुखपर महीन वस्त्र देकर आकुञ्चन करना चाहिये। और जलको बाहर निकालनेके लिये खड़ा पश्चिमतान आसन करना चाहिये।

कई साधक तालाब या नदीमेंसे जलका आकर्षण करते हैं, जिससे कभी-कभी जलके साथ सूक्ष्म जहरीले जन्तु आँतोंमें प्रवेशकर नाना प्रकारके रोग उत्पन्न कर देते हैं। किञ्च गङ्गाजी और हिमालयसे निकलनेवाली अनेक बड़ी-बड़ी नदियोंका जल अधिक शीतल होनेके कारण न्यून शक्तिवालों को इच्छित लाभके स्थानमें हानि पहुँचा देता है। जल अधिक शीतल होनेसे उसे शोषण करनेकी क्रिया सूक्ष्म नाडियोंद्वारा तुरंत चालू हो जाती है और शीतल जलसे आँव या कफकी उत्पत्ति होती है। अतः टब या अन्य किसी बड़े बरतनमें बैठकर शुद्ध और सहन हो सके, ऐसे शीतल जलका आकर्षण करना विशेष हितकर है।

हठयोग, आयुर्वेद और पाश्चात्य ऐलोपैथिक आदि चिकित्साशास्त्रोंकी वस्तिक्रिया भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। हठयोगमें आन्तरिक बलसे जल खींचा जाता है। आयुर्वेदमें रोगानुसार भिन्न-भिन्न ओषधियोंके घृत-तैल-क्वाथादि चढ़ाये जाते हैं। पाश्चात्योंने इसी क्रियाके लिये एक यन्त्रका आविष्कार किया है, जिसे 'एनिमा' या 'डूश' कहते हैं। साबुन मिला हुआ गुनगुना जल, रेड़ीका तेल तथा ग्लिसरीन आदि मलशोधक ओषधि यन्त्रद्वारा गुदाके मार्गसे आँतमें चढ़ाते हैं। पश्चिममें इसकी चाल इतनी बढ़ गयी है कि बहुत लोग तो सप्ताहमें एक बार एनिमा लगाना आवश्यक समझने लगे हैं। इस एनिमाद्वारा वस्तिकर्मके समान लाभ नहीं होता, क्योंकि चढ़ा हुआ सम्पूर्ण जल तो बाहर आ नहीं सकता। बल्कि कभी-कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि जलका अधिकांश भीतर रहकर भयङ्कर हानि कर देता है। और अपने उद्योग और परिश्रमद्वारा जो जल चढ़ाया जाता है, उसमें तथा जो जलयन्त्रद्वारा पेटमें चढ़ाया जाता है उसमें उतना ही अन्तर है जितना दस मील पैदल और मोटरपर टहलनेमें है। इसके अतिरिक्त गरम जल चढ़ानेके कारण वीर्यस्थान और मूत्रस्थानको उष्णता पहुँचती है, जिससे थोड़ी हानि तो बार-बार पहुँचती रहती है। यह दोष हठयोगकी वस्तिमें नहीं है।

> यही जु बस्ती कर्म है, गुरु बिन पावै नाहिं।
> लिंग-गुदाके रोग जो, समाहिं नहिं जाहिं॥
> (भक्तिसागर)

वस्तिकर्ममें मूलाधारके पीड़ित और प्रक्षालित होनेसे लिङ्ग और गुदाके रोगोंका नाश होना स्वाभाविक है।

> गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
> वस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः॥
> (हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् वस्तिकर्मके प्रभावसे गुल्म, प्लीहा, उदर (जलोदर) और वात-पित्त-कफ इनके द्वन्द्व या एकसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं।

> धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
> दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम्।
> अशेषदोषोपचयं निहन्या-
> दभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म॥
> (हठयोगप्रदीपिका)

'अभ्यास किया हुआ यह वस्तिकर्म साधकके सम धातुओं, दस इन्द्रियों और अन्तःकरणको प्रसन्न करता है। मुखपर सात्त्विक कान्ति छा जाती है। जठराग्नि उद्दीप्त होती है। वात-पित्त-कफ आदि दोषोंकी वृद्धि और न्यूनता दोनोंको नष्ट कर साम्यरूप आरोग्यको करता है।' हाँ, एक बात इस सम्बन्धमें अवश्य ध्यान देनेकी है कि वस्तिक्रिया

करनेवालोंको पहले नेति और धौतिक्रिया करनी ही चाहिये, जिनका वर्णन नीचे दिया जाता है। अन्य क्रियाओंके लिये ऐसा नियम नहीं है।

राजयक्ष्मा (क्षय), सङ्ग्रहणी, प्रवाहिका, अधोरक्त-पित्त, भगन्दर, मलाशय और गुदामें शोथ, सन्ततज्वर, आन्त्रसन्निपात (हल्का Typhoid), आन्त्रशोथ, आन्त्रव्रण, कफवृद्धिजनित तीक्ष्ण श्वासप्रकोप इत्यादि रोगोंमें वस्तिक्रिया नहीं करनी चाहिये।

यह वस्तिक्रिया भी प्राणायामका अभ्यास चालू होनेके बाद नित्य करनेकी नहीं है। नित्य करनेसे आन्त्रशक्ति परावलम्बिनी और निर्बल हो जायगी, जिससे बिना वस्ति-क्रियाके भविष्यमें मलशुद्धि नहीं होगी। जैसे तम्बाकू और चायके व्यसनीको तम्बाकू और चाय पिये बिना शौच नहीं होता, वैसे ही नित्य वस्तिकर्म अथवा षट्कर्म करनेवालोंकी स्वाभाविक आन्तरिक शक्तिके बलसे शरीर-शुद्धि नहीं होती।

धौतिकर्म

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्।

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् चार अंगुल चौड़े और पंद्रह हाथ लम्बे महीन वस्त्रको गरम जलमें भिगोकर थोड़ा निचोड़ ले। फिर गुरूपदिष्ट मार्गसे धीरे-धीरे प्रतिदिन एक-एक हाथ उत्तरोत्तर निगलनेका अभ्यास बढ़ाता जाय। आठ-दस दिनमें पूरी धोती निगलनेका अभ्यास हो सकता है। करीब एक हाथ कपड़ा बाहर रहने दिया जाय। मुखमें जो प्रान्त रहे, उसे दाढ़ोंसे भली प्रकार दबा नौलिकर्म करे। फिर धीरे-धीरे वस्त्र निकाले। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वस्त्र निगलने-के पहले पूरा जल पी लेना चाहिये। इससे कपड़ेके निगलनेमें सुभीता तथा कफ-पित्तका उसमें सटना आसान हो जाता है और कपड़ेको बाहर निकलनेमें भी सहायता मिलती है। धौतिको रोज साबुनसे धोकर स्वच्छ रखना चाहिये। अन्यथा धौतिमें लगे हुए दूषित कफरूप विजातीय द्रव्यके परमाणु पुनः दूसरे दिन भीतर जाकर हानि पहुँचावेंगे।

अनेक साधक बाँसकी नवीन करची (काईन, भोजपुरी भाषामें) या बटका बरोह सवा हाथका लेकर पहले जल पी, पीछे शनैः-शनैः निगलनेका अभ्यास करते हैं। सूतकी एक चढ़ाव-उतारवाली रस्सीसे भी धौति साधते हैं। जब-जब निगलते हैं, तब-तब जल बाहर निकलने लगता है और करची आदिको भीतर घुसनेमें भी सुभीता होता है।

धौतिकर्ममें कोई-कोई तो लाल वस्त्रका प्रयोग करते हैं और इस क्रियाको दूरसे देखनेवाले यह अफवाह उड़ा देते हैं कि उन्होंने अमुक महात्माको अपनी अँतड़ियाँ और कलेजा निकालकर धोते देखा था, अपनी आँखों देखा था। इससे यद्यपि योगियोंकी मान्यता बढ़ती है, तथापि झूठका प्रचार होता है।

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्त्येव न संशयः॥

(हठयोगप्रदीपिका)

काया होवै शुद्ध ही, भजै पित्त कफ रोग।
शुकदेव कहँ धोती करम, मानैं योगी लोग॥

(भक्तिसागर)

पाश्चात्योंने Stomach Tube (स्टॉमक ट्यूब) बनाया है। कोई एक सवा हाथकी रबरकी नली रहती है, जिसका एक मुख खुला रहता है और दूसरे सिरेसे कुछ ऊपर हटकर बगलमें एक छेद होता है। जल पीकर खुला सिरा ऊपर रखकर दूसरा सिरा निगला जाता है और जल रबरकी नलिकाद्वारा गिर जाता है।

चाहे किसी प्रकारकी धौति क्यों न हो, उससे कफ, पित्त और रंग-बिरंगे पदार्थ बाहर गिरते हैं। ऊपरकी नाड़ीमें रहा हुआ एकाध अन्नका दाना भी गिरता है। दाँत खट्टा-सा हो जाता है। परन्तु मन शान्त और प्रसन्न हो जाता है। वसन्त या ग्रीष्मकालमें इसका साधन अच्छा होता है।

घटिका, कण्ठनलिका या श्वासनलिकामें शोथ, शुष्क कास, हिक्का, वमन, आमाशयमें शोथ, ग्रहणी, तीक्ष्ण अतिसार, ऊर्ध्व रक्तपित्त (मुँहसे रक्त गिरना) इत्यादि कोई रोग हो, तब धौतिक्रिया लाभदायक नहीं होती। और आवश्यकता न रहनेपर इस क्रियाको प्रतिदिन करनेसे पाचनक्रियामें उपयोगी पित्त और कफ धौति निगलनेके कारण विकृत होकर बाहर निकलते रहेंगे, जिससे पाचनक्रिया मन्द होकर शरीरमें निर्बलता आ जायगी। पित्तप्रकोपसे ग्रहणीकला दूषित होनेपर धौतिक्रिया की जायगी तो किसी समय धौतिका भाग आमाशय और लघु अन्त्रके

सन्धिस्थानमें जाकर फँस जायगा। इसी प्रकार धौति फट जानेपर भी उसके फँस जानेका भय रहता है। यदि ऐसा हो जाय तो थोड़ा गरम जल पीकर ब्रह्मदातुन चलानेसे धौति निकलकर बाहर आ जायगी। इन कारणोंसे पित्तप्रकोपजन्य रोगोंमें धौतिका उपयोग करना अनुचित माना गया है।

नेतिकर्म

नेति दो प्रकारकी होती है—जलनेति और सूत्रनेति। पहले जलनेति करनी चाहिये। प्रातःकाल दन्तधावनके पश्चात् जो साँस चलती हो, उसीसे चुल्लूमें जल ले और दूसरी साँस बंदकर जल नाकद्वारा खींचे। जल मुखमें चला जायगा। सिरके पिछले सारे हिस्सेमें, जहाँ मस्तिष्कका स्थान है, उस कर्मके प्रभावसे गुदगुदाहट और सनसनाहट या गिनगिनाहट पैदा होगी। अभ्यास बढ़नेपर आगे ऐसा नहीं होगा। कुछ लोग नासिकाके एक छिद्रसे जल खींचकर दूसरे छिद्रसे निकालनेकी क्रियाको 'जलनेति' कहते हैं। एक समयमें आध सेरसे एक सेरतक जल एक नासापुटसे चढ़ाकर दूसरे नासापुटसे निकाला जा सकता है। एक समय एक तरफसे जल चढ़ाकर दूसरे समय दूसरी तरफसे चढ़ाना चाहिये। जलनेतिसे नेत्रज्योति बलवती होती है। यह स्कूल और कॉलिजके विद्यार्थियोंके लिये भी हितकर है। तीक्ष्ण नेत्ररोग, तीक्ष्ण अम्लपित्त और नये ज्वरमें जलनेति नहीं करनी चाहिये। अनेक मनुष्य रोज सुबह नासापुटसे जल पीते हैं। यह क्रिया हितकर नहीं है। कारण, जो दोष नासिकामें सञ्चित होंगे वे आमाशयमें चले जायँगे। अतः उषःपान तो मुँहसे ही करना चाहिये। जलनेतिके अनन्तर सूत्र लेना चाहिये। महीन सूतकी दस-पन्द्रह तारकी एक हाथ लम्बी बिना बटी डोरको, जिसका छः-सात इंच लम्बा एक प्रान्त बटकर क्रमशः पतला बना दिया गया हो, पिघले हुए मोमसे चिकना बनाकर जलमें भिगो लेना उचित है। फिर इस स्निग्ध भागको भी थोड़ा मोड़कर जिस छिद्रसे वायु चलती हो उस छिद्रमें लगाकर और नाकका दूसरा छेद अँगुलीसे बन्दकर, खूब जोरसे बारम्बार पूरक करनेसे सूतका भाग मुखमें आ जाता है। तब उसे तर्जनी और अङ्गुष्ठसे पकड़कर बाहर निकाल ले। पुनः नेतिको धोकर दूसरे छिद्रमें डालकर मुँहमेंसे निकाल ले। कुछ दिनके अभ्यासके बाद एक हाथसे सूतको मुँहसे खींचकर और दूसरेसे नाकवाला प्रान्त पकड़कर धीरे-धीरे चालन करे। इस क्रियाको 'घर्षणनेति' कहते हैं। इसी प्रकार नाकके दूसरे रन्ध्रसे भी, जब वायु उस रन्ध्रसे चल रहा हो, अभ्यास करे। इससे भीतर लगा हुआ कफ पृथक् होकर नेतिके साथ बाहर आ जाता है। नाकके एक छिद्रसे दूसरे छिद्रमें भी सूत चलाया जाता है, यद्यपि कुछ लोग इसे दोषयुक्त मानकर इसकी उपेक्षा करते हैं। उसका क्रम यह है कि सूत नाकके एक छिद्रसे पूरकद्वारा जब खींचा जाता है तो रेचक मुखद्वारा न कर दूसरे रन्ध्रद्वारा करना चाहिये। इस प्रकार सूत एक छिद्रसे दूसरे छिद्रमें आ जाता है। इस क्रियाके करनेमें किसी प्रकारका भय नहीं है। सध जानेपर इसे तीसरे दिन करना चाहिये। जलनेति प्रतिदिन कर सकते हैं। नेति डालनेमें किसी-किसीको छींक आने लगती है, इसलिये एक-दो सेकण्ड श्वासोच्छ्वासकी क्रियाको बंद करके नेति डालनी चाहिये।

> नाक कान अरु दाँतका रोग न व्यापै कोय।
> उज्ज्वल होवे नैन ही, नित नेती कर सोय॥
> (भक्तिसागर)

> कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
> जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च॥
> (हठयोगप्रदीपिका)

'नेति कपालको शुद्ध करती है, दिव्यदृष्टि देती है। स्कन्ध, भुजा और सिरकी सन्धिके ऊपरके सारे रोगोंको नेति शीघ्र ही नष्ट करती है।' प्रायः देखा जाता है कि रबरकी या दूसरे प्रकारकी नलिकासे शौकीन लोग नाकद्वारा जल पिया करते हैं। इसकी महत्ता भी लोगोंपर विदित है।

कफसे या नेतिके कारण नासिकाके ऊपरके भागमें दर्द हो, रक्त निकले या जलन हो तो गोघृत दिनमें दो बार सूँघे। घृतको हथेलीमें लेकर एक नासापुट बन्दकर दूसरे नासापुटसे सूँघे, तब वह ऊपर चढ़ेगा। पाण्डु, कामला, अम्लपित्त, ऊर्ध्व रक्तपित्त, पित्तज्वर, नासिकामें दाह, नेत्रदाह, नेत्राभिष्यन्द (नेत्रोंकी लाली), मस्तिष्कदाह इत्यादि पित्तप्रकोपजन्य रोगोंमेंसे कोई रोग हो तो इस नेतिका उपयोग न करे। अधिक आवश्यकता हो तो सम्हालपूर्वक करे, परन्तु घर्षणक्रिया न करे। पित्तप्रकोपके समय जलनेतिका उपयोग हितकर है।

त्राटककर्म

> निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
> अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥
> (हठयोगप्रदीपिका)

'समाहित अर्थात् एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य निश्चल दृष्टिसे सूक्ष्म लक्ष्यको अर्थात् लघु पदार्थको तबतक देखे, जबतक अश्रुपात न होवे। इसे मत्स्येन्द्र आदि आचार्योंने त्राटककर्म कहा है।'

त्राटककर्म टकटकी लागै। पलक पलक सों मिलै न लागै॥
नैन उघारे ही नित रहै। होय दृष्टि फिर शुकदेव कहै॥
आँख उलटि त्रिकुटीमें आनौ। यह भी त्राटककर्म पिछानौ॥
जैसे ध्यान नैनके होई। चरणदास पूरण हो सोई॥

सफेद दीवारपर सरसोंबराबर काला चिह्न दे, उसीपर दृष्टि ठहराते-ठहराते चित्त समाहित और दृष्टि शक्तिसम्पन्न हो जाती है। मेस्मेरिज़्ममें जो शक्ति आ जाती है, वही शक्ति त्राटकसे भी प्राप्य है।

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम्॥

(हठयोगप्रदीपिका)

'त्राटक नेत्ररोगनाशक है। तन्द्रा, आलस्यादिको भीतर नहीं आने देता। त्राटककर्म संसारमें इस प्रकार गुप्त रखनेयोग्य है, जैसे सुवर्णकी पेटी संसारमें गुप्त रक्खी जाती है।' क्योंकि—

भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता।

उपनिषदोंमें त्राटकके आन्तर, बाह्य और मध्य—इस प्रकार तीन भेद किये गये हैं। हठयोगके ग्रन्थोंमें प्रकारभेद नहीं है। उक्त तीनों भेदोंका वर्णन क्रमशः नीचे दिया जाता है।

हृदय अथवा भ्रूमध्यमें नेत्र बन्द रखकर एकाग्रता-पूर्वक चक्षुवृत्तिकी भावना करनेको 'आन्तर त्राटक' कहते हैं। इस आन्तर त्राटक और ध्यानमें बहुत अंशोंमें समानता है। भ्रूमध्यमें त्राटक करनेसे आरम्भमें कुछ दिनोंतक कपालमें दर्द हो जाता है तथा नेत्रकी बरौनीमें चञ्चलता प्रतीत होने लगती है। परन्तु कुछ दिनोंके पश्चात् नेत्रवृत्तिमें स्थिरता आ जाती है। हृदयदेशमें वृत्तिकी स्थिरताके लिये प्रयत्न करनेवालोंको ऐसी प्रतिकूलता नहीं होती।

चन्द्र, प्रकाशित नक्षत्र, पर्वतके तृणाच्छादित शिखर अथवा अन्य किसी दूरवर्ती लक्ष्यपर दृष्टि स्थिर करनेकी कियाको बाह्य त्राटक कहते हैं। केवल सूर्यपर त्राटक करनेकी मनाही है। कारण, सूर्य और नेत्रज्योतिमें एक ही प्रकारकी शक्ति होनेसे नेत्र-शक्ति सूर्यमें आकर्षित होती रहेगी, जिससे नेत्र दो-ही-तीन मासमें कमज़ोर हो जायँगे। यदि सूर्यपर त्राटक करना हो तो जलमें पड़े हुए सूर्यके प्रतिबिम्बपर करें। इस प्रकार किसी दूरवर्ती पदार्थपर त्राटक करनेकी क्रियाको 'बाह्य त्राटक' कहते हैं।

काली स्याहीसे कागज़पर लिखे हुए 'ॐ', बिन्दु, किसी देवमूर्ति अथवा भगवान्‌के चित्र, मोमबत्ती या तिलके तेलकी अचल बत्ती या बत्तीके प्रकाशमें प्रकाशित धातुकी मूर्ति, नासिकाके अग्रभाग या समीपवर्ती किसी अन्य लक्ष्यपर दृष्टि स्थिर रखनेकी क्रियाको 'मध्यत्राटक' कहते हैं। केवल भ्रूमध्यमें खुले नेत्रसे देखनेकी क्रिया प्रारम्भमें अधिक समय न करो, अन्यथा नेत्रोंकी नाड़ियाँ निर्बल होकर दृष्टि कमज़ोर (short sight) हो जायगी।

इन तीनों प्रकारके त्राटकके अधिकारी भी भिन्न-भिन्न हैं। जिस साधककी पित्तप्रधान प्रकृति हो, जिसके मस्तिष्क, नेत्र, नासिका या हृदयमें दाह रहता हो, नेत्रमें फूला, जाला या अन्य कोई रोग हो, वह केवल आन्तर त्राटकका अधिकारी है। यदि वह बाह्य लक्ष्यपर त्राटक करेगा तो नेत्रको हानि पहुँचेगी। जिनकी दृष्टि दूरकी वस्तुओंके लिये कमज़ोर हो, जिनकी वातप्रधान प्रकृति हो या जिन्हें शुक्रकी निर्बलता हो, वे समीपस्थ मूर्ति आदिपर त्राटक न करें। चन्द्रादि उज्ज्वल लक्ष्यपर त्राटक करें। जिनकी दृष्टि दोषरहित हो, त्रिधातु सम हों, कफप्रधान प्रकृति हो, नेत्रोंकी ज्योति पूर्ण हो, वे 'मध्य-त्राटक' करें।

जिनको दो-चार वर्ष पहले उपदंश (Syphilis) या सुजाक (Gonorrhea) रोग हुआ हो अथवा जो अम्लपित्त, जीर्ण-ज्वर, विषमज्वर, मज्जातन्तु-विकृति, पित्ताशयविकृति इत्यादि किसी व्यथासे पीड़ित हों अथवा तम्बाकू, गाँजा आदिके व्यसनी हों, वे किसी प्रकारका त्राटक न करें। इसी प्रकार मानसिक चिन्ता, क्रोध, शोक, पुस्तकोंका अध्ययन, सूर्यताप या आँचका सेवन करनेवाले भी इस त्राटककी क्रियामें प्रवृत्त न हों।

पाश्चात्त्योंका अनुकरण करनेवाले कुछ लोग मद्यपान, मांसाहार तथा अम्ल पदार्थादि अपथ्य वस्तुओंका सेवन करते हुए भी 'मेस्मेरिज़्म' विद्याकी सिद्धिके लिये त्राटक किया करते हैं। परन्तु ऐसे लोगोंका अभ्यास पूर्ण नहीं होता। अनेकोंके नेत्र चले जाते हैं, और अनेकों पागल हो जाते हैं। जिन्होंने पथ्यका पालन किया है, वही सिद्धि प्राप्त कर सके हैं।

यम-नियमपूर्वक आसनोंके अभ्याससे नाड़ीसमूह मृदु हो जानेपर ही त्राटक करना चाहिये। कठोर नाड़ियोंको आघात पहुँचते देरी नहीं लगती। त्राटकके जिज्ञासुओंके लिये आसनोंके अभ्यासके परिपाककालमें नेत्रके व्यायामका अभ्यास करना विशेष लाभदायक है। प्रातःकालमें शान्तिपूर्वक दृष्टिको शनैः-शनैः बायें, दायें, नीचेकी ओर, ऊपरकी ओर चलानेकी क्रियाको नेत्रका व्यायाम कहते हैं। इस व्यायामसे नेत्रकी नसें दृढ़ होती हैं। इसके अनन्तर त्राटक करनेसे नेत्रको हानि पहुँचनेकी भीति कम हो जाती है।

त्राटकके अभ्याससे नेत्र और मस्तिष्कमें उष्णता बढ़ जाती है। अतः नित्य जलनेति करनी चाहिये। तथा रोज सुबह त्रिफलाके जलसे अथवा गुलाबजलसे नेत्रोंको धोना चाहिये। भोजनमें पित्तवर्द्धक और मलावरोध (कब्ज़) करनेवाले पदार्थोंका सेवन न करे। नेत्रमें आँसू आ जानेके बाद फिर उस दिन दूसरी बार त्राटक न करे। केवल एक ही बार प्रातःकालमें करे। वास्तवमें त्राटकके अनुकूल समय रात्रिके दोसे पाँच बजेतक है। शान्तिके समयमें चित्तकी एकाग्रता बहुत शीघ्र होने लगती है। एकाध वर्षपर्यन्त नियमितरूपसे त्राटक करनेसे साधकके सङ्कल्प सिद्ध होने लगते हैं, दूसरे मनुष्योंके हृदयका भाव मालूम होने लगता है, सुदूर स्थानमें स्थित पदार्थ अथवा घटनाका सम्यक् प्रकारसे बोध हो जाता है।

गजकर्म या गजकरणी

गजकर्म यहि जानिये, पियें पेट भरि नीर।
फेरि मुखिसों काढ़िये, रोग न होय शरीर॥

हाथी जैसे सूँड़से जल खींच फिर फेंक देता है, वैसे गजकर्ममें किया जाता है। अतः इसका नाम गजकर्म या गजकरणी हुआ। यह कर्म भोजनसे पहले करना चाहिये। विषयुक्त या दूषित भोजन करनेमें आ गया हो तो भोजनके पीछे भी किया जा सकता है। प्रतिदिन दन्तधावनके पश्चात् इच्छाभर जल पीकर अँगुली मुखमें दे उलटी कर दे। क्रमशः बढ़ा हुआ अभ्यास इच्छामात्रसे जल बाहर फेंक देगा। भीतर गये जलको न्यौलीकर्मसे भ्रमाकर फेंकना और अच्छा होता है। जब जल स्वच्छ आ जाय, तब जानना चाहिये कि अब मैल मुखकी राह नहीं है। पित्तप्रधान पुरुषके लिये यह क्रिया हितकर है।

कपालभातिकर्म

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥
(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् लोहारकी भाथीके समान अत्यन्त शीघ्रतासे क्रमशः रेचक-पूरक प्राणायामको शान्तिपूर्वक करना योगशास्त्रमें कफदोषका नाशक कहा गया है तथा 'कपालभाति' नामसे विख्यात है।

जब सुषुम्णामेंसे अथवा फुफ्फुसमेंसे श्वासनलिकाद्वारा कफ बार-बार ऊपर आता हो अथवा प्रतिश्याय (जुकाम) हो गया हो, तब सूत्रनेति और धौतिक्रियासे इच्छित शोधन नहीं होता। ऐसे समयपर यह कपालभाति लाभदायक है। इस क्रियासे फुफ्फुस और समस्त कफवहा नाड़ियोंमें इकट्ठा हुआ कफ कुछ जल जाता है और कुछ प्रस्वेदद्वारा बाहर निकल जाता है, जिससे फुफ्फुस-कोषोंकी शुद्धि होकर फुफ्फुस बलवान् होते हैं। साथ-साथ सुषुम्णा, मस्तिष्क और आमाशयकी शुद्धि होकर पाचनशक्ति प्रदीप्त होती है। परन्तु उरःक्षत हृदयकी निर्बलता, वमनरोग, हृल्लास (उबाक), हिक्का, स्वरभङ्ग, मनकी भ्रमित अवस्था, तीक्ष्ण ज्वर, निद्रानाश, ऊर्ध्व रक्तपित्त, अम्लपित्त इत्यादि दोषोंके समय, यात्रामें, और वर्षा हो रही हो ऐसे समयपर इस क्रियाको न करे।

यदि यह क्रिया अधिक वेगपूर्वक की जायगी तो किसी नाड़ीमें आघात पहुँच सकता है। और शक्तिसे अधिक प्रमाणमें की जायगी तो फुफ्फुसकोषोंमें शिथिलता आ जायगी, जिससे वायुको बाहर फेंकनेकी शक्ति न्यून हो जायगी, जीवनी-शक्ति भी क्षीण हो जायगी तथा फुफ्फुसोंमें वायु शेष रहकर बार-बार डकार बनकर मुँहमेंसे निकलता रहेगा।

इस क्रियासे आमाशयमें संगृहीत दूषित पित्त, पाक न होकर शेष रहा हुआ आहार-रस और विकृत श्लेष्म जलमें मिश्रित होकर वमनके साथ बाहर आ जाते हैं। कुछ जल आमाशयमेंसे अन्त्रमें चला जाता है। कुछ सूक्ष्म नाड़ियोंद्वारा रक्तमें मिल जाता है। परन्तु इससे कुछ भी हानि नहीं होती। वह जल मल-मूत्रद्वारसे और प्रस्वेदरूपसे एक-दो घण्टेमें बाहर निकल जाता है। इस क्रियाको करनेवालेके लिये भोजनमें खिचड़ी अथवा दूध-भात लेना विशेष हितकर है।

अजीर्ण, धूपमें भ्रमणसे पित्तवृद्धि, पित्तप्रकोपजन्य रोग, जीर्ण कफ-व्याधि, कृमि, रक्तविकार, आमवात, विषविकार

और त्वचारोगादि व्याधियोंको दूर करनेके लिये यह क्रिया गुणकारी है।

तीक्ष्ण कफप्रकोप, वमनरोग, अन्त्रनिर्बलता, क्षतयुक्त संग्रहणी, हृदयकी निर्बलता एवं उरःक्षतादि रोगोंमें यह क्रिया न करे। इसी प्रकार आवश्यकता न होनेपर इस क्रियाको नित्य न करे। शरद्-ऋतुमें स्वाभाविक पित्तवृद्धि होती रहती है। ऐसे समयपर आवश्यकतानुसार यह क्रिया की जा सकती है।

सच्ची साधना और उसका मुख्य ध्येय

(लेखक—पं० श्रीदामोदरजी उपाध्याय)

त्रिलोकीके नाथ मङ्गलमय श्रीभगवान्‌की मायासे उत्पन्न सत्, रज और तमने इस त्रिभुवनको ऐसा बाँध रखा है कि इसे समझनेमें संसारी प्राणियोंकी बुद्धि सदा असफल रही है। हाँ, जिन्होंने महारानीके महत्त्वको जान लिया है उनकी सफलतामें सन्देह नहीं। पञ्चभूत, मन, बुद्धि, अहङ्कार, प्राण और जीव-इनके मेलसे बना हुआ यह मानव-शरीर ऐसा यन्त्र है, जो साधनाके लिये सब तरहसे उपयुक्त माना गया है। हमें अपनी समस्याओंको हल करनेके लिये, तीनों प्रकारके सन्तापोंसे बचनेके लिये दो बातोंका जानना जरूरी है। वे दो बातें हैं—मनका विषय क्या है? और मनका कर्तव्य क्या है? मनका विवेचन करना विज्ञानसे सम्बन्ध रखता है। मनका निवास शरीरमें रहता है, इसलिये शारीरिक विज्ञानके आचार्य पूज्य महर्षि अग्निवेशजीने जो बहुमूल्य विचार प्रदान किये हैं वे यहाँ उपस्थित किये जा रहे हैं।

> चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च।
> यत् किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥

क्या करना, क्या नहीं—इसका चिन्तन करना, पूर्वापरका विचार करना, तर्क करना, ध्यान करना (भावना-ज्ञान), गुण-दोषका विवेचन करके निश्चय करना, इन्द्रियोंके अर्थोंका अनुभव करना तथा और भी तमाम प्रपञ्चकी बातोंकी जानकारी रखना मनका विषय (धर्म) है। जाग्रत-कालमें प्रत्यक्षरूपसे मन विषयोंका भोग करता या व्यवहार करता है। स्वप्नावस्थामें कल्पनाद्वारा उपयोग करता है। शेष सुषुप्ति और तुरीयावस्थासे विषयोंका कोई सम्बन्ध नहीं है।

(२) 'एकहि साधे सब सधै' इस उक्तिके अनुसार जब इन्द्रियराज मन ठिकानेपर आ जायगा तो पराधीन इन्द्रियाँ तो अपने आप रास्तेपर आ जायँगी। इस सत्यसे भी कोई मुख नहीं मोड़ सकता कि परम कृपालु जगदीश्वर परमेश्वरकी अमृतमयी दया जिस जीवपर हो जाती है, वह उस वास्तविक साधनामें संलग्न हो जाता है जिसका वर्णन वेदों, उपनिषदों, पुराणोंमें है। यही नहीं, बौद्ध, जैन, मुसलमान, ईसाई—सभी धर्मोंके माननेवाले इस साधनाकी ओर आये और सफल हुए हैं। सच पूछा जाय तो पुस्तकोंके ऊपर उन भूतपूर्व संत-मुक्त महात्माओंका स्थान है, जो हमारे लिये सचित्र उदाहरणरूप हैं। जो जीव सारहीन, प्रपञ्चयुक्त और एक-न-एक दिन नष्ट होनेवाली साधनामें उलझकर अपना मानव-जीवन गँवा देता है, उसपर भगवान्‌का अनुग्रह असम्भव है; बल्कि ऐसे साधक तो सच्ची साधनाकी छायासे भी दूर ही रहते हैं।

श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें उद्धवजी कहते हैं—'भगवन्! योगसाधन-जैसे दुस्तर अभ्यासको वही व्यक्ति कर सकता है, जिसका मनपर पूरा-पूरा अधिकार हो गया हो; साथ-ही-साथ मनपर अधिकार कर लेना सभीका काम नहीं है। इसलिये कोई ऐसी साधना बतलाइये, जिसका पालन करनेसे सहजहीमें सिद्धि मिल जाय। बहुधा देखा जाता है कि योगी मनको वशमें करनेके उपाय करते-करते थक जाते हैं, फिर भी उसको वशमें न कर सकनेके कारण बहुत ही दुःखी होते हैं।' इस उदाहरणसे हमारा केवल यही अभिप्राय है कि मन कितना भयङ्कर है, जो योगियोंतकको धोखा देकर पछाड़ डालता है। अपना कल्याण चाहनेवाले मनकी ओरसे सदा ही सावधान रहते हैं।

भली या बुरी—चाहे कैसी भी साधना साधी जाय, मनको तो अनिवार्यरूपसे नेता बनना पड़ेगा। नेता जिधर ले जायगा, उधर ही जनता (इन्द्रियाँ) जायगी। मनकी मारसे हम निजी रूपसे डरते रहते हैं, इसीलिये मनके प्रति हमारा विद्रोह है।

(३) श्रीमद्भागवत-माहात्म्य-वर्णनके तीसरे अध्यायमें श्रीनारदजी कहते हैं कि 'कलियुगमें इतनी विघ्न-बाधाएँ

हैं कि मनको एकाग्र रखना बड़ा ही कठिन है। मुक्तिरूपी साध्यको पानेके लिये श्रीभगवान्‌के चरणोंमें अनुराग, उनके परम पवित्र नामोंका कीर्तन होना आवश्यक है। कारण भक्ति भगवान्‌को अति प्रिय है और मुक्ति ठहरी भक्तिकी दासी।' ज्ञानियोंके ज्ञानकी और बुद्धिमानोंकी बुद्धिकी चरम सीमा यहींतक है कि इस मिथ्या नाशवान् शरीरसे सत्यस्वरूप अविनाशी ईश्वरको प्राप्त कर लें। भक्तियोगद्वारा जो साधना सम्पादित की जाती है, उसमें पर्याप्त सुगमता है। यह आज इस युगमें दिन-पर-दिन उन्नतिपर है।

बौद्ध सिद्धोंकी साधना

(लेखक—पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

महात्मा गौतमबुद्धने संसारमात्रको दुःखमय मानकर 'दुःखनिरोध' को सबका अन्तिम ध्येय निश्चित किया था और इसके लिये सभी संस्कारोंका शमन, चित्तमलोंका त्याग एवं तृष्णाका क्षय परमावश्यक बतलाया था। इस निरोध या विरागमयी पूर्ण शान्तिकी अवस्थाको ही 'निर्वाण' का नाम दिया गया था—जिसकी उपलब्धि चित्तको सर्वप्रथम वस्तु-स्थितिका अनुभव प्राप्त करने योग्य और पूर्णरूपेण चिन्तनशील बनानेपर अवलम्बित रहती है। वस्तुस्थितिके ज्ञानका अभिप्राय पहले उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रसिद्ध मध्यम या आष्टाङ्गिक मार्गके रहस्यको हृदयङ्गम करना था—जो क्रमशः एक अनिर्वचनीय 'धर्म'के रूपमें समझा जाने लगा और जिसे आगे चलकर किसी-न-किसी प्रकार शून्य, धर्म-तथता या भूततथताके भी नाम दिये गये। यही धर्म अथवा शून्य बौद्ध सिद्धोंका 'बोहि' (बोधि), 'जिण रअण' (जिनरत्न), 'सहज', 'महासुह' (महासुख), 'धाम' 'अणुत्तर' (अनुत्तर) या 'जिनउर' (जिनपुर) है—जिसका साधनाद्वारा प्राप्त कर लेना परमार्थ या परम पुरुषार्थ समझा जाता है। 'निर्वाण' शब्द वास्तवमें निषेधार्थक नहीं और न 'शून्य' शब्द ही निषेधवाची है। दोनोंका तात्पर्य एक ही स्थिति या वस्तुस्थितिके पारमार्थिक रूपसे है—जो न तो सत् है, न असत् ही है, परन्तु जो सभीके लिये परमलक्ष्य है।

महात्मा गौतमबुद्धने संज्ञा या चेतनाको ही चित्त, मन या विज्ञान माना था और इसी चित्तको हम अनेक अबौद्ध दर्शनोंकी शब्दावलीके अनुसार 'आत्मा'की भी संज्ञा दे सकते हैं। यह चित्त स्वभावतः शुद्ध और मलरहित है; किन्तु इसीके अन्तर्गत वह मूलबीज भी वर्तमान है जिससे 'भव' एवं 'निर्वाण' दोनोंका विस्फुरण हुआ करता है और इसीलिये जिसके बद्ध हो जानेसे बन्धन और मुक्त होनेसे परममोक्षका लाभ भी हुआ करता है। अनङ्गवज्रने इस चित्तका स्वभाव दर्शाते हुए लिखा है—

> अनल्पसङ्कल्पतमोऽभिभूतं
> प्रभञ्जनोन्मत्ततडिच्चलं च।
> रागादिदुर्वारमलावलिप्तं
> चित्तं हि संसारमुवाच वज्री॥

अर्थात्, वज्रयानाचार्योंके अनुसार, जब चित्तमें अनेकानेक सङ्कल्पोंका अन्धकार भरा रहता है और जब वह तूफानके समान उन्मत्त, बिजलीकी भाँति चञ्चल एवं रागादिके मलोंसे अवलिप्त रहता है तो उसीको संसारका नाम दिया जाता है। और—

> प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं
> प्रहीणरागादिमलप्रलेपम्।
> ग्राह्यं न च ग्राहकमग्रसत्त्वं
> तदेव निर्वाणवरं जगाद॥

अर्थात् वही जब, प्रकाशमय होनेके कारण, सारी कल्पनाओंसे रहित होता है, जब उसमें रागादिके मल नहीं रहते और जब, उसके विषयमें, ज्ञाता अथवा ज्ञेय होनेका प्रश्न भी नहीं उठता, तब उसी श्रेष्ठ वस्तुको निर्वाण भी कहा जाता है। अतएव सिद्ध भुसुकुपाके शब्दोंमें—

> अपणा मांसें हरिणा वैरी।

अर्थात् हरिणरूपी चञ्चल चित्त अपने मांस (सङ्कल्प-विकल्पादि दोषों) के कारण आप-ही-आप शत्रु भी बन जाता है और इसी प्रकार जब वह निश्चल होकर समरसकी अवस्थामें प्रवेश करता है तो काण्हपाके अनुसार, साधकको विषयादि निराश होकर आप-ही-आप त्याग देते हैं और वह स्वयं वज्रधर या सिद्धाचार्यकी अवस्था प्राप्त कर लेता है।

परन्तु चित्तकी उक्त चञ्चलता किस प्रकार दूर की जाय तथा उसे फिरसे निश्चल किस प्रकार बनाया जाय? सरहपाके अनुसार हमारे चित्तकी यह एक विशेषता है कि वह रागादिद्वारा मस्त या बद्ध रहनेपर ही इधर-उधर चारों ओर

भागा फिरता है, इनसे मुक्त होकर वह स्वभावतः स्थिर हो जाता है। इसलिये मूलतत्त्वको 'खसम' (ख=आकाश, सम=समान) अथवा शून्य मानते हुए अपने मनको भी तदनुसार 'खसम-स्वभाव' या शून्यरूप कर देना आवश्यक है, जिससे वह 'अमन' (अर्थात् अपना चञ्चल स्वभाव छोड़कर अमनस्क-सा) हो जाय और उसे सहजावस्थाकी उपलब्धि सरलतापूर्वक हो सके। सिद्ध तेलोपाका कहना है—

चित्त खसम जहि समसुह पइट्ठइ।
इन्दीअ-विसअ तहि मत्तण दीसइ॥
आइ रहिअ एहु अंत रहिअ।
वरगुरु पाअ अद्दअ कहिअ॥

अर्थात् जिस समय चित्त खसम (शून्यरूप) होकर समसुखमें प्रवेश करता है, उस समय किसी भी इन्द्रियके विषय अनुभवमें नहीं आ पाते। यह समसुख आदि एवं अन्त दोनोंसे रहित होता है और आचार्य इसे ही अद्वय नाम देते हैं। मनको इस प्रकार 'अमन' करनेवाली क्रियाको सिद्धोंने 'मनका मार डालना' या 'मनका निःस्वभावीकरण' भी कहा है और इसके अभ्यासको स्पष्ट करते हुए सिद्ध शान्तिपाने रुईके धुननेका एक सुन्दर रूपक भी दिया है। वे कहते हैं—

तुला धुणि-धुणि आँसुरे आँसु।
आँसु धुणि-धुणि णिरवर सेसु॥
× × ×
तुला धुणि-धुणि सुणे अहारिउ।

अर्थात् रुईको धुनते-धुनते उसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अंश निकालते चलो, (फिर देखोगे कि) अंश-अंश विश्लेषण करते-करते अन्तमें कुछ भी शेष नहीं रह जाता। (जान पड़ता है कि) रुईको धुनते-धुनते उसे शून्यतक पहुँचा दिया। इसी क्रियाको एक शिकारके रूपकद्वारा 'बोधिचर्यावतार'में इस प्रकार बतलाया गया है—

इमं चर्मपुटं तावत्स्वबुद्ध्यैव पृथक् कुरु।
अस्थिपञ्जरतो मांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय॥
अस्थीन्यपि पृथक् कृत्वा पश्य ज्ञानमनन्ततः।
किमत्र सारमस्तीति स्वयमेव विचारय॥

अर्थात् इस चमड़ेकी ऊपरी वस्तुको अपनी बुद्धिकी सहायतासे अलग कर दो और तब अपनी प्रज्ञाद्वारा अस्थि-पञ्जरसे मांसको भी निकाल दो; फिर हड्डियोंको भी दूरकर अपने विवेकद्वारा सोचोगे तो स्वयं समझ लोगे कि अन्तमें कुछ भी तत्त्व नहीं रह जाता। सब कुछ वास्तवमें निःसारमात्र है। मनका आकार-प्रकार पूर्ण करनेवाले सङ्कल्प-विकल्पादिको दूर करनेपर भी इसी प्रकार शून्यमात्र रह जाता है। अतएव सिद्ध सरहपाका कहना है कि घर अथवा वन—जहाँ कहीं भी हम रहें, हमें केवल अपने मनके स्वभावका ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। बोधि सब कहीं निरन्तर वर्तमान है, इसलिये किसी एक स्थितिमें 'भव' और दूसरीमें 'निर्वाण'का अस्तित्व ढूँढ़ना निरी मूर्खता होगी। हमें केवल इस रहस्यसे परिचित हो जाना चाहिये कि मूलमें चित्त नितान्त निर्मल और विकल्परहित है और यही अवस्था हमारे लिये परम पदकी स्थिति है, जिसे समरसके रूपमें प्राप्त कर लेनेपर जहाँ कहीं भी चित्त जाता है, वहाँ उसे अचित्तके रूपमें ही हम अनुभव करते हैं। उस निर्मल और भावाभावरहित दशाको प्राप्त कर लेनेपर चित्त कहीं भी विस्फुरित हो, उसे नाथ (प्रभास्वर) के स्वरूपका ही बोध होता है, क्योंकि जैसे जल और उसका तरङ्ग दोनों वास्तवमें एक ही अभिन्न वस्तु हैं, उसी प्रकार भवका साम्य भी आकाशके साम्यके ही स्वभावका होता है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञाननामक पाँचों स्कन्ध एवं पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशनामक पाँचों भूत और आँख, कान, नाक, जीभ, काम और मननामक छहों आयतन इन्द्रियाँ—ये सभी सहज स्वभावद्वारा बद्ध-से हैं, अतएव हमें चाहिये कि अपने सङ्कल्पाभिनिविष्ट मनका विशोधन कर उसे निःस्वभाव बना दें, जिससे वह शून्यमें प्रवेश कर समरसकी स्थितिमें आ जाय। जिस प्रकार जलमें जल प्रवेश करता है, उसी प्रकार चित्त भी सहजसे मिलकर समरसकी अवस्थामें आता है। सहज जैसा बाहर है, वैसा ही भीतर भी रहता है। चौदहों भुवनोंमें वह निरन्तर वर्तमान है; वह अशरीरी शरीरमें ही छिपा है; उसे जो जानता है, वही मुक्त है।

शरीरके ही भीतर पाये जानेवाले उक्त सहज या महासुखका उत्पत्तिस्थान, काण्हपाके अनुसार, इडा एवं पिङ्गलानामक दो प्रसिद्ध नाड़ियोंके संयोगके निकट ही वर्तमान है; उसे पवनके नियमनद्वारा प्राप्त करना आवश्यक होता है। काण्हपाने कमलके रूपकद्वारा उक्त महासुखका वर्णन करते हुए लिखा है कि बायीं नासिकाकी ललना-नामक (प्रज्ञास्वरूप) चन्द्रनाडी और दाहिनी नासिकाकी रसनानामक (उपायस्वरूप) सूर्यनाडी उस महासुख-कमलके दो खण्डस्वरूप हैं। उसका पौधा गगनके जलमें, जहाँ अमिताभ या

परम आनन्दमय प्रकाश-पङ्करूपमें वर्तमान है, उत्पन्न होता है; उसका मुख्य नाल अवधूती अथवा मूलशक्ति होती है और उसका रूप हंकार अथवा अनाहत शब्दका होता है। इस महासुख-कमलके मकरन्दका पान योगी या साधकलोग साधनाद्वारा, शरीरके भीतर ही कर लिया करते हैं। काण्हपा अन्यत्र फिर कहते हैं—

जइ पवण-गमण-दुआरे दिढ़ ताला वि दिज्जइ ।
जइ तसु घोरान्धारें मण दिव हो किज्जइ ॥
जिण रअण उअरें जइ सो बरु अम्बरु छुप्पइ ।
भणइ काण्ह भव भुञ्जन्ते णिव्वाणो वि सिज्झइ ॥

अर्थात् यदि पवनके निर्गमनद्वारपर दृढ़ ताला लग जाय और वहाँके घोर अन्धकारमें शुद्ध या निश्चल मनका दीप जलाया जाय और यदि वह जिनरत्नकी ओर उच्च गगनमें स्पर्श कर जाय तो संसारका उपभोग करते समय भी हमारे लिये निर्वाणकी सिद्धि हो जाय। जिसका मन निश्चल हो गया, उसका उसी क्षण वायुनिरोध भी सिद्ध है और वायुनिरोध होनेपर मन आप-से-आप निश्चल होता है। दोनोंका पारस्परिक सम्बन्ध है।

उक्त प्रकारसे पवन एवं मनको जिस स्थानपर एक साथ निश्चल किया जाता है, उसे सिद्धोंने 'उद्यमेरु' अथवा मेरुदण्ड (सुषुम्णा) का सिरा कहा है। काण्हपाने बतलाया है कि वह पर्वतके समान सम-विषम है, अतएव वहाँ चढ़ना-उतरना सरलतापूर्वक नहीं हो सकता। उसकी गम्भीर कन्दरामें सारा जगत् विनष्ट होकर शून्यमें लीन हो जाता है और हमारे द्रवाकार चञ्चल चित्तका निर्मल जल भी तन्मय हो जाता है। उसी ऊँचे पर्वतके शिखरको सिद्धोंने महामुद्रा या मूलशक्ति (नैरात्मा) का निवासस्थान भी बतलाया है। सिद्ध शबरपा कहते हैं कि उक्त पर्वतपर अनेक बड़े-बड़े वृक्ष पुष्पित हैं और उनकी डालें गगनचुम्बिनी हैं। वहाँ अकेली शबरी (नैरात्मा) वनका एकान्त-विहार किया करती है। वहीं त्रिधातुकी सुन्दर सेज भी पड़ी है और साधक योगी वहाँ पहुँचकर उक्त दारिकाके साथ प्रेमपूर्वक समय व्यतीत करने लगता है। नैरात्माको सिद्धोंने शबरीके अतिरिक्त डोंबी, चण्डाली, शुण्डिनी, जोइणि (योगिनी) या पवनधारिणीके नामोंसे भी अभिहित किया है और उसका अनेक प्रकारसे वर्णन भी किया है। काण्हपाने उस डोंबीको चौसठ पँखुड़ीवाले कमलपुष्पके ऊपर चढ़कर सदा नाचती रहनेवाली बतलाकर, उसके साथ अपना विवाह-सम्बन्ध स्थापित करनेका रूपक बाँधा है और सिद्ध डोंबिपाने उसे ही शीघ्र पार कराकर जिनपुर पहुँचानेवाली कहा है। इसी प्रकार सिद्ध विरूपाका कहना कि वह अकेली शुण्डिनी (कलाली) इधर इडा और पिङ्गला नाडियोंको एक अर्थात् सुषुम्णा नाडीमें प्रविष्ट कराती है और उधर बोधिचित्तको ले जाकर प्रभास्वर शून्यमें भी बाँधा करती है; उसके निकट चौसठ घटीयन्त्रोंमें मद (महासुख) सँभालकर रक्खा रहता है और वहाँ एक बार भी पहुँचकर मदपी फिर लौटनेका नामतक नहीं लेता।

सिद्धोंने अपनी साधनाको सहज मार्गका नाम देकर उसे अत्यन्त सरल और सीधा भी बतलाया है। सिद्ध सरहपा इसके सीधेपनके विषयमें कहते हैं—'जब कि नादविन्दु अथवा चन्द्र और सूर्यके मण्डलका अस्तित्व नहीं और चित्तराज भी स्वभावतः मुक्त है, तो फिर सरल मार्गका त्याग कर वंकमार्ग ग्रहण करना कहाँतक उचित कहा जा सकता है? बोधि सदा निकट वर्तमान है, उसे लङ्का (कहीं दूर) जानेकी आवश्यकता नहीं; हाथमें ही कङ्कण है, दर्पण ढूँढ़ते फिरनेसे कोई भी लाभ नहीं होगा। स्वयं अपने मनमें ही अपनेको सदा अवस्थित समझ लो। पार वही लगता है जो दुर्जनोंके साथमें पड़कर विपथ नहीं होता। सहज मार्ग ग्रहण करनेवालेके लिये ऊँचा-नीचा, बायाँ-दाहिना, सभी एक भाव हो जाते हैं। इसी प्रकार सिद्ध भादेपाने अपने निजी अनुभवद्वारा इसके महत्त्वका वर्णन करते हुए कहा है कि 'अभीतक मैं मोहमें पड़ा था, अब मैंने सद्गुरुबोधद्वारा इसका ज्ञान प्राप्त किया है। मेरा चित्त अब नष्ट (शान्त) हो गया और गगन-समुद्रमें रल (हिल-मिल) कर एक या तदाकार हो गया। मुझे अब दसों दिशाओंमें शून्य-ही-शून्यका अनुभव होता है। वज्रगुरुके उपदेशद्वारा गगन-समुद्रको मैं अपने मनमें ही उतार लाया हूँ।' सहजके वास्तविक रूपका पूर्ण वर्णन अत्यन्त कठिन होनेसे उसके मार्गका उपदेश भी बिना निजी अनुभवके स्पष्टरूपसे हृदयङ्गम नहीं हो सकता और इसी कारण काण्हपाका कहना है कि जो कुछ भी इस विषयमें कहा जाता है, वह सभी मिथ्या-सा है। 'गुरु वास्तवमें गूँगा है और शिष्य बधिर है। 'वाक्पथातीत' वस्तुका वर्णन कैसे होगा?'

प्रेम-साधनाके साध्य

चोरी करत कान्ह घर पाये ।

निसिबासर मोहिं बहुत सतायो अब हरि हाथहि आये ॥

माखन दधि मेरो सब खायौ बहुत अचगरी कीन्ही ।

अब तो हाथ परे हौ लालन तुमहि भले हौं चीन्हीं ॥

दोउ कर पकरि कह्यो कित जैहो माखन लेउँ मँगाइ ।

तेरी सौं मैं नेकु न चाख्यो सखा गए सब खाइ ॥

मुख तन चितै बिहँसि हँसि दीन्हो रिस सब गई बुझाइ ।

लिये स्याम उर लाइ ग्वालिनी सूरदास बलि जाइ ॥

—सूरदासजी

बौद्ध-साधना

(लेखक—डा० श्रीविनयतोष भट्टाचार्य एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

साधन दो प्रकारके होते हैं—लौकिक और अलौकिक। लौकिक साधनका अर्थ होता है अभ्यास–उद्योग–किसी चरम उद्देश्यकी सिद्धिके लिये लगातार प्रयत्न। अलौकिक साधन कहते हैं उन आध्यात्मिक या मानसिक साधनाओंको जो योग अथवा तन्त्रकी प्रक्रियासे अलौकिक सिद्धियों अथवा मुक्तिकी प्राप्तिके लिये की जाती हैं।

लौकिक साधन तो प्रायः सभी करते हैं। जीवन स्वयं एक साधना है, बालक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अध्ययनरूपी साधन करते हैं। गवैये 'कलावंत' कहलानेके लिये 'रियाज़' करते हैं, स्वर साधते हैं। लेखक ग्रन्थकार बननेके लिये निबन्ध-पर-निबन्ध लिखते हैं। व्याख्यानदाता व्याख्यान-वाचस्पति बननेके लिये बोलनेका–वक्तृता देनेका अभ्यास करते हैं। चोर भी चोरी करते समय लोगोंकी नज़र बचानेकी साधना करते हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे लोग भी हैं जो अहिंसा, सत्य एवं निःस्वार्थ लोकसेवा आदि सद्गुणों एवं श्रेष्ठ आचरणोंका अभ्यास करते हैं। लगातार अभ्यास करनेसे—रगड़पट्टी करनेसे निश्चय ही थोड़ी-बहुत दक्षता या पटुता प्राप्त होती है। इस पटुताको ही सिद्धि कह सकते हैं। साधकोंमें दूसरे लोगोंकी—असाधकोंकी अपेक्षा यही विशेषता होती है, उन्हें न्यूनाधिक रूपमें सिद्धि या सफलता प्राप्त होती ही है।

योग अथवा तन्त्रकी साधना इससे विलक्षण होती है। इसका सम्बन्ध मनोराज्यसे होता है और यह मनकी अव्यक्त शक्तियोंका विकास करनेके लिये की जाती है। इस प्रकारकी अलौकिक साधना ही प्रस्तुत निबन्धका विषय है। उसमें भी यहाँ हम केवल बौद्ध-साधनापर ही विचार करेंगे। जिसका वर्णन बौद्ध-सम्प्रदायके प्रकाशित ग्रन्थोंमें मिलता है।

बौद्धोंकी तान्त्रिक साधनामें सर्वप्रथम आवश्यकता होती है एक सुसंस्कृत साधककी, जिसकी परीक्षा किसी अधिकारी गुरुके द्वारा की जा चुकी हो तथा जिसे तान्त्रिक साधनाके योग्य करार दिया जा चुका हो।

जिस प्रकार तान्त्रिक साधनाके अनेक भेद हैं, उसी प्रकार साधकोंकी भी साधनकी कठिनता एवं सुगमताके अनुसार अनेक श्रेणियाँ होती हैं। तन्त्रोंकी भी चार श्रेणियाँ हैं—(१) क्रिया-तन्त्र, (२) चर्या-तन्त्र, (३) योग-तन्त्र और (४) अनुत्तरयोग-तन्त्र। और इन चार प्रकारके तन्त्रोंसे सम्बन्ध रखनेवाले उपासक भी चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं।

प्रारम्भिक श्रेणीके साधक, तथा जिनका तन्त्रके रहस्योंमें अभी प्रवेश ही हुआ है ऐसे साधक क्रिया एवं चर्याकी निम्नतर श्रेणीमें भर्ती किये जाते थे। उन्हें सब प्रकारके निषिद्ध खाद्य एवं पेय पदार्थोंका त्याग करना पड़ता था और ब्रह्मचर्यके कठोर नियमोंका पालन करना पड़ता था।

ऊँची श्रेणीके साधकोंको आचारके विषयमें स्वतन्त्रता होती थी, उनपर किसी प्रकारके नियम लागू नहीं होते थे। उन्हें अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती थीं, और वे 'सिद्ध' कहलानेके अधिकारी होते थे।

अद्वयवज्र नामके एक प्रसिद्ध तन्त्रकारने साधकोंको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया है—शैक्ष और अशैक्ष। शैक्षोंको आचारसम्बन्धी कठोर-से-कठोर नियमोंका पालन करना पड़ता था और दैनिक चर्या एवं खाद्य तथा पेय पदार्थोंके सम्बन्धमें भी उनपर कई प्रकारके बन्धन थे। अशैक्ष वर्गके साधक मनुष्योंके बनाये तथा ईश्वरके बनाये सभी नियमोंसे परे होते थे, क्योंकि वे ही सब प्रकारके नियम बनानेवाले थे और प्रकृतिके नियमोंका सञ्चालन करनेवाले भी वे ही थे।

तान्त्रिक साधनाके रहस्योंमें प्रवेश प्राप्त किये हुए साधकोंके संक्षेपमें यही भेद हैं। परन्तु ये सब बातें ग्रन्थोंके आधारपर नहीं सीखी जा सकतीं; अतः यह आवश्यक है कि इनका उपदेश गुरुमुखसे प्राप्त किया जाय। इतना ही नहीं, पुस्तकोंमें सीखी हुई अज्ञात रहस्यमयी साधनाओंके करनेमें थोड़ी-बहुत जोखिम भी रहती है।

ऐसी दशामें ऐसे गुरुकी, जो आध्यात्मिक साधनाओंके रहस्योंमें शिष्यका प्रवेश करा सके, और भी अधिक आवश्यकता हो जाती है। अतः किसी भी रहस्यमयी साधनामें गुरुका स्थान प्रमुख होता है। इसीलिये तन्त्र और योगके सभी सम्प्रदायोंमें, जिनमें बौद्ध सम्प्रदाय भी शामिल है, गुरुका बड़ा माहात्म्य वर्णन किया गया है।

गुरुके बिना कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। गुरु-

के बिना गूढ़ सिद्धान्तों और साधनाओंको समझना असम्भव है। जिस पुरुषकी दीक्षा हो चुकी है, उसके लिये कौन-सा मन्त्र अथवा साधना अनुकूल होगी—यह गुरु ही बतलाते हैं। कम-से-कम परिश्रमसे और बिना अधिक समय बरबाद किये सिद्धि प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय क्या है, यह बतलाना गुरुका ही काम होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधनके लिये गुरु और शिष्यकी बड़ी आवश्यकता है, जो दोनों ही अधिकारी होने चाहिये। तान्त्रिक साधनाके दो रूप हो सकते हैं—मन्त्र-साधन और देव-साधन; अथवा दोनोंकी साधना एक ही कालमें की जा सकती है। इस साधनाका योगके साथ, विशेषकर हठयोगके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है—जैसा कि आगे चलकर इसी निबन्धमें समझाया जायगा।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि हठयोगकी साधना आध्यात्मिक साधनाओंमें सबसे नीचे दरजेकी साधना है, क्योंकि शरीरको शुद्ध करना और उसे ऊँची साधनाओंके लिये तैयार करना ही इसका काम है। सभी प्रकारकी आध्यात्मिक साधनाओंमें ध्यान और चित्तकी एकाग्रता परम आवश्यक है और शारीरिक मल बहुधा ध्यानमें बाधक होते हैं।

हठयोगके द्वारा शारीरिक मलोंका शोधन हो जानेपर साधक मन्त्र अथवा देवतापर अथवा परब्रह्ममें चित्तको स्थिर कर सकता है। पहली साधना मन्त्रयोगकी है, दूसरी तन्त्र-योगकी और तीसरी राजयोगसे सम्बन्ध रखती है।

अधिक-से-अधिक मनोयोगके साथ मन्त्रका अखण्ड जाप करनेसे महान् शक्ति प्राप्त होती है। मन्त्रके अक्षर व्यक्त हो जाते हैं, मानसिक चक्षुके सामने चमकने लगते हैं और फिर अग्निशिखाकी भाँति दीप्तिमान् हो जाते हैं। किसी विशेष उद्देश्यको लेकर मन्त्रजप करनेसे मन्त्रका ऊपर बताये हुए ढंगसे साक्षात्कार होकर उस उद्देश्यकी प्राप्ति हो जाती है। जिस मन्त्रका इस प्रकार साक्षात्कार हो जाता है, उसे सिद्धमन्त्र कहते हैं। सिद्धमन्त्रके उच्चारणसे आश्चर्यजनक सिद्धि हो सकती है।

इसी प्रकार दीर्घकालतक एक निश्चित विधिके अनुसार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक और किसी सुयोग्य गुरुके निरीक्षणमें किसी देवताविशेषका ध्यान करनेसे उस देवताका साक्षात्कार हो जाता है। देवता साधकके सामने प्रकट होकर उसके मनोरथको पूर्ण करता है। इसके बाद देवता साधकका परित्याग नहीं करता और एक प्रकारसे उसके अधीन होकर रहता है।

राजयोगकी पद्धतिसे साधक परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें ज्यों-ज्यों अग्रसर होता है, त्यों-त्यों उसे अणिमा, लघिमा आदि अष्ट महासिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

तन्त्रशास्त्रके अनुसार यह विश्व शक्तिका एक बहुत बड़ा खजाना है। सृष्टि और संहारकी सारी शक्तियाँ इसके अंदर केन्द्रीभूत रहती हैं और इनमेंसे किसी भी शक्तिको आकर्षण करके आत्मसात् करना और उस शक्तिसे शक्तिशाली होना प्रत्येक मनुष्यके लिये सम्भव है। आध्यात्मिक साधनाके द्वारा प्रकृतिके सूक्ष्म नियमोंपर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है।

इस विषयपर विस्तारसे लिखनेके लिये स्थान नहीं है, किन्तु मैं देवताके साक्षात्कारकी भूमिकाओंका वर्णन करना आवश्यक समझता हूँ। परन्तु ऐसा करनेके पूर्व मैं यह स्पष्ट बतला देना चाहता हूँ कि मैं स्वयं साधक नहीं हूँ और इस अपूर्व आध्यात्मिक सिद्धिका मुझे कोई निजी अनुभव नहीं है; अतः मैं जो कुछ कहूँगा वह मेरे पढ़े-पढ़ाये तान्त्रिक ग्रन्थोंके आधारपर ही होगा।

साधकको चाहिये कि वह प्रसन्न मनसे किसी ऐसे एकान्त स्थानमें जाय, जो शुद्ध और स्वच्छ हो तथा जिसके आसपासका दृश्य सुन्दर हो। वह सुखासनसे बैठकर अपने इष्टदेवका ध्यान प्रारम्भ करे। ध्यानमें उसे इतना तन्मय हो जाना चाहिये कि उसे बाह्य अनुसन्धान बिल्कुल न रहे और इस प्रकार उसे उस व्यापक शक्तिके साथ, जिसे बौद्धोंकी भाषामें 'शून्य' कहते हैं, अभेदका चिन्तन करना चाहिये। उसके चित्तकी अवस्था उस समय वैसी ही हो जानी चाहिये, जैसी सुषुप्तिकालमें होती है।

चिरकालतक इस साधनका अभ्यास करनेसे उसके मानसिक नेत्रोंके सामने कुछ खास लक्षण दिखायी देने लगते हैं, जिनसे यह प्रमाणित होता है कि साधक देवताके साक्षात्कार-की ओर क्रमशः बढ़ रहा है।

ये चिह्न या लक्षण पाँच प्रकारके होते हैं। प्रारम्भमें मृगतृष्णाका दर्शन होता है। इसके बाद धूमका दर्शन होता है। तीसरी भूमिकामें साधकको अन्तरिक्षमें जुगुनुओं-की भाँति ज्योतिःकण दिखलायी देते हैं। चौथी भूमिकामें एक ज्योतिके दर्शन होते हैं। और पाँचवीं भूमिकामें मेघ-

रहित आकाशमें व्याप्त रहनेवाली सूर्यकी ज्योतिके समान एक स्थिर प्रकाशका दर्शन होता है।

अर्थात् काफी समयतक ध्यानका अभ्यास करते रहनेसे साधकको एक ऐसे स्थिर प्रकाशका दर्शन होता है, जो कभी कम नहीं होता। साधक इस अवस्थाको पहुँचकर उससे कभी च्युत नहीं होता और नीचेकी अवस्थाओंका अनुभव नहीं करता।

अब साधक इस विश्वासके साथ कि मेरे इष्ट देवता मुझे दर्शन देंगे, उनका निरन्तर ध्यान कर सकता है। देवताके साक्षात्कारकी भी तीन भूमिकाएँ होती हैं।

पहली भूमिकामें बीजमन्त्रका दर्शन होता है। आगे चलकर यह एक अस्पष्ट मानव आकृतिमें बदल जाता है। ध्यानका क्रम जारी रखनेसे और आगे चलकर साधकको देवताका स्पष्ट रूप दिखायी देने लगता है, जिसमें उसके सारे अङ्ग, वर्ण, आयुध एवं वाहन अलग-अलग दिखलायी देते हैं। यह रूप अत्यन्त मनोहर होता है, जिसका दर्शन कर साधक अलौकिक आनन्दसे भर जाता है।

देवताका निरन्तर आँखोंके सामने रहना ही उसकी सिद्धि है। प्रारम्भमें उसकी दिव्य मूर्ति बार-बार प्रकट होती है और छिप जाती है। निरन्तर अभ्याससे उसका दर्शन स्थायी हो जाता है। इस अवस्थाको पहुँच जानेपर साधक सिद्ध कहलाने लगता है। उसका इष्टदेव उसकी सारी कामनाओंको पूर्ण कर देता है और उसका कभी परित्याग नहीं करता। साधक अलौकिक शक्तियोंसे सम्पन्न हो जाता है और उसका प्रकृतिके नियमोंपर भी अधिकार हो जाता है।

मन्त्रका देवताके साथ एक प्रकारका अभेद-सम्बन्ध होता है, उसका भी इसी प्रकार साक्षात्कार हो सकता है। मन्त्रके अक्षर पहले साधकके सामने प्रकट होते हैं और धीरे-धीरे अधिक दीप्तिमान् होकर शक्तिसे जाज्वल्यमान हो उठते हैं। इनका दर्शन जब स्थायी रूपसे होने लगता है, तब मन्त्रकी सिद्धि हो जाती है। उस मन्त्रसे साधकको वह सब कुछ प्राप्त हो सकता है, जो उसे देवतासे प्राप्त हो सकता था।

उपर्युक्त साधनकी प्रक्रिया बड़ी लंबी है, उसके लिये वर्षोंतक अथवा जीवनभर धैर्यपूर्वक अभ्यास करनेकी आवश्यकता होती है। यह अवकाशके समय केवल दिल बहलानेके लिये करनेकी चीज नहीं। साधन एक कला है। मनुष्य-जीवन इस कलाके अभ्यासके लिये ही है। यह जीवनमें प्राप्त होनेवाली सबसे बड़ी और सबसे दिव्य रहस्यमय अनुभूति है। हमारा जीवन साधनके बिना उद्देश्यहीन होता है।

बौद्ध मूर्तितत्त्व

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम्. ए.)

बौद्धधर्ममें मूर्तियोंका निर्माण वज्रयान मतके प्रादुर्भावके साथ हुआ है। वज्रयानके मुख्य ग्रन्थोंके अनुसार इन देवी-देवताओंका यथार्थमें कोई अस्तित्व ही नहीं है, ये सब केवल शून्यताके ही भिन्न-भिन्न रूपान्तर हैं। इन देवी-देवताओंके रूप उपासकोंकी भावना तथा सिद्धिके अनुसार प्रकट हुए माने जाते हैं।

अब संक्षेपमें बौद्धधर्मके इन देवी-देवताओंकी मुख्य-मुख्य परम्पराओंका हाल सुनिये। सबसे पहले बोधिचित्त अर्थात् अव्यक्त पूर्ण ज्ञानसम्पन्न स्थितिकी कल्पना की जाती है। इसी बोधिचित्तकी पाँच वृत्तियाँ अथवा अवस्थाएँ मानी गयी हैं और इन्हींको सुप्रसिद्ध पाँच ध्यानी बुद्ध कहा गया है। इन ध्यानी बुद्धोंके नाम वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि तथा अक्षोभ्य हैं। पाँचों ध्यानी बुद्ध पद्मासनमें बैठे हुए दिखलाये जाते हैं। पद्मासनमें इस प्रकार पालथी मारकर बैठते हैं कि दोनों पैरोंके तलवे ऊपरकी ओर दिखलायी दें। ध्यानी बुद्धोंकी विभिन्नतासूचक उनकी हस्तमुद्राएँ होती हैं। ध्यानी बुद्ध वैरोचनके दोनों हाथ सुप्रसिद्ध धर्मचक्र अथवा व्याख्यान-मुद्रामें होते हैं। इस हस्तमुद्रामें दोनों हाथ वक्षःस्थलके समीप होते हैं और दाहिना हाथ बायें हाथके ऊपर रहता है। दाहिने हाथकी तर्जनी अँगुली उसी हाथके अँगूठेसे मिली होती है और इन दोनोंका सम्पर्क बायें हाथकी कनिष्ठिका अर्थात् सबसे छोटी अँगुलीसे होता है। ध्यानी बुद्ध रत्नसम्भवकी हस्तमुद्राएँ वरद होती हैं। इस मुद्रामें बायाँ हाथ हथेली ऊपर किये हुए गोदमें रक्खा रहता है और दाहिना हाथ हथेली ऊपर किये हुए इस प्रकार कुछ आगे बढ़ा हुआ होता है जैसे उस हाथसे किसीको कोई चीज़ दी जा रही हो। ध्यानी बुद्ध अमिताभ समाधि-मुद्रामें दिखलाये जाते हैं। इस मुद्रामें

दोनों हाथ हथेली ऊपर किये हुए एक दूसरेके ऊपर (बायेंके ऊपर दाहिना) गोदमें रक्खे हुए दिखलाये जाते हैं। ध्यानी बुद्ध अमोघसिद्धि सदा अभय-मुद्रामें दिखलाये जाते हैं। यह मुद्रा भी प्रायः वरद-मुद्राही-सी है। भेद केवल इतना ही है कि दाहिना हाथ वक्षःस्थलके पास उठा हुआ होता है और उसकी हथेली सामनेकी तरफ होती है। यह मुद्रा अभय, रक्षा अथवा आश्वासन दिया जाना सूचित करती है। पाँचवें ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य भूस्पर्श-मुद्रामें दिखलाये जाते हैं। इस मुद्रामें बायाँ हाथ उसी स्थितिमें रहता है जैसा कि वरद तथा अभय-मुद्राओंमें। दाहिने हाथकी हथेली नीचेकी ओर होती है और उसकी अँगुलियाँ दाहिने घुटनेसे नीचेकी ओर झुकी हुई पृथ्वीका स्पर्श करती हुई दिखलायी जाती हैं। गौतमबुद्धकी खड़ी अथवा बैठी जितनी मूर्तियाँ मिलेंगी, वे उपर्युक्त पाँच मुद्राओंमेंसे किसी-न-किसीमें होंगी। इनमेंसे पिछली चार मुद्राओंके चित्र अन्यत्र दिये जाते हैं। इनसे उनके यथार्थ स्वरूप अच्छी तरह समझमें आ जायँगे। सिद्धार्थने भूस्पर्श-मुद्राका प्रदर्शन उस समय किया था, जिस समय मार अर्थात् कामदेवने अपनी कन्याओंसहित उनपर इसलिये आक्रमण किया था कि वे अपनी तपस्यासे विमुख हो जावें। इसपर बुद्धने पृथ्वीको साक्षी करनेके लिये उसका स्पर्श किया था और अपने ध्येयकी दृढ़ता सूचित की थी। इस मुद्राके प्रदर्शन करते ही मार शीघ्र ही अन्तर्हित हो गया था और फिर उसने गौतमको क्षुब्ध करनेका प्रयत्न नहीं किया। भगवान् शाक्यसिंहने धर्मचक्र-मुद्राका अवलम्बन उस समय किया था जब ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर सारनाथनामक स्थानपर सर्वप्रथम बौद्धधर्मका उपदेश प्रारम्भ किया। बौद्धधर्मके प्रचारका सूचक पहियारूपी धर्मचक्र है और सारनाथ (जो कथाओंके अनुसार पूर्वकालमें मृगोंका रमना रह चुका था) मूर्तियोंमें मृगोंद्वारा सूचित किया जाता है। अतः अधिकतर जहाँ गौतम बुद्धकी प्रतिमा धर्मचक्र-मुद्रामें मिलेगी वहाँ मूर्तिके नीचे अगल-बगल दो हिरन और बीचमें एक पहिया भी मिलेंगे।

ध्यानी बुद्धोंके रंग क्रमशः सफेद, पीला, लाल, हरा और मेचक (नीला) हैं। ये रंग अधिकतर चित्रोंमें ही मिलते हैं और इनका गूढ़ तत्त्व परम गहन है। इन रंगोंका सम्बन्ध तान्त्रिक षट्कर्मोंसे है। शान्तिसम्बन्धी पुरश्चरणोंमें श्वेत रंगवाली मूर्ति प्रयुक्त होती है। रक्षासम्बन्धी विधियोंमें पीले रंगकी मूर्तियाँ काममें लायी जाती हैं। आकर्षण तथा वशीकरणमें हरे और लाल रंगोंका प्रयोग होता है और उच्चाटन तथा मारण-विधियोंमें नीला रंग काममें लाया जाता है। जिन ध्यानी बुद्धका जो विशेष रंग है, वही उनसे समुद्भूत समस्त देवी-देवताओंका रंग होगा। हाँ! कभी-कभी एक ही ध्यानी बुद्ध अथवा उनसे उत्पन्न कोई देवी या देवता भिन्न-भिन्न रंगोंमें भी मिलेंगे। इसका अर्थ एक ही मूर्तिका विभिन्न-षट्कर्म-विधियोंमें प्रयोग समझना चाहिये।

उपर्युक्त ध्यानी बुद्धोंके वाहन क्रमशः दो सर्प, दो सिंह, दो मयूर, दो गरुड तथा दो हस्ती हैं। इसके अतिरिक्त ध्यानी बुद्धोंके चिह्न क्रमशः चक्र, रत्नछटा (मणियोंका समूह), कमल, विश्ववज्र (दोनों ओर तीन फलवाला छोटा-सा शस्त्र) और वज्र (त्रिशूलसदृश छोटा-सा शस्त्र) है। भारतवर्षमें ध्यानी बुद्धोंकी अलग मूर्तियाँ अथवा चित्र प्रायः नहीं मिलते। ऐसे चित्र नैपाल तथा तिब्बतमें प्रचुरतासे मिलते हैं। इसी कारण पाठकोंको प्रायः उपर्युक्त सब बातोंके देखनेका अवसर कम ही मिलेगा। तथापि आगेके विषयको स्पष्ट करनेके निमित्त उपर्युक्त विस्तृत वर्णन दिया गया है।

इन पाँच ध्यानी बुद्धोंके अतिरिक्त कहीं-कहीं वज्रसत्त्व नामक एक छठे ध्यानी बुद्धकी भी कल्पना की जाती है। वज्रसत्त्व ध्यानी बुद्धोंके पुरोहित माने जाते हैं और इस पदके सूचक घंटा तथा वज्र उनके हाथोंमें दिखलाये जाते हैं। पाँचों ध्यानी बुद्ध तापस-वेषमें ही दिखलाये जाते हैं। वे सदैव ध्यानमग्न रहते हैं। सृष्टिके कार्य ध्यानी बुद्धोंसे उत्पन्न दिव्य बोधिसत्त्वगण करते हैं। पाँचों ध्यानी बुद्धोंकी शक्तियाँ क्रमशः वज्रधात्वीश्वरी, मामकि, पांडरा, आर्यतारा तथा लोचना हैं। और इनसे उत्पन्न दिव्य बोधिसत्त्व क्रमशः संमतभद्र, रत्नपाणि, पद्मपाणि (सुप्रसिद्ध अवलोकितेश्वर), विश्वपाणि तथा वज्रपाणि हैं। छठे ध्यानी बुद्ध वज्रसत्त्वकी शक्तिका नाम वज्रसत्त्वात्मिका है और इन दोनोंसे उत्पन्न दिव्य बोधिसत्त्वका नाम घण्टापाणि है। ध्यानी बुद्धोंकी शक्तियाँ अपने पतियोंके चिह्न तथा वाहनोंसे पहचानी जाती हैं। इसके अतिरिक्त उनके पतिकी विशिष्ट हस्तमुद्रायुक्त ध्यानासन मूर्ति उनके मुकुटमें सामने बनी रहती है। इसी प्रकार प्रत्येक वंश (जिसके लिये विशिष्ट शब्द 'कुल' है) के देवी तथा देवताओंके मुकुटमें उस वंशके जन्मदाता ध्यानी बुद्धकी

विशिष्ट हस्तमुद्रायुक्त ध्यानासन-मूर्ति दिखलायी जाती है और यही उनका मुख्य चिह्न माना जाता है।

महायानीय मतके अनुसार धर्म अमर अथवा सनातन माना जाता है और बुद्धका व्यक्तित्व इस धर्मके पूर्ण ज्ञानका साधनमात्र माना जाता है। प्रत्येक युगमें एक-न-एक मनुष्यशरीरधारी बुद्ध (अथवा ज्ञानी) धर्मका प्रचार करते हैं। एक बुद्धके निर्वाण प्राप्त होनेसे दूसरे बुद्धके जन्मतक कल्पके अधिष्ठाता ध्यानी बुद्धसे उत्पन्न दिव्य बोधिसत्त्व बौद्ध 'धर्म' की देखरेख करते हैं। गौतम बुद्धको गत हुए प्रायः २४०० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं और अबसे लगभग २६०० और बीत जानेपर (अर्थात् गौतम बुद्धकी मृत्युके ५०००वर्ष उपरान्त) बुद्ध मैत्रेयका जन्म होगा। इस समय बौद्धमतका भद्रकल्प चल रहा है और इसके अधिष्ठाता ध्यानी बुद्ध अमिताभ हैं। अतः इन ५००० वर्षोंमें ध्यानी बुद्ध अमिताभसे उत्पन्न (दिव्य) बोधिसत्त्व पद्मपाणि (जिनका दूसरा नाम अवलोकितेश्वर है) का प्रबन्ध चलता रहेगा। यही इस युगके प्रधान (दिव्य) बोधिसत्त्व हैं।

इन उपर्युक्त दिव्य बोधिसत्त्वोंकी मूर्तियाँ अनेक आसनोंमें बैठी अथवा खड़ी मिलती हैं। साधारणतया इनकी पहचान मुकुटपर अथवा मुकुटके पीछे प्रभामण्डलमें बने हुए ध्यानी बुद्धसे हो जाती है। अन्यथा इनके हाथमें स्थित ध्यानी बुद्धके चिह्नोंसे ये पहचाने जाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'बोधिसत्त्व' अवस्था 'बुद्ध' अवस्थाके पूर्वकी स्थिति मानी गयी है। अतः बोधिसत्त्व प्रायः राजसी वेशमें मुकुट-आभूषणादियुक्त दिखलाये जाते हैं और बुद्ध तापसवेशमें।

जिस प्रकार भागवत अर्थात् वैष्णव-धर्ममें विष्णुके २४ अवतार माने गये हैं और जिस सिद्धान्तपर जैनधर्ममें २४ तीर्थङ्करोंकी भावना की जाती है, ठीक उसी प्रकार प्राचीन (अर्थात् हीनयानीय) बौद्धधर्ममें २४ अतीत मानुषी बुद्धोंकी बात मिलती है। महायानमतमें भी २४से ३२तक अतीत मानुषी बुद्धोंकी बात मिलती है। इन मानुषी बुद्धोंमें आखिरी सात (जिनमें सबसे अन्तमें गौतम-बुद्धका नाम आता है) विशेषरूपसे प्रसिद्ध हैं। इनके नाम विपश्यी, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द, कनकमुनि, काश्यप तथा शाक्यसिंह हैं। ये सातों मानुषी बुद्ध एक साथ पद्मासन-में भूस्पर्श-मुद्रायुक्त मिलते हैं और यही सातकी गणना इनकी पहचान है। कभी-कभी इनकी संख्या भावी बुद्ध मैत्रेयको मिला लेनेसे आठ मिलती है। इनमेंसे प्रत्येकका एक विशिष्ट वृक्ष माना गया है।

गौतम बुद्धकी मूर्तियोंके साथ बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर तथा भावी बुद्ध मैत्रेय पार्षदोंके रूपमें चँवर लिये हुए दिखलाये जाते हैं।

वज्रयानीय बौद्धधर्मका मुख्य गढ़ इस समय महाचीन (तिब्बत) है। वहाँके प्रधान शासक दलाईलामा महात्मा गौतम बुद्धके अवतार माने जाते हैं और उनके बाद पदमें श्रेष्ठ शीगर्चीके ताशीलामा बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर-के अवतार माने जाते हैं। वज्रयानका गायत्रीतुल्य मुख्य मन्त्र 'ॐ मणिपद्मे हुम्' इन्हीं बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वरका षडक्षरी मन्त्र है। अवलोकितेश्वरके अगाध करुणासागर होनेका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके मुख्य चिह्न कमल तथा सुमिरनी हैं।

इनके अतिरिक्त वर्तमान बौद्धधर्ममें बोधिसत्त्व मंजुश्रीका भी पद बहुत ऊँचा माना गया है। इस स्थानपर बोधिसत्त्व मैत्रेय (भावी बुद्ध) तथा मंजुश्रीके विषयमें कुछ शब्द अनुपयुक्त न होंगे।

कहा जाता है कि बौद्ध तन्त्रोंके प्रधान आचार्य मैत्रेय हैं। ये इस समय तुषितनामक स्वर्गमें विराजमान हैं। असङ्गने इसी तुषित स्वर्गमें ध्यानद्वारा गमन करके आचार्य मैत्रेयसे तन्त्रोंके रहस्यको जाना था। मैत्रेय ही एक ऐसे देवता हैं, जिन्हें हीनयानीय तथा महायानीय दोनों सम्प्रदायवाले मानते हैं। मैत्रेयका चिह्न उनके मुकुटमें आगेकी ओर बना हुआ एक छोटा-सा चैत्य या स्तूप है। इस स्तूपकी कथा यों है। गौतम बुद्धके पूर्ववाले मानुषी बुद्ध काश्यप गयाके समीप कुक्कुटपादगिरि-के शिखरपर गड़े हुए हैं और उनके भौतिक अवशेषके ऊपर एक स्तूप विद्यमान है। जिस समय गौतम बुद्धके निर्वाणके ५००० वर्षोंके उपरान्त मैत्रेय बुद्धरूपसे इस भूमण्डलपर अवतीर्ण होंगे, उस समय वे काश्यपके स्तूपपर जायँगे और काश्यप बुद्ध मैत्रेय बुद्धको उनके वस्त्र त्रिचीवर (लँगोट, धोती और दुपट्टा) देंगे।

उपर्युक्त मुकुटस्थित चैत्यके अतिरिक्त मैत्रेयके चिह्न धर्मचक्र तथा अमृतकुम्भ (अमृतका लोटा, शीशी या कमण्डलु) भी हैं।

बोधिसत्व मंजुश्री स्मृति, मेधा, बुद्धि तथा वाक्पटुताके स्वामी माने जाते हैं। अर्थात् इनकी उपासनासे ये शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। साधारणतया इनके बायें हाथमें बौद्धधर्मकी सुप्रसिद्ध पुस्तक प्रज्ञापारमिता दिखलायी जाती है और दाहिने हाथमें अज्ञानान्धकारको काटनेवाला खड्ग दिखलाया जाता है। कहा जाता है कि महात्मा मंजुश्रीहीने नैपाल देशमें सभ्यता तथा बौद्धधर्मका प्रचार चीनसे आकर किया था। कहते हैं कि नैपाल देश पहले झील रूपमें जलमग्न था और इस विशाल जलराशिके मध्य भगवान् आदिबुद्धका स्थान था, जहाँ पृथ्वीके गर्भसे निरन्तर ज्वाला निकलती थी। जलके कारण यह स्थान अगम्य था। अतः मंजुश्रीने एक ओरसे इस विशाल जलराशिमें नहर-सी निकाल दी। यही नहर आजकल वागमती नदीके रूपमें बहती है। इस नहरद्वारा सब जल बह गया और सूखी भूमि निकल आयी। यहींपर बस्ती बस गयी और अब सरलतापूर्वक आदिबुद्धकी ज्वालाके ऊपर मन्दिर बन गया। (इस समय यह मन्दिर स्वयम्भूनाथके नामसे विख्यात है।)

ध्यानी बुद्धोंसे उत्पन्न अन्य देवी-देवताओंका वर्णन देनेसे लेखका विस्तार बढ़ जायगा और कदाचित् पाठकगण भी उस वर्णनको सरलतापूर्वक हृदयङ्गम न कर सकें। जिनको इस विषयमें अधिक जानकारीकी इच्छा हो, उन्हें श्रीविनयतोष भट्टाचार्यकृत Indian Buddhist Iconography तथा उन्हीं द्वारा सम्पादित 'साधनमाला' नामक ग्रन्थ देखना चाहिये।

सिद्धिसाधक साधनाकी संक्षिप्त रूप-रेखा

(लेखक—व्याख्यानवाचस्पति आचार्यदेव श्रीमद् विजय-रामचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज)

ज्ञान और क्रियाकी आवश्यकता

इस जगत्में साधना कौन नहीं करता? यथार्थ हो या अयथार्थ, सुखदायी हो या दुःखदायी, अल्प हो या अधिक—जहाँ-जहाँ कामना है, वहाँ-वहाँ साधना है ही। कामनाकी पूर्तिके लिये किये जानेवाले प्रयत्न ही साधना हैं। कामनायुक्त विश्वका जीवन साधनामय है। इतना होनेपर भी साधनाके सम्बन्धमें विशेष विचार करनेकी आवश्यकता है। जैसे कामनामात्रसे इष्टकी सिद्धि नहीं होती, वैसे ही केवल साधनासे या प्रयत्नमात्रसे भी इष्टसिद्धि नहीं होती। सिद्धि प्राप्त करानेवाली साधनाके लिये साधनोंका यथार्थ ज्ञान और उसीके अनुकूल क्रियाशीलता भी आवश्यक है। ज्ञानशून्य क्रिया किंवा क्रियाशून्य ज्ञान सिद्धिसाधक नहीं बन सकता। साधनोंका यथार्थ ज्ञान हुए बिना इष्टकी प्राप्तिके लिये प्रायः वे ही क्रियाएँ होती हैं जो वस्तुतः इष्ट-प्राप्तिकी बाधक हैं, और साधनोंका यथार्थ ज्ञान होनेपर भी यदि उसके अनुसार क्रिया नहीं होती तो विपरीत क्रिया चालू रहनेके कारण इष्टकी प्राप्ति दूर हटती जाती है। कामनाकी प्रेरणासे साधनामें लगे हुए जीवमात्रको यह बात समझ लेनी चाहिये; क्योंकि साधनोंको ठीक जाने बिना और वास्तविक साधनोंके सेवनमें दत्तचित्त हुए बिना इस अनादिकालीन विश्वमें अनन्त कालतक भी न तो कोई आत्मा इष्टको प्राप्त कर सका है, न कर सकता है और न कर सकेगा ही—यह निर्विवाद है।

साधनाका हेतु

इस संसारमें मनुष्यमात्रकी प्रवृत्तिका केन्द्रित ध्येय कौन-सा है? कोई धनके पीछे पड़ा हुआ है तो कोई कीर्तिके, कोई स्त्रीके लिये प्रयत्नशील है तो कोई पुत्रके लिये और कोई शक्तिके लिये जी-तोड़ चेष्टा कर रहा है तो कोई सत्ताके लिये। इस प्रकार मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकारकी कामनाओंको लेकर अपनी-अपनी शक्ति, अनुकूलता और समझके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रवृत्तियोंमें लगे हैं; परन्तु इन सारी कामनाओं और तमाम प्रवृत्तियोंके पीछे सभीका ध्येय एक-सा है। वह ध्येय है—दुःखका नाश और सुखकी प्राप्ति। दुःख सबकी नापसन्दगीकी चीज है और सुख सबकी पसन्दगीकी। दुःखसे सर्वथा रहित, सुखसे परिपूर्ण, और जिसका किसी भी कालमें परिवर्तन या नाश सम्भव न हो—ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाय तो फिर कोई पुरुष कामना क्यों करे, प्रयत्न क्यों करे? अनिष्टकी और अपूर्ण इष्टकी विद्यमानता ही कामना पैदा करती है। अनिष्ट टल जाय, सम्पूर्ण इष्ट प्राप्त हो जाय और उसमें किसी भी समय जरा भी अल्पताका होना निश्चित रूपसे असम्भव हो जाय तो फिर कामनाके लिये अवकाश ही नहीं रहता। सुख ऐसा मिले कि जो दुःखके अंशमात्रसे भी रहित हो और इस प्रकारसे सम्पूर्ण हो कि किसी भी कालमें किसी भी जीवको उससे बढ़कर सुख मिलना सम्भव ही न हो और ऐसा दुःखरहित तथा सम्पूर्ण सुख किसी भी

कालमें अल्पताको या विनाशको प्राप्त होनेवाला न हो तो ऐसे सुखको प्राप्त जीवोंमें किसी प्रकारकी भी कामनाका कभी भी पैदा होना सम्भव नहीं है। साधनाकी तभीतक आवश्यकता है, जबतक कि इस प्रकारके सुखकी प्राप्ति नहीं हो जाती।

प्रचलित साधना सिद्धिसाधक नहीं है

मनुष्यको उपर्युक्त प्रकारके सुखकी वास्तविक साधना करनेमें ही अपने जीवनकी सफलता माननी चाहिये। मनुष्यको दुःख नहीं सुहाता, इतना ही नहीं; दुःखयुक्त सुख भी नहीं सुहाता। अधिक सुखमें भी यदि अल्प दुःख होता है तो वह भी मनुष्यके मनमें खटका करता है और वह यों सोचा ही करता है कि 'कब मेरे इस इतनेसे दुःखका नाश होगा ?' इसी प्रकार जिसको अपूर्ण सुख प्राप्त है, वह भी शेष सुखकी इच्छा किया ही करता है। साथ ही प्राप्त सुखके चले जानेका विचार भी मनुष्यको सताता रहता है। अतएव सबको पसन्द तो वही सुख है, जो दुःखसे रहित भी हो, सम्पूर्ण भी हो और शाश्वत (नित्य) भी हो। ऐसे खास सुखको चाहनेवाला जगत् आज किस तरहकी साधना कर रहा है ? क्या जगत्की वर्तमान साधना इसको वह सुख प्राप्त करा सकती है ? यदि नहीं तो, क्या वर्तमान साधना भ्रम नहीं है ? क्या वह इष्टप्राप्तिमें बाधक नहीं है ? साधकमात्रके लिये यह प्रश्न विचारणीय है। जिस कामनासे जो प्रयत्न किया जाता हो, यदि उसका परिणाम उस कामनासे विपरीत हो अथवा यदि उस प्रयत्नसे वह कामना सिद्ध न होती हो, तो उसके कारणका विचार तो करना ही चाहिये न ? बहुत सीधे ढंगसे इस प्रश्नपर विचार किया जा सकता है। दुःखरहित, सम्पूर्ण और शाश्वत सुखकी प्राप्ति क्या नाशवान् साधनोंसे हो सकती है ? जो साधन स्वयं परिवर्तन स्वभाववाले और नाशवान् हैं, उनके द्वारा शाश्वत सुख कैसे मिल सकता है ? धन, स्त्री, कीर्ति, सत्ता और पुत्र-परिवार आदिको सुखके साधन माननेवाले लोग जरा रुकें और विवेकी बनकर विचार करें। इनमेंसे कौन-सी वस्तु नित्य है या अल्पता आदि परिवर्तनको नहीं प्राप्त होनेवाली है ? एक भी नहीं। असंख्य धनवान् भिखारी बन गये, अनेकों कीर्तिमान् पुरुषोंको भयङ्कर कलङ्कका टीका लगाकर बुरे हाल मरना पड़ा; और कितने ही सत्ताधारियोंने अपनी सत्ता खो दी— ऐसा इतिहास कहते हैं। स्त्री तथा पुत्र-परिवारादिका नाश तो रचा ही हुआ है। इतनेपर भी मान लीजिये कि धन मिल गया, कीर्ति और सत्ता मिल गयी तथा स्त्री और पुत्र-परिवारादिकी भी प्राप्ति हो गयी और मान लीजिये ये सब वस्तुएँ अपने पास सदा रहीं भी; परन्तु एक दिन हमारा तो मरना निश्चित ही है न ? उस समय तो उन सबको छोड़ना पड़ेगा ही न ? आजतक कोई ऐसा नहीं जन्मा और भविष्यमें अनन्त कालतक कोई ऐसा जन्म भी नहीं सकता, जिसकी मृत्यु न हो। जन्मके साथ मृत्यु तो लगी ही हुई है। इस संसारमें ऐसा कोई जन्म सम्भव ही नहीं है कि जो मृत्युके साथ न जुड़ा हुआ हो। हाँ, ऐसी मृत्यु जरूर सम्भव है कि जो जन्मके साथ न जुड़ी हुई हो; और ऐसी ही मृत्यु उसके बादकी हमारी दुःखरहित सम्पूर्ण और शाश्वत सुखसे युक्त स्थितिकी सूचक है। इस संसारमें ऐसी ही मृत्युको अपने समीप लानेका प्रयास करना चाहिये और यही सच्ची साधना है। इसके अतिरिक्त और सब साधनाएँ तो नाममात्रकी साधना हैं। उनसे इष्टकी प्राप्ति नहीं होती वरं उसका अवरोध होता है। अज्ञानी जगत् इष्टकी अवरोधक साधनाओंको इष्टकी प्राप्ति करानेवाली मान बैठा है। यही कारण है कि वह जीवनके तमाम क्षणोंको धन, कीर्ति, सत्ता और पुत्र-परिवारादिकी प्राप्तिके प्रयत्नमें ही खो रहा है। मृत्युके बाद धन आदि कोई भी चीज साथ नहीं चलती। आत्मा चला जाता है और सुखके साधन मानकर जिन धनादि पदार्थोंको हमने इकट्ठा किया था, वे सब जहाँ-के-तहाँ रह जाते हैं। हमारी आँखोंके सामने अनेकों चले गये और धनादिमेंसे कुछ भी वे अपने साथ न ले जा सके, यह भी हमने देखा। इतनेपर भी उन्हीं धनादिको सुखके साधन मानकर हम अपना जीवन उन्हींकी साधनामें बिता दें, तो यह क्या भ्रम नहीं है ? यह क्या अज्ञानपूर्ण क्रिया नहीं है ? फिर, धनादि वस्तुएँ क्या केवल परिश्रमसे ही मिल सकती हैं ? इस जगत्में धनादिके लिये प्रयत्न करनेवाले कितने हैं और धनादिको प्राप्त करके श्रीमान् बननेवाले कितने हैं ? क्या ऐसा एक भी मनुष्य ढूँढ़कर निकाला जा सकता है जिसको धनादिकी पूरी प्राप्ति हो गयी हो और इस कारण जिसकी धनकी कामना नष्ट हो गयी हो ? धनादिके लिये प्रयत्न करनेवाले लगभग सभी हैं, परन्तु धनी बहुत थोड़े हैं। इससे एक ऐसी वस्तुकी सूचना मिलती है, जिसकी अपेक्षा प्रयत्न करनेवालेको भी रहती है। यह वस्तु है—पुण्य। चाहे जितनी मेहनत की जाय, परन्तु पुण्यके अभावमें धनादिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। और धनप्राप्तिका पुण्य होनेपर भी यदि भोगके लिये पुण्य न हुआ तो प्राप्त धनादिका भी भोग नहीं किया जा सकता। ऐसी वस्तुएँ पुण्यके

नाशके साथ ही नाशको प्राप्त हो जाती हैं। कदाचित् किसीके जीवनके अन्ततक पुण्योदय ही वर्तमान रहे और इस कारण धनादिका नाश न हो, तो अन्तमें मृत्यु तो तैयार ही बैठी है, जो धनादिका वियोग अवश्य ही करा देगी। इस प्रकार साधकमात्रको सबसे पहले यह तो निश्चय कर ही लेना चाहिये कि धनादिकी प्राप्तिके लिये की जानेवाली साधना यथार्थ साधना नहीं है; क्योंकि उससे दुःखरहित, सम्पूर्ण और शाश्वत सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इतना निर्णय हुए बिना यथार्थ साधनाकी रुचिका उत्पन्न होना सम्भव ही नहीं है।

यथार्थ साधना

धनादिकी साधना बाधक है, ऐसा निर्णय करनेके बाद यह निर्णय करना शेष रहा कि फिर साधक साधना कौन-सी है? दुःखरहित, सम्पूर्ण और शाश्वत सुखमय स्थितिकी प्राप्तिके लिये ऐसी मृत्युको प्राप्त करना चाहिये कि जिसके बाद जन्म न हो। जहाँ जन्म है, वहाँ दुःखका सर्वथा अभाव और सुखका एकान्त सद्भाव सम्भव नहीं है। इसलिये जन्मके कारणको मिटाना चाहिये। जो जन्मके कारणसे परे है, वही दुःखके कारणसे परे है। भिन्न-भिन्न गतियोंमें, भिन्न-भिन्न योनियों आदिके द्वारा विभिन्न सामग्रियोंके साथ होनेवाला जन्म आत्माके भूतकालीन और भविष्यकालीन जीवनका सूचक है। आत्मा ही एक गतिसे दूसरी गतिमें और एक स्थानसे दूसरे स्थानमें परिभ्रमण करता है। वस्तुतः आत्मा जन्म या मृत्युको प्राप्त नहीं होता। आत्मा तो था, है और रहेगा। मृत्यु तो आत्माके गत्यन्तर या स्थानान्तर-की सूचक है। अनन्त कालसे हमारा आत्मा इस प्रकार विभिन्न गतियोंमें भ्रमण कर रहा है। इस भ्रमणका कारण है जड कर्मका संयोग। जिस मृत्युके साथ ही आत्मा जड कर्मोंके संयोगसे सर्वथा मुक्त हो जाता है, वही मृत्यु भावी जन्मसे जुड़ी हुई नहीं होती। एक बार जड कर्मके संयोगसे आत्मा मुक्त हो जाय तो फिर उसका पुनः संयोग नहीं होता और इस कारण पुनः जन्म भी नहीं होता। इसीलिये इस संसारमें यदि कोई यथार्थ साधना है तो वह एक ही है— और वह है जड कर्मसे मुक्त बनानेकी साधना। इस साधनामें लग जानेवाले जीव क्रमशः अपने आत्माके साथ जड कर्म-के संयोगको घटाते चले जाते हैं, अल्प संयोगको उसके वियोगसाधक बननेमें सहायक बना लेते हैं और अन्तमें उत्कट साधनाके प्रतापसे ऐसी मृत्युको प्राप्त होते हैं कि जिस मृत्युके साथ ही आत्मा जड कर्मके संयोगसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। आत्माकी यह शाश्वत स्थिति होती है; क्योंकि जब जन्मका कारण नहीं रह जाता, तब मृत्यु भी सम्भव नहीं होती। यह स्थिति दुःखरहित तथा सम्पूर्ण सुखमयी होती है। इसमें दुःखके कारणका सर्वथा अभाव हो जानेके साथ ही आत्मा अपनी सम्पूर्ण स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो जाता है।

साधनादर्शकसम्बन्धी निश्चयकी आवश्यकता

इस प्रकारकी साधना ही इष्टको प्राप्त करानेवाली साधना है, परन्तु ऐसी साधनाके लिये विशिष्ट आलम्बनकी आवश्यकता है। धनादिकी साधनाका निषेध करनेपर भी ऐसे अनेकों साधनादर्शक पूर्वकालमें हो गये हैं, इस कालमें हैं और आगे भी होंगे, जो चेतन, जड और चेतन-जडके संयोगके विषयमें यथार्थ ज्ञान नहीं रखते। ऐसे लोगोंके द्वारा दिखलायी हुई साधना चेतनको जड कर्मके संयोगसे सर्वथा मुक्त करके दुःख-रहित सम्पूर्ण और शाश्वत सुखकी प्राप्ति करानेमें सफल नहीं होती। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। इस स्थितिमें अपने आत्माको कर्मके संयोगसे सर्वथा मुक्त करनेकी साधनामें लगना चाहनेवाले जीवोंको सबसे पहले साधनादर्शकके स्वरूप-के विषयमें निश्चय करना चाहिये। यों न करनेवाले आत्मा यथार्थ साधनासे वञ्चित रह जाते हैं, और अयथार्थ साधनासे नाना प्रकारके कष्ट सहनेपर भी कष्टमयी संसार-परिभ्रमणकी स्थितिको नाश करनेके बदले उसको और भी बढ़ा लेते हैं!

साधनाके मूलभूत दर्शकोंका स्वरूप और उनके द्वारा स्थापित शासन

यथार्थ साधनाके मूलभूत दर्शक वे ही हो सकते हैं, जो असत्यवादके सभी कारणोंसे परे पहुँचे हुए हैं। राग, द्वेष और मोह आदि ऐसे दुर्गुण हैं कि जो इच्छापूर्वक असत्यमें कारण बनते हैं, और अज्ञानके योगसे असत्य बोलने-का इरादा न होनेपर भी असत्य बुलवा देते हैं। इन रागादि दुर्गुणोंसे और अज्ञानके लेशमात्रसे भी रहित होनेके कारण श्रीवीतराग और सर्वज्ञ परमपुरुष ही यथार्थ साधनाके मूलभूत दर्शक हो सकते हैं। इन तारकों (उद्धारकों) में आत्माका अनन्त ज्ञानगुण प्रकट हुआ रहता है; इस कारण ये तारक अनन्त भूतकालके, वर्तमानके और अनन्त भविष्य-कालके सम्पूर्ण ज्ञानसे सम्पन्न होते हैं। चेतन और जड प्रत्येक पदार्थका, उसके प्रत्येक परिवर्तन और परिवर्तनके कारण आदिका सर्वतोगामी ज्ञान इन तारकोंको होता है। श्रीवीतराग

और सर्वज्ञ बने हुए ये आत्मा भी किसी कालमें इस संसारके ही मुसाफिर थे, इन्होंने भी अनन्त कालतक इस संसारमें परिभ्रमण किया था। ऐसे आत्माओंमें एक विशिष्ट प्रकारकी अनादिकालीन योग्यता होती है, जो आवश्यक सामग्रीका संयोग पाकर प्रकट हो जाती है। यह योग्यता, सच्ची साधनाके मार्गकी प्राप्ति होनेके पहले ही, उन तारकोंको नाना प्रकारसे उत्तमजीवी बना देती है। क्रमशः वे अपनी योग्यताके बलसे सच्ची साधनाके मार्गमें सुविश्वस्त बन जाते हैं। इस प्रकार सच्ची साधनाके मार्गमें सुविश्वस्त बने हुए वे तारक परम आराधक बननेके साथ ही परोपकारकी सर्वश्रेष्ठ भावनासे अतिशय ओतप्रोत हो जाते हैं। यह भावना दुःखके मारे क्रन्दन करते हुए और सुखके लिये तरसते हुए विश्वभरके जीवोंको सच्ची साधनाका मार्ग प्राप्त करवाकर उन्हें दुःखमुक्त और सुखके भागी बनानेकी होती है। इस प्रकारकी उत्कट भावनामें रमते हुए वे एक ऐसा अतुलनीय और अनुपम पुण्यकर्म अर्जन करते हैं कि जिसके प्रतापसे वे श्रीवीतराग और सर्वज्ञ बननेके साथ ही निवृत्तिमार्गके प्रतिपादक, समस्त पदार्थोंके प्ररूपक और उन्मार्गके उच्छेदक शासनकी स्थापना करनेवाले होते हैं। इस शासनको ही श्रीजैनशासन कहते हैं। जगत्‌के सब पदार्थोंके स्वरूपको यथार्थरूपमें बतलाना, सच्ची साधनाके यथार्थ मार्गका प्रतिपादन करना और विपरीत मार्गोंकी अकल्याणकारिता दिखलाना—यही जैनशासनका कार्य है। ऐसे शासनके प्रति श्रद्धालु वे ही बन सकते हैं, जिनके भावी जन्मसे अलिप्त मृत्यु समीप पहुँची हुई होती है। ऐसे आत्मा ही जैन हैं। किसी भी जाति, कुल या देशमें उत्पन्न आत्मा ऐसी श्रद्धालुताके द्वारा जैन बन सकता है। सच्ची साधनाके अर्थी प्रत्येक आत्माके लिये जैन-शासन है। वस्तुमात्रको उसके यथार्थ स्वरूपमें स्वीकार करना ही जैनत्वकी प्राप्ति है। इस जैनत्वकी प्राप्ति जिस किसी आत्माको होती है, उसे ऐसा ही भान होता है कि श्रीवीतराग और सर्वज्ञ जिनेश्वर देवोंने जीव आदि तत्त्वोंका जो स्वरूप दिखलाया है, वही वास्तविक है। ऐसे श्रीजिनेश्वर देव आजतक अनन्त हो चुके हैं, वर्तमानमें क्षेत्रान्तरोंमें विहरण कर रहे हैं और भविष्यमें भी अनन्त होंगे। इस प्रकार श्रीजैनशासन अनन्त आत्माओंद्वारा प्रकाशित होनेपर भी, उसकी परस्पर अविरुद्धता अखण्डरूपसे सुरक्षित है; क्योंकि उन सभी तारकोंका अनन्त ज्ञानादि गुणोंमें साम्य होता है। प्रवाहकी दृष्टिसे यह शासन अनादि भी है और व्यक्तिकी अपेक्षासे इस शासनको आदिवाला भी मान सकते हैं। इस प्रकार आदि-अनादिका विवेक करानेवाले सिद्धान्तको 'स्याद्वाद' कहते हैं। स्याद्वादका प्रत्येक कथन सापेक्ष होनेके कारण उसमें वस्तुके किसी भी धर्मका अपलाप नहीं होता। इसीलिये इस विश्वमें अगर कोई यथार्थवादी है तो वह वही है कि जो शुद्ध स्याद्वादके सिद्धान्तको स्वीकार करता है। यही कारण है कि श्रीजैनदर्शनका सारा वर्णन विशिष्ट, स्वतन्त्र और सम्पूर्णरूपसे यथार्थवादी है। इसीसे हम कहते हैं कि सच्ची साधना चाहनेवालेके लिये श्रीजैनशासन ही एक वास्तविक शरणभूत है।

चेतन या जड उद्भव या विनाशको प्राप्त नहीं होता

अनन्त ज्ञानके स्वामी श्रीजिनेश्वरदेव कह गये हैं कि यह जगत् अनादि, अनन्त है। इसका कोई स्रष्टा, संरक्षक या संहारक नहीं है। जगत् था, है और रहेगा। जो है उसका कभी समूल नाश नहीं होता, और जो नहीं है उसकी किसी कालमें उत्पत्ति नहीं होती। यह जो कुछ भी उद्भव और विनाश दिखायी देता है, वह किसी अवस्थाविशेषका उद्भव और विनाश है। मूलरूपमें तो विश्वकी कोई भी चीज न नयी उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। वस्तुरूपमें विश्व स्थायी है और अवस्थारूपमें परिवर्तनशील है। विश्वमें चेतन और जड—दो प्रकारकी वस्तुएँ थीं, हैं और रहेंगी। अनन्तानन्त आत्मा और अनन्तानन्त पुद्गलों-के धामका नाम ही जगत् है। चेतनके साथ जड कर्मोंका संयोग अनादिकालसे होनेके कारण ही चेतनकी विभिन्न प्रकारसे उत्पत्ति और विनाशमयता दिखायी देती है। वस्तुतः चेतन न उत्पन्न होता है और न विलीन। चेतनकी अवस्थान्तरों-को ही जन्म-मृत्यु आदि कहा जाता है। पुद्गल भी विभिन्न अवस्थाको प्राप्त होते हैं, परन्तु उनका समूल विनाश कभी नहीं होता। मान लीजिये—एक घर टूट गया, इससे उस घरका विनाश हो गया; पुद्गलोंके इस प्रकारके समूहका नाश हो गया, परन्तु इससे पुद्गलोंके अस्तित्वका नाश तो हुआ ही नहीं। इसी प्रकार जड कर्मके योगसे मुक्त होनेवाला आत्मा शाश्वत सुखमय अवस्थाको प्राप्त हो जाता है; वह संसारमें जन्म-मरणादिरूप परिभ्रमण नहीं करता, तो भी उसका अस्तित्व तो बना ही रहता है।

आत्माका स्वरूप और उनके भेद

कर्मके संयोगसे बद्ध होकर अनन्तानन्त आत्मा अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण करते हैं। इन अनन्ता-नन्त आत्माओंमें ऐसे भी अनन्तानन्त आत्मा हैं कि जो

मुक्तदशाको प्राप्त होनेकी योग्यतासे हीन हैं, और ऐसे भी अनन्तानन्त आत्मा हैं जो मुक्तदशा प्राप्त करनेकी योग्यतासे सम्पन्न होनेपर भी योग्य सामग्रीके न मिलनेके कारण अनन्त कालतक मुक्तदशाको प्राप्त नहीं होंगे। ऐसे आत्माओंको क्रमशः 'अभव्य' और 'जातिभव्य' कहते हैं। विश्वमें विद्यमान अनन्तानन्त आत्माओंका एक तीसरा वर्ग भी है। इस तीसरे वर्गके अनन्तानन्त आत्माओंको 'भव्य' कहा जाता है। इन 'भव्य' आत्माओंमेंसे अनन्त आत्मा आजतकके अनन्तकालमे सच्ची साधनाके द्वारा मुक्तदशाको प्राप्त हो चुके हैं। वर्तमानमें बहुसंख्यक आत्मा सच्ची साधना कर रहे हैं और भविष्यके अनन्त कालमें अनन्त आत्मा सच्ची साधनाके द्वारा मुक्तदशाको प्राप्त होंगे। निश्चयात्मक दृष्टिसे किसीके अनुग्रहसे कोई अपने साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता। निश्चयदृष्टिसे तो सब कुछ आत्माको ही करना पड़ेगा, परन्तु व्यवहारदृष्टिसे उपकारक आदिकी मान्यता आदि रूपोंमें उपासना भी आवश्यक है; क्योंकि शुद्ध व्यवहारकी अवज्ञा करनेवाला शुद्ध निश्चयदृष्टिको नहीं पा सकता। आत्मा अनादिकालीन कर्मसंयोगसे सुबद्ध और परिणामी स्वभाववाला है—ऐसा मानकर जो अपने आत्माको कर्मसंयोगसे मुक्त करना चाहते हैं, वे ही अनन्त ज्ञानके स्वामी श्रीजिनेश्वरदेवोंके द्वारा उपदिष्ट सच्ची साधनाके मार्गपर विश्वस्त बनकर शुद्ध व्यवहारका पालन करते हैं और अन्तमें मुक्ति पा सकते हैं। अनादिकालीन कर्मसंयोगसे आत्माको मुक्त करना ही सच्चा साध्य है। ऐसा हुए बिना दुःखरहित, सम्पूर्ण और शाश्वत इष्टकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मुक्ति प्राप्त करनेकी योग्यता रखनेवाले आत्मा भी इस साध्यका स्वीकार तभी कर सकते हैं, जब कि उनकी 'तथाभव्यता' नामक योग्यता परिपक्वताको प्राप्त हो जाती है। इस साध्यको प्राप्त करनेके पहले ही ऐसे आत्मा मुक्तिके अद्वेषी बन जाते हैं, यही उनको प्राप्त होनेवाली साधनाका सूचक है।

अपुनर्बन्धक आत्मा

प्रत्येक आत्मा अनादि कालसे ही अपने ज्ञानादि गुणोंको ढकनेवाले ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकारके जड कर्मोंसे आवृत होता है। नदी-घोल-पाषाण-न्यायसे, अध्यवसायके बलसे जबतक इन आवरणोंमें मन्दता नहीं आती और जबतक मोहनीय आदि कर्मोंके द्वारा पुनः नहीं बँध सकने-जैसी उत्कृष्ट सुन्दर आत्मदशाकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक आत्मा श्रीवीतराग परमात्माकी सिद्धिदायक उपासना आदिके योग्य नहीं होता। ऐसी दशाको प्राप्त आत्मा 'अपुनर्बन्धक' कहलाता है। ऐसे आत्मा प्रथम गुणस्थानकमें सार्थकताके साथ रहनेवाले माने जाते हैं। 'अपुनर्बन्धक' आत्मा भयङ्कर भवकी ओर बहुत मानकी दृष्टिवाले या तीव्रभावसे पापका आचरण करनेवाले नहीं होते। वे समस्त प्रवृत्तियोंमें औचित्यकी रक्षा करते हैं। वे मुक्तिके अद्वेषी होकर धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों पुरुषार्थोंमें धर्मको प्रधान मानते हैं। ऐसी दशामें वे सामग्रीकी अनुकूलताके मिलनेपर सच्चे साध्यको और उस साध्यको सिद्ध करनेवाले साधनोंको भी सहजहीमें पा जाते हैं।

मुक्ति किसे कहते हैं ?

श्रीजैनशासनका आदेश है कि 'आत्मा अपने मूलभूत स्वरूपको सर्वथा आवरणरहित बना दे, जड कर्मके संयोगसे अपनेको सर्वथा मुक्त कर दे।' इसीका नाम मुक्ति है। आत्माका सदाके लिये अपने स्वरूपमें ही सुस्थित हो जाना तभी सम्भव है, जब कि अनादि कालसे आत्माके साथ प्रवाहरूपसे लगे हुए समस्त कर्मोंका क्षय हो जाय। कर्मोंके सम्बन्धसे ही आत्माका स्वरूप छिपा हुआ है। अनन्त ज्ञान आदि गुणमयता ही आत्माका स्वरूप है। और ये गुण ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंसे आवृत हैं, इसीसे आत्माका स्वरूप तिरोभूत हो रहा है। आत्माके इस तिरोभूत स्वरूपका सम्पूर्ण आविर्भाव करके सदाके लिये अपने स्वरूपमें सुस्थित हो जाना ही मुक्ति है।

विवेककी सच्ची चाह कब जागती है ?

मुक्तिके इस स्वरूपकी यथार्थता जान लेनेपर इसे प्राप्त करनेकी अभिलाषा होना सहज है। मुक्तिके इस स्वरूपके प्रति रुचि हो जानेपर आत्माकी अर्थ-कामकी ओर रहनेवाली उपादेय बुद्धि नाश होने लगती है। श्रीवीतराग परमात्माकी भक्ति, तारकोंके आज्ञानुसार संसारका त्याग करके महाव्रतादिके द्वारा संयम-साधनामें प्रतिष्ठित हुए सद्गुरुओंकी सेवा और 'दान, शील, तप तथा भाव' रूप धर्मानुष्ठानोंके प्रति उनका आदर बढ़ता ही जाता है। यों अर्थ-कामके प्रति उपादेय बुद्धिका नाश होने लगने तथा परमात्माकी भक्ति आदि सदनुष्ठानोंके प्रति आदरबुद्धि बढ़नेसे वे आत्मा उस सुन्दर परिणामके स्वामी बन जाते हैं कि जिस परिणामके योगसे आत्माके साथ संलग्न कर्मोंमें राजास्वरूप 'मोहनीय कर्म' विशेषरूपसे शिथिल होता जाता है। मोहनीय कर्मके

भी अनेकों प्रकार हैं। इनमें 'मिथ्यात्वमोहनीय' नामक प्रकार बहुत ही भयङ्कर है। वह वस्तुको यथास्थित स्वरूपमें माननेमें बाधा पहुँचाता है। यथार्थ मुक्तिके प्रति आकर्षित और सदनुष्ठानोंके प्रति आदरबुद्धि रखनेवाले 'अपुनर्बन्धकता'-को प्राप्त आत्माओंकी जीव, अजीव आदि सभी पदार्थोंके जाननेकी इच्छा भी अतिशय उग्र बनती जाती है। इससे पौद्गलिक पदार्थोंका उत्कट लोभ, और उसके योगसे वेगको प्राप्त उत्कट माया, उत्कट मान और उत्कट क्रोध,—जिनको 'अनन्तानुबन्धी कषाय' कहते हैं,—घटने लगते हैं। इसीके साथ वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी पहचानमें विघ्न करनेवाला 'मिथ्यात्वमोहनीय'का बल भी बहुत क्षीण होता जाता है। उस आत्मामें देवता, गुरु और धर्मके निर्बाध स्वरूपको जाननेकी उत्कट इच्छा पैदा हो जाती है। तात्पर्य यह कि मुक्तिके प्रति द्वेषका नाश हो जानेपर की जानेवाली साधना आत्माके लिये सुन्दर सामग्री प्राप्त करा देती है और मुक्तिके सच्चे स्वरूपके प्रति आकर्षित होनेपर जो साधना होती है, वह आत्मामें वस्तुमात्रके वास्तविक रूपका परिचय देनेवाले विवेककी उत्कट चाह उत्पन्न कर देती है।

'अपूर्वकरण' द्वारा ग्रन्थिभेद

इस विवेककी चाहके प्रतापसे साधक आत्माओंमें आत्मस्वरूपको तिरोभूत कर रखनेवाले और अपने स्वरूपके आविर्भावमें अतिशय विघ्न करनेवाले राग और द्वेषके प्रति द्वेष जाग्रत् हो उठता है। यह द्वेष उन आत्माओंमें ऐसा उत्तम, शुद्ध, निर्मल परिणाम प्रकट करता है कि जिससे आत्माकी उत्कट राग-द्वेषमय दशा शिथिल होने लगती है। आत्माकी उत्कट राग-द्वेषमय दशाको 'दुर्भेद्य ग्रन्थि' कहते हैं। इस ग्रन्थिका भेद हुए बिना जीवादि पदार्थोंके यथावस्थित स्वरूपके प्रति शङ्कारहित रुचि नहीं पैदा होती। इस रुचिके पैदा हुए बिना कोई भी साधक मुक्ति प्राप्त करानेवाले अनुष्ठानोंका सम्यक् प्रकारसे सेवन नहीं कर सकता। वस्तुके वास्तविक स्वरूपको जाननेकी उत्कट इच्छा इस रुचिके उत्पन्न करनेमें बड़ी सहायक होती है। आत्मामें यह एक ऐसे सुन्दर परिणामको उत्पन्न कर देती है कि जो आत्माकी उत्कट राग-द्वेषमय दशारूपी दुर्भेद्य ग्रन्थिका भेद करनेमें समर्थ होता है। इस परिणामको 'अपूर्वकरण' कहते हैं। इस 'अपूर्वकरण' नामक मानसिक परिणामसे आत्माकी उत्कट राग-द्वेषमय दशारूप दुर्भेद्य ग्रन्थि टुकड़े-टुकड़े हो जाती है और इसीके साथ-साथ आत्मामें अनन्त ज्ञानी श्रीवीतराग परमात्मा जिनेश्वरदेवोंके—(जो रागादि शत्रुओंके ऊपर अन्तिम विजय प्राप्त करने तथा प्रकृष्ट पुण्योदयके द्वारा तीनों लोकोंकी 'योगक्षेमकर' नायकताको सार्थक बनानेवाले धर्मतीर्थकी स्थापना करनेवाले होनेके कारण जिनेश्वरदेव कहलाते हैं।) द्वारा उपदिष्ट जीवादि तत्त्वोंको उनके स्वरूपमें रुचियुक्त करनेकी एक विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी शक्तिको श्रीजैनशासनमें 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं। आत्माका यह सम्यग्दर्शन गुण जैसे अधिगमसे प्रकट होता है, वैसे ही नैसर्गिक भी प्रकट होता है। किसी भी उपायसे हो, 'अनन्तानुबन्धी कषायों' का और 'मिथ्यात्वमोहनीय' का उपशम किंवा क्षयोपशम होना चाहिये,—अपूर्वकरणके द्वारा आत्माकी ग्रन्थिका भेद हो जाना चाहिये, और ऐसा होनेपर ही आत्माकी दशाके अनुसार औपशमिक किंवा क्षयोपशमिक सम्यग्दर्शन गुण आत्मामें प्रकट होता है।

चतुर्थ गुणस्थानकवर्ती आत्माकी समझ कैसी होती है?

इस सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे आत्मा 'मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्तव्य है' आदि बातोंको भलीभाँति समझ सकता है। मुक्ति ही अपना सम्पूर्ण स्वरूप है; ऐसा पक्का निश्चय होनेमें फिर आत्माको कोई भी बाधा नहीं होती। वह समझ सकता है कि—'मुझे जो यह रुचि उत्पन्न हुई है, यही मेरी सिद्धिपदकी साधनाका आदिस्वरूप है। यह रुचि यदि सुरक्षित हो जाय तो फिर मेरे अनन्त ज्ञानस्वरूपका प्राकट्य हुए बिना नहीं रहेगा। इस स्वरूपको प्रकट करनेके लिये मुझको सर्व प्रकारसे हेयस्वरूप अर्थ और कामकी आसक्तिका सर्वथा नाश करना पड़ेगा। और इसके नाशके लिये देवताकी तरह श्रीवीतराग परमात्माकी वीतराग होनेकी ही भावनासे सेवा करनी पड़ेगी। अर्थ-कामकी आसक्ति छोड़कर, घर-बार आदि समस्त बाह्य भावोंका त्याग करके, पाँच महाव्रतोंका धारक बनकर, धारण किये हुए पाँचों महाव्रतोंके पालनमें धीर होकर, सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्रकी साधनामें ही संलग्न रहकर, शुद्ध माधुकरी वृत्तिसे ही अपने परमशुद्ध संयमयुक्त जीवनका निर्वाह करते हुए और संसर्गमें आनेवाले किसी भी योग्य आत्माको एक धर्मका ही उपदेश देनेवाले सद्गुरुओंकी ही वैसा ही बननेके लिये उपासना करनी पड़ेगी। (सामर्थ्य प्रकट हो गया हो तो उसी समय, नहीं तो सामर्थ्यको प्रकट करके) सच्चा निर्ग्रन्थ बनकर शुद्ध संयमकी साधना करनी पड़ेगी।' आत्माकी जो ऐसी भावनामय उत्तम दशा है, यही आत्माका 'चतुर्थ गुणस्थानकवर्ती' पना है।

सिद्धिसाधनाके साधन

इस गुणस्थानकमें पहुँचे हुए आत्मा भलीभाँति समझ सकते हैं कि जैसा साध्य हो, साधन भी वैसे ही होने चाहिये। मेरा साध्य है सिद्धिपदकी साधना। मुक्ति इसीका पर्याय है, और इसका स्वरूप है आत्माका अपने शुद्ध स्वरूपमें शाश्वत-काल रहना। आत्माका शुद्ध स्वरूप है—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त सुख। अनन्त गुणमय आत्माका यह मुख्य स्वरूप है। इस स्वरूपकी प्राप्तिमें साधन वही हो सकता है, जो इसके प्रकट करनेमें सहायक हो। शुद्ध स्थिरतारूप अनन्त चारित्रको प्राप्त किये विना आत्माका इष्ट, ऐसा सुख—जो दुःखके लेशसे शून्य है तथा सम्पूर्ण और सदा स्थिर रहनेवाला है—नहीं मिल सकता। इसके लिये अहितकर प्रवृत्तियोंका जिसमें निरोध हो और हितकर प्रवृत्तियोंकी प्रवृत्ति हो, ऐसे चारित्ररूप साधनकी साधना किये विना काम नहीं चल सकता। ऐसे सच्चारित्रकी आराधनाके लिये सम्यक् तत्त्वज्ञानकी अतिशय आवश्यकता है, और वह ज्ञान इस सम्यग्दर्शनके विना साध्य नहीं है। अतएव सम्यक् चारित्रके साथ मेरे लिये सम्यग्-ज्ञान और सम्यग्दर्शनकी भी साधना अत्यन्त आवश्यक है।

छठे और सातवें गुणस्थानकका स्वामित्व

सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र—इन तीनोंकी उत्कट साधना तो यतिलोग ही कर सकते हैं। इन तीनोंकी साधना करनेवाले यति प्रमत्तावस्थामें होते हैं, तब छठे प्रमत्तके नामसे परिचित—अथवा जिसका दूसरा नाम 'सर्वविरति' है, उस गुणस्थानकके स्वामी माने जाते हैं। जिस अवस्थामें हेय प्रवृत्तिमात्रका त्याग हो जाता है, ऐसी इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्ररूप रत्नत्रयकी साधनाके परिणाममें साधक आत्मा जब एकरस बन जाता है, तब वह यति सातवें 'अप्रमत्त' नामक गुणस्थानकका स्वामी हो गया—ऐसा माना जाता है।

यतिरूप साधक बननेके लिये क्या करना चाहिये ?

यतिरूप साधक बननेके लिये दुनियादारीकी सारी प्रवृत्तियोंका—जो हिंसामय हैं—त्याग करना पड़ता है और 'पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय'—इन छहों कायके जीवोंकी हिंसा आदिसे सर्वथा दूर रहना पड़ता है। स्नान आदि अङ्गशोभा वगैरहमें भी जीवोंकी हिंसा होनेके कारण यतियोंके लिये वे भी त्याज्य हैं। देश, नगर, ग्राम और घर; माता, पिता या अन्य कोई भी सम्बन्धी; धन, धान्य, कोई भी वस्तु—इन सबका अथवा यों कहिये कि अनन्त ज्ञानियोंके द्वारा संयमकी साधनाके लिये बतलाये हुए आवश्यक उपकरणोंके सिवा सर्वस्वका त्याग किये विना यतिपनकी साधना सम्भव नहीं है। कोई आत्मा गृहस्थमें रहता हुआ भी छठे और सातवें गुणस्थानकके योग्य अवस्थाको परिणामरूपमें प्राप्त हो जाय और कदाचित् परिणामकी धारामें आगे बढ़ते-बढ़ते मुक्तिपदका भोक्ता भी बन जाय, ऐसा होना असम्भव नहीं है। परन्तु यह सिद्धि-साधनाका राजमार्ग नहीं माना जा सकता। राजमार्ग तो यही माना जाता है। असत्य, चोरी, अब्रह्म-विषय-सेवन—अथवा सर्वव्यापी अर्थ लें तो—परभावमें रमण और परिग्रह भी हिंसामें निमित्त होनेके कारण, इनका भी त्याग किये विना यतिपनकी साधना सम्भव नहीं है। क्षमा, निरभिमानता, निर्लोभता, ब्रह्मचर्य, तप, संयम, इन्द्रियोंका निग्रह, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह आदि तो यतिधर्मके अत्यावश्यक अङ्ग हैं। इन धर्मोंकी साधनाके विना यतिपनकी साधना नहीं की जा सकती।

श्रीनवपद

यतिलोग श्रीनवपदके अखण्ड साधक होते हैं। श्रीनवपदकी निरन्तर साधनामें ही सच्चा यतिपन है। श्रीनवपद ही जैनशासनका सर्वस्व है। श्रीनवपद ही जगत्के जीवोंके लिये सिद्धि-साधनाका सच्चा अङ्ग है। इन श्रीनवपदोंमें प्रथम पदपर श्रीअरिहन्त परमात्मा माने जाते हैं, जो तारकोंकी सच्ची साधनाके मूलभूत प्रकाशक हैं। दूसरे पदपर श्रीसिद्धपरमात्मा माने जाते हैं, जो श्रीअरिहन्तदेवोंके द्वारा प्रकाशित साधनामार्गका सेवन करके अपने आत्माको जड कर्मके संयोगसे सर्वथा मुक्त कर चुके हैं। तीसरे पदपर श्रीआचार्य भगवान् माने जाते हैं, जो यति होनेके पश्चात् मोक्षमार्गके आचारोंमें जीवोंको प्रवृत्त करनेवाले विशिष्ट गुणोंसे सम्पन्न महान् आचार्यपदको प्राप्त हुए हैं। चौथे पदपर श्रीउपाध्याय भगवान् माने जाते हैं, जो यति होनेके उपरान्त तत्त्वज्ञानके पाठकपनकी गुणविशिष्टतासे गीतार्थ गुर्वादिद्वारा उपाध्याय पदको प्राप्त हो चुके हैं। पाँचवें पदपर साधु-भगवान् माने जाते हैं, जो यतिरूपसे अपना-पराया हित-साधन किया करते हैं। इस नवपदमें शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्मका भी समावेश हो जाता है। श्रीअरिहन्त-परमात्मा और श्रीसिद्धपरमात्मा, ये शुद्ध देव हैं। श्रीआचार्य-

भगवान्, श्रीउपाध्यायभगवान् और श्रीसाधुभगवान्—ये शुद्ध गुरु हैं। और सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और सम्यक्-तप—ये चार शुद्ध धर्म हैं। जो पुरुष श्रीसिद्धिपदकी, आत्ममुक्तिकी अथवा आत्माको अपने ही स्वरूपमें शाश्वतकालतक सुस्थित करनेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें श्रीनवपदकी साधनामें ही संलग्न हो जाना चाहिये।

आठवें, नवें और दसवें गुणस्थानकपर आत्मा क्या करता है ?

इस श्रीनवपदकी साधनामें संलग्न रहनेवाला यति बहुत ही सहजमें अप्रमत्त बन सकता है। अप्रमत्तताके योगसे वह साधक यति अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय नामक सातों कर्मप्रकृतियोंका क्षय करके ऐसी तत्त्वरुचिको प्राप्त हो जाता है कि जो कभी नाश नहीं होती। इन सात कर्मप्रकृतियोंको नामशेष करके वह साधक यति 'चारित्र-मोहनीय'की शेष इक्कीस प्रकृतियोंका,—जिन्होंने आत्माके 'अनन्त चारित्र' नामक गुणको ढक रक्खा है,—नाश करनेकी तैयारी करता है। इस तैयारीके समय यति 'अपूर्वकरण' नामक आठवें गुणस्थानकका स्वामी बनता है। इस गुणस्थानकमें रहनेवाला साधक आत्मा अनेकों विभिन्न रूपोंमें आत्माको हानि पहुँचानेवाले 'मोहनीय कर्म' और उसकी शेष इक्कीस प्रकृतिरूप इक्कीस शत्रुओंको इस तरहसे निर्बल बनाकर क्रमसे बैठा देता है कि जिससे वह (साधक आत्मा) नवें 'अनिवृत्तिकरण' और दसवें 'सूक्ष्मसम्पराय' नामक गुणस्थानकोंमें इन इक्कीस शत्रुओंके नाशका कार्य कर सकता है। यह साधक आत्मा इक्कीस शत्रुओंमेंसे बीसका और इक्कीसवेंके भी अधिकांश भागका नाश तो नवें गुणस्थानकमें ही कर डालता है और इक्कीसवेंके नहीं-जैसे बचे हुए भागका विनाश दसवेंमें करता है। इसीलिये दसवें गुणस्थानकका नाम 'सूक्ष्मसम्पराय' है।

बारहवें गुणस्थानकमें सच्ची विश्रान्ति

श्रीनवपदकी आराधनाके द्वारा इस स्थितिपर पहुँचनेके लिये जीव-तत्त्व और अजीव-तत्त्व दोनोंका यथास्थित ज्ञान होना चाहिये। पुण्य और पापरूप बनकर आत्माके साथ बँधे रहनेवाले कर्मोंकी निर्जराके लिये उसके आनेमें कारणरूप जो-जो आश्रव हैं, उन्हें रोकनेवाले शुद्ध संवरभावको धारण करके संवरके साधनोंकी सुन्दर-से-सुन्दर साधना भी चालू ही रहनी चाहिये। एकमात्र मोक्षको ध्येय बनाकर, उस मोक्षके लिये ही जीव और अजीव-तत्त्वको जानकर, पुण्य-पापरूप आश्रवसे बचनेके लिये शुद्ध संवररूप भावकी साधनाके साथ-ही-साथ निर्जराके कारणरूप बारह प्रकारके तपोंकी—जिनमें सम्यग्ज्ञानकी भी साधना भलीभाँति होती है,—साधनाके द्वारा सारे कर्मोंको निर्जर करके मोक्षपदकी प्राप्ति की जा सकती है। मिथ्यात्व आदि बन्धके कारणोंसे सावधान रहकर, संवर और निर्जराकी साधना करनेवाला ही, दसवें गुणस्थानकतक पहुँचकर सब कर्मोंमें शिरोमणि माने जानेवाले 'मोहनीय' कर्मका पूर्णतया विनाश कर सकता है। यह आत्मा सीधा ही बारहवें 'क्षीणमोह' नामक गुणस्थानकपर पहुँचकर सच्ची विश्रान्तिका अनुभव करता है। संसारमें इस आत्माको कहीं सच्ची विश्रान्ति मिलती हो, तो वह यहीं मिलती है।

बारहवें गुणस्थानकमें बचे हुए तीनों घाति-कर्मोंका भी क्षय

सम्यग्-दर्शनके प्राप्त होनेसे पूर्वके अज्ञानमात्रको ज्ञानरूप बना चुकनेवाला साधक आत्मा अपने मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको, ज्ञान और ज्ञानीकी सेवाके द्वारा तथा ज्ञानके शुद्ध ध्येयपूर्वक अभ्यासादिके द्वारा 'ज्ञानावरणीय कर्म' का क्षयोपशम करके, निर्मल बना चुकता है। कोई-कोई आत्मा तो 'अवधिज्ञान' या 'मनःपर्यवज्ञान' अथवा उन दोनों ज्ञानोंको भी पा चुका होता है। इस प्रकार दो ज्ञान, तीन ज्ञान या चार ज्ञानसे सम्पन्न 'क्षीणमोही' आत्मा इस गुणस्थानकमें बचे हुए तीनों घातिकर्मोंका भी विनाश कर देता है। पहले मोहनीयरूपी घातिकर्मका क्षय हुए बिना बाकीके तीनों—'ज्ञानावरणीय', 'दर्शनावरणीय' और 'अन्तराय'—घातिकर्मोंका क्षय होता ही नहीं।

अजीव-तत्त्वके एक प्रकाररूप आठ कर्म

आत्माके आत्मस्वरूपको आवृत करनेवाले कर्म आठ हैं—'ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय'। इन आठोंको कर्मकी मूल प्रकृति कहते हैं, क्योंकि इनसे उत्तरमें अनेकों भेद हो जाते हैं। ज्ञानावरणीयकी उत्तर-प्रकृति पाँच हैं, दर्शनावरणीयकी उत्तर-प्रकृति नौ हैं, वेदनीयकी उत्तर-प्रकृति दो हैं, मोहनीयकी उत्तर-प्रकृति अट्ठाईस हैं, आयुष्यकी उत्तर-प्रकृति चार हैं, नामकी उत्तर-प्रकृति ४२, ६७, ९३ और १०३ हैं। गोत्रकी दो हैं और अन्तरायकी पाँच हैं। इन

सारी प्रकृतियोंका जैन शास्त्रोंमें विस्तारसे विवेचन किया गया है। ये आठ कर्म भी अजीव-तत्त्वका ही एक प्रकार है। इस 'प्रकार'का व्यक्तिशः निर्माण करनेवाला आत्मा है और यही रूप इसका आदि भी है, परन्तु इसका अस्तित्व तो अनादिकालसे ही है। जैसे अनन्तानन्त आत्मा अनादि हैं वैसे ही ये आठ कर्म और आत्मा तथा इन कर्मोंका संयोग भी अनादि ही है।

चार घातिकर्मोंका कार्य

इन आठ कर्मोंमें चार घातिकर्म हैं और चार अघाति। चार घातिकर्म आत्माके मुख्य गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्यको आवृत करते हैं। मोहनीय कर्मकी क्षीणताके साथ-साथ दूसरे घातिकर्म भी क्षीण होते हैं। मोहनीयका विनाश हुए विना शेष घातिकर्मोंका विनाश होता ही नहीं। वीतरागताका रोधक मोहनीय है। वीतरागताकी प्राप्तिके लिये मोहनीयका नाश करना चाहिये। मोहनीयके नाशके लिये शुद्ध चारित्रकी साधना आवश्यक है। शुद्ध चारित्रकी साधनाके लिये शुद्ध ज्ञान चाहिये और शुद्ध ज्ञान तभी होता है, जब कि सम्यग्-दर्शननामक गुण प्रकट हो। शुद्ध सम्यग्-दर्शनको रोकनेवाला भी मिथ्यात्वनामक मोहनीय है। मोहनीयके मुख्य भेद दो हैं—'दर्शनमोहनीय' और 'चारित्रमोहनीय'। दर्शनमोहनीयके सात प्रकार हैं और चारित्रमोहनीयके इक्कीस। 'अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय'—इन सातके उपशमसे 'उपशम-सम्यक्त्व' होता है। इन सातके क्षयोपशमसे 'क्षायोपशमिक सम्यग्-दर्शन' होता है और इन सातके क्षयसे 'क्षायिकसम्यक्त्व' होता है। ये तीनों प्रकारके सम्यग्-दर्शन ज्ञानको सम्यक् बनानेवाले हैं। 'क्षयोपशम-सम्यक्त्व' नाशवान् होनेके साथ ही दूषित होनेकी सम्भावना रखता है। 'उपशम-सम्यक्त्व' शुद्ध होनेपर भी नाश होनेवाला है। 'क्षायिकसम्यक्त्व' शुद्ध होनेके साथ ही शाश्वत रहनेवाला है। यह सम्यक्त्व आत्माको शुद्ध ज्ञानसम्पन्न बनानेके साथ ही शुद्ध चारित्रका सेवक बनाकर वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बना देता है।

इक्कीस प्रकृतियोंके विनाशका ध्येय

शुद्ध सम्यग्-दर्शनकी साधनामें लगा हुआ आत्मा मुक्तिरूप साध्यकी सिद्धिके लिये ही जीवादि तत्त्वोंका सुन्दर ज्ञाता बनना चाहता है। जीवादि तत्त्वोंका ज्ञान मुक्तिरूप साध्यको सिद्ध करनेके लिये हो, तभी वह सम्यग्-ज्ञान है। इस सम्यग्-ज्ञानकी साधना भी विरतिरूप फलको उत्पन्न करनेवाली है। इसीलिये सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-ज्ञान 'चारित्रमोहनीय'की इक्कीस प्रकृतियोंके विनाशकी भावनाको सदा जीवित रखते हैं। 'देशविरति'के रोकनेवाले 'अप्रत्याख्यानी क्रोध, अप्रत्याख्यानी मान, अप्रत्याख्यानी माया और अप्रत्याख्यानी लोभ'—ये चार कषाय हैं; 'सर्वविरति'के रोकनेवाले 'प्रत्याख्यानी क्रोध, प्रत्याख्यानी मान, प्रत्याख्यानी माया और प्रत्याख्यानी लोभ'—ये चार कषाय हैं तथा 'यथाख्यात चारित्र'के अथवा 'वीतरागता'के रोकनेवाले 'संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया और संज्वलन मोह'—ये चार कषाय हैं। इस प्रकार कुल बारह कषाय और इन कषायोंको उद्दीपन करनेवाले—'हास्यमोहनीय, रतिमोहनीय, अरतिमोहनीय, भयमोहनीय, शोकमोहनीय और जुगुप्सामोहनीय तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद एवं नपुंसकवेद, ये नौ—जो 'नोकषायमोहनीय'के नामसे विख्यात हैं—मिलकर इक्कीस प्रकृतियाँ होती हैं। इन इक्कीस प्रकृतियोंका विनाश ही सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-ज्ञानके साधकका ध्येय होता है।

पाँच प्रकारके चारित्र

इस ध्येयकी सिद्धिके लिये साधक सम्यक्चारित्रकी साधनामें ऐसा लग जाता है कि जिसके फलस्वरूप सातों दर्शन-मोहनीयके क्षयसे 'क्षायिकसम्यक्त्व' का स्वामी बनकर समभावरूप 'सामायिक-चारित्र'का उपासक बननेके लिये 'सामायिक' नामक चारित्रकी साधनामें प्रतिष्ठित हो जाता है। सामायिक चारित्रकी साधनामें संलग्न वह आत्मा षट्काय आदिका ज्ञाता बनकर 'छेदोपस्थानीय' नामक चारित्रको स्वीकार करता है। तदनन्तर 'परिहारविशुद्धि' नामक चारित्रकी सामग्री मिलनेपर उसकी भी आराधना करता है। परन्तु यह कोई नियम नहीं है कि प्रत्येक मोक्षगामीको इसका आचरण करना ही चाहिये। इसकी आराधनाके विना ही क्षपक-श्रेणी-जैसी साधनाके द्वारा इक्कीसों चारित्रमोहनीयका क्षय किया जा सकता है। इस क्षयको नवें गुणस्थानकमें साधकर शेष बचे हुए सूक्ष्म लोभके क्षयके लिये दसवें गुणस्थानकमें जाय। दसवें गुणस्थानकमें सूक्ष्म लोभका भी क्षय करके बारहवेंमें जाय और 'क्षीणमोह' नामक गुणस्थानकका स्वामी हो जाय। वहाँ बचे हुए तीनों घातिकर्मोंका समूल संहार करनेपर अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बननेपर वह

तेरहवें 'सयोगी केवली' नामक गुणस्थानकका स्वामी माना जाता है। 'क्षीणमोह' नामक गुणस्थानकमें कषायरहित होनेके कारण 'यथाख्यात'नामक पाँचवें चारित्रकी साधना होती है। तेरहवें गुणस्थानकमें भी यही चारित्र होता है। तेरहवें गुणस्थानकमें केवल काययोग और वचनयोगकी ही प्रवृत्ति होती है तथा जरूरत पड़नेपर परमर्षिलोग द्रव्यमनका भी उपयोग करते हैं। इसके बाद योगनिरोधरूप 'अयोगी केवली'नामक चौदहवें गुणस्थानकमें शेष रहे हुए चार अघातिकर्मोंका भी सम्पूर्णतया क्षय करके वह मुक्तिपदका भोक्ता बन जाता है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त सुखके स्वामी बनकर ऐसे आत्मा शाश्वतकाल एक ही-सरीखी स्थितिमें रहते हैं और यही साधनाका सच्चा साध्य है।

देशविरतिरूप गृहस्थ साधक पाँचवें गुणस्थानकमें—

इस साध्यकी सिद्धिके लिये ही यह साधना आवश्यक है और सच्चे स्वरूपकी साधना भी यही है। जो आत्मा 'सर्वविरति' रूप चारित्रकी साधनामें समर्थ न हों, वे भी सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और देशविरतिरूप चारित्रके द्वारा साधना कर सकते हैं। स्थूल अहिंसा, स्थूल सत्य, स्थूल अचौर्य, स्थूल ब्रह्मचर्य यानी परदारा-परित्याग और स्वदारा-संतोष और स्थूल अपरिग्रहका पालन—ये पाँच अणुव्रत हैं; दिशाओंके परिभ्रमणका, भोग्य और उपभोग्य वस्तुओंके परिमाणका और बिना प्रयोजनके पापोंका विरमण करना—ये तीन गुणव्रत हैं और सामायिक, देशावकाशिक, पौषध और अतिथिसंविभाग-ये चार शिक्षाव्रत हैं। इस प्रकार कुल बारह अथवा इनसे कम व्रतोंका पालन देशविरतिरूप चारित्र कहलाता है। जो इन व्रतोंका पालन करता हुआ श्रीनवपदकी आराधनामें संलग्न रहता है, वह भी गृहस्थ साधक है। ऐसा साधक पाँचवें 'देशविरति' नामक गुणस्थानकका स्वामी माना जाता है। षडावश्यक आदि अनुष्ठानोंकी साधना तो इस साधकको भी करनी ही चाहिये।

अविरत सम्यग्दृष्टिकी साधना

जो देशविरतिरूप चारित्रकी साधनामें भी समर्थ न हों, वे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी साधनाके द्वारा आगे बढ़ते हुए, परिणाममें 'देशविरति' और 'सर्वविरति' आदि अवस्थाओंको प्राप्त कर सकते हैं। सम्यग्दर्शनकी आराधना सड़सठ प्रकारसे होती है। उसमें सम्यग्ज्ञानकी साधना भी आ जाती है और सम्यक्चारित्रका भी अभ्यास होता है।

क्षपणाके विना सिद्धि नहीं

'सास्वादन' नामक दूसरा और 'सम्यग् मिथ्यात्व' नामक तीसरा गुणस्थानक पतनको प्राप्त आत्माओंके लिये है। ग्यारहवाँ गुणस्थानक उस आत्माके लिये है, जो 'चारित्र-मोहनीय' की क्षपणा न करके उपशमना करता है। जब सुन्दर साधनाके द्वारा मोहनीयकी क्षपणा होगी तभी वीतरागताके, केवल ज्ञानके और केवल दर्शनके प्राप्त होनेपर योगके निरोधद्वारा सब कर्मोंका क्षय होगा; और तभी मनुष्य-जीवनके साध्य मोक्षकी सिद्धि होगी। इसके विना किसी भी आत्माके लिये, किसी भी रीतिसे, मोक्षरूप साध्यकी सिद्धि सम्भव नहीं है।

उपसंहार और अभिलाषा

श्रीजिनेश्वर देवोंके द्वारा उपदिष्ट अर्थात् उनके शासन द्वारा उपदिष्ट साधनाके सन्मार्गकी यह तो एक अत्यन्त संक्षिप्त और सूचनमात्रकी रूप-रेखा है। साधनाके समस्त अङ्गोंका श्रीजैनशासनमें साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिल सकता है। साधकका स्वरूप, साध्यका परम शुद्ध निश्चय, संसार और मोक्ष, जीव और अजीव, ज्ञान और अज्ञान, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व, बन्ध और निर्जरा, आश्रव और संवर, शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्म आदि सभी स्वरूपों और तत्त्वोंका सुन्दर-से-सुन्दर साङ्गोपाङ्ग और निर्भ्रान्त वर्णन श्रीजैनशासनमें है। श्रीजैनदर्शनको स्वीकार किये बिना एकान्तवादकी उपासनासे छुटकारा नहीं मिल सकता और एकान्तवाद तत्त्वकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक है। अतएव 'सच्ची साधनाके अभिलाषी सभी लोग इस रूप-रेखाको पढ़कर श्रीजैनशासनकी अनुपम साधनाके सन्मार्गके अभ्यासकी ओर आकर्षित हों और परिणाममें कल्याण-कामियोंकी कल्याण-कामनासे ही उत्पन्न इस सच्चे शासनके साधक बनकर साध्यरूप सिद्धिपदके भोक्ता बनें।' इसी एक अभिलाषाके साथ लेखकी समाप्ति की जाती है।

रासमें कामविजय

मानों माई घन घन अंतर दामिनि ।

घन दामिनि दामिनि घन अंतर सोभित हरि ब्रजभामिनि ।।

जमुना पुलिन मल्लिका मनोहर सरद सुहाई जामिनि ।

सुंदर ससि गुन रूप राग निधि अंग अंग अभिरामिनि ।।

रच्यो रास मिलि रसिकराइ सों मुदित भई ब्रजभामिनि ।

रूपनिधान स्यामसुंदर घन आनँद मन बिश्रामिनि ।।

खंजन मीन मराल हरन छबि भावभेद गजगामिनि ।

को गति गुनही सूर स्याम सँग काम बिमोह्यो कामिनि ।।

——सूरदासजी

जैनसम्प्रदायके साधन

(लेखक—श्रीनरेन्द्रनाथजी जैन)

जैनसम्प्रदायके तत्त्वोंका सूक्ष्म विवेचन करनेपर यह ज्ञात होगा कि जैन तत्त्वज्ञान व्यापक होनेके साथ ही निसर्ग-सिद्ध तत्त्व है। निसर्ग जैसे अनादि-अनन्त होता है, वैसे ही जैन तत्त्वज्ञान भी अनादि-अनन्त है। श्रीमहावीर आदि तीर्थङ्कर पुरुष उस तत्त्वके संस्थापक हैं, न कि निर्मापक। जैनतत्त्व कहता है—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।

अर्थात् श्रीमहावीरस्वामीसे मेरा पक्षपात नहीं और कपिलादि अन्य ऋषियोंसे द्वेष भी नहीं।

श्रीमहावीरस्वामीने ऐसा कहा है, इसीलिये वह सत्य है—ऐसा दुरभिमान जैनतत्त्वको नहीं है। लेकिन जो सत्य और निसर्ग था, उसीका कथन श्रीमहावीरस्वामीने किया है; इसलिये वह सत्य है।

इस लेखमें मुख्यतया जैनसम्प्रदायके साध्य, साधक और साधन—इन तीन बातोंपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जाता है।

जैनसम्प्रदायका साध्य

सब सम्प्रदायोंने अन्तिम साध्य तो मोक्ष ही बतलाया है, लेकिन उस मोक्षके स्वरूपके विषयमें बड़ा मतभेद है।

जैनतत्त्वने जीवकी मुख्यतासे दो अवस्थाएँ मानी हैं—(१) संसारी अवस्था और (२) मुक्त-अवस्था। यह जीव अनादि कालसे कर्मके सम्बन्धसे इस संसारमें भ्रमण करता है। जब वह ध्यानबलसे आठों कर्मोंका नाश कर देता है, तब उसे उसका अन्तिम साध्य प्राप्त होता है।

उस अवस्थामें जीवके ज्ञानादि अनन्त गुणोंकी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त होती है। उसी अवस्थामें वह फिर सदाके लिये विद्यमान रहता है, उससे फिर संसारी अवस्थामें कभी वापस नहीं आता। ऐसी आत्यन्तिक अवस्थाको 'मोक्ष' कहते हैं और वही जैनतत्त्वका सर्वोत्कृष्ट अन्तिम साध्य है।

मुक्त जीवका लक्षण इस प्रकार कहा है—

अट्ठविहकम्मवियला[1] सीदीभूदा[2] णिरंजणा[3] णिच्चा[4] ।
अट्ठगुणा[5] किदकिच्चा[6] लोयग्गणिवासिणो[7] सिद्धा ॥

(गो० जी० ६८)

इन सात विशेषणोंकी सिद्धि मार्मिकतासे की गयी है—

(१) सदाशिवमतवाले कहते हैं कि जीव सदा कर्मसे रहित, शुद्ध ही होता है; जीवकी अशुद्धावस्था ही नहीं है। जीव सदैव मुक्त ही है। इस मतका निराकरण करनेके लिये पहला विशेषण 'अष्टविधकर्मविकलाः' दिया है। जीव आठों कर्मोंसे रहित होकर ही शुद्ध-मुक्त होता है।

(२) सांख्यमतवाले मानते हैं कि बन्ध-मोक्ष, सुख-दुःख—ये सब प्रकृतिको होते हैं, आत्माको नहीं। उसका निराकरण करनेके लिये 'शीतीभूताः'—सुखस्वरूप कहा।

(३) मस्करीमतवाले कहते हैं कि मुक्त जीव वापस संसारमें आता है। उसका निराकरण करनेके लिये 'निरञ्जनाः' यह विशेषण दिया है। अर्थात् मुक्त जीव भावकर्मोंसे रहित होनेसे, उसको वापस लौटनेमें कुछ निमित्त ही नहीं रहता।

(४) बौद्ध कहते हैं कि सब पदार्थ क्षणिक हैं। उक्त सिद्धान्तका निराकरण करनेके लिये 'नित्याः' यह विशेषण दिया है।

(५) नैयायिक तथा वैशेषिक मतवाले मानते हैं कि मुक्तिमें बुद्ध्यादि गुणोंका भी विनाश हो जाता है। दीप-निर्वाणकी तरह सबका अभाव हो जाता है। इस मतका निराकरण करनेके लिये 'अष्टगुणाः' यह विशेषण दिया है। आठ कर्मोंके अभावसे ज्ञानादि आठ गुणोंकी आविर्भूति होती है।

(६) ईश्वरवादी परमात्माको जगत्‌का कर्ता मानते हैं, उनके मतके निराकरणार्थ 'कृतकृत्य' यह विशेषण दिया है।

(७) मण्डलीमतवाले जीवको सदाके लिये ऊर्ध्व-गमनवाला मानते हैं, उसके निराकरणार्थ 'लोकाग्रस्थिताः' यह विशेषण दिया है।

लोकाकाशके अग्रभागपर सिद्धशिला विद्यमान है। वहाँ-पर मुक्त जीव सदैव विराजमान रहते हैं।

श्रीकृष्ण, राम, विष्णु आदि इतिहासप्रसिद्ध सत्पुरुषोंको जैनमतमें पुण्यपुरुष तो जरूर माना है, लेकिन उनकी सांसारिक अवस्थाको ही आदर्श न समझकर वीतराग-अवस्था-को साध्य माना है। सच्चा आदर्श, पूज्य या देव वही हो सकता है कि जो 'वीतराग', 'सर्वज्ञ' और 'हितोपदेशी' है।

बिना रागादिके अभावसे ज्ञानमें पूर्णता तथा सत्यता नहीं आती और जो स्वयं पूर्णताको नहीं पहुँच पाया, वह सच्चे मार्गका उपदेशक भी कैसे हो सकता है। इसलिये जैनमतने अपना आराध्यदेव वीतराग, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी परमात्माको ही कहा है।

साधक

जैनधर्मने पहले पूर्णत्यागका ही उपदेश दिया है और उसके बाद उस पूर्ण त्यागकी शक्ति न हो तो आंशिक त्यागरूप गृहस्थ-धर्मका उपदेश दिया है।

साधक या उपासकके तीन प्रकार माने गये हैं—

(१) पाक्षिक, (२) नैष्ठिक और (३) साधक।

(१) त्याग या व्रतके ग्रहण करनेका जिसका सङ्कल्प है और 'वह धन्य दिन कब आवेगा, जब कि मैं व्रती बनूँगा' ऐसी जिसको लगन लगी है, वह भव्य जीव 'पाक्षिक' कहलाता है।

(२) जो व्रतोंका पालन करता है, वह 'नैष्ठिक' है। और—

(३) जो आत्मध्यानमें निमग्न रहता है, उसको 'साधक' कहते हैं। गृहस्थको अपना जीवन इस तरह बिताना चाहिये कि जिससे धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्गमें परस्पर विरोध न आवे। जिससे धर्ममें दूषण लगे, ऐसा अन्यायपुक्त अर्थोपार्जन और पशुतुल्य कामसेवन नहीं करना चाहिये। सदैव पूर्ण त्यागकी ओर अपना दृष्टिबिन्दु रखनेवाला ही सच्चा गृहस्थ कहलाता है।

गृहस्थसे उत्कृष्ट पूर्ण त्यागरूप यतिधर्म बतलाया है। पञ्च पापोंका पूर्णरूपसे त्याग करनेवाला, आरम्भ और परिग्रहका त्याग करनेवाला, शरीर और भोगसे विरक्त—इस प्रकार आत्महित साधनेवाला 'यति' कहलाता है। गृहस्थ और यति दोनोंका साध्य मोक्ष ही होनेसे वे 'मुमुक्षु' कहलाते हैं।

केवल बाह्य आचारको धर्म नहीं कहते। लेकिन भावपूर्वक आचरणको ही धर्म कहते हैं। उसीसे इष्टसिद्धि हो सकती है। केवल लोगोंसे मान-प्रतिष्ठादिकी चाह रखनेवाला भावरहित बाह्यवेषी साधु भी मुमुक्षु नहीं है। इसलिये भावपूर्वक पञ्चपापत्यागरूप धर्मका पालन करनेवाला 'सच्चा साधक' कहलाता है।

साधन

उपरिनिर्दिष्ट उच्चतम साध्यका साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीनोंकी पूर्णता बतलायी गयी है। आत्मस्वरूपके प्रति समीचीन श्रद्धा, आत्मस्वरूपका समीचीन ज्ञान और आत्मस्वरूपमें आत्माका लय होनेसे ही आत्माको निजतत्त्वकी प्राप्ति होती है। निजको निज और परको पर समझना—इसीको सम्यग्दर्शन कहते हैं। दृष्टिमें अर्थात् श्रद्धानमें समीचीनता आनेसे ही ज्ञानमें समीचीनता आती है और जिसे आत्मज्ञानकी झलक मिल गयी, उसकी आत्मप्रवृत्ति पर-पदार्थसे हटकर स्वयं आत्मस्वरूपमें प्रवृत्त होती है। जिसने अपना ध्येयबिन्दु देख लिया, वह उसको आज नहीं तो कल—कभी-न-कभी अवश्य प्राप्त करेगा। आत्मज्ञानीकी मुक्ति अवश्यम्भावी होनेसे उसीको जीवन्मुक्त कहते हैं।

आत्मज्ञानविरहित कितना ही तप, त्याग और धर्म किया जाय, वह सब निरर्थक है। समीचीन श्रद्धाके आठ अङ्ग हैं—

(१) 'तत्त्वम् इदम् एव ईदृशम् एव, अन्यत् न च अन्यथा न' इस प्रकारकी अचल श्रद्धाको 'निःशङ्कित' अङ्ग कहते हैं।

(२) जिसने आत्माको आत्मा और परको पर समझ लिया, उसे आत्मरसमें ही सच्चा आनन्द मिलता है, भोग भोगनेकी इच्छा नहीं होती। मोक्षमार्गपर आरूढ़ हुए कुछ आत्मज्ञानी मुमुक्षुओंकी विषय-भोगकी ओर जो प्रवृत्ति दिखायी देती है, वह केवल 'चारित्र-मोह' के तीव्र उदयवश है। भोगके पश्चात् उन्हें तीव्र पश्चात्ताप होता है और वे अपने आत्माकी निन्दा करते हैं। इस प्रकार भोग भोगनेकी अभिलाषा न रखना—इसको 'निःकाङ्क्षित' अङ्ग कहते हैं।

(३) तत्त्वज्ञानी पुरुष कभी किसीसे ग्लानि नहीं करेगा। वह गुणानुरागी होनेसे गुणी पुरुषकी सेवा-शुश्रूषा करेगा, रोग आदिसे पीड़ित उसके शरीरसे कभी घृणा नहीं करेगा। यह 'उसका निर्विचिकित्सा' अङ्ग है।

(४) अज्ञानी या असमर्थ लोगोंके आचरणके द्वारा यदि कहींपर धर्मकी निन्दा होती हो तो उसका प्रमार्जन करना—यह 'उपगूहन' अङ्ग है।

(५) धर्मसे च्युत पुरुषको उपदेशादिद्वारा पुनः धर्ममें स्थिर करना—यह 'स्थितीकरण' अङ्ग है।

(६) दूसरे लोग ऐसा करते हैं, इसलिये स्वयं भी करना—यह गतानुगतिक वृत्ति न रखकर मिथ्यामार्ग और मिथ्यामार्गपर चलनेवाले पुरुषोंको मनसे सम्मति न देना,

वाणीसे उनकी स्तुति न करना और शरीरसे उनका आदर-सत्कार न करना तथा उनसे सम्पर्क (सहवास) न रखना—इसको 'अमूढदृष्टि' अङ्ग कहते हैं ।

(७) प्राणिमात्रके प्रति प्रेमभाव रखना, किसीको दुःख न पहुँचाना—यह 'वात्सल्य' अङ्ग है ।

(८) उपदेशादिद्वारा धर्मको प्रकाशमें लाना—प्रसार करना, यह 'प्रभावना' अङ्ग है ।

सम्यग्दर्शनके ये आठ अङ्ग माने गये हैं । सम्यग्दृष्टिमें ये आठों अङ्ग (गुण) अवश्य रहते हैं । समीचीन श्रद्धासे ज्ञानमें समीचीनता तो आती है, परन्तु ज्ञानकी पूर्णता कषाय-मोहके अभाव होनेपर होती है ।

इसी तरह मोह और योगका अभाव होनेपर चारित्रकी पूर्णता होकर परमोच्च अन्तिम साध्य मोक्ष प्राप्त होता है ।

कर्मपुद्गलकी उत्पत्ति तथा निरोधका हेतुनिर्देश

जैनतत्त्वने पुद्गल-द्रव्यके २२ प्रकार (वर्गणाएँ) माने हैं । उनमेंसे कोई (आहार-वर्गणा) शरीरादिरूपमें परिणत होते हैं, कोई (भाषा-वर्गणा) शब्दरूपमें परिणत होते हैं, कोई (मनोवर्गणा) अष्टदल कमलाकार मनरूप बनते हैं और कोई (कार्माण-वर्गणा) कर्मपुद्गलरूप बनते हैं । ये सब वर्गणाएँ लोकाकाशमें भरी हुई हैं ।

कर्मपुद्गल अचेतन होनेसे स्वयं आत्माके पास नहीं जाते, लेकिन अनादिकालीन अशुद्धरूप आत्माके 'योग'रूप परिणाममें ऐसी आकर्षक शक्ति है कि जिसके द्वारा वे कर्म-पुद्गल खींचे जाते हैं । कर्मपुद्गल नये नहीं बनते; क्योंकि असत्‌की उत्पत्ति तथा सत्‌का नाश कभी नहीं होता, किन्तु उनका अवस्थान्तर होता है । कार्माण-वर्गणाके ही आत्माके द्वारा खींचे जानेपर उसको 'कर्म' यह संज्ञा प्राप्त होती है । और उसकी स्थितिके अनुसार वह आत्माके पास रहकर जब उस कर्मकी स्थिति पूर्ण हो जाती है, तब वह फल देकर आत्मासे निकल जाता है और कार्माण-वर्गणारूप अपनी पूर्व अवस्थामें आ जाता है । कार्माण-वर्गणा सामान्य है, उसमें ज्ञानावरणादि प्रकार नहीं हैं; लेकिन जब वह कर्मरूप बनती है, तब उसमें ज्ञानावरणादि प्रकार होते हैं । आत्माके अलग-अलग गुणोंपर आवरण डालनेसे उनको अलग-अलग नामसे बोधित किया गया है ।

(१) जो ज्ञान-गुणपर आवरण डालता है, उसे 'ज्ञानावरण' कहते हैं ।

(२) जो दर्शन-गुणपर आवरण डालता है, उसे 'दर्शनावरण' कहते हैं ।

(३) जिससे आत्माको सुख-दुःख होता है, उसे 'वेदनीय' कहते हैं ।

(४) जो आत्माके सुख-गुणपर आवरण डालकर आत्माको मोहित करता है, जिससे आत्मा आत्माको भूलकर परको आत्मा समझने लगता है, उसे 'मोहनीय' कर्म कहते हैं ।

(५) जिससे यह आत्मा चतुर्गतिमें भ्रमण करता है, वह 'आयु-कर्म' है ।

(६) जिससे जीवको अपनी-अपनी गतिके अनुसार शरीर-इन्द्रिय-आकृति प्राप्त हो, उसे 'नामकर्म' कहते हैं ।

(७) जिससे जीव उच्च आचरणवाले अथवा नीच आचरण-वाले कुलमें उत्पन्न हो, उसे 'गोत्रकर्म' कहते हैं ।

(८) जिससे जीवको इष्ट वस्तुका लाभ आदि न हो, उसे 'अन्तराय' कहते हैं ।

इस प्रकार कर्मपुद्गलके निमित्तसे आत्मा इस संसारमें दुःखी होकर भटकता है । कर्म आत्माको भ्रमाता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि कर्म तो बेचारे अचेतन हैं, उनमें आत्माको भ्रमानेकी बुद्धि कैसे उत्पन्न हो सकती है । वास्तवमें आत्मा ही कर्मके बन्धनमें तथा मुक्तिमें कारण है । आत्मपरिणाममें ही कर्म खींचे जाते हैं और आत्म-परिणाममें ही उनका नाश होता है । कर्मके उदयमें मेरा हानि-लाभ हुआ, इस तरहकी कल्पना मनुष्य करता है; लेकिन वास्तवमें देखा जाय तो कर्म अपना कुछ भी नहीं करते । प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है । जिसकी परिणति जैसी होनेवाली है, वैसी ही होती है; उसमें परवस्तु केवल निमित्त बन जाती है ।

इसलिये आत्मा ही कर्म-पुद्गलको खींचनेमें निमित्त है एवं उसका निरोध भी आत्मा ही कर सकता है ।

सिद्धशिला

सिद्ध होनेका क्षेत्र कर्मभूमि ही होनेसे जम्बूद्वीप-लवणोदसमुद्र, धातकीखण्ड-कालोदसमुद्र और पुष्करार्ध द्वीप—इन ढाई द्वीपोंमेंसे ही जीव सिद्ध होते हैं ।

सिद्धशिलाका क्षेत्र पैंतालीस लाख योजन है । मुक्त जीवोंका अमूर्त आकार होनेसे एक ही स्थानसे सिद्ध होने-

वाले जीव परस्परमें एकक्षेत्रावगाहरूप होकर रहते हैं। सिद्ध जीव जिस आकाश-प्रदेशसे उनकी मुक्ति होती है, उसी प्रदेश-पङ्क्तिसे सीधे ऊर्ध्वगमन कर लोकाकाशके अग्रभागमें स्थित सिद्धशिलापर विराजमान होते हैं।

× × × ×

षड्द्रव्य

जैनतत्त्वने लोक-अलोकमें जितनी वस्तुएँ या पदार्थ मौजूद हैं, उन सबका समावेश ६ द्रव्योंमें किया है—(१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश और (६) काल। इनमें (१) जीवद्रव्य सब द्रव्योंका ज्ञाता होनेसे प्रधान माना गया है। उसका स्वभाव ज्ञान-दर्शन-उपयोगरूप है। (२) जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण—ये चार गुण पाये जाते हैं, वह 'पुद्गल' है। (३) जो गतिमान् जीव और पुद्गलकी गमन करनेमें सहायता करता है, वह धर्म-द्रव्य है। (४) जो स्थितिमान् जीव और पुद्गलके स्थिर रहनेमें सहकारी होता है, वह अधर्म-द्रव्य है। (५) जो समस्त द्रव्योंको ठहरनेकी जगह देता है, वह आकाश-द्रव्य है। (६) जो सब द्रव्योंके परिणमनमें निमित्त बनता है, वह काल-द्रव्य है।

इनमें धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीनों द्रव्य एक-एक अखण्ड द्रव्य हैं। धर्म-अधर्म तो सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त हैं और आकाश-द्रव्य सम्पूर्ण लोक-अलोकमें व्याप्त है। आकाश-द्रव्य अनन्त और व्यापक है। उसमेंके जितने भागमें छहों द्रव्य रहते हैं, उसको लोकाकाश कहते हैं। उसके बाहर अनन्त आकाररूप अलोक है। लोकाकाशके बाहर धर्म-अधर्मादि द्रव्य न होनेसे वहाँ जीव और पुद्गल-द्रव्य नहीं जा सकते।

कर्मसे छूटा हुआ मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करके लोकाकाशके अन्ततक ही जा सकता है। ऊपर धर्म-द्रव्य न होनेसे अलोकमें नहीं जाता।

गुणस्थान

मोह और योगके निमित्तसे आत्माके सम्यक्त्व और चारित्र गुणोंकी जो अवस्थाएँ हैं, उनको गुणस्थान कहते हैं। उनके मुख्यतासे १४ प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) सासादन, (३) मिश्र, (४) अविरत-सम्यक्त्व, (५) देशविरत, (६) प्रमत्त-विरत, (७) अप्रमत्त विरत, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०) सूक्ष्म साम्पराय, (११) उपशान्त मोह, (१२) क्षीण मोह, (१३) सयोग-केवल और (१४) अयोग-केवल।

(१) आत्मस्वरूपकी पहचान न होनेसे पर-पदार्थको अपना समझकर उसपर मोह-ममत्व करना तथा पञ्चेन्द्रिय-विषयोंको भोगनेकी अभिलाश करना—इस अवस्थाको 'मिथ्यात्व' कहते हैं। यह मिथ्यात्व ही जीवको संसारमें भ्रमण करानेमें प्रमुख कारण माना गया है। इस मिथ्यात्वके उदयसे जीवको उपदेश करनेपर भी सत्य तत्त्वपर श्रद्धा नहीं होती और बिना उपदेशके ही अधर्ममार्गकी ओर स्वयं प्रवृत्ति होती है। मिथ्यादृष्टिके तीन प्रकार पाये जाते हैं—(क) कोई तो अनादिकालसे मोह-जंजालमें फँसे हुए अज्ञानान्धकारके कारण आत्मज्ञानरूप प्रकाशसे वञ्चित हैं। (ख) कोई दूसरेके उपदेशसे मिथ्यामार्गपर आरूढ़ होकर भूतबाधावाले पुरुषकी तरह यथेच्छ चेष्टा करते हैं। और (ग) कोई यह सच है कि वह सच है, इस संशय-पाशमें पड़े हुए हैं। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव आत्मज्ञानसे विमुख होकर निरन्तर पञ्चेन्द्रियोंके विषय भोगनेमें रत रहते हैं।

इस गुणस्थानके बाद एकदम चौथा गुणस्थान प्राप्त होता है। दूसरा और तीसरा गुणस्थान चौथेसे उतरते समय आते हैं।

(२) सासादन (स+आसादन)—इस नामसे ही यह प्रतीत होता है कि सम्यक्त्वसे आसादना—विराधना—च्युति होनेपर जबतक जीव मिथ्यात्व अवस्थाको नहीं पहुँच पाता, ऐसे बीचके परिणामको सासादन गुणस्थान कहते हैं।

(३) जिसमें मिथ्यात्व और सम्यक्त्वकी मिश्र अवस्था पायी जाती है अर्थात् जिसे मिथ्या भी नहीं कह सकते और सम्यक् भी नहीं कह सकते, ऐसे दही और गुड़के मिश्रणके स्वादकी तरह जो जात्यन्तररूप अवस्था प्राप्त होती है, उस परिणामको 'मिश्र' गुणस्थान कहते हैं।

(४) अविरत-सम्यक्त्व—इसमें आत्मस्वरूपकी पहचान होनेसे जीव परद्रव्यमें मोह-ममत्व नहीं रखता, विषयभोग इच्छावश नहीं भोगता; लेकिन उसकी जो उस ओर प्रवृत्ति दिखायी देती है, वह केवल चारित्र-मोहके तीव्र उदयवश होती है। कर्मोदयवश उसे विषयोंको भोगना पड़ता है, न कि उन्हें वह भोगता है।

इसे सत् तत्त्वका स्वरूप तो वह जरूर समझता है, लेकिन चारित्र-मोहके उदयवश वह कुछ भी त्याग-ग्रहण

नहीं कर सकता; इसलिये इसको अविरत-सम्यक्त्व कहते हैं। यही जैनियोंका 'कर्मयोगी' है।

(५) जहाँ जीव स्थूल पञ्चपापोंका त्याग तो कर देता है लेकिन सूक्ष्म पापोंको उपजीविका-साधन आदिके कारण नहीं छोड़ सकता, ऐसे आंशिक त्यागको 'देशविरत' कहते हैं। यहाँ पापोंका स्थूलतः त्याग और सूक्ष्मतः त्याग है, इस दृष्टिसे इसको 'विरताविरत' भी कहते हैं। त्यागीका वेष धारण करनेसे ही कोई त्यागी नहीं बनता, समीचीन श्रद्धापूर्वक पापोंको हेय समझकर त्याग करनेवाला व्रती कहलाता है। इसी तरह व्रत पालनेमें माया-कपटाचार, मिथ्यापन-असदाचार और निदान (व्रतोंसे भोग भोगनेको मिलें—ऐसी आकाङ्क्षा)—ये तीन शल्य नहीं होने चाहिये। राजालोग या क्षत्रियलोग भी व्रतोंका पालन कर सकते हैं। अहिंसाणुव्रती भी युद्ध इत्यादिमें विरोधी-हिंसा कर सकता है। कहा है—

> यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्या-
> द्यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
> अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति
> न दीनकानीनशुभाशयेषु॥

(६) प्रमत्त-विरत—इसमें पञ्चपापोंका पूर्ण त्याग होता है। बाह्य—घर, कपड़े आदि परिग्रहोंका और अन्तरङ्ग—कषाय, राग-द्वेषादिकोंका त्याग कर नैसर्गिक—जन्मजात दिगम्बरत्वको धारणकर, शरीरको तपका साधन जानकर उसके रक्षणार्थ भिक्षावृत्तिसे अयाचकवृत्तिसे प्रासुक (निर्जन्तु) शुद्ध भोजन लेनेवाला, उपजीविकाके साधनभूत असि, मसि, कृषि आदि सब आरम्भ-क्रियाओंका त्याग करनेवाला, शास्त्र-स्वाध्याय, धर्मोपदेश और आत्मध्यानमें सदैव तत्पर रहनेवाला वनवासी साधु, मुनि अथवा तपस्वी प्रमत्त-विरत गुणस्थानवर्ती कहा जाता है। इसमें संयम तो होता है, लेकिन प्रमाद रहता है; आत्मस्वरूपमें जितनी सावधानता होनी चाहिये उतनी नहीं होती। आहार लेना, गमनागमन करना, निद्रा लेना आदि प्रमाद (आत्मस्वरूपमें असावधानी) रहते हैं; इसलिये इसको प्रमत्त-विरत गुणस्थान कहते हैं।

(७) जिसमें प्रमाद नहीं रहता, आत्मस्वरूपमें परिपूर्ण सावधानता रहती है, उसको 'अप्रमत्त-विरत' गुणस्थान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) स्वस्थान अप्रमत्त और (२) सातिशय अप्रमत्त। स्वस्थान अप्रमत्तवाला जीव छठेसे सातवेंमें और सातवेंसे छठेमें—इस प्रकार बार-बार चढ़ता-उतरता रहता है। लेकिन जब सातिशय अप्रमत्तवर्ती होता है, तब वहाँसे ध्यानस्थ होकर नियमसे वह ऊपर ही चढ़ता है। वहाँसे ऊपर चढ़नेके दो प्रकार हैं—(१) उपशम-श्रेणी और (२) क्षपक-श्रेणी। उपशम-श्रेणीसे चढ़नेवाला जीव चारित्र-मोह कर्मका उपशम (कर्मका अनुदय होकर आत्माके पास कुछ कालतक दबकर रहना—इसको उपशम कहते हैं) करते-करते ८, ९ तथा १० गुणस्थानोंमें जाकर नियमसे ११ वें गुणस्थानमें ही जाता है, उसके ऊपर नहीं जा सकता; उसका रास्ता वहींपर बन्द हो जाता है। उसको वहाँसे नियमसे फिर वापस लौटना ही पड़ता है।

और जो दूसरी क्षपक-श्रेणीसे चढ़ता है, वह चारित्र-मोहका क्षय (नाश) करते-करते ८, ९ तथा १० गुणस्थानोंमें चढ़कर नियमसे एकदम १२ वें गुणस्थानमें जाता है, वहाँसे फिर कभी वापिस नहीं लौटता। वह नियमसे १३ वें और १४ वें गुणस्थानमें आरूढ़ होकर मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

श्रेणी चढ़ते समय परिणामोंकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—(१) अधःप्रवृत्तकरण, (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्तिकरण।

सातवें सातिशय-अप्रमत्त गुणस्थानमें अधःप्रवृत्तकरण परिणाम होते हैं। वहाँ परिणामोंकी विशुद्धि न्यूनाधिक होनेसे पीछेसे चढ़नेवाले जीवोंके परिणाम आगेके जीवोंके परिणामोंके सदृश हो सकते हैं। भिन्नसमयवर्ती जीवोंमें सदृशता पायी जाती है।

(८) आठवें अपूर्वकरणमें अपूर्वकरणरूप परिणाम होते हैं। अर्थात् परिणामोंकी विशुद्धि अपूर्व-अपूर्व ही होती जाती है। भिन्नसमयवर्ती जीवोंमें विसदृशता ही रहती है। लेकिन एक-समयवर्ती जीवोंमें सदृशता तथा विसदृशता भी पायी जाती है।

(९) अनिवृत्तिकरणमें परिणामोंकी विशुद्धि समान रूपसे बढ़ती जाती है। जहाँ भिन्नसमयवर्ती जीवोंमें विसदृशता ही और एकसमयवर्ती जीवोंमें सदृशता ही पायी जाती है, उसको अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं।

(११) उपशान्तमोहमें सम्पूर्ण कषाय—चारित्रमोह कर्मका उपशम हो जानेसे आत्मपरिणामोंकी विशुद्धि तो पूर्णतया (यथाख्यात चारित्ररूप) होती है, लेकिन वह कुछ कालतक ही रहती है। उपशमका काल पूर्ण होनेपर कर्मका नियमसे उदय होता है और उससे परिणामोंमें फिरसे अशुद्धि होकर वह नियमसे नीचेके गुणस्थानमें आता है।

यवनादि कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं। पर्वतोंका जो अन्तभाग समुद्रमें जाता है, उसको अन्तर्द्वीप कहते हैं। उसपर रहनेवाले अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं। वे अश्वमुख, कपिमुख आदि भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं।

(३) तिर्यञ्चगति—इनके ५ प्रकार हैं।

(१) पृथ्वी, वनस्पति, अग्नि, वायु, जल—ये एकेन्द्रिय हैं। (२) आळी, शङ्ख आदि द्वीन्द्रिय हैं। (३) चींटी, खटमल आदि त्रीन्द्रिय हैं। (४) मक्खी, भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय हैं। और (५) गाय, भैंस आदि पञ्चेन्द्रिय हैं। एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रियतक सभी जीव असंज्ञी (मनरहित) होते हैं और पञ्चेन्द्रियोंमें कोई संज्ञी और कोई असंज्ञी होते हैं।

(४) नरकगति—पृथ्वीके नीचे सात नरक हैं। उनमें रहनेवालोंको सदैव दुःख ही होता है।

× × ×

२—इन्द्रिय-मार्गणा—इन्द्रियाँ पाँच हैं—(१) स्पर्शनेन्द्रिय, (२) रसनेन्द्रिय, (३) घ्राणेन्द्रिय, (४) चक्षुरिन्द्रिय और (५) कर्णेन्द्रिय। इनके विषय भी अलग-अलग हैं। संज्ञी जीवोंकी अपेक्षा असंज्ञी जीवोंकी इन्द्रियोंका विषय-क्षेत्र बड़ा रहता है। उनकी इन्द्रियाँ अधिक तीक्ष्ण होती हैं। संज्ञी जीवोंके कर्णेन्द्रियका क्षेत्र १२ योजन (४८ कोस) का है; स्पर्शन, रसन, घ्राणका ९ योजन है और चक्षुका ४७२६३ $\frac{७}{२०}$ योजन है। चक्रवर्ती राजा भरत, जब सूर्यविमान उदयाचलपर आता है तब, उसमें स्थित जिन-बिम्बका दर्शन करते थे। इसीसे सूर्यनमस्कारकी प्रथाका पता चलता है।

३—काय-मार्गणा—काय ६ प्रकारकी है—(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय, (३) तेजःकाय, (४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय और (६) त्रसकाय। पृथ्वीसे लेकर वनस्पतिकायतक सबकी उत्पत्ति अपने योग्य स्पर्श-रसादि गुणोंसे होती है। उनमें मांस, चर्म आदि धातु-उपधातु नहीं रहते; इसलिये उपजीविकावश इनको भक्षण करनेवाला शाकाहारी कहलाता है। ये पाँचों काय प्राणिमात्रके जीवन हैं। इनको भक्षण किये बिना प्राणी जीवित नहीं रह सकता।

द्वीन्द्रियसे पञ्चेन्द्रियपर्यन्त जीवोंके शरीरको त्रसकाय कहते हैं। इनके शरीरमें मांस, चर्म आदि होनेसे उनको भक्षण करनेवाला मांसाहारी कहलाता है।

४—योग-मार्गणा—मन-वचन-कायद्वारा आत्मप्रदेशके परिस्पन्दको योग कहते हैं। उसके मुख्य तीन भेद हैं—(१) मनोयोग, (२) वचनयोग और (३) काययोग। मनकी प्रवृत्तिको मनोयोग, वचनकी प्रवृत्तिको वचनयोग और कायके व्यापारको काययोग कहते हैं। मनोयोगके ४ भेद हैं—(१) सत्यमनोयोग, (२) असत्यमनोयोग, (३) उभयमनोयोग और (४) अनुभयमनोयोग। इसी प्रकार वचनयोगके भी ४ भेद हैं—(१) सत्य, (२) असत्य, (३) उभय और (४) अनुभय। सत्य और असत्यका अर्थ तो सरल ही है। उभयमें सत्य और असत्यका मिश्रण रहता है। और जो न सत्यरूप है न असत्यरूप है, उसे अनुभय कहते हैं। असंज्ञियोंकी भाषा तथा आमन्त्रण, आज्ञा, याचना इत्यादिरूप जो वचन हैं, उनमें सत्यासत्य कुछ भी न होनेसे वे सब अनुभय हैं।

काययोगके ७ भेद हैं—(१) औदारिक, (२) औदारिकमिश्र, (३) वैक्रियिक, (४) वैक्रियिकमिश्र, (५) आहारक, (६) आहारकमिश्र और (७) कार्माण। जिस अवस्थामें जो-जो शरीर रहता है, उसके निमित्तसे वहाँपर वह योग भी रहता है।

सब तिर्यञ्च और मनुष्योंके शरीरको औदारिक शरीर कहते हैं। देव और नारकी जीवोंके वैक्रियिक शरीर होते हैं। किन्हीं-किन्हीं ऋद्धिधारी मुनिको भी विक्रिया-ऋद्धि प्राप्त हो सकती है।

आहारक शरीर—छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंमेंसे किसी-किसीको यह देह प्राप्त हो सकता है।

शुभ्रवर्णका, धातुरहित, एक हाथ ऊँचा, पुरुषाकार पुतला किसी-किसी मुनिके मस्तकमेंसे असंयमके परिहारके लिये, शास्त्रमें कुछ शङ्का आ जाय, तब जिन-वन्दनाके लिये बाहर निकलता है। उस पुतलेको आहारक शरीर कहते हैं।

औदारिकादि शरीरपर जो कान्ति है, उसको तैजस शरीर कहते हैं।

कर्मके पिण्ड (समूह) को कार्माण शरीर कहते हैं। तैजस और कार्माण—ये दोनों शरीर सब संसारी जीवोंके होते हैं।

५—वेदमार्गणा—मैथुन-सेवनकी इच्छाको वेद कहते हैं। वेदके मुख्य दो भेद हैं—भाववेद और द्रव्यवेद। मैथुन-सेवनके परिणामको भाववेद कहते हैं। शरीरके बाह्य लिङ्गको द्रव्यवेद कहते हैं। इन दोनोंके भी (१) पुंवेद,

(२) स्त्रीवेद और (३) नपुंसकवेद–ये ३ प्रकार हैं। प्रायः जो द्रव्यवेद रहता है, वैसा ही भाववेद भी रहता है; लेकिन कभी-कभी भिन्न भी रहता है। स्त्रीके साथ रमणकी इच्छाको पुंवेद कहते हैं। पुरुषके साथ रमणकी इच्छाको स्त्रीवेद कहते हैं। जो न पुरुष हैं न स्त्री, वे नपुंसक कहलाते हैं।

६–कषाय-मार्गणा—कषाय ४ हैं–(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ।

कर्मरूप क्षेत्रमें जो ऐहिक सुख-दुःखरूप धान्य (बीज) कर्षण करता (बोता) है, उसको कषाय कहते हैं। वास्तवमें जीवोंको जो सुख या दुःख मिलता है, वह सब कषायका ही प्रताप है। प्रायः नरकगतिमें क्रोध, तिर्यञ्चगतिमें माया, मनुष्यगतिमें मान और देवगतिमें लोभ अधिकतासे पाया जाता है।

७–ज्ञान-मार्गणा–ज्ञानोपयोगके ७ भेद हैं–(१) मति, (२) श्रुत, (३) अवधि (ये तीनों जब सम्यग्दृष्टिको होते हैं तो सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं, और मिथ्यादृष्टिको होते हैं तो मिथ्याज्ञान कहलाते हैं), (४) कुमति, (५) कुश्रुत, (६) कुअवधि, (७) मनःपर्यय और (८) केवल।

(१) इन्द्रियों तथा मनसे जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

(२) मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके विषयमें जो विशेष ज्ञान होता है अथवा उसके सम्बन्धमें किसी अन्य पदार्थका जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान केवल मनका विषय है।

(३) इन्द्रियोंकी सहायता विना आत्मशक्तिसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादामें जो रूपी (पुद्गल) पदार्थको स्पष्ट जानता है, वह अवधिज्ञान है।

(४) इन्द्रियोंकी 'सहायता' विना आत्मशक्तिसे दूसरेके मनके विषयोंको जो जान लेता है, वह मनःपर्यय ज्ञान है।

(५) लोक-अलोककी समस्त वस्तुओंको उनके त्रिकालवर्ती पर्यायोंसहित आत्मशक्तिसे युगपत् जो जानता है, वह केवलज्ञान है।

दर्पणकी तरह समस्त वस्तुओंका प्रतिभास इस केवलज्ञानमें झलकता है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान समस्त छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानी (१ से १२ गुणस्थानतकके) जीवोंको होता है। अवधिज्ञान नारकी जीवों, देवताओं और किन्हीं-किन्हीं मुनियोंको होता है। मनःपर्यय ज्ञान किन्हीं-किन्हीं मुनियोंको ही होता है और केवल ज्ञान सर्वज्ञ देवोंको (*१३–१४ गुणस्थानवर्ती जीवों और सिद्ध परमात्माको*) ही होता है।

८–संयम-मार्गणा–व्रतधारण, समितिपालन, कषाय-निग्रह, दण्डत्याग और इन्द्रियजय–इनको संयम कहते हैं। अर्थात् (१) अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह–इन पाँच महाव्रतोंका पालन करना, (२) ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और व्युत्सर्ग–इन पाँच समितियोंको पालना; (३) क्रोध, मान, माया और लोभ–इन कषायोंका निग्रह करना; (४) मन-वचन-कायसे कृत, कारित एवं अनुमोदित तीनों प्रकारके दण्डका (हिंसाका) त्याग करना और (५) पञ्चेन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना। इनका नाम संयम है।

संयमके ७ भेद और हैं–(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहारविशुद्ध, (४) सूक्ष्मसम्पराय, (५) यथाख्यात, (६) देशसंयम और (७) असंयम।

९–दर्शनमार्गणा–ज्ञान होनेके पूर्व वस्तुका जो सामान्य प्रतिभास होता है, उसको दर्शन कहते हैं। इसके ४ भेद हैं–(१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधिदर्शन और (४) केवलदर्शन।

(१) चक्षुरिन्द्रियसे होनेवाले मतिज्ञानसे पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है, वह चक्षुदर्शन है।

(२) चक्षुके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले मतिज्ञानसे पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है, वह अचक्षुदर्शन है।

(३) अवधिज्ञानके पूर्व जो दर्शन होता है, वह अवधिदर्शन है।

(४) केवलज्ञानके साथ-साथ जो दर्शन होता है, वह केवल-दर्शन है।

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है, इसलिये उसके पूर्व अलग दर्शन नहीं होता। तथा मनःपर्यय ज्ञान होते समय प्रथम मनमें विचार उत्पन्न होता है, फिर मनःपर्ययज्ञानी आत्मशक्तिसे परकीयमनोगत विचारको जानता है; इसलिये मनःपूर्वक होनेसे इसके पूर्व भी अलग दर्शन नहीं होता। छद्मस्थको दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है और सर्वज्ञको ज्ञान एवं दर्शन एक साथ होते हैं।

	दर्शनमें	ज्ञानमें
(१)	सामान्य प्रतिभास है।	विशेष प्रतिभास है।
(२)	निराकार है।	साकार है।
(३)	निर्विकल्प है।	सविकल्प है।

१०—लेश्या—कषायसे अनुरञ्जित जो आत्मपरिणामोंकी प्रवृत्ति है, उसे लेश्या कहते हैं। लेश्या ६ हैं—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) पीत, (५) पद्म और (६) शुक्ल। इन छः प्रकारके शरीर-वर्णको द्रव्यलेश्या कहते हैं और परिणामकी संक्लेशरूप या विशुद्धरूप जो अवस्था है, उसको भावलेश्या कहते हैं।

इन छः लेश्याओंके परिणाम कैसे होते हैं, इसके लिये दृष्टान्त दिया जाता है। (१) कृष्णलेश्यावाला जीव फल खानेकी इच्छासे वृक्षको जड़से उखाड़नेकी इच्छा रखता है। (२) नीलवाला उसे स्कन्धसे (तनेसे) काटनेकी इच्छा रखता है। (३) कापोतवाला केवल बड़ी शाखाको काटनेकी इच्छा करता है। (४) पीतवाला जिसमें फल लगे हैं, केवल उतनी ही छोटी टहनीको काटनेकी इच्छा करता है। (५) पद्मलेश्यावाला केवल फलको तोड़कर खानेकी इच्छा करता है। और (६) शुक्ल लेश्यावाला केवल नीचे पड़े हुए फलोंको खानेकी इच्छा करता है। इस प्रकार परिणामोंमें कषायकी मन्दता अधिकाधिक होनेसे विशुद्धि अधिकाधिक बढ़ती है। कौन-कौन-सी लेश्यावालोंके कैसे-कैसे परिणाम होते हैं, इसका भी साधारण अनुमान किया जा सकता है।

(१) तीव्रक्रोधी, वैर न छोड़नेवाला, लड़ने-झगड़नेवाला, निर्दय एवं धर्मद्वेषी—ये कृष्णलेश्याके चिह्न हैं।

(२) मन्द, बुद्धिहीन, विषयलोलुप, मानी, मायावी, आलसी, दूसरोंको फँसानेमें कुशल एवं तीव्रलोभी—ये नील-लेश्याके लक्षण हैं।

(३) दूसरेकी निन्दा करनेवाला, शोक करनेवाला, भय रखनेवाला, दूसरोंका तिरस्कार और अपनी प्रशंसा करनेवाला तथा कार्य-अकार्यको न जाननेवाला, कापोत-लेश्यावाला होता है।

(४) कार्याकार्यको और सेव्य-असेव्यको जाननेवाला, समता-भाव रखनेवाला, दयावान्, दानी और विनयवान्—ये सब पीतलेश्याके चिह्न हैं।

(५) त्यागी, भद्र, क्षमाशील, साधुओंकी पूजा-भक्ति करनेवाला पद्मलेश्यावाला कहलाता है।

(६) पक्षपातशून्य, भोगकी आकाङ्क्षा न रखनेवाला तथा राग-द्वेषसे शून्य पुरुष शुक्ललेश्याधारी होता है।

इनमें कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अशुभ और शेष तीन शुभ हैं। जीवकी भली-बुरी अवस्था होनेमें प्रमुख कारण लेश्या ही है। जैसी-जैसी लेश्या होती है, वैसी-वैसी ही क्रिया जीव करता है। शुभ लेश्या ही जीवको उन्नत बनाती है।

११—भव्यत्व-मार्गणा—जीव दो प्रकारके हैं—(१) भव्य तथा (२) अभव्य। जिसमें अन्तिम साध्य मोक्षको सिद्ध करनेकी योग्यता है, वह भव्य और जिसमें वह योग्यता नहीं है, वह अभव्य कहलाता है। जीवोंकी ये दोनों राशियाँ निसर्गसिद्ध और नियत हैं। भव्य कभी अभव्य नहीं होता और अभव्य कभी भव्य नहीं होता।

भव्य जीवोंके भी दो प्रकार हैं—(१) भव्य तथा (२) अभव्यसम भव्य। जिनको कभी-न-कभी मुक्ति अवश्य प्राप्त होगी, वे भव्य हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी भव्य हैं, जिनमें भव्यत्व होनेसे योग्यता तो जरूर है परन्तु वैसा निमित्त ही न मिलनेसे वे कभी मुक्तिको नहीं प्राप्त करते, सदा-सर्वदा अभव्यकी तरह संसारहीमें रहते हैं। उन्हें अभव्यसम भव्य कहते हैं।

१२—सम्यक्त्व-मार्गणा—सात तत्त्वोंका जैसा स्वरूप है, वैसा ही समझना अर्थात् आत्माको आत्मा और परद्रव्यको पर समझना—इसीको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसीको आत्मज्ञान या भेदविज्ञान कहते हैं। यह जिसको प्राप्त हो गया, उसकी प्रवृत्ति सहज ही परद्रव्यसे हटकर आत्माकी ओर मुड़ जाती है। इसलिये सम्यक्त्व ही सिद्धिका पहला प्रमुख साधन माना गया है।

१३—संज्ञित्व-मार्गणा—संसारी जीव दो प्रकारके होते हैं—(१) संज्ञी और (२) असंज्ञी। हिताहितका विचार करनेवाली और परोपदेशको ग्रहण करनेवाली मनःशक्तिको संज्ञा कहते हैं। वह संज्ञा जिसको है, वह संज्ञी है और जिसको नहीं, वह असंज्ञी है। मनसहित जीवोंको संज्ञी और मनरहित जीवोंको असंज्ञी कहते हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय—ये सब असंज्ञी ही हैं। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंमें कुछ असंज्ञी और कुछ संज्ञी होते हैं। मनुष्य, देव, नारकी—ये सब संज्ञी ही हैं।

१४–आहार-मार्गणा—यद्यपि लोकभाषामें आहारका अर्थ भोजन है, तथापि जैनपरिभाषामें आहारका अर्थ कर्म और नोकर्मका ग्रहण करना है। जबतक संसार है, तबतक कर्मका ग्रहण तो सदैव रहता है; इसलिये यहाँपर उसकी विवक्षा न रखकर केवल नोकर्म (शरीर, इन्द्रिय आदि) के लिये जो परमाणुओंका ग्रहण होता है, उसकी विवक्षासे आहार-मार्गणाद्वारा जीवका निरूपण किया गया है। इस नोकर्माहार-की अपेक्षासे कोई जीव आहारक और कोई अनाहारक होते हैं।

विग्रहगतिमें (एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करनेके लिये गमनरूप अवस्थाको विग्रहगति कहते हैं) रहनेवाले, केवल समुद्‌घात करनेवाले केवली, अयोग-केवली और सिद्ध परमात्मा—ये सब अनाहारक हैं; शेष सब आहारक हैं।

आठ कर्मोंका विवरण

आठ कर्मोंका स्वरूप पीछे लिखा गया है। उनमें (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) मोहनीय, (४) अन्तराय—ये चार घातीय कर्म तथा (१) वेदनीय, (२) आयु, (३) नाम और (४) गोत्र—ये चार अघातीय कर्म हैं। घातीय कर्म जीवके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य—इन चार गुणोंका घात करते हैं; किन्तु अघातीय कर्म आत्मगुणोंका साक्षात् घात नहीं करते, केवल आत्माको संसारके बन्धनमें रखनेके लिये कारण बनते हैं। इसलिये १३ वें गुणस्थानमें ही केवली भगवान्‌के चार घातीय कर्मोंका नाश हो जानेसे उनमें गुणोंका पूर्ण विकास हो जाता है। सिद्ध और अरिहंतमें गुणोंके विकासकी दृष्टिसे कुछ भी अन्तर नहीं है।

जीवकी नानाविध सांसारिक सुख-दुःखरूप अवस्थाका कारण ईश्वरवादी ईश्वरको मानते हैं, किन्तु जैनतत्त्व कर्मको ही उसका कारण मानता है। अपने-अपने पूर्वोपार्जित कर्मके उदयसे ही जीव सुख-दुःख भोगता है और उसीको ध्यान-तपद्वारा क्षय करके उनसे मुक्ति पाना भी आत्माके ही हाथमें है।

जीव और अजीव-तत्त्वके ही आधारपर आश्रवादि तत्त्व माने गये हैं।

आश्रव—जीवके पास कर्मके आनेको आश्रव कहते हैं। आश्रवके दो भेद हैं—(१) भावाश्रव और (२) द्रव्याश्रव। आत्माके जिन परिणामोंसे कर्म आते हैं, उन परिणामोंको भावाश्रव कहते हैं। भावाश्रवके ५ प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। १ले गुणस्थानमें मिथ्यात्वादि पाँच ही परिणामोंसे कर्मका आश्रव होता है, आगे मिथ्यात्व नहीं रहता। २ से ४ गुणस्थानमें अविरति आदि ४ प्रकारके परिणामोंसे कर्माश्रव होता है; आगे मिथ्यात्व, अविरति—ये दो नहीं रहते।

५-६ गुणस्थानमें प्रमाद आदि ३ प्रकारके परिणामोंसे कर्माश्रव होता है। इसके आगे प्रमाद भी नहीं रहता।

७से १० गुणस्थानतक कषाय और योगसे ही कर्माश्रव होता है। इसके आगे कषायका भी अभाव होता है।

११से १३तक केवल योग ही कर्माश्रवका कारण होता है।

१४ वें गुणस्थानमें आश्रवका कुछ भी कारण नहीं रहता। वहाँ केवल पूर्वबद्ध कर्मकी निर्जरा करना ही शेष रहता है।

भावाश्रव मुख्य कारण है, और द्रव्याश्रव उसका कार्य है। भावाश्रव होनेपर ही द्रव्याश्रव होता है, अन्यथा नहीं।

आत्माकी ओर कर्मकी आगमनरूप क्रियाको द्रव्याश्रव कहते हैं। कर्मरूप होनेयोग्य कार्माण-वर्गणा जो आत्माके पास आती है, वह तो आनेके समय सामान्यरूप (एकरूप ही) होती है; लेकिन आत्मासे बद्ध होनेके बाद पूर्वस्थित ज्ञानावरणादिरूप ७ प्रकारोंमें उसका यथासम्भव बटवारा हो जाता है। इसलिये द्रव्याश्रवके ज्ञानावरणादिरूप ८ प्रकार कहे गये हैं।

बन्ध—कर्मका आश्रव होनेके बाद ही बन्ध होता है। आश्रवको बन्धका कारण और बन्धको आश्रवका कार्य माना गया है। इसके भी दो भेद हैं—(१) भावबन्ध और (२) द्रव्यबन्ध। जिन परिणामोंसे कर्म और आत्माका बन्ध होता है, उसको भावबन्ध कहते हैं। ये वे ही परिणाम होते हैं जोकि भावाश्रवमें होते हैं। कर्म-परमाणु और आत्मप्रदेशका एकक्षेत्रावगाहरूप जो अन्योन्य प्रवेश है, उसको द्रव्यबन्ध कहते हैं।

बन्धका वर्णन ४ प्रकारसे किया गया है—

(१) प्रकृतिबन्ध, (२) प्रदेशबन्ध (३) स्थितिबन्ध और (४) अनुभागबन्ध—

(१) बाँधे गये कर्मका क्या-क्या स्वभाव है, यह प्रकृतिबन्ध बतलाता है।
(२) बाँधे गये कर्म कितने आये, इसके निर्णयको प्रदेशबन्ध कहते हैं।
(३) कर्म आत्माके पास कितने कालतक रहेगा, इसके निर्णयको स्थितिबन्ध कहते हैं।
(४) कर्मका फल क्या मिलेगा, यह अनुभागबन्धसे ज्ञात होता है।

आत्माके योगरूप परिणाममें जैसा तीव्र-मन्द परिस्पन्दन होता है, वैसा ही तीव्र या मन्द कर्मका स्वभाव और संख्या होती है और आत्माके कषाय-परिणाममें जैसी तीव्र-मन्दता होती है, उसी मात्रामें कर्मकी स्थिति और फल तीव्र या मन्द होते हैं।

कर्मका आत्माके साथ बन्ध होता है, इसका अर्थ यह नहीं कि आत्मा कर्मरूप (जड) बन जाता है। द्रव्यमें अगुरुलघु नामकी एक ऐसी शक्ति है, जिससे एक द्रव्य दूसरा द्रव्य कभी नहीं बनता। जीव जीवत्व अवस्थामें ही और पुद्गल जडत्व अवस्थामें ही रहता है। लेकिन इनमें ऐसी एक वैभाविक नामकी शक्ति है, जिससे ये दोनों अनादि कालसे अन्योन्यसम्पृक्त होनेके कारण विभावरूप अवस्थामें पड़े हैं। इनकी यह विभाव-अवस्था अनादि कालसे कनक-पाषाणकी तरह है। पुद्गलकी विभावरूप अवस्था (कर्म) के निमित्तसे जीवमें विभाव-परिणमन होता है और जीवके विभाव-परिणामोंके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप (विभाव-अवस्थारूप) बनते हैं। ऐसा इनका संयोग-सम्बन्ध अनादि-कालसे है। ये पहले दो अलग-अलग शुद्ध द्रव्य थे, फिर इनका संयोग हुआ—ऐसी बात नहीं है। कनक-पाषाणमें शुद्ध सुवर्णत्व और पाषाणत्वका संयोग नहीं हुआ है, वह अनादिकालसे कनक-पाषाणरूप ही है; लेकिन उनमें विभिन्नता (द्वैविध्य) की जा सकती है। इसी तरह आत्मा ही आत्माके द्वारा कर्मको दूर कर सकता है।

इस प्रकार कर्म और आत्माका एकक्षेत्रावगाहरूप जो सम्बन्ध है, उसको बन्ध कहते हैं।

संवर—कर्मके आनेको रोकने अर्थात् कर्मको न आने देनेका नाम संवर है। इसके दो भेद हैं—(१) भाव-संवर और (२) द्रव्य-संवर। आत्माके जिन परिणामोंसे कर्मका आना बंद हो जाता है, उसको भाव-संवर कहते हैं और कर्मके न आनेको अर्थात् द्रव्यास्रवके निरोधको द्रव्य-संवर कहते हैं।

जिन परिणामोंसे कर्मका आना बंद होता है, उनके सात विभाग किये गये हैं—(१) व्रत, (२) समिति, (३) गुप्ति, (४) धर्म, (५) अनुप्रेक्षा, (६) परीषहजय और (७) चारित्र।

१–हिंसा, असत्य (झूठ), चोरी, मैथुन और परिग्रह (ममत्व)—इन पञ्च पापोंके त्यागको व्रत कहते हैं। आंशिक त्यागको अणुव्रत और पूर्ण त्यागको महाव्रत कहते हैं। पाँच प्रकारके पापोंकी अपेक्षासे व्रतोंके भी (१) अहिंसाव्रत, (२) सत्यव्रत, (३) अचौर्यव्रत, (४) ब्रह्मव्रत और (५) परि-ग्रहत्यागव्रत—इस प्रकार ५ भेद किये गये हैं।

२–समितिके पाँच भेद हैं—(१) ईर्या, (२) भाषा, (३) एषणा, (४) आदान-निक्षेपण और (५) व्युत्सर्ग।

(१) जीव-जन्तु देखकर गमन करनेको ईर्या-समिति कहते हैं।

(२) सत्य, प्रिय, हित और मित वचनको भाषा-समिति कहते हैं।

(३) प्रासुक (निर्जन्तु) शुद्ध आहारको एषणा-समिति कहते हैं।

(४) जीव-जन्तु देखकर कोई भी चीज उठाना या रखना—इसे आदान-निक्षेपण-समिति कहते हैं।

और (५) जीव-जन्तु देखकर मल-मूत्र-विसर्जन करना व्युत्सर्ग-समिति है।

३–गुप्ति—गुप्तिके तीन भेद हैं—(१) मनोगुप्ति, (२) वचनगुप्ति और (३) कायगुप्ति। मनकी क्रियाको रोकना मनोगुप्ति है, वचनकी क्रियाको रोकना वचनगुप्ति और कायकी (शरीरकी) क्रियाको रोकना कायगुप्ति है।

४–धर्म—धर्म कहते हैं स्वभावको। क्षमादि आत्माके स्वभाव हैं और क्रोधादि आत्माके विभाव-परिणाम हैं। धर्मके दस भेद हैं—(१) क्षमा—क्रोधका अभाव, (२) मार्दव—मानका अभाव, (३) आर्जव—मायाका अभाव, (४) शौच—लोभका अभाव, (५) सत्य—झूठ न बोलना, (६) संयम—इन्द्रियोंको अपने काबूमें (स्वाधीन) रखना, (७) तप—कष्ट सहन करना, (८) त्याग—स्वार्थबुद्धि न रखना, (९) आकिञ्चन्य—परायी वस्तुपर ममत्व न रखना और (१०) ब्रह्मचर्य—कामदेवपर विजय प्राप्त कर आत्मामें लीन रहना। ये ही आत्माके स्वभाव हैं इनसे आत्मा उन्नत होता है।

५–अनुप्रेक्षा–पुनः-पुनः चिन्तनको अनुप्रेक्षा या भावना कहते हैं। इनसे मनके संस्कार व्रतादिमें दृढ़ होते हैं। अनुप्रेक्षाके बारह भेद हैं—

(१) अनित्यानुप्रेक्षा–संसार अनित्य है। विषय, राज्य, धन, जीवन–ये सब चञ्चल हैं, नश्वर हैं। इस प्रकारके विचारोंसे इनके प्रति मोह कम होता है।

(२) अशरणानुप्रेक्षा–मरणसे कोई भी रक्षा नहीं कर सकता, धर्म ही शरण्यभूत है—ऐसी भावना करनी चाहिये।

(३) संसारानुप्रेक्षा–इस संसारमें यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें नटकी तरह नाना वेष (जन्म) धारण करता हुआ भटकता है—इस तरह विचार करना।

(४) एकत्वानुप्रेक्षा–अपने-अपने कर्मका फल अपनेको ही भोगना पड़ता है और मरनेके बाद अकेले ही जाना पड़ता है, कोई भी साथी नहीं होता–ऐसा विचार करना।

(५) अन्यत्वानुप्रेक्षा–जिनको तू अपना समझता है, ये सब कनक-कान्ता-शरीर आदि पराये हैं—ऐसा विचार करना।

(६) अशुचित्वानुप्रेक्षा–यह शरीर रक्त, मांस, हड्डी आदि अपवित्र वस्तुओंकी खान है—ऐसा विचारकर देहपर ममत्व न रखना।

(७) आस्रवानुप्रेक्षा–मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि परिणामोंसे कर्म आत्माके पास आते हैं और उन्हींके कारण आत्मा इस संसारमें भटकता है—इसलिये इनसे निवृत्त होना।

(८) संवरानुप्रेक्षा–व्रत, समिति आदि परिणामोंसे कर्म आत्माके पास नहीं आते—इसलिये इनमें सदैव प्रवृत्ति रखना।

(९) निर्जरानुप्रेक्षा–तपके प्रभावसे कर्म विना फल दिये ही निकल जाते हैं—इसलिये तप, ध्यान आदिमें लीन रहना।

(१०) लोकानुप्रेक्षा–नरकगतिकी रचना ही ऐसी है कि जिससे दुःख होता है। मध्यलोककी रचना और ऊर्ध्वलोककी रचनारूप लोकके आकारको लक्ष्यमें लाकर इनसे मैं कब मुक्त होऊँ—ऐसा विचार करना।

(११) बोधिदुर्लभ–इस संसारमें जीवने ऐन्द्रिय सुख तथा ऐश्वर्य तो अनेक भावोंमें प्राप्त किया, लेकिन बोधि अर्थात् सम्यक् ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई; अब यह दुर्लभ बोधि प्राप्त करके मुझे अपना आत्मकल्याण करना चाहिये—ऐसी भावना करना।

(१२) धर्मानुप्रेक्षा–धर्मके स्वरूपका विचार कर धर्ममें लीन होना।

ये बारह भावनाएँ संवेग (संसारसे और पापसे भीति) और वैराग्य (संसार और भोगसे निवृत्ति) होनेके लिये करनी चाहिये।

६–परीषह-जय–दुःख सहन करनेको परीषह-जय कहते हैं। परीषह २२ प्रकारके हैं—(१) क्षुधा, (२) तृषा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंश-मशक, (६) नाग्न्य, (७) अरति, (८) स्त्री, (९) चर्या, (१०) निषद्या, (११) शय्या, (१२) आक्रोश, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृणस्पर्श, (१८) मल, (१९) सत्कार-पुरस्कार, (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान और (२२) अदर्शन।

ध्यान-सामायिक-तप करते समय दैविक, मानुषिक, तैर्यञ्चिक–जो भी उपसर्ग और ऊपरके परीषह आवें, उनसे न डरना; उनको शान्तिसे सहन करके आत्मध्यानसे च्युत न होना—इसीका नाम परीषह-जय है। इससे मनका बल बढ़ता है।

७–चारित्र–चारित्रके ५ भेद हैं—

(१) सामायिक–सब जीवोंपर समताभाव रखकर आत्मध्यानमें लीन होना।

(२) छेदोपस्थापना–व्रतोंमें दोष या भङ्ग हो तो प्रायश्चित्तादि लेकर उसमें फिरसे स्थिर रहना।

(३) परिहार-विशुद्धि–कषायकी मन्दतासे परिणामोंकी ऐसी विशुद्धि होती है कि जिसमें विहार करते समय प्राणियोंको बाधा न पहुँचे। इस प्रकारकी शुद्धिकी प्राप्ति ही परिहार-विशुद्धि है।

(४) सूक्ष्म साम्पराय–केवल सूक्ष्म लोभरूप कषाय बाकी रहनेसे परिणामोंकी विशेष शुद्धता होती है। इसीको सूक्ष्म-साम्पराय कहते हैं।

(५) यथाख्यात–कषायोंका पूर्ण अभाव होनेसे आत्माकी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त होती है। इसीका नाम यथाख्यात है। इन सब परिणामोंसे कर्मका आना बंद हो जाता है।

निर्जरा–कर्मकी स्थिति पूर्ण होनेके बाद कर्मके शनैः-शनैः आत्मासे पृथक् होनेको निर्जरा कहते हैं। उसके दो भेद हैं—(१) भाव-निर्जरा और (२) द्रव्य-निर्जरा।

जिन आत्माके परिणामोंसे कर्म निकल जाता है, उनको भाव-निर्जरा और कर्मके निकलनेको द्रव्य-निर्जरा कहते हैं। कर्मका निकलना दो प्रकारसे होता है-(१) सविपाक और (२) अविपाक। कर्मकी स्थिति जब पूर्ण हो जाती है, तब वह आत्माको फल देकर निकल जाता है। आत्मपरिणामोंको विभावरूप करना ही कर्मका उदय-फल है। इस विभाव-परिणामसे फिर कर्मका अभाव होता है। यही सविपाक द्रव्य-निर्जरा है। तपके प्रभावसे फल न देकर जो कर्मोंका निकल जाना है, उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं।

× × ×

मोक्ष—आत्मासे कर्मके पूर्णतया पृथक् होनेका नाम ही मोक्ष है। मोक्षके दो भेद हैं—(१) भावमोक्ष और (२) द्रव्यमोक्ष। आत्माके जिन परिणामोंसे कर्म पृथक् होता है, उनको भावमोक्ष कहते हैं और कर्मके पृथक होनेको द्रव्य-मोक्ष कहते हैं।

घातीय कर्मोंका पूर्णतः क्षय होनेसे आत्माके सब गुण विकसित हो जाते हैं, इसलिये उसको भावमोक्ष भी कह सकते हैं। क्योंकि भावमोक्ष होनेके बाद द्रव्यमोक्ष अवश्यम्भावी होता है। आयु-कर्मकी स्थिति जबतक रहती है, तभीतक अघातीय कर्मोंका अस्तित्व रहता है। ये अघातीय कर्म आत्माके गुणोंका साक्षात् घात (आवरण) करनेवाले न होनेसे घातीय कर्मोंके नष्ट होनेके बाद इन अघातीय कर्मोंका रहना न रहनेके बराबर ही है।

इस प्रकार कर्मसे मुक्त हुआ आत्मा कर्मका फिर आश्रवादि होनेका कुछ भी निमित्त न होनेसे कर्मोंसे सदैव अलिप्त रहता है। वह अपने परमात्मस्वरूपमें सदैव लीन रहता है।

तपस्या, श्रुत तथा व्रतोंका विवरण

'तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे'

—तप, श्रुत और व्रतका पालन करनेवाला आत्मा ही ध्यानरूपी रथपर आरूढ़ हो सकता है। ध्यानसे ही जीवका अन्तिम साध्य मोक्ष प्राप्त होता है; इसलिये मोक्षका साधन ध्यान और ध्यानके साधन तप, श्रुत, व्रत हैं।

(१) अनशन, (२) अवमौदर्य, (३) वृत्ति-परिसंख्यान, (४) रसपरित्याग, (५) विविक्तशय्यासन और (६) कायक्लेश—ये छः बाह्य तप हैं। और (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) व्युत्सर्ग और (६) ध्यान—ये छः अन्तरङ्ग तप हैं। केवल शरीरको कृश करना ही तपका मुख्य हेतु नहीं है; राग, द्वेष और मोहको कम करना ही उसका प्रमुख हेतु है।

श्रुत कहते हैं शास्त्रोंके स्वाध्यायको। ज्ञानीका ही तप सफल होता है। अज्ञानपूर्वक तप सच्चा तप नहीं कहलाता।

व्रत नाम है संयमका। इन्द्रियोंके विषयमें यथेच्छ प्रवृत्तिको अव्रत कहते हैं और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना ही व्रत या संयम है।

मन्त्र-जपके प्रकार

ध्यान करते समय ध्येयका जो नामोच्चार किया जाता है, उसको मन्त्रजप कहते हैं। आत्माका ध्येय तो एक परमात्मा ही है। उस लक्ष्यबिन्दुको सामने रखकर नाम-जप करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। परमात्मामें अनन्त गुण होनेसे उन गुणोंके चिन्तनरूप मन्त्रजपके भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। जगत्में मङ्गलरूप, लोकोत्तम और शरण्यभूत पञ्चपरमेष्ठी ही होनेसे पञ्चणमोकार मन्त्र ही मन्त्र-जपका मुख्य प्रकार है।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, 'णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं'

—यह (३५ अक्षरका) पञ्चणमोकार महामन्त्र है। इस मन्त्र-जपसे जीवके सब दुःख-पाप दूर होते हैं और आत्मा परमात्मा हो जाता है। इसी मन्त्रको संक्षिप्त करनेसे छः अक्षरका 'अरिहंत सिद्ध', पाँच अक्षरोंका अ-सि-आ-उ-सा, चार अक्षरोंका 'अरिहंत'; दो अक्षरोंका 'सिद्ध' और एकाक्षरी मन्त्र 'ॐ' इत्यादि अनेक प्रकार बन सकते हैं।

ध्यान—ध्यानका सच्चा ध्येय तो परमात्मा ही है; लेकिन जबतक आत्मदर्शन नहीं होता, तबतक मनको एकाग्र करनेके लिये पञ्चपरमेष्ठियोंका आदर्श रखना चाहिये। पञ्चपरमेष्ठी ये हैं—

(१) अर्हंत परमेष्ठी—जिसने चार घातीय कर्मोंका नाश कर दिया है, और इससे जिसको अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य—ये अनन्तचतुष्टय प्राप्त हुए हैं, परम औदारिक शरीरमें रहनेवाला वह शुद्ध परमात्मा अर्हंत कहलाता है।

(२) सिद्ध परमेष्ठी—जिसने आठों कर्मोंका और शरीरादि नोकर्मका पूर्णतया नाश कर दिया है, जो लोका-काशके अग्रभागमें सिद्धशिलापर विराजमान है, जिसने अपना अन्तिम साध्य प्राप्त कर लिया है, ऐसा परमात्मा सिद्ध परमेष्ठी कहलाता है।

(३) आचार्य—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—इन पाँच आचारोंमें जो अपनेको और इतर मुनियोंको लीन करते हैं, जो मुनिकुलोंके गुरु हैं और उनको प्रायश्चित्तादि दण्ड देनेका जिनको अधिकार है, उनको आचार्य कहते हैं।

(४) उपाध्याय—जो रत्नत्रयमें लीन होकर सदैव धर्मोपदेश देनेमें तत्पर रहते हैं, ऐसे विशेष प्रतिभासम्पन्न मुनिको उपाध्याय कहते हैं।

(५) साधु परमेष्ठी—जो अपना आत्महित साधता है, उसको साधु कहते हैं। आरम्भ-परिग्रहसे रहित होकर, सदैव आत्मध्यान और शास्त्र-स्वाध्यायमें लीन होकर मोक्षमार्गका जो साधन करता है, वह साधु है।

परमध्यान—उपर्युक्त प्रकारसे पञ्चपरमेष्ठीका ध्यान करते-करते जो आत्मध्यानमें लीन हो जाता है, जहाँ मैं ध्याता हूँ, और यह मेरा ध्येय है ऐसा भेद न रहकर निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है, जब मन-वचन-कायकी सब चेष्टाएँ बंद होकर आत्मा आत्मरूपमें लीन हो जाता है, तब उसको शुद्ध आत्मध्यान या परमध्यान कहते हैं।

शुक्लध्यान—शुक्लध्यानके चार भेद हैं—

(१) पृथक्त्ववितर्कविचार—

विशेष तर्कणाको वितर्क और अर्थ (ध्येय पदार्थ), व्यञ्जन (ध्यानके मन्त्रजपके शब्द) तथा योग (मन-वचन-काययोग)—इनकी संक्रान्ति (पलटने) को विचार कहते हैं। जिसमें गुण, पर्याय, द्रव्य—ऐसे भिन्न-भिन्न अर्थोंका ध्यान होता है, उसको पृथक्त्व-वितर्क कहते हैं। यहाँ तीनों योग रहते हैं। यह ध्यान ८, ९, १०, ११—इन चार गुणस्थानोंमें होता है।

(२) एकत्ववितर्क—

द्रव्य, गुण और पर्याय—इनमेंसे किसी एकका जहाँपर ध्यान होता है और जहाँ तीनों योगोंमेंसे किसी एक योगद्वारा आत्मप्रदेश-परिस्पन्दन होता है, उसको एकत्ववितर्क कहते हैं। यहाँ विचार (अर्थ-व्यञ्जन-योगकी संक्रान्ति) नहीं रहता। यह ध्यान बारहवें गुणस्थानमें होता है।

(३) सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति—

जिसमें पादका विहार (पैरोंसे गमन) न होकर पद्मासन या खड्गासनसे विहार होता है, उस शरीरक्रियाको सूक्ष्मक्रिया कहते हैं। उसका प्रतिपात (विनाश) नहीं होता। ऐसा केवल सूक्ष्मकाययोग ही जहाँ रहता है, जहाँ वितर्क-विचारादि सब विकल्पोंका अभाव होकर शुद्ध परमध्यानकी प्राप्ति होती है, वह सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपातिनामक तीसरा शुक्लध्यान है। यह १३वें गुणस्थानमें होता है।

(४) व्युपरतक्रियानिवर्ति—

योगका पूर्ण अभाव होनेसे जो आत्मस्थिरता और विशुद्धि होती है, जिसमें विहाररूप सूक्ष्म क्रिया भी बंद हो जाती है, उसको व्युपरतक्रियानिवर्तिनामक चौथा शुक्लध्यान कहते हैं। यह ध्यान अयोगी परमात्मा—१४ वें गुणस्थानवालेको होता है।

पञ्चमहाकल्याणिक—

देवादिद्वारा जो उत्सव मनाया जाता है, उसको कल्याणिक कहते हैं। तीर्थङ्कर भगवान्के गर्भमें आनेसे लेकर मोक्षपदमें जानेतक अर्थात् उनके गर्भ, जन्म, तप, केवल, मोक्ष—इन पाँच प्रसंगोंको लेकर उत्सव मनाया जाता है। इस प्रकार कल्याणिकके ५ भेद माने गये हैं—

(१) गर्भकल्याणिक—

तीर्थङ्कर भगवान्के गर्भमें आनेसे छः मास पूर्व इन्द्र कुबेरको नीचे भेजते हैं। वह छः महीनेतक रोज रत्नवृष्टि करता है, तथा तीर्थङ्करके माता-पिताकी यथायोग्य सेवा करता है। माताको १६ स्वप्न दीख पड़ते हैं—जिनमें वह क्रमशः (१) हाथी, (२) बैल, (३) सिंह, (४) स्नान करनेवाली लक्ष्मी, (५) पुष्पमाला, (६) पूर्णिमाका चन्द्र, (७) सूर्य, (८) दो सुवर्णकलश, (९) दो मत्स्य, (१०) सरोवरके कमल, (११) समुद्र, (१२) सिंहासन, (१३) देव-विमान, (१४) नागेन्द्रभवन, (१५) रत्नराशि और (१६) अग्निशिखा-को देखती है। इनका फल तीर्थङ्करके पिता यह बतलाते हैं कि तुम्हारे गर्भमें त्रैलोक्यभूषण ऐसा भव्य पुरुष आनेवाला है, जिसका यश सुनकर सबको आनन्द होगा।

(२) जन्मकल्याणिक—

तीर्थङ्करका जन्म होते ही त्रिभुवनमें सब जीवोंको सुख मालूम होता है। इन्द्रादि देव तीर्थङ्कर भगवान्को मेरु-पर्वतपर ले जाकर वहाँ उनका जन्माभिषेक-महोत्सव करते हैं और कुबेरादि देव बालकुमार होकर तीर्थङ्करकी सेवामें तत्पर रहते हैं। तीर्थङ्करको जन्मसे ही (१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान और (३) अवधिज्ञान—ये तीनों ज्ञान रहते हैं।

(३) तपकल्याणिक—

तरुण अवस्थामें श्रावकव्रतका ग्रहण कर यथायोग्य राज्यादिका भोग भोगकर संसारसे उदासीन होकर जिन-दीक्षा ग्रहण करते हैं । आरम्भ और परिग्रहका त्यागकर मुनिके २८ मूलगुण धारण करते हैं । पञ्चमुष्टिकेशलोच करते हैं और उग्रध्यानरूप तप करते हैं ।

(४) केवलकल्याणिक—

तप करते-करते जब चार घातीय कर्मोंका नाश हो जाता है, तब भगवान्‌को केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है । इन्द्र समवशरणकी रचना करता है, जिसमें बारह प्रकारकी सभा बैठती है । उन सबको भगवान् दिव्य ध्वनिद्वारा उपदेश करते हैं । भगवान्‌का विहार भव्य जीवोंकी पुण्य-वर्गणा-वश होता है ।

(५) मोक्षकल्याणिक—

जब आठों कर्मोंका नाश होकर उनका शरीर कपूरकी तरह विलयको प्राप्त हो जाता (उड़ जाता) है, नख और केशमात्र शेष रहते हैं, तब देव उनसे मायामय शरीर निर्माण-कर उसका हवन करते हैं और उस भूमिको पवित्र समझते हैं ।

महापुरुषोंके सम्बन्धसे भूमि और काल भी पवित्र माने जाते हैं । जिस क्षेत्रपर उनके गर्भ, जन्म, मोक्ष आदि होते हैं, वह भूमि पवित्र मानी जाती है और जिस-जिस तिथिको ये सब होते हैं, वे तिथियाँ भी पवित्र मानी जाती हैं ।

इन महापुरुषोंका स्मरण संसारको होता रहे, इसी हेतुसे ये उत्सव मनाये जाते हैं ।

इस प्रकार जैन-सम्प्रदायके साधनोंका संक्षेपमें वर्णन किया गया । विषय गहन और विस्तृत होनेसे केवल उद्देश्यरूपसे या नामनिर्देशरूपसे ही सब विषयोंका अति संक्षेपसे वर्णन करना पड़ा है । इन सबका विस्तृत ज्ञान प्राप्त करनेके लिये जैनशास्त्रोंको देखना चाहिये, जिससे मालूम होगा कि जैनागम कितना अपार, कितना गहन और कितना सूक्ष्मतत्त्वनिर्देशक है ।

छद्मस्थ जीवोंका ज्ञान अपूर्ण तथा सदोष होता है, इसलिये सम्भव है कि एक अज्ञानीद्वारा लिखे गये इस लेखमें कुछ त्रुटियाँ अवश्य रह गयी हों, जिनको कि विज्ञ पाठक शास्त्राधारसे शुद्ध कर लेंगे—ऐसी आशा है ।

जीवन-सिद्धिका मार्ग

(लेखक—श्रीजयभगवानजी जैन, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

जीवनकी विकटता

जीवन सुनहरे प्रभातके साथ उठता है । अरुण सूर्यके साथ उभरता है । उसके तेजके साथ खिलखिलाता है । उसकी गतिके साथ दौड़ता-भागता है । उसकी सन्ध्याकी छायाके साथ लंबा होता है और उसकी अस्तव्यस्तताके साथ निश्चेष्ट हो सो जाता है ।

> सुबह होती है, शाम होती है ।
> उम्र यों ही तमाम होती है ॥

तो क्या श्रम और विश्राम ही जीवन है ? काम और अर्थ ही उद्देश्य है ? साँझ-सबेरेवाला ही लोक है ।

यदि यों ही श्रम और विश्रामका सिलसिला जारी रहता, यदि यों ही काम और अर्थका रंग जमा रहता तो क्या ही अच्छा था ! जीवन और जगत् कभी प्रश्नके विषय न बनते । परन्तु जीवन इतनी सीधी-सादी चीज़ नहीं । माना कि इसमें सुस्वप्न है, कामनाएँ हैं, आशाएँ हैं, उमंगें हैं; यह अत्यन्त रोचक, अत्यन्त प्रेरक है; जी चाहता है कि इनके आलोकमें सदा जीवित रहा जाय । परन्तु इन्हींके साथ इसमें कैसे-कैसे दुःस्वप्न हैं, असफलताएँ हैं, निराशाएँ हैं, विषाद हैं । वे कितने कटु और घिनौने हैं, जी चाहता है कि इनके आलोकसे भागकर कहीं चले जायँ ।

कितना खेद है कि जीवनको कामना मिली पर सिद्धि न मिली । इस सिद्धिके लिये यह कितना आतुर है । इसके लिये यह कैसी-कैसी बाधाओंमेंसे गुजरता है । कैसी-कैसी वेदना, विपदा, आघात-प्रघात सहन करता है । परन्तु सिद्धि-का कहीं पता नहीं चलता । यदि भाग्यवश कहीं सिद्धि हाथ भी आयी तो वह कितनी क्षणस्थायिनी है, कितनी दुःख-दायिनी है । वह प्राप्तिकालमें आकुलतासे अनुरञ्जित है, रक्षाकालमें चिन्तासे संयुक्त है और भोगकालमें क्षीणता

और शोकसे ग्रस्त है। उसका आदि, मध्य और अन्त—तीनों ही दुःखसे भरे हैं। इस सिद्धिमें सदा अपूर्णताका भाव बसा है। यह सब कुछ प्राप्त कर लेनेपर भी रङ्क है, रिक्त है, वाञ्छायुक्त है। यह सारी जिंदगी दुरंगी है। इसकी सुन्दरतामें कुरूपता बसी है। इसके सुखमें दुःख रहता है। इसकी हँसीमें रोना है। इसके लालित्यमें भयानकता है। इसकी आसक्तिमें अरुचि है। इसके योगमें वियोग है। विकासमें ह्रास है। बहारमें खिजाँ है, यौवनमें जरा है। यहाँ हर फूलमें शूल है। इतना ही नहीं, यह समस्त ललाम-लीला, यह सारा उमंगभरा जीवन, यह सम्पूर्ण साँझ-सबेर-वाला लोक मृत्युसे व्याप्त है।

जीवनके मूल प्रश्न

क्या यही लोक है, जिसमें कामनाका तिरस्कार है, आशाका अनादर है और पुरुषार्थकी विफलता है? क्या यही जीवन है, जहाँ हजार प्रयत्न करनेपर भी सन्तुष्टिका लाभ नहीं और हजार रोक-थाम करनेपर भी अनिष्ट अनिवार्य है? क्या यही उद्देश्य है कि वेदनासे सदा तड़पा करो और अन्तमें क्षीण होते-होते मृत्युके मुँहमें चले जाओ? क्या इसीके लिये चाह और वेदना है? क्या इसीके लिये उद्यम और पुरुषार्थ है? क्या इसीके लिये सङ्घर्ष और प्राणोंकी आहुति है?

नहीं, यह मनचाहा जीवन नहीं। यह तो उस जीवन-की पुकार है, अनुसन्धान है, तलाश है। यह तो उसतक पहुँचनेका उद्यम है, उसे पानेका प्रयोग है। इसीलिये यह जीवन असन्तुष्ट और अशान्त बना है। उद्यमी और पुरुषार्थी बना है। अस्थिर और गतिमान् बना है। यह कहीं तृप्त नहीं, शान्त नहीं, स्थिर नहीं!

यदि ऐसा है तो यह अपने पुरुषार्थमें सफलीभूत क्यों नहीं होता? यह पुरुषार्थ करते हुए भी अपूर्ण क्यों है? आशाहत क्यों है? खेदखिन्न क्यों है?

इसका कारण पुरुषार्थकी कमी नहीं, बल्कि सद्लक्ष्य, सद्ज्ञान और सदाचारकी कमी है। इसका समस्त पुरुषार्थ भूल-भ्रान्तिसे ढका है। अज्ञानसे आच्छादित है। मोहसे ग्रस्त है। इसे पता नहीं कि जिस चीजकी इसमें भावना बसी है वह क्या है, कैसी है और कहाँ है। इसे पता नहीं कि उसे पानेका क्या साधन है, उसे सिद्ध करनेका क्या मार्ग है! इसलिये यह जीवनको उस ओर नहीं ले जा रहा है, जिस ओर यह जाना चाहता है। यह उस चीजकी प्राप्तिमें नहीं लगा है, जिसे यह प्राप्त करना चाहता है। यह केवल परम्परागत मार्गोंका अनुयायी बना है। मोहकी गाँठको और भी उलझा देनेवाले उन रूढ़िक पदार्थोंका साधक बना है, जिन्हें सिद्ध करते-करते यह इतना अभ्यस्त हो गया है कि वे इसका जीवन ही बन गये हैं।

इस भूल, अज्ञान और मोहके कारण यद्यपि इस जीवने अपने वास्तविक जीवनको भुला दिया है, उसे बंदी बनाकर अन्धकूपमें डाल दिया है, परन्तु उसने इसे नहीं भुलाया। वह सदा इसके साथ है। वह घनाच्छादित सूर्यके समान अन्तर्गुहामेंसे ही फूट-फूटकर अपना आलोक देता रहता है। इसके सुखप्नोंमें बैठकर, इसकी आशाओंमें आविष्ट होकर, इसकी भावनाओंमें भरकर अपना परिचय देता रहता है। वह वेदनामयी भाषामें पुकारता रहता है 'मैं यह जीवन नहीं हूँ। मैं इससे भिन्न हूँ। और हूँ। तत् हूँ। परे हूँ। दूर हूँ। अंदर हूँ।' इसी प्रतीतिसे प्रेरित हुआ जीव बार-बार प्राणोंकी आहुति देता है। बार-बार मरता और जीता है। बार-बार पुतलेको घड़ता है, बार-बार इसे रक्त कान्तिवाले मादक रससे भरता है। बार-बार इसके द्वारोंसे लखाता है। परन्तु बार-बार इसी नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्को अपने सामने पाता है, जिससे यह चिरपरिचित है। बार-बार उसीको देख इसे विश्वास हो जाता है, निश्चय हो जाता है, कि यही तो है जिसकी इसे चाह है। यही तो है जो इसका उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त और कोई जीवन नहीं, कोई उद्देश्य नहीं, कोई लोक नहीं। परन्तु ज्यों ही यह धारणा धरकर यह नाम-रूप-कर्मात्मक जीवन-में प्रवेश करता है, इसे फिर वही वाञ्छा, वही वेदना, वही दुःख आ घेरते हैं। फिर वही विफलताएँ, वही निराशाएँ, वही अपूर्णताएँ आ उपस्थित होती हैं। फिर वही भय, फिर वही शङ्का, फिर वही प्रश्न उठने शुरू होते हैं। क्या दुखी जीवन ही जीवन है? क्या मरणशील जीवन ही जीवन है? यदि नहीं तो जीवन क्या है? उद्देश्य क्या है? फिर वही तर्क-वितर्क, फिर वही मीमांसा शुरू हो जाती है।

प्रश्न हल करनेके विफल साधन

जीवने इन प्रश्नोंको हल करनेके लिये मतिज्ञानसे बहुत तरह काम लिया। उसके विश्वस्त साधनोंपर—इन्द्रिय, मन और बुद्धिपर बहुत तरह विश्वास किया। इन्हें अनेक तरहसे घुमा-फिराकर जाननेकी कोशिश की। परन्तु इन्होंने हमेशा एक ही उत्तर दिया। लौकिक जीवन ही जीवन है। शरीर ही आत्मा है।

भोग-रस ही सुख है, धन-धान्य ही सम्पत्ति है। नाम ही वैभव है। रूप ही सुन्दरता है। शरीरबल ही बल है। सन्तति ही अमरता है। मान-यश ही जीवन है। कीर्ति ही पुण्य है। इन्हें ही बनाये रखने, इन्हें ही सुदृढ़ और बलवान् बनाने, इन्हें ही सौम्य-सुन्दर करनेका प्रयत्न करना चाहिये; इसीमें भलाई है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्म करते हुए भोग-रस लेना ही जीवनमार्ग है। प्रवृत्ति ही जीवनमार्ग है। सुख-दुःख स्वयं कोई चीज नहीं, ये सब बाह्य जगत्के आधीन हैं। बाह्य जगत्की कल्पनापर निर्भर हैं। जगत्को दुःखदायी कल्पना करनेसे दुःख और सुखदायी कल्पना करनेसे सुख होता है। इसलिये जगत्के दुःखदायी पहलूको भुलाने और उसके सुखदायी पहलूको परिपुष्ट करनेकी जरूरत है।

इस तथ्यको ही तथ्य मान जीवने इसे अनेक प्रकारसे स्वीकार करनेकी कोशिश की। बुद्धिके सुझाये हुए अनेकों मार्गोंसे इसे सिद्ध करनेकी चेष्टा की। अज्ञानमार्गको मार्ग बनाया। उद्योगमार्गका आश्रय लिया। कर्ममार्गको ग्रहण किया। यान्त्रिक मार्गको अपनाया। विज्ञानमार्गको धारण किया। शिल्पकलामार्गपर चला। संघटनमार्गपर आरूढ़ हुआ। नीतिमार्गका अवलम्बन लिया। परन्तु इसके दुःखका अन्त न हुआ। प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना ही रहा—'जीवन क्या है?'

प्रश्न हल करनेका वास्तविक साधन

इतना होनेपर जीवको निश्चय हुआ कि सांसारिक जीवन इष्ट जीवन नहीं, यह जगत् इष्ट लोक नहीं। प्रचलित मार्ग सिद्धिमार्ग नहीं। बाह्य बुद्धिज्ञान यथार्थ साधन नहीं। जीवन-उद्देश्य, जीवन-लोक, जीवन-सुख-दुःख, जीवन-शुद्धिका मार्ग बाह्य जगत्के आश्रित नहीं। बाह्य जगत्की शक्तियोंको भुलाकर, उन्हें खुश करके, उनपर विजय करके या उन्हें व्यवस्थित करके जीवनकी सिद्धि नहीं हो सकती, सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जीवन कोई और ही चीज़ है। इसके जाननेका साधन भी और ही है। बाह्य बुद्धिज्ञान इसके लिये पर्याप्त नहीं।

यह जाननेके लिये कि जीवन क्या है, यह जानना होगा कि जीव क्या होना चाहता है और क्या होनेसे डरता है। इसका निर्णय अन्तर्ज्ञानके द्वारा हो सकता है। उस ज्ञानके द्वारा जो अन्तर्गुहाका प्रकाशक है। उस ज्ञानद्वारा जो अन्तर्लोकमें बैठी हुई सत्ताको देख सकता है। उसकी वेदनामयी अनक्षरी भाषाको सुन सकता है। उसके भावनामय अर्थको समझ सकता है। उस ज्ञानके द्वारा जो सहजसिद्ध है, स्वाश्रित है, प्रत्यक्ष है। जिसे अन्तर्दर्शन होनेके कारण मनोवैज्ञानिक intuition कहते हैं। जिसे अन्तर्ध्वनि सुननेके कारण अध्यात्मवादी श्रुतज्ञान कहते हैं। जिसकी अनुभूति 'श्रुति' नामसे प्रसिद्ध है।

इस ज्ञानको उपयोगमें लानेके लिये साधकको शान्त-चित्त होना होगा। अपनेको समस्त विकल्पों और दुविधाओंसे पृथक् करना पड़ेगा। निष्पक्ष एकटक हो पूछना होगा 'जीवन क्या चाहता है?' फिर निरक्षरी अन्तर्ध्वनिको सुनना होगा।

फिर जीवन क्या है?

जीव जीवन चाहता है। ऐसा जीवन जो निरा अमृतमय हो, मरणशील न हो। जो स्वाधीन हो। किसी तरह भी पराधीन न हो। जो घनिष्ठ हो! आसक्त हो। किसी तरह भी जुदा न हो। जो निकटतम हो, अभ्यन्तर हो, लय हो। तनिक भी दूर न हो, परे न हो। जो परिशुद्ध हो, निर्मल हो, तनिक भी दोषयुक्त न हो। जो सचेत हो, जाग्रत् हो, ज्योतिष्मान्—जाज्वल्यमान हो। तनिक भी जडता, मन्दता, अन्धकार जिसमें न हो। जो सुन्दर और मधुर हो, ललाम और अभिराम हो, स्वयं अपनी लीलामें लय हो। जो सम्पूर्ण हो, परिपूर्ण हो, जिसमें कोई भी वाञ्छा न हो। जो सर्वभू हो, अनन्त हो। जो सत्य हो, शाश्वत हो। जो सबमें हो, सब उसमें हों, पर वह अपने सिवा कुछ भी न हो। वह वह ही वह हो।

यह है जीवका इष्ट जीवन। इसे पाना है जीवका अन्तिम उद्देश्य, इसके प्रति कभी भय पैदा नहीं होता, कभी शङ्का पैदा नहीं होती, कभी प्रश्न पैदा नहीं होता। प्रश्न उसीके प्रति पैदा होता है, जो अनिष्ट है, भयोत्पादक है—जैसे दुःख और मृत्यु; परन्तु इष्टके प्रति कभी प्रश्न पैदा नहीं होता, कभी शङ्का नहीं उठती कि जीवन सुखी क्यों है, जीवन अमर क्यों है। इसका कारण यही है कि इष्ट जीवन आत्माका धर्म है—उसका वास्तविक स्वभाव है। आत्मा उसे निज स्वरूप मान स्वीकार करता है—सदा उसकी प्राप्तिकी भावना करता है। यह विवादका विषय नहीं। समस्याका विषय नहीं। यह भक्तिका विषय है। आसक्तिका विषय है। सिद्धिका विषय है।

यह इष्ट जीवन अलौकिक है, अद्भुत और अनुपम है। इसे आँखने कभी देखा नहीं, कानने कभी सुना नहीं, हाथने कभी छुआ नहीं, शारीरिक पुरुषार्थने कभी सिद्ध किया नहीं। यह शरीरसे, इन्द्रियोंसे, मनसे, वाणीसे दूर है, परे

है; अतः इसकी प्रतीति सदा दूरकी होती है। नेति-नेतिके द्वारा इसका विवेचन होता है, तत् शब्दद्वारा इसका सङ्केत होता है।

जीवन साध्य है

यह जीवन अन्तरात्माकी वस्तु है। यह उसमें वैसे ही निहित है, ओतप्रोत है, जैसे अनगढ़ पाषाणमें मूर्ति, बिखरी रेखाओंमें चित्र, मूक तारोंमें राग और बेखिली भावनामें काव्य। ये भाव जबतक अभिव्यक्त नहीं होते, दिखायी नहीं देते, सोये पड़े रहते हैं, तबतक बाहरसे देखनेवालोंको ऐसे मालूम होते हैं कि यह भिन्न हैं, इससे दूर हैं, महान् हैं। इनकी पाषाणसे, रेखासे, तारसे, भावनासे क्या तुलना, क्या सम्बन्ध। ये बिल्कुल तुच्छ हैं, हीन हैं, क्षुद्र हैं। ऐसे-ऐसे उसपर हज़ार न्योछावर हो सकते हैं। वह दुर्लभ है, कष्टसाध्य है, अप्राप्य है।

परन्तु वे इससे इतने भिन्न नहीं, इतने दूर नहीं कि वे इसमें आ ही न सकें, समा ही सकें। उनकी विभिन्नता जरूर है; परन्तु वह वास्तविक विभिन्नता नहीं, केवल अव्यवस्थाकी विभिन्नता है। उनकी दूरी क्षेत्रकी दूरी नहीं, केवल अवस्थाकी दूरी है। यदि विधिवत् पुरुषार्थ किया जाय तो यह अव्यवस्था दूर होकर वे भाव इसीमें सिद्ध हो सकते हैं।

जब पाषाण उत्कीर्ण हो जाता है, वह पाषाण नहीं रहता। वह मूर्ति बन जाता है। वह कितना माननीय और आदरणीय है। जब रेखाएँ सुव्यवस्थित हो जाती हैं, वे रेखाएँ नहीं रहतीं, वे चित्र बन जाती हैं। वे कितनी रोचक और मनोरञ्जक हैं। जब तार झंकारने लगता है, वह तार नहीं रहता; वह राग बन जाता है। वह कितना मधुर और सुन्दर है। और जब भावना मुखरित हो उठती है, वह भावना नहीं रहती, वह काव्य बन जाता है। साक्षात् भाव बन जाता है। वह कितना महान् और स्फूर्तिमान् है!

इस पाषाण और मूर्तिमें, इस रेखा और चित्रमें, इस तार और रागमें इस भावना और काव्यमें कितना अन्तर है? बहुत बड़ा अन्तर है। दोनोंके बीच अलक्ष्यता, मूर्च्छा और अव्यवस्थाका मरुस्थल है। जो अपनी अटललक्ष्यता, ज्ञान और पुरुषार्थसे इस दूरीको लाँघकर इस सिरेको उस सिरेसे मिला सकता है, वह निस्सन्देह एक कुशल कलाकार है। वह भूरि प्रशंसा और आदरका पात्र है। भगोड़ी लक्ष्मी उसके चरणोंको चूमती है और घातक काल स्वयं उसकी कीर्तिका रक्षक बनता है।

जीवन भी एक कला है। जबतक इष्ट जीवनका भाव इसमें अभिव्यक्त नहीं होता, यह बाहरसे देखनेवालोंको अत्यन्त भिन्न, अत्यन्त दूर, अत्यन्त अप्राप्य मालूम होता रहता है।

परन्तु वास्तवमें इष्ट जीवन आत्मासे भिन्न नहीं है। यह तो उसका स्वभाव है। धर्म है। स्वरूप है। इनकी विभिन्नता वास्तविक विभिन्नता नहीं है, केवल अवस्थाकी विभिन्नता है। यह मूर्च्छित है, वह जाग्रत् है। यह भावनामयी है, वह भावमय है। इनकी दूरी क्षेत्रकी दूरी नहीं है, केवल अव्यवस्थाकी दूरी है।

जब आत्मामें इस अलौकिक जीवनकी भावना मूर्तिमान् हो जाती है, चित्रित हो जाती है, साक्षात् भाव बन जाती है, तब आत्मा आत्मा नहीं रहता, यह परमात्मा हो जाता है। यह ब्रह्म नहीं रहता, यह परब्रह्म बन जाता है। यह पुरुष नहीं रहता; यह पुरुषोत्तम बन जाता है।

इस आत्मा और परमात्मामें कितना अन्तर है? बहुत बड़ा अन्तर है। दोनोंके बीच भूल, भ्रान्ति-मिथ्यात्व, अविद्या, मोह-तृष्णाका सागर लहरा रहा है। जो अपने ध्रुव लक्ष्य, सद्ज्ञान और पुरुषार्थ-बलसे इस दूरीको लाँघकर इस सिरेको उस सिरेसे मिला देता है, मर्त्यको अमृतसे मिला देता है, वह निःसन्देह सर्वोत्कृष्ट कलाकार है। वह संसार-सेतु है। वह तीर्थङ्कर है। वह लोकतिलक है। वह जगद्वन्द्य है। काल उसका द्वारपाल है। इन्द्र, चन्द्र उसके चारण हैं। लक्ष्मी, सरस्वती और शक्ति उसकी उपासक हैं।

यह भूल, अज्ञान और मोह ही जीवनके अभ्युदयमें सबसे बड़ी रुकावटें हैं। इनके आवेशमें कुछ-का-कुछ दिखायी देता है। कहीं-का-कहीं चला जाना होता है। जो अनात्म है, असत्य है, पर है, बाह्य है, वह आत्म, सत् और स्व दिखायी देता है और जो वास्तवमें आत्म, सत्य और स्व है, वह असत्य, मिथ्या और तुच्छ दिखायी देता है। जो दुःख और मृत्युका मार्ग है वह सुख और अमृतका मार्ग, और जो वास्तवमें सुख और अमृतका मार्ग है वह दुःख और मृत्युका मार्ग दिखायी देता है। यही विपरीत दर्शन है।

यह भूल, अज्ञान और मोह ही संसार-दुःख और मृत्युके कारण हैं। यही जीवनके महान् शत्रु हैं। इनकी विजय ही विजय है। जिसने इन्हें जीत लिया, उसने दुःख-शोकको जीत

लिया, जन्म-मरणको जीत लिया, लोक-परलोकको जीत लिया, इनका विजेता ही वास्तवमें जिन है, जिनेश्वर है, अर्हत् है।

आत्मसिद्धिका मार्ग

भूलका अन्त, मिथ्या धारणाका अन्त उसके पीछे-पीछे चलनेसे नहीं होता, न उसके भुलानेसे होता है और न उससे मुँह छिपानेसे होता है। वह मरीचिका है, आगे ही आगे चलती रहती है। वह छाया है, पीछे-ही-पीछे चलती रहती है। वह सब ओरसे घेरे हुए है, जहाँ जाओ वह साथ-साथ लगी हुई है। उसका अन्त दायें-बायें चलनेसे भी नहीं होता। उसका अन्त तो जहाँ हो वहींसे, उसी स्थानमें होकर उसका सामना करनेसे होता है।

अज्ञानका अन्त उसकी मानी हुई बातोंको माननेसे नहीं होता, न संशयमें पड़े रहनेसे होता है, न अनिश्चित मति बने रहनेसे होता है। उसका अन्त तो उसके मन्तव्योंको, उसके ज्ञातव्योंको स्पष्ट और साक्षात् करनेसे होता है—उनमें सत्य-असत्य, हित-अहित, निज-परका विवेक करनेसे होता है।

मोहका अन्त परम्परागत भावोंमें पड़े रहनेसे नहीं होता-न उनकी सिद्धि-वृद्धि करनेसे होता है। न उनकी तृष्णा, और वासनाको हृदयमें बसानेसे होता है। मोहका अन्त मुग्धकार भावोंकी मूढ़ता देखने, उनकी निन्दा, आलोचना और प्रायश्चित्त करनेसे होता है। तृष्णा-ग्रन्थियोंको शिथिल करनेसे होता है। वासनाके त्यागसे होता है। यह त्याग धर्म-कर्मका विधान करनेसे नहीं होता। दण्ड दण्डका विधान करनेसे होता है। मन, वचन, कायको गुप्त करनेसे होता है। उनकी गतिका निरोध और संवरण करनेसे होता है। और उन्हें अहिंसामय बनानेसे होता है।

इस तरह भव-कारणोंका अन्त प्रवृत्तिमार्गसे नहीं होता, निवृत्तिमार्गसे होता है। संवरमार्गसे होता है। अहिंसामार्गसे होता है।

परन्तु आत्मसिद्धिका मार्ग केवल निषेध, संवर और संन्यासरूप नहीं है। यह विधिरूप भी है। निषेध, संवर और संन्यास आत्मसाधनाकी पहली सीढ़ी है, साधककी पाद-पीठिका है। इसमें अभ्यस्त होनेसे आत्मा सिद्धिमार्गपर आरूढ़ रहनेमें समर्थ हो जाता है। वह स्थिर, उज्ज्वल और शान्त हो जाता है। अबाध और निर्विघ्न हो जाता है। परन्तु इतना मात्र होकर रह जानेसे काम नहीं चलता। मिथ्यात्व, अज्ञान और मोहका समूल नाश नहीं हो जाता। वे अनादि कालसे अभ्यासमें आनेके कारण अन्तश्चेतनाकी गहराईमें पैठ गये हैं। वे किसी भी समय अङ्कुरित हो उठते हैं। वे निष्कारण ही आत्माको उद्विग्न, भ्रान्त और अशान्त बना देते हैं। जबतक उनके गुप्त संस्कारोंका समूल उच्छेद नहीं हो जाता, संसार-चक्रका अन्त नहीं होता।

इन संस्कारोंको निर्मूल करनेके लिये निषेधके साथ विधिको जोड़ना होगा। प्रमाद छोड़कर सदा सावधान और जागरूक रहना होगा। समस्त परम्परागत भावों, संज्ञाओं और वृत्तियोंसे अपनेको पृथक् करना होगा। इन्द्रिय और मनको बाहरसे हटा अंदर ले जाना होगा। अपनेमें ही आपको लाना होगा। ध्यानस्थ होना होगा।

अंदर बैठकर निर्वात होकर ज्ञानदीपक जगाना होगा। ज्ञान-प्रकाशको उसीके देखनेमें लगाना होगा, जिसके लिये यह सब देखना-जानना है, ढूँढ़ना-भालना है। उसीकी भावनाओंको सुनना और समझना होगा, जो वेदनामयी निरक्षरी भाषामें निरन्तर गाती रहती है कि 'मैं अजर-अमर हूँ। तैजस और ज्योतिष्मान् हूँ। सुन्दर और मधुर हूँ। सत्य, परिपूर्ण और महान् हूँ।'

इस अन्तर्ध्वनिके सामने समस्त लक्ष्योंको त्यागकर इसी भावनामय जीवनको आत्मउद्देश्य बनाना होगा। इसे ध्रुव-समान दृष्टिमें समाना होगा। आत्माको निश्चयपूर्वक विश्वास कराना होगा—'सोऽहम्' 'सोऽहम्', मैं वही हूँ, मैं वही हूँ।

समस्त विज्ञानोंको छोड़ ज्ञान-उपयोगको इसी अमृतमय जीवनमें लगाना होगा। इसी जीवनको विशद और साक्षात् करना होगा। अंदर-ही-अंदर देखना और जानना होगा—'सोऽहम्', 'सोऽहम्'। समस्त रूढ़िक भावों और वृत्तियोंसे हटाकर ममत्वको इसी लक्ष्यमें आसक्त करना होगा। इसीके पीछे चलना होगा। इसीके समता-रसमें भीगना होगा, सराबोर हो जाना होगा। निरन्तर अनुभव करना होगा 'सोऽहम्', 'सोऽहम्'।

संक्षेपतः यह मार्ग आत्मश्रद्धा, आत्मबोध, आत्म-चर्याका मार्ग है।[1] सत्य दर्शन, सत्य ज्ञान, सत्य वृत्तिका मार्ग है।[2] सत्य-पारमिता, प्रज्ञा-पारमिता, शील-पारमिताका मार्ग है। सत्यदर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्रका मार्ग है।[3]

---

१. प्रश्न० १। १०; ५। ३; मुण्डक० ३। १। ५; १। २। ११; कैवल्य० १। २; लाठीसंहिता अध्याय ३।

२. रत्नकाण्ड, श्रावकाचार ॥ ३ ॥

३. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १। १

यह है वह विधि-निषेधात्मक सिद्धिमार्ग, जो गहरे-से-गहरे बैठे हुए संस्कारोंको जीर्ण कर देता है, विध्वंस कर देता है। इनसे ढकी हुई आत्मशक्तियोंको मुक्त कर देता है। उन्हें जाग्रत् और सचेत बना देता है। भावनामयी आत्माको भावनाके गह्वरसे निकाल साक्षात् भावात्मा बना देता है।

यह मार्ग बहुत कठिन है। अनेक परिषहोंसे सङ्कीर्ण है। इस पथके अनुयायीको अनेकों प्राकृतिक मानुषिक विपदाओं और क्रूरताओंको सहन करना पड़ता है। अनेकों शारीरिक और मानसिक बाधाओंको झेलना होता है। इसके लिये अदमनीय उत्साह, दृढ़ सत्याग्रह और अटल साहसकी जरूरत है। इतना ही नहीं, यह मार्ग लंबा भी बहुत है। इसके लिये दीर्घ पुरुषार्थकी, श्रेणीबद्ध अभ्यासकी, निरन्तर चलते रहनेकी जरूरत है। सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते—हर समय आत्मलक्षी, आत्मज्ञानी, आत्मवृत्ति होनेकी आवश्यकता है। सङ्कल्प है तो 'सोऽहम्', विचार है तो 'सोऽहम्', आलाप है तो 'सोऽहम्', आचार है तो 'सोऽहम्'। यहाँतक कि यह मार्ग जीवनमें उतर जाय, साक्षात् जीवन बन जाय, यहाँतक कि 'वह' और 'मैं' का अन्तर भी विलय हो जाय। आत्मा निरहङ्कार बन जाय, केवल वही वह रह जाय।

यह सिद्धिमार्ग किसी बाह्य विधि-विधान, क्रियाकाण्ड, परिग्रह-आडम्बरमें नहीं रहता। यह किसी भाषा, वाक्य या ग्रन्थमें नहीं रहता। यह किसी सामाजिक प्रथा, संस्था या व्यवस्थामें नहीं रहता। यह किसी पूजा-वन्दना, स्तुति-प्रार्थनामें नहीं रहता। यह साध्यके अनुरूप ही अलौकिक और गूढ़ है। वह साध्यके साथ ही अन्तरात्मामें रहता है। उसके उद्देश्यबल, ज्ञानबल और पुरुषार्थबलमें रहता है। यह त्रिशक्ति ही संसारकी साधक है। यह त्रिशक्ति ही मोक्षकी साधक है। भेद केवल इनके उपयोगका है, इनकी गतिका है। यदि इन शक्तियोंको बाहरसे हटा अन्तर्मुखी बना दिया जाय, इन्हें परसिद्धिकी बजाय आत्मसिद्धिमें लगा दिया जाय, इन्हें बाह्य उद्देश्य, बाह्य ज्ञान, बाह्य पुरुषार्थसे बदलकर आत्म-उद्देश्य, आत्मज्ञान, आत्मपुरुषार्थमें तबदील कर दिया जाय, तो यह त्रिशक्ति जीवनको बजाय इस पारके उस पार ले जानेवाली हो जाती है। बजाय संसारके मोक्षकी साधक बन जाती है। बजाय मृत्युके अमृतकी साधक हो जाती है!

यह त्रिशक्ति आत्मामें ही रहती है, आत्मरूप ही है। अतः वस्तुतः आत्मा ही साधक है, साधन है और साध्य है। आत्मा ही पथिक है, पंथ है और इष्टपद है।

यह त्रिशक्ति एकतामें रहकर ही सिद्धिकी साधक है, अन्यथा नहीं। जैसे इनकी बाह्यमुखी एकता संसारकी साधक है, वैसे ही इनकी अन्तर्मुखी एकता मोक्षकी साधक है। जैसे संसारमें किसी भी पदार्थकी सिद्धि केवल उसकी कामना करनेसे नहीं होती, केवल उसका बोध करनेसे नहीं होती, बल्कि कामना और बोधके साथ पुरुषार्थ जोड़नेसे होती है, ऐसे ही परमात्मपदकी सिद्धि केवल उसमें श्रद्धा रखनेसे, केवल उसे जान लेनेसे नहीं होती, बल्कि आत्मश्रद्धा, आत्मज्ञानके साथ आत्मपुरुषार्थके जोड़ लेनेसे होती है।

वास्तवमें जो परमात्मपदको अपना उद्देश्य बनाता हुआ आत्मज्ञानसे उसे देखता और जानता हुआ आत्मपुरुषार्थसे उसकी ओर विचरता है, वही सत्य है, मार्ग है, जीवन है। वही धर्म है, धर्ममूर्ति है, धर्मतीर्थ है, धर्म-अवतार है।

इस तरह विचरते हुए जिसके समस्त संशयोंका उच्छेद हो गया है, जिसकी समस्त ग्रन्थियाँ शिथिल हो गयी हैं, समस्त तृष्णाएँ शान्त हो गयी हैं, समस्त उद्योग बंद हो गये हैं। जो आत्मलक्षी है, आत्मज्ञानी है, निरहङ्कार है। जिसने अपनी आशा अपनेहीमें लगा ली है, अपनी दुनिया अपनेमें ही बसा ली है, अपनी ममता अपनेमें ही जमा ली है। वही कृतकृत्य है, अचल है, ईश है। उसके लिये काँच और काञ्चन क्या? शत्रु और मित्र क्या? स्तुति और निन्दा क्या? योग और वियोग क्या? जन्म और मरण क्या? दुःख और शोक क्या? वह सूर्यके समान तेजस्वी है, वायुके समान स्वतन्त्र है, आकाशके समान निर्लेप है। मृत्यु उसके लिये मृत्यु नहीं, वह मृत्युका मृत्यु है, वह मोक्षका द्वार है, वह महोत्सव है।

यह सिद्धिमार्ग वेषधारीका मार्ग नहीं, तथागतका मार्ग है। मूढ़का मार्ग नहीं, सन्मतिका मार्ग है। यह निर्बलका मार्ग नहीं, वीरका मार्ग है।

जरथुस्त्रधर्मकी साधना

(निःस्वार्थ-सेवा)

(लेखक—श्रीफीरोज कावसजी दावर एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

जरथुस्त्रीय उपासनाका साधन बहुत व्यापक और जटिल भी है। कोई श्वेत पगड़ीवाला पारसी पुरोहित ही जो इस उपासनाके रहस्योंमें विधिपूर्वक दीक्षित हुआ हो, वही अधिकारके साथ इस विषयमें कुछ कह सकता है। मैं तो एक सामान्य मनुष्य हूँ; इसलिये इस उपासनाके गभीर रहस्योंके विषयमें कुछ कहनेका साहस न करके, केवल निःस्वार्थ सेवा-साधनके विषयमें ही कुछ कहूँगा। क्योंकि निःस्वार्थ सेवा जरथुस्त्र-सम्प्रदायका हृद्गत ही है। हमारे धर्मका सर्वोत्तम प्रतीक वह कमल है, जिसमेंसे एक देवता उदय हो रहे हैं। यह कमल श्वेत है, जो जरथुस्त्रीय सम्प्रदायकी पवित्रताका चिह्न है। यही हमारे पुरोहितों और हमारे धार्मिक अथवा अंशतः धार्मिक कृत्योंमें भाग लेनेवाले लोगोंका वर्ग है। यह कमल पङ्कसे उत्पन्न हुआ पङ्कज है, पर उसमें अभी कोई कलङ्क नहीं लगा है। जरथुस्त्र-धर्मको माननेवाला सच्चा अनुयायी सांसारिक जीवन व्यतीत करता है; पर इसके लोभ-मोह उसे अपना शिकार नहीं बना सकते, न उसपर अपना कीचड़ ही उछाल सकते हैं, न उसे राग-द्वेषके द्वन्द्व-सङ्कर्षसे विचलित ही कर सकते हैं। कमलकी निष्कलङ्कतासे ही दिव्य देवभावका उदय होता-सा प्रतीत होता है, जैसा कि हिंदू-कलाकी कुछ कृतियोंमें देख पड़ता है; ऐसे ही निर्मल हृदयमें, जो हो संसारमें पर संसारका न हो, अहुरमज्द निवास करते हैं। जरथुस्त्र-धर्मको माननेवाला पवित्रात्मा पुरुष इस प्रकार एक कमल है, मकड़ा नहीं जो अपनी कामनाओंके जालमें स्वयं केन्द्र बना दैवात् पास आनेवाली मक्खियोंकी घातमें लगा रहता है।

हमारे धर्मका चिह्न संन्यासका गेरुआ वस्त्र नहीं, बल्कि सेवाकी 'कुश्ती' (विशुद्ध मेखला) है। संन्यासधर्मका हमलोग आदर करते हैं, पर अपने धर्मकी भावनाके अनुसार निष्काम कर्म और अहैतुक परोपकारके जीवनको अधिक पसंद करते हैं। हमलोग अपनी सब कर्मशक्तियोंको ईश्वरमें ही नहीं गड़ा देते, न दुनियाकी ओर अपनी पीठ फेर देते हैं; बल्कि हमलोग उस ईश्वरका अनुसन्धान करते हैं जो उन पतित-पीड़ित असंख्य मनुष्योंके हृदयोंमें निवास करता है जिन्हें सहायताकी आवश्यकता है। हम जानते हैं कि संसार भ्रमका एक चक्कर है; पर हम इस भ्रमके मूलमें जो सत्य है, उसके अभिमुख होते हैं। जो मनुष्य संसारको केवल कल्पित या प्रातिभासिक क्षणिक दृश्यमात्र समझता है, उसे ऐसे संसारकी सेवा करनेमें कभी उत्साह नहीं हो सकता। उत्साह तभी होगा, जब उसे यह विश्वास होगा कि जीवन मिथ्या नहीं, इसका कुछ अर्थ है, कुछ अभिप्राय है। अतः श्रीमत् शङ्कराचार्यके 'केवलाद्वैत' की अपेक्षा श्रीमद्रामानुजाचार्यका 'विशिष्टाद्वैत' जरथुस्त्रके अनुयायियोंको अधिक आकर्षक और प्रेरक प्रतीत होता है। 'स्वामी रामतीर्थके ग्रन्थ' की भूमिकामें रेवरेंड सी. एफ्. ऐंड्रूज इस 'केवलाद्वैत' सिद्धान्तके विषयमें कहते हैं कि यह तो जीवनकी महान् समस्याका एक अवैध और बहुत सस्ता-सा समाधान (illegitimate short cut) है। जगद्रहित ईश्वरकी भावना किसी कदर भावमय स्थितिकी ही भावना है। भगवान् हैं भावमय, पर जब हमारे हृदय भक्तिमें लीन होते और हमारी प्राणेन्द्रियक्रियाएँ विश्वमानवकी सेवामें लग जाती हैं, तब वे शक्ति और प्राणेन्द्रियक्रियाके रूपमें प्रकट होते हैं। जरथुस्त्र-सम्प्रदायने मानव-जातिकी सेवाका व्रत लेकर अपनी रक्षा कर ली है। वह एक साथ दो काम करता है, मनुष्य और ईश्वर दोनोंके ही प्रति एक साथ ही अपने कर्तव्यका पालन करता है। जरथुस्त्रको माननेवाला पुरुष मनुष्यकी जो सेवा करता है, वही भगवान्की पूजा हो जाती है।

किसी महान् पारमार्थिक जीवनके लिये अपने स्वजनोंका त्याग करना, जीवनके सुख-साधनों और भरे-पूरे घरके आनन्दको लात मार देना बड़े भारी आत्मनिग्रहका काम है। पर इससे भी अधिक आत्मसंयमकी आवश्यकता होती है, सबके बीचमें बैठकर ईश्वरकी ओर अपना मन एकाग्र करनेमें—जहाँ सब तरफ सब प्रकारके ऐसे-ऐसे प्रलोभन हैं जो बड़े-बड़े साधु-महात्माओंको भी डिगा देनेका भय दिखाते हैं। यह है सबसे कठिन काम, पर असम्भव नहीं—जैसा कि राजा जनककी कथासे मालूम होता है। एक बार राजा जनकने कुछ आदमियोंके सिरपर जलसे लबालब भरा हुआ एक-एक घड़ा रखवाया और उन्हें शहरके बाजारमें घूम-फिर आनेकी आज्ञा दी। बाजारमें बड़ा मेला था और ढोल और नगारे बड़े जोर-जोरसे बजाये जा रहे थे और इन्हें यह आज्ञा हुई कि घड़ेका

पानी छलके नहीं, उसमेंसे एक बूँद भी नीचे न गिरे, जिससे गिरेगा उसका सिर काट लिया जायगा। ये लोग घड़े सिरपर रक्खे, बाजारमें घूमे; पर सिर कटनेके भयसे इनके मनकी इतनी एकाग्रता हो गयी थी कि इन्हें रास्तेमें न कहीं कोई बाजे सुनायी दिये, न इनका किसी ओर ध्यान गया, न किसी-के घड़ेसे एक बूँद पानी नीचे गिरा। इसी प्रकार हमलोगोंमें जो साधु प्रकृतिके लोग हैं, वे इस जीवनयात्रामें मार्ग चलते हुए दीन-दुखियोंकी सहायता करते चलते हैं पर दिन-दिन बढ़नेवाले प्रलोभनोंसे नहीं विचलित होते।

सेवाका यह उपदेश सीधा-सादा-सा होनेपर भी इसके लिये यह तो आवश्यक होता ही है कि सेवा करनेवाला पुरुष, प्रथमतः, विशुद्ध और विनम्र हो। जिस पुरुषको अपनी शक्तियोंका अभिमान है और जो अपनी प्रतिष्ठाको सदा बनाये रहनेकी चिन्तामें व्यग्र रहता है, वह अपनेसे बड़ेके सिवा और किसीकी सेवा करनेका अधिकारी नहीं है। बड़ेकी सेवा भी वह आर्थिक लाभके लिये ही कर सकता है। गर्वका सिर ऊँचा ही होता है, पर प्रायः इसे नीचा ही देखना पड़ता है; नम्रता नमा करती है और दीनजन-सेवाके कार्योंमें दीनवत्सल भगवान्‌को देखा करती है। सेवाधिकारकी दूसरी आवश्यकता है प्रेमगद्गद हृदय। प्रेमसे ही तो माता अपने शिशुकी सेवा करती है और प्रेमसे ही पुत्र-पुत्री अपने वृद्ध माता-पिताकी सेवा करते हैं, चाहे माता-पिताके पास उन्हें देनेके लिये अब कुछ भी न रहा हो। प्रेमसे ही सेवा हो सकती है। प्रेमकी उत्पत्ति होती है अहङ्कारकी लीनतामें और उसका लय होता है सेवा और आत्मदानमें। परन्तु किसीका प्रेम अपने परिवारमें ही बँधा रह सकता है—ऐसे प्रेमको स्वार्थपरतासे कुछ अधिक नहीं माना जा सकता। यहींसे धर्मकी प्रवृत्ति आगेको बढ़ती है और यह अनुभव होता है कि भक्ति जितनी ही गाढ़ी होती है, प्रेमका क्षेत्र भी उतना ही विस्तृत होता है। तब देश और धर्मके भेद भी भूल जाते हैं और साधु, संत, सिद्ध, महात्मा मनुष्यमात्रमें उसी प्रभुके दर्शन करते हैं और विश्वबन्धुसे छोटी किसी चीजसे सन्तुष्ट नहीं होते।

संसारके कल्याण-साधनमें परस्परकी सेवा अनिवार्य है, क्योंकि कोई अंश अपने अंशीसे अलग नहीं रह सकता। यदि एक अंश दूसरे अंशसे और सब अंश अपने पूर्ण अंशीसे पृथक् हो जायँ तो सम्पूर्ण कुछ रह ही नहीं जाता और अंश भी परस्पर सहयोगके अभावसे नष्ट हो जाते हैं। यदि एकत्व ही जीवनका साध्य है तो सेवा और सहायता ही इसके साधन हैं और विशुद्ध निःस्वार्थ परोपकारका एक छोटा-सा भी काम भगवान्‌की नित्य अर्चाका ही एक कृत्य है। इस सेवाभावका जगत्‌में प्रचार हो, सब लोग सुखी हों, यही जरथुस्त्र-धर्मकी साधना है। सीधी-सी बात है, पर किसी कविने कहा है कि 'इतने रास्ते चक्कर-पर-चक्कर काटते हुए! इतनी जातियाँ और इतने सम्प्रदाय! भला, इन सबका क्या काम था?—जब कि जगत् जो कुछ चाहता है, वह इतना ही कि सदय हो दया करो, और कुछ नहीं!'

मृत्यु बाघिनकी तरह पकड़कर ले जाती है

सुप्तं व्याघ्रं महौघो वा मृत्युरादाय गच्छति। संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्॥

वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति। इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत्कृताकृतम्॥

एवमीहासमायुक्तं मृत्युरादाय गच्छति। कृतानां फलमप्राप्तं कार्याणां कर्मसंगिनाम्॥

जलका वेग जैसे सोते हुए बाघको बहाकर ले जाता है, वैसे ही काल नाना प्रकारके मनोरथ बाँधते हुए और कामनाओंसे अतृप्त हुए पुरुषको घसीटकर ले जाता है। भेंड़के बच्चेको जैसे बाघिन उठाकर ले जाती है, ऐसे ही मृत्यु पकड़कर ले जाती है। पुरुष यह विचारता होता है कि मैंने यह कार्य कर लिया, यह कार्य करनेको बाकी है, इस कामको आधा कर लिया है, अभी यह आधा और बाकी है, परन्तु इतनेमें ही मृत्यु उसके किसी कामका विचार न कर उसकी इच्छाओंके पूर्ण हुए बिना ही पकड़ ले जाती है। (महा० शान्ति० २७७ अ० १८ से २० श्लोक)

जरथुस्त्र-धर्मकी अग्नि-उपासना

(लेखक—श्रीनरीमान सोराबजी गोलवाला)

गूश्ता ये मन्ता अषेम्
अहूम्बिश् विद्वाओ अहूरा ।
पेरेजुखधाई वचंघहाम्
क्षमश्नो हिचवां वसा
ध्वा आथ्रा सुख्रा मज्दा
वंघहाऊ वीदाता रांन्याओ ।*
(गाथा ३१—१९)

पारसी जरथुस्त्र-धर्मकी समस्त क्रियाओंमें अग्निका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है । सांसारिक व्यवहारोंमें भी सर्वत्र अग्निकी ही प्रधानता है । देशका व्यापार अग्निसे ही चल रहा है । रेलगाड़ी और मिलें—ये सब अग्निसे ही चलती हैं । यह अग्नि प्रकृतिकी बहुमूल्य भेंट है । वृक्ष और लता आदिके उगने और बढ़नेमें अग्नि बहुत शक्ति प्रदान करता है । धातुओंको पिघलानेवाला अग्नि ही है । ज्वालामुखी और भूकम्प—ये भी अग्निकी ही क्रियाएँ हैं । हमारी मानवजातिमें भी यही अग्नि काम कर रहा है । सभी प्राणियोंकी उत्पत्तिमें अग्निका हाथ रहता है । अग्नि बुझ जाय, तो हमारा जीवन समाप्त हो जाय । सारी सृष्टि अग्निसे चल रही है । इसके प्रताप और लाभके कारण ही पारसी जातिने अग्निको सबसे श्रेष्ठ पद प्रदान किया है । बड़े सम्मान और भक्तिभावके साथ पारसी लोग उसे प्रज्वलित रखते हैं । वे विशेष प्रकारके भवन निर्माणकर अग्निको उनमें स्थापित करते हैं । इस प्रकारके भवन अग्नि-मन्दिर कहलाते हैं । अग्निके द्वारा ही संसारमें तन्मय होनेके लिये याचना करते हैं ।

अग्निकी महत्ता दिखलाते हुए यज़स्नेके ४३ वें अध्यायके चौथे वाक्यमें शुद्ध चित्तकी शक्तिके लिये याचना की गयी है । जैसे—

अत ध्वा मंगूहाई तख्मेम्चा स्पेन्तेम मज्दा
हृत् ता जस्ता या तू हृपवी अवाओ
याओ दाओ अषीश द्रेगवाईते अषाऊनए था
थ्वाह्या गरेमा आथ्रो अषा-अओजंघहो
हृत् मोई वंघहेऊश हजे जिमत मनंघहा
(४३ । ४)

विद्वद्वर श्रीयतीन्द्रमोहन चटर्जी एम्० ए० ने अवस्ताके इस पद्यका इस प्रकार अनुवाद किया है—'I thought you to be the seed of holiness, O Mazda, since Thine are those arms with which you give protection and by which you give blessing both to the good and to the bad. And that which will lend strength to my conscience, is your glowing fire glorious in virtue.'

'हे मज़्द, मैंने तुझे पवित्रताके आदिकारणके रूपमें पहचाना, क्योंकि यह तुम्हारी ही शक्ति है जो आश्रय प्रदान करती है, और इसीके द्वारा भले बुरेका कल्याण होता है । और तुम्हारी यह पुण्यके प्रतापसे प्रज्वलित अग्नि ही हमारी अन्तरात्माको शक्ति प्रदान करेगी ।'

वन्दीदाद नामक पारसियोंकी दूसरी पुस्तकमें लिखा है कि 'हे प्रभु ! क्या अग्नि मनुष्यको मारता है ?' तब होरमज़्दे (प्रभु) ने कहा कि, अग्नि मनुष्यको मारता नहीं । अस्तो विधोतु देव (यम देवता) उसको बाँधते हैं और (मरुत्) उसे बाँधकर ले जाते हैं । अग्नि उस मनुष्यकी हड्डियों तथा दिलकी गरमीको जलाता है । वहाँसे वह आगे जाता है और तकदीरसे वह नीचे जाता है । (वन्दीदाद ५)

यज़स्नेमें विभिन्न प्रकारके अग्निका वर्णन आता है । १७ वें प्रकरणमें सब अग्नियोंकी आराधना इस प्रकार की गयी है—

बेरेज़ी सवंघह नामक अग्निका हम स्तवन करते हैं ।
उर्वाज़ीश्त ,, ,, ,, ,, ,,
वाज़िश्त नामक अग्निका हम स्तवन करते हैं ।
स्पेनिश्त ,, ,, ,, ,, ,,
नेरियोसंघ ,, ,, ,, ,, ,,

तथा अहुरमज्दका उत्पन्न किया हुआ और अहुरमज्दके द्वारा समस्त वस्तुओंको पवित्र करनेवाला जो अग्नि सब गृहोंका गृहस्वामी है और अशोईका सरदार है, उसका अन्य अग्नियोंके साथ हम स्तवन करते हैं । (यज़स्ने १७)

---

* हे मज़्द, अपने उद्दीप्त प्रकाशके द्वारा उस वीरको सत्यमें अवस्थित करो, जो बुद्धिमान् है और आत्मज्ञानके साथ सदाचारका श्रवण और मनन करता हुआ वाक्संयमी हो गया है तथा वाणीके द्वारा सत्यके प्रकाशनमें समर्थ है ।

हे अग्नि, तुम अहुरमज्दकी निशानी हो। तुम दादार (प्रभु) की सृष्टिकी वृद्धि करनेवाले हो। हे अहुरमज्दके अग्नि, तुम्हारे अनेकों नामोंमेंसे एक नाम 'वाजिस्त' है। हे प्रभु, हम इस नामके द्वारा तुम्हें प्राप्त करें। (यज्ञश्ने ३६)

अग्निकी ऐसी महिमा है, ऐसा उच्च स्थान इसको प्रदान किया गया है। तो फिर इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, यह पहले अस्तित्वमें कैसे आया—इसका अन्वेषण करके इसके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसकी आलोचना की जायगी।

अग्निकी उत्पत्ति (प्राचीन कालमें)

प्राचीन कालमें आजसे दस हजार वर्षसे भी अधिक पहले ईरानमें महान् पारसी आर्यन् राजा राज्य करते थे। इन आर्यन् राजाओंका पहला वंश 'पेशदादीअन' नामका था। इस वंशका सबसे पहला बादशाह 'गयोमर्द' था। उसका पुत्र स्यामक लड़ाईमें मारा गया। उसके वियोगमें गयोमर्दकी मृत्यु हो गयी। इसके बाद हुशंगनामक बादशाह गद्दीपर बैठा। गयोमर्दके समयमें अग्नि-जैसी वस्तुका पता न था।

बादशाह हुशंगको शिकारका बड़ा शौक था। शाहनामे-का रचयिता कवि फिरदौसी कहता है कि एक दिन बादशाह हुशंग अपने आदमियोंके साथ पहाड़ीकी ओर शिकारके लिये जा रहा था। इतनेमें उसे दूरसे लंबी, काले रंगकी और जल्दी-जल्दी दौड़ती हुई कोई वस्तु दिखायी दी। उस वस्तुके सिरपर दो आँखें रक्तके चश्मेके समान थीं। उसके मुँहसे निकलती हुई भापके कारण दुनियामें अँधेरा छाया था। यह एक बड़ा भारी अजदहा (सर्प) था। बादशाहने एक बड़ा पत्थर उठाकर उसे अपनी सारी शक्ति लगाकर सर्पकी ओर फेंका। वह पत्थर अजदहाके सिरपर लगा और वह चूर-चूर हो गया। वह पत्थर उसके सिरपर लगनेके बाद पासके दूसरे पत्थरसे टकरा गया और टकराते ही उसमें चकमक (अग्नि) पैदा होनेके कारण पासकी घास जल उठी। हुशंग और उसके साथी इस नयी जातिके तेजको आगे आता देखकर उसे लेने गये और उससे जल गये। यह तेज क्या है, इसका भान होते ही बादशाहने उसे और भी अधिक प्रज्वलित किया और उसका नाम 'आतिश' या अग्नि रक्खा।

इस प्रकार अकस्मात् अग्निका आविष्कार हुआ। बादशाहने इसके लिये विशेष भवन बनाया और उसमें उसकी स्थापना की। उसके पीछेके बादशाहोंने भी उसकी उसी प्रकार रक्षा की—अग्निको प्रज्वलित रक्खा। हुशंगके पीछे गद्दीपर बैठनेवाले बादशाह तेरमुरस्पेने अग्निकी महत्ता बढ़ायी, और अपने देशमें तीन आतिशकदेह (अग्नि-मन्दिर) बनवाये, और उनका नाम 'स्पेनिश्त', 'वाजिश्त' और 'बेरेजंषड्' अग्नि रक्खा।

इसके बाद बादशाह जमशेदने 'अनुनफशेइवर्ग' के नामसे अग्निकी स्थापना की। बादशाह लोहरास्पने 'नओ बहार' के नामसे आतिशकदेह (अग्नि-मन्दिर) स्थापित किया।

पारसियोंके महान् पैगम्बर महात्मा जरथुस्त्रने (आजसे ६००० वर्षसे भी पूर्व) अपनी हथेलीसे आग निकालकर मस्त हुए मोबेदों (ब्राह्मणों) को होशमें लाकर जशन (यज्ञ) किया और 'आझरे बूरजीन मेहर' के नामसे अग्निकी स्थापना की।

पैगम्बरके बाद पाँच शताब्दियाँ बीत गयीं। ईरानके सबसे अन्तिम सासान वंशके अर्दशीर बाबेकरने नये सिरेसे बादशाहत स्थापित की और नया शहर बसाया, तथा 'आतिश बेहराम' बनवाया। इस वंशके महान् बादशाह नौशीरवानने अग्निका महत्त्व बढ़ाया और 'आझर गोशीद' नामसे अग्निकी स्थापना की।

इस सासान वंशके अन्तिम बादशाह यज्दगर्दके बाद पारसी शाहनशाहत ही नष्ट हो गयी। मुसल्मान ईरानपर चढ़ आये। ईरानी और मुसल्मानोंके बीच युद्ध हुआ। ईरानी पारसी हार गये और मुसल्मान ईरानके अधिकारी हो गये। पारसियोंका धर्म और अग्नि दोनों सङ्कटमें आ पड़े। इस अग्निको बचाने और धर्मकी रक्षा करनेके लिये पारसियोंने अपने प्यारे वतन (मातृभूमि) को छोड़ दिया और वे बहुत बड़ी संख्यामें हिन्दुस्तानमें आये। इस देशमें पारसियोंको आश्रय मिला। (इस आश्रयको प्राप्त करनेके सम्बन्धमें बहुत जानने योग्य इतिहास है। उसे किसी दूसरे समय प्रस्तुत करूँगा।)

पारसी लोग हिन्दुस्तानमें आये। वे आज तेरह सौ वर्षसे हिन्दुस्तानमें बसे हुए हैं और हिन्दुस्तानको अपनी मातृभूमि बना लिया है। इस प्यारी मातृभूमिके लिये उन्होंने अपना तन-मन-धन प्रदान कर दिया है। कला-कौशल और व्यवसायमें सर जमशेदजी ताताका नाम आज खूब प्रसिद्ध है। राजनीतिमें देशके महान् दादा देशभक्त

दादाभाई नौरोजीका नाम प्रत्येक हिन्दुस्तानी जानता है। स्वराज्यकी घोषणा करनेवालोंमें दादाभाई पहले आदमी थे। जात-पाँतके भेदको छोड़कर सारे हिन्दुस्तानमें महान् दान करनेवाले पारसी लोग ही हैं।

पारसी लोगोंने इस देशमें अपने धर्मकी भलीभाँति रक्षा की है। गुजरातके बड़े शहरोंमें जहाँ-जहाँ पारसियोंकी अच्छी बस्ती है, वहाँ-वहाँ पारसियोंने अग्नि-मन्दिर बनवाये हैं और अग्निकी स्थापना करके सारे देशमें अग्निकी महत्ता बढ़ायी है।

अग्नि-मन्दिरोंमें जो अग्नि प्रज्वलित किया जाता है, उसके लिये कोयलेका प्रयोग नहीं होता। धर्मगुरु पृथक्-पृथक् अग्नियोंके साथ एक अग्निकी स्थापना करते हैं। एक-दूसरेके साथ अग्निको मिलाते समय गन्धकका एक टुकड़ा रूईके साथ सुलगाते हैं, और उसकी ज्योतिसे दूसरेको, उससे तीसरेको, चौथेको इसी प्रकार अग्निका निर्माण करते जाते हैं। अन्तमें सब ज्योतियोंमें अग्नि पवित्र हो जाता है, तब धर्मगुरु उस अन्तिम अग्निकी स्थापना करते हैं।

अग्नि कोई मूलतत्त्व नहीं है, परन्तु यह नूरी चीज़ है। इसका धूमिल प्रकाश सबसे सुन्दर आत्माकी दृष्टिमें आनेवाली नौकाके समान है। 'सीक्रेट डॉक्ट्रिन' नामक पुस्तकमें अग्निकी महिमाका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि 'खनिज पदार्थ और वनस्पतिमें बड़ा अन्तर है। उदाहरणार्थ, दीपके दीवटमें कोई आकर्षण नहीं होता, परन्तु उसके प्रज्वलित करते ही उसमें आकर्षण बढ़ता है। परन्तु इस आकर्षणके लिये तेलकी आवश्यकता पड़ती है। ईथर अग्नि है। ईथरका सबसे हल्का हिस्सा जो जलता है, वह इससे ही बना है।

हमें दिखलायी देनेवाली सृष्टिमें यही एक तत्त्व है जो सब प्रकारकी सजीव वस्तुओंके आकारकी क्रियाशक्तिके रूपसे व्याप्त है। इसीके कारण प्रकाश, उष्णता, मरण और जीवन आदि होते हैं।

ईथरका सबसे स्वच्छ रूप अग्नि है। इसी कारण उसका प्राकृतिक रूप नहीं बतलाया जा सकता। परन्तु वह सबसे स्वच्छ ईथरके साथ अभेदरूपसे रहता हुआ सृष्टिमें सर्वत्र मालूम पड़ता है।

अग्नि दो प्रकारका होता है—पहला निराकार या अदृश्य अग्नि, जो मध्यबिन्दुमें स्थित होकर आत्मसूर्यमें छिपा हुआ है; दूसरा प्रकट जागतिक अग्नि, जो सृष्टि और सूर्यमें सत्तरूपोंमें रहता है।

प्रभु अहुरमज़्द अग्निमय शरीरवाले हैं। व्यक्त जगत्के परे सर्वैकात्म्यरूपमें अग्निमय प्राणवाले ईश्वर हैं। इस संसारमें वह मध्यबिन्दुमें प्रतीत होनेवाले आत्मिक सूर्य तथा सृष्टिके आत्माके रूपमें तथा जगत्के स्रष्टा ईश्वरके रूपमें परिगणित होते हैं। हमारी पृथ्वीके भीतर, बाहर और ऊपर अग्निमय आत्मा विद्यमान है, जिसमें हवा यानी सूक्ष्म अग्नि, जल यानी द्रव अग्नि और पृथ्वी यानी स्थूल अग्निका आविर्भाव होता है।

पारसी जरथुस्त्रियोंका आतिशबेहराम

पारसी जरथुस्त्रियोंने अपने अग्नि-मन्दिरमें एक विशेष अग्निको स्थापित किया है, वह मन्दिर 'आतिशबेहराम' के नामसे कहलाता है। इसके गर्भगृहमें संगमरमरकी वेदीके ऊपर एक चाँदी या पीतलके आफरगान्या (एक प्रकारके अग्निपात्र) में पवित्र अग्निको प्रतिष्ठित किया जाता है। इस अग्निमें रात-दिन चन्दन जलाया जाता है। इससे एक सुन्दर बोध मिलता है। चन्दनका जलना और सुगन्धका फैलना स्वर्गकी ओर जानेवाले मार्गको दिखलाकर, जहाँ ईश्वरका निवासस्थान है और जहाँ ईश्वरीय अग्नि सृष्टिके व्यवहारको चालू रखनेके लिये प्रज्वलित रहता है, उस लोककी ओर भक्ति करनेवाले आत्माका ध्यान ऊँचा उठाता है। अग्नि प्रज्वलित होता है और उसका तेज ऊपर चढ़ता है। वह मानो जीवनका महान् प्रकाश है और जुदा पड़े हुए आत्माके चिह्नको प्रदर्शित करता है। जिस खण्डमें अग्नि सदा प्रज्वलित रहता है, वह सृष्टिकर्ताका सुन्दर नमूना अशोईकी शिखापर है और अन्धकारको दूर करनेवाला तथा मनुष्यके आन्तरिक नित्यजीवनको उच्च स्थान प्रदान करनेवाला है। उस खण्डके आकाशके ऊपर निराकार (अदृष्ट) प्रभुकी दृष्टिमें पड़नेवाली ज्योतिको आथो अहुरमज़्दकी बन्दगी करनेवाले अपना सिर समर्पण करते हैं। अग्नि ईश्वरका पुत्र है। वह इस भौतिक जगत्का स्रष्टा है। और अपने पिता अहुरमज़्दका प्रतिनिधि तथा अनन्त सुखका स्वामी है। वह मनुष्योंका कल्याण करनेवाला तथा सृष्टिका प्रकाश और जीवन है।

आज तो गुलशान अवनत दशामें है। ऐसे समयमें भी अग्निमें अपने प्रभुका अंश देखनेके लिये सारे पारसी अपने अन्तःकरणके उद्गारोंको प्रकाशित करते हैं। पैगम्बर जरथुस्त्रके अनुयायी मानते हैं कि उनके ये पैगम्बर स्वर्गीय प्रकाशके प्रकाशक थे और प्रकाश (Light) उनका

पैगाम (सन्देश) था । सब तत्त्वोंमें अग्नि ही एक ऐसा तत्त्व है जो सदा आकाशकी ओर संकेत करता है । और जो बिहिश्त (स्वर्ग) से अग्नि लाया था, उसने भौतिक जगत्में नीति और गुमशानके अन्धकार (अज्ञान) को दूर किया ।

पारसीलोग जब एक नया अग्नि-मन्दिर बनवाते हैं तब उसमें सब जगहोंके, समस्त कारीगरोंके और समस्त वर्णोंके लोगोंके यहाँसे अग्नि एकत्रित करते हैं । इसके लिये महीनों पहलेसे तैयारी होती है । देशके बादशाहके घरका अग्नि लिया जाता है, भिक्षुकके घरका अग्नि लिया जाता है । उसके पश्चात् राजगीर, लोहार, बढ़ई, कुँभार और सुनारके घरसे, और अन्तमें शूद्रके घरसे भी अग्नि लिया जाता है । इन सबको एकत्र किया जाता है । फिर बिजली गिरनेपर जो जंगलके पेड़ जल उठते हैं, वहाँका अग्नि भी लिया जाता है । मृतककी जलती चिताका अग्नि भी लिया जाता है । इस प्रकार १६ जातिके अग्नियोंको इकठा करके अनुष्ठान किया जाता है और विभिन्न ज्योतियोंसे छनकर अन्तमें जो पवित्र अग्नि रहता है, उसकी पवित्र क्रियाओंके द्वारा स्थापना की जाती है । इस प्रकार पारसीलोगोंके अग्निमन्दिरमें बादशाहसे लेकर भिखारीतकके घरका अग्नि बरता जाता है । और ये सब १६ अग्नि क्रियाओंके द्वारा एक बनते हैं । इससे एक यह अति सुन्दर बोध प्राप्त होता है कि जगत्में एक जीवन अनेकों आकारोंमें छिपा रहता है । अतएव केवल एक ही जीवनकी आराधना करनी चाहिये और वह अहुरमज़्दकी, ईश्वरकी । ईश्वर ही एक महान् जीवन है ।

अन्तमें, पारसी जरदोश्ती धर्ममें जो अग्निकी स्तुति की गयी है, वह अवस्ताके अनुसार यहाँ प्रस्तुत की जाती है । यह सारी स्तुति अवस्तामें 'आतिश निआएश' नामसे प्रसिद्ध है । प्रत्येक जरदोश्ती अग्निमन्दिरमें अग्निके सम्मुख खड़ा होकर अग्निके ऊपर चन्दनका हवन करते हुए कहता है—

नेमसे ते आतर्श मजदाओ अहुरहे हुधाओ मजिश्त यजत पनामे यज्दान अहुरमज़्द खोदारा अवजूनी गोरजे खोरह अवजयाद । आतश बेहराम आदर फरा ॥ १ ॥

उस मोई उजारेष्वा अहुरा आर्मइती तेवीषीम् दस्वा स्पेनिश्ता मइन्यू मज़्दा वंघहुया अवो-आदा अषा हजो एमवत वोहू मनंघहा फेसेरतुम ॥ २ ॥

यस्नेम्च वह्मेम्च हुवेंरतीम्च उस्तवेंरतीम्च वन्त-वेंरतीम्च आफ्रीनामी तव् आतश पुथ्र अहुरहे मजदाओ येसन्यो अहि वहम्यो येसन्यो बुवाओ वहम्यो न्मानाहु मष्याकनाम । उश्त बुयात अहमाई नईरे यसे थ्वा बाव फ्रायजइते अएस्मो जस्तो बरेस्मो जस्तो गओ जस्तो हावनोजस्तो ॥ ३ ॥

दाईत्यो अऐस्मे बुयाओ, दाईत्यो बओईधि बुयाओ, दाइत्यो पिथ्वि बुयाओ, दाईत्यो उपसयने बुयाओ, पॅरनायुश हरेथ्रे बुयाओ, दहायुश हरेथ्रे बुयाओ, आतर्श पुथ्र अहुरहे मजदाओ ॥ ४ ॥

सओचे बुये अहम्य न्माने, मतसओचे बुये अहम्य न्माने, रओयहि बुये अहम्य न्माने, बक्षथे बुये अहम्य न्माने, दरेघमचित् अईपि सरवानेम्, उपसूरांम् फओकेंरतीम् हच सूरयाओ वंघहुयाओ फ्रश्रो—कॅरतोईत् ॥ ५ ॥

दायाओ मे, आतर्श पुथ्र अहुरहे मजदाओ, आसु खाथ्रेम, आसु थ्राईतीम्, आसु ज़्तीम, पोउरु खाथ्रेम, पोउरु थ्राइतीम्, पोउरु जितीम्, मस्तीम स्पानो, क्षविव्रेम हिज़वाम् उरुने उषि, ख्रतूम पस्चयेन्च, मसित मज़ाओन्तेम् अपईरि—आथ्रेम् नाइरयांम् पस्चयेत हांम वरेतीम ॥ ६ ॥

भावार्थ—

हे अहुरमज़्दके अग्नि, तुम कल्याण प्रदान करनेवाले और उपकार करनेवाले हो; तुम्हें नमस्कार हो ।

दादार अहुरमज़्द समस्त सृष्टिका स्वामी है, वृद्धि करनेवाला है । उसके नामसे मैं यह स्तुति करता हूँ । परमश्रेष्ठ अग्नि आतिश बेहरामका प्रताप बढ़े ॥ १ ॥

अत्यन्त वृद्धि करनेवाले और स्तवनका सुन्दर फल प्रदान करनेवाले दिव्य अहुरमज़्द, तुम मुझे पवित्र करो । दुष्ट कर्मोंसे दूर रक्खो । मेरी नम्रताके लिये मुझे शक्ति प्रदान करो । मेरी मङ्गलकामनाओंके बदले मुझे सरदारी दो ॥ २ ॥

अहुरमज़्दकी ओरसे सब वस्तुओंको पवित्र करनेवाले अग्निदेव ! तुम्हारे उत्सव, तुम्हारी आराधना, तुम्हारे समर्पण, स्वास्थ्य प्रदान करनेवाले समर्पण, मैत्रीपूर्ण समर्पणकी मैं स्तुति करता हूँ । हे अग्नि ! तुम पूजनीय हो, तुम आराधना करने योग्य हो । जो मनुष्य हाथमें ऐसम् लेकर, हाथमें बरसम् लेकर, हाथमें जुव्वम् लेकर, हाथमें हाव्नोम् लेकर तुम्हारी सदा पूजा करता है, उस मनुष्यको प्रतिष्ठा और सुख प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

हे अग्नि, इस समय तुम कल्याणप्रद हो जाओ। हमारे शानमें कल्याणप्रद हो। भोजनमें कल्याणप्रद हो, तुम समिधामें निवास करो, भोजनमें निवास करो और हमारा मंगल करो ॥४॥

हे अग्नि! सुदीर्घकालतक, राष्ट्र-राष्ट्रमें, इस घरमें तुम सदा प्रज्वलित रहना, देदीप्यमान रहना और वर्द्धित होते रहना ॥ ५ ॥

हे पवित्र अग्नि, मुझे तुम दीर्घजीवन दो, पूर्ण सुख प्रदान करो, पूर्ण पोषण प्रदान करो। स्थूलताको नष्ट करो, तीव्र वाणी प्रदान करो, मुझे प्रवीणता और बुद्धि प्रदान करो। मुझे ऐसा पौरुष प्रदान करो जो सदा बढ़ता रहे, घटे नहीं ॥ ६ ॥

वेदसे कामना-साधन

(लेखक—पं० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र गौड़ वेदशास्त्री, वेदरत्न)

वेद हिंदू-धर्मका आधार-ग्रन्थ है। आस्तिक दर्शन इसीके वाक्योंके आधारपर अपनी-अपनी विचारशैली-द्वारा भिन्न-भिन्न तत्त्वोंका उपदेश देते हैं। हमारे पुरातन वैदिक ऋषियोंके चमत्कार पुराणादिमें वर्णित हैं। इनकी लोकोत्तर अद्भुत शक्तियोंको देखकर आधुनिक संसार इन गाथाओंको 'कपोलकल्पना' कहनेपर उद्यत हो जाता है। हमारे धर्मके आधारस्तम्भ वेदको समस्त जागतिक विद्वानोंने सकल संसारका पुरातन ग्रन्थ स्वीकार किया है। वेदोंसे पूर्वका वा तत्समकालीन ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है। प्राचीन महर्षि वेदके द्वारा ही लोकोत्तर अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त कर पाये थे; इसीलिये तो 'नान्यद् ब्राह्मणस्य कदाचिद्धनार्जनक्रिया,' 'वेदाभ्यास और वैदिक उपासनाओंके अलावा ब्राह्मणके लिये धन कमानेकी कोई जरूरत नहीं है,' ऐसा कहा गया है। अतः पुराणोक्त महर्षियोंकी गाथाओंको 'कपोलकल्पित' बताना स्वकीय वेद-महत्त्वकी अनभिज्ञताका सूचक है।

मानव-संहितामें ऋषियोंद्वारा प्रश्न हुआ है कि 'भगवन्! अपने धर्मपालनमें तत्पर मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसारहित वृत्तिवाले ब्राह्मणोंपर काल अपना हाथ चलानेमें कैसे समर्थ होता है? इस प्रश्नका उत्तर क्या ही सुन्दर दिया गया है—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥

(मनुसंहिता ५ । ४)

मनु भगवान्‌ने मृत्युके आनेका सर्वप्रथम कारण वेदोंके अनभ्यासको बताया है। पाठकोंके मनमें बड़ा आश्चर्य होगा कि वेदमें ऐसी कौन-सी करामात है, जिससे काल भी उसका अभ्यास करनेवालेका कुछ नहीं कर पाता। पाठकोंको विश्वास रखना चाहिये कि वेद ऐसी-ऐसी करामातोंका खजाना है, जिनका किसी औरके द्वारा मिलना दुर्लभ है। यद्यपि वेदका मुख्य प्रयोजन अक्षय्य स्वर्ग (मोक्ष)की प्राप्ति है, तथापि उसमें सांसारिक जनोंके मनोरथ पूर्ण करनेके भी बहुत-से साधन बताये गये हैं, जिनसे ऐहिक तथा पारमार्थिक उभयलोकसिद्धि प्राप्त होती है।

पाठकोंको प्रसिद्ध नीलसूक्तके कतिपय मन्त्रोंके कुछ साधन दिग्दर्शनार्थ नीचे बतलाये जाते हैं—

भूतादिनिवारण

नीचे लिखे मन्त्रसे सरसोंके दाने अभिमन्त्रित करके आविष्ट पुरुषपर डाले तो ब्रह्मराक्षस-भूत-प्रेत-पिशाचादिसे मुक्ति हो जाती है। मन्त्र—

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परासुव ।

(शु० य० १६ । ५)

निर्विघ्न गमन

कहीं जाता हुआ मनुष्य उपर्युक्त मन्त्रको जपे तो वह कुशलपूर्वक चला जाता है।

बालशान्ति

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकम्मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्। मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥

(शु० य० १६ । १५)

इस मन्त्रसे तिलकी १०,००० आहुति देनेसे बालक नीरोग रहता है तथा परिवारमें शान्ति रहती है।

रोगनाशन

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किꣳशिलाय च

क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च। (शु० य० १६ । ४३)

इस मन्त्रसे ८०० बार कलशस्थित जलका अभिमन्त्रण कर उससे रोगीका अभिषेक करे तो वह रोगमुक्त हो जाता है।

द्रव्यप्राप्ति

'नमो वः किरिकेभ्यो०' (शु० य० १६ । ४६) मन्त्रसे तिलकी १०,००० आहुति दे तो धन मिलता है।

जलवृष्टि

'असौ य' (शु० य० १६ । ६-७) इन दोनों मन्त्रोंसे सत्तू और जलका ही सेवन करता हुआ, गुड़ और दूधमें वेतसकी समिधाओंको भिगोकर हवन करे तो श्रीसूर्य-नारायण भगवान् पानी बरसाते हैं।

पाठकोंके दिग्दर्शनार्थ कुछ प्रयोग बताये गये हैं। प्रयोगोंकी सिद्धि गुरुद्वारा वैदिक दीक्षासे दीक्षित होकर अधिकारसिद्धिके कर्म करनेसे होती है। दीक्षाके अलावा मन्त्रोंके ऋषि, छन्द, देवता एवं उच्चारण-प्रकार जानना भी अत्यावश्यक है। भगवान् कात्यायनने कहा है—

एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति। अथान्तरा श्वगर्तं वाऽऽपद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति।

'जो ऋषि-छन्द-देवतादिके ज्ञानके बिना पढ़ता है, पढ़ाता है, जपता है, हवन करता है, कराता है, उसका वेद निर्बल और निस्तत्त्व हो जाता है। वह पुरुष नरक जाता है या सूखा पेड़ होता है या अकालमृत्युसे मरता है।'

अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवत्।

जो 'इन्हें जानकर कर्म करता है, वह फलको प्राप्त करता है।' अतः साधकजनोंके लिये वैदिक गुरूपदिष्ट मार्गसे साधन करना विशेष लाभदायक है।

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें उपासना

(लेखक—पं० श्रीनारायणजी शास्त्री तर्क-वेदान्त-मीमांसा-सांख्यतीर्थ)

विश्वात्मानं विधिज्ञा निजगुणनिरतैः कर्मभिर्यं यजन्ति
ध्यायन्ति ज्ञाननिष्ठा दृढहृदयगं व्यापि यस्य स्वरूपम्।
यत्संश्लेषैककामा विदधति नवधा यत्पदाम्भोजभक्तिं
भुक्तिं मुक्तेर्गरिष्ठां स दिशतु भगवान् स्वामिनारायणो नः॥

वेदान्तके भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंमें ज्ञान, भक्ति तथा उपासनाके स्वरूपोंमें न्यूनाधिक भेद अवश्य स्वीकार किया गया है; परन्तु विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार विचार करनेसे इस भेदके लिये कोई अवकाश नहीं देख पड़ता। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, भक्ति, उपासनाके स्वरूपमें सामान्यतः भेद होनेपर भी उपनिषदोंमें श्रूयमाण ज्ञान, भक्ति और उपासनाके स्वरूपमें कोई भेद नहीं है। उपनिषदोंमें इन तीनों शब्दोंका प्रयोग एक ही अर्थमें हुआ है और उसीको ब्रह्मविद्या कहा गया है। उपनिषदोंके उपासना-प्रकरणमें 'विदि' और 'उपासि' धातुका प्रयोग एक दूसरेके अर्थमें किया हुआ स्पष्ट ही देख पड़ता है; कहीं प्रकरणका आरम्भ 'विदि' धातुसे करके उपसंहार 'उपासि' धातुसे तो कहीं उपक्रम 'उपासि' धातुसे और उपसंहार 'विदि' धातुसे किया गया है। उदाहरणार्थ, छान्दोग्योपनिषद्के अध्याय ४, खण्ड १ में—

यस्तद्वेद यस्स वेद स मयैतदुक्तः।

इस स्थलमें 'विदि'से उपक्रम हुआ है और—

अथो नु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से।

—इस प्रकार 'उपासि' से उपसंहार हुआ है। इसी प्रकार 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत'में 'उपासि' धातुसे उपक्रम होता है और—

भाति तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद।

—यहाँ 'विदि' धातुमें उपसंहार होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान और उपासना समानार्थक हैं। इसी प्रकार 'भक्ति' और 'सेवा' शब्द भी 'उपासना'के ही पर्याय हैं। 'सेवा भक्तिरुपास्तिः' यह विद्वानोंकी उक्ति भी सेवा, भक्ति एवं उपासनाके समानार्थक होनेका प्रमाण है। तात्पर्य, ज्ञान, भक्ति, उपासना, सेवा—ये चारों ही शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं।

इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि कुछ लोगोंका यह कहना कि भक्ति, सेवा, उपासना आदि वैदिक

नहीं बल्कि पौराणिक हैं और इन्हें वैष्णवोंने चलाया है, कुतर्कमात्र ही है। उपासनामें भी मूल प्रमाण वेदोपनिषद् ही हैं और तन्मूलकतया स्मृति, इतिहास, पुराण एवं शिष्टाचार भी प्रमाण हैं।

'उपासना' शब्दका अर्थ

'उपासना' शब्द 'उप'पूर्वक 'आस्' धातुसे बना है। इसका अर्थ है परमात्माके समीप रहना। परमात्माका सामीप्य होनेसे यह देश-कालादिसे अनवच्छिन्न होना ही चाहिये। अर्थात् तैलधारावत् अविच्छिन्न दर्शनसमानाकार परमप्रेमरूप स्मृतिसन्तानात्मक वृत्तिविशेष ही भगवदुपासना है। यह उपासना मनुष्यमात्रकी मुक्तिका असाधारण उपाय है और उपाय ही नहीं, स्वयं मुक्ति भी है। शास्त्रोपदेशजन्य ज्ञान और नवधा भक्ति—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो
मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

—इस श्रुतिसिद्ध दर्शनरूप उपासनाके साधन हैं। श्रुति-स्मृतियोंने इसी उपासनाको वेदन, दर्शन, ध्यान, ध्रुवा स्मृति, भक्ति आदि शब्दोंसे सूचित किया है। जैसे—

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', "आत्मानं लोकमुपासीत', 'तमेवैकं जानथ अन्या वाचो विमुञ्चथ', 'ध्रुवा स्मृतिः', 'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः',

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः', 'भक्त्या मामभिजानाति'

इत्यादि।

इस तरह सामान्य-विशेषन्यायसे ज्ञान-भक्ति-ध्यानादि शब्दोंका अखण्ड तैलधारावत् अविच्छिन्न स्मृतिसन्ततिरूप परमप्रेमस्वरूप भगवद्विषयक उपासनामें ही स्वरसतः पर्यवसान होता है।

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा-
क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति।

—इस श्रुतिमें कहे हुए तत्क्रतु-न्यायसे उपासना यादृश-रूप-गुणविशिष्ट स्वरूपकी की जाती है, उपासनाका विषय तादृशरूप-गुणविशिष्ट स्वरूपकी ही प्राप्ति करा सकती है। अतः श्रुतिनिर्दिष्ट गुणगण-विशिष्ट भगवान्‌की ही उपासना करनी चाहिये। इसीसे मनुष्य त्रिविध तापसे मुक्त होकर स्वस्वरूपाविर्भावपूर्वक पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है।

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें उपनिषत्प्रतिपाद्य श्रीस्वामिनारायण- भगवदुपासन ही मुख्यतः मुक्तिका परम सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें असाधारण कारण माना गया है। यही परमात्मोपासन नहीं, प्रत्युत यह भगवदुपासन स्वयं भी निरतिशय परमानन्दस्वरूप होनेसे मुक्तिरूप ही है। भगवान् श्रीस्वामिनारायण अपनी 'शिक्षापत्री'में कहते हैं—

मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम चेप्सितम्।
तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्तिश्च गम्यताम्॥

'विशिष्टाद्वैत मेरा सिद्धान्त है, गोलोक मेरा अभीष्ट धाम है और ब्रह्मरूपसे श्रीकृष्णकी सेवा और मुक्ति ही मेरा परम लक्ष्य है।'

उन्हींके श्रीमुखसे निःसृत 'श्रीसुधासिन्धु' (वचनामृत) में कहा है कि 'भगवान्‌के स्वरूपमें मनकी अखण्ड (तैलधारावदविच्छिन्न) वृत्ति रखना, इससे कोई साधन कठिन नहीं है। और जिस मनुष्यके मनकी वृत्ति भगवान्‌के स्वरूपमें अखण्ड रहती है, उसको उससे अधिक प्राप्ति शास्त्रमें कहीं नहीं है; क्योंकि भगवन्मूर्ति चिन्तामणितुल्य है। जैसे चिन्तामणि जिस पुरुषके हाथमें हो, वह पुरुष जिस-जिस पदार्थका चिन्तन करता है वह-वह पदार्थ उस पुरुषको अवश्य तुरंत ही प्राप्त होता है।'—इत्यादि। (वचनामृत, प्रथम प्रकरण, १) परन्तु 'जिस मनुष्यके अनेक जन्मके सुकृत उदित होते हैं, उसी मनुष्यके मनकी वृत्ति भगवान्‌के स्वरूपमें अखण्ड रहती है; दूसरेके लिये तो भगवान्‌में अखण्ड वृत्ति रखना महादुर्लभ है।' (वचनामृत, मध्य प्रकरण, ३६) भगवत्प्रीतिका लक्षण बतलाते हैं—'भगवान्‌में प्रीति तो उसीकी सच्ची है, जिसकी भगवान्‌को छोड़कर अन्य पदार्थमें प्रीति ही न हो।' (वचनामृत, मध्य प्रकरण, ५६) इस वचनसे—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥

—इस श्रुतिप्रतिपादित परमप्रेमरूपताको सूचित किया। भगवत्स्वरूपके विषयमें कहते हैं—'ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान् हैं, वे प्रकृति-पुरुषरूप अपनी शक्तिसे विशिष्ट होते हुए प्रत्येक जीवके अंदर अन्तर्यामिस्वरूपसे विद्यमान हैं।'

(वचनामृत, प्रथम प्रकरण, १३) इस वचनसे उपास्य-स्वरूपका अन्तर्यामित्व तथा कर्मफलदातृत्वरूप असाधारण गुणयोग दिखलाया, जो भगवान्‌को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं है। उपास्य-स्वरूपका आगे और वर्णन करते हैं—'अक्षर धाममें श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम नारायण सदा विराजमान हैं……'वह पुरुषोत्तम नारायण सबके स्वामी हैं और अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डके राजाधिराज हैं।' (वचनामृत, प्रथम प्रकरण, २३) इस वचनसे 'जन्माद्यस्य यतः', 'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित परमात्माका जगज्जन्मादि-कारणत्वरूप सम्पूर्ण ऐश्वर्य बतलाया। 'एवं भगवान् तथा भगवान्‌के भक्त सदा साकार ही हैं।' (वचनामृत, प्रथम प्रकरण, ३३)—इससे भगवान् तथा भगवान्‌के भक्त मुक्तोंकी सदा दिव्य साकारता बतलायी, जिसका 'योऽसावसौ पुरुषः', 'आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः', 'यथा कप्यासपुण्डरीकमक्षिणी,' 'महारजतं वासः' इत्यादि श्रुतियोंमें वर्णन है। 'शास्त्रमें भगवान्‌को जो अरूप और निर्गुण कहा है, वह तो मायिक रूप तथा गुणका निषेध करनेके लिये कहा है। परन्तु भगवान् तो नित्य दिव्यमूर्ति हैं और अनन्तकल्याण-गुणयुक्त हैं।' इस प्रकार उपास्य परमात्मस्वरूपका वर्णन 'श्रीसुधासिन्धु' अर्थात् 'वचनामृत'में बहुत प्रकारसे किया गया है। यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र कराया है।

श्रीशिक्षापत्रीमें भी—

> स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः।
> उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम्॥

—इस वचनसे सर्वाविर्भावके कारणस्वरूप अक्षराधिपति परब्रह्म पुरुषोत्तमकी ही उपास्यता बतलाते हैं और 'न तु जीवा नृदेवाद्या भक्ता ब्रह्मविदोऽपि च' इस वाक्यसे भगवान्‌को छोड़ अन्य सबकी अनुपास्यता। श्रीनित्यानन्द-मुनिविरचित 'श्रीहरिदिग्विजय' ग्रन्थमें उपास्य-स्वरूपका इस प्रकार निरूपण है—

> सर्वज्ञं सर्वशक्तिं च परं ब्रह्म परात्परम्।
> सर्वान्तरात्मा भगवान् स एव पुरुषोत्तमः॥
> भुता सर्वशरीरस्य तस्य सर्वान्तरात्मना।
> ज्ञानशक्त्यादिकल्याणगुणधस्यनुसारतः॥
> षाड्गुण्ययोगमाश्रित्य स्मर्यते भगवानिति।
> परो यदेष पुरुषात् क्षराच्च त्वक्षरादपि॥

अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परात्पर जो परब्रह्म हैं, वही सबके अन्तरात्मा भगवान् श्रीपुरुषोत्तम हैं। वे ज्ञान, शक्ति आदि कल्याणगुणगणविशिष्ट हैं और सब शरीरोंमें अन्तरात्मारूपसे अवस्थित हैं। षड्गुणैश्वर्ययोगसे वे भगवान् कहाते हैं, वे क्षरपुरुष और अक्षरब्रह्म दोनोंके परे हैं।

इन भगवान्‌की प्रीतिके विषयमें इसी ग्रन्थमें आगे जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट होता है कि इन नित्य स्वभावसिद्ध अपार आनन्दस्वरूप भगवान्‌की जो भक्ति है, वह ज्ञानकी पराकाष्ठा है। भक्तिको जो ज्ञानका अङ्ग बतलाते हैं, वे इसके तत्त्वको नहीं जानते—'ज्ञानाङ्गतां वदेद्यस्तु भक्तेः स तु न तत्त्ववित्।' अतः श्रीस्वामि-नारायणसम्प्रदायमें भगवद्भक्ति या उपासनाका बहुत ऊँचा स्थान है। श्रीशाण्डिल्यसूत्रपर जो श्रीनित्यानन्द-विरचित भाष्य है, उसमें उपास्यस्वरूपका बहुत सुन्दर मनोहर वर्णन करके उपासनाका यह लक्षण किया है कि ऐसे जो कारुण्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य तथा ऐश्वर्यके पारावार, प्रणतोंके आर्तिनाशन, भक्तवात्सल्यैकजलधि, अनन्तैश्वर्यमहाविभूति, ब्रह्मभूतानन्तकोटिमुक्तोपासित जिनके चरण-कमल हैं, जो कोटिकन्दर्पलावण्यस्वरूप और नवीन-नीरदश्यामलतनु हैं, विविध विचित्र वस्त्रभूषणभूषित हैं, जिनके पूर्ण शारद-चन्द्रवदनका मन्द हास्य अत्यन्त मनोहर है, अनेक कोटि सूर्येन्दुओंके भी युगपत् प्रकाशसे अधिक समुज्ज्वल जिनकी कान्ति है, श्रीदाम-नन्दादि पार्षद जिनका यशोगान करते रहते हैं, चक्रादि आत्मीय आयुध जिनकी चरणसेवामें लगे हैं, उन अखिल निगमसंस्तुत दिव्यचरित भगवान् पुरुषोत्तमकी महिमाको जानकर उनसे जो अनन्य प्रेम करना है, वही पराभक्ति और वही सच्ची उपासना है।

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें सर्वाविर्भावकारण अक्षराधि-पति पुरुषोत्तमरूपसे श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌की उपासना की जाती है और सम्प्रदायके सभी निष्ठावान् पुरुष इस प्रकार श्रीस्वामिनारायणके रूपमें श्रीपुरुषोत्तमकी उपासना कर अपनी ऐहिक तथा पारलौकिक परम सिद्धि प्राप्त करते हैं।

श्रीस्वामिनारायणके मतानुसार साधन

(लेखक—वेदान्ततीर्थ सांख्ययोगरत्न पं० श्रीश्वेतवैकुण्ठ शास्त्री)

सब दार्शनिकोंकी भाँति श्रीस्वामिनारायण भगवान्ने भी स्वस्वरूपाविर्भावपूर्वक ब्रह्मप्राप्तिके कुछ साधन निश्चित किये हैं, जिनका विवरण इस लेखमें दिया जायगा।

योगशास्त्रके 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि' इन साधनोंमें शौचसे लेकर स्वाध्यायपर्यन्त मोक्षके साक्षात् साधन नहीं हैं; बल्कि चित्तशुद्धिद्वारा ईश्वर-प्रणिधानके साधक साधन हैं; मोक्षका साक्षात् साधन तो ईश्वरप्रणिधान ही है। 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः' भी चित्तशुद्धि-द्वारा ही मोक्षके साधक होनेसे, मोक्षके प्रत्यक्ष नहीं बल्कि अप्रत्यक्ष साधन हैं।

मोक्षरूप साध्यका स्वरूप स्वस्वरूपाविर्भावपूर्वक ब्रह्मप्राप्ति है। स्वस्वरूपाविर्भावका अभिप्राय यह कि जीवात्माका अपना जो मूलभूत स्वरूप है अर्थात्—

अपहतपाप्मा विज्वरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः।

—उस स्वरूपका आविर्भाव। और तब मायाके अष्टावरण—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

—से रहित दिव्यलोक या अक्षरधाममें भगवान्‌की प्राप्ति, यही मुक्तिका स्वरूप है। यही बात इन श्रुतिवचनोंसे प्रतिपन्न होती है—

'परं ज्योतीरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।', 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति', 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।' —इत्यादि।

अर्थात् प्राकृत गुणोंसे मुक्त होकर स्वस्वरूपमें स्थित हो भगवान्‌को प्राप्त करना ही परममोक्ष है।

इस सम्बन्धमें एक बार मुक्तस्वरूप श्रीमुक्तानन्दस्वामीने श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌से प्रश्न किया, 'भगवन्! अक्षरधाममें भगवान्‌के भक्त भगवान्‌की जिस सेवामें रत होते हैं, वह किन साधनोंसे प्राप्त होती है?' इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् स्वामिनारायणने सोलह साधनोंका निर्देश किया—(१) श्रद्धा, (२) स्वधर्म, (३) वैराग्य, (४) इन्द्रिय-निग्रह, (५) अहिंसा, (६) ब्रह्मचर्य, (७) साधुसमागम, (८) आत्मनिष्ठा, (९) भगवन्माहात्म्यज्ञानसे युक्त भगवद्भक्ति, (१०) सन्तोष, (११) अदम्भित्व, (१२) दया, (१३) तप, (१४) अपनी अपेक्षा गुणोंमें बड़े जो भगवद्भक्त हों उनमें गुरुभाव रखना, (१५) जो समकक्षाके भगवद्भक्त हों उनमें मित्रभाव रखना और (१६) जो अपनेसे कनिष्ठ हों उनमें शिष्यभाव रखकर उनका हित करना। भगवान्‌के ऐकान्तिक भक्त इन साधनोंके द्वारा अक्षरधाममें भगवान्‌की सेवा लाभ करते हैं। योगादि शास्त्रोंने जो साधन बताये हैं, वे इन सोलह साधनोंमें सर्वथा आ ही जाते हैं।

(१) श्रद्धा—कठोपनिषद्‌की नाचिकेत-कथा प्रसिद्ध है। नचिकेताके पिता वाजश्रवाने यज्ञफलकी इच्छासे विश्वजित् यज्ञ किया और दक्षिणामें सब धन दान कर दिया। अपने पिताको इस प्रकार ऋत्विजोंके हाथ धन और गौओंको दान करते देखकर नचिकेताके हृदयमें श्रद्धाका आवेश हुआ और उसने पितासे पूछा, 'मुझे आप किसको दान करेंगे?' वाजश्रवाने कहा, 'मृत्युको!' और सचमुच ही उन्होंने अपने पुत्र नचिकेताको मृत्युको दान कर दिया। नचिकेतापर मृत्युदेव प्रसन्न हुए और उसका उत्तम आदर-सत्कार करके उससे उन्होंने तीन वर माँगनेको कहा। नचिकेताने जो तीसरा वर माँगा, वह यह था कि देहादिसे अतिरिक्त जो आत्मा है उसकी विद्या मुझे दीजिये। मृत्युने बालकको यह राज्य देते हैं, यह भोग देते हैं—इत्यादि अनेक प्रलोभन दिये; पर बालकने एक न सुनी और आत्मविद्याका जो वर उसने माँगा था, उसीको पूरा करनेका आग्रह करने लगा; क्योंकि वह श्रद्धासे आविष्ट था। उसकी ऐसी अटल श्रद्धा देखकर मृत्युदेवने उसे वह विद्या बतायी, जिसका माहात्म्य स्वयं श्रुति ही इस प्रकार वर्णन करती है—

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते॥
तदानन्त्याय कल्पते।

अर्थात् जो कोई इस परमगुह्य ज्ञानको ब्राह्मणोंकी सभामें अथवा श्राद्ध-प्रसङ्गमें सुनाता है, उसका यह कृत्य आनन्त्यको अर्थात् अनन्त ब्रह्मको प्राप्त करानेवाला होता है। श्रद्धा-

का यह फल है । भगवान् श्रीकृष्ण भी गीतामें कहते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

(२) स्वधर्म—अपने-अपने वर्ण और आश्रमका धर्म पालन करना, परधर्मका आचरण न करना और पाषण्ड-मतको भी न मानना । इस विषयमें श्रीस्वामिनारायणका स्पष्ट आदेश है—

स्ववर्णाश्रमधर्मो यः स हातव्यो न केनचित् ।
परधर्मो न चाचर्यो न च पाषण्डकल्पितः ॥

गीतामें भी भगवान्‌का वचन है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

(३) वैराग्य—स्वामिनारायणने वैराग्यका यह लक्षण किया है—

वैराग्यं ज्ञेयमप्रीतिः श्रीकृष्णेतरवस्तुषु ।

अर्थात् भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य पदार्थोंमें अप्रीति अर्थात् अनुरागका न होना ही वैराग्य है । जहाँतक विषयोंमें प्रीति है, वहाँतक ईश्वरप्रणिधान नहीं होता । इसलिये वैराग्य आवश्यक है ।

(४) इन्द्रियनिग्रह—इस विषयमें स्वामिनारायणका यह आदेश है—

सर्वेन्द्रियाणि जेयानि रसना तु विशेषतः ।

अर्थात् सब इन्द्रियोंका जय करे, पर रसनाका विशेष रूपसे । श्रीमद्भागवतमें इन्द्रियोंका विषयोंकी ओर दौड़ना ही बन्ध और इन्द्रियोका संयम ही मोक्ष कहा गया है—

बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः ।

(५) अहिंसा—श्रीस्वामिनारायणने अपने आश्रित सत्संगियोंको स्पष्ट ही आदेश दिया है कि किसी भी प्राणीकी हिंसा न करें; जूँ, खटमल आदिको भी जान-बूझकर न मारें—

कस्यापि प्राणिनो हिंसा नैव कार्यात्र मामकैः ।
सूक्ष्मयूकामत्कुणादेरपि बुद्ध्या कदाचन ॥

(६) ब्रह्मचर्य—ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्य तो सबसे पहले आवश्यक है । 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति' यह श्रुति है । कारण, ब्रह्मचर्यके बिना सदुपदेशका यथार्थ बोध हो ही नहीं सकता ।

'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव ज्ञाऽऽत्मानमनुविन्दते ।'

इस श्रुतिमें यज्ञको ब्रह्मचर्य ही कहा है । ब्रह्मचर्यके बिना यज्ञकी सिद्धि नहीं होती । देवपक्षसे इन्द्र और असुर-पक्षसे विरोचन बत्तीस-बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य पालन करके तब आत्माको जाननेके लिये प्रजापतिके पास गये थे । प्रजापतिने आत्मविद्याका जो प्रथम उपदेश दिया, उसे सुनकर इन्द्र और विरोचन लौट गये । विरोचन उतनेसे ही सन्तुष्ट होकर फिर प्रजापतिके पास नहीं आया । पर इन्द्रका उतनेसे सन्तोष नहीं हुआ । वह प्रजापतिके पास लौट आये । तब प्रजापतिने उन्हें फिर बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्यव्रतसे रहनेको कहा । उसके बाद आत्मविद्याका पुनः उपदेश दिया । फिर भी समाधान नहीं हुआ । तब बत्तीस वर्ष फिर ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक रहनेके पश्चात् पुनः उपदेश दिया । पर इससे भी पूरा काम नहीं हुआ । तब ५ वर्ष और ब्रह्मचर्य-पालन करके इन्द्र प्रजापतिके पास रहे । इस प्रकार १०१ वर्ष ब्रह्मचर्य-पालन करनेके बाद इन्द्रको आत्मज्ञान हुआ । इसलिये ब्रह्मचर्यको साधनोंमें सबसे बलवत्तर साधन जानना चाहिये ।

(७) साधुसमागम—श्रीमद्भागवतमें यह प्रतिपादन हुआ है कि ज्ञानियोंको भी अपनी आसक्तिका पाश बड़ा ही कठिन मालूम होता है, पर साधुसमागममें यही आसक्ति खुला हुआ मोक्षका द्वार बन जाती है—

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥

(८) आत्मनिष्ठा—श्रीस्वामिनारायण आत्माका स्वरूप इस प्रकार बतलाते हैं—

हृत्स्थोऽणुसूक्ष्मश्चिद्रूपो ज्ञाता व्याप्याखिलां तनुम् ।
ज्ञानशक्त्या स्थितो जीवो ज्ञेयोऽच्छेद्यादिलक्षणः ॥

अर्थात् जीव हृदयमें स्थित है, अणु-सदृश सूक्ष्म है, चिद्रूप है, ज्ञाता है और अपनी ज्ञानशक्तिसे समग्र शरीरको व्याप्त कर रहता है । उसे अच्छेद्यादि लक्षणोंसे युक्त अर्थात् अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, अजर, अमर, अशोक, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प जानना चाहिये । अपने आपको इस प्रकार निश्चयपूर्वक जानना ही आत्मनिष्ठा है । आत्मस्वरूपके विषयमें यह श्रुति है—

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(९) माहात्म्यज्ञानयुक्त भगवद्भक्ति—'माहात्म्यज्ञानयुग्भूरिस्नेहो भक्तिश्च माधवे ।' भगवान्‌के प्रति माहात्म्य और ज्ञानसे युक्त स्नेह ही भक्ति है ।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

—यह नवधा साधन-भक्ति है । दसवीं भक्ति प्रेमलक्षणा है, जिसमें भक्त और भगवान्‌के बीच कोई व्यवधान नहीं रहता । माहात्म्यज्ञानसे ही भक्तिका उद्रेक होता है ।

(१०) सन्तोष—भागवतपुराणका वचन है—

पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः ।
सदसस्पतयोऽप्येके ह्यसन्तोषात्पतन्त्यधः ॥

'कितने पण्डित, बहुज्ञ, संशयका छेदन करनेवाले, सदसस्पति होकर भी असन्तोषसे अधःपतित हो जाते हैं ।' सन्तोषके बिना आत्मोन्नतिका साधन हो ही नहीं सकता ।

यदृच्छयोपपन्नेन सन्तोषो मुक्तये स्मृतः ।

'जिस किसी भी अवस्थामें सन्तुष्ट रहना मुक्तिका कारण हो जाता है ।'

(११) अदम्भित्व—दम्भका सर्वथा त्याग ।

(१२) दया—दयाभावसे भगवान् प्रसन्न होते हैं । श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केनचित् ।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ॥

'प्राणिमात्रपर दया करने, जो कुछ मिले उससे सन्तुष्ट रहने और सब इन्द्रियोंके शान्त-दान्त होनेसे भगवान् तुरंत प्रसन्न होते हैं ।'

(१३) तप—आत्मचिन्तनकी पात्रता चित्तशुद्धिके बिना नहीं होती और चित्तशुद्धि तपके बिना नहीं होती । इसलिये तप आवश्यक है ।

(१४) अपनेसे गुणोंमें बड़े जो भगवद्भक्त हैं, उनमें गुरुभाव रखनेसे उनकी किञ्चित् कृपा भी महत्कल्याण करनेमें समर्थ होती है ।

(१५) अपनी समकक्षाके भगवद्भक्तोंमें मित्रभाव रखना, अपने समान या अपनेसे भी अधिक उनकी आत्मोन्नतिकी कामना करना भी महान् कल्याणकारी है ।

(१६) अपनेसे जो कनिष्ठ हैं, उन्हें सहायताके पात्र जानकर उनका हित करना, भगवान्‌के मार्गमें उन्हें आगे बढ़ाना भगवान्‌को ही प्रसन्न करना है ।

इन सोलह साधनोंको जो लोग श्रद्धा-भक्तिके साथ सानन्द करते हैं, उन्हें यहाँ भी वही आनन्द प्राप्त होता है जो भगवद्धाममें पहुँचे हुए मुक्त पुरुषोंको होता है । करके देखनेसे यह आप ही प्रत्यक्ष हो सकता है ।

थियासफीकी साधना

(लेखक—श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त, एम० ए०, बी०एल०, वेदान्तरत्न)

श्री'कल्याण'-सम्पादकका अनुरोध है कि इस साधनाङ्कमें मैं थियासफीकी साधनाके सम्बन्धमें कुछ लिखूँ । मैं यह बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हिंदूधर्म, बौद्धधर्म, पारसीधर्म अथवा ईसाईधर्मके समान थियासफी कोई धर्मसम्प्रदाय नहीं है । थियासफीको धर्मका विशुद्ध गणित कहा गया है, और यही उसका यथार्थ वर्णन है । सब धर्मोंके पीछे और परे वह हुआ करता है । जिस पुरातन ज्ञानको उपनिषद्‌में ब्रह्मविद्या कहा जाता है, जो पराविद्या होनेसे पुरातन वेदान्तसे अभिन्न है, उसीको आधुनिक जगत्‌में थियासफीका उद्घोष करनेवाली देवी श्रीमती एच्० पी० ब्लावैट्स्कीने समस्त मानव-ज्ञानका आदि और अन्त माना है । अब यह देखें कि इस थियासफीका साधनाके सम्बन्धमें क्या कहना है ।

प्रथमतः थियासफीमें जीव या व्यष्टिपुरुषमात्रको भगवदंश (गीताके शब्दोंमें 'ममैवांशः'), विश्वार्चिका एक स्फुलिङ्ग, अमृतसिन्धुका एक तरङ्ग कहकर, इस प्रकार 'तत्त्वमसि', 'सोऽहम्' आदि वेदान्त-महावाक्योंका समर्थन किया गया है । जीव और ब्रह्म इस प्रकार एक ही हैं; दोनोंकी एक ही सत्-चित्-आनन्दस्वरूप त्रिविध सत्ता है । अन्तर केवल इतना ही है कि ब्रह्म सुव्यक्त सच्चिदानन्द, शक्ति-ज्ञान-आनन्दकी महामहिम त्रिमूर्ति हैं (जैसा कि थियासफीकी परिभाषामें कहा जाता है), और जीव अव्यक्त सच्चिदानन्द है—उसमें ये तीनों भाव अभी अव्यक्त हैं । इसलिये थियासफी जीवको 'ब्रह्मभूय' कहती है अर्थात् विकासक्रमसे जीव किसी दिन ईश्वरके पूर्ण साधर्म्यको प्राप्त

होगा और यह कहेगा कि 'मैं और मेरा पिता दोनों एक हैं।' यह सिद्धि किस प्रकार होगी? जीवके अंदर सुप्त ये तीन भाव—शक्ति, ज्ञान और आनन्द किस प्रकार जाग्रत् और व्यक्त होंगे? यह कार्य साधनासे होगा।

थियासफीका यह सिद्धान्त है कि जीव-बीज प्रकृतिकी योनिमें बोये जाते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।

अशक्तिकी अवस्थामें इनका वपन होता है, जिसमें ये एक दिन शक्ति-सम्पन्न होकर उठें, और छोटे-छोटे बीजोंसे बड़े-बड़े सुदृढ़ वृक्ष बनें अथवा टिमटिमाती हुई चिनगारियाँ जलती-धधकती हुई ज्वालाएँ बनकर फैलें।

इसीको सिद्ध करनेके लिये जीवको मानो एक बड़ी लंबी यात्रा करने भेज दिया गया।

तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।

'ब्रह्मचक्रमें हंसको (थियासफीमें उसे Monad कहते हैं) भ्रमण करना पड़ता है।' इस चक्रके दो अर्द्धभाग हैं, जिनका विचार आगे करेंगे। इनमेंसे एक प्रवृत्तिमार्ग है और दूसरा निवृत्तिमार्ग।

हंसने पहले खनिज धातु-जगत्‌में प्रवेश किया और कई जन्म उस योनिके बिताकर वह वनस्पति बना। वनस्पति-योनिमें मरकर और उस जगत्‌को पीछे छोड़कर वह पशु बना। फिर काल प्राप्त होनेपर पशु-जीवनसे मरकर वह मानुषी-तनुमें प्रविष्ट हुआ।

एक प्राचीन हिंदू-ग्रन्थमें विकासकी इन अवस्थाओंका प्रायः पूर्ण वर्णन देखकर बड़ा कुतूहल होता है। इसमें यह कहा गया है कि धातुयोनिमें जीवको बराबर २० लाख बार जन्म लेना पड़ता है, तब वह वनस्पति-सृष्टिमें आता है। वनस्पति-योनिमें उसे ९ लाख जन्म लेने पड़ते हैं, इतनी ही बार सरीसृपयोनिमें, १० लाख बार पक्षियोनिमें, ३० लाख बार पशुयोनिमें और चार लाख बार वानरयोनिमें, इतनी योनियोंमें इतनी बार भ्रमण करके अन्तमें वह मनुष्य-योनिको प्राप्त होता है।

मनुष्य होनेपर वह पहले असभ्य और पीछे धीरे-धीरे सभ्य होता है। इस समय जगत्‌में जो मनुष्य हैं, उनमेंसे अधिकांश 'सभ्य' पदवीको प्राप्त हैं; पर मनुष्य 'अभी अपूर्ण है, गर्भस्थ अर्भक-सा विद्रूप, अकृत, अधूरा और असिद्ध है।' (सर आलीवर लाज) अर्थात् अभी वह प्रवृत्तिमार्गपर चल रहा है—जो कुछ मिलता है, उसे लेता हुआ आगे बढ़ रहा है। इसके बाद उसे कोना काटकर निवृत्तिमार्गपर आना होगा; इस मार्गमें आगे बढ़नेका साधन जो कुछ है, उसे देना है, त्याग करते हुए आगे बढ़ना है। अब वह समय आ गया है, जब जीवको साधनका आश्रय करके साधन-क्रमसे इस तरह चलना होगा कि 'उसका नवीन जन्म हो, ऊपरसे जन्म हो।' भारतवर्षमें द्विजन्मा पुरुषको ब्राह्मण कहते हैं। बृहद्विष्णुपुराणमें कहा है कि लाखों जन्म भटक कर अन्तमें जीव ब्राह्मणत्वको प्राप्त होता है। ब्राह्मणको यथाकाल साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न होकर अधिकारी बनना चाहिये। यह साधन-चतुष्टय है—विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व। इन साधनोंसे सम्पन्न होनेपर दीक्षाका अधिकार प्राप्त होता है और यथाकाल उसे दीक्षा मिलती है। वेदान्तके अनुरूप ही थियासफीमें चार प्रकारके दीक्षित माने गये हैं। श्रीमत् शङ्कराचार्य इन्हीं चारोंको कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस कहते हैं। बौद्धमतमें इन्हीं चारको स्रोत आपन्न सकृतागामी, अनागामी और अर्हत् कहते हैं। अर्हत् या परमहंस उस अधिकारीको कहते हैं, जिसे चतुर्थ दीक्षा प्राप्त हो चुकी हो। इसके बाद जो दीक्षा है, वह दीक्षितको दीक्षितपदसे उठाकर सिद्ध पदपर बैठाती है। इन्हीं सिद्ध पुरुषोंको इस देशके लोग ऋषि कहते हैं।

ऋषि जब छठी दीक्षा लेता है, तब वह महर्षि होता है और महर्षि सातवीं दीक्षा लेकर परमर्षि होता है। थियासफीमें इन्हींको चोहान और महाचोहान कहते हैं। इस प्रकार जीव जो अज्ञानमें जन्म लेकर यात्रा आरम्भ करता है, वह साधनमार्गसे सर्वज्ञताको प्राप्त होता है।

परन्तु यहीं साधना समाप्त नहीं होती। अब उसे इस समतल उपत्यकाको छोड़कर ऊँचे ढलुए पर्वतके शिखरपर चढ़ना है—लौकिक विकाससे अलौकिक विकासको प्राप्त होना है। मौलाना रूमी इसी बातकी ओर अपने इन अर्थपूर्ण शब्दोंद्वारा सङ्केत करते हैं—'अबकी बार मैं मनुष्यभावसे मर जाऊँगा, जिसमें देवताके पंख मेरे शरीरमें निकल आवें।' अर्थात् वह महापुरुष मैं बनूँ जिसे उपनिषद् स्वराट्, विराट् कहते हैं, जो इस अनन्त आकाशमें धूलिकणोंके समान बिखरे हुए असंख्य ब्रह्माण्डोंमेंसे किसी एक ब्रह्माण्डका राजत्व या आधिपत्य करते हैं। इन्हींको थियासफीमें सोलर लोगस (Bolar Logos) कहते हैं। पर इतनेसे

क्या जीव अपनी परागतिको पहुँचा ? नहीं, अभी नहीं। मौलाना रूमी कहते हैं—

'एक बार, फिर, मैं उठकर देवोंके ऊपर पहुँचूँगा । मैं वह बनूँगा, जो कल्पनामें नहीं समाता । वह जो कुछ है, उसके पास मैं लौट जाऊँगा ।'

कहाँ लौटोगे ? लौटेंगे वहाँ जो हमारा 'अस्ता' है, जो वेदवाणीमें स्वस्थान या निजधाम है ।

'महामहिमाके हम नीचे बरसनेवाले बादल भगवान्‌से ही यहाँ आते हैं । वही हमारा धाम है ।' कहना नहीं होगा कि यह निजधाम भगवान्‌से भिन्न नहीं है ।

इसीको वेदान्तमें ब्रह्मसायुज्य कहते हैं । 'ब्रह्म होकर वह ब्रह्मको प्राप्त होता है ।' (बृहदा० ४ । ४ । ६) अब वह कम-से-कम इतना तो कह सकता है कि 'अब समाप्ति हुई ।' यही दिव्य भवितव्यता है—जीवके लिये थियासफी जिसका मार्ग निर्देश करती है ।

थियासफ़ीकी उपासना-पद्धति

(लेखक—रायबहादुर पंड्या बैजनाथजी, बी०ए०, एफ्० टी० एस्०)

इस उपासनामें ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग आदि सबका समावेश है । इसके असल आचार्य जीवन्मुक्त महात्मा हैं, जो जगत्‌में प्रकट नहीं हैं । साधकका बहुत कालतक उनसे स्थूल जगत्‌मे परिचय नहीं होता । वह सुषुप्तिमें उनसे उपदेश पाता है । थियासफ़ी केवल ब्रह्मज्ञान है । मनुष्य विकासक्रमसे उच्चतर अवस्थाको प्राप्त होता जाता है, अन्तमें देवत्वको और उससे भी उच्चतर पदको प्राप्त होगा । उसे अपने विकासमें शीघ्रता करनी है तो अपनेमें नैतिक गुणोंका, योगके यम-नियमादिकोंका, वेदान्तके साधन-चतुष्टयोंका, समझ-बूझकर अभ्यासद्वारा विकास करना चाहिये । और सम्प्रदायोंसे भेद केवल इतना है कि जहाँ और सम्प्रदायोंमें साधक अपनी साधना केवल अपने आत्म-कल्याणके लिये ही करता है, थियासफ़ीमें साधक इन साधनाओंको इसलिये करता है कि इनसे वह विशेष योग्यता और पवित्रता प्राप्त कर जगत्‌की विशेष सेवा कर सके । यहाँ साधक अपने मोक्षकी चिन्ता न कर जगत्-कल्याणके लिये, दूसरोंकी सेवाके लिये, दूसरोंको मार्ग चलनेमें सहायता देनेके लिये, आरम्भसे प्रयत्न करता है । हाँ, यह सही है कि आरम्भमें यह बहुत थोड़ी सेवा कर सकेगा; पर परकल्याण ही उसका परम धर्म है । और सम्प्रदायोंमें साधनाद्वारा शक्ति पाकर, यदि साधन-चतुष्टय न सध चुका हो तो, उस शक्तिको स्वार्थकी ओर खर्च करके गिर पड़ना सम्भव है । यहाँ जबतक पवित्रता न आ जाय, साधकको कोई ऐसी शक्ति नहीं दी जाती जिसका दुरुपयोग हो सके । आजकल अंग्रेज़ीमें बहुत-सी पुस्तकें ऐसी छपती हैं, जिनमें दूसरोंपर अपनी इच्छाशक्तिद्वारा प्रभाव डालना बताया जाता है । यह वाममार्ग गिरनेका रास्ता है । थियासफ़ीमें किसीकी इच्छापर प्रभाव नहीं डाला जा सकता, किसीपर ऐसा प्रभाव नहीं डाला जाता कि वह अमुक विचार करे । उसे आशीर्वाद दिया जाता है, उसका कल्याण मनाया जाता है, उसके विचारार्थ उसके मनमें विचार उत्पन्न किये जाते हैं, पर उसकी इच्छाशक्तिको सदैव स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है, जिसमें वह चाहे जैसा अपना निर्णय करे । थियासफिस्ट साधककी यह आकाङ्क्षा रहती है कि वह अपनी साधनामें सिद्ध होकर जगत्‌के दूसरे लोगोंको मार्ग चलनेमें सहायक हो । इसलिये पहले वह अपने मन, विचार, मनके भाव, कर्म और स्थूल शरीरके संयममें लगता है । समझ-बूझकर अच्छे-अच्छे सद्‌गुणोंका मनन और निदिध्यासन कर वह उनको अपने अंदर अभ्यासद्वारा बढ़ाता है । अपने आहार-विहारको सात्त्विक बनाकर अपने कोशोंको शुद्ध करता है । अपनी चेतनाको शरीरसे भिन्न कर ऊँचा चढ़ाने, अपने आपको कारणशरीरस्थ जीवात्मा जानकर शरीरकी इन्द्रियों-का निग्रह करने, और पीछे यदि हो सके तो, अपनेको सबमें देखने और सबको अपने अंदर देखनेका प्रयत्न करता है । (देखो भगवद्गीता अध्याय ६, श्लोक २९ ।) इस साधकको ऐसा वाक्‌संयम भी करना चाहिये कि वह केवल सत्य, प्रिय, हितकारी और अनुद्वेगकर वाक्य ही बोले । ऐसा साधक अपनी चेतना ईश्वरसे मिलानेका प्रयत्न करता है । थोड़ी देरके लिये अपनेको भूलकर उस ऊँची ईश्वरमय चेतनामें स्थित होना चाहता है । वह अपने ध्यानमें जगत्‌को, जाने हुए दुखियोंको और सबको उनके कल्याणके आशीर्वाद भेजता है ।

प्रत्येक सौरमण्डल एक विश्व है। कितने विश्व हैं और कितने ब्रह्मा, विष्णु और शिवादि हैं—इनकी गिनती नहीं है, यह देवीभागवतका कहना है। थियासफ़ीका भी यही कहना है। इसलिये सौरमण्डलमें वर्तमान या व्याप्त, उसको चलानेवाली शक्ति ही हमारा ईश्वर है। उसमें और परब्रह्ममें कितना अन्तर है, इसका विचार मनुष्यकी बुद्धिसे परे है। उपासना इस सौरमण्डलव्याप्त ईश्वरकी ही हम कर सकते हैं। उसकी सत्ता सर्वत्र कार्य करती है। सारे सौरमण्डलमें वह सर्वशक्तिमान् और सर्वका ज्ञान रखनेवाला है। सबकी सच्ची आर्त हृदयकी पुकार उसके पास पहुँचती है, और वह उसका उत्तर देता है। पर जैसे सकाम भक्ति गौण है, वैसे ही ईश्वरसे अपनी नीची इच्छाओंकी पूर्तिके लिये प्रार्थना करना हलकी बात है।

जब साधन-चतुष्टय कुछ सध चुकते हैं और साधकमें कुछ योग्यता आ जाती है और जनसेवाके कारण साधकका पुण्यसञ्चय हो जाता है तो ब्रह्मनिष्ठ अदृश्य गुरु उसे अपना परीक्ष्यमाण शिष्य बनाते हैं। सूक्ष्म प्रकृतिकी उस शिष्यकी प्रतिमूर्ति बनाकर अपने यहाँ रखते हैं। शिष्यके प्रत्येक भावसे यह मूर्ति प्रभावित होगी और दिन-रात्रिमें एक बार देख लेनेसे शिष्यके मनके भावोंका दिनभरका पूरा-पूरा हाल गुरुको ज्ञात हो जायगा। गुरु शिष्यके ऊँचे कोषोंपर अपना प्रभाव भी डालता रहता है। जब शिष्यकी परीक्षा करते रहनेसे ज्ञात होता है कि शिष्यमें काफी सात्त्विकता और पवित्रता आ गयी है, तब गुरुदेव उस शिष्यको अपना स्वीकृत शिष्य बनाते हैं।

स्वीकार कर लेनेसे गुरुदेव और शिष्यमें ऐसी एकता और घनिष्ठता हो जाती है कि उसकी कल्पना नहीं हो सकती। अब गुरुदेवकी सब शक्तियाँ शिष्यपर आप-से-आप कार्य करती हैं। शिष्यके सब विचार गुरुदेवके मनमें पहुँच जाते हैं। यदि अपवित्र विचार शिष्यके मनमें आवें तो गुरुदेवको थोड़ी देरके लिये दोनोंके बीचमें परदा डाल देना पड़ता है। गुरुदेव अपनी शक्ति शिष्यके द्वारा दूसरोंके कल्याणार्थ भेजते हैं। इस पदमें शिष्य और गुरुदेवका अवर्णनीय ऐक्य हो जाता है। जबतक शिष्यको दूसरोंका हितचिन्तन करते रहने, दूसरोंको अपना ध्यान और शक्ति देने, कल्याणकारी विचार और आशीर्वाद सब मनुष्योंमें वितरण करनेकी आदत न पड़े, तबतक वह शिष्य स्वीकृत नहीं होता। स्वीकृतिके आरम्भमें शिष्यको ऐसा भान होता है कि मुझमेंसे बहुत-सी शक्तिका प्रवाह किया जाता है। पीछेसे मंद प्रवाह सदैव होता रहता है और विशेष प्रसङ्गपर विशेष प्रवाह होता है। इसके पश्चात् साधन-चतुष्टयके अभ्यासमें काफी उन्नति हो चुकनेपर प्रथम दीक्षा होती है, जो भगवान् सनत्कुमारकी आज्ञासे दूसरे महात्मा देते हैं। तब शिष्य इन महात्माओंके सङ्घका एक अदना सदस्य बनता है। इसको बौद्ध-साहित्यमें स्रोतआपत्ति और संन्यासादि उपनिषदोंमें कुटीचक कहते हैं। इसके परे तीन और दीक्षाएँ होती हैं, जिन्हें सकृदागामी या बहूदक, अनागामी या हंस और अर्हत् या परमहंस कहते हैं। इनके वर्णन करनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। इसके परे अशेख या तुरीयातीत अथवा जीवन्मुक्त महात्माका पद है।

अर्हत्पदप्राप्त व्यक्ति भी शिष्य ग्रहण नहीं कर सकता, केवल अशेख या जीवन्मुक्त महात्मा ही गुरु बन सकते हैं। श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराणमें वर्णित मरु और देवापि दो महात्मा इस संस्थाके मूल सञ्चालक और गुरु हैं। इनके सिवा जीसस इत्यादि और महात्मा भी इस पदके हैं। भगवान् अगस्त्य इनसे भी ऊँचे हैं। ये सब स्थूलशरीरधारी हैं। कोई-कोई और भी स्थूलशरीर रखते हैं, पर कई केवल सूक्ष्मशरीर ही रखते हैं और काम पड़नेपर स्थूल आकृति बना सकते हैं।

अदृश्य सहायक

इन महात्माओंको सब लोकोंमें कार्य करना पड़ता है। सब शिक्षित व्यक्ति सोनेपर अपने स्थूलशरीरसे निकलकर सूक्ष्मशरीरद्वारा भुवर्लोकमें कार्य कर सकते हैं; पर उसका ज्ञान न होनेसे वे प्रायः अपने दिनके विचार लेकर ही उनकी उधेड़-बुन करते रहते हैं। वे चाहें तो उस भुवर्लोकमें परसेवाका बहुत सा कार्य कर सकते हैं। ऐसे प्रयत्न करनेवालेको आरम्भमें ऐसा भान हो सकता है कि मैं हवामें उड़ रहा हूँ या पानीमें तैरता हूँ या रेल या मोटरमें जा रहा हूँ। यदि वह अमुक व्यक्तिको अमुक प्रकारकी सहायता देनेका विचार कर सोवे तो वह उस प्रकारकी सहायता अवश्य देगा, चाहे उसे जागनेपर उसकी स्मृति रहे या न रहे। कई लोग इस प्रकारका कार्य करते हैं। किसी-किसीको उसकी स्मृति भी रहती है। कभी-कभी एक ही कार्यमें दो-तीन व्यक्ति शामिल हो जाते हैं और जगनेपर दोनों-तीनों अपनी-अपनी स्मृति मिलानेपर सब मिलती हुई पाते हैं। भुवर्लोकके कार्यका अनुभव जगनेपर स्वप्नके रूपमें याद पड़ता है, पर उसमें हमारा मगज अपने विचार भी भर देता है। इस कारण दोनोंको अलग-अलग कर लेना सीख लेना चाहिये।

सूफ़ियोंका साधना-मार्ग*

(लेखक—डा० एम्० हाफ़िज़ सैयद मुहम्मद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

वेदान्तके सिद्धान्तोंके अनुरूप सूफ़ीमतके सिद्धान्तोंमें भी ब्रह्मकी अनुभूति साधकोंके हृदयमें अन्तःपक्षसे मानी गयी है। कर्मकाण्ड और आचारकी विशिष्टताका उतना अधिक महत्त्व नहीं है, जितना हृदयकी अनुभूतिसे आत्मसमर्पणका है। किन्तु यह कहना कि सूफ़ीमतमें साधना-पक्षका अभाव है, सत्यसे दूर होगा। वह साधना-पक्ष क्या है? ब्रह्मकी अनुभूतिके लिये किन अवस्थाओंमें होकर जाना पड़ता है, इसपर हम प्रकाश डालनेकी चेष्टा करेंगे। पहले हम सूफ़ीमतके अनुसार ब्रह्म (ज़ाते वहत) की भावनापर विचार करते हैं।

सूफ़ीमतका ब्रह्म वेदान्तके ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। जिस प्रकार वेदान्तका ब्रह्म एक है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नहीं है (एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति), उसी प्रकार सूफ़ीमतमें भी ब्रह्म एक है—वह 'हस्तिए मुतलक़' है। वह किसी भी रूप या आकारसे रहित है। वह सर्वव्यापी है, किन्तु किसी वस्तुविशेषमें केन्द्रीभूत नहीं है। वह अगोचर और अज्ञेय है, वह असीम है। उसमें कोई परिवर्तन और विनाश नहीं है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी सत्य नहीं है। अतः वह एकान्तरूपसे एक ही है, और अन्य कोई सत्ता उसके समकक्ष नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें ब्रह्मका जो ज्ञान होता है, वह किसी भौतिक साधनसे न होकर आत्मानुभूतिसे ही होता है। हम ब्रह्मके अनन्त गुणोंको जानकर ही उसके सम्बन्धमें अपनी कल्पना कर सकते हैं। उसके विभवमें ही हम उसके लोकोत्तर रूपका अनुमान कर सकते हैं। इस रूपकी भावना, जो केवल 'एक' के रूपमें समझी गयी है, सूफ़ीमतमें 'ज़ात' संज्ञासे अभिहित है। इस ज़ातका परिचय उसकी 'सिफ़त' में है। यह 'सिफ़त' ज़ातकी वह शक्ति है, जिससे वह सृष्टिकी रचना करता है। सृष्टिकी अनन्त रूपवाली समस्त सामग्री है 'सिफ़त', जिसके द्वारा हम 'ज़ात' की शक्तिमत्ताका परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इसे हम वेदान्तमें 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपात्' के रूपमें मान सकते हैं। तुलसीके शब्दोंमें 'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलम्' की भावना भी यही है। इतना होते हुए भी सिफ़त ज़ातसे किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है, किन्तु 'सिफ़त' ही 'ज़ात' नहीं है। सिफ़तके अनेक रूप भिन्न होते हुए भी एक हैं। हम 'सिफ़त' को ज़ातसे उद्भूत गुण मान सकते हैं। जिस प्रकार किसी सुगन्धित पुष्पकी सुगन्धि पुष्पसे उद्भूत होते हुए भी पुष्प नहीं है, यद्यपि हम सुगन्धि और पुष्पको किसी प्रकार विभाजित नहीं कर सकते—फूलकी भावनाहीमें सुगन्धि है और सुगन्धिकी भावनामें ही पुष्पका परिचय है; किन्तु यह सब विज्ञान किसी प्रकार भी ज़ातको सीमाबद्ध नहीं कर सकता। कबीरने इसी भावनामें सगुणवादका विरोध करते हुए लिखा था—

> जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।
> पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्त अनूप॥

इस प्रकार हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि ब्रह्म या ज़ातका अस्तित्व हमें केवल उसकी सिफ़त या सृष्टि करनेवाली शक्तिसे ही ज्ञात होता है। यदि उसकी 'सिफ़त' हमारे समक्ष न हो तो हम उसकी वास्तविक अनुभूतिसे वञ्चित रहेंगे। हम सिफ़तको ज़ातका एक 'प्रकट रूप' या 'अभिव्यक्ति' मानते हैं।

क़ुरानशरीफ़के शब्दोंमें आत्मा या 'रूह' 'अमरे रब' या ब्रह्मकी अनुज्ञा है। हदीसमें लिखा हुआ है कि ज़ाते वहतने (अथवा निर्गुण ब्रह्मने) आत्माको अपने रूपके अनुसार ही उत्पन्न किया है। किन्तु इसलिये कि ब्रह्मका कोई रूप नहीं है, आत्माका भी रूप नहीं हो सकता। जिस प्रकार हम ब्रह्मकी सत्यताका परिचय परोक्ष रूपमें ही प्राप्त कर सकते हैं, उसके किसी विशिष्ट आकारसे परिचित नहीं हो सकते, उसी प्रकार हम आत्माके भी किसी रूपको नहीं जान सकते, क्योंकि उसका कोई रूप या आकार नहीं है। यह आत्मा एक है। जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंमें किसी प्रकारकी भिन्नता नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मसे उत्पन्न जीवात्माओंमें भी किसी प्रकारकी भिन्नता नहीं हो सकती। प्रत्येक किरणमें जिस प्रकार सूर्य दिखलायी दे सकता है (यद्यपि सम्पूर्ण सूर्य वहाँ नहीं है), उसी प्रकार प्रत्येक आत्मामें ब्रह्मका रूप प्रतिबिम्बित होता है। संक्षेपमें हम कह सकते हैं कि आत्मा वह दर्पण है, जिसमें ब्रह्म प्रतिबिम्बित होता है।

* इस लेखके लिखनेमें मुझे अपने परम मित्र प्रो० श्रीरामकुमार वर्मा, एम्० ए०से विशेष सहायता मिली है, जिसके लिये मैं उनका

हमारे सामने अब यह प्रश्न उठता है कि इस सृष्टिका रहस्य क्या है ? क़ुरानशरीफ़के अनुसार 'मा खलक़्तल् इन्स व जिन्न इल्ला ले आबदून' (मैंने नहीं पैदा किया मनुष्य और देवताओंको—सिवा इबादतके लिये) में ही सृष्टि-निर्माणका रहस्य है । अर्थात् खुदाने अपनी शक्तिसे जिस सृष्टिका विधान किया है, उसके लिये स्वानुभूतिके अतिरिक्त और कौन मार्ग हो सकता है ? जो सृष्टि ब्रह्ममय है, उसका स्वधर्म ही ब्रह्मकी उपासना होना चाहिये । यही सिद्धान्त क़ुरानशरीफ़का है । यदि ध्यानसे देखा जाय तो सृष्टि-निर्माणके इस रहस्यमें ही उपासनामार्ग छिपा हुआ है । खुदा या ब्रह्मकी इबादतका तात्पर्य ही एक निश्चित साधनामें है । अतः सूफ़ीमतमें सिद्धिके अन्तर्गत ही साधनाका मार्ग व्यञ्जित है । यह साधना दो रूप ग्रहण करती है—एक तो साधारण और दूसरा विशिष्ट । साधारण मार्गमें तो कुछ ही सिद्धान्त हैं, जो विधि और निषेधके अन्तर्गत हैं । करणीय और अकरणीयकी आज्ञाओंमें ही इस मार्गकी रूप-रेखा है । अवामिर (विधि) और नवाही (निषेध) का ही विधान इस साधारण साधनापक्षमें है । यह मनुष्यमात्रके साधारण धार्मिक जीवनके लिये आवश्यक है । कोई भी मनुष्य अपने अस्तित्वको तभी सफल मान सकता है, जब वह इन विधि और निषेधमय आदेशोंके अनुसार अपने जीवनको सुचारुरूपसे सञ्चालित कर सके । इस प्रकारके जीवनमें संयम (रियाज़त) की बड़ी आवश्यकता मानी गयी है । साथ ही आध्यात्मिकताके लिये जीवनको अधिक-से-अधिक अलौकिक सत्ताके समीप लानेकी आवश्यकता है । इसके लिये ही 'नमाज़' की आयोजना है । दिनके पाँच भागोंमें अपनेको ईश्वरके सम्पर्कमें लानेके लिये 'नमाज़' का विधान रक्खा गया है । यह आचरण उन लोगोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है जो संसारमें जीवन व्यतीत करते हुए ईश्वरीय सत्ताकी ओर आकर्षित हैं । अर्थात् इस प्रकारके व्यक्तियोंके जीवनमें सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकारके पक्ष हैं; किन्तु मनुष्योंमें एक वर्ग ऐसा भी है, जो केवल आध्यात्मिक पक्षमें ही सन्तोष मानता है । उसके लिये लौकिक पक्षका कोई मूल्य नहीं है । उसे संसारमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं दीख पड़ती, जो उसे स्थायी सुख और शान्ति दे सके । वे इस संसारको क्षणभङ्गुर मानते हैं, इसके सुखोंको मृगतृष्णा और इसकी आशाओंको इन्द्रधनुषकी भाँति आधारहीन समझते हैं । उनके लिये संसारका अस्तित्व वास्तविक नहीं है । अतः लौकिक पक्ष उनके सामने कोई महत्त्व नहीं रखता । वे एकमात्र अलौकिक या आध्यात्मिक पक्षकी सार्थकता ही मानते हैं और इसीमें उन्हें परम सुख और आनन्दकी चरम प्राप्ति होती है । यह अलौकिक या आध्यात्मिक पक्ष ईश्वरके जप (ज़िक्र) या स्मरणमें ही माना जाता है । यह स्मरण दो प्रकारसे मान्य है—

१. ईश्वरके नाम और उसके गुणोंका जाप इस प्रकार हो कि उससे समस्त जीवन ओतप्रोत हो जाय । शरीरके प्रत्येक भागमें उसी अलौकिक सत्यका सञ्चार हो ।*

२. साधक ईश्वरीय तत्त्वका चिन्तन दार्शनिक रूपसे करे । वह आत्मा और परमात्माके पारस्परिक सम्बन्धपर विचार करे और दोनोंके स्वरूपनिर्धारणमें लीन हो ।

इन दो विभागोंपर हम विस्तारसे विचार करेंगे । इनके अन्तर्गत जपके अनेक रूप हैं । मनुष्यकी जितनी साँसें हैं, उतने ही अधिक साधनाके मार्ग हैं, किन्तु हम संक्षेपमें कुछ ही मार्गोंका निर्देश करेंगे ।

तवज्जह (ध्यान)—इस साधनामें (मुर्शिद) गुरु शिष्य (मुरीद) को अपने सामने घुटने मोड़कर बैठावे और स्वयं भी उसके सामने इस प्रकार बैठे । फिर हृदयको समस्त भावनाओंसे रहित एवं एकाग्र करके अल्लाहका नाम १०१ साँसमें अनुमानसे शिष्यके हृदयपर अनुलेखित करे और यह विचार करे कि अल्लाहके नामका प्रभाव मेरी ओरसे शिष्यके हृदयकी ओर प्रेरित हो रहा है । इस प्रकार एक या अनेक प्रयोगोंमें शिष्यके हृदयमें आलोक छा जायगा और उसके हृदयमें जाग्रति इस प्रकार हो जायगी कि वह उपासनाका पूर्ण अधिकारी बन सकेगा ।

ज़िक्र जेहर—इस साधनाका सम्बन्ध 'चिश्तिया वंश'[१] से है और यह साधना अधिकतर गोपनीय रक्खी जाती है । इसे तहज्जुद[२]के बाद ही व्यक्त कर सकते हैं । उसकी प्रार्थना यह है—'या अल्लाह, पाक कर मेरे दिलको अपने ग़ौरसे और रोशन कर मेरे दिलको अपने पहचानके नूरसे हमेशा या अल्लाह, या अल्लाह, या अल्लाह !' इस साधनाका यह ढंग है—साधक आलती-पालथी मारकर बैठे और दाहिने तथा बायें पैरके

* हठयोगमें इसी स्थितिको 'अजपा जाप' कहते हैं ।

१. सूफ़ीमतके सिद्धान्त चार वर्ग (स्कूल) के हैं—चिश्तिया, क़ादरिया, सुहरवर्दिया और नक़्शबंदिया ।

२. एक प्रकारकी नमाज़, जो रातके बारह बजेके बाद पढ़ी जाती है ।

अँगूठे और उसके बराबरवाली अँगुलीसे पाँवके घुटनेकी जड़में नीचेकी तरफ़ 'रगे कीमास' को पकड़े (रगे कीमासका सम्बन्ध हृदयसे है, उसे दबानेसे हृदयमें उष्णता उत्पन्न होती है)। बैठनेमें कमरको सीधा रखना चाहिये और मुख पश्चिमकी ओर हो। दोनों हाथ जानुओंपर रक्खे और 'बिसमिल्ला' कहकर तीन बार कलमा 'ला इलाह इल्लिल्लाह' पढ़े, इसके बाद जानुओंकी ओर इतना सिर झुकाये कि माथा घुटनेके पास पहुँच जावे और वहाँसे मधुर स्वरसे 'ला इलाह' का आरम्भ करके सिरको दाहिने घुटनेके ऊपरसे लाते हुए दायें कंधेतक फिराता हुआ लाये और साँसको इतना रोके कि जितनी देरमें तीन ज़रबें (अल्लाहके नामका उच्चारण) लग सकती हैं। इसके बाद सिरको कुछ पीठकी ओर टेढ़ा करके ध्यान करे कि ईश्वरके अतिरिक्त जितने सङ्कल्प-विकल्प हैं, वे सब मैंने पीठके पीछे डाल दिये। इसके बाद सिरको बायीं तरफ़की छातीकी ओर झुकाकर, जहाँ हृदयका स्थान है, 'इल्लिल्लाह' कहे और यह विचार करे कि मैंने ईश्वरीय प्रेमको हृदयमें भर लिया। ला इलाहको 'ज़िक्रे नफ़ी' और इल्लिल्लाहको 'ज़िक्रे इसबात' कहते हैं। 'नफ़ी' के वक़्त आँखें खुली रहनी चाहिये और 'इसबात' के समय बंद।

ज़िक्रे पासे अनफ़ास—इस साधनाके अनेक रूप हैं, जिनमें केवल दो द्रष्टव्य हैं। पहला नफ़ी या इसबातका पासे अनफ़ास अर्थात् जब भीतरका साँस जाय तो ला इलाह कहे और जब बाहरका साँस आये तो इल्लिल्लाह कहे। सिर्फ़ साँससे यह उच्चारण हो, यहाँतक कि समीप बैठे हुए व्यक्तिको भी यह ज्ञान न हो सके। (यह समस्त साधना करते समय प्रत्येक साँसमें दृष्टि नाभिपर रहे और मुख बंद रहे)।

हब्से दम—यह साधना समानरूपसे सभी सूफ़ियोंमें मान्य है, विशेषकर चिश्ती और क़ादरी इस साधनके विशेष पक्षमें हैं। नक़्शबंदी इसे परमावश्यक तो नहीं मानते, तथापि वे इसकी उपयोगितामें विश्वास रखते हैं। यह साँसका अभ्यास है (हठयोगके प्राणायामका रूप भी इसी प्रकार है)। मानसिक उन्नतिके साथ यह शारीरिक उन्नतिका भी मूल-मन्त्र है। इसके अभ्यासका ढंग यह है कि नाक और मुँह बंद करके साँसके रोकनेकी शक्ति बढ़ायी जावे।

शग़्ले नसीर—यह ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्तीका विशेष साधन है। इससे मानसिक व्याधियाँ दूर होती हैं। इसका प्रकार यह है कि सायं-प्रातः अपने जानुओंपर बैठकर मनको एकाग्र कर दोनों आँखोंकी दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर जमावे और निर्निमेष होकर देखे। इस दृष्टिमें अपरिमित ज्योतिका अनुमान करे। प्रारम्भमें नेत्रमें पीड़ा हो सकती है, किन्तु अन्तमें अभ्याससे साधना सरल हो जायगी।

शग़्ले महमूदा—इस साधनामें दृष्टिको भौंहोंके बीचमें जमाना चाहिये। यद्यपि यह साधना पहले कठिन जान पड़ती है, किन्तु इससे हृदय चैतन्य हो जाता है। पतञ्जलिके योगसूत्रमें त्रिकुटीका विधान इसी प्रकारका है।

सुल्तानुल अज़कार—इसके अनेक रूप हैं; किन्तु सबसे सरल रूप यह है कि आँख, नाक, कान, मुखको हाथकी उँगलियोंसे बंद करके साँसको नाभिसे खींचे और मस्तकतक ले जावे। वहाँ उसे रोककर शक्तिके अनुसार कुम्भक करे। जब साँसको नाभिके नीचेसे ऊपर ले जाने लगे तो वह 'अल्लाह' का उच्चारण करे और जब साँसको मस्तिष्कमें स्थापित करे तो 'हू' कहे। 'हू' कहते समय साँसको हृदयकी ओर स्थिर करे। जब कुम्भकमें साँसकी शक्ति घटने लगे तो उसे नाकके मार्गसे निकाल दे और इसीका पुनः अभ्यास करे। यह पहले एक या दो बारसे प्रारम्भकर अन्तमें बहुत देरतक बढ़ायी जा सकती है।

शग़्ले सौते सरमदी—इस साधनामें आँख, नाक, कान और मुखको बंद कर ऊँचे स्थानसे नीचे स्थानको गिरनेवाली जलधाराके शब्दका अनुमान करे। इस अनुमानके साथ 'इस्मे ज़ात' (ईश्वरके नाम) पर ध्यान रक्खे। क्रमशः यह अनुमान सत्यमें परिणत हो जायगा और वह आध्यात्मिक नाद सुन पड़ेगा, जो प्रत्येक साधकका आदर्श है। (योगशास्त्रमें इसके समान ही अनहद नादकी व्यवस्था है।)

मुराक़बा*—यह एक विशेष साधना है जो अनुमानकी शक्ति बढ़ाने और किसी वस्तुविशेषके रूपको हृदयङ्गम करनेके लिये की जाती है। इस मुराक़बेमें जानुओंपर बैठना, गर्दन झुकाना, आँखें बंद कर ध्यान करना आवश्यक है। अनेक मुराक़बोंमेंसे नीचे एक मुराक़बेका वर्णन किया जाता है। उससे अन्य मुराक़बोंका अनुमान किया जा सकता है।

मुराक़बा इस्मे ज़ात—इसका यह ढंग है कि वज़ू करके (जलसे स्वच्छ होकर) पश्चिमकी ओर बैठ जाय और बिस्मिल्ला पढ़कर गर्दन झुकाकर इस्मे ज़ातका ध्यान करे,

* अरबी ज़बानमें रक़ब गर्दनको कहते हैं। मुराक़बा गर्दन झुकाकर किया जाता है, इसलिये इसका नाम मुराक़बा रक्खा गया है।

यानी 'इस्मे अल्लाह' पर एकाग्रचित्त हो। इससे इन्द्रियकी चञ्चलता नष्ट होगी। यदि सांसारिक सम्बन्धकी ओर चित्त दौड़े तो अपने गुरुकी ओर ध्यान एकाग्र करे। प्रारम्भमें इस अभ्यासके करनेमें कठिनाई होगी, किन्तु वह अभ्याससे धीरे-धीरे दूर हो जायगी और मन शान्त हो जायगा।

अन्तमें यह कहा जा सकता है कि सूफ़ीमतके चार वर्गोंके अनुसार (जिनका निर्देश ऊपर हो चुका है) साधनाके अनेक रूप माने गये हैं, किन्तु यहाँ हमने मुख्य-मुख्य साधनाओंका निर्देश किया है, जो सभी वर्गोंमें मान्य हैं। इन साधनाओंपर दृष्टि डालकर सरलतासे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सूफ़ीमतका साधना-भाग हिंदूधर्मके साधना-भागके कितने अनुरूप है। यह तो दोनों धर्मोंका दृष्टिकोण है कि बिना तपस्या और साधनाके सांसारिक आकर्षण और मोह नष्ट नहीं हो सकते और आत्माकी अनन्त ज्योतिकी किरण दृष्टिगत नहीं होती, जिसके प्रकाशमें साधक अपना साम्य परमात्मासे कर सकता है। आत्माकी शक्तिको विकसित कर उसे ईश्वरीय ज्योतिसे विभूषित करना ही इन साधनाओंका उद्देश्य है।

सूफ़ियोंकी साधना

(लेखक—श्रीचन्द्रबलिजी पाण्डेय, एम्० ए०)

प्रेम-प्रतीकके सहारे चलनेवाले सूफ़ियोंकी साधनाके सम्बन्धमें ध्यान देनेकी बात यह है कि उनमेंसे कुछ तो इस्लामके विधि-विधानोंको मानते हुए प्रेमके मैदानमें उतरते हैं तो कुछ सीधे प्रेमके अखाड़ेमें आ धमकते हैं और इस्लामकी साधनाको अनिवार्य नहीं समझते। जो इस्लामको लिये दिये आगे बढ़ते हैं, उनकी इस्लाममें पूरी प्रतिष्ठा होती है और वे देखे भी पूज्य दृष्टिसे जाते हैं। पर जो इस्लामकी उपेक्षा कर अपना आसन जमाते हैं, उन्हें इस्लाममें जगह नहीं मिलती और फलतः उन्हें बेशरा, ज़िन्दीक़ या आज़ादके कटु नामसे याद किया जाता है। आज़ाद सूफ़ियोंकी साधनाके विषयमें कुछ विशेषरूपसे कहनेकी आवश्यकता नहीं दिखायी देती। अन्य सूफ़ियोंके साथ उनका भी उल्लेख होता रहेगा। एक बात और। बाशरा सूफ़ियोंके बारेमें भी कभी यह न सोचना चाहिये कि सचमुच उनकी निष्ठा इस्लाम ही है। नहीं, कदापि नहीं। उनका पक्ष केवल इतना ही है कि सभी विधि-विधानोंमें दैवी और अन्तिम होनेके कारण इस्लाम ही श्रेष्ठ है। इस्लामके अनुष्ठानसे सिद्धिकी प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। बस, इसके आगे इस्लामके लिये और कोई आग्रह नहीं।

सूफ़ी वस्तुतः मधुकरी वृत्तिके जीव होते हैं। उनकी आँखें सदा खुली रहती हैं। जहाँ कहीं वे जाते हैं, अपने कामकी बातें छाँट लेते हैं। रस लेते और सीठीको छोड़ देते हैं। इसलिये उनकी साधनामें भी नाना प्रकारके रंगोंकी समायी हो जाती है और वह भी उन्हींकी भाँति बहुरंगी हो जाती है। पर यहाँ उन रंगोंकी सुनवायी न होगी। मूल सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें ही कुछ निवेदन कर दिया जायगा। हाँ, प्रसङ्गवश इतना अवश्य बता दिया जायगा कि भारतकी रसीली और उपजाऊ भूमिमें कौन-सा ऐसा गहरा रंग मिला जो उनकी साधनामें घर कर गया और फलतः आज भी चारों ओर किसी-न-किसी रूपमें बना ही है।

यों तो सूफ़ीमतके उदयमें भी आर्यसंस्कृतिका हाथ कहा जाता है, पर उसको माननेके लिये बहुतसे लोग तैयार नहीं हैं। पर इतना तो निर्विवाद है और सभी विद्वानोंने एक स्वरसे घोषित भी कर दिया है कि बादके तसव्वुफ़पर भारतका प्रभाव है। भारतने कब और किस प्रकार तसव्वुफ़को अनुप्राणित किया, यह इतिहासका विषय है और कालकी कठोरता एवं अपनी अवहेलनाके कारण आज खोजका विषय बन गया है। अतएव इसे यहीं छोड़ इतना और जान लीजिये कि हमारी योग-साधनासे सूफ़ी बराबर प्रभावित होते रहे हैं और मलिक मुहम्मद जायसी आदि सूफ़ी कवियोंने तो हठयोगकी चर्चा भी खूब की है। उनका कहना है—

> नवौ खंड नव पौरी, औ तहँ बज्र-केवार।
> चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरै पार॥
> (पदमावत[1] पृ० १९)

जायसीका प्रकृत कथन उनकी साधनाका परिचायक है। पर यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता कि उनकी यह

१. सभी अवतरण 'जायसी-ग्रन्थावली', द्वितीय संस्करण (नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी, सन् १९३५ ई०) से लिये गये हैं।

साधना इस्लामी है अथवा हठयोगी । उन्होंने अन्यत्र 'अखरावट' में (पृ० ३५६) इसीको इस रूपमें व्यक्त किया है—

'बाँक चढ़ाव, सात खँड ऊँचा, चारि बसेर जाइ पहूँचा ।'

खण्डों[1] की बात अभी अलग रखिये । 'चार बसेरों' से जायसीका तात्पर्य क्या है ? हम-आप तो अपनी-अपनी रुचिके अनुसार इसका अर्थ अलग-अलग लगा लेंगे । यदि आप ध्यान, धारणा, प्रत्याहार और समाधिका नाम लेंगे तो हम मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाका । यदि आप यम, नियम, आसन और प्राणायामका उल्लेख करेंगे तो हम जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयका । सारांश यह कि सब लोग अपनी-अपनी साधनाके अनुसार इसका अर्थ करेंगे । पर क्या आप जानते हैं कि स्वयं 'जायसी'-सा इस्लामी सूफी इसका अर्थ क्या करेगा । सुनिये । उसीका कहना है—

ना नमाज है दीनक थूनी, पढ़े नमाज सोइ बड़गुनी ।
कही तरीकत चिस्ती पीरू, उधरित असरफ औ जहँगीरू ॥
. . . .
राह हकीकत परै न चूकी, पैठि मारफत मार बुड़की ।
ढूँढ़ि उठै लेइ मानिक मोती, जाइ समाइ जोति महँ जोती ॥
(अखरावट, पृ० ३६३)

अस्तु, परमज्योतिमें समा जानेके लिये ज्योतिको 'नमाज़', 'तरीक़त', 'हकीकत' और 'मारफ़त' का अनुष्ठान करना चाहिये । 'नमाज़' के प्रसंगमें ध्यान देनेकी बात यह है कि मलिक मुहम्मद जायसीने इस्लामके पञ्चस्तम्भोंमेंसे केवल 'सलात' याने नमाज़को लिया है । शेष चारको छोड़ क्यों दिया ? क्या सूफ़ीसाधनामें सौम, ज़कात, हज और तौहीदका कोई स्थान नहीं ? नहीं, ऐसी बात नहीं है । तौहीदका संकेत तो 'जाइ समाइ जोति महँ जोती' में कर दिया है । रही सौम, ज़कात और हजकी बात । सो उसके विषयमें वहाँ आगे चलकर स्पष्ट कह दिया है कि—

साँची राह सरीअत, जेहि बिसवास न होइ ।
पाँव राखि तेहि सीढ़ी, निभरम पहुँचै सोइ ॥
(अखरावट, पृ० ३६३)

अतएव मानना पड़ता है कि सूफ़ीसाधनाके 'चार बसेरे' शरीअत, तरीक़त, हकीक़त और मारफ़त हैं । शरीअतके भीतर रोज़ा, नमाज़, ज़कात और हज—सभी आ जाते हैं । रोज़ा और नमाज़का अरबी नाम सौम और सलात है । इन साधनचतुष्टयोंमें तौहीदकी गणना नहीं की जा सकती । तौहीद साधन नहीं प्रत्युत साध्य है । इसी तौहीदकी प्राप्तिके लिये अन्य साधनाएँ की जाती हैं ।

साधनचतुष्टयोंमें 'हज' और 'ज़कात' एक ढंगके हैं तो रोज़ा और नमाज़ दूसरे ढंगके । सूफ़ियोंके विषयमें यह कहना ठीक नहीं कि वे हज और ज़कातको विशेष महत्त्व नहीं देते । सच पूछिये तो सूफ़ी 'हज' और 'ज़कात' की संकीर्णताको दूरकर उन्हें तीर्थ और दानका व्यापक रूप दे देते हैं और 'मक्का' एवं 'मुसलिम' के आगे भी परमात्माका प्रसार देखते हैं । रोज़ा और नमाज़को भी सूफ़ी तप और ध्यानके रूपमें लेते हैं और स्वभावतः उनके भी क्षेत्रको व्यापक बना देते हैं । उनकी दृष्टिमें अधिक-से-अधिक रोज़ा रखना और अधिक-से-अधिक नमाज़ पढ़ना और भी अधिक मङ्गलप्रद है । निदान हमें मानना पड़ता है कि साधनाके क्षेत्रमें सूफ़ी सलात, ज़कात, सौम और हजको उपलक्षण अथवा संकेतमात्र समझते हैं । इतना तो हर एक मुसल्मिको करना चाहिये । यदि इससे अधिक करे तो और भी अच्छा है ।

अब तौहीदकी बात आयी । तौहीदकी सिद्धिके लिये सालिकको क्या करना चाहिये ? हमें तौहीदकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? कहनेकी बात नहीं कि यहींसे सूफ़ियोंकी सच्ची और निजी साधनाका आरम्भ होता है । यहींसे पीरी-मुरीदी चलती है और यहींसे मोमिन और मुरीदमें भेद उत्पन्न होता है । सूफ़ियोंके नाना सम्प्रदायोंकी छान-बीन हमारे किस कामकी । हमारे लिये तो इतना ही पर्याप्त है कि सभी एक मनसे 'तरीक़त'[3] के क़ायल हैं और आग्रहके साथ कहते हैं—

जेइ पावा गुरु मीठ सो सुख मारग महँ चलै ।
सुख अनंद भा डीठ, 'मुहमद' साथी पोढ़ जेहि ॥
(अखरावट, पृ० ३६१)

---

१. जायसीने सात खण्डोंकी व्याख्या 'अखरावट' में कर दी है, जो हठयोगियोंसे कुछ भिन्न है । शेष दो खण्ड 'अर्श' और 'कुर्सी' कहे जा सकते हैं ।

३. 'तरीक़त' में ज़िक्र, फ़िक्र और 'समा' का सम्पादन किया जाता है । ज़िक्रको 'सुमिरन', फ़िक्रको चिन्तन और समाको संकीर्तन कहा जा सकता है । संगीतप्रधान होनेके कारण कुछ सम्प्रदाय समाको अच्छा नहीं समझते ।

४. सूफ़ी चार लोकोंकी भी कल्पना करते हैं—जो क्रमशः नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूतके नामसे ख्यात हैं । इन्हें हम नरलोक, देवलोक, ऐश्वर्यलोक और ब्रह्मलोक कह सकते हैं ।

पोढ़ साथी मिल गया तो 'बाँक चढ़ाव'का पक्का रास्ता मिल गया। तो क्या अब कोई डर नहीं रहा? नहीं, ऐसी बात नहीं है। अभी तो शैतानका सामना करना है। यदि सच्चे गुरुका साथ छूट गया और बीच मार्गमें शैतानने गुमराह कर दिया तो फिर फिसलकर चकनाचूर होनेके सिवा और क्या हाथ लगा। अतएव जबतक हक़ीक़तका यथार्थ बोध न हो जाय तबतक अपने गुरुका पीछा नहीं छोड़ना चाहिये और उनके सिखावनपर उचित ध्यान देकर अपने शत्रुओंका नाश करना चाहिये। जब नफ़्सका सिक्का उठ गया और हक़का सच्चा बोध हो गया तब और आगे बढ़नेके लिये कुछ ऐसा तत्पर अनुष्ठान करना चाहिये कि 'मारफ़त' की स्थिति आ जाय। 'मारिफ़' की प्राप्तिसे होगा यह कि किसी शैतानकी दाल अब न गलेगी। 'मारफ़त' की दशामें पहुँच जानेपर पता चलेगा कि उसका साध्य कहीं और नहीं था। वह तो उसीमें छिपा क्या, खुद वही था। अब उसे 'अनलहक़' का भान होगा और वह ब्रह्मविहारमें मग्न होगा। अब उसे 'तौहीद' का सच्चा आनन्द मिलेगा। किन्तु इस्लामकी रक्षा और दीनकी प्रतिष्ठा चाहनेवाला 'अनलहक़'की घोषणा न कर स्वतः इस्लामके सभी अङ्गोंका पालन करेगा और 'परगट लोकचार कहु बाता, गुपुत प्रेम मन जासों राता' को चरितार्थ करेगा। पर जो इस्लामका भक्त नहीं, केवल प्रेमका पुजारी और ज्ञानका प्रचारक है, वह स्पष्ट-रूपमें उसकी घोषणा करेगा और फिर किसी क्रियाकलापके फेरमें न पड़ेगा। मुल्ला और काज़ी उसे ज़िन्दीक़ कहेंगे। प्राणदण्डके विधानसे वह तिल भी न डरेगा और शौकसे सूलीके तख़्तेपर परम प्रियका आलिङ्गन कर उसीमें मग्न हो जायगा। उसकी सच्ची साधना सफल हो जायगी और उसके आलोकसे लोकका उद्धार होगा, हठ और पाषण्डकी एक भी न चलेगी।

इस्लाम धर्मकी कुछ बातें और शिया-सुन्नियोंका भेद

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंह जी, एम० ए०)

हज़रत मुहम्मदको अपने समयकी अरबमें प्रचलित 'बुत-परस्ती' खटकने लगी और उन्होंने 'खुदा-परस्ती' का प्रचार करना निश्चय किया। बहुत दिनोंतक मक्काके समीप हारापर्वतकी एक गुफ़ामें एकान्तवासके अनन्तर उन्होंने अपनी स्त्रीसे सूचित किया कि फ़रिश्ता जिबराइल उनके पास यह समाचार लाये थे कि खुदाने मुहम्मदको अपना पैग़म्बर नियत किया है। मुहम्मद अपठित थे और कुरानके वाक्य उनके मुखसे आवेशकी अवस्थाओंमें निकले कहे जाते हैं। क़ुरानका मुख्य आशय खुदाकी एकता है। कहते हैं—खुदा एक है और उसके सिवा कोई दूसरा नहीं। मुहम्मद उसके पैग़म्बर हैं। कलमा या इस्लामधर्मकी गायत्रीका यही अर्थ है। इस्लामके मुख्य अङ्ग ६ प्रकारके ईमान (सिद्धान्त) और ४ प्रकारके दीन (कर्मकाण्ड) हैं। ईमानमें खुदा, उनके पैग़म्बर, उनके फ़रिश्ते, कुरान, खुदाकी सर्वशक्तिमत्ता तथा मृत्युके पश्चात् न्यायके दिनमें विश्वास करना है। दीनके अङ्ग नमाज़, रोज़ा, ज़कात और हज हैं।

हमलोग एकान्तमें स्वस्थचित्त बैठकर सन्ध्योपासन करते हैं, ईसाई घुटने टेककर भगवच्चिन्तन करते हैं और यहूदी खड़े होकर प्रार्थना करते हैं; पर मुसल्मानोंकी पाँच वक़्तकी नमाज़ (प्रार्थना) का ढंग निराला ही है। चटाई अथवा दरी (जा-नमाज़) पर ही प्रार्थना हो सकती है और नमाज़के अवसरपर उपासकका मुख मक्केकी ओर होना चाहिये। शारीरिक शुद्धिके बिना नमाज़ स्वीकृत नहीं होती। मैथुन इत्यादि अवस्थाओंके उपरान्त स्नानसे ही शुद्धि होती है। अन्यथा हाथ-पैर और मुखको धोनेसे काम चल जाता है। जलके अभावमें बालूसे काम चल सकता है। नमाज़के समय उषाकाल, मध्याह्नके उपरान्त, मध्याह्न तथा सायङ्कालके मध्यमें, सूर्यास्तके कुछ बाद और सोनेके पूर्व हैं। ठीक इन समयोंपर मस्जिदकी मीनारोंसे इमाम लोग 'अल्लाहो अकबर' के नारे लगाते हैं। नमाज़को स्त्री नहीं सुन सकती। नमाज़में आठ प्रकारसे उठना-बैठना पड़ता है, प्रार्थनाएँ छोटी होती हैं और अरबी भाषामें पढ़ी जाती हैं। वे कई बार दुहरायी जाती हैं। प्रत्येक प्रार्थनाको रकोह कहते हैं। प्रत्येक शुक्रवारको मध्याह्नके उपरान्तकी नमाज़ सामूहिक होती है।

इस्लामी संवत्सर (हिजरी) का प्रारम्भ रमज़ान माससे होता है और महीने चान्द्रमास होते हैं। उनके नाम मुहर्रम, सफ़र, रबीउल अव्वल, रबी उस्सानी, जमादुल अव्वल,

जमादुस्सानी, रजब, शाबान, रमज़ान, शव्वाल, ज़िलक़द: और ज़िलहिज: हैं। रमज़ानके महीनेभर प्रतिदिन व्रत रक्खा जाता है, जिसे 'रोज़ा' कहते हैं। रोज़ा रखनेमें सूर्योदयसे कुछ पहलेतक भोजन कर लेते हैं, फिर दिनमें न कुछ खाते न पीते हैं। सूर्यास्तके उपरान्त फिर भोजन करते हैं। रमज़ानके अन्तिम शुक्रवारको अलविदा (विदाई) कहते हैं और मासिक व्रतकी समाप्तिपर द्वितीयाके चन्द्रदर्शन-पर ईद-उल्-फ़ित्र मनायी जाती है। मुसल्मान लोग शङ्कर-जीके भालपर स्थित चन्द्रहीको अपने प्रत्यक्ष देव मानते हैं।

ज़कात अथवा दानमें अपनी आयका चालीसवाँ भाग व्यय कर देना चाहिये। किसी माँगनेवाले (सायल) को कटुवचन कहना मना है।

प्रत्येक मुसल्मानको जीवनमें एक बार मक्का नगरमें स्थित काबेके मन्दिरकी यात्रा करना आवश्यक है। मुहम्मदके पूर्व काबेके स्थानपर एक विशाल मन्दिर (शिवालय ?) था, जिसे बिहिश्त (स्वर्ग) मन्दिर (बैतुल मामूर) की नकल मानते थे। वर्तमान काबेमें एक काला पत्थर है, जिसकी परिक्रमा करते हैं और जिसे चूमते हैं। कहते हैं यह स्वर्गसे आया है और पृथ्वीपर खुदाके दाहिने हाथके सदृश है। इस पाषाण-प्रतीकके कारण मक्का परम पवित्र माना जाता है और इसकी सीमाके भीतर जीववध वर्जित है। हज (काबेकी यात्रा) करनेवाले हाजी कहलाते हैं। यात्राके समय वे मक्कामें मुण्डन कराते हैं और सादा श्वेत बिना सिला (कफ़नका) कपड़ा पहनते हैं। वहाँके ज़मज़मनामक कूपका जल गङ्गाजलके समान पवित्र माना जाता है।

हमलोगोंकी वैतरणी नदीके स्थानपर मुसल्मानोंमें दोज़ख (नरककुण्ड) है, जिसपर सरातनामक बालसे भी महीन पुल बँधा माना जाता है। इस पुलको पापी नहीं पार कर सकते। पुलके पार बिहिश्त (स्वर्ग) है—जहाँ पानी, दूध, शहद तथा शराबकी नहरें बहती हैं। स्वर्गमें मुश्क (कस्तूरी) की बनी ७२ हूरें (सुन्दरियाँ) और ७०,००० ग़िलमा (सुन्दर बालक सेवक) प्रत्येक पुण्यात्माको मिलते हैं। क़यामतकी कल्पना हमारे प्रलयसे मिलती है। उसीके बाद प्रत्येक क़ब्रसे मुर्दे उठ खड़े होंगे और उनके पुण्य-पापका न्याय होगा !!

इस्लामधर्ममें प्रत्येक मुसल्मान समान पद रखता है। धार्मिक बातोंमें ऊँच-नीचका कोई भेद नहीं। इसी कारण इसे परम प्रजासत्तात्मक (most democratic) धर्म कहते हैं। इस्लामधर्मका नेता खलीफ़ा कहा जाता है। वही धर्मगुरु तथा राजा होता था। सन् १९२४ ई० में खिलाफ़त (खलीफ़ाके पद) का अन्त हो गया, तबसे कोई खलीफ़ा नहीं है। उस साल तुर्कीके सुलतान खलीफ़ा थे। उनके पदच्युत होनेपर यह पद ही उठा दिया गया। इस खिलाफ़तके मसलेको लेकर बार-बार रक्तकी नदियाँ बही हैं। शिया-सुन्नी-सम्प्रदायोंका कट्टर विरोध भी इसी खिलाफ़तसे सम्बद्ध है।

मुहम्मदके मरनेपर कुछ मुसल्मानोंका मत था कि उनके उत्तराधिकारी (खलीफ़ा) उनके वंशज ही हों और कुछका कहना था कि सबसे योग्य पुरुष खलीफ़ा हो, जिसे जनता चुने। पूर्व-मतवाले शिया कहलाये और पर-मतवाले सुन्नी। सुन्नियोंकी बात रही। और मुहम्मदसाहबके चचेरे भाई अलीके होते हुए भी अबूबकर खलीफ़ा चुने गये। अबूबकरके बाद उमर और उनके बाद उस्मान खलीफ़ा हुए। उस्मानके मरनेपर उपर्युक्त अली (जो हज़रत मुहम्मदके दामाद भी थे) खलीफ़ा चुने गये। लेकिन शाम (Syria) के गवर्नर माविया (जो खलीफ़ा पदका दावा कर रहे थे) ने हज़रत अलीको नमाज़के समय मरवा डाला। अलीके बाद उनके बड़े लड़के हसन खलीफ़ा चुने गये, पर मावियाने उनको भी विष दिलवाकर मरवा डाला। हसनके मरनेपर कूफ़ानामक नगरके निवासियोंके आग्रहसे हसनके भाई हुसेन खलीफ़ा नियुक्त होनेके लिये कूफ़ाको चले। पर कर्बलाके मैदानमें ७२ साथियोंके साथ हज़रत हुसेन मावियाके पुत्र यज़ीदकी सेनाद्वारा मार डाले गये। इसी कर्बलाकी हत्याका स्मारक मुहर्रमका त्योहार है। हुसेनका घोड़ा ज़ुल्जिनाह था, जो आजकल दुलदुलके नामसे निकाला जाता है। ताज़िया हज़रत हुसेनकी क़ब्रका स्मारक है। इस अवसरपर (यह मुख्यतः शिया लोगोंका त्योहार है) लोग हरे तथा काले कपड़े पहनते हैं। हरे वस्त्र हज़रत हसनको विष देनेकी याद दिलाते हैं और काले वस्त्र हज़रत हुसेनकी मृत्युपर शोक प्रकट करते हैं। प्रत्येक शहरमें उस स्थानको जहाँ ताज़िये दफ़नाये जाते हैं, कर्बलाके युद्धकी यादगारमें कर्बला कहते हैं।

हुसेनकी मृत्युके पश्चात् मावियाका पुत्र यज़ीद खलीफ़ा माना गया, पर शियालोग उसको नहीं मानते। वे हज़रत मुहम्मदके वंशज अलीको ही अपना पहला इमाम मानते हैं। अलीके बाद हसन और उनके बाद हसनके भाई हुसेनको

मानते हैं। हुसेनके बाद क्रमशः वंशपरम्परासे ज़ैनुल् आबदीन अल् बाकिर, अल् जाफ़र, मूसा क़ाज़िम, अल्रीदा, तक़ी, नक़ी, असकरीनामक इमाम हुए। ये सब अली और उनके लड़के हसन तथा हुसेनकी तरह मारे गये। अन्तिम बारहवें इमाम अल्मेहदी हुए, जिनके लिये कहा जाता है कि वे जीवित होते हुए भी लुप्त हैं। कालान्तरमें हज़रत ईसाके साथ प्रकट होकर जगत्‌भरको इस्लामधर्ममें दीक्षित करेंगे। शिया सदा अपने इमामोंकी अपमृत्युका शोक मनाते रहते हैं। वे लोग बड़े भावपूर्ण रूपसे मातम करते हैं और सुन्नियोंसे यज़ीदके अनुयायी होनेके कारण बुरा मानते हैं। यही नहीं, शियालोग अलीके पूर्ववाले ख़लीफ़ा अबूबकर, उमर और उस्मानसे चिढ़ते हैं और उनके विरुद्ध शापवत् 'तबर्रा' पढ़ते हैं। इसके जवाबमें सुन्नीलोग इन तीनों ख़लीफ़ाओंका गुणगान 'मदेसहाबा' पढ़कर करते हैं।

यज़ीद उमैय्यद घरानेके थे, अतः उनके बादवाले शामवासी ख़लीफ़ा (जिन्हें केवल सुन्नी मानते थे) उमैय्यद कहलाये। कालान्तरमें अब्बासी ख़लीफ़ाओंने बग़दादको अपनी राजधानी बनाया और ग्यारहवीं सदीसे बग़दादके ध्वस्त होनेपर तुर्क ख़लीफ़ा कुस्तुन्तुनियामें रहने लगे। इस समय यह पद उठ गया है।

सद्गुरु कबीर साहबकी सहज साधना

(लेखक—श्रीधर्माधिकारी महन्त श्रीविचारदासजी साहब शास्त्री)

परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये मनको स्थिर करना होता है, जो साधनाके बिना नहीं होता। मनकी स्थिरताके अनेक साधनोंमें 'सुरति-योग' सबसे श्रेष्ठ और सरल है। सद्गुरु कबीरसाहबने इसीको 'सहज समाधि' कहा है।

सहज समाधी उन्मनि जागे, सहज मिलै रघुराई।
जहँ-जहँ देखूँ तहँ-तहँ साईं, मन मानिक बेध्यो हीरा।
परम तत्व यह गुरुसे पाई, कहा उपदेस कबीरा।
(कबीरसाहेबका बीजक)

सुरति सारे संसारका द्वार है। प्रशान्त निजात्म-महासागरमें अनादि वासना-वायुके झकोरोंसे उत्पन्न हुई स्फूर्ति-तरङ्गें सारे संसारके दृश्योंको सामने ला देती हैं; इस कारण यह भी कह सकते हैं कि सुरति ही संसार है और उसका निरोध ही संसारकी निवृत्ति है। मन सदैव सुरतिके पीछे चला करता है; क्योंकि सुरतिके होनेसे ही अनेक सङ्कल्प-विकल्प खड़े होते हैं। अतः जबतक सुरतिका निरोध न हो, तबतक मनका निरोध असम्भव है।

मन-मतंग मानै नहीं, चलै सुरति के साथ।
दीन महावत क्या करै, अंकुस नाहीं हाथ॥
(कबीरसाहेबका बीजक)

शरीरमें धरती और आकाशके विशेष स्थान हैं। उन दोनोंसे परे सुरति-कमल है। गुरुकी बतायी हुई युक्तिसे वहाँ सुरतिको लगानेसे वह स्थिर हो जाती है। उसके स्थिर होनेसे मन भी निश्चल हो जाता है और मनके निश्चल होनेसे स्वरूपका साक्षात्कार होता है। इस बातका सद्गुरु कबीर-साहबने सांकेतिक भाषामें इस प्रकार वर्णन किया है—

धरती अकासके ऊपरे, योजन अष्ट प्रमान।
तहाँ सुरति लै राखिये, देह धरै नहि आन॥
सुरति फँसी संसारमें, ताते परि गयो दूर।
सुरति बाँधि सुस्थिर करो, आठों पहर हजूर॥
डारी आई अधरसे, अधर हि दरसन होय।
कायासे न्यारा लखै, हंस कहावै सोय॥

इस सुरतिकी धारणाके लिये किसी भी मुद्राविशेषकी अथवा आसनविशेषकी आवश्यकता नहीं है। सहजभावसे यह धारणा की जा सकती है। जैसा कि इस 'शब्द'में कहा है—

संतो सहज समाधि भली है।
जबसे दया भई सतगुरुकी, सुरति न अनत चली है॥टेक॥
जहँ-जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जो कछु करौं सो पूजा।
घर बनखंड एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा॥ १॥
शब्द निरन्तर मनुवा राचा, मलिन वासना त्यागी।
जागत-सोवत, ऊठत-बैठत, ऐसी तारी लागी॥ २॥
आँख न मूँदूँ, कान न रूँधूँ, काया-कष्ट न धारूँ।
उघरे नैनन साहेब देखूँ, सुंदर बदन निहारूँ॥ ३॥
कहहिं कबीर यह उन्मनि रहनी, सो परगट कहि गाई।
दुख-सुखके वह परे परम पद, सो पद है सुखदाई॥ ४॥

विशेष क्या, बैठे-बैठे और सोते-सोते भी सुरतिको निज लक्ष्यमें लगाया जा सकता है—

बैठे, सूते, पड़े उतान, कहहिं कबीर हम वही ठिकान।

संत पल्टूसाहेबने भी उक्त सुरति-योगके विषयमें निम्नलिखित कुण्डलिया कहा है।

कमठ-दृष्टि जो लावई, सो ध्यानी परमान॥
सो ध्यानी परमान, सुरतिसे अंडा सेवै।
आप रहे जल माहिं, सूखमें अंडा देवै॥
जस पनिहारी कलस भरि, मारगमें आवै।
कर छोड़े, मुख बचन, सुरति कलसामें लावै॥
फनि मनि धरइ उतारि, आप चरनेको आवै।
वह नहीं गाफिल पड़ै, सुरति मनि माहिं रहावै॥
पल्टू कारज सब करै, सुरति रहै अलगान।
कमठ-दृष्टि जो लावई, सो ध्यानी परमान॥

सद्गुरु कबीरसाहिबकी वाणीमें इस सुरतियोगका विशेष वर्णन है। अधिक जाननेकी इच्छावालोंको उनकी वाणीका परिशीलन करना चाहिये।

कबीर साहबको 'भावभगति' का रहस्य

(लेखक—पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

कबीर साहबने भक्तिको परमार्थका मुख्य साधन मानकर, उसे अत्यन्त कठिन भी बतलाया है। उनका कहना है कि 'रामकी भगति' 'दुहेली' अर्थात् दुःसाध्य कार्य है, वह कायरोंके वशकी बात नहीं; वह एक प्रकारसे तलवारकी धारके समान तीखी है, जिसपर चढ़कर तनिक भी हिल डुल जानेसे कटनेका भय बना रहता है; अथवा वह आगकी एक ऐसी लपट है जिसमें कूद पड़नेवाले ही अपनेको बचा पाते हैं, उससे खिलवाड़ करनेवाले बिना जले नहीं रह सकते। भक्तिका द्वार इसी कारण राईके दशमांशके जितना 'सकड़ा' वा तंग है, जिसमें प्रवेश करना भी हमारे मनरूपी मत्त-गजेन्द्रके लिये एक असम्भव-सी बात होगी। अतएव जिस प्रकार कोई अपनी आँखोंमें काजल देने मात्रसे ही उनमें वह 'चाह' नहीं ला सकता जिससे मनोमोहकता भी आ जाय, उसी प्रकार भक्तिके नाना भाव अथवा विविध विधियोंके होते हुए भी सबके लिये उस भेद वा रहस्यका पा सकना दुर्लभ है जिसके द्वारा 'श्रीहरि' से मिलानेवाले हृदयकी उपलब्धि हुआ करती है। उस रहस्यके ज्ञान विना हमारा मन बाहरसे स्वच्छ होनेपर भी वास्तवमें मैला ही बना रह जाता है और कपट वहाँसे निर्मूल वा निर्बीज नहीं हो पाता। केवल नेत्रोंके बकवत् उज्ज्वल और निर्दोष दीख पड़नेसे हृदयमें 'बिडाल' के रहते सच्ची भक्तिकी सम्भावना किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती। कबीर साहब उस रहस्यका नाम 'भाव' अथवा 'भेद' निर्दिष्ट करते हैं और अपनी भक्तिसाधनाको भी उसीके अनुसार 'भावभगति' कहा करते हैं। उनका कहना है कि हरिके साथ 'गठजोरा' यथार्थमें भावभगतिके द्वारा ही सम्भव हो सकता है; क्योंकि उसके बिना 'राम' एकमात्र एवं सर्वघटव्यापी होते हुए भी हमारे लिये सदा दूरस्थ बने रहते हैं।

परन्तु भावभगति और राम—ये दोनों वस्तुएँ एक ही भाँति 'निराली' वा अनुपम हैं, अतएव 'कथणीं बदणीं' के 'जंजाल' द्वारा इनका यथार्थ वर्णन कभी नहीं किया जा सकता। भावभगति कहने-सुननेमात्रकी बात नहीं, वह केवल अनुभवगम्य साधना है। उसके लिये सर्वप्रथम सद्गुरुकी वह कृपा अपेक्षित है, जिससे उस अनन्तको प्रत्यक्ष करनेके साधनस्वरूप हमें अनन्त नेत्रोंकी उपलब्धि हो जाय; हमें उस सच्चे शूरका वह शब्दबाण लग जाय, जिसके मर्मस्थल-तक पहुँचते ही सारा भेद आप-से-आप खुल सके और सारे शरीरमें एक प्रकारकी ज्वाला व्याप्त होकर हमें निस्तब्ध कर दे; अथवा उसके एक ही प्रसङ्गमें हमारे ऊपर प्रेम-वारिदकी वह वृष्टि हो पड़े जिससे हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्गके भीगनेकी कौन कहे, अन्तरात्मातक सराबोर होकर नितान्त निर्मल हो जाय। तभी हमारे भीतर वह बलवती अभिलाषा भी जाग्रत होगी, जो 'विरह-भुवंगम' का रूप धारण कर हमारे कलेजेमें 'घाव' करने लगती है और शरीरके रग रग रबाबकी ताँत बनकर झंकृत हो उठते हैं; अथवा जिसके प्रभावमें आकर हम अपने शरीरको दीपक बना और उसमें रक्तका तेल डाल एवं प्राणोंकी बत्ती डाल उसके द्वारा अपने प्रियतमका मुख देखनेके लिये अत्यन्त आतुर हो जाते हैं। भेदको समझने और हृदयङ्गम कर लेनेवालेपर ही ऐसी 'बला' आती है। यह जिज्ञासा जिस किसीके भी अंदर जगी, उसे दिन-रात चैन नहीं; वह नित्यशः अपने ही मनके साथ

अविभ्रान्तरूपसे बिना किसी हथियारकी सहायताके भी संग्राम करनेको विवश हो जाता है ।

भावभगतिके लिये दूसरी परम आवश्यक बात अपने मनका यत्नपूर्वक वशमें लाना है, क्योंकि बिना मनकी शुद्धिके 'हरि' की प्राप्ति नहीं हो सकती । हमें सबसे पहले उस मनकी खोज करनी चाहिये, जिसमें सम्पूर्ण भौतिक सम्बन्धोंका परित्याग कर अन्तमें प्रवेश किया जाता है । कबीरसाहबका कहना है कि उस मनके रहस्यको बड़े-बड़े भक्तों और साधकोंतकने नहीं जान पाया; वह 'अकल निरंजन' वा निर्मल मन अपने तनके भीतर ही वर्तमान है, किन्तु उसकी प्राप्ति विरले पुरुष कर पाते हैं । सच्ची बात तो यह है कि जबतक हमारे मनमें किसी प्रकारका विकार भरा है, तबतक हमारे लिये आवागमनसे मुक्त होना बहुत दूरकी बात है और मनके निर्विकार हो जानेपर उसका 'निर्मल' में प्रवेश आप-से-आप हो जाता है । मनको जीवधर्मानुसार अपनी राह जाने देना ठीक नहीं; इसे तकलीके सूतकी भाँति सदा बार-बार उलटते रहनेकी आवश्यकता है। इस मदोन्मत्तको इधर-उधर भागता देख अङ्कुश दे-देकर अपनी ओर फेरते रहना चाहिये, ताकि मार-पीटकर किसी प्रकार यह घटके भीतर ही घिर जा सके । मनको मैदेकी भाँति नन्हा-नन्हा करके पीसते रहना भी आवश्यक है; इसे 'बिस्मिल' वा विनष्ट कर दस्यसे नितान्त अदृश्यतक बना देना है । किन्तु सदा ध्यान रहे कि हमारा मन मृतक हो जानेपर भी बहुधा विश्वासयोग्य नहीं हो पाता; इसमें विकार-की वायुके पुनः लगते ही एक बार फिर जी उठनेकी शक्ति बनी रहती है । जब अनेक उपायोंद्वारा हमारा मन किसी प्रकार निश्चल हो जाता है, तभी हमें वह पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है और हमारा सारा शरीर कसौटीपर बार-बार कसे गये सोनेकी भाँति शुद्ध हो पाता है । मनके ऊपर सफलता-पूर्वक विजय प्राप्त कर लेनेकी पहचान उसका एक स्वच्छ दर्पणकी भाँति प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेमें पूर्णरूपेण समर्थ हो जाना है ।

परन्तु जिस भाव अथवा भेदका प्रतिबिम्ब ग्रहण करना है, उसका वास्तविक रूप क्या है ? और उसका अनुभव प्राप्त करनेके लिये किन उपायोंका प्रयोग आवश्यक है ? कबीर-साहबका कहना है कि वह वस्तु एक रहस्यमय 'कुछ' है, जिसका शाश्वत होनेके कारण आजतक मरना वा जीनातक कभी नहीं हुआ, जो अग्नि-पवनादि पञ्च तत्त्वोंके 'मेला' वा चपल बुद्धिके 'खेला'से भी परे रहा करता है, जो सब किसीके लिये अन्तिम लक्ष्य है और जिसे हमारा सतगुरु 'आपा' अथवा 'ब्रह्म' कहकर निर्दिष्ट किया करता है । इसकी प्राप्तिके लिये की जानेवाली साधनाको, इसी कारण, 'आत्म-साधन' वा 'ब्रह्मविचार' भी कहते हैं । वही अगोचर वस्तु बहुधा 'रामनाम'से भी अभिहित होती है, जिस कारण उक्त क्रियाका एक अन्य नाम 'रामनामसिधि जोग' भी है । उसकी पूरी प्यास मिटानेके लिये ओस चाटनेसे काम नहीं चलता, समुद्रमें डुबकी लगानी पड़ती है । उसे हम भौतिक पञ्चतत्त्वोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर ही प्राप्त कर सकते हैं— अर्थात् जब पृथ्वीका गुण पानीमें चला जाता है, पानी तेजमें मिल जाता है, तेज पवनसे मिलता है और पवन शब्दके साथ लीन होकर शून्यमें प्रवेश कर जाता है । उस समय सारी वस्तुएँ, एक ही स्वर्णके बने किन्तु ताये जानेपर पुनः गलकर एक हो जानेवाले भिन्न-भिन्न प्रकारके गहनोंकी भाँति, एकरूप हो जाती हैं । भावका अनुभव पूर्ण हो जानेपर भी कुछ ऐसी ही स्थिति होती है ।

कबीर साहबने उक्त भावनामक वस्तुको 'षट्चक्रकी कनक-कोठड़ी' में निहित बतलाया है और कहा है कि इसे पानेके लिये उसमें पड़े तालेको 'जुगति'की कुंजीसे क्रमशः खोलना चाहिये । उलटे पवनद्वारा षट्चक्रवेधन होनेपर, 'ससहर' व 'सूर' अथवा इडा और पिङ्गलानामक दो प्रसिद्ध नाडियोंको पहुँचके भी दूर हमें अपने मेरुदण्डका वह सिरा मिलता है, जहाँ मनके 'सुन्नि'में प्रवेश कर स्थिर होते ही, बिना किसी पुष्पके अस्तित्वके भी, सारा आकाश पुष्पित हो उठता है और 'परमजोति'के प्रकाशमें अनन्त तारों और बिजलीकी चमकका-सा अनुभव होने लगता है । तभी हमें 'अनहद'का शब्द भी सुन पड़ता है और 'सतगुरु'की कृपा-द्वारा, इस प्रकार 'सम्पुट'के खुल जाते ही, 'सुरति' सुन्नमें समा जाती है तथा 'आपा' आपमें लीन हो जाता है । इसी क्रियाको 'हद'को छोड़कर 'बेहद'मे जाना, 'घट'में ही 'औघट'का प्राप्त करना वा 'सुन्नि' में अपना स्नान करना भी उन्होंने बतलाया है । वे कहते हैं कि उस समय हमारा मन 'उन्मन' अथवा उपर्युक्त निर्मल मनसे लग जाता है और दोनों, नमक और पानीकी भाँति घुल-मिलकर, एक हो जाते हैं । जिस प्रकार पानीसे बर्फ बना करती है और बर्फसे फिर पानीमें परिवर्तित होते ही ज्यों-की-त्यों रह जाती है, उसी प्रकार ये दोनों भी उस अवस्थाको प्राप्त हो जाते

हैं; जो स्वयं अनुभवीके भी वर्णनके बाहरकी बात है। अतएव 'गगनमण्डल'में विलीन होकर वह बहुत कुछ सोच-विचार करनेपर भी केवल इतना ही निश्चय कर पाता है कि वास्तवमें मैंने कुछ भी नहीं किया, कहीं गया वा कहीं-से आया भी नहीं, सदा जहाँ-का-तहाँ अपनी जगहपर ही बना हुआ हूँ। भावका इस प्रकार अनुभव करानेवाली 'जुगति' ही भावभगतिकी भी युक्ति है।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त प्रकाशको ही कबीर साहबने 'अनन्त' वा 'पारब्रह्म'का तेज कहा है और उसे, असंख्य सूर्योंके समान प्रखर बतलाते हुए भी, स्निग्ध चन्द्रिकाकी भाँति शीतल भी माना है। उस निराकार दृश्यका वर्णन क्या किया जाय, उसे देखते ही बनता है; वह कहनेकी वस्तु नहीं। वहाँ पहुँचनेपर साधकको किसी प्रकारकी चिन्ता क्या, कल्पनातक नहीं सताती और उसका मन एक प्रकारसे 'बिन मन-सा'वा अमनस्क हो जाता है। पूरेका परिचय हो जानेसे 'दृष्टि' ही पूरी हो जाती है। 'आतम-राम' 'प्रेमभगति'के 'हिंडोलने' पर निरन्तर झूलता है और 'अमृतरस'का पान करता हुआ शाश्वत आनन्दका अनुभव भी करने लगता है। इस 'करणी' द्वारा कर्मका नाश होकर पाप एवं पुण्य–इन दोनोंका भ्रम भी नष्ट हो जाता है। ममता और अभिमान 'ब्रह्माग्नि'में जलकर भस्म हो जाते हैं, मोहका ताप लुप्त हो जाता है और वासना धुलकर अङ्कुर-बीजके साथ नितान्त निर्मूल हो जाती है। अब हमारा मन भीतर-ही-भीतर 'मान जाता' है। 'घटकी जोति'से ही सारा जगत् प्रकाशमय दीखता है और हम, गुफामें बैठकर भी, सब कुछ देखने-सुनने लगते हैं। हृदयमें, उस समय, एक अनुपम शान्ति आ विराजती है; मनका भ्रम मनसे ही दूर हो जाता है और 'सहजरूप हरि' की लीला प्रत्यक्ष हो जाती है। अब किसी प्रकारके 'मैं, तैं' वा 'तैं, मैं'का चिह्नतक नहीं रहता और सब कहीं आप-ही-आपका अनुभव होने लगता है। यही अवस्था 'अखण्डित राम'के 'आतमलीन' हो जाने-की है, जिसे कबीरसाहबने दूसरे शब्दोंमें 'सहजसमाधि'का भी नाम दिया है।

भावभगतिकी साधना उक्त प्रकारकी अवस्थाका आत्मसाधनद्वारा अनुभव करनेपर ही आरम्भ होती है; अतएव उसके वर्णनके सम्बन्धमें नवधा भक्तिके भिन्न-भिन्न साधारण प्रकारोंका, एक प्रकारसे, प्रसङ्ग ही नहीं आता। इसमें 'श्रवण'की यह विशेषता है कि 'सबद' सुनते ही जी 'निकलने'-सा लगता है और सारी 'देह' भूल जाती है; 'कीर्तन'में ज्यों-ज्यों 'हरिगुण'के 'सँभालने'की चेष्टा की जाती है, त्यों-त्यों 'तीर'-सा लगता है; 'सरण' एवं 'वन्दन' में क्रमशः—

'मेरा मन सुमिरै रामकू, मेरा मन रामहिं आहि।'

तथा—

'अब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि।'

—की दशाका अनुभव होता है; 'पादसेवन'में 'चरकँवल मन मॉनियाँ'की स्थिति ऐसी हो जाती है कि हम सुख एवं दुःख दोनोंको बिल्कुल भूल जाते हैं और वैसी 'सेवा' करने लगते हैं, जिसके बिना 'रहा नहीं जाता'। 'अर्चन'में–

'माहैं पाती, माहिं जल, माहैं पूजणहार।'

—होनेसे कुछ अवस्था ही विचित्र-सी रहती है; अतएव 'साच सीलका चौका' देकर हमें आरतीके समय अपने प्राणोंको ही 'तेजपुञ्ज'के निकट 'उतार' देना पड़ता है। 'दास्य'में तो—

'गलै रामकी जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउँ।'

—की अवस्था है ही, अतएव कबीरसाहब कहते हैं कि—

मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं, तन मन धन मेरा रामजीके ताईं।
आनि कबीर हाटि उतारा, सोइ गाहक, सोइ बेचनहारा॥

'सख्य'में 'सो दोसत किया अलख'की स्थिति है, अतएव 'अंक भरे भरि भेंटना' हुआ करता है; और 'आत्मनिवेदन' में तो कहना ही क्या है—भेदके दूर होते ही 'सब दसा' भूल जाती है और ऐसा अनुभव होता है कि—

'पाणी ही तैं हिम भया हिम ह्वै गया बिलाइ' ...

फिर तो,

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समुदमें, सो कत हेरी जाइ॥

—की अनिर्वचनीय समस्या उपस्थित हो आती है और अन्तमें—

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागै मेरा॥

—कहकर ही मौन धारण करना पड़ता है। भावभगतिका उपदेश देते हुए अपनी 'रमैणी'के अन्तमें कबीरसाहब कहते हैं—

भावभगति बिसवास बिन कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरिभगति बिन मुकति नहीं रे मूल॥

प्रेमकी अनोखी छवि

स्याम तोरी मुरली नेकु बजाऊँ ।

जोइ जोइ तान भरो मुरलीमें सोइ सोइ गाइ सुनाऊँ ।

हमरी बिंदिया तुमही लगावो मैं सिर मुकुट धराऊँ ।।

हमरे भूषन तुम सब पहिरौ मैं तुम्हरे सब पाऊँ ।

तुम्हरे सिर माखनकी मटुकी मैं मिलि ग्वाल लुटाऊँ ।।

तुम दधि बेंचन जाहु बृंदावन मैं मग रोकन आऊँ ।

सूरस्याम तुम बनो राधिका मैं नँदलाल कहाऊँ ।।

—सूरदासजी

श्रीदादूदयालके मतानुसार साधन

(लेखक—पु० श्रीहरिनारायणजी, बी० ए०, 'विद्याभूषण')

राजपूतानेके प्रसिद्ध सिद्ध महात्माओंमें श्रीदादूदयालजी बहुत ही महिमान्वित और सम्मान्य संत हो गये हैं। १४वीं, १५वीं और १६वीं शताब्दी तथा पीछेतक भारतवर्षमें, उस धर्मघातक विपरीत मुसलमानी राज्यमें—गोरखनाथ, कबीर, रामानन्द, नामदेव, रैदास, नानक, गोविन्दसिंह, मीराबाई, पीपा, धना, रामचरण, श्यामचरण, हरदास, जगजीवन, पलटूदास, दरियासाहिब इत्यादि अनेकों महान् आत्माएँ अवतीर्ण हुईं और धर्मकी रक्षा तथा प्रजाजनोंमें सत्यका प्रचार करके उन्होंने धर्म और देशको बचाया।

दादूदयालका जन्म संवत् १६०१ में अहमदाबादमें नागर ब्राह्मणके घर होना दादूपन्थी मानते हैं। बचपनमें ही भगवान्ने इनको कृपा करके दिव्यज्ञान प्रदान किया था। कुछ वर्षों बाद ये साँभर आये। वहाँ आठ-दस वर्ष रहकर ज्ञानप्रचार करते हुए आँबेर आये। यहींसे अकबर बादशाहसे फतहपुर सीकरी जाकर मिले। आँबेर दस-बारह वर्ष रहकर अन्य स्थानोंमें पर्यटन और ज्ञान-भक्तिका प्रचार करते रहे। अन्तमें १६५९ में नरायणे (जयपुरसे अनुमान १६ कोस) खंगारोत कछवाहा-शासकोंके स्थानमें आ विराजे। और यहीं इनके शरीरका अवसान हुआ। इनके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। बड़े—गरीबदासजी, जो बड़े ही महात्मा और गान्धर्वविद्यामें अत्यन्त निपुण थे, और जहाँगीर बादशाहने भी जिनके गानके चमत्कारको देखा था, उत्तराधिकारी हुए। यही स्थान दादूपंथका प्रधान पीठस्थान माना जाता है। प्रतिवर्ष फाल्गुनमें मेला-उत्सव होता है। यहाँ मन्दिर और बहुत-से स्थानादि बने हुए हैं। इसी प्रकार साँभर, आँबेर, पंजाब, मारवाड़ आदिमें अनेकों स्थान और शिष्यों तथा थाभायतियोंके स्थान भी बने हुए हैं। राजपूताना, पंजाब, गुजरात आदिमें दादूदयालका प्रभाव और इस पन्थका प्रचार अधिक रहा है। वैसे तो थोड़े-बहुत दादूपन्थी हर जगह मिलते हैं।

दादूजीके १५२ शिष्य हुए। उनके अंदरसे १०० तो तप और त्याग धारण कर विचर गये, उनके पीछे कोई शिष्यतक नहीं रहा। परन्तु ५२ शिष्य बड़े सिद्ध और ज्ञानी थे। वे बहुत-से स्थान और शिष्य छोड़ गये। इनमें आधेसे भी अधिक अति विख्यात हुए हैं। गरीबदास, रज्जबदास, बड़े सुन्दरदास, माधोदास, टीलादास, बनवारीदास, जगन्नाथदास, बखना, गोपालदास, जनगोपाल, दयालदास, मस्कीदास, तेजानन्द, मोहनदास, चतरदास, प्रागदास, सुन्दरदास, छोटा, बूसर, साधूराम, चतुर्भुजदास, नरायणदास, चरणदास, जग्गा, जयमल चौहाण, जयमल कछ्वाहा, मनमालीदास, मोहन दफतरी, चतुरदास, संतदास, मोहनदास मेवाड़ा, नागर निज़ाम, जगजीवण इत्यादि बहुत नामी हुए हैं। अनेकोंने अपने गुरु दादूदयालके मतानुसार वाणियाँ भी रची हैं। उनमेंसे बहुत-सी मिलती भी हैं। रज्जब, सुन्दर, जगजीवण, गरीबदास, जनगोपाल, प्रागदास, जगन्नाथ, बखना इत्यादिकी रचनाएँ सुन्दर और सारभरी हैं।

दादूदयालकी वाणीके दो विभाग हैं। एक साखी जिसमें दोहा, सोरठा या कहीं-कहीं चौपाई या और कोई छोटा छन्द है। दूसरा पद या भजन, जो कई रागोंमें हैं। सारी वाणी लगभग सात हजार अनुष्टुप्छन्दके बतायी जाती है। साखियाँ सैंतीस अङ्गोंमें ढाई हजारके ऊपर हैं, और पद २७ रागोंमें ४ सौसे कुछ अधिक हैं। इस वाणीमें ज्ञान, भक्ति और वैराग्यमें ब्रह्मज्ञानका सार-रसामृत भरा हुआ है। वाणी कोमल, मधुर, सरल सुन्दर भाषामें है, जिसके पढ़नेसे निरञ्जन निराकारका उच्च ज्ञान और ध्यान सहज ही प्राप्त होता है। कहा है—

(१) 'दादूदयाल दिनकर दुती (जिन) बिमल बृष्टि बाणी करी ॥'

ग्यान, भक्ति, बैराग्य भाग बहु भेद बतायो।
कोटि ग्रंथको मंथ पंथ संक्षेप लखायो ॥
बिशुद्ध बुद्धि अबिरुद्ध सुद्धि सर्बग्य उजागर।
परमानंद प्रकास नास निगदंद महाधर ॥
बरण बृंद साखी सलिल, पद सलिता सागर हरी।
दादूदयाल दिनकर दुती, बिमल बृष्टि बाणी करी ॥ १ ॥

(२) 'भक्ति पुहुप, बैराग्य फल ब्रह्म बीज जगँनाथ भँणि ॥'

(३) या बाणी सुनि ग्यान है, याही तैं बैराग।
या सुनि भजन भगती बढ़ै, या सुनि माया त्याग ॥ १५॥
या बाणी पढ़ि प्रेम है, या पढ़ि प्रीति अपार।
या पढ़ि निश्चय नाम की, या पढ़ि प्राण अधार ॥ १६ ॥
या बाणी कूँ खोजतौं, क्षमा, सील, संतोष।
याहि बिचारत बुद्धि है, या भारत जिव मोष ॥ १७ ॥

आदि निरंजन, अंत निरंजन, मध्य निरंजन, आदू ।
कहि 'जगजीवन' अलख निरंजन, तहाँ बसै गुर दादू ॥ १८ ॥
अविचल मंत्र जपै निसबासर, अविचल आरति गावै ।
अविचल इष्ट रहै सिर ऊपरि, अविचल ही पद पावै ॥ १९ ॥

(४) पार उतारणहारजी, गुरु दादू आया ।
जीवन के उद्धार कूँ, हरि आप पठाया ॥ २ ॥
राम नाम उपदेश दे, भ्रम दूर उड़ाया ।
ग्यान भक्ति बैराग हू, यह तीन दृढाया ॥ ३ ॥
बिमुख जीव सनमुख किये, हरिपंथ चलाया ।
झूँठ क्रिया सब छाँडि कै, प्रभु सत्य बताया ॥ ४ ॥
... ...

दयावंत दुख मेटना, सुखदायक माया ।
सीलवंत साचे मते, संतोष गहाया ॥ ८ ॥
....

अति गंभीर समुद्र ज्यों, तरुबर ज्यों छाया ।
बानी बरसै मेघ ज्यौं, आनंद बढ़ाया ॥ १० ॥
....

पवन जिसा सब सारखा, को रंक न राया ।
व्योम जिसा हिरदै बड़ा, कहूँ पार न पाया ॥ १६ ॥
टेक जिसी प्रहलाद है, ध्रुव ज्यों मन लाया ।
ग्यान गह्यौ सुखदेव ज्यौं, परब्रह्म दिखाया ॥ १७ ॥
जोग जुगति गोरक्ष ज्यौं, धंधा सुरझाया ।
हद छाँडि बेहद मैं, अनहद बजाया ॥ १८ ॥
जैसा नाम कबीरजो, यों साधु कहाया ।
आदि अंत लौं आइ कै, रमि राम समाया ॥ १९ ॥
....

नमस्कार गुरुदेव कूँ, जिन बंदि छुड़ाया ।
दादू दीनदयालु का सुंदर जस गाया ॥ २१ ॥

(५) पंच सहस्र आ रसाल बाणी, अगम अनुभव संचही ।
भक्ति, ग्यान, बैराग्य पूरण, श्री नमामि दादूदयालु ही ॥ १ ॥

(६) यों जीवनमुक्ति ऐसी दशा, ग्यान भक्ति बैराग बल ।
कहै बालकराम अंमृत बचन, सुख मुख श्रीभागोत फल ॥ १ ॥

उपर्युक्त कथन और अवतरणोंसे दादूजीके मत, साधन और सिद्धान्तोंका कुछ दिग्दर्शन होता है । उनकी वाणी (साखी और पद) में ज्ञान, भक्ति और बैराग्यका प्रतिपादन हुआ है । इन तीनों आध्यात्मिक प्रकरणों या विषयोंसे उनका वचनामृत ओतप्रोत है । वेदान्तके सिद्धान्तोंसे उनके उपदेश बहुत अनुकूल मिलते-जुलते हैं, परन्तु उनके उस वेदान्तमें भक्ति भरी हुई है; वह शुष्क नहीं है, 'सूखी शिला' नहीं है । उसके ज्ञानसे वैराग्य उत्पन्न होता है—और वैराग्य-त्याग ही परमात्माकी प्राप्तिका प्रधान साधन है । इस प्रकार दादूजीका उपदेश बहुत आनन्दकारी और आत्मामें दिव्य प्रकाशको शीघ्र देनेवाला है । दादूदयालजीकी वाणी आदिसे अन्ततक ज्ञानभरे उपदेशों और उनके सच्चे और सारभरे अनुभवोंसे परिपूर्ण है । विशेषता यह है कि साधारण लोकभाषामें गम्भीर अध्यात्म-ज्ञानको ऐसा दरसाया है कि ज्ञानका प्यासा पुरुष उसको सहज ही समझकर तृप्त हो जाता है, और उसके चित्तकी वृत्ति संसारके विषयादिसे उपरत होकर ऊपरकी ओर पहुँचने लगती है । वाणीके श्रवण और पठनसे हृदयमें ऐसे मधुर रसका सञ्चार होने लग जाता है कि मानो स्वर्गमें प्राप्य अमृतकी धारा ही बहने लग गयी हो । उस वचनामृतका ऐसा ऊँचा और सुन्दर प्रभाव पड़ जाता है कि प्रेमानन्दसे पढ़ने या सुननेवाले जिज्ञासुको ब्रह्मानन्द और तत्त्वज्ञानका आस्वादन और रसाभास होने लग जाता है । यह अनुभव सच्चे महात्माओंके वचन, उपदेश, सत्सङ्ग और सेवासे होता ही है । भगवान्की कृपासे, प्रारब्ध अच्छा हो तो, उसकी भक्ति और ज्ञान ऐसी वाणीसे मिल जाते हैं । दादूदयालकी वाणी ऐसी ही तत्काल चमत्कार दिखानेवाली है ।

दादूदयालके सिद्धान्त और उपदेश उनके अनुभव-सिद्ध साधनोंके सार और फल हैं । वे जो कुछ विचारते थे, जो कुछ करते थे, या कहते थे, सब उनके मन, वचन और कर्मका साधन ही था । अतः उनके साधनोंको उनके सिद्धान्तों या उपदेशोंसे पृथक् समझना या बतलाना एक निराला-सा काम उठाना है । इसलिये हम साधन और सिद्धान्तको एकरूप ही समझेंगे । तथा प्रसङ्गवश उनके मत या मतानुयायी साधुओंकी कोई-कोई बात भी कह देंगे ।

(१) दादूजीका मत अद्वैत ब्रह्मज्ञान है, परन्तु उसके साथ प्रेम और भक्ति (या इश्क-मुहब्बत) तथा पराभक्ति जुड़ी हुई है । वे निराकार, निरञ्जन, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ चेतन ब्रह्मको ही मानते थे । और उसीका ध्यान, स्मरण और चिन्तन हृदयमें, अपने आत्मामें ही करते थे । साकार-उपासना उनका ध्येय नहीं । भगवान्का नामोच्चारण, जप और रटन, भक्ति और ध्यान ज्ञानपूर्वक

करना उनका मुख्य और प्रथम साधन था। 'राम' नामसे उसी ब्रह्मका नाम अभिप्रेत है। नामका माहात्म्य और साधन अन्य साधनोंसे ऊपर और सिद्धिदाता माना गया है। कहा है—

दादू अविचलमंत्र, अमरमंत्र, अखैमंत्र, अभैमंत्र, राममंत्र निजसार।
सजीवनमंत्र, सबीरजमंत्र, सुंदरमंत्र, सिरोमणिमंत्र, निर्मलमंत्र निराकार॥
अलखमंत्र, अकलमंत्र, अगाधमंत्र, अपारमंत्र, अनंतमंत्रराया।
नूरमंत्र, तेजमंत्र, जोतिमंत्र, प्रकासमंत्र, परममंत्र पाया, उपदेस दया
(दादू गुर राया) ॥
(साखी १५५। गुरुदेवको अंग)

इस ज्ञानमय भक्तिमय ज्ञान, पराभक्ति, विहित पूजा, अध्यात्मतत्त्वमय जप और ज्ञान-ध्यानका आस्वादन और अनुभव गुरुकृपासे उन्हीं ज्ञानके प्यासों–सच्चे जिज्ञासुओंको हो सकता है जिनके हृदयोंमें वैसी लगन भगवान्‌ने दी है, जिनके पूर्वजन्मके अर्जित सत्संस्कार इस जीवनमें प्रारब्ध-रूपसे प्रकट होकर फल देते हैं। अब यहाँ हम दादूदयालके साधन, उपासन, सदुपदेश आदिका कुछ दिग्दर्शन करा देते हैं।

(१) दादूदयालका परमसाधन निराकार निरञ्जन परमात्मा परमपुरुष अलख, अभेव, निर्मल, अगोचर ब्रह्म है। परन्तु यह साधन भक्ति और प्रेमके सहित है। यथा—

(क) निर्मलतत, निर्मलतत, निर्मलतत ऐसा।
निर्गुण निज निधि निरंजन जैसा है तैसा॥ टेक॥
उतपति आकार नाँहीं, जीव नाँहीं काया।
काल नाँहीं, कर्म नाँहीं, रहिता रामराया॥ १॥
सीत नाँहीं, घाम नाँहीं, धूप नाँहीं छाया।
बाव नाँहीं, बरण नाँहीं, मोह नाँहीं माया॥ २॥
धरणी-आकास अगम, चंद सूर नाँहीं।
रजनी निसि दिवस नाँहीं, पवनाँ नहिं जाँहीं॥ ३॥
कृतिम घट कला नाँहीं, सकल रहित सोई।
दादू निज अगम निगम, दूजा नहिं कोई॥ ४॥
(पद ९५–राग मालीगौड़)

(ख) सब देखणहारा जगतका, अंतरि पूरे साखि।
दादू साबति सो सही, दूजा और न राखि॥
(अंग ३५। २)

(ग) 'दादू भगति निरंजन रामकी, अविचल अविनासी।
सदा सजीवनि आतमा, सहजैं परकासी॥'
(२८। १३ तथा अंग ४। २४४)

(घ) 'दादू जैसा निर्गुण राम है, तैसी भगति निरंजन जाँणि।'
(अंग ४। २४७)

(ङ) 'दादू जैसा राम अपार है, तैसी भगति अगाधा।'
(अंग ४। २४५)

'साँई सरीखा सुमरण कीजे, साँई सरीखा गावै।
साँई सरीखी सेवा कीजे, सब सवेग सुख पावै॥'
(अंग ४। २५१)

(च) 'दादू खोजि तहाँ पिव पाइये, जहँ चंद न ऊगै सूर।
निरंतर निरधार है, तेज रह्या भरपूर॥'
(अंग ४। १९)

'दादू खोजि तहाँ पिव पाइये, तहँ बिन जिभ्या गुण गाइ।
तहँ आदि पुरष अलेख है, सहजैं रह्या समाइ॥'
(अंग ४। २०)

'दादू खोजि तहाँ पिव पाइये, जहँ अजरा अमर उमंग।
जरा मरण भौ भाजसी, राखै अपणै संग॥'
(अंग ४। २१)

(२) परमात्मा किसी स्थानविशेष वा आकार-विशेषमें नहीं है, वह तो सर्वव्यापक है तथा हृदय—अन्तरात्मामें—घटहीमें विराजता है। यथा—

(क) 'पूरा देखौं पीवकौं बाहर भीतरि सोई'।
(अंग ४। ७५)

'हूँ तो देखौं पीवकौं, सबमैं रह्या समाइ'।
(अंग ४। ७६)

दादू देखौं पीवकौं, दूसर देखौं नाहिं।
सबै दिसा सौं सोधि करि, पाया घटही माँहिं'॥
(अंग ४। ७४)

(ख) दादू काया अंतरि पाइया, निरंतर निरधार।
सहजैं आप लखाइया, ऐसा समरथ सार॥
(अंग ४। ११)

दादू काया अंतरि पाइया, त्रिकुटी केरे तीर।
सहजैं आप लखाइया, व्याप्या सकल सरीर॥
(अंग ४। १०)

दादू काया अंतरि पाइया, अनहद बैन बजाइ।
सहजैं आप लखाइया, सून्य मँडलमें जाइ॥
(अंग ४। १२)

दादू काया अंतरि पाइया, सब देवनका देव।
सहजैं आप लखाइया, ऐसा अलख अभेव॥
(अंग ४। १३)

(ग) 'चिंतामणि चितमें मिल्या' (अङ्ग ४ । २६)
'तहँ अंतरजामी आप ।' (अंग ४ । २८)

(घ) दादू मुझही माँहैं मैं बसूँ, मैं मेरा घर-बार ।
मुझही माँहैं मैं रहूँ, आप कहै करतार ॥
(अंग ४ । २१०)

(ङ) सेवा अंदरकी—

'उर अंतरि करि सेव' । (अंग ४ । २५५)
दादू भीतरि पैसि करि, घटके जड़े कपाट ।
साँईंकी सेवा करै, दादू अविगति घाट ॥
(अंग ४ । २५६)

पूजणहार पासि हैं, देही माँहैं देव ॥ (अंग ४।२५८)
दादू रमिता रामसौं, खेलै अंतरि माँहिं ।
उलटि समाना आपमैं, सो सुख कतहूँ नाहिं ॥
(अंग ४ । २५९)

आतम माँहैं राम है, पूजा ताकी होइ । (अंग ४ । २६२)

इस अंतरके भावकी पूजाकी सौंज-सामग्री इत्यादि—

'सत्य राम; आत्मा वैष्णवी, सुबुद्धि भूमि, सन्तोष स्थान, मूलमन्त्र, मन माला, गुरु तिलक, सत्य संजम, शील शुच्या, ध्यान धोवती, काया कलस, प्रेमजल, मनसा मन्दिर, निरञ्जन देव, आत्मा पाती, पुहुप प्रीति, चेतना चन्दन, नवधा नांव, भाव पूजा, मति पात्र, सहज समर्पण, शब्द घण्टा, आनन्द आरती, दया प्रसाद, तीर्थ सतसङ्ग, दान उपदेश, व्रत सुमिरण, अजपा जाप, अनभै आचार, फल दरसन, ...'अंतरिगति पूजा सति सौंज दादू वर्तते ॥'
(अंग ४ । २६८)

भगति भगति सब कोइ कहैं, भगति न जाणै कोइ ।
दादू भगति भगवंतकी, देह निरंतर होइ ॥
(अंग ४ । २८०)

(३) रामनाम-स्मरण—भक्तिभाव सच्चे हृदयसे लौ लगाकर करना, यह दादूदयालका परम ज्ञान-साधन था । और ज्ञान, भक्ति, वैराग्य—ये तीनों पराभक्तिमय ज्ञानसे पूर्ण विरक्तताके साथ उनके साधनके प्रधान लक्ष्य रहे और ये ही उनकी महान् वाणी (ग्रन्थ) में वर्णित और प्रतिपादित हैं । दादूदयालके वचनामृतमें नामके सम्बन्धमें बहुत ही महत्त्वकी बात आयी है, जिनको जिज्ञासु पाठक पढ़-सुनकर विचार सकते हैं । यथा—

एकै अक्खर पीवका, सोई सत करि जाँणि ।
रामनाम सतगुर कह्या, दादू सो परवाँणि ॥
(अंग २ । २)

दादू नींका नाँव है, हरि हिरदै न बिसारि ।
मूरति मन माँहिं बसै, सासै सास सँभारि ॥
(अंग २ । ५)

सासै सास सँभालताँ, इक दिन मिलिहै आइ ।
सुमिरण पैंडा सहजका सतगुर दिया बताइ ॥
(अंग २ । ६)

और आरँभ सब छाड़ि दे, रामनाम ल्यौ लाई ।
(अंग २ । ८)

एक महूरत मन रहै, नाँव निरंजन पास ।
दादू तबही देखताँ सकल करमका नास ॥
(अंग २ । १२)

एक रामके नाँव बिन जिवकी जलनि न जाइ ।
दादू केते पचि मुए, करि करि बहुत उपाइ ॥
(अंग २ । १५)

दादू सिरजनहारके केते नाँव अनंत ।
चिति आवै सो लीजिए, यौं साधू सुमिरैं संत ॥
(अंग २ । २३)

(दादू) निमष न न्यारा कीजिये, अंतर थैं उरि नाम ।
कोटि पतित पावन भये केवल कहताँ राम ॥
(अंग २ । २६)

दादू दुखिया तब लगैं, जब लग नाँव न लेहि ।
तब ही पावन परम सुख, मेरा जीवन येहि ॥
(अंग २ । ३२)

(दादू) निसदिन सदा सरीर मैं, हरि चिंतन दिन जाइ ।
प्रेम मगन लैलीन मन, अंतरगति ल्यौ लाइ ॥
(अंग २ । ४१)

(दादू) राम कहे सब रहति है, जीव ब्रह्म की लार ।
राम कहे बिन जात है, रे मन हो हुसियार ॥ („ ५०)
दादू सब जग बिष भरथा, निर्बिष बिरला कोइ ।
सोई निर्बिष होइगा, जाके नाँव निरंजन होइ ॥ („ ५२)
ब्रह्म भगति जब ऊपजै, तब माया भगति बिलाइ ।
दादू निर्मल मल गया, ज्यूँ रबि तिमिर नसाइ ॥ („ ५५)
नाँव सपीका लीजिये, प्रेम भगति गुण गाइ ।
दादू सुमिरण प्रीति सौं, हेत सहित ल्यौ लाइ ॥ („ ७३)

और नाम-स्मरणकी महिमा यहाँतक है कि अष्टसिद्धि, नवनिधि आदि हाज़िर खड़ी रहें, और सकल पदार्थ हस्तगत हो जायँ। यथा—

हिरदै राम रहै जा जनकै, ताकौं ऊणा कौण कहै।
अठसिधि नौनिधि ताकै आगै, सनमुख सदा रहै॥
(अंग २। १०५)

संगहि लागा सब फिरै राम नाम के साथ।
चिंतामणि हिरदै बसै, तौ सकल पदारथ साथ॥ (,, १०८)

यह दादूदयालके साधनका संक्षेपमें वर्णन हुआ। इसीको अन्य साधनोंका आदिम आधार समझना चाहिये। संयम, योगसाधन, तितिक्षा, सन्तोष, दयाधर्म आदिके दयालजी मूर्तिमान् अवतार ही रहे हैं। तभी तो वे 'दयाल' कहलाये। साधनोंमें बहुत करारे साधक थे। साँभरमें वे सरके अंदरकी छत्रीमें जाकर तप किया करते थे। और सर भरा होता तब, अपनी योगशक्तिकी खेचरीमुद्रासे सरके जलके ऊपर होकर वैसे ही जाया करते जैसे पृथ्वीपर चलते थे। ऐसे चमत्कारोंने ही उनकी विभूतिका वहाँ अधिक प्रकाश किया, यद्यपि ये चमत्कार आवश्यकताके समय स्वयं ही हो जाया करते थे। साँभरके क़ाज़ीकी कथा प्रसिद्ध ही है। अनेक दीनों, गरीबों और बीमारोंको सहायता देना तो उनका विशेष कर्तव्य था ही।

परन्तु परमसाधन दादूजीका स्थूलशरीरकी स्थूल जिह्वासे वा हाथमें माला लेकर करने तथा मन, बुद्धि और कहीं लगी रखनेका नहीं है; यह साधन वृत्तियोंको अन्तर्मुखी करके चर्मदृष्टिसे ऊँचे उठकर आत्मदृष्टिके साथ करना होता है। आत्मदृष्टिका साधन परिपक्व हो जानेपर, गुरुकी कृपासे, और अपने तपोबल और प्रारब्धके सत्फलोंसे, ब्रह्मदृष्टि होने लगती है। वह अवस्था ब्राह्मीभूत अवस्था है, तब जीव-ब्रह्म एक हो जाते हैं। इसीको अपरोक्षानुभूति कहते हैं। दादूजीने बताया है कि—

चर्मदृष्टि देखै बहुत, आतमदृष्टी एक।
ब्रह्मदृष्टि परचै भया, तब दादू बैठा देख॥
(अंग ४। १५७)

और वस्तुतः साधनके प्रभावसे यही नेत्र अंदर देखनेके अभ्यासमें रत हो जाते हैं, तब शनैः-शनैः ज्ञानप्रकाशसे आत्मदर्शन होकर ब्रह्ममें लीनताकी अवस्था मिल जाती है। यही इस मनुष्यजन्मका परमफल और सौभाग्य है। कहा है—

येई नैनाँ देहके, येई आतम होइ।
येई नैनाँ ब्रह्मके, दादू पलटै दोइ॥
(अंग ४। १५८)

पर आतम सौं आतमा, ज्यौं पाणी मैं लूँण।
दादू तन मन एकरस, तब दूजा कहिये कूँण॥
(अंग ४। १६६)

फिर कहते हैं और अपने साधनका अनुभव बताते हैं—

अंतरिगति हरि हरि करै, तब मुखकी हाजति नाहिं।
सहजैं धुनि लागी रहै, दादू मनही माँहि॥
(अंग ४। १७१)

(दादू) सबद अनाहद हम सुन्याँ, नखसिख सकल सरीर।
सब घट हरि हरि होत है, सहजैं ही मन थीर॥
(अंग ४। १७४)

फिर क्या हो जाता है, सो बताते हैं—

(दादू) सेवग साँईंका भया, तब सेवग का सब कोइ।
सेवग साँईं कौं मिल्या, तब साँईं सरीखा होइ॥
(अंग ४। १८५)

जहाँ राम तहाँ मन गया, मन तहाँ नैनाँ जाइ।
जहाँ नैनाँ तहाँ आतमा, दादू सहजि समाइ॥
(अंग ४। २०३)

परचै पीवै रामरस, सो अबिनासी अंग।
काल मीच लागै नहीं, दादू साँईं संग॥
(अंग ४। ३४३)

परचै पीवै रामरस, जुगि जुगि अस्थिर होइ।
दादू अविचल आतमा, काल न लागै कोइ॥
(अंग ४। ३४२)

दादू मुख मेरे साँइयाँ, मंगल अति आनंद।
दादू सज्जन सब मिले, जब भेटे परमानंद॥
(अंग ८। १९)

परन्तु यह ब्रह्मप्राप्ति, यह परमात्मदर्शन, यह परमगति कब प्राप्त हो सकती है, जब यह जीवधारी अपने आपेको *मारे, स्वार्थ और विषयलोलुपताका त्याग करे, एक परमात्म-साधनहीमें लवलीन रहे; अन्यथा इसकी प्राप्ति कठिन ही नहीं,* असम्भव ही है। कहा है—

(दादू) तन मनके गुण छाँडि सब, जब होहि निनारा।
तब अपने नैनहुँ देखिये परगट पिव प्यारा॥
(अंग ९। ११)

(दादू) जे साहिब कौं भावै नहीं, सो जीव न कीजे रे।
परिहरि विषै बिकार सब, अमृत रस पीजे रे॥
(अंग ९।४)

छाँडै सुरति सरीर कौं, तेजपुंज मैं आइ।
दादू ऐसैं मिलि रहै, ज्यौं जल जलहि समाइ॥
(अंग ७।३५)

पद २०६। (पृ० ४४५) राग रामकली।
निकट निरंजन देखिहौं, छिन दूर न जाई।
बाहरि भीतरि एकसा, सब रह्या समाई॥ टेक॥
सतगुरु भेद लखाइया, तब पूरा पाया।
नैनन ही निरखूँ सदा, घरि सहजैं आया॥ १॥
पूरे सौं परचा भया, पूरी मति जागी।
जीव जाँनि जीवनि मिल्या, ऐसैं बड़भागी॥ २॥
राँम राँम मैं रमि रह्या, सो जीवनि मेरा।
जीव पीव न्यारा नहीं, सब संग बसेरा॥ ३॥
सुंदर सो सहजैं रहै, घटि अंतरजामी।
दादू सोई देखिहौं, सारौं संगि स्वामी॥ ४॥

देखिये कैसा अनुभववर्णन है। यह दादूजीके सच्चे साधनका प्रकाश है। वे जैसा देखते थे, जैसा पाते थे, जैसा जान लेते थे, वैसा ही अपने निज ज्ञान और अनुभवसे कहते थे। वे महात्मा तत्त्वानुसन्धान, अन्तर्ध्यान, आत्मदर्शनसे ही कथन करते थे। पुस्तकोंके अवलोकनसे, अवतरण या प्रमाण छाँटकर या लेकर नहीं कहते थे। शास्त्रश्रवण वे अवश्य करते थे, शास्त्र वे जानते थे, परन्तु उनके था अपने आत्मसाधनका सच्चा पालन। उसमें जैसा भी उनको दिखायी देता था, सिद्ध होता था, जँचता था, वही कहते थे। रहस्यवाद (mysticism), वेदान्तप्रक्रिया, ज्ञान-विज्ञानशैली इत्यादि उनसे कुछ दूर या छिपे नहीं थे। परन्तु उनका वचन स्वात्मारामदर्शनका निदर्शन ही था। उनका साधन बहुत ऊँचा था। वे योगारूढ और ज्ञानगरिष्ठ महात्मा थे। अतः परमात्मज्ञानध्यानके प्रेमी जन उनके वचनामृतको पूर्ण भाव, भक्ति और समादर तथा गहरी दृष्टिसे देखें तो बहुत ही उत्तम सारभरे पदार्थोंकी प्राप्ति हो। उनके प्रधान शिष्य तथा अनेक प्रशिष्यादि जीवन्मुक्त और कृतकृत्य ही हो गये थे।

देखिये कितनी अच्छी और सच्ची बातें अपने साधनके फलस्वरूप इन पदोंमें कही हैं—

पद २५। राग गौड़ी। (पृ० ३६७)

जियरा मेरे सुमिरि सार, काम क्रोध मद तजि विकार॥ टेक॥
तूँ जिनि भूलै मन गँवार, सिर भार न लीजै मानिहार॥ १॥
सुणि समझायो बार बार, अजहूँ न चेतै हो हुस्यार॥ २॥
करि तैसैं भव तरिये पार, दादू इबथैं यही बिचार॥ ३॥

पद २४। राग गौड़ी। (पृ० ३६६)

कैसैं जीविये रे, साँई संग न पास।
चंचल मन निहचल नहीं, निसदिन फिरै उदास॥ टेक॥
नेह नहीं रे राँमका, प्रीति नहीं परकास।
साहिबका सुमिरण नहीं, करै मिलनकी आस॥ १॥
जिस देखै तूँ फूलिया रे, पाँणी प्यंड बधाँणा मास।
सो भी जल बलि जावगा, झूँठा भोग बिलास॥ २॥
तो जीवीजै जीवणाँ, सुमिरै सासौं सास।
दादू परगट पिव मिलै, (तो) अंतरि होइ उजास॥ ३॥

देखिये, साधनके फलका ऐसा निश्चय उन महात्माजीका था कि निरन्तर सच्चे मन और भावनासे परमात्माका हृदयस्थलमें स्मरण करनेसे वे प्रकट होकर प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि अंदर आत्मामें ऐसा ही प्रकाश (उजियाला) होता है, जिसमें वह परमात्मा दिखायी देते हैं। रहस्यवाद, गुह्य अध्यात्मविद्या (mysticism) पर लिखनेवाले हमारे देशके या अन्य देशके विद्वानोंने इस सिद्धान्तका वर्णन यही किया है कि इसका साधक इस मंजिलतक पहुँच जाता है कि वह परमात्माको भक्ति और ज्ञानके साधनसे देखता है और परमात्मा उसे देखता है—'अरस-परस हम दोउ मिलै' इत्यादि। यही महान् ज्ञानकी अवस्था है, और मानी जाती है। सच तो यह है कि प्रभु अपने प्यारे भक्त या साधकपर दया-मया करते हैं तो ऐसा ही फल देकर निहाल कर देते हैं। वह तो 'हाजिराँ हुजूर' 'नाजिराँ भरपूर' है। और 'जीव ब्रह्म द्वै नाहिं' यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है। यह तो प्रधान और प्रथम साधन-सिद्धान्त हुआ।

(२) दूसरा साधन-सिद्धान्त दादूदयालका यह था कि उस एक निराकार, निरञ्जन परमात्मदेवसे पृथक् और कुछ रूप, आकार, प्रकार या विधि-विधानका ध्यान-ज्ञान-साधन अपेक्षित नहीं। जब उस एकहीको ध्याया, उसीको पाया तो सब कुछ जाना और सब कुछ पा लिया। वृथा इधर-उधर मन डुलाना, विस्तार और आडम्बर करना या उठाना अनावश्यक है। एक अटल सिद्धान्त यह है—

दादू जब लग जीविये, सुमिरण संगति साध॥
दादू साधू राम बिन दूजा सब अपराध।
(अंग १५। १२९)

और दादूजीके स्वमतानुसार (जो कबीरजी, रैदासजी आदि महात्माओंका-सा है) किसी प्रकारका भेदभाव—हिंदू-मुसलमान, राम-रहीम आदिका भेदभाव कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता। जब सभी एक परमात्माके सिरजे हुए हैं, परमात्मा एकरस सबमें व्यापक है, परमात्माके निकट सब बराबर हैं, फिर मनुष्य ऊँच-नीच, हलका-भारी, छोटा-बड़ा आदि क्यों विचारे और क्यों देखे या समझे ? केवल भगवान्‌का ज्ञान-ध्यान, गुरु और साधु-संतोंका सत्सङ्ग और राम-नामका तन-मनसे स्मरण करना—बस, यही तत्त्वसार और केवल यही सदा जीवनका कर्तव्य है। और सब बखेड़े, झंझट, बन्धन—यहाँतक कि ये सब अपराध हैं ! कितना ज़बरदस्त, ऊँचा, विलक्षण सिद्धान्त है !

कहा है—

(क) आन तैं चित्त निवारिया रे, मोहि एके सेती काज रे।
अनत गये दुख ऊपजै, मोहि एकहि सेती राज रे॥
साँई सौं सहजै रमौं रे, और नहीं आन देव रे।
तहाँ मन बिलँबिया, जहाँ अलख अभेव रे॥
(पद ९। पृ० ३६०)

दादू नाहिं न भावै आन, राम बिनाँ भइ मृतक समान।
(पद १०। पृ० ३६१)

दादू द्वै पख दूरि करि, निर्पख निर्मल नाँव।
आपा मेटै, हरि भजै, ताकी मैं बलि जाँव॥
(अंग २६। ६४)

(ख) अलख देव अंतरि बसै, क्या दूजी जागह जाइ॥
(अंग १३। १३९)

पूजनहारे पासि है, देही माँहै देव।
दादू ताकौं छाडि करि, बाहरि मांडी सेव॥
(अंग १३। १४८)

(दादू) निराकार मन सुरतिसौं, प्रेम प्रीति सौं सेव।
जे पूजै आकार कौं, तौ साधू परतखि देव॥
(अंग १५। २)

पद ३११। राग सोरठा। (पृष्ठ ४९०—स्पष्टसिद्धान्त)—
साँई देव पूजौं, जे टाँची नाँहि घड़िया॥
गरभ वास नाँही औतरिया॥ टेक॥
... ...
ये पूजा मेरे मन मानैं, जिहिं बिधि होइ सु दादु न जानैं॥ ४॥

पद १९७। राग रामकली। (पृष्ठ ४४१—स्पष्टसिद्धान्त)—
साँचा राम न जाँणैं रे, सब झूँठ बखाणैं रे॥ टेक॥
झूँठे देवा झूँठी सेवा, झूँठा करै पसारा।
झूँठी पूजा, झूँठी पाती, झूँठा पूजणहारा॥ १॥
झूँठा पाक करै रे प्राँणी, झूँठा भोग लगावै।
झूँठा आडा पड़दा देवै, झूँठा थाल बजावै॥ २॥
... ... ॥३॥ और ॥४॥

(ग)—अपना मत पन्थोंके सम्बन्धमें बताते हैं—(स्पष्ट-सिद्धान्तकथन)—

पद १९८। राग रामकली। (पृष्ठ ४४१)—
मैं पंथी एक अपारका, मन और न भावै।
सोई पंथ पावै पीवका, जिहि आप लखावै॥ टेक॥
को पंथी हिंदू तुरक के, को काहू राता।
को पंथी सोफी सेवड़े, को सिंन्यासी माता॥ १॥
को पंथी जोगी जंगमा, को सकति-पंथ ध्यावै।
को पंथी कमड़े कापड़ी, को बहुत मनावै॥ २॥
को पंथी काहू के चलैं, मैं और न जानूँ।
दादू जिन जग सिरजिया, ताहीकौं मानूँ॥ ३॥

दादू हिंदू तुरक का, द्वै पख पंथ निवारि।
संगति साँचे साधकी साँईकौं संभारि॥
(अंग १६। ५१)

(दादू) हिंदू लागे देहुरै, मुस्सलमान मसीति।
हम लागे एक अलेख सौं, सदा निरंतर प्रीति॥
(अंग १६। ५२)

पद ३४७। राग बिलावल। (पृष्ठ ५०७)—
मूलहि सींचि बधै ज्यूँ बेला, सो तत तरवर रहै अकेला॥ टेक॥
... ...
तीरथ बरत न पूजै आसा, बनखँडि जाहिं रहै उदासा।
यूँ तप करि करि देह जलावैं, भरमत डोलैं जन्म गमावैं॥ ३॥
... ...
तब दादू परम गति पावै, सो निज मूरति माहि लखावै॥ ४॥

नाँ घरि रह्या न बनि गया, नाँ कुछ किया कलेस।
दादू मन हीं मन मिल्या, सतगुरके उपदेस॥
(अंग १। ७४)

(दादू) यहु मसीति यहु देहुरा, सतगुर दिया दिखाइ।
भीतरि सेवा बंदिगी, बाहरि काहे जाइ॥
(अंग १। ७५)

(दादू) मंझि चेला मंझि गुर, मंझ ही उपदेस।
बाहरि ढूँढै बावरे, जटा बधाये केस॥
(अंग १ । ७६)

मनका मस्तक मूँडिये, काम क्रोधके केस।
दादू बिषै बिकार सब, सतगुरके उपदेस॥
(अंग १ । ७७)

(ङ)-(दादू) मन माला तहँ फेरिये,(जहँ) दिवस न परसै रात।
तहाँ गुरु बानाँ दिया, सहजै जपिये तात॥
(अंग १ । ६६)

(दादू) मन माला तहँ फेरिये जहँ प्रीतम बैठे पास।
आगम गुर थैं हि गम भया, पाया नूर निवास॥
(अंग १ । ६७)

(दादू) मन माला तहँ फेरिये, (जहँ) आपै एक अनंत।
सहजै सो सतगुरु मिल्या, जुगि जुगि फाग बसंत॥
(अंग १ । ६८)

(दादू) सतगुर माला मन दिया, पवन सुरति सूँ पोइ।
बिन हाथों निस दिन जपै, परम जाप यूँ होइ॥
(अंग १ । ६९)

दादू मन फकीर माँहि हुवा, भीतरि लीया भेष।
सबद गहै गुरदेवका, माँगै भीख अलेष॥
(अंग १ । ७०)

(च)—उपर्युक्त प्रमाणोंसे, जो खास दादूजीके वचन हैं, दादूजीके साधन और सिद्धान्त स्पष्ट ज्ञात होते हैं। उनका परममत यह रहा है—

आपा मेटै, हरि भजै, तन मन तजै बिकार।
निरबैरी सब जीव सौं, दादू यहु मत सार॥
(अंग २९ । २)

(छ)—वे तो एक परमात्माको ही आत्मा और आत्माको ही परमात्मा मानते हुए सारे भेदभावको निर्मूल, निरर्थक, असत्य और हानिकारक समझे हुए थे। कहा है—

निर्बैरी सब जीव सौं, संतजन सोई।
दादू एकै आतमा, बैरी नहिं कोई॥
(अंग २९ । ४)

सब हम देख्या सोधि करि, दूजा नाँहीं आन।
सब घट एकै आतमा, क्या हिंदू मुसलमान॥
(अंग २९ । ६)

काहे कौं दुख दीजिये, साँई है सब माँहिं।
दादू एकै आतमा, दूजा कोई नाँहिं॥
(अंग २९ । १३)

आतम देव अराधिये, बिरोधिये नहिं कोई।
आराधे सुख पाइये, बिरोधे दुख होई॥
(अंग २९ । २६)

इस प्रकार संक्षेपसे*—अति संक्षेपसे—दादूदयालके सत्साधनके सत्सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन किया गया। विषय महान् है, गहन है, रहस्यमय है। न समय है और न स्थान है कि सारा और विस्तृत कहा जाय। इति शम्।

एक ही शत्रु है

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रुरज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन्।
येनावृतः कुरुते संप्रयुक्तो घोराणि कर्माणि सुदारुणानि॥

हे राजन्! इस जगत्में पुरुषका एक ही शत्रु है, उसके समान कोई दूसरा शत्रु नहीं है, वह शत्रु अज्ञान है, मनुष्य इस अज्ञानसे घिरकर दारुण कर्म करने लगता है। (महा० शान्ति० २९७ । २८)

---

* इस लेखमें पं० चन्द्रिकाप्रसादजीद्वारा संपादित 'दादूवाणी', साधु रामदयालजीद्वारा लिखित 'दादूसार', पं० तारादत्तजी गैरोला-द्वारा लिखित 'साम्स आफ दादू' (Psalms of Dadu), बा० क्षितिमोहन सेनद्वारा लिखित 'दादू' (बंगभाषा) इत्यादिसे सहायता ली गयी है। तदर्थ उन सबको धन्यवाद है। —लेखक

प्रेम-साधन

(लेखक—श्रीमन्निजानन्दसम्प्रदायाद्यधर्मपीठाधीश्वर धर्मधुरीण आचार्य श्रीधनीदासजी महाराज 'सद्धर्मरत्न')

सर्वनियन्ता, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, पूर्णातिपूर्ण, सच्चिदानन्द-स्वरूप, अविनाशी, एकरस जो ब्रह्म है, उसकी प्राप्ति ही चरम साध्य और परम पुरुषार्थ है—इस विषयमें कोई मतभेद नहीं हो सकता। आस्तिक जगत्के सभी प्राचीन-अर्वाचीन आचार्योंने इसी सिद्धान्तको सामने रखकर ब्रह्म-प्राप्तिके अलौकिक ज्ञान और लोकोत्तर पथका प्रदर्शन कराया है।

सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा पूर्णातिपूर्ण, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर होनेके कारण सर्वथा निरपेक्ष हैं। परन्तु भगवद्भक्त सदासे ही यह मानते आये हैं कि 'भक्तिप्रियो माधवः'—भगवान्को भक्ति प्यारी है। 'न मे भक्तः प्रणश्यति', 'मामेकं शरणं व्रज' इत्यादि भगवद्वचनोंने इस धारणाको और भी सुदृढ़ बना दिया है। इसलिये इस मान्यताकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार वेदान्तवादियोंका यह डिण्डिम-घोष है कि

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'
'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

अर्थात् ज्ञानको छोड़ ब्रह्मप्राप्तिका अन्य कोई मार्ग ही नहीं है। यह भी श्रुतिसम्मत होनेसे उपेक्ष्य नहीं हो सकता।

भक्तिसे भगवत्प्राप्तिको सभीने माना है। ज्ञान भी चिद्रूप होनेसे भगवद्धर्म ही है, अतः उससे भी भगवत्प्राप्ति युक्तियुक्त और सङ्गत है। परन्तु निजानन्दसम्प्रदाय इन दोनों मार्गोंके परे एक तीसरे ही मार्गका निर्देश करता है। उस मार्गका नाम है 'प्रेम'। इस सम्प्रदायकी यह मान्यता है कि निर्विशेष सच्चिदानन्द ब्रह्मको प्रेम जितना सीधा स्पर्श करता है, उतना साधनसापेक्ष भक्ति और ज्ञान नहीं करते। भक्ति और ज्ञान मनुष्यको क्रमसे परमात्माकी ओर ले जाते हैं। पर प्रेमसे तो तत्काल ही चुम्बकके आकर्षणकी तरह जीवात्मा परमात्माकी ओर खिंच आता है। श्रीप्राणनाथ प्रभु कहते हैं—

'पंथ होइ कोटि कलप, प्रेम पहुँचावे मीने पलक।'

भक्ति प्रभुको सब कुछ समर्पित कर देना सिखाती है, ज्ञान ब्रह्मका स्वरूप समझा देता है, तो प्रेम तन्मय बना देता है। ज्ञानकी दृष्टिमें 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' है; भक्तके लिये भक्ति और भगवान्के सिवा बाकी सब तुच्छ है, और प्रेमी प्रेममें 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' देखता है। प्रेम-जगत्में प्रेमके सिवा अन्य कोई सृष्टि ही नहीं है। भक्त और ज्ञानी भगवान्के अतिरिक्त अन्यमें आसक्ति नहीं रखते, पर प्रेमीकी दृष्टिमें भगवान्के सिवा और कुछ है ही नहीं।

है गलत गर गुमानमें कुछ है।
तुझ सिवा भी जहानमें कुछ है॥

अर्थात् प्रेमीके ख्यालमें प्रियतमके सिवा यदि और भी कुछ है तो उसका प्रेम ही गलत है। बात बिल्कुल ठीक है। जिसने 'इश्क हकीकी' अख्तियार किया है, उसकी दृष्टिमें 'इश्क मजाज़ी' कैसे रह सकता है? जब आँखें खुल गयीं, तब सपना कैसे टिक सकता है! प्रेमीकी आँखोंमें तो सदा प्रियतम प्रभु ही रहते हैं। इन दोनोंके बीच तीसरे-को अवकाश ही कहाँ?

हिजाबे रुखे यार भी आप थे,
खुली आँख तो कोई पर्दा न देखा।

प्रेममें दुनियाका पर्दा कब रह सकता है! यह दुनियाके परेकी चीज है, वहाँ दुनिया कहाँ? पर यह प्रेमका पंथ है बड़ा कठिन!

इब्तिदाहीमें मर गये सब यार,
इश्ककी कौन इन्तिहा लाया?

इस मार्गका आरम्भ तो है, पर इसका कोई अन्त नहीं। इसपर पैर रखते ही सर्वस्व बलिदान करना पड़ता है। यही कारण है कि सब लोग इस मार्गपर नहीं चल सकते। कहा है—

नवधासे न्यारो कह्यो, चौदह भुवनमें नाहिं।
सो प्रेम कहाँसे पाइये, जो बसत गोपिकन माहिं॥

प्रेमको तो यथार्थरूपमें व्रजसुन्दरियोंने ही जाना और अपनाया था। प्रेमके बलसे ही वे गोवत्सपदवत् भवसागरको तरकर श्रीकृष्ण परमात्माको प्राप्त हुईं। पर आज भी इस प्रेमके प्यालेको कोई पी ले तो भगवान् उसके लिये दुर्लभ नहीं। परन्तु—

यह तो गति है अटपटी, झटपट लखै न कोइ।
जो मनकी खटपट मिटै, चटपट दर्शन होइ॥

प्रेमकी गति है बड़ी विकट, पर फल भी है वैसा ही महान् और अपूर्व! इसीलिये महात्माओंने इसका विशेष महत्त्व गाया है।

जब प्रतिपदामें द्वितीयाके चन्द्रका दर्शन होता है, तब उसकी सूक्ष्म कलाको दिखानेमें शाखाचन्द्रन्यायसे काम लेना पड़ता है अर्थात् वृक्षकी किसी शाखाकी ओर अङ्गुलि-निर्देश करके यह बतलाना पड़ता है कि देखो उस शाखाको, उसीके ऊपर चन्द्रमा है। जिसको इस तरह दिखाया जाता है, उसकी दृष्टि इससे उस तरफ बँध जाती है और उसे चन्द्र-दर्शन हो जाता है। इसी प्रकार हमारे पूर्वाचार्योंने ब्रह्म-दर्शनके लिये अपनी अन्तर्दृष्टिसे भक्ति-ज्ञानादि अनेक सङ्केत निर्माण किये। जो जिस सङ्केतका आश्रय करके लाभान्वित होता है, वह उसी सङ्केतको सुगम और उत्तम बतलावे—यह स्वाभाविक ही है। परन्तु जिस प्रकार चन्द्र-दर्शन करानेमें चन्द्रकान्त मणि* सब सङ्केतोंकी अपेक्षा उत्तम है, क्योंकि वह द्रष्टाकी दृष्टिको सीधे चन्द्रबिम्बमें जोड़ देती है, उसी प्रकार ब्रह्मरूप चन्द्रका दर्शन करानेमें, वृत्तिको सीधे ब्रह्मस्वरूपके साथ जोड़ देनेमें यदि कोई निरपेक्ष वस्तु है तो वह प्रेम है। चन्द्र और चन्द्रकान्त मणिमें तो परस्पर अन्तर भी है; पर प्रेम और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं, दोनों स्वरूपतः एक ही हैं। आनन्दघन ब्रह्म शक्तिमान् है तो प्रेम उसकी अभिन्न शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान्में कभी भेद नहीं होता। अर्थात् जिसने प्रेमको पा लिया, उसने प्रियतमको भी पा लिया। वह प्रेमी अपने प्रेमास्पद भगवान्‌को छोड़कर और किसीको न देखता है, न सुनता है और न जानता ही है।

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति।
(छान्दोग्य० ७। २४। १)

उसकी दृष्टिमें दूसरा कुछ रह ही नहीं जाता, तब अन्य किसको जाने? प्रेमी परमात्मामें मिलकर एकरूप हो जाता है।

वेदान्तमें ब्रह्मको अस्ति, भाति और प्रिय-धर्मावच्छिन्न माना है—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

'अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम—ये अंशपञ्चक कहाते हैं। इनमें प्रथम तीन ब्रह्मरूप हैं और शेष दो जगद्रूप।' अस्तिसे 'सत्', भातिसे 'चित्' और प्रियसे 'आनन्द'—इस प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूपकी अर्थसङ्गति है। तैत्तिरीयोपनिषद्‌में ब्रह्मरूप पक्षीका वर्णन करते हुए 'आनन्द आत्मा' कहकर आनन्दको ब्रह्मका आत्मा कहा गया है। जब ब्रह्मका मुख्य रूप प्रिय अर्थात् आनन्द है और जब प्रियके भावको ही प्रेम कहते हैं, तब तो प्रेमकी सर्वोत्तमता स्वतः-सिद्ध ही है। आनन्दके त्रिवृत्‌में भी 'तस्य प्रियमेव शिरः' (तैत्तिरीय-श्रुति) कहकर ब्रह्मके प्रियस्वरूपको सर्वोत्तम अङ्ग—शिर कहा है। तब इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दघन परमात्माका यदि कोई महान् धर्म है तो वह प्रेम ही है। जो महान् है, प्रिय है, वही सर्वाभिलषित है। उसीके लिये जीवात्मा कहाँ-कहाँ भटकता है, कहाँ-कहाँकी खाक छानता फिरता है।

जीवात्मा सच्चित्स्वरूप होनेसे सत् और चित् तो है ही; अपनी पूर्णताके लिये यदि किसी वस्तुकी उसे अपेक्षा है तो वह है आनन्द। यही कारण है कि ज्ञानी-अज्ञानी सभी आनन्दको ही ढूँढ़ा करते हैं। माताके स्तनसे बिछुड़ा हुआ बच्चा जिस प्रकार हाथकी उँगली, अँगूठे और पैरके अँगूठेमें भी और कभी दूसरोंकी उँगलियोंमें भी स्तनकी कल्पना करके पान करनेकी चेष्टा करता और आनन्द मानता है, अथवा गौके स्तनसे अलग हुआ बछड़ा गौके चाहे जिस अङ्गसे दूध पीनेकी चेष्टा करता है और उसे छोड़ता नहीं, उसी प्रकार यह जीवात्मा परमात्माके प्रेमसे बिछुड़ा हुआ जहाँ-तहाँ उसीके आस्वादनके आनन्दको ढूँढ़ता-फिरता है, बाह्य विषयोंमें उसीकी कल्पना करता और उसीमें आनन्द मान लेता है। परन्तु कल्पित स्तनोंमें जैसे दूध नहीं होता, वैसे ही इन विषयोंमें आनन्दका वह आस्वादन नहीं होता। वह कैसे प्राप्त हो?

यदि इसे प्रेम मिल जाय, प्रेमास्पद मिल जायँ, तो पुनः

---

* बंद मकानमें किसी छिद्रके द्वारा जब प्रकाश आता है तो प्रकाशके त्रसरेणु, जिस ओरसे प्रकाश आता है उसी ओरसे, कतार बाँधे चले आते हुए नजर आते हैं। इसी प्रकार चन्द्रको देखकर चन्द्रकान्त मणिसे चन्द्रतक प्रकाशके त्रसरेणुओंकी कतार बँध जाती है और इसलिये इसके सहारे तुरंत चन्द्रदर्शन हो जाता है। चन्द्रकान्त मणिसे यह प्रकाश सूर्यास्तके बाद ही प्रकट होता है, दिनमें नहीं होता। —लेखक

यह आनन्दी हो जाय । 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (श्रुति) । इस प्रेमरूप रसको पाकर ही जीवात्मा आनन्दी होता है, 'तृप्तो भवति'—तृप्त हो जाता है । 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ।' ब्रह्मके इस प्रेमानन्दको पाकर वह फिर किसी भयको नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत 'आनन्दघन एवास्मि'—अपनेको आनन्दस्वरूप ही अनुभव करता है । इस प्रेम-प्यालेको पीनेके बाद और कुछ पीना शेष नहीं रहता । इसीको भक्तिशास्त्रोंने परा, प्रेम-लक्षणा, फल-रूपा भक्ति आदि कहकर वर्णित किया है । वेदान्तके मतसे जीवन्मुक्तिकी यही चरमावस्था है । इस्लाममें इसीको 'इश्क हक़ीक़ी' कहते हैं । इस प्रकार अनेक नामोंसे सर्वत्र वर्णित यह प्रेम सब नाम-रूपोंके परे है । यह तो गूँगेका गुड़ है । जाग्रत् आत्माकी यह दिव्य ऊर्मि है । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—जिस प्रेमस्वरूपको न पाकर मनसहित वाणी लौट आती है, उसका वर्णन कौन कर सकता है ? वस्तुतः प्रेम वर्णनकी वस्तु नहीं है, केवल आत्मैकवेद्य आनन्द है ।

प्रेम परमात्माका महान् धर्म है । उसे पानेके लिये तत्स्वरूपी ही बनना पड़ता है । प्रेम परमात्माका वह दामन है, जिसे पकड़ते ही सब उलझनें सुलझ जाती हैं और अनुपम आनन्दका अनुभव होने लगता है । फिर कुछ करना बाकी नहीं रहता ।

श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदायमें साधन

(लेखक—श्रीहित रणछोड़लालजी गोस्वामी)

सब सों हित निष्काम मत बृंदाबन बिश्राम ।
(श्री)राधाबल्लभलाल को हृदय ध्यान, मुख नाम ॥

एक समय समर्थ पण्डित, शास्त्रवेत्ता, दिग्विजयी विद्वान् ओड़छानिवासी राजगुरु श्रीसुमुख शुक्ल (व्यासजी) ने आचार्य श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजीसे प्रश्न किया कि 'हे प्रभो ! प्राणिमात्रके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये ? अपना मत कौन-सा रखना चाहिये ? विश्रान्तिका स्थान कौन-सा है ? हृदयमें ध्यान किसका धरना चाहिये ? और नाम-स्मरण किसका करना चाहिये ?' इन पाँच प्रश्नोंके उत्तरमें आचार्य-श्रीने उपर्युक्त दोहा कहा था, जिसमें उन्होंने अपने मतका—जिसे सिद्धाद्वैतमत कहते हैं—दिग्दर्शन कराया है और भक्ति-मार्गका सर्वोत्तम कल्याणकारी रहस्य भी बतलाया है । उपर्युक्त दोहेकी रसिक भक्तोंके लिये अपनी बुद्धिके अनुसार टीका की जाती है । दोहेका प्रथम वाक्य है—

'सब सों हित'

सिद्धाद्वैतमतमें ब्रह्मके साथ जीवका अंशांशिभाव सम्बन्ध माना गया है । गीताजीमें भगवान्ने अपने श्रीमुखसे कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

ब्रह्म हमारे लिये पितारूप हैं और हम सभी उनकी सन्तान हैं । संसारके सभी प्राणी ब्रह्मके अंशरूप होनेके नाते हमारे भाई-बहिन हैं—ऐसी भावना करके उन सबसे प्रीति करनी चाहिये । प्राणिमात्रकी तो बात ही क्या, प्रत्येक वस्तुके प्रति ब्रह्मभाव अथवा ब्रह्मदृष्टि रखना—यही सिद्धाद्वैतसिद्धान्त-का परम रहस्य है । जबतक दुनियाके समस्त व्यवहार इस सिद्धान्तपर प्रतिष्ठित नहीं होंगे, तबतक संसारमें अर्थका अनर्थ ही होता रहेगा । केवल मनुष्य-प्राणीके अंदर ही आत्माका निवास है, अन्य जीवोंमें नहीं—एक ओर जिस प्रकार यह सिद्धान्त झूठा है, उसी प्रकार दूसरी ओर जगत् मिथ्या है, भ्रमरूप है—ऐसा मानना भी भ्रान्तिसे पूर्ण है । निखिल जगत् सत्य है—ब्रह्मका कार्य है, अतएव ब्रह्मरूप ही है—यह वैदिक सिद्धान्त है । यह अखिल नाम-रूपात्मक जगत् आत्मा ही है । प्रभु ही जगत्को उत्पन्न करते हैं और स्वयं जगत्के रूपमें उत्पन्न होते हैं । विश्वात्मा भगवान् ही विश्वका रक्षण करते हैं और विश्वके रूपमें वही रक्षित होते हैं । वही संहार करते हैं और अपने ही विश्वरूपका संहार करते हैं । श्रुति भगवती कहती है—

'आत्मैव तदिदं सर्वम् ।'
'तदिदं ब्रह्मैव ।'
'स सर्वं भवति ।'
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।'

उपर्युक्त श्रुतियोंके अनुसार सारे जगत्को ब्रह्मरूप मानना ही वास्तविक सिद्धान्त है । जैसे मकड़ी अपने मुखमेंसे जाल निकालती है और उसीपर खेलती है, उसी प्रकार ब्रह्मने भी अपनेमेंसे ही इस जगत्को उत्पन्न किया है । इस प्रकार इस

विश्वका सिरजनहार भी वही है और सृष्टि भी वह स्वयं ही है। रक्षण करनेवाला भी वह है, और रक्षणीय भी वही है।

जगत् ब्रह्मरूप होते हुए भी त्रिगुणात्मक है। जगत्में उसके नियन्तारूप ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रभृति देवताओंका तथा चिदचिद्रूप जीवों एवं अचिद्रूप समस्त जड पदार्थोंका समावेश होता है। इसी कारण जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं। सद्रूप ब्रह्मका कार्य भी सत् ही होना चाहिये। जगत् वस्तुतः ब्रह्मरूप है और अनन्तमूर्ति ईश्वरसे व्याप्त है। अतः समस्त भूतोंको ईश्वरका ही रूप मानकर उनके हितमे रत रहना चाहिये। गीताजी भी हमें 'सर्वभूतहिते रताः' रहनेकी ही आज्ञा देती हैं। अन्यत्र भी भक्तोंका लक्षण कहते हुए भगवान् यही कहते हैं कि भक्तको समस्त भूतोंके प्रति द्वेषरहित, सबका मित्र और दयालु होना चाहिये—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

अन्यत्र भी कहा है—

वैष्णवानां त्रयं कर्म सर्वजीवहिते रताः।
श्रीगोविन्दे परा भक्तिस्तदीयानां समर्चनम्॥

वैष्णवोंके तीन कर्तव्य हैं—सारे जीवोंके हितमें रत रहना, श्रीगोविन्दभगवान्में पराभक्ति करना और भगवदीय भक्तोंकी सेवा करना। श्रीबिहारिनदासजीने भी इसी भावका एक पद गाया है—

अब हौं कासों बैर करौं।
कहत पुकारत प्रभु निज मुखतें, घट-घट हौं बिहरौं॥
. . . .
प्रानी सकल समान त्रिलोको भक्तन अधिक डरौं।
बिहरिनदास हरिदास-कृपाबल नित निर्भय बिचरौं॥

प्रभुके नाते सर्वप्राणियोंके प्रति ममता रखना सीखिये। ऐसा करनेसे उनकी ओरका भय निवृत्त हो जाता है। सभी प्राणी प्रभुके अंश है, ऐसा समझकर उनसे प्रेम करना ही कर्तव्य है। ज्यों-ज्यों उनसे प्रेम बढ़ेगा, त्यों-ही-त्यों उन्हें मारने अथवा कष्ट पहुँचानेकी वृत्ति नष्ट होगी।

'निष्काम मत'

आचार्यश्रीके दोहेका दूसरा पद है 'निष्काम मत'। मनुष्यको चाहिये कि फल और आसक्तिका त्याग कर भगवान्की आज्ञाके अनुसार उन्हींके लिये कर्म करता रहे। ऐसा करनेसे उसके लिये कर्म बन्धनकारक नहीं होंगे। कर्म स्वरूपतः बन्धनकारक नहीं होते; उनमें जो हमारा राग-द्वेष होता है, वही बन्धनकारक होता है। फल और आसक्तिको त्याग करके कर्म करनेवालेमें राग-द्वेष नहीं होता; इसीलिये उसे कर्म बाँधते नहीं। गीताजीमें श्रीभगवान्का वाक्य है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥

'हे अर्जुन! जो पुरुष न तो किसीसे द्वेष करता है और न किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा करता है, उस निष्काम कर्मयोगी भक्तको सदा संन्यासी ही समझना चाहिये। क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसाररूपी बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

भगवान् फिर कहते हैं—

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

'जो पुरुष बिना प्रयत्नके मिले हुए पदार्थोंसे सन्तोष कर लेता है, सुख-दुःखसे परे हो गया है एवं ईर्ष्यासे रहित है, तथा जो सफलता और असफलतामें समान बुद्धि रखता है, वह कर्म करके भी उससे बँधता नहीं। तथा जो पुरुष सङ्गरहित अतएव मुक्त है, जिसका चित्त प्रभुके ज्ञानमें स्थिर हो गया है, तथा जिसके समस्त कर्म भगवान्के आज्ञानुसार भगवद्भजन अथवा भगवत्सेवारूपी यज्ञके लिये होते हैं, उसके समग्र कर्म नष्ट हो जाते हैं अर्थात् फल उत्पन्न नहीं करते।'

भगवान्की आज्ञासे भगवान्के लिये कर्म करनेवालेमें अहङ्कार भी नहींके बराबर ही हो जाता है। ऐसे निष्काम भक्त व्यवहारके समय भी भगवान्के शरण होकर भगवान्का भजन करते हुए उन्हींके आज्ञानुसार तथा उन्हींकी प्रीतिके लिये सब प्रकारके कर्म करते हैं। ऐसे पुरुषोंका सांसारिक वस्तुओंके प्रति राग अथवा द्वेष हो ही कैसे सकता है? ऐसे भक्त जन्मरूपी बन्धनसे छुड़ानेवाले मोक्षतककी इच्छा नहीं करते, सांसारिक पदार्थोंकी तो बात ही क्या है। श्रीमद्भागवतमें उद्धवजीके प्रति श्रीमुखका वाक्य है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

अर्थात् मेरे भक्त लोग मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य (भगवद्धाममें निवास), सार्ष्टि (भगवान्के समान ऐश्वर्य),

सामीप्य (भगवान्‌के समीप रहना) अथवा सायुज्य (भगवान्‌में लीन हो जानारूप) मुक्तिको देनेपर भी नहीं लेते ।

ऐसे निष्काम भक्तोंके लक्षण दासधर्मका आचरण करनेवालोंमें ही पाये जाते हैं । भगवान्‌की राजीमें राजी होना—उनके सुखमें ही सुख मानना (तत्सुखसुखित्वम्)—यही दासधर्म है । भगवान् अन्यत्र भी कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥

'जिसने अपने आपको मेरे अर्पण कर दिया है, वह मुझको छोड़कर न ब्रह्माके पदको चाहेगा, न इन्द्रासनकी इच्छा करेगा, न चक्रवर्ती-पदकी अभिलाषा करेगा और न पातालके राज्यकी कामना करेगा, न योगकी सिद्धियाँ चाहेगा और न जन्म-मरणसे रहित मोक्षपदकी ही अभिलाषा करेगा ।'

किसी भक्तने कहा है—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुरतु मे राधापदाब्जच्छटा
वैकुण्ठे नरकेऽथवा मम गतिर्नान्यास्तु राधां विना ।
राधाकेलिकथासुधाम्बुधिमहावीचीभिरान्दोलितं
कालिन्दीतटकुञ्जमन्दिरवरालिन्दे मनो विन्दतु ॥

'जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंमें श्रीराधिकाके चरणकमलोंकी छवि मेरे सामने नाचती रहे; श्रीराधिकाको छोड़कर वैकुण्ठमें अथवा नरकमें—कहीं भी मेरा दूसरा आश्रय न हो; मेरा मन श्रीराधिकाजीकी दिव्य लीला-कथारूपी सुधासमुद्रकी लहरोंमें झूलता हुआ श्रीयमुनाजीके तटवर्ती कुञ्जमन्दिरके सुन्दर अलिन्दपर सदा विहार करता रहे ।'

'बृंदावन बिश्राम'

तीसरा उपदेश है 'वृन्दावनमें वास करना ।' श्रीवृन्दावन श्रीराधाकृष्णका निजधाम होनेके नाते भक्तोंको अत्यन्त प्रिय है । पुष्कर, प्रयाग, काशी आदिकी 'तीर्थ' संज्ञा है; परन्तु श्रीवृन्दावन तो श्रीराधा-कृष्णका नित्यधाम अर्थात् लीला-निकेतन है । प्रकृतिमण्डलसे परे अक्षरब्रह्मके मध्य श्रीगोलोकधाम है, जो वेद-पुराणादिमें प्रसिद्ध है । उसको कितने ही व्यापिवैकुण्ठ भी कहते हैं । वही गोलोक श्रीवृन्दावनके नामसे इस भूमण्डलमें अवतीर्ण हुआ है । गङ्गाजीके आधिभौतिक जलप्रवाहके अंदर जैसे वे अपने मूर्तिमान् आधिदैविक रूपमें विराजती हैं—जिसे उनका कोई कृपापात्र भक्त ही, जिसकी उक्त दोनों स्वरूपोंमें भेदबुद्धि नहीं है, भक्तिकी आर्द्र दशामें दर्शन कर पाता है, उसी प्रकार अक्षरब्रह्मके अंदर श्रीवृन्दावन-धाममें परब्रह्म श्रीराधाकृष्ण अपने लीलासहचरोंके साथ नित्य विराजमान रहते हैं और अपने कृपापात्र रसिक भक्त-जनोंको भक्तिकी आर्द्र दशामें अपने उस दिव्य स्वरूपका दर्शन कराते हैं । वह वृन्दावन समस्त लोकोंका आदि है, अनादि है, सनातन है, चिद्‌घन है । महारसनायक श्रीप्रिया-प्रियतम नित्य किशोर द्विभुज गौरश्यामरूपमें वहाँ विहार करते हैं । वे सर्वोपरि हैं, आदि-अनादि हैं । विष्णु आदि सब अवतार उनकी फल-पुष्प-शाखाएँ हैं । उस वृन्दावनकी महिमामें गर्गसंहितामें निम्नलिखित कथा मिलती है—

भगवान् श्रीकृष्णने प्रयागनामक तीर्थको, जहाँ गङ्गा-यमुनाका सङ्गम होता है, सब तीर्थोंका राजा बनाकर तथा तीर्थराजकी पदवीसे विभूषित कर भूतलपर भेजा । भूमण्डलके सभी तीर्थ मूर्तिमान् होकर प्रयागराजको भेंट प्रदान करने आये, केवल व्रजमण्डल या वृन्दावन नहीं आया । इसपर प्रयागराज कुपित हुए और उन्होंने श्रीकृष्णके पास आकर वृन्दावनकी शिकायत की । तब भगवान्‌ने प्रयागराजको सान्त्वना देते हुए कहा कि 'हमने तुम्हें तीर्थोंका राजा बनाया है, कुछ अपने घरका राजा नहीं बनाया ।' भगवान्‌के ये वचन सुनकर प्रयागराज बड़े प्रसन्न हुए और क्रोधरहित होकर अपने स्थानको चले गये ।

श्रीवृन्दावनधामकी ऐसी अलौकिक महिमा है । इस समय भी भगवान् अपने कृपापात्र जनोंको इस महिमाका अनुभव कराते हैं । श्रीव्रजलालजी गोस्वामीने अपने सेवा-विचारनामक ग्रन्थमें लिखा है—

आलीभिर्ललितादिभिः परिवृता श्रीराधिका स्वामिनं
यत्रानन्दयति प्रियैः स्वचरितैः श्रृङ्गारलीलामयैः ।
सर्वर्तुप्रभवं सुखं च सततं वर्वर्ति यत्रालयं
तद्वृन्दाविपिनं विहाय मतिमानन्यत्र किं गच्छति ॥

अर्थात् श्रीराधिका अपनी ललितादि सखियोंसे परिवेष्टित होकर जहाँ अपने श्रृङ्गारलीलामय प्रिय चरित्रोंके द्वारा अपने प्रियतमको आनन्दित करती रहती हैं, जहाँ सभी ऋतुओंका सुख प्रलयपर्यन्त सदा बना रहता है, उस वृन्दावनको छोड़कर कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा जो किसी दूसरे स्थानमें जायगा ?

१ मकानके बाहरी द्वारके आगेका चबूतरा या छज्जा ।

'हृदयध्यान'

अब श्रीराधावल्लभलालके ध्यानकी बात कहते हैं। इसके पहले श्रीराधावल्लभलाल क्या और कैसे हैं, यह समझ लेनेकी आवश्यकता है। संसारके समस्त पदार्थोंके बल और सत्ताको यदि एकत्र कर लिया जाय, तो वह एकत्रित बल और सत्ता भगवान् श्रीराधावल्लभलालके बल और सत्तारूपी अनन्त सागरके एक क्षुद्र-से-क्षुद्र कणके भी बराबर नहीं होते। वस्तुतः समस्त बल और सत्ताके स्रोत श्रीराधावल्लभलालजी ही हैं। वे भगवान् ही सब सुखोंके मूल हैं। वे ही सबके उपादान और निमित्त कारण हैं, अखिल ब्रह्माण्डके स्वामी हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड, पञ्च महाभूत, सूर्य, चन्द्र, तारागण, समस्त देवी-देवता और सब प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धि उन्हींकी सत्ता-स्फूर्तिसे स्थित और उन्हींके अधीन हैं। इस प्रकार सबके नियन्ता एवं समस्त ऐश्वर्य, बल एवं सुखके पूर्णतम और अनन्त आकर होनेपर भी वे अत्यन्त दयालु और परम भक्तवत्सल हैं। वे भक्ताधीन हैं, दयाके निधान हैं। जो उन्हें प्रेमपूर्वक भजता है, बदलेमें वे भी उसे उसी प्रकार भजते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि जिसपर प्रभु प्रसन्न होते हैं, उसे सारा संसार नमन करता है। वे सर्वशक्तिमान् हैं। वे 'कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथाकर्तुं समर्थ' हैं। वे असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं। वे समस्त भूतोंके आत्मा, अन्तर्यामी एवं सर्वव्यापक हैं। वे ब्रह्मके भी अधिष्ठान अर्थात् मूल हैं। गीतामें भगवान् अपने श्रीमुखसे कहते हैं कि 'मैं ब्रह्मका, अव्यय मोक्षपदका, सनातन धर्मका और दुःखरहित सुखका आधार हूँ'—

> **ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।**
> **शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥**

प्रकृति श्रीहरिकी एक शक्ति है। सर्व जीव श्रीहरिके अंश हैं। श्रीहरि आनन्दके भंडार हैं, रसके समुद्र हैं, प्रेमकी खान हैं। वे माया, बुद्धि, मन इत्यादिके परे हैं। उनकी कलाको ब्रह्मा-विष्णु-महेशादि भी नहीं पहुँच सकते। वे सर्वोपरि हैं। वेद, स्मृति, पुराण तथा दर्शनादि शास्त्रोंसे भी प्रभुकी महिमा जानी नहीं जा सकती। वे विश्वात्मा, विश्ववन्द्य हैं। देवाधिदेव श्रीराधावल्लभलालकी लीलाका कौन वर्णन कर सकता है? संसारमें चर-अचररूप कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जो प्रभुसे शून्य हो। ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त जितने भी पदार्थ इस लोकमें अथवा अन्य लोकोंमें हैं, उन सबके रूपमें वे ही लीला कर रहे हैं। वे ही सृष्टिके कर्ता, भर्ता (पालनकर्ता) और संहर्ता (संहार करनेवाले) हैं। आदि, अन्त और मध्यमें श्रीहरि ही हैं। वे ही परम देवता हैं। वे ही परम पद हैं। वे ही परम मोक्ष हैं। उनकी महिमा अनन्त है। वे श्रीराधारमण हैं, श्रीराधाजीके अधीन हैं। मुरलीको धारण करते हैं। अष्ट सखियोंद्वारा परिसेवित हैं। नित्यकिशोर, निकुञ्ज-नायक, रसिकविहारी, नटनागर हैं। श्रीरंगीलालजी गोस्वामीने कहा है—

> **स्वीयानन्दप्रपूर्णं विमलरसमयं नित्यविज्ञानरूपं**
> **सद्वन्द्यं सर्वरम्यं विबुधगणवरैः शङ्कराद्यैरगम्यम्।**
> **वेदान्तस्वान्तगूढं निखिलभुवनसंसृष्टिरक्षान्तलक्ष्यं**
> **श्रीराधावल्लभाख्यं मम मनसि परं ब्रह्म संस्फूर्तिमीयात्॥**

'जो निजानन्द अर्थात् स्वरूपानन्दसे परिपूर्ण हैं, विशुद्ध रसमय हैं, नित्यविज्ञानरूप हैं, संतोंद्वारा वन्दनीय हैं तथा सबको आनन्द देनेवाले हैं, शङ्करादि श्रेष्ठ देवगणोंकी भी जहाँ पहुँच नहीं है, जो वेदान्तके हृदयमें छिपे हुए हैं तथा अखिल विश्वकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाले हैं, वे श्रीराधावल्लभ नामसे विख्यात परब्रह्म परमात्मा मेरे चित्तमें प्रकाशित हों।'

अब उन श्रीराधावल्लभलालके ध्यानकी बात कही जाती है। भगवत्प्राप्तिके साधनोंमें ध्यानकी सर्वत्र आवश्यकता है। गीतादि ग्रन्थोंमें तथा योगशास्त्र एवं भक्तिशास्त्रमें भी ध्यानकी आवश्यकता बतलायी गयी है। परन्तु आजकल साधकोंमें ध्यान बहुत कम लोग करते हैं, यह बात विचारणीय है। ध्यानमें अभ्यासकी आवश्यकता है। ध्यान अभ्याससे ही होता है। मनको भगवान्‌के चरणोंमें एकाग्र करनेका अभ्यास करना चाहिये। दृढ़ निश्चयपूर्वक ध्यानका अभ्यास करनेसे उसमें अवश्य उत्तरोत्तर सफलता मिलती है। संसारका चित्र हृदयसे निकालने और उसके स्थानमें भगवान्‌की सगुण मूर्ति स्थापित करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। मनद्वारा भगवान्‌का स्वरूप स्थिर हो जानेपर मनको उसके अंदर इस प्रकार अविचलभावसे स्थिर कर देना चाहिये कि भगवान्‌के अतिरिक्त संसारका अथवा अपना बिल्कुल भान न रहे। जबतक ध्यानकी ऐसी गाढ़ स्थिति न हो जाय, तबतक अभ्यास छोड़े नहीं। ध्यान लग जानेपर तो उसमें ऐसा आनन्द आने लगेगा कि फिर छोड़नेसे भी नहीं छूटेगा। ऐसी स्थिति हो जानेपर चित्तमें अपूर्व शान्तिका अनुभव होगा और हर्षका पार नहीं रहेगा। एक इष्टमूर्तिके सिवा

और सबका अभाव हो जाना चाहिये। यही सर्वोत्तम ध्यान है। इस प्रकारका ध्यान ही सब साधनोंका फल है। सेवा, भजन, कीर्तन आदि जो कुछ भी किया जाता है, ध्यानके लिये ही किया जाता है। भगवान् मेरे सेव्य हैं और मैं उनका सेवक हूँ—ऐसा भाव स्थिर कर अविच्छिन्नरूपसे संसार और अपनेको भुलाकर मनसे उनकी सेवा होती रहनी चाहिये। इसीको मानसिक सेवा अथवा सर्वोपरि ध्यान कहते हैं। इस प्रकार अटल भावसे प्रभुमें वृत्तियोंका स्थिर हो जाना ही सबसे बड़ा लाभ है। जिस भाग्यवान् पुरुषकी ऐसी स्थिति हो जाती है, उसकी अपनी मुक्तिकी तो बात ही क्या है, वह दूसरोंको भी मुक्त कर सकता है। भक्तिमार्गमें भी ध्यानकी ही प्रधानता है। भगवान्‌ने गीताजीमें जहाँ-जहाँ भक्तिकी महिमा कही है, वहाँ-वहाँ ध्यानका बड़ा महत्त्व दिखलाया है। भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

'सब प्रकारके योगियोंमें जो मुझमें चित्तको निवेशित कर श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है, वह सबसे अधिक युक्त है।'

'मुख नाम'

ऐहिक और पारलौकिक कल्याण चाहनेवाले सभी मनुष्योंको नित्य श्रीहरिका भजन करना चाहिये। परन्तु बड़े आश्चर्यका विषय है कि विद्वान् मनुष्य ऐसा जानते और समझते हुए भी प्रभुको नहीं भजते। नित्य निरन्तर प्रभुका अनन्य भजन होना ही शरणागतिका प्रधान लक्षण है। जो कोई किसी फलकी कामनासे भजन-स्मरण करता है, उसका अधम भाव समझा जाता है। जो भजन भजनके लिये ही होता है, वही सर्वोत्तम है। जिस तरह जीवनधारणके लिये श्वास लेना अत्यावश्यक एवं स्वाभाविक है, उसी तरह भजन-कीर्तन भी हमारे लिये आवश्यक और स्वाभाविक बन जाना चाहिये। रसिकशिरोमणि श्रीसेवकजी कहते हैं—

यह जु परयो मोहि सहज सुभाव। श्रीहरिवंश नाम रस चाव॥

वेद भी कहता है—

'यो यदंशः स तं भजेत्'

अर्थात् जो जिसका अंश है, उसे उसका भजन करना चाहिये। जीव परमात्माका अंश है, इसलिये उसे परमेश्वरकी भक्ति करनी ही चाहिये। सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते—सब समय श्वास-प्रश्वासकी क्रियाके समान भजन-स्मरण होता ही रहना चाहिये। भजनमें एक क्षणका भी विराम उचित नहीं है। एक क्षणके लिये भी भगवन्नामका विस्मरण होनेपर साधकपर असुरका आवेश हो जाता है, ऐसा पण्डितजन कहते हैं। शास्त्रोंमें श्रीहरिनामका माहात्म्य इतना अधिक कहा गया है कि उसका अन्त नहीं है। कलियुगमें तो भगवान्‌का नाम ही कल्याणकारक है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

अर्थात् सत्ययुगमें भगवान् नारायणका ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें उनकी सेवा-पूजा करनेसे जो फल मिलता है, कलियुगमें भगवान्‌के नाम-कीर्तनसे वही फल प्राप्त होता है।

भजनका अभ्यास ऐसा दृढ़ होना चाहिये कि यदि किसी कारणसे कभी नामका विस्मरण हो जाय, तो ऐसी व्याकुलता हो कि जिसके कारण हमारा दम घुटने लगे—'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।' (नारदभक्तिसूत्र)

भजनमें दूसरी आवश्यक बात है अनन्यता। अपने प्रभुके सिवा दूसरेके अस्तित्वकी कल्पना भी चित्तमें न आवे, इसीका नाम है अनन्य भजन। इस प्रकार अनन्य चित्तसे भजन करनेवालेके लिये, भगवान् कहते हैं कि मैं सुलभ हो जाता हूँ। गीताजीमें श्रीमुखका वचन है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

इस प्रकारके भक्त किसी भी लोभसे क्षणमात्रके लिये भी भजनका त्याग नहीं करते और अपने इष्टके सिवा दूसरेका भजन नहीं करते। (अपूर्ण)

श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायकी उपासना-पद्धति

(लेखक—दैवज्ञप्रवर स्वामी श्रीमनोरथरामजी रामस्नेही शास्त्री, साहित्यभूषण)

भक्तिके पथको सुगम और प्रशस्त करनेके लिये महाप्रभु स्वामी श्रीरामचरणजी महाराजने शाहपुरामें श्रीराम-स्नेही-सम्प्रदायकी स्थापना की, साथ-ही-साथ भक्तियोगके प्रतिपादनार्थ स्वकीय अनुभवयुक्त वाणीद्वारा दोहा-चौपाइयों-में 'शब्दप्रकाश' नामक ग्रन्थका निर्माण किया तथा उसपर ब्रह्म रामकी उपासना-विधि बतलायी, जिनके ध्यानमें शङ्कर *तथा शेषजी सदा लीन रहते हैं तथा जिनके नामकी* महिमा महर्षि अगस्त्यजीने अगस्त्यसंहितामें सुतीक्ष्णजीके प्रति इस प्रकार वर्णन की है—

सप्तकोटिमहामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकाः ।
एक एव परो मन्त्रो राम इत्यक्षरद्वयम् ॥

अर्थात् महामन्त्र तो सात करोड़ हैं, परन्तु वे चित्तमें [यह मन्त्र श्रेष्ठ है या वह— इस प्रकारका] विभ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं। 'राम' यह दो अक्षरोंका महामन्त्र ही सबसे श्रेष्ठ है। इसी प्रकार अथर्ववेदके रामरहस्योपनिषद्में भी कहा है—

एतेषु चैव सर्वेषु तत्त्वं च ब्रह्म तारकम् ।
राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः ॥
राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्म तारकम् ॥

अर्थात् समस्त धर्मग्रन्थोंका तत्त्व तारक ब्रह्म ही है। और वह तारक ब्रह्म राम है। राम ही परब्रह्म है, राम ही परम तप है और राम ही परम तत्त्व है।

इस प्रकार परब्रह्म रामकी महिमासे धर्मग्रन्थ भरे पड़े हैं। यहाँ अधिक वचनोंका उल्लेख करना सम्भव नहीं है। इसलिये अब हम परब्रह्म रामकी उपासना-पद्धतिरूप 'शब्द-प्रकाश' नामक ग्रन्थके मूल वचनोंको ही उद्धृत कर लेख समाप्त करेंगे। उस ग्रन्थमें महाप्रभु स्वामी श्रीरामचरण-जी महाराजने परब्रह्म रामकी उपासना-पद्धति इस प्रकार बतायी है—

रामनाम तारक मंत्र, सुमिरै संकर सेस।
रामचरण साचा गुरु देवै यह उपदेस ॥ १ ॥
सतगुरु बकसै रामनाम, सिष धारै बिस्वास।
रामचरण निसिदिन रटै तो निस्चय होय प्रकास ॥ २ ॥

अब सुनियो सब साधु सुजाना। रामभजन का करूँ बखाना॥
प्रथम नाम सतगुरु से पाया। श्रवणा सुनके नेह उपजाया ॥ १ ॥
पुनि रसना की श्रद्धा जागी। राम रटन निसिबासर लागी ॥
दूजी आसा सकल बुहारी। (तब)राम नाम में सुरत ठहारी॥ २ ॥
पद्मासन निस्चल मन कीया। नासा निरत धार घर लीया ॥
स्वास उस्वासा ध्वनी लगाई। आरत करके बिरह जगाई ॥ ३ ॥
रसना अग्र खुली इक सीरा। परथम वाको पय सो नीरा ॥
रटतॉं रटताँ भयो मिठास। हर्ष भयो आयो बिस्वास ॥ ४ ॥
कई दिवस रसना रस गटक्यो। पीछे सब्द कंठमें अटक्यो ॥
कंठ स्थान बहुत कठिनाई। मुख सूँ बचन न बोल्यो जाई ॥ ५ ॥
खान पान पै रुचि रै थोरी। मारग रुक्यो जाय कह बोरी ॥
छीन सरीर त्वचा सकुचानी। नीली नस दीसे झलकानी ॥ ६ ॥
पीरो बदन नेतरॉं लाली। मुकुर ज्योति ज्यों दिपै कपाली ॥
चले कमकमी हूँ थर्रावे। छाती रुँधे स्वास नहिं आवै ॥ ७ ॥
ऐसी बिधि बिरही की होई। बिरह जान कै सतगुरु सोई ॥
एक दिवस ऐसी बन आई। सब्द सरक गयो हिरदय माई ॥ ८ ॥
परम सुक्ख हिरदै परकासा। ज्यूँ रवि कीन्हों तम को नासा ॥
सहजै सुमिरन हिरदै होई। बाहिर भेद न जानै कोई ॥ ९ ॥
सोवत जागत डोरी लागी। बन बस्ती की संका भागी ॥
रसना जाप अजप्पा पाया। बाहिर साधन सकल बिलाया ॥ १० ॥
जाग्यो प्रेम नेम रह्यो नाहीं। पाई राम धाम घट माहीं ॥
उर अस्थान पाय बिश्रामा। सब्द किया जाय नाभि मुकामा ॥ ११ ॥
नाभि कमल में सब्द गुँजारे। रोम से नाभी मंगल उचारै ॥
रोम रोम झणकार झुणक्कै। जैसे जंतर तॉंत ठुणक्कै ॥ १२ ॥
माया अन्दर इहाँ बिलाया। ररंकार इक गगन सिधाया ॥
पश्चिम दिसा मेरु की घाटी। बीसों गाँठ घोर सें फाटी ॥ १३ ॥
त्रिकुटी संगम किया सनाना। जाय चढ्या चौथे अस्थाना ॥
जहाँ निरंजन तख्त बिराजै। ज्योति प्रकास अनंत रवि राजै ॥ १४ ॥
अनहद नाद गिणत नहिं आवै। भॉंति भॉंति की राग उपावै ॥
स्रवै सुषुम्ना नीर पँढारा। सून्य सिखर का यह बिवहारा ॥ १५ ॥
हीरे पन्ना मोती-सा ढलकै। जाकी ज्योति अरुन-सी झलकै ॥
सागर जहाँ बिना घर भरिया। हंसा बास तास मध करिया ॥ १६ ॥
सुखमण मोती करै अहारा। निज हंसा का यह ही चारा ॥
सुन सायर हंसा का बासा। भवसागर सुख भया उदासा ॥ १७ ॥

दरिया सुखको अंत न आवै । छीलर काल बाज झपटावै ॥
सुखसागर मिल सुख पद पाया । सो सन्दाँ में कह समझाया ॥१८॥
बिन देख्याँ परतीत न आवै । तासूँ कैसे भेद बतावै ॥
अर्ध उर्व कमल जहाँ फूल्या । भँवर रूप होय हंसा झूल्या ॥१९॥
भँवर गुँजार गगन गिरणाया । होय मस्त अलि तहाँ लुभाया ॥
ऐसो पद बिरला जन पावै । सो भवसागर नाहीं आवै ॥२०॥
राम रट्याँको यह परकासा । मिल्या ब्रह्मपद भव भयानासा॥
रामचरण कोइ राम रटैगा । सो जन एही धाम लहैगा ॥२१॥
रामनाम निसिबासर रासी । सो नर भवसागर तिर जासी ॥
रामनाम बिन आन उपाई । ज्यूँ दूल्याँ का खेल कराई ॥२२॥
बालक बेडू मँदिर बणाया । तामें बस कूने सुख पाया ॥
रामभजन बिन झाठी करणी । ज्यूँ बिन बीज सुधारी धरणी ॥२३॥
राम बीज साधन हल हाँकै । तो रामचरण खेती फल पाकै ॥२४॥

बरणि कह्यो संछेप मे दरिया के सो पार ।
निज परमी या धामकूँ (सो) कीज्यो मंत बिचार ॥ १ ॥

रामचरण रट रामनाम पाया ब्रह्म बिलास ।
ई साधन कोइ लागसी (जाके) होसी सब्द प्रकास ॥ २ ॥

—इत्यादि । इन वचनोंका अर्थ भलीभाँति समझकर जो बुद्धिमान् पुरुष उपर्युक्त उपासना-पद्धतिके अनुसार परम पुनीत भक्तियोगकी साधना करेंगे, वे निश्चय ही मायाके समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर संसारसागरको गोपदकी तरह अनायास पार कर जायँगे और परब्रह्म श्रीरामरूप होकर उनकी सायुज्य-मुक्तिको प्राप्त करेंगे । फिर उनको श्रुतिके 'न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते' इस वचनके अनुसार कभी भी संसार-चक्रमें फँसकर जन्म-मरणादिके कष्टोंका अनुभव नहीं करना पड़ेगा। यद्यपि 'शब्दप्रकाश' में ईश्वरोपासना-का विस्तार बहुत है और ग्रन्थका अर्थ समझाना भी आवश्यक था, परन्तु विस्तारभयसे इस लेखको यहीं समाप्त किया जाता है । श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायकी उपासना-पद्धतिका संक्षिप्त स्वरूप यही है ।

विजयकृष्ण-कुलदानन्दकी नाम-साधना

(लेखक—श्रीनरेश ब्रह्मचारी)

युगप्रवर्तक विजयकृष्ण-कुलदानन्दकी 'नाम-साधना' जगद्वासियोंकी एक अमूल्य सम्पद् है । यह नवीन नहीं, अति प्राचीन है । स्वयं श्रीभगवान् नारायण इस साधनाके प्रवर्तक हैं । श्रीभगवान् विष्णुके नाभि-कमलसे उत्पन्न होकर ब्रह्माजीने जो साधन किया था, 'तपस्तप' वाणी श्रवणकर उन्होंने जिस प्रकारसे तत्त्व जाननेके लिये चेष्टा की थी, वह वही साधना है । देवादिदेव महादेव, देवर्षि नारद, दत्तात्रेय, वसिष्ठ, ध्रुव, प्रह्लाद आदि महायोगीश्वर तथा ऋषि-मुनिगणोंने श्रीभगवान् नारायणद्वारा प्रवर्तित इस अपरूप 'नाम-साधन'-द्वारा ही 'उनको' प्राप्त किया था । यह साधन आदिवैदिक किन्तु गुरुमुखी है; 'श्रीमद्भागवत', 'श्रीमद्भगवद्गीता' आदि शास्त्र-ग्रन्थोंमें अति संक्षेपसे इसका उल्लेखमात्र है, पद्धति कहीं लिखी नहीं है । अनादि कालसे यह 'नाम-साधन' अति गोप्यरूपसे गुरुपरम्परया चला आ रहा है । चिरकालसे यह मुनि-ऋषियोंके अंदर हिमालयमें ही था । कलिपावनावतार भगवान् श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने बङ्गदेश-नवद्वीपमें अवतीर्ण होकर कृपापूर्वक यह असाधारण शक्ति-समन्वित 'नाम-साधन' जीव-जगत्‌के परम कल्याणके हेतु अपने कतिपय अन्तरङ्ग शिष्योंको दान किया था । नानक, कबीर, तुलसीदास प्रभृति महापुरुषोंने इस 'नाम-साधन' प्रणालीका अवलम्बन करके सिद्धि लाभ की थी । उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यभागमें जब धर्मकी ग्लानि उपस्थित हुई थी, स्वेच्छाचार और व्यभिचारसे देश म्लान हो पड़ा था, साम्प्रदायिकताकी सङ्कीर्णतामें पड़कर समग्र मानव-जातिके भीतर जब एक तुमुल द्वन्द्व आ उपस्थित हुआ था, तब एक शुभ क्षणमें नदिया-शान्तिपुरके गौराङ्गदेवको लानेवाले ठाकुर, महाविष्णुके अवतार, श्रीअद्वैतप्रभुके वंशमें आविर्भूत अतिमानव विजय-कृष्णने हिमालय मानस-सरोवर (स्कन्दपुराणान्तर्गत मानस-सरोवर) के वासी महायोगी परमहंस ब्रह्मानन्दजीसे गया-आकाशगङ्गा पहाड़में यह अप्राकृत शक्तियुक्त 'नाम-साधन' प्राप्त किया था एवं थोड़े ही समयके भीतर साधनामें सिद्धि-लाभ करके भारतमें सर्वत्र तथा दूर सागरपारके नाना जाति और सम्प्रदायोंके साधारण मानव-समुदायको ही नहीं, वरं महात्मा महापुरुषोंको भी इस 'नाम-साधना'का दान करके जीव-जगत्‌को कृतार्थ और धन्य किया था ।

इस अजपा 'नाम-साधना' का वैशिष्ट्य

असामान्य शक्तिसम्पन्न महापुरुष गोस्वामी विजयकृष्ण-

जीने अपने अन्तरङ्ग, नित्यसङ्गी, प्रिय शिष्य, नैष्ठिक ब्रह्मचारी कुलदानन्दको अपनी विशेष शक्तिसे शक्तिमान् बनाकर यह अनुपम 'नाम-साधन' प्रार्थियोंको दान करनेका आदेश किया था। हिंदू, मुसलमान, क्रिस्तान और विभिन्न धर्म-सम्प्रदायोंके अनेकानेक व्यक्तियोंने इस 'नाम-साधना' का आश्रय लेकर आत्माका परम कल्याण-साधन कर उन्नतिके सर्वोच्च शिखरपर आरोहण किया है। यह 'नाम-साधन' अजपा है, गुरुमुखसे ग्रहण करना पड़ता है। इस साधनाका विशेषत्व है 'श्वास-प्रश्वाससे नाम-जप'। साधन-कौशल गुरुसे सीखना ही विधि है, भाषामें लेखनीद्वारा समझाना असम्भव एवं निषिद्ध है। धर्म-पिपासुजनोंके अल्पाधिक ज्ञान और धारणाके लिये जहाँतक प्रकाश करना सम्भव है, उतना ही समझानेका प्रयास किया जा सकता है।

श्वास-प्रश्वाससे 'नाम-साधन' का वैज्ञानिक रहस्य

इस साधनके क्रिया-रहस्य बड़े ही चमत्कृतिजनक हैं और देह-तत्त्वसमन्वित तथा मनोविज्ञानसम्मत हैं। श्वास-प्रश्वास ही देहका प्राण है। प्राणके रहनेसे आत्माका निवास है। देहके साथ आत्मा विशेष सम्बन्धसे जड़ित है। आत्मामें ही मन है। श्वास-प्रश्वासके साथ मनका विशेष सम्बन्ध है। आत्मा परमात्माका अंश—परमात्मा है। कारण, भगवान्‌का अर्थ है—सर्वैश्वर्यशाली अर्थात् 'सम्पूर्ण'; और सम्पूर्णका अंश नहीं होता। महासमुद्रका जल भी जल है, एक बूँद जल भी जल ही है। एक बूँद जल जिन वस्तुओंकी समष्टि है, महासमुद्रके जलमें भी वे ही सब पदार्थ वर्तमान हैं। इस भावसे परमात्माका अंश आत्मा पूर्ण है—परमात्मा ही है। यह जो जीवात्मा है, वह संस्काराच्छन्न है। इस संस्काराच्छन्न आत्माके संस्कारोंका पिण्ड ही देह है। देहका प्रत्येक अणु-परमाणु—रस, रक्त, मास, मेद आदि समस्त ही संस्कारानुयायी और संस्कारमय हैं। श्वास-प्रश्वास इस देहका शोधन करते हैं। श्वास जिसे हमलोग ग्रहण करते हैं, जो विशुद्ध वायु है, जिसमें 'आक्सीजन' (Oxygen) अधिक रहता है, फेफड़ा (Lungs) में जाकर रक्तको 'आक्सीजिनेटेड' (Oxygenated) करता है और साथ ही तुरंत शरीरकी एक-एक शिरामें जाकर ७२ हजार नाड़ियोंमें घूमकर रक्त शोधनानन्तर देहका जितना मल (Carbon-di-oxide) है, उसे लेकर प्रश्वासरूपसे बाहर चला आता है। यही श्वास-प्रश्वासका काम है। रक्तकी क्रिया स्थूलतः देहके ऊपर एवं सूक्ष्मतः मनके ऊपर होती है। रक्तके अनुसार शरीर और मन बनता है। रक्त गरम होनेसे मन भी विकृत हो जाता है। रक्त जितना ही शुद्ध होता है, मन भी उतना ही शुद्ध और पवित्र होता है। इस प्रकार देहके साथ मनका सम्बन्ध है। इस श्वास-प्रश्वासके साथ 'श्रीभगवान्‌के नाम' का योग करना पड़ता है। 'नाम' का श्वासके साथ परिचय कराकर उसे सङ्ग लगा देनेसे 'नाम' श्वासके साथ जाकर ७२ हजार नाड़ियोंमें पूर्वोक्त प्रणालीसे घूमकर, रक्तको पवित्र करके प्रश्वासके साथ लौट आता है। श्वास रक्तको शुद्ध करता और नाम उसे परम पवित्र करता है। इस शुद्ध, पवित्र और नाममय रक्तकी क्रिया मनके ऊपर होकर मनको शुद्ध, सात्त्विक, पवित्र और 'नाममय' करती है। इस प्रकार अभ्यासद्वारा श्वास-प्रश्वासके साथ मनकी मित्रता हो जानेके कारण नाम-प्रेमी मन 'नाम' सहित क्रमशः स्वभावतः श्वास-प्रश्वासमें निविष्ट होता है। इस प्रकारसे श्वास-प्रश्वाससे युक्त होकर 'नाम' अपने-आप चलता रहता है। *साधकको उस समय 'नाम' का जप नहीं करना पड़ता*, 'नाम' का जप स्वभावतः आप ही होता रहता है। यही 'अजपा' साधन है। उपर्युक्त प्रणालीके अनुसार साधनद्वारा संस्कारमय देह और मन तथा संस्काराच्छन्न आत्मा क्रमशः श्रीभगवन्नाममय होकर 'अहं'-संस्कारसे मुक्त हो जाते हैं।

इस अजपा-साधनका लक्ष्य और ध्यान

इस साधनमें पृथक् ध्यान-विधि नहीं है। ध्यानकी कोई विशेष मूर्ति इस साधन-पद्धतिमें नहीं है। इस अजपा-साधनका लक्ष्य स्वयं श्रीभगवान् हैं। 'भग' का अर्थ है ऐश्वर्य। भगवान् षडैश्वर्यपूर्ण हैं अर्थात् जिनमें समस्त ऐश्वर्य पूर्णरूपसे स्थित है, वे ही श्रीभगवान् हैं। पराशान्ति-लाभ ही जीवोंका उद्देश्य है। अभाव ही दुःख है—अशान्ति है। 'सम्पूर्ण' को पाये बिना अभाव नहीं मिट सकता। यह 'सम्पूर्ण' श्रीभगवच्चरण-प्राप्ति है, वही पूर्ण शान्ति या परा शान्ति है। उनका रूप ही है सर्वैश्वर्य। 'सर्व' के बाद फिर रूप और क्या बच रहा, परन्तु साधारण जीवकी अनुभूति जीवश्रेष्ठ मनुष्यतक ही है। अतः मानवरूपमें दर्शन न देनेसे उनका अनुमान या धारणा करना जीवके लिये असम्भव, साध्यातीत है। निर्गुण निराकारका भजन नहीं हो सकता। इसलिये रूपका आश्रय करना पड़ता है। वे अनन्त हैं, उनके रूप भी अनन्त हैं। उनका कोई एक रूप नहीं है। किस रूपका आश्रय करना

होगा, यह स्थिर करना कठिन है। वे किस रूपमें कब दर्शन देंगे, यह कौन कह सकता है? इस कारण इस साधनमें रूप या मूर्तिका ध्यान नहीं है। अतः 'नाम' का आश्रय करना ही सहज उपाय है। 'नाम' का आश्रय करनेसे 'नाम' में ही 'नामी' अर्थात् श्रीभगवान्‌का सन्धान मिलता है—रूप-दर्शन होता है। 'नाम' हीमें 'नामी' का रूप रहता है। 'नाम' ही 'नामी' का रूप या मूर्ति है। 'नाम', 'नामी' एक हैं। 'नाम'-साधनकालमें श्रीभगवान् कृपापूर्वक अपनी अनन्त विभूतियों—अनन्त रूपोंमेंसे जिस रूपमें दर्शन दें, उसीका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पूजन-प्रणमन करना होता है। आसक्त या आबद्ध नहीं होना चाहिये - धैर्यके साथ 'नाम'-साधन-पथ अवलम्बन करके अग्रसर होना चाहिये। 'नाम'-साधन करते रहना चाहिये। अन्यथा लक्ष्यपर पहुँचनेमें विलम्ब हो सकता है।

अजपा-साधक प्रथमतः श्वास-प्रश्वासमें 'नाम'-जपका अभ्यास करता है। साधनकी अवस्थामें साधकको कभी-कभी नाममें अरुचि पैदा हो जाती है, 'नाम' नीरस—शुष्क प्रतीत होता है। नाम-जप ही इस रोगकी ओषधि है। जैसे पित्त रोगकी ओषधि मिश्री है, पित्तदोषसे विकृत जीभको आरम्भमें मिश्री भी कड़वी ही लगती है, फिर भी मिश्री ही खानी पड़ती है, पीछे ज्यों-ज्यों पित्तदोषका नाश होता है त्यों-त्यों क्रमशः वह मीठी लगने लगती है; वैसे ही नाममें अरुचि होनेपर प्रयत्नपूर्वक 'नाम'-जप ही करते रहनेसे क्रमशः 'नाम' अच्छा लगने लगता है—'नाम'में रुचि होती है और 'नाम' सरस-मधुर प्रतीत होता है। इस प्रकार श्वास-प्रश्वासके साथ 'नाम'-जप करते-करते 'नाम' श्वास-प्रश्वासके साथ घुल-मिल जाता है। तब श्वास-प्रश्वास 'नाम' छोड़कर और काम कर ही नहीं सकते। 'नाम' के लिये भी श्वास-प्रश्वासका सङ्ग त्याग करना सम्भव नहीं होता। उस समय श्वास-प्रश्वास ही 'नाम' और 'नाम' ही श्वास-प्रश्वास हो जाता है। 'मैं 'नाम'-जप कर रहा हूँ', यह अनुभव या बोध भी नहीं रहता। श्वास-प्रश्वास चलनेसे 'नाम' चलता रहता है। इस प्रणालीके अनुसार 'नाम'-जपका अभ्यास करनेसे प्राणायामकी क्रिया अपने-आप होती रहती है। क्रमशः मनका चाञ्चल्य नष्ट हो जाता है, चित्त-वृत्तिका निरोध होकर मन स्थिर हो जाता है। मन स्थिर होनेसे श्वास-प्रश्वास भी स्थिर होकर कुम्भक हो जाता है। क्रमशः 'नाम'-जप बंद होता है। फिर 'नाम' और नहीं चलता—'नाम'-जप नहीं होता। साधक उस समय 'नाम'-दर्शन करता है। इस तरह 'नाम-धारणा' 'नाम-ध्यान' में पर्यवसित होती है। यह कुम्भक स्थायी—पक्का होनेसे क्रमशः संस्कारमुक्त होकर अन्नमय आदि पञ्चकोषोंके भेदके बाद 'नाममय हम' और 'नाममय नामी' का भिन्न बोध रहनेतक सविकल्प और अभिन्न होनेपर 'नामी' अर्थात् श्रीभगवान्‌की सम्पूर्ण शरणागति होनेपर निर्विकल्प-समाधि या पराशान्ति प्राप्त होती है। यही वैष्णवोंका श्रीभगवान्‌के श्रीचरणोंमें आत्मसमर्पण, योगियोंकी निर्विकल्प समाधि और बौद्धोंका निर्वाण है। किन्तु इन सबका मूल है श्रीभगवान्‌की कृपा। कातरभावसे उनकी ओर ताकते हुए उनके भुवन-मङ्गल जग-पावन 'नाम' को श्रद्धापूर्वक लेते रहनेका प्रयत्न करना चाहिये—उनसे प्रेम करना चाहिये।

इस अजपा 'नाम'-साधनाका अवलम्बन करके तपस्या करनेसे सर्वप्रथम आत्माका संस्कार-आवरण कभी-कभी भगवत्-कृपासे हट जाता है एवं महापुरुष और देव-देवियोंके दर्शन होते हैं। परन्तु इससे हृदयका कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। कुल-देवता अथवा साधक जिन देवतासे प्रेम करता है, उन्हींका पहले-पहल प्रकाश होता है। अनन्तर साधनके उत्कर्षके साथ-साथ वेद-पुराणादि समस्त शास्त्र कैसे बने हैं, सृष्टि किस तरहसे हुई है—इत्यादि रहस्य प्रकट होते हैं और धीरे-धीरे आत्मा माया या संस्कारसे मुक्त हो जाता है। समस्त 'नामी'मय, 'ब्रह्म'मय हो जाता है। क्रमशः भगवल्लीलाके दर्शन होते हैं। साधक और सिद्धकी इन सब अवस्थाओंको भाषामें व्यक्त करना असम्भव है। आर्य ऋषिगण इसीको 'अवाङ्मनसगोचर' कह गये हैं। बुद्धदेवकी भाषामें यही 'अचिन्तेयानि' और 'अचिन्तितव्यानि' है अर्थात् जो चिन्ताका विषय नहीं है—जिसका चिन्तन किया नहीं जा सकता। श्रीभगवान् ही चरम लक्ष्य हैं।

इस 'नाम-योग' के साथ 'हठयोगादि' का सम्बन्ध-निर्णय

श्वास-प्रश्वासकी क्रिया फेफड़े, हृदय तथा समस्त रक्त-वाहिनी नाड़ियोंके अंदर रक्तके ऊपर होती है और इससे शरीरके प्रत्येक अणु-परमाणुमें भी इसकी क्रिया होती है। गुरूपदिष्ट प्रणालीके अनुसार इस आशुफलप्रद श्वास-प्रश्वास-

प्रयुक्त 'नामयोग' के अभ्याससे क्रमशः हठयोग तथा राजयोगादि सब प्रकारकी योगक्रियाएँ स्वभावतः होती हैं और क्रियाका फल भी देख पड़ता है। कुछ साधारण नियमोंका पालन करके प्रक्रियाके अनुसार यह नाम-साधन करनेसे ब्रह्मचर्य-साधनादि अति सहजमें सध जाते हैं। कठोर ब्रह्मचर्य-व्रतादि साधनका कोई प्रयोजन नहीं होता। किसी प्रकारकी हठयौगिक सहजोली-वज्रोली आदि मुद्राओंकी किञ्चिन्मात्र सहायता बिना ही इस 'नाम'-साधनके द्वारा सुषुम्नापथ अति अल्पायाससे परिष्कृत होकर साधक ऊर्ध्वरेता हो सकता है। सुप्त कुलकुण्डलिनी-शक्तिको जागरित करके, षट्चक्र भेदकर आज्ञाचक्रस्थ पुरुषके साथ योग करानेकी इसमें अमोघ शक्ति है। यह प्रकृति-पुरुषयोग होनेसे शक्तिमान् 'नाम'योगी उसी 'नाम' का आश्रय करके ही श्रीभगवान्‌के स्थान महाशून्यस्थित सहस्रारमें उनके श्रीचरणको प्राप्त करते हैं।

शरीर नीरोग तथा स्वस्थ रखनेके लिये एवं इस 'नाम'-साधनाके सहायकस्वरूप एक प्रकारके गुरुमुखी प्राणायाम और आसन, कुम्भक, त्राटक (पञ्चभूतमें दृष्टि-साधन) प्रभृति कई प्रकारकी योगक्रियाएँ साधककी अवस्था और प्रयोजनके अनुसार श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्द दान कर गये हैं।

नाम-साधकोंके प्रति अमूल्य उपदेश

गोस्वामी विजयकृष्णजीने वङ्गदेशान्तर्गत ढाका–गेंडारिया आश्रमस्थित अपने साधन-कुटीरकी दीवारपर 'नाम' साधनके समय 'नाम' में रुचि उत्पन्न करनेमें सहायक जो अनेक उपदेश लिख रक्खे थे, वे नीचे दिये जाते हैं*—

'ऐसा दिन नहीं रहेगा।'

(१) अपनी बड़ाई मत करो। (२) दूसरोंकी निन्दा मत करो। (३) अहिंसा परमो धर्मः (अहिंसा परम धर्म है)। (४) सब जीवोंपर दया करो। (५) शास्त्र और महापुरुषोंपर विश्वास करो। (६) शास्त्र और महापुरुषोंके आचारके साथ जिसका मेल न हो, उस कामको विषवत् त्याग दो। (७) नाहङ्कारात् परो रिपुः। (अहङ्कारसे बढ़कर शत्रु नहीं है।)

सत्यरक्षा और वीर्यधारणके विषयमें गोस्वामी विजयकृष्णजीने साधकोंको विशेषरूपसे सावधान किया है। वीर्यधारण शरीर-रक्षाके विषयमें जैसा सर्वप्रधान कारण है, सत्य भी आत्मरक्षाके लिये वैसे ही अत्यावश्यक है।

शम, सन्तोष, विचार और सत्सङ्गकी आवश्यकता

(१) मनकी साम्यावस्थाको ही 'शम' कहते हैं। (२) सर्वदा सर्व विषयमें सन्तुष्ट रहना ही 'सन्तोष' है। (३) सदा सब अवस्थाओंमें अच्छे-बुरे, सत्-असत्‌का विचार करना ही प्रकृत विचार है। श्रीभगवान्‌को लक्ष्य करके जो कुछ भी किया जाता है वही सत् है, उसके अतिरिक्त सब असत् है। (४) श्रीभगवान् ही सत् तथा श्रीभगवत्सङ्ग ही सत्सङ्ग है। भगवदाश्रित साधु-सज्जनोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग है। सद्ग्रन्थ और शास्त्रादिका पाठ भी सत्सङ्ग है। इस तरहसे ऋषियोंका ही सङ्ग होता है।

इन नियमोंके साथ-साथ और भी चार नियम पालन करनेका उपदेश श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्द दे गये हैं—स्वाध्याय, तपस्या, शौच और दान।

(१) स्वाध्याय केवल अध्ययन नहीं, गुरुदत्त इष्ट मन्त्र या नामका श्वास-प्रश्वाससे जप करना—यही यथार्थ स्वाध्याय है। (२) सब अवस्थाओंमें धैर्यके साथ 'नाम'-साधनमें बार-बार चेष्टा करना ही तपस्या है। (३) शुचि अर्थात् सर्वावस्थामें बाह्य तथा अभ्यन्तर पवित्रता। शरीर और मनको निर्मल, पवित्र रखना ही शौच है। शरीर पवित्र न रहनेसे अन्तःशुद्धि नहीं होती। चित्त शुद्ध न होनेसे 'नाम' में यथार्थ रुचि—श्रीभगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति कुछ नहीं होती। (४) प्रतिदिन कुछ-न-कुछ दान करना चाहिये। दया-सहानुभूतिसे ही दान होता है। किसी तरहसे दूसरेके क्लेशोंको दूर करना ही दान है। प्रतिदिन कम-से कम मीठी बातका ही दान करना चाहिये। ये सभी नियम 'नाम' में रुचि होनेके लिये हैं। 'नाम'में रुचि हो जानेसे और कुछ भी आवश्यक नहीं होता। श्वास-प्रश्वासमें 'नाम'-जप ही एकमात्र सहज तथा सर्वोत्कृष्ट उपाय है।

* श्रीमद् ब्रह्मचारी कुलदानन्दजीद्वारा विरचित श्रीश्रीसद्गुरु-सङ्ग (पाँच खण्डमें सम्पूर्ण बँगला ग्रन्थ) का हिन्दी-अनुवाद प्रथम खण्ड द्रष्टव्य। प्राप्तिस्थान—श्रीगौराङ्ग-सुन्दर ता २० नं० महर्षि देवेन्द्रनाथ रोड, कलकत्ता, या 'तारा प्रिंटिङ्ग वर्क्स', बनारस। श्रीव्योमकेशकुमार बि. ए. लिखित बँगला ग्रन्थ 'सद्गुरुसङ्गे कुलदानन्द' और 'Brahmachari Kuladananda', Vol. 1 in English by Benimadhav Barua, M. A., D. Litt. (London), Professor Calcutta University भी पढ़ सकते हैं। प्राप्तिस्थान वही।

इस साधनकी दीक्षा ग्रहण करनेवालोंको कुछ निषेधोंका वर्जन करना पड़ता है। मांस, अंडा, प्याज, उच्छिष्ट और मादक वस्तुका सम्पूर्णरूपसे त्याग करना आवश्यक है।

एक मासमें सिद्धि-लाभ करनेका उपाय-निर्देश

इस अजपा नामसाधनद्वारा एक मासमें सिद्धि पानेकी एक प्रणाली गोस्वामी विजयकृष्णजीने निर्देश की है। श्रीश्रीसद्गुरुसङ्ग (प्रथम खण्ड) में लिखा है—वे कहते हैं कि—'एक मास काल-व्यवस्थानुरूप नियममें रहकर निर्दिष्ट प्रणालीके अनुसार कोई साधन करे तो अवश्य ही उसे सिद्धि प्राप्त हो जाय। यदि किसीको यह आशङ्का अथवा आक्षेप हो कि सिद्धि प्राप्त होनेके पहले ही शरीर छूट जायगा तो, उसकी इच्छा होनेसे, वह सहजमें ही एक महीनेतक नियमोंकी रक्षा करके इस प्रणालीसे साधन कर सकता है; सिद्धि अवश्य हो जायगी।

नियम ये हैं—

(१) लोक-सङ्ग त्याग दे। विशेषरूपसे स्त्रियोंका दर्शन, स्पर्श, उनके सम्बन्धमें कुछ भी श्रवण और चिन्तन आदि सम्पूर्णरूपसे वर्जनीय है।

(२) एकान्तमें बहुत ही शुचि-शुद्धभावसे दिनमें एक बार ही अपने हाथसे रसोई बनाकर आतप (बिना उबले हुए चावलों) का भात खाना चाहिये।

(३) शयन-त्याग। बहुत ही अवसाद होनेपर जरूरत हो तो हाथका ही तकिया लगाकर भूमिपर शयन करे।

इन बाहरी नियमोंका पालन करनेके साथ-साथ निर्दिष्ट रीतिसे मुद्रा-बन्ध करे और रात-दिन सिद्धासनसे बैठकर प्राणायाम तथा कुम्भकके साथ प्रणालीके अनुसार 'नाम'-साधन करे। कम-से-कम तीन दिन भी यदि कोई यह साधन कर लेगा तो ऐसी कोई विशिष्ट अवस्था प्राप्त हो जायगी जो औरोंको दुर्लभ है।

यह साधन असाम्प्रदायिक है

श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्दकी 'नाम-साधना' किसी दल या सम्प्रदायविशेषमें आबद्ध नहीं है। हिंदू, बौद्ध, जैन, मुसलमान, ईसाई, पारसी—सभी जाति, सभी धर्म एवं सभी सम्प्रदायके लोग अपनी-अपनी कुल-क्रमागत रीति-नीति, आचार-व्यवहार रखते हुए इस अजपा 'नाम'-साधन-पथका अवलम्बन करके अनायास अग्रसर हो सकते हैं, कोई बाधा नहीं। इसलिये किसी धर्म या सम्प्रदायके साथ इस साधन तथा इसके साधकका कोई विरोध नहीं है। सब हमारे ही भगवान्‌का नाम-साधन कर रहे हैं, यह जानकर सब सम्प्रदायों तथा धर्मोंके लोगोंका ही आदर करना चाहिये; इस साधनकी यही विधि है। श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्दकी 'नाम-साधना' परम औदार्यपूर्ण है।

श्रीविजयकृष्ण वैष्णव थे, परन्तु आधुनिक सम्प्रदायभुक्त वैष्णव नहीं। सनकादि ऋषि जो वैष्णव थे, विजयकृष्ण भी वही आदि सनातन वैष्णव थे। भगवान् श्रीगौराङ्ग महाप्रभु जो वैष्णव थे, विजयकृष्ण भी वही वैष्णव थे। श्रीगौराङ्गने जिस प्रकारसे ईश्वरपुरीजीसे दीक्षा ग्रहणकर तथा केशव भारतीजीसे संन्यास लेकर भी आदिवैष्णव-धर्मका पालन किया था, विजयकृष्णजीने भी वैसे ही मानससरोवरनिवासी परमहंस ब्रह्मानन्दजीसे साधन-दीक्षा ग्रहण करके स्वामी हरिहरानन्द सरस्वतीजीसे संन्यास लेकर सनातन वैष्णव-धर्मका ही पालन तथा पुनः प्रवर्तन किया। उनके संन्यासाश्रमका नाम स्वामी अच्युतानन्द सरस्वती है, परन्तु जगत्‌में वे गोस्वामी विजयकृष्णके नामसे ही सुपरिचित हैं। मूलतः आदिवैष्णव-धर्म ही विश्वमें एकमात्र धर्म है। सब धर्म-सम्प्रदायोंके धर्म आदि-वैष्णव-धर्मके अन्तर्गत हैं। कुछ साधारण बाहरी नियमोंके भेदाभेदसे ही सम्प्रदायकी सृष्टि हुई है। मूल साधन, चरम साधन श्रीभगवन्नामका सर्वत्र सब सम्प्रदायोंमें एक है। केवल प्रकार और प्रणालीका पार्थक्य है। पृथिवीके सब साधनोंके लक्ष्य सर्वैश्वर्यमय सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् हैं। श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्दके साधन—अजपा-साधनका विशेषत्व 'अप्राकृत शक्तियुक्त नाम' का श्वास-प्रश्वाससे जप करना है। इस साधनके साथ मुसलमान, क्रिस्तान, नानक, बुद्धदेवकी साधन-प्रणालीका अनेकांशमें सादृश्य देख पड़ता है। क्रिस्तानोंके साधनमें 'Breathe the Name of God'—यह उपदेश मिलता है। बौद्ध धर्म-शास्त्रके त्रिपिटक, विशुद्धिमार्ग आदि ग्रन्थोंमें 'कायगता-सति' या देहतत्त्वका अवलम्बन कर साधनप्रणालीमें 'आनापानासति' या श्वास-प्रश्वासमें मनःसंयोग करके साधन करनेका प्रशस्त उल्लेख है। बुद्धदेवने इस साधन-सम्बन्धमें उपदेशके आरम्भमें और अन्तमें कहा है—'एकायनो अयं भिक्खवे निब्बा नस्स...... सच्छि किरियाय, यदिदं चत्तारो सति पट्ठानो।' इत्यादि, अर्थात् निर्वाणलाभके लिये

यही एकमात्र पथ है। किन्तु पार्थक्य यह है कि त्रिदर्शन-भावनाकी जगह विजयकृष्ण-कुलदानन्दके साधनमें प्रारम्भसे ही गुरुदत्त अप्राकृतशक्तियुक्त नाम-जप किया जाता है।

सिक्खोंके भक्ति-ग्रन्थ 'सुखमणि'में 'नानक सो सेवक श्वास-श्वास समारे।' अर्थात् नानक कहते हैं कि वही सेवक हैं, जो श्रीभगवान्‌को प्रति श्वास-प्रश्वासमें स्मरण करते हैं। 'श्वासि-ग्रासि हरिनाम समाल' अर्थात् प्रतिश्वास एवं प्रतिग्रासके साथ हरिनाम स्मरण रखना—इत्यादि वचनों-द्वारा श्वासके साथ नाम-जप करनेकी विधि नानक-पंथियोंमें भी देख पड़ती है। मुसलमान फकीरोंमें भी श्वासके साथ नाम-जप करना देखा गया है।

इस साधनामें गुरु-निष्ठा

'नाम'-दाताके प्रति विश्वास न होनेसे दाताकी दी हुई वस्तु—'नाम'—में श्रद्धा एवं निष्ठा होनी कठिन है। गुरुसे शिष्य जितना प्रेम करेगा, गुरुकी दी हुई वस्तु—'नाम'के प्रति उसका उतना ही प्रेम होगा। सद्गुरु ही भगवान्, भगवान् ही सद्गुरु हैं। यह सद्गुरु-शक्ति समस्त विश्वमें व्याप्त है, किन्तु सर्वत्र प्रकाशित नहीं है। जिसमें प्रकाश है, वही सद्गुरु है; जिसका जो गुरु है, उसका वही सद्गुरु है। गुरुनिष्ठा ही 'नाम'में निष्ठा या 'नामी'में निष्ठा है।

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥

गुरुदत्त 'नाम' का श्वास-प्रश्वाससे जप करना ही विजय-कृष्णकुलदानन्दकी 'नाम-साधना' है।

उदासीन-सम्प्रदायका साधन-विधान

(लेखक—श्रीमत् परमहंसपरिव्राजकाचार्य उदासीनवर्य श्रीपण्डित स्वामी हरिनामदासजी महाराज)

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम्॥
(श्रीमद्भा० ३।२५।१८)

'यह पुरुष ज्ञान, वैराग्य और भक्तिसे युक्त अन्तःकरणके द्वारा अपनेको उदासीन देखता है और प्रकृतिकी शक्तिको क्षीण हुई देखता है।'

उदासीन-सम्प्रदायमें इसी लक्ष्यको सामने रखकर ध्यान-समाधि लगाते हैं। उदासीन-सम्प्रदायकी साधना तीन प्रकारकी है—वाचिक, मानसिक और कायिक।

वाचिक साधना वह है, जो वाणीसे की जाती है अर्थात् जनसाधारणके सामने की जाती है। इसका उपयोग जनताको ईश्वरके ध्यानमें लगाना है।

वाणीको मौन करके जो साधना मनके द्वारा की जाती है अर्थात् जिसके द्वारा जनताका ध्यान ईश्वरकी ओर आकर्षण किया जाता है, उसे मानसिक साधना कहते हैं।

स्वयं समाधि लगाकर और जनतासे लगवाकर जो साधना की जाती है, उसे कायिक साधना कहते हैं।

साधनाके और भी दो भेद हैं। एक साधना वह है जो अपने-आप करनेके लिये होती है और दूसरी वह जो जन-समुदायसे करानेके लिये होती है। जो साधना अपने लिये की जाती है, उसे स्वयं-साधना कहते हैं और जो जनसमुदायके लिये की जाती है, उसे परसाधना कहते हैं। दोनोंमें ईश्वर-चिन्तन होता है। अपने लिये साधना करनेमें अपने-आपको लाभ होता है और दूसरोंके लिये करनेमें दूसरोंका लाभ है। जो साधन उदासीनभावसे अकेले बैठकर किया जाता है, उसे सत्य-साधन कहते हैं और जिसे उदासीन सबके लिये मिलकर अथवा अकेले ही करे, उसे धर्म-साधन कहते हैं। अथवा सत्य वस्तुकी उपासना (भक्ति, ज्ञान, वैराग्य) का नाम ही सत्य-साधन है और दृढ़ प्रतिज्ञापूर्वक धर्मका पालन करना ही धर्म-साधन है।

इनके अतिरिक्त साधनका एक प्रकार और है, जो शारीरिक कष्टके साथ किया जाता है। उसे तप-साधन कहते हैं। उक्त साधनाओंमेंसे किसी साधनामें निरन्तर लगे रहना भी तप है। इस साधनके द्वारा मनचाहा फल मिलता है।

साधनका लौकिक फल शारीरिक सुख है और पारमार्थिक फल ज्ञानकी प्राप्ति है। तभी नारदजीके पूछनेपर यमराजने कहा कि उदासीन नरकमें नहीं जाते—

ज्ञानवन्तो द्विजा ये च ये च विद्यापरङ्गताः ।
उदासीना न गच्छन्ति स्वाम्यर्थे च हता नराः ॥
(वाराहपुराण, नाचिकेताख्यान अ० २०७)

अर्थात् ज्ञानवान् ब्राह्मण, विद्याके पार पहुँचे हुए लोग, उदासीन तथा स्वामीके निमित्त प्राणत्याग करनेवाले नरकमें नहीं जाते ।

उपर्युक्त साधनोंका ज्ञान गुरुके उपदेश तथा सत्सङ्गसे प्राप्त होता है, तथा उदासीन संतोंकी सेवा करनेसे भी उसकी उपलब्धि होती है । तीर्थाटनसे अर्थात् तीर्थोंमें जो महात्मा रहते हैं, उनके सत्सङ्गसे भी महान् लाभ होता है और देश-कालका ज्ञान होकर अनुभव बढ़ता है । सत्सङ्गी पुरुषोंको सदाचारसे रहना पड़ता है—जिससे शरीर और मनकी शक्ति बढ़ती है, वीर्यकी स्थिरता होती है, ज्ञानके साथ-साथ प्रेमकी मात्रा भी बढ़ती है और साधक सांसारिक विषयोंसे उदासीन होकर आत्मज्ञानमें रत हो जाता है । यही मोक्षका साधन है अर्थात् उदासीन लोग इसी साधनसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं । लौकिक और पारमार्थिक दोनों प्रकारकी उन्नति इस साधनसे हो सकती है । इस साधनके द्वारा मनुष्य दूसरोंको भी मोक्षके मार्गमें लगा सकता है । इन साधनोंसे कई उदासीन योगाभ्यासी हो जाते हैं, जिससे जीवितावस्थामें ही चित्तकी स्थिरता हो जाती है । प्राण रोकनेसे योगाभ्यासी सिद्ध हो जाता है—जिससे वह शारीरिक बल, धन, विद्या, बुद्धि आदिसे सम्पन्न होकर भी संसारमें जलमें कमलकी भाँति निर्लेप रहता है तथा औरोंको भी उपर्युक्त गुणोंसे सम्पन्न करता है और अन्तमें मोक्षको प्राप्तकर जन्म-मरणसे रहित हो जाता है ।

इस प्रकार उदासीन-सम्प्रदायमें साधनाका विधान सृष्टिके आदिसे (जबसे उदासीन-सम्प्रदाय चला है) बराबर चला आ रहा है । उदासीन-सम्प्रदाय सनातनधर्मी होनेके कारण पञ्चदेवोपासक है; अतः किसी भी देवताकी उपासनासे उसका विरोध नहीं है । यही वेदानुकूल सनातनधर्मका पक्का सिद्धान्त है ।

उदासीनोंमें हंस, परमहंस, कुटीचक और बहूदक—ये चार श्रेणियाँ होती हैं ।

(१) हंस उसे कहते हैं, जो षट्शास्त्रोंका अभ्यास स्वयं करता है तथा दूसरोंको कराता है और उनके सिद्धान्तोंको समझकर भीतर ब्रह्मका अनुभव करनेकी चेष्टा करता है ।

(२) परमहंस उसे कहते हैं, जो मरणपर्यन्त शास्त्रोंका चिन्तन और आत्माका अनुभव करनेमें लगा रहता है और धारणाकी परिपक्वतामें शरीर छोड़ता है ।

(३) कुटीचक उसे कहते हैं जो व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकारका ज्ञान रखता है, नीतिशास्त्रमें कुशल होता है और स्थानधारी होता है ।

(४) बहूदक उसे कहते हैं जो शास्त्रोंका पूर्ण ज्ञाता होकर प्रश्नोत्तरके द्वारा जनतामें धर्मका प्रचार करता है, शास्त्रार्थमें कुशल होता है और मण्डली लेकर या अकेले ही देश-देशान्तरमें भ्रमण करता हुआ धर्मकी सेवा करता है ।

इनके अतिरिक्त उदासीनोंकी एक पाँचवीं श्रेणी भी होती है—जिन्हें 'आतुर' कहते हैं । जनताको दुखी देखकर जो आत्मज्ञानका उपदेश देता है, वही आतुर उदासीन है ।

उदासीनोंमें कायिक, वाचिक एवं मानसिक—तीनों प्रकारके दण्डको ग्रहण करनेवाला ही त्रिदण्डी कहलाता है तथा इनमेंसे किसी एक दण्डको स्वीकार करनेवाला एक-दण्डी कहलाता है । उदासीन-सम्प्रदायमें काष्ठदण्ड धारण करनेका नियम नहीं है । कहा भी है—

वाग्दण्डः कायदण्डश्च मनोदण्डश्च ये त्रयः ।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी उदासिनाम् ॥
(अनुभवसहानुभूति अ० २)

दूसरेके पुण्यको कौन ग्रहण करता है ?

आक्रुश्यमानो नाक्रुश्येन्मन्युरेनं तितिक्षतः । आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥

किसी मनुष्यके निन्दा करनेपर भी जो उसकी निन्दा नहीं करता है और उसकी निन्दाको सह लेता है, वह पुरुष निन्दा करनेवाले पुरुषको भस्म कर डालता है और उसके पुण्यको अपने आप ग्रहण कर लेता है ।

(महा० शान्ति० २९९ । १६)

वैष्णवोंकी द्वादशशुद्धि

भगवान्‌के मन्दिरकी यात्रा करनेसे, उनकी उत्सवमूर्तिका अनुगमन करनेसे तथा प्रेमपूर्वक प्रदक्षिणा करनेसे दोनों चरणोंकी शुद्धि होती है। भगवान्‌की पूजाके लिये पत्र, पुष्प, गन्ध आदिका संग्रह करना दोनों हाथोंकी सर्वश्रेष्ठ शुद्धि है। भगवान्‌के नाम और गुणोंका प्रेमपूर्वक कीर्तन करना वाणीकी शुद्धि है। भगवान्‌की लीला-कथा आदिका श्रवण दोनों कानोंकी शुद्धि है और उनके उत्सवका दर्शन नेत्रोंकी शुद्धि है। भगवान्‌के सामने झुकना तथा उनके चरणोदक, निर्माल्य आदिका धारण करना सिरकी शुद्धि है। भगवान्‌के प्रसादस्वरूप निर्माल्य, पुष्प, गन्ध आदिको सूँघना दोनों नाकोंकी शुद्धि है। भगवान्‌के प्रसादस्वरूप जो कुछ होता है, वह तीनों लोकोंको शुद्ध कर सकता है। ललाटमें गदा, सिरमें धनुष और बाण, हृदयमें नन्दक, दोनों हाथोंमें शङ्ख, चक्र चिह्नित करके जो निवास करता है वह कभी अशुद्ध नहीं होता, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती। इस द्वादशशुद्धिको जानकर जो इसका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त होती है।

स्वरोदय-साधन

(लेखक—पं० श्रीनन्दिकान्तजी वेदालङ्कार, साहित्यमनीषी)

हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने मनुष्यमात्रके कल्याणार्थ जिन-जिन आश्चर्यजनक और चमत्कारपूर्ण नानाविध शास्त्रोंकी शोध की थी, उनमेंसे एक 'स्वरोदय-विज्ञान' भी है। यह ठीक है कि अन्य शास्त्रोंकी तरह यह भी आजकल लुप्तप्राय हो चुका है, तथापि खोज करनेपर कहीं-न-कहीं इसके विशेषज्ञ मिलते अवश्य हैं। इस शास्त्रके सर्वथा पूर्ण ज्ञाता तो मिलने कठिन हैं, ऐसा हमारा अनुमान है; तथापि जो कुछ उपलब्ध हुआ है, उसपरसे भी इस शास्त्रका बहुत कुछ पुनरुद्धार हो सकता है—ऐसी हमारी मान्यता है। सिर्फ कुछ लोग इस ओर अपना ध्यान आकर्षित करते हुए शोध करनेका प्रयत्न करें तो बहुत सम्भव है कि हम इस शास्त्रको फिर नये सिरेसे जीता-जागता देख सकें। हमें स्वयं इस सम्बन्धमें जो कुछ पता चला है, उसका सार यहाँपर रखनेका प्रयत्न किया है। यदि यह पाठकोंको रुचिकर और लाभप्रद हुआ तथा शोधकोंके लिये कुछ अंशोंमें मार्गदर्शक हुआ तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे।

स्वरोदय-विज्ञान अर्थात् श्वासोच्छ्वासकी गतिका ज्ञान

स्वरोदय-विज्ञानका आधार प्रत्येक मनुष्यके नसकोरों (नथुनों)से चलते हुए श्वास-प्रश्वासकी गतिपर ही है। यों तो यह बात बड़ी साधारण-सी प्रतीत होती है; परन्तु इस श्वास-प्रश्वासकी गति कितनी रहस्यपूर्ण और आश्चर्यजनक है—इस बातका पता उस समय चलता है, जब कि हम स्वरोदय-विज्ञानकी मददसे उस ओर लक्ष्य देना शुरू करते हैं। श्वासोच्छ्वासकी शक्ति और सामर्थ्य देखकर किसीको भी आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। हमारी प्रत्येक क्रिया तथा तज्जन्य सुख-दुःखादि द्वन्द्व, शारीरिक और मानसिक कष्ट, रोग-व्याधि आदि तमाम प्रकारकी आपत्तियाँ इनसे प्रभावित हैं। ये इनके आने-जानेका हर समय बिना विलम्बके निर्देश करते रहते हैं। इनकी मददसे दुःख दूर किये जा सकते हैं और मनचाहे सुख प्राप्त किये जा सकते हैं। संक्षेपमें मनुष्यके इस शरीर-रूपी रथके सञ्चालनके ये ही सूत्रधार हैं।

श्वास-प्रश्वाससे आयुका सम्बन्ध

साधारणतया मनुष्य प्रति मिनट १३से१५ श्वास-प्रश्वास करता है। इस प्रकार एक रात-दिनमें यानी पूरे २४ घण्टोंमें उनकी संख्या २१६०० तक पहुँचती है। यह संख्या प्रति मिनट जिस प्राणीकी जितनी कम होगी, उसकी उतनी ही आयु अपेक्षाकृत ज्यादा होगी। भिन्न-भिन्न प्राणियोंकी आयु तथा प्रति मिनट श्वासोच्छ्वासकी संख्याकी तुलना करनेसे यह बात स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि श्वास-प्रश्वासकी संख्यापर काबू रखनेसे आयु बढ़ायी जा सकती है।

स्वर तथा उसका उदय

यह शायद बहुत थोड़ोंको पता होगा कि हमारे शरीरमें रात-दिन अव्याहत गतिसे चलनेवाला श्वास-प्रश्वास एक ही

साथ एक ही समयमें नासिकाके दोनों नसकोरोंसे नहीं चला करता। वह क्रमशः निश्चित समयानुसार अलग-अलग दोनों नसकोरोंसे चला करता है। एक नसकोरेका निश्चित समय पूरा हो जानेपर वह दूसरेमें जाता है। श्वास-प्रश्वासकी इस गतिका नाम स्वर है तथा उस गतिका एक नसकोरेसे दूसरेमें जाना उसका उदय कहलाता है।

हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने स्वरोदयकी इस प्रक्रियाका निश्चित रूपसे पता लगाकर उससे किस तरह लाभ उठाये जा सकते हैं, तथा उससे लाभ उठानेके लिये कौन-कौन-से कार्य कब और कैसे करने चाहिये—इन सब विषयोंका निश्चय किया था। तदनुसार हम इस लेखमें खास तौरपर स्वरोंके चलनेके नियम, उन्हें जाननेकी विधि, उनके चलनेकी अवधि, उनके बदलनेकी रीति, उनसे सम्बन्धित पञ्चतत्त्व, कौन-कौन-से कार्य कब करने चाहिये, पुरुष और स्त्रीके स्वरोंमें कोई भेद है या नहीं तथा सुख-दुःख, रोग, आपत्तियाँ, कष्ट, प्रश्नोत्तरी एवं भविष्यज्ञान आदि विषयोंपर संक्षेपसे विचार करनेका प्रयत्न करेंगे।

(१) स्वर चलनेके नियम।

साधारणतया स्वर चलनेका नियम यह है कि शुक्लपक्षकी १, २, ३; ७, ८, ९; १३, १४, १५—इन तिथियोंमें सूर्योदयसे लेकर अमुक निश्चित समयतक वाम नासिकासे, और इसी प्रकार ४, ५, ६; १०, ११, १२—इन ६ तिथियोंमें दक्षिण नासिकासे श्वास चलना चाहिये। और कृष्णपक्षकी १, २, ३; ७, ८, ९; १३, १४, १५—इन तिथियोंमें सूर्योदयसे लेकर अमुक निश्चित समयतक दक्षिण नासिकासे और इसी प्रकार ४, ५, ६; १०, ११, १२—इन ६ तिथियोंमें वाम नासिकासे श्वास चलना चाहिये।

(२) श्वास जाननेकी विधि।

किस समय किस नासिकासे श्वास चल रहा है, यह जानना अत्यन्त सुगम है। उसे जाननेके लिये प्रथम किसी एक नसकोरेको बंद करके दूसरेसे साधारण जोरसे दो-चार बार श्वासोच्छ्वास करना चाहिये। फिर इसी तरह उसको बंद करके दूसरेसे करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे जिस नसकोरेसे श्वासोच्छ्वास करते हुए कुछ रुकावट-सी प्रतीत होती हो उसे बंद तथा दूसरेको खुला समझना चाहिये और उसीसे साँस चल रही है, ऐसा मानना चाहिये।

(३) प्रत्येक नासिकासे श्वासोच्छ्वास होनेकी अवधि

प्रत्येक नासिका-रन्ध्रमें स्वरोदय होनेके बाद वह साधारणतया २½ घड़ीतक विद्यमान रहता है। २½ घड़ी (घटिका) का एक घंटा होता है। अर्थात् जब-जब श्वासोच्छ्वास बदलकर एक नसकोरेसे दूसरेमें जायगा तब वह उसमें लगातार १ घण्टेतक रहेगा और इतनी अवधितक उसीसे चलता रहेगा।

(४) श्वासोच्छ्वासको बदलनेकी रीति।

जब कभी किसी विशेष प्रयोजनवश इच्छानुसार नासिकाका श्वासोच्छ्वास बदलना हो तो उसके लिये सबसे सरल विधि यह है कि कुछ देरके लिये जिस ओरके नसकोरेसे श्वास चल रहा हो, उस ओरकी करवटसे लेट जाओ। थोड़ी देरमें स्वयमेव श्वासोच्छ्वास बदल जायगा। अर्थात् वाम नासिकासे श्वास चलाना हो तो दक्षिण करवटसे लेटना चाहिये और दक्षिण नासिकासे श्वास चलाना हो तो बायें करवटसे लेटना चाहिये।

(५) पञ्चतत्त्व।

स्वरोदयके ज्ञानके साथ-साथ पञ्चतत्त्वका ज्ञान होना अनिवार्य है। पञ्चतत्त्वके ज्ञानके बिना स्वरोदयकी बहुत-सी प्रक्रियाएँ पूर्णरूपसे न तो सिद्ध ही हो सकती हैं और न उनका पता ही चल सकता है। स्वरोदयके साथ-ही-साथ पञ्चतत्त्वोंका भी उदय हुआ करता है, यह बात खास ध्यान देने योग्य है। और इसीलिये पञ्चतत्त्वोंका स्वरोदयके साथ किस तरहसे उदय होता है और उन्हें कैसे जाना जाता है, इस विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये यहाँ कुछ प्रक्रियाएँ दी जाती हैं।

पञ्चतत्त्वोंका परिचय तथा ध्यान करनेकी विधियाँ।

योगियोंने ध्यानादि विशेष कार्यसाधनके लिये हमारे शरीरमें अनेक चक्रोंकी कल्पना की है। उन चक्रोंका विशेष उल्लेख पाठकोंको अन्यत्र मिल सकता है, अतः विस्तारभयसे हम यहाँ आवश्यक बातोंका ही संक्षेपसे उल्लेख करेंगे।

(१) पृथिवीतत्त्व—शरीरमें इस तत्त्वका निवास 'मूलाधारचक्र' (Pelvic Plexus) में है। और यह चक्र शरीरमें योनि (गुदा)के पास सीवनीमें सुषुम्णाके

मुखसे संलग्न है। सुषुम्णा यहीं प्रारम्भ होती है। प्रत्येक चक्रका आकार कमलके फूलका-सा होता है। यह चक्र 'भूः' लोकका प्रतिनिधि है। पृथिवीतत्त्वका ध्यान इसी चक्रमें किया जाता है।

पृथिवीतत्त्वका रंग पीला और आकृति चतुष्कोण होती है। इसका गुण गन्ध है और तदर्थ ज्ञानेन्द्रिय नासिका तथा कर्मेन्द्रिय गुदा है। शरीरमें पाण्डु, कमला आदि रोग इसी तत्त्वके विकारसे पैदा होते हैं। भय आदि मानसिक विकारोंमें इसी तत्त्वकी प्रधानता होती है। पृथिवीतत्त्व-जन्य विकार मूलाधारचक्रमें ध्यान स्थिर करनेसे स्वयमेव शान्त हो जाते हैं।

ध्यान-विधि—एक प्रहर रात रह जानेपर शान्त स्थलमें पवित्र आसनपर दोनों पैरोंको पीछेकी ओर मोड़कर उनपर बैठ जाय। दोनों हाथ उलटे करके घुटनोंपर ऐसे रक्खे कि जिससे अँगुलियोंकी नोकें पेटकी ओर रहें। तब नासाग्रदृष्टि रखते हुए मूलाधारचक्रमें—

लं-बीजां धरणीं ध्यायेच्चतुरस्रां सुपीतभाम्।
सुगन्धस्वर्णवर्णत्वमारोग्यं देहलाघवम्॥

अर्थात् 'लं' बीजवाली, चौकोण, पीली पृथिवीका ध्यान करे। इस प्रकार करनेसे नासिका सुगन्धसे भर जायगी और शरीर स्वर्णके समान कान्तिवाला हो जायगा। ध्यान करते हुए पृथिवीके उपर्युक्त तमाम गुणोंको प्रत्यक्ष करनेका प्रयत्न करना चाहिये और 'लं' बीजका जाप करते रहना चाहिये।

(२) जलतत्त्व—यह तत्त्व शरीरस्थ स्वाधिष्ठानचक्र (Hypogastric Plexus) में है। यह चक्र पेड़ू अर्थात् लिङ्ग (जननेन्द्रिय)के मूलमें स्थित है। यह चक्र शरीरमें 'भुवः' लोकका प्रतिनिधि है और उसमें जलतत्त्वका निवास है।

जलतत्त्वका रङ्ग श्वेत और आकृति अर्धचन्द्राकार होती है। इसका गुण रस है और कटु, तिक्त, अम्ल, कषाय आदि तमाम रसास्वाद इसी तत्त्वकी वजहसे होते हैं। इसकी ज्ञानेन्द्रिय जीभ और कर्मेन्द्रिय लिङ्ग है। मोहादि विकार इसी तत्त्वके परिणाम हैं।

ध्यान-विधि—पृथिवी-तत्त्वकी ध्यान-विधिमें प्रदर्शित आसनमें बैठकर—

वं-बीजं वारुणं ध्यायेदर्धचन्द्रं शशिप्रभम्।
क्षुत्पिपासासहिष्णुत्वं जलमध्येषु मज्जनम्॥

अर्थात् 'वं' बीजवाले, अर्धचन्द्राकार चन्द्रमाकी तरह कान्तिवाले जलतत्त्वका उक्त चक्रमें ध्यान करे। इससे भूख-प्यास मिटकर सहनशक्ति पैदा होगी और जलमें अव्याहत गति हो जायगी।

(३) तेज या अग्नितत्त्व—शरीरमें इसका निवासस्थान 'मणिपूरचक्र' (Epigastric Plexus) है। यह चक्र नाभिमें स्थित है और 'स्वः'लोकका प्रतिनिधि है।

अग्नितत्त्वका रंग लाल तथा गुण 'रूप' है। इसकी आकृति त्रिकोण है। इसकी ज्ञानेन्द्रिय आँख और कर्मेन्द्रिय पैर हैं। क्रोधादि विकार तथा सूजन आदिमें इस तत्त्वकी प्रधानता होती है। इस तत्त्वकी सिद्धिसे अपचनादि पेटके विकार दूर हो जाते हैं और कुण्डलिनीका जागरण सरल हो जाता है।

ध्यान-विधि—उपर्युक्त आसनमें बैठकर—

रं-बीजं शिखिनं ध्यायेत् त्रिकोणमरुणप्रभम्।
बह्वन्नपानभोक्तृत्वमातपाग्निसहिष्णुता॥

'रं' बीजवाले, त्रिकोण और अग्निके समान लाल प्रभावाले अग्निका उक्त चक्रमें ध्यान करे। तत्त्व सिद्ध होनेपर अत्यन्त अन्न ग्रहण करनेकी शक्ति, अत्यन्त पीनेकी शक्ति तथा धूप और अग्निके सहन करनेकी शक्ति आ जाती है।

(४) वायुतत्त्व—यह तत्त्व 'अनाहतचक्र' (Cardiac Plexus) में स्थित है। यह चक्र हृदयप्रदेशमें स्थित है और 'महः' लोकका प्रतिनिधि है।

वायुतत्त्वका रंग हरा और आकृति षट्कोण तथा गोल दोनों ही तरहकी मानी गयी है। इसका गुण स्पर्श है तथा ज्ञानेन्द्रिय त्वचा और कर्मेन्द्रिय हाथ हैं। वायु, दमा आदि रोग इसी तत्त्वके विकारसे पैदा होते हैं।

ध्यान-विधि—उसी पूर्वोक्त आसनमें स्थित होकर—

यं-बीजं पवनं ध्यायेद्वर्तुलं श्यामलप्रभम्।
आकाशगमनाद्यञ्च पक्षिवद्गमनं तथा॥

अर्थात् 'यं' बीजवाले, गोलाकार तथा हरी प्रभावाले वायुतत्त्वका उक्त चक्रमें ध्यान करे। इससे आकाशगमन तथा पक्षियोंकी तरह उड़ना आदि सिद्ध होता है।

(५) आकाशतत्त्व—यह तत्त्व 'विशुद्धचक्र' (Carotid Plexus) में स्थित है। इसका स्थान कण्ठ (गला) है। यह चक्र 'जनः' लोकका प्रतिनिधि है।

आकाशतत्त्वका रंग नीला और आकृति अंडेकी तरह लम्ब-गोल है। कोई इसे निराकार भी मानते हैं। इसका गुण शब्द और ज्ञानेन्द्रिय कान तथा कर्मेन्द्रिय वाणी है।

ध्यान-विधि—उसी तरह आसनस्थ होकर—

हं-बीजं गगनं ध्यायेन्निराकारं बहुप्रभम्।
ज्ञानं त्रिकालविषयमैश्वर्यमणिमादिकम्॥

अर्थात् 'हं' बीजका जाप करते हुए निराकार चित्र-विचित्र रंगवाले आकाशका ध्यान करे। इससे तीनों कालोंका ज्ञान, ऐश्वर्य तथा अणिमादि अष्टसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार इन उक्त तरीकोंसे सतत नित्यप्रति छः मासतक अभ्यास करते रहनेसे तत्त्व सिद्ध हो जाते हैं। फिर तत्त्वको पहचानना अत्यन्त आसान हो जाता है। इस ध्यानविधिके अतिरिक्त भी कुछ और तत्त्व पहचाननेके विशेष छः तरीके हैं, जिनका संक्षिप्त निर्देश आगे देते हैं।

कुछ विशेष प्रकार।

तत्त्वोंके सम्बन्धमें एक विशेष बात जो कि सर्वदा स्मरण रहनी चाहिये, वह यह है कि स्वरके साथ तत्त्व भी कायम—विद्यमान रहते हैं। और जबतक स्वर एक नसकोरेमें चलता रहता है, तबतक पाँचों स्वर क्रमशः एक-एक बार उदय होकर अपनी-अपनी अवधितक विद्यमान रहनेके पश्चात् अस्त हो जाते हैं।

(१) श्वासकी गति—प्रत्येक तत्त्वके उदयमें नसकोरेसे चलते हुए श्वासकी गति बदलती रहती है और वह इस प्रकार है—

मध्ये पृथ्वी ह्यधश्चापश्चोर्ध्वं वहति चानलः।
तिर्यग्वायुप्रचारश्च नभो वहति संक्रमे॥

अर्थात् यदि नसकोरेके मध्यमें श्वास चल रहा हो तो पृथिवीतत्त्वका, यदि नीचेकी ओरसे चल रहा हो तो जल-तत्त्वका, यदि ऊपरकी ओरसे चल रहा हो तो अग्नितत्त्वका, यदि तिरछा अर्थात् एक ओर चल रहा हो तो वायुतत्त्वका, और यदि घूम-घूमकर भँवरकी तरह चल रहा हो तो आकाशतत्त्वका उदय समझना चाहिये।

(२) आकार—प्रत्येक तत्त्वकी अपनी-अपनी विशेष आकृतियाँ हैं, जिनसे कि वे आसानीसे पहचाने जा सकते हैं। यथा—

चतुरस्रं चार्द्धचन्द्रं त्रिकोणं वर्तुलं स्मृतम्।
बिन्दुभिस्तु नभो ज्ञेयमाकारैस्तत्त्वलक्षणम्॥

किसी एक निर्मल दर्पणको लेकर उसपर जोरसे श्वास छोड़नेपर यदि चौकोन आकृति बने तो पृथिवीतत्त्वका, अर्धचन्द्राकार बने तो जलतत्त्वका, त्रिकोण बने तो अग्नि-तत्त्वका, लम्ब-गोल आकृति बने तो वायुतत्त्वका और बिन्दु-बिन्दु-से दिखायी दें तो आकाशतत्त्वका उदय हुआ समझना चाहिये।

(३) स्थान—जैसा कि ऊपर बता आये हैं, प्रत्येक तत्त्व शरीरमें विद्यमान भिन्न-भिन्न चक्रोंमें स्थित है। इन स्थानोंमें ध्यानपूर्वक देखनेसे उस समय जो तत्त्व उदय होकर विद्यमान होगा, उसका शरीरपर विशेष प्रभाव हुआ होगा।

(४) रंग—प्रत्येक तत्त्वका अपना-अपना खास रंग होता है। और जब-जब वह तत्त्व उदय होता है, तब-तब उस रंगका विशेष प्रभाव रहता है। तत्त्वोंके रंग तथा उसे देखनेकी रीति इस प्रकार हैं—

आपः श्वेताः क्षितिः पीता रक्तवर्णो हुताशनः।
मारुतो नीलजीमूत आकाशो भूरिवर्णकः॥

दोनों हाथोंके दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंके छिद्र, दोनों अनामिकाओंसे दोनों आँखें, दोनों मध्यमाओंसे दोनों नथुने तथा दोनों तर्जनियों एवं कनिष्ठाओंसे मुख बंद करके यदि पीला रंग नजर आये तो पृथ्वीतत्त्वकी, श्वेत रंग नजर आये तो जलतत्त्वकी, लाल रंग नजर आये तो अग्नि-तत्त्वकी, हरा या बादलका-सा काला रंग नजर आये तो वायुतत्त्वकी और रंग-बिरंगा रंग दिखायी दे तो आकाश-तत्त्वकी उपस्थिति समझनी चाहिये।

(५) प्रमाण (लंबाईका माप)—प्रत्येक तत्त्वके उदय होनेपर जिस तरह श्वासकी गतिमें फरक पड़ जाता है, उसी तरह श्वासका प्रमाण भी बदल जाता है। तत्त्वोंके प्रमाण तथा उनको मापनेकी विधि इस प्रकार हैं—

अष्टाङ्गुलं वहेद्वायुरनलं चतुरङ्गुलम्।
द्वादशाङ्गुलमाहेयं षोडशाङ्गुलवारुणम्॥

बारीक पींजी हुई रूई अथवा किसी गत्तेपर अत्यन्त बारीक धूल लेकर उसे जिस नथुनेसे साँस चल रही हो, उसके पास धीरे-धीरे ले जाओ। जहाँपर पहले-पहले थोड़ी-थोड़ी रूई हिलने लगे या धूल उड़ने लगे वहाँ ठहर जाओ और उस दूरीको मापो। यदि वह दूरी १२ अंगुल है तो

पृथ्वीतत्त्वकी, १६ अंगुल है तो जलतत्त्वकी, ४ अंगुल है तो अग्नितत्त्वकी, ८ अंगुल है तो वायुतत्त्वकी और २० अंगुल है तो आकाशतत्त्वकी उपस्थिति समझनी चाहिये।

(६) स्वाद—प्रत्येक तत्त्वका अपना-अपना विशेष स्वाद होता है। यह स्वाद उस-उस तत्त्वकी उपस्थितिमें जीभद्वारा अनुभव किया जा सकता है। यथा—

माहेयं मधुरं स्वादु कषायं जलमेव च।
तिक्तं तेजो वायुरम्ल आकाशः कटुकस्तथा॥

अर्थात् यदि मुखमें मीठा स्वाद जान पड़े तो पृथ्वी-तत्त्वकी, कसैला स्वाद जान पड़े तो जलतत्त्वकी, कड़वा स्वाद जान पड़े तो अग्नितत्त्वकी, खट्टा स्वाद जान पड़े तो वायुतत्त्वकी और तीखा स्वाद जान पड़े तो आकाशतत्त्वकी उपस्थिति जाननी चाहिये।

(६) तत्त्वोंकी अवधि

प्रत्येक तत्त्व उदय होकर कितनी देरतक विद्यमान रहता है, इसकी अवधि इस प्रकार है—

उदय होकर विद्यमान रहनेकी अवधि—

तत्त्वका नाम	पल	मिनट
१. पृथ्वी	५०	२०
२. जल	४०	१६
३. तेज (अग्नि)	३०	१२
४. वायु	२०	८
५. आकाश	१०	४
सर्वयोग	१५०(२½ घड़ी)	६०(१घंटा)

ऊपर दिये गये पल, मिनट आदिका पैमाना इस प्रकार है—

६ श्वासोच्छ्वास	= १ पल		= २४ सैकंड
६० पल	= १ घटिका (घड़ी)		= २४ मिनट
२½ घटिका	= १ घंटा		= ६० मिनट
६० घटिका	= १ रात-दिन (अहोरात्र)		= २४ घंटे

तत्त्वोंके सम्बन्धमें अबतक जो कुछ वर्णन किया गया है उसका आसानीसे ख्याल आ सके, एतदर्थ हम नीचे तत्त्व-दर्शक तालिका देते हैं।

तत्त्व-दर्शक तालिका

तत्त्वका नाम	स्थान	आकृति	गुण	रंग	स्वाद	बीज	श्वासकी गति	श्वासका प्रमाण	समय पल	समय मिनट
१. पृथ्वी	मूलाधारचक्र	चतुष्कोण	गन्ध	पीला	मधुर	लं	नसकोरेके मध्य भागमें	१२ अंगुल	५०	२०
२. जल	स्वाधिष्ठानचक्र	अर्धचन्द्राकार	रस	श्वेत	कसैला	वं	नसकोरेके निचले भागमें	१६ अंगुल	४०	१६
३. तेज	मणिपूरचक्र	त्रिकोण	रूप	लाल	तीखा	रं	नसकोरेके ऊपरके भागमें	४ अंगुल	३०	१२
४. वायु	अनाहतचक्र	षट्कोण और गोल	स्पर्श	हरा या मेघवर्ण	खट्टा	यं	नसकोरेके एक किनारे	८ अंगुल	२०	८
५. आकाश	विशुद्ध-चक्र	अण्डाकार गोल या बिन्दु-बिन्दु	शब्द	रंग-बिरंगा	कड़वा	हं	आवर्त	२० अंगुल	१०	४

स्वर तथा कार्य

हम जो कुछ आवश्यक कार्य करते हैं, उनमें प्रायः आज-कल चाहिये उतनी सफलता प्राप्त नहीं होती। यदि वे कार्य अमुक निश्चित स्वरकी उपस्थितिमें किये जायँ तो पूर्णतया उनमें सफलता हासिल होती है। स्वरोदयशास्त्रका यह विभाग सर्वसाधारणके लिये बहुत ही उपयोगी है।

हमारा स्वर मुख्यतया वाम तथा दक्षिण नथुनोंसे ही चला करता है, पर कभी-कभी वह सुषुम्णासे भी चलता है। अतः हमारे तमाम कार्य इन तीन विभागोंमें बाँटे गये हैं। प्रत्येक स्वरके साथ तत्त्वोंका गाढ़ सम्बन्ध है, यह हम पहले देख आये हैं। अतः अमुक कार्यके लिये जहाँ अमुक स्वर चाहिये, वहाँ उस स्वरके साथ अमुक निश्चित तत्त्व भी होना चाहिये। अन्यथा कभी-कभी कार्यमें सफलता प्राप्त होनेके बदले उलटा ही परिणाम होता है। तथापि **इस सम्बन्धमें**

साधारण नियम यह है कि प्रायः तमाम स्थिर व अच्छे कार्य पृथ्वी और जलतत्त्वकी उपस्थितिमें ही करने चाहिये। अब हम आगे एक कोष्ठक देते हैं, जिससे पता चलेगा कि किन-किन कार्योंके लिये कौनसे स्वर, तत्त्व तथा वार होने चाहिये। विस्तारभयसे यहाँपर सिर्फ कार्योंके नाम ही गिनाये गये हैं।

कार्यका नाम	स्वरका नाम	तत्त्वका नाम	वार
१. शान्तिकर्म	वाम स्वर	पृथ्वी, जल या दोनों	सोम, बुध, गुरु या शुक्र
२. पौष्टिक कर्म	,,	,,	,,
३. मैत्रीकरण	,,	,,	,,
४. प्रभुदर्शन	,,	,,	,,
५. योगाभ्यास	,,	,,	,,
६. दिव्यौषधिसेवन	,,	,,	,,
७. रसायनकर्म	,,	,,	,,
८. आभूषण पहनना	,,	,,	,,
९. नवीन वस्त्र पहनना	,,	,,	,,
१०. विवाह	,,	,,	,,
११. दान	,,	,,	,,
१२. आश्रम-प्रवेश	,,	,,	,,
१३. मकान बनवाना	,,	,,	,,
१४. जलाशय	,,	,,	,,
१५. बाग-बगीचा लगवाना	,,	,,	,,
१६. यज्ञ	,,	,,	,,
१७. बन्धु, बान्धव, मित्रादिसे मिलना	,,	,,	,,
१८. ग्राम या शहर बसाना	,,	,,	,,
१९. दूरगमन; यदि दक्षिण या पश्चिम दिशामें जाना हो तो	,,	,,	,,
२०. पानी पीना, पेशाब जाना	,,	,,	,,
२१. कठिन और क्रूर क्रिया	दक्षिण स्वर	,,	मङ्गल, शनि या रवि
२२. शस्त्राभ्यास	,,	,,	,,
२३. शास्त्राभ्यास, दीक्षा आदि	दक्षिण स्वर	पृथ्वी, जल या दोनों	मंगल, शनि या रवि
२४. सङ्गीत	,,	,,	,,
२५. सवारी	,,	,,	,,
२६. व्यायाम	,,	,,	,,
२७. नौकारोहण	,,	,,	,,
२८. यन्त्र, तन्त्ररचना	,,	,,	,,
२९. पहाड़ वा किलेपर चढ़ना	,,	,,	,,
३०. विषय-भोग	,,	,,	,,
३१. युद्ध	,,	,,	,,
३२. पशु-पक्षीका क्रय-विक्रय	,,	,,	,,
३३. काटना-छाँटना	,,	,,	,,
३४. कठोर यौगिक साधना	,,	,,	,,
३५. राजदर्शन	,,	,,	,,
३६. विवाद	,,	,,	,,
३७. किसीके समीप जाना	,,	,,	,,
३८. स्नान	,,	,,	,,
३९. भोजन	,,	,,	,,
४०. पत्रादि लेखनकार्य	,,	,,	,,
४१. ध्यान-धारणा आदि परमात्म-चिन्तन-सम्बन्धी कार्य	सुषुम्णा	×	×

ऊपरकी तालिका अत्यन्त संक्षिप्त है। उसमें सिर्फ कार्योंके नामोंका ही निर्देश किया गया है, उनका विस्तार करने जायँ तो एक खासी पुस्तक तैयार हो जाती है। अतः इतनेसे ही आशा है पाठक सन्तोष मानकर क्षमा प्रदान करेंगे।

ऊपर जो-जो कार्य दक्षिण स्वर तथा पृथ्वी या जल-तत्त्वकी उपस्थितिमें करने योग्य बताये गये हैं, वे बजाय पृथ्वी या जलतत्त्वके अग्नि और वायुतत्त्वकी उपस्थितिमें भी किये जा सकते हैं—ऐसा भी एक पक्ष है। परन्तु सुषुम्णाकी उपस्थितिमें उपरिनिर्दिष्ट कार्य भूलकर भी नहीं करने चाहिये, अन्यथा विपरीत फल होगा।

कुछ कार्योंकी विशेष विधियाँ

हम नीचे दो-चार कार्योंकी विशेष विधियाँ देते हैं। आशा है, उनसे सर्वसाधारण जनताको विशेष लाभ पहुँचेगा और स्वरोदयशास्त्रकी महत्ता ज्ञात हो सकेगी।

(१) कार्यसिद्धिकरण

जब कभी किसीसे कोई मनमाना कार्य करवाना हो या किसीको अपने पक्षमें मनवा लेना हो या कोई भी ऐसा अभीष्ट कार्य सिद्ध करना हो, तो जानेके समय जिस ओरकी साँस चल रही हो उसी ओरका पैर प्रथम उठाकर उससे प्रयाण शुरू करना चाहिए; परन्तु निकलनेके समय सिर्फ पृथ्वी या जलतत्त्व या दोनोंका सङ्गम ही होना चाहिये। फिर जहाँ जाना हो, वहाँ पहुँचकर जिससे काम लेना हो, उसे उस समय अपना जिस ओरका श्वास चल रहा हो, उस ओर रखकर बातचीत प्रारम्भ करनी चाहिये। आपको आश्चर्य होगा कि आपका यदि विरोधी भी हुआ तब भी आपके इच्छानुसार कार्य करेगा। यह विधि एक उत्तम वशीकरण है, इस विधिका निम्नलिखित कार्योंमें उपयोग करनेसे मनमानी सफलता हासिल होती है—

(१) नौकरीकी उम्मेदवारीके लिये जाना, (२) मुकदमेमें वादी, प्रतिवादी या साक्षीके तौरपर जाना, (३) अपने स्वामी, अफसर, हाकिम आदिके पास मुलाकात आदिके लिये जाना—इत्यादि।

(२) गर्भाधान

आगे कुछ संक्षिप्त विधियाँ देते हैं जिससे वन्ध्याको सन्तति होना, इच्छानुसार पुत्र-पुत्रीका उत्पन्न होना आदि कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं।

(क) पुत्र उत्पन्न करना—साधारणतया स्त्रीके ऋतुमती होनेके चौथे दिनसे लेकर १६ वें दिनतकका समय गर्भाधानके लिये उत्तम समझा जाता है। परन्तु इसमें भी गर्भाधानके लिये उत्तरोत्तर दिन उत्कृष्ट माने जाते हैं और प्रथम ३ रातें, अष्टमी, एकादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावास्या सर्वथा वर्ज्य हैं।

पुत्र तथा पुत्रीके गर्भाधानके लिये रात्रिके साथ-साथ स्वर और तत्त्व विशेषरूपसे मुख्य हैं। अतः पुत्रकी इच्छा रखनेवालेको नीचे दिये गये कोष्ठकमेंसे कोई-सी रात्रि पसंद करके जब पुरुषकी दक्षिण नासिका और स्त्रीकी वाम नासिका चल रही हो तथा पृथ्वीतत्त्व या पृथ्वी-जलका संयोग हो, तब गर्भाधान करना चाहिये। पुत्र उत्पन्न करनेकी रातें तथा उनका फल इस प्रकार हैं—

१. ऋतुस्रावसे लेकर		४थी	रात्रिमें	गर्भ	रहनेसे	अल्पायु तथा दरिद्री पुत्र	पैदा	होता है
२. ,,	,,	६ठी	,,	,,	,,	साधारण आयुवाला पुत्र	,,	,,
३. ,,	,,	८वीं	,,	,,	,,	ऐश्वर्यशाली पुत्र	,,	,,
४. ,,	,,	१०वीं	,,	,,	,,	चतुर पुत्र	,,	,,
५. ,,	,,	१२वीं	,,	,,	,,	उत्तम पुत्र	,,	,,
६. ,,	,,	१४वीं	,,	,,	,,	उत्तम गुणसम्पन्न पुत्र	,,	,,
७. ,,	,,	१६वीं	,,	,,	,,	सर्वगुणसम्पन्न पुत्र	,,	,,

(ख) पुत्री उत्पन्न करना—पुत्री पैदा करनेके लिये नीचे दी गयी किसी रात्रिमें जब कि पुरुषकी वाम नासिका और स्त्रीकी दक्षिण नासिका चल रही हो तथा जलतत्त्व या पृथ्वी-जलका संयोग हो, तब गर्भाधान करनेसे कन्या उत्पन्न होती है। रातें तथा रातोंका फल इस प्रकार हैं—

१. ऋतुस्रावसे लेकर		५वीं	रात्रिमें	गर्भ	रहनेसे	उत्पन्न	कन्या	पुत्रवती होती है
२. ,,	,,	७वीं	,,	,,	,,	,,	,,	वन्ध्या ,,
३. ,,	,,	९वीं	,,	,,	,,	,,	,,	ऐश्वर्यवती ,,
४. ,,	,,	११वीं	,,	,,	,,	,,	,,	दुश्चरित्रा ,,
५. ,,	,,	१३वीं	,,	,,	,,	,,	,,	वर्णसङ्कर सन्तति उत्पन्न करनेवाली होती है
६. ,,	,,	१५वीं	,,	,,	,,	,,	,,	सौभाग्यवती, राजपत्नी होती है

(३) वन्ध्याके सन्तति

चाहे दिन हो या रात, अगर सुषुम्णा नाडी चलने लगे अथवा सूर्यनाडी (दक्षिण स्वर) चल रही हो और अग्नि-तत्त्वका उदय हुआ हो तो गर्भाधान करनेसे वन्ध्या भी सन्तानवती हो जाती है।

(४) भाग्योदय

जिनको अपना भाग्योदय करनेकी अभिलाषा हो, उन्हें निम्नलिखित कुछ नियम पालन करने चाहिये। इन नियमोंके अनुसार चलनेसे बुरे दिन खुद-बखुद दूर भाग जाते हैं।

(क) रोज कम-से-कम आध घंटा सूर्योदयसे पूर्व उठना चाहिये।

(ख) सबेरे उठनेके समय बिस्तरेपर आँखें खुलते ही जिस ओरकी नाकसे साँस चल रही हो, उस ओरका हाथ मुखपर फेरकर बैठ जाय। तब खाटसे उतरते हुए उसी ओरका पैर पहले-पहल जमीनपर रखकर उतरे। इस प्रकार नित्यप्रति आचरण करनेवाला सर्वदा सुखी बना रहता है।

(५) आग बुझाना

पाठकोंको यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि स्वरकी मददसे बड़ी-बड़ी आग भी आसानीसे बुझायी जा सकती है। स्वरकी मददसे आग बुझानेका तरीका इस प्रकार है—

कहींपर भी आग लगनेपर जिस ओर पवनकी गतिसे आग बढ़ रही हो, उस ओर पानीका पात्र लेकर खड़ा हो जाय; फिर जिस नथुनेसे साँस चल रही हो, उससे श्वास अंदर खींचते हुए उसी नथुनेसे थोड़ा-सा पानी पीये। तब उस जलपात्रमेंसे अञ्जलिमें ७ रत्ती पानी लेकर आगपर छिड़के। थोड़ी ही देरमें आग आगे न बढ़ती हुई वहीं बुझ जायगी।

मृत्यु, रोग तथा आपत्तिका पूर्वज्ञान तथा उपाय।

यह पहले बता आये हैं कि स्वरके चलनेका समय तथा दिन निश्चित हैं। परन्तु जब कभी कोई शुभ-अशुभ परिणाम होनेवाला होता है तो स्वरके समय तथा दिनमें परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन दो तरहसे होता है। (१) उलटा स्वर चलना अर्थात् जिस दिन वाम स्वर चलना चाहिये, उस दिन दक्षिण चले और जिस दिन दक्षिण चलना चाहिये, उस दिन वाम चले। (२) इसी प्रकार जितने समयतक वाम और दक्षिण स्वर चलने चाहिये, उतनी देरतक वे न चलकर निश्चित समयकी अपेक्षा कम या ज्यादा देरतक चलें।

उक्त परिवर्तनोंके शुभाशुभ फल

(क) दिनोंमें परिवर्तन—

(१) यदि शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको वाम स्वर न चलकर दक्षिण चले तो पूर्णिमातक गर्मीसे कोई रोग होगा या कलह या हानिकी सम्भावना होगी।

(२) इसी प्रकार यदि कृष्णपक्षकी प्रतिपदाको दक्षिण स्वर न चलकर वाम चले तो अमावास्यातक सरदीसे रोग या हानि आदि कष्टोंकी सम्भावना होगी।

(३) यदि इसी प्रकार लगातार दो पक्षतक उलटे स्वर चलते रहें तो अपनेपर विशेष आपत्ति आनेकी या प्रियजन-की भारी बीमारीकी अथवा उसकी मृत्युकी सम्भावना होगी।

(४) यदि तीन पक्ष लगातार ऐसा होता रहे तो अपनी मृत्युको निकट समझना चाहिये।

(५) यदि सिर्फ ३ दिन ऐसा हो तो कलह या रोगकी सम्भावना होगी।

(६) यदि लगातार एक मास वाम स्वर विपरीत चले तो महारोगकी सम्भावना होगी।

(ख) समयमें परिवर्तन—

यदि स्वरके समयमें परिवर्तन यानी घट-बढ़ हो तो उससे निम्नलिखित शुभाशुभ फल होते हैं। सदा शुभ फल वाम स्वरके परिवर्तनसे तथा अशुभ फल दोनों स्वरोंके परिवर्तनसे हुआ करते हैं, यह बात खास ध्यानमें रखने योग्य है।

शुभ फल

१. चन्द्रस्वर लगातार ४ घड़ी चले तो किसी अचिन्त्य वस्तुकी प्राप्ति होगी।

२. ,, ,, ८ ,, ,, सुखादिकी प्राप्ति होती है।

३. ,, ,, १४ ,, ,, प्रेम, मैत्री आदि प्राप्त होते हैं।

४. ,, ,, एक अहोरात्र चलता रहे तो ऐश्वर्य, वैभव आदिकी प्राप्ति होती है।

५. यदि २ दिनतक आधे-आधे प्रहर दोनों स्वर चलते रहें तो यश और सौभाग्यकी वृद्धि होती है।
६. यदि दिनमें चन्द्र और रातमें सूर्यस्वर कायम चलते रहें तो १२० वर्षकी आयु होती है।
७. यदि ४, ८, १२ या २० दिनतक रात-दिन चन्द्रस्वर चलता रहे तो बड़ी आयु तथा ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं।

अशुभ फल

वामस्वर—यदि वाम स्वर लगातार १० घड़ी चलता रहे तो शरीरमें कष्ट होता है।
,, ,, ,, १२ घड़ी चलता रहे तो अनेक शत्रु पैदा होते हैं।
,, ,, ,, ३, २ या १ दिन चलता रहे तो रोग होते हैं।
,, ,, ,, ५ दिनतक चलता रहे तो उद्वेग पैदा होता है।
,, ,, ,, १ मासतक चलता रहे तो धनका नाश होता है।

सूर्यस्वर—यदि दक्षिण स्वर लगातार ४ घड़ीतक चलता रहे तो कुछ बिगाड़ या वस्तुहानि होती है।
,, ,, ,, ,, २ घड़ीतक चलता रहे तो सज्जनसे द्वेष होता है।
,, ,, ,, ,, २१ घड़ीतक चलता रहे तो सज्जनका विनाश होता है।
,, ,, ,, ,, रात-दिन चलता रहे तो आयु क्षीण होकर मृत्यु होती है।

मृत्युका ज्ञान

स्वरकी सहायतासे शेष आयु या मृत्युका समय जाननेके बहुत-से तरीके हैं, जिनका संक्षेपसे निर्देश इस प्रकार है—

१. यदि ८ प्रहरतक दक्षिण स्वर बिना बदले चलता रहे तो ३ वर्षके बाद मृत्यु होती है।
२. ,, १६ ,, २ वर्षके ,, ,, ,,
३. ,, ३ दिन ३ रात १ वर्षके ,, ,, ,,
४. ,, दिनमें सूर्यस्वर और रातमें चन्द्रस्वर एक मासतक लगातार चलते रहें तो ६ मासमें मृत्यु होती है।
५. ,, २० अहोरात्र सिर्फ दक्षिण स्वर चले तो ३ मासमें मृत्यु होती है।
६. ,, ५ घड़ी सुषुम्णा चलकर न बदले तो उसी समय मृत्यु हो जाती है।
७. जो व्यक्ति अपनी नाक नहीं देख सकता, वह ३ दिनमें मर जाता है।
८. स्नानके बाद जिसके हृदय, पैर और कपाल सूख जाते हैं, वह ३ मासमें मर जाता है।
९. बिना कारणके मोटा आदमी पतला हो जाय या पतला मोटा हो जाय तो १ मासमें मृत्यु होती है।

इसी प्रकार अन्य भी बहुतसे तरीके हैं जिनसे मृत्युका पहलेसे पता चल जाता है परन्तु वे विस्तारभयसे यहाँपर नहीं दिये गये। इस विषयमें एक बात और भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि उपर्युक्त सब-के-सब चिह्न हरेकमें प्रकट नहीं होते। इनमेंसे कोई किसीमें तो कोई किसीमें, इस प्रकार प्रकट होते हैं। परन्तु निम्नलिखित दो चिह्न तो हरेकमें प्रकट होते हैं।

(१) दाहिने हाथकी मुट्ठी बाँधकर नाकके ठीक सीधमें कपालपर रखकर नीचेकी ओर उसी हाथकी कोहनीतक देखनेसे हाथ बहुत ही पतला नजर आता है। अब इस प्रकार देखनेसे जिस रोज हाथकी कलाई नजर न आये और हाथसे मुट्ठी अलग प्रतीत होने लगे, उस दिनसे सिर्फ ६ मास आयु शेष रह गयी है—ऐसा निःसन्देह समझना चाहिये।

(२) आँखें बंद करके अँगुलीसे आँखका एक किनारा दबानेसे आँखके भीतर चमकता हुआ तारा नजर आयगा। जिस दिन यह तारा दीखना बंद हो जाय, उस दिनसे सिर्फ १० दिनमें मृत्यु हो जाती है।

रोगका ज्ञान तथा प्रतीकार

नासिकाके स्वर निश्चित तिथि और समयके अनुसार न चलें तब शरीरमें रोग उत्पन्न होते हैं, इस सम्बन्धमें कुछ निश्चित बातें हम ऊपर दे आये हैं। उनके अनुसार जब शरीरमें गलतीसे रोग हो जायँ तो स्वरोंको ठीक-ठीक चलानेसे वे रोग दूर हो जाते हैं। इस सम्बन्धमें कुछ रोग तथा उनके निश्चित उपाय नीचे दिये जाते हैं।

(१) बुखार—जब शरीरमें हरारत प्रतीत हो, तब जो स्वर चल रहा हो, उसे जितने दिन शरीर पूर्णरूपसे स्वस्थ न प्रतीत हो, उतने दिन बंद रखना चाहिये। नथुनोंमें नरम रूई रख देनेसे अभीष्ट स्वर बंद किया जा सकता है।

(२) सिरदर्द—सिरदर्द मालूम होते ही सीधा लेटकर दोनों हाथोंको नीचेकी ओर लंबा फैला दे। फिर किसीसे दोनों हाथोंकी कोहनियोंको रस्सीसे जोरसे बँधवा ले। ऐसा करनेसे ५—७ मिनटमें तमाम दर्द काफूर हो जायगा। दर्द मिटनेपर रस्सी खोल दे।

यदि आधासीसी हो तो उस हालतमें जिस ओरका सिर दुखता हो, सिर्फ उसी ओरका हाथ बाँधना चाहिये। उस हालतमें दोनों हाथ बाँधनेकी जरूरत नहीं। यदि दूसरे दिन फिर आधासीसीका दर्द मालूम हो और पहले दिन जो स्वर चल रहा था, वही दूसरे रोज भी चलता हो तो हाथ बाँधनेके साथ-साथ वह स्वर भी बंद कर देना चाहिये।

(३) अजीर्ण या बदहजमी—जिन्हें कायम बदहजमी रहती हो, उन्हें चाहिये कि वे सर्वदा दक्षिण स्वरकी उपस्थितिमें भोजन किया करें। इस प्रकार करनेसे धीरे-धीरे पहलेका अजीर्ण मिट जायगा तथा पाचनशक्ति बढ़नेसे खाया हुआ तमाम अन्न पूर्णरूपसे पचता रहेगा। भोजनके पश्चात् १५-२० मिनट बायीं करवट लेटते रहनेसे विशेष जल्दी लाभ हो सकता है।

पुराना अपचन मिटानेके लिये एक और भी उपाय है। वह यह है कि रोज १०-१५ मिनट पद्मासनसे बैठकर नाभिपर दृष्टि स्थिर करनेसे सिर्फ एक ही सप्ताहमें अपचनकी शिकायत दूर हो जाती है।

(४) हिलते दाँत बंद करना—जिनके दाँत हिलते रहते हों या दुःखते रहते हों, उन्हें चाहिये कि वे शौच तथा पेशाबके समय अपने दाँतोंको जोरसे दबाये रक्खें। ऐसा करनेसे दाँतोंकी शिकायत दूर हो जाती है।

(५) अन्य दर्द—छाती, पीठ, कमर, पेट आदि कहींपर भी एकदम दर्द उठनेपर जो स्वर चलता हो, उसे सहसा पूर्ण बंद कर देनेसे कैसा भी दर्द होगा फौरन शान्त हो जायगा।

(६) दमा—जब दमेका दौरा शुरू होने लगे, और साँस फूलने लगे तब जो स्वर चल रहा हो, उसे एकदम बंद कर दे। इससे १०-१५ मिनटमें ही आराम होता हुआ नजर आयेगा। इस रोगका जड़से नाश करनेके लिये लगातार एक मासतक चलते हुए स्वरको बंद करके दूसरा चलानेका अभ्यास नित्यप्रति जितना ज्यादा हो सके उतना करते रहनेसे दमा नष्ट हो जाता है। इस सम्बन्धमें जितना भी अधिक स्वर बदलनेका अभ्यास किया जायगा, उतना अधिक और शीघ्र लाभ हो सकेगा।

कुछ अन्य उपयोगी उपचार

(१) परिश्रमसे उत्पन्न थकावट दूर करनेके लिये या धूपकी गरमीसे शान्त होनेके लिये थोड़ी देरतक दाहिनी करवटसे लेटनेसे थकावट या गरमी दूर हो जाती है।

(२) रोज खाना खानेके बाद लकड़ीकी कंघीसे बाल सँवारनेसे सिरके रोग तथा वायुरोग मिटते हैं और बाल जल्दी नहीं पकते।

(३) रोज आध घंटा पद्मासनसे बैठकर दाँतोंकी जड़में जीभका अग्रभाग जमाये रखनेसे कोई भी रोग नहीं होता और स्वास्थ्य उत्तम बना रहता है।

(४) रोज आध घंटा सिद्धासनसे बैठकर नाभिपर दृष्टि जमानेसे स्वप्नदोष सर्वथा नष्ट हो जाता है। ६ मासतक लगातार इस तरह अभ्यास करनेसे भयङ्कर-से-भयङ्कर स्वप्न-दोष भी सर्वथा दूर हो जाता है।

(५) सबेरे आँखें खुलते ही जिस ओरका स्वर चल रहा हो, उस ओरकी हथेली मुखपर रखकर उसी ओरका पैर प्रथम ज़मीनपर रखनेसे इच्छासिद्धि होती है।

(६) जिन्हें विशेष अजीर्ण रहता हो, वे सबेरे कुछ भी खानेसे पूर्व पानके पत्तेमें १० तक काली मिर्चें धीरे-धीरे चबाते हुए खायँ। १५-२० रोज इस प्रकार करनेसे अजीर्ण सर्वथा दूर हो जाता है।

(७) खून साफ करनेकी विधि—यदि किसी कारण खून बिगड़ गया हो और शरीरमें खूनके विकारसे फोड़ा-फुंसी निकल आये हों तो कुछ दिन नियमपूर्वक शीतली कुम्भक करनेसे रक्त साफ होकर चर्मरोग नष्ट हो जाते हैं।

(८) जवानी टिकाये रखनेका उपाय—इसके लिये इच्छा-नुसार स्वर बदलनेका अभ्यास करना चाहिये। दिनमें जब भी समय मिले, जो स्वर चल रहा हो उसे फौरन बदलनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार दिनमें कई बार स्वर बदलते रहनेसे चिरयौवन प्राप्त होता है। इस क्रियाके साथ-साथ यदि प्रातः-सायं विपरीतकरणी मुद्रा भी की जाय तो अकथनीय लाभ होता है।

(९) दीर्घायु प्राप्त करनेका उपाय—प्रायः साँसकी साधारण गतिका प्रमाण बाहर जाते हुए १२ अंगुल

होता है तथा अंदर आते हुए १० अंगुल होता है। श्वासको एक बार अंदर जाकर बाहर आनेतक साधारण अवस्थामें कुल ४ सेकंड लगते हैं। इस समय तथा गतिके प्रमाणको कम करनेसे मनुष्य दीर्घायु हो सकता है। धातुदौर्बल्य आदि बीमारीवालेकी साँसकी गतिका प्रमाण अधिक तथा समय कम लगता है। मनुष्यकी भिन्न-भिन्न क्रियाओंमें उसकी साँसकी गतिका प्रमाण कितना हुआ करता है, वह नीचे दिया है—

१. गाते हुए श्वासकी गतिका प्रमाण १६ अंगुल होता है।
२. खाते हुए ,, ,, ,, २० ,, ,, ।
३. चलते हुए ,, ,, ,, २४ ,, ,, ।
४. सोते हुए ,, ,, ,, ३० ,, ,, ।
५. मैथुन करते हुए ,, ,, ,, ३६ ,, ,, ।
६. व्यायामादि कठिन परिश्रम करते हुए श्वासकी गतिका प्रमाण इन सबसे ज्यादा बढ़ा हुआ होता है। जो मनुष्य श्वासकी उक्त स्वाभाविक गतिके प्रमाणको जितना-जितना घटा सकता है, वह उतना अपनी आयुको बढ़ाता जाता है। इस विषयकी विशेष तालिका नीचे देते हैं—

१. श्वासकी स्वाभाविक गति जो १२ अंगुलसे घटाकर ११ तक लाता है, उसके प्राण स्थिर हो जाते हैं।
२. ,, ,, ,, ,, ,, १० ,, ,, उसे महा आनन्द प्राप्त होता है।
३. ,, ,, ,, ,, ,, ९ ,, ,, उसमें कवित्वशक्ति आती है।
४. ,, ,, ,, ,, ,, ८ ,, ,, उसे वाक्सिद्धि होती है।
५. ,, ,, ,, ,, ,, ७ ,, ,, उसे दूरदृष्टि प्राप्त होती है।
६. ,, ,, ,, ,, ,, ६ ,, ,, वह आकाशमें उड़ सकता है।
७. ,, ,, ,, ,, ,, ५ ,, ,, उसमें प्रचण्ड वेग आता है।
८. ,, ,, ,, ,, ,, ४ ,, ,, उसे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।
९. ,, ,, ,, ,, ,, ३ ,, ,, उसे नवनिधियाँ प्राप्त होती हैं।
१०. ,, ,, ,, ,, ,, २ ,, ,, वह अनेक रूप धारण कर सकता है।
११. ,, ,, ,, ,, ,, १ ,, ,, वह अदृश्य हो सकता है।
१२. ,, ,, ,, ,, ,, प्राणकी गतिका प्रमाण सिर्फ नखाग्र-जितना रह जाता है, उसे यमराज भी नहीं खा सकता अर्थात् वह अमर बन जाता है।

स्त्री और स्वरोदयशास्त्र

कुछ लोगोंके मनमें साधारणतया यह शङ्का पैदा हो सकती है कि स्वरोदय-विज्ञानके विधान स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये समानरूपसे हैं या अलग-अलग। इस शङ्काके उठनेका मूल कारण यह है कि स्त्री पुरुषका वामाङ्ग समझी जाती है और उसमें वामाङ्ग प्रधान भी रहता है।

शरीरकी रचनाकी दृष्टिसे चाहे स्त्री पुरुषसे भिन्न हो, परन्तु स्वर-विज्ञानकी दृष्टिसे स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये स्वर-सम्बन्धी तमाम नियम समानरूपसे ही लागू होते हैं। अर्थात् उपर्युक्त तमाम वर्णन स्त्री-पुरुषके लिये एक-सा ही समझना चाहिये। स्त्री-पुरुषका भेद स्वरकी दृष्टिसे नहीं है, अपितु अमुक शारीरिक रचनाकी वजहसे ही—ऐसा समझकर सब कार्य करने चाहिये।

इस सृष्टिमें परमात्माने पुरुषको सूर्यका प्रतिनिधि तथा स्त्रीको चन्द्रका प्रतिनिधि बनाया है। अतः पुरुषमें सूर्यप्रधान गुण रहते हैं तथा स्त्रीमें चन्द्रप्रधान। स्वरोदयविज्ञानकी दृष्टिसे इसे हम यों कह सकते हैं कि जब पुरुषकी चन्द्रनाडी चल रही होती है, तब उसमें सूर्यप्रधान गुणोंका प्राबल्य चन्द्रनाडीके प्रभावसे कुछ हलका (mild) हो जाता है। परन्तु जब सूर्यनाडी चलने लगती है, तब उन्हें पूर्ण बल प्राप्त होनेसे वे उग्र स्वरूप (aggressive form) को प्राप्त करते हैं। ठीक इसी प्रकार स्त्रीकी नाडियोंका हाल है। जब स्त्रीकी चन्द्रनाडी चल रही हो, तब समझना चाहिये कि उसमें स्त्रीत्वके गुण पूर्ण अवस्थामें पहुँचे हुए हैं। और जब उसकी सूर्यनाडी चल रही हो, तब समझना चाहिये कि उसके स्त्री-सुलभ गुण कुछ कुछ मन्द अवस्थामें हैं। स्वरज्ञोंने इन्हीं बातोंके आधारपर स्त्री-पुरुषके लिये करनेयोग्य बहुतसे कार्योंका निश्चय किया है—यथा पुत्र-पुत्रीका इच्छानुसार पैदा करना, गर्भधारण न करना इत्यादि। अस्तु, इस संक्षिप्त

विवेचनका अभिप्राय पाठकोंके लक्ष्यमें आ गया होगा—ऐसी आशा है ।

प्रश्नोत्तरी

स्वरकी मददसे प्रश्नोंके उत्तर देना बहुत कुछ अभ्यास-पर निर्भर रहता है । प्रश्न बहुत प्रकारके हो सकते हैं; अतः उन सब तरहके प्रश्नोंका सङ्ग्रह करना कठिन है; तथापि साधारणतया प्रश्नोंके जवाब स्वरोदय-विज्ञानकी मददसे कैसे दिये जा सकते हैं, इस सम्बन्धमें थोड़ी-सी चर्चा करेंगे । प्रश्नोंके जवाब देते हुए स्वर तथा तत्त्वका ख्याल रखना नितान्त आवश्यक है । स्वर तथा तत्त्व ठीक-ठीक मालूम करके जवाब देनेसे उत्तर कभी भी गलत नहीं होंगे ।

(१) कार्यके शुभाशुभ फलसम्बन्धी प्रश्न

अमुक कार्यका फल कैसा होगा, ऐसा प्रश्न किया जाय तो–

(क) प्रश्न करते समय यदि पृथ्वी और जलतत्त्वका संयोग या दोनोंमेंसे कोई हो और चन्द्रस्वर चल रहा हो तो उत्तर देने चाहिये कि जो कार्य प्रश्नकर्ता सोच रहा है, वह सफल होगा । परन्तु यदि अग्नि, वायु और आकाश-तत्त्वोंमेंसे कोई हो तो कार्य विफल होगा–ऐसा समझना चाहिये ।

(ख) यदि प्रश्नकर्ता उत्तरदाताके दाहिनी ओर आकर बैठकर प्रश्न करे और उस समय उत्तरदाताका चन्द्रस्वर चल रहा हो तो कार्यसिद्धि नहीं होगी ।

(ग) परन्तु यदि वामस्वर चल रहा हो और प्रश्नकर्ता भी उसी ओर बैठा हो तो कार्यसिद्धि होगी ।

(घ) चन्द्रस्वर चल रहा हो और प्रश्नकर्ता ऊपरसे, सामनेसे या बाँयीं ओरसे प्रश्न करे तो कार्यसिद्धि होगी ।

(ङ) प्रश्नकर्ता बायीं ओरसे आकर दाँयीं ओर बैठकर प्रश्न करे और बायाँ स्वर चल रहा हो तो कार्यविनाश समझना चाहिये ।

ऊपर जो उत्तर दिये हैं, वे उत्तरदाताके वामस्वर चलते हुए किये जानेवाले प्रश्नोंके हैं । यदि उत्तरदाताका दक्षिण स्वर चल रहा हो तो प्रश्नोंके जवाब देते हुए जहाँ-जहाँ वाम है वहाँ दक्षिण समझकर तदनुसार वही-के-वही जवाब देने चाहिये । इस सम्बन्धमें निम्नलिखित नियम सर्वदा याद रखना चाहिये—

प्रश्नकर्ता जिस ओर आ रहा हो, उसी ओरका उत्तर-दाताका स्वर चल रहा हो तो कार्यसिद्धि समझनी चाहिये; परन्तु पृथिवी या जलतत्त्व होने आवश्यक हैं ।

(२) रोगी-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

(क) बायीं ओरसे रोगीके सम्बन्धमें प्रश्न करे और उत्तरदाताका सूर्यस्वर चल रहा हो तो रोगी नहीं बचेगा, ऐसा समझना चाहिये ।

(ख) वाम स्वरमें बाँयीं ओरसे ही प्रश्न किया गया हो और पृथिवीतत्त्व हो तो एक मासमें रोगी ठीक हो जायगा, ऐसा समझना चाहिये ।

(ग) सुषुम्णामें स्वर हो तथा गुरुवार हो और वायु-तत्त्व हो तो रोगी मरेगा नहीं । परन्तु शनिवार और आकाश-तत्त्व हो तो उसी रोगसे मर जायगा ।

(३) गर्भसम्बन्धी प्रश्न

(क) अमुक स्त्रीके गर्भ रहा है या नहीं, ऐसा प्रश्न वंद स्वरकी ओरसे किया जाय तो गर्भ है–ऐसा समझना चाहिये, अन्यथा नहीं ।

(ख) गर्भमें लड़का है या लड़की, इस प्रश्नके जवाबमें प्रश्नकर्ताका यदि बायाँ स्वर चल रहा हो और अपना दक्षिण तो लड़का होकर मर जायगा–ऐसा कहे ।

(ग) यदि दोनोंहीके दक्षिण स्वर हो तो लड़का होगा और आनन्द-मङ्गल होगा ।

(घ) प्रश्नकर्ताका दक्षिण स्वर हो तथा उत्तरदाताका वाम, तो लड़की होकर मर जायगी ।

(ङ) यदि दोनोंका बायाँ स्वर हो तो लड़की होकर जीयेगी ।

(च) यदि सुषुम्णामें प्रश्न किया जाय तो गर्भपात होकर माताको कष्ट होगा ।

(छ) यदि गर्भसम्बन्धी प्रश्नके समय आकाशतत्त्व होगा तो भी गर्भपात होगा ।

(४) प्रवास या परदेशके सम्बन्धमें प्रश्न

क.	प्रश्न करते समय पृथिवी-तत्त्व हो तो	प्रवासमें कुशलता ।
ख.	,, ,, जल ,,	रास्तेमें पानीमें बाढ़ ।

ग. प्रश्न करते समय अग्नि-तत्त्व हो तो प्रवासमें कष्ट ।

घ. ,, ,, वायु ,, प्रवासी आगे चला गया है, ऐसा समझे ।

ङ. ,, ,, आकाश ,, ,, रोगी हो गया है, ,, ,, ।

च. ,, ,, सुषुम्णा और पृथ्वीतत्त्व तथा आकाशका संयोग हो तो प्रवासी मर जायगा ।

छ. ,, ,, पृथ्वीतत्त्व हो तो परदेशमें स्थिर है, ऐसा समझे ।

ज. ,, ,, जल ,, ,, ,, सुखी है ,, ,,

झ. ,, ,, अग्नि ,, ,, ,, रोगादि कष्टोंसे मुक्त समझे ।

ञ. ,, ,, वायु ,, ,, ,, अपने स्थानपर न होता हुआ अन्यत्र गया हुआ है, ऐसा समझे ।

ट. ,, ,, आकाश ,, ,, ,, मृत्यु हो गयी है, ऐसा जाने ।

(५) युद्धमें गये हुएके सम्बन्धमें प्रश्न

क. यदि पूर्णस्वरसे आकर पूर्णमें पूछे अर्थात् प्रश्नकर्त्ता और उत्तरदाताके स्वर एक हों तो युद्धमें गये हुएकी कुशल जाने ।

ख. यदि पृथ्वी-तत्त्व हो तो पेटमें घाव लगा है, ऐसा जाने ।

ग. ,, जल ,, ,, पैरमें ,, ,, ,, ।

घ. ,, अग्नि ,, ,, छातीमें ,, ,, ,, ।

ङ. ,, वायु ,, ,, जाँघमें ,, ,, ,, ।

च. ,, आकाश ,, ,, मस्तकमें ,, ,, ,, ।

छ. ,, सुषुम्णामें स्वर हो तो मृत्यु या कैद ,, ,, ।

यहाँ ऊपर कुछ प्रश्न तथा उनके जवाब देनेके तरीके बताये गये हैं । इस सम्बन्धमें विज्ञ पाठक विस्तारसे स्वयमेव प्रयत्न करके जान सकते हैं । अनुभव उन्हें विशेष विज्ञ बना सकेगा । अस्तु,

स्वरोदय-विज्ञानके सम्बन्धमें बहुत ही संक्षेपसे उपर्युक्त विवरण तैयार किया गया है । इसका विस्तार तथा बहुत-सी अन्य बातें इस लेखमें दी नहीं जा सकती थीं, यह पाठक समझ सकते हैं । अतएव जिज्ञासु विज्ञ पाठक हमें हमारी इस विवशताके लिये क्षमा करेंगे ।

सर्वोत्तम साधन—जनसेवा

(लेखक—पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी)

भगवत्प्राप्तिके अनेक साधन हैं—कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति आदि । परन्तु सर्वोत्तम साधन जनसेवा है । दीन-दुखियोंकी सेवा भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है । श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर इसका उल्लेख है और श्रीनाभादासजीने 'भक्त-माल'में अनेक ऐसे भक्तोंके चरित्र दिये हैं, जो जनसेवामें ही लगे रहते थे, इसीको भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन समझते थे और जो इसीके द्वारा कृतकृत्य हुए ।

इसमें किसी प्रमाणकी जरूरत नहीं है । आपकी आत्मा ही गवाही देगी । जब आप किसी दुःखी जीवकी कुछ मदद करते हैं, तब आपकी आत्मा प्रसन्न होती है और ऐसा लगता है कि मेरे इस कामसे भगवान् प्रसन्न हो रहे हैं ।

जनतामें जनार्दनका वास है । चलती-फिरती नारायणकी मूर्तियोंकी अर्चनाका महत्त्व बहुत बढ़कर है । निष्कामभाव-से, भगवत्प्राप्तिका साधन मानकर यदि जनताकी सेवा की जाय—दीन-दुखियोंके दुःख-दर्दमें मदद की जाय—तो भगवान्‌की प्रसन्नताका यह सबसे बड़ा कारण होगा ।

आजकल लोग जो जनसेवाका काम करते हैं, उसमें निष्काम मनोवृत्ति नहीं रहती । कुछ-न-कुछ स्वार्थ रहता है । राजनीतिक उत्कर्षकी भावना प्रधानतासे दिखायी देने लगी है । यह सब सकाम कर्म-प्रवृत्ति है । इसीको निष्कामभावसे किया जाय, तो यह सेवा निर्वाणप्राप्तिका प्रबलतम साधन है ।

भारतीय संत-समाजका इस युगमें अभीतक इस साधन-की ओर कम ध्यान गया है । आशा है, इसपर विचार किया जायगा ।

आरोग्य-साधन

(लेखक—राजज्यो० पं० श्रीमुकुन्दवल्लभजी मिश्र ज्यौतिषाचार्य)

आरोग्यं भास्करादिच्छेत्…………। (श्रीमद्भागवत)

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती व्यख्यन्महिषो दिवम् । (ऋ० १०।१८९)

इस ऊपरके वेदमन्त्रमें स्पष्ट कहा है कि भगवान् सूर्यकी रोचमाना दीप्ति अर्थात् सुन्दर प्रभा शरीरके मध्यमें मुख्य प्राणरूप होकर रहती है। इससे सिद्ध है कि शरीरका स्वस्थ, नीरोग, दीर्घजीवी होना भगवान् सूर्यकी कृपापर निर्भर है; क्योंकि सूर्यकिरणोंके द्वारा ही सारे जगत्में प्राणतत्त्वका सञ्चार होता है। प्रश्नोपनिषद्में लिखा है—

यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते । (१।६)

अर्थात् जब आदित्य प्रकाशमान होता है, तब वह समस्त प्राणोंको अपनी किरणोंमें रखता है।

इसमें भी एक रहस्य है। वह यह कि प्रातःकालकी सूर्य-किरणोंमें अस्वस्थताका नाश करनेकी जो अद्भुत शक्ति है, वह मध्याह्न तथा सायाह्नकी सूर्य रश्मियोंमें नहीं है।

उद्यन्नादित्यरश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशः । (अथर्व० ९।८)

वेद भगवान् कहते हैं कि प्रातःकालकी आदित्य-किरणोंसे अनेक व्याधियोंका नाश होता है। सूर्यरश्मियोंमें विष दूर करनेकी भी शक्ति है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'—स्वस्थ शरीरसे ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। एतदर्थ आरोग्यके इच्छुक साधकोंको भगवान् सूर्यकी शरणमें रहना अत्यावश्यक है। सूर्यकी किरणोंमें व्याप्त प्राणोंको पोषण करनेवाली महती शक्तिका निम्नलिखित सहज साधनसे आकर्षण करके साधक स्वस्थ, नीरोग और दीर्घजीवी होकर अन्तमें दिव्य प्रकाशको प्राप्त करके परमपदको भी प्राप्त कर सकता है। आलस्य या अविश्वासके वश होकर इस साधनको न करना एक प्रकारसे आत्मोन्नतिसे विमुख रहना है।

साधन—प्रातःकाल सन्ध्या-वन्दनादिसे निवृत्त होकर पहले प्रहरमें, जबतक सूर्यकी धूप विशेष तेज न हो, तबतक एकान्तमें केवल एक वस्त्र पहनकर और मस्तक, हृदय, उदर आदि प्रायः सभी अङ्ग खुले रखकर पूर्वाभिमुख भगवान् सूर्यके प्रकाशमें खड़ा हो जाय। तदनन्तर हाथ जोड़, नेत्र बंद करके जगच्चक्षु भगवान् भास्करका ध्यान करे। तद्यथा—

पद्मासनः पद्मकरो द्विबाहुः
पद्मद्युतिः सप्ततुरङ्गवाहनः ।
दिवाकरो लोकगुरुः किरीटी
मयि प्रसादं विदधातु देवः ॥

यदि किसी साधकको नेत्रमान्द्यादि दोष हो तो वह ध्यानके बाद नेत्रोपनिषद्का पाठ भी कर लेवे। तदनन्तर वाल्मीकिरामायणोक्त आर्ष आदित्यहृदयका पाठ तथा 'ॐ ह्रीं हंसः' इस बीजमन्त्रका कम-से-कम पाँच माला जप करके मनमें दृढ़ धारणा करे कि जो सूर्य-किरणें हमारे शरीरपर पड़ रही हैं और जो हमारे चारों ओर फैल रही हैं, उन सबमें रहनेवाली आरोग्यदा प्राणशक्ति मेरे शरीरके रोम-रोममें प्रवेश कर रही है। नित्य नियमपूर्वक दस मिनटसे बीस मिनटतक इस प्रकार करे। साथ ही रणत्-रणत् स्वरसे ॐकारका उच्चारण ब्रह्मरन्ध्रतक पहुँचाना चाहिये। ऐसा करनेसे अनोखा आनन्द तथा दिव्य स्फूर्तियुक्त तेज मिलेगा। यदि किसी श्रद्धालु साधकको कष्टसाध्य अथवा असाध्य उरःक्षत, राजयक्ष्मा अथवा कुष्ठादि रोग अत्यन्त कष्ट दे रहे हों तो उन्हें चाहिये कि उपर्युक्त साधनके साथ-साथ निम्नलिखित काम्य रविव्रत भी करें। ऐसा करनेपर मेरा विश्वास है कि निश्चय ही इच्छानुसार लाभ होगा। यह व्रत गुरु-शुक्रास्तादि दोषसे रहित मार्गशीर्ष शुक्लपक्षसे प्रारम्भ करना चाहिये।

व्रती साधकको चाहिये कि रविवारको सूर्योदयसे ५ घड़ी पूर्व उठकर शौचशुद्धिके बाद ताज़े या भिगोये हुए अपामार्ग (औंगा-पुठकंडा) की दाँतनसे मुखशुद्धि करे। तदनन्तर स्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर उपर्युक्त साधन करके भगवान् सूर्यके सम्मुख (चान्द्रमानसे) मार्गशीर्ष हो तो पहले दिनके तोड़े हुए और भगवान्को समर्पण किये हुए केवल तुलसीके तीन पत्रमात्र, पौषमें ३ पल गोघृत, माघमें ३ मुट्ठी तिल, फाल्गुनमें ३ पल गौका दही, चैत्रमें ३ पल गौका दूध, वैशाखमें सवत्सा गौका बदरीफलप्रमाण

(बेर-जितना) गोबर, ज्येष्ठमें ३ अञ्जलि गंगाजल (अभावमें भगवान्‌का चरणामृत), आषाढ़में ३ दाने काली मिर्च, श्रावणमें ३ पल जौका सत्तू, भाद्रपदमें सवत्सा गौका ३ चुल्लू गोमूत्र, आश्विनमें ३ पलमात्र चीनी तथा कार्तिकमें ३ पल* हविष्य भक्षण करे।

ऊपर जो द्वादश मासोंके रविवारोंकी भक्ष्य वस्तुएँ लिखी हैं, उनके अतिरिक्त अन्य वस्तु उस दिन मुखमें न डाले। भक्ष्य पदार्थके भक्षण करनेके अनन्तर आचमन करके मुख-शुद्धि अवश्य करे। जहाँ केवल जलमात्रका ही वचन है, वहाँ आचमनकी आवश्यकता नहीं है। व्रती साधक उस दिन मौनधारणपूर्वक मनमें उपर्युक्त बीजमन्त्रका स्मरण करता हुआ एकान्तसेवन करे और सुबह, दुपहर तथा सन्ध्याके समय रोली, पुष्प और चावलोंसे युक्त जलका अर्घ्य भी अवश्य दे। रात्रिको महामहिम श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य-कृत आत्मविलासादि सच्छास्त्राध्ययनसे अपनी आत्माको पवित्र करके जमीनपर या काठके तख्ते अथवा चौकीपर पूर्वकी ओर सिर करके सोवे।

साधको! इस रविव्रतसे स्वास्थ्यमें जो वर्णनातीत लाभ होता देखा गया है, वह किसी भी मानवीय औषधसे शतांशमें भी नहीं होता—ऐसा मेरा अनुभव है। यदि कोई साधक इस व्रतको बारह सालतक विश्वासपूर्वक करे तो पूर्णकाम होकर ब्रह्मरूप हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ तो केवल दृढ़ श्रद्धा-भक्तिकी आवश्यकता है। कहाँतक लिखा जाय, कुछ समयतक विधिवत् इस साधनके करनेसे भगवान् भास्करकी कृपाका अद्भुत फल अपने-आप ही प्रत्यक्ष हो जायगा।

स्मरण रहे कि सूर्यके सामने मल-मूत्रका त्याग करना सभीके लिये, खास करके सूर्योपासकके लिये तो सर्वथा निषिद्ध है। रविवारको तैल, स्त्री-संसर्ग तथा नमकीन पदार्थका त्याग करना साधारण रविव्रत कहाता है।

साधनाका मथितार्थ—सेवा

(लेखक—पं० श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, सांख्य-योग-वेदान्त-न्याय-तीर्थ)

मनुष्यका परम लक्ष्य है भगवत्प्राप्ति अथवा भगवत्स्वरूपप्राप्ति। सब साधन—योग, तप, ध्यान आदि—उसी लक्ष्यतक पहुँचानेके लिये हैं। साधन स्वयं लक्ष्य नहीं होता, वह तो साध्यप्राप्तिका उपाय भर होता है। भगवान्‌का दर्शन करना कौन नहीं चाहता? भगवान्‌को प्राप्त करनेका अर्थ है पूर्णत्वकी प्राप्ति—उपनिषद्‌के शब्दोंमें 'भूमस्वरूपाधिगति।' विद्या, बल, ऐश्वर्य और आनन्द आदिमें निरपेक्ष स्थितितक पहुँचनेकी इच्छा मानवमात्रकी है। मनुष्यकी इच्छाओंको हम मुख्यतया तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—

१—'मा न भूवं भूयासम्'—अमर जीवन अर्थात् सत्ताकी पूर्णता।

२—मैं सबसे अधिक ज्ञानी बनूँ अर्थात् चितिकी पूर्णता।

३—दुःखके लेशसे भी असंस्पृष्ट सुखप्राप्ति अर्थात् आनन्दकी पूर्णता।

इस प्रकार मनुष्यकी इच्छा है कि वह सच्चिदानन्द बने। सभी मनुष्य, चाहे वे परमात्माको मानते हों अथवा नहीं, उक्त तीन पूर्णताओंको किसी-न-किसी रूपमें चाहते हैं। मनुष्यकी यह प्रकृति है, न चाहते हुए भी वह इससे प्रेरित हो रहा है। 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।' (गीता)

इस प्रकार मनुष्य अपने चरम लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये ही सब कुछ कर रहा है। यह साधना मनुष्य एक ही जन्ममें पूरी नहीं कर पाता—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।' (गीता) अनेक जन्मोंकी सिद्धिके अनन्तर मनुष्य उसे प्राप्त करता है। यदि कोई मनुष्य शरीरको साधनाका साधन न समझकर अपने लक्ष्यको भूल जाय तो वह कोल्हूके बैलकी भाँति अनेक जन्मोंमें भी वहीं-का-वहीं रहेगा। इसलिये अनुभवी महात्माओंने साधकोंको साधनाके साधन और स्वरूप समझाये हैं, जिसमें उनपर आचरण करके कोई भी अपना लक्ष्य प्राप्त कर ले। अनुभवियोंके अनुभव-प्रयोगकी दशाएँ विविध हों, तब भी उनका परीक्षाप्रकार अथवा मथितार्थ एक ही है। और वह है नरके रूपमें नारायणकी सेवा। जिस प्रकार विविध श्रेणियोंमें विषय और पढ़ाईका भेद होता है अथवा एक भी श्रेणीके विद्यार्थियोंको

* एक पल=३ तोले ४ माशेका होता है।

भिन्न-भिन्न अध्यापक अपने ही ढंगसे पढ़ाता है, पर सब अध्ययन-अध्यापनका मथितार्थ एक है, और वह है अक्षर-ज्ञान अथवा व्यवहार-ज्ञान; इसी प्रकार साधनाके रूपमें भी अधिकारिभेद अथवा प्रयोग-भेदसे भेद हो सकता है, परन्तु सबका मथितार्थ है भेदमें अभेदका साक्षात्कार । यह साक्षात्कार भी मानसिक चेष्टाभर नहीं, अपितु मानव-जीवनका नया कायाकल्प है ।

× × ×

तुम अपने प्राणस्वरूप भगवान्‌का साक्षात्कार करना चाहते हो ? सचमुच तुम्हारी यह हार्दिक अभिलाषा है ? यदि हाँ, तो आओ मेरे साथ चलो । देखो, मैं तुम्हें इस जनाक्रान्त स्थानसे दूर ले जाऊँगा । क्या पूछते हो, कहाँ ले जाओगे ? तुम चले चलो मेरे पीछे-पीछे । लो, यहाँ बाज़ारके चौकमें बड़े-बड़े आलीशान भव्य प्रासाद हैं । पक्की सड़क है । प्रकृतिपर विजय पानेवाले मानवने यहाँ रात्रिको भी बिजलीके प्रकाशमें दिन बना दिया है । इधरसे उधर मोटरें, ट्राम और अन्य विविध यान धनी-मानी व्यक्तियोंको लेकर आ-जा रहे हैं । मैं यहाँ तुम्हें रोकना नहीं चाहता । यहाँ ब्रह्मका अविकृत रूप नहीं दीखेगा, यहाँ उसका मकान नहीं । उच्च अट्टालिकाओंमें वह नहीं मिलेगा । उसे आरामके लिये फ़ुरसत कहाँ ?

जहाँतक तुम्हारी आँखोंको चौंधिया देनेवाली वस्तुएँ दीखें, वहाँतक समझ लेना यहाँ तुम्हारा गन्तव्य नहीं मिलेगा । लो, अब शहरके उस हिस्सेमें आ पहुँचे, जहाँ मानवताकी उपेक्षाने मूर्तरूप धारण कर लिया है । यहाँ रोशनीका कोई इन्तज़ाम नहीं । एक छोटी-सी फूसकी झोंपड़ीमें, जिसमें मुश्किलसे दो चारपाइयाँ आ सकती हैं, छः बच्चोंकी माँ अपने पतिकी इन्तज़ारमें बच्चोंको सान्त्वना दे रही है । घर और उसके रहनेवाले मैले और दुर्गन्धसे युक्त हैं । यहाँ तुम नाकपर कपड़ा न रक्खो ।

तुम्हें तो भगवान्‌के दर्शन करने हैं न ? तो ज़रा अंदर चलो, यहाँ प्रभु मिलेंगे । जहाँ मानवताको ठोकरें पड़ती हैं, जहाँ निर्धनता नग्न ताण्डव करती है, जहाँ भूख और नंगापन साम्राज्य बनाकर रहते हैं, वहाँ तुम्हारा प्रियतम रहता है और मिलता है—दरिद्र, भूखे, नंगे और असहायके शरीरमें लड़खड़ाता हुआ । तुम यदि भगवान्‌को कुछ खिलाना पसंद करते हो तो दरिद्रको नारायण समझकर खिलाओ । यदि तुम भगवान्‌पर वस्त्र चढ़ाना चाहते हो तो ग़रीबकी झोंपड़ीमें जाकर श्रद्धापूर्वक दरिद्रनारायणके चरणोंमें वस्त्रों-की भेंट चढ़ाओ ।

यदि तुमने साधना की है तो यहाँ उसकी परीक्षा होती है । यह परीक्षा-केन्द्र है । यह साधना-परीक्षा-मन्दिर है । यदि तुम इसमें शत प्रतिशत अङ्क प्राप्त करना चाहते हो तो दरिद्रोंमें, पतितोंमें, भूखों और नंगोंमें तन्मय होकर उनके सेवक बन जाओ । और तुम्हारी परीक्षा पूरी तब होगी जब उस पतितको, निर्धनको, ग़रीबको भगवान्‌के रूपमें स्वयं ही नहीं देखोगे, संसारको दिखा दोगे; जब वह पतित न रहेगा, निर्धन न रहेगा, भूखा और नंगा न रहेगा । यह है भगवान्‌के साक्षात्कारका प्रकार । इसीका नाम है सेवा । ऋग्वेदमें इसीको कहा है—

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ।

भगवान्‌का यह व्रत है कि उन्होंने अपना घर पतितोंको—जनताको बनाया है । इन्हींको नर-नारायण कहते हैं ।

क्या कहते हो—यह कठिन है ? नहीं, वह तो सबसे सरल मार्ग है । इसका आनन्द भुक्तभोगी ही जानते हैं । स्वयं दरिद्रताको अपनानेमें कितना आनन्द है ? लाखों रुपये कमाकर दरिद्रनारायणके चरणोंमें भेंट चढ़ा देनेमें क्या अनिर्वचनीय आनन्द है—यह तो दूसरेके बतानेकी बात नहीं । 'गूँगे'की रसनाके सदृश अमीचंद बतावे किसे कि हमने क्या रस उड़ाया ?—यह उक्ति उसके मुँहसे निकलेगी जो इस मार्गका पथिक होगा ।

'अत्रा सखायः सख्यानि जानते ।' (ऋग्वेद)

× × ×

कुछ दिन पहलेकी बात है, हमारे पड़ोसमें एक मोटर-ड्राइवर रहता था । एक दिन सुबह ही मैंने देखा वह अपनी मोटरको साफ़ कर रहा है । मैंने सोचा मोटरमें कुछ खराबी आ गयी होगी । दोपहरको जब मैं उधरसे गुज़रा, तब भी सफ़ाई ही हो रही थी ।

क्यों साहब, क्या कर रहे हो ? 'साफ़ कर रहा हूँ ।' शाम-को फिर वही सफ़ाई । 'आखिर, भाई, कर क्या रहे हो ?' 'सफ़ाई ।' उत्तर मिला ।

लगातार कई दिनोंतक यह सफ़ाई होती रही । जब मैंने देखा कि इसकी तो कहीं समाप्ति नहीं, तब मैं

यह कह ही बैठा 'आप मोटरको साफ़ ही करते रहते हैं कि कभी चलाते भी हैं ?'

'यदि चलायेंगे तो मोटर ख़राब हो जायगी, साहब !' 'तो इसकी अच्छाईका कैसे पता चलेगा ?'

'मैं तो चलानेके लिये सफ़ाई नहीं करता, सफ़ाई सफ़ाईके लिये करता हूँ ।' वे बोले । 'तब तो फिर आपका स्थान भूलोकमें नहीं, या तो देवलोकमें अथवा आगरेमें या बरेलीमें ।'

× × ×

साधनाका भी उद्देश्य है नर-नारायणके साथ तन्मयताकी तैयारी । इसीको 'आत्मदर्शन' कहते हैं ।

जबतक कहीं भी पाप, अनाचार, भूख, नंगापन, दरिद्रता, निरक्षरता, अन्याय और विषमता है, तबतक साधककी साधना चलती ही रहती है, वह अपूर्ण ही है । जो नर-नारायणसे प्रेम नहीं करते, उनका अपमान करते हैं, वे साधनासे कोसों दूर हैं । भगवान्‌के शब्द हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् । (गीता)

अर्थात् वे मनुष्य मूढ हैं, जो मनुष्यके शरीरमें दृष्टिगोचर होनेवाले (नर-नारायण) मेरा अपमान करते हैं । सेवा ही साधनाका मथितार्थ है और भगवत्प्राप्तिका सुपरीक्षित राजमार्ग है । कलिकालमें तो यह भगवत्प्राप्तिका अनुपम साधन है ।

आजकी साधना

(लेखक—बाबा राघवदासजी)

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।'

—गीता

मनुष्यका शरीर और आत्मा—ये दोनों अलग-अलग होते हुए भी जीवन-कालमें एक-दूसरेसे इतने अभिन्न रहते हैं कि इनको दो कहनेमें संकोच होता है । शरीरके स्थूल, सूक्ष्म, कारण या महाकारण—कितने भी भेद किये जायँ, तो भी अजर-अमर आत्मासे उनका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि साधारण मनुष्य अपने चर्म-चक्षुओंसे उनको आत्मासे अलग देखनेमें असमर्थ ही रहता है । आत्माके बारेमें हमारे उपनिषदों और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने जो कुछ प्रतिपादन किया है, वह संसारके लिये एक अमूल्य देन है । उससे अधिक आत्माके विषयमें कोई क्या कह सकता है ? परन्तु शरीरके सम्बन्धमें लोग नित्य नये-नये विचार करते रहते हैं । वर्तमान संसारमें तो शरीरको लेकर नाना प्रकारके विचार हो रहे हैं । आजकल हमलोग जितने 'वाद' या 'इज़म' की बातें पढ़ते-सुनते हैं, वे सब शरीरके सम्बन्धमें किये गये विचार ही तो हैं । 'शरीर' शब्दसे जिस प्रकार आयुर्वेदशास्त्रकथित शरीरका बोध होता है, उसी प्रकार उससे राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक शरीरका भी बोध होता है । चूँकि आजकल इस भौतिक संसारमें सर्वत्र राजनीतिका ही बोलबाला है, इसलिये हम यहाँ राजनैतिक दृष्टिकोणसे ही शरीर तथा साधनाका यत्किञ्चित् विचार करें तो अनुचित न होगा ।

राजनीतिमें आजकल शरीरकी रक्षा तथा विनाशके लिये जितना विचार किया जाता है, उतना शायद ही किसी दूसरे शास्त्रमें किया जाता होगा । वर्तमान महायुद्ध इसका एक सुन्दर उदाहरण है । इन दिनों संसारके बड़े-बड़े आला-दिमाग इसी योजनाके अनुसन्धानमें लगे हुए हैं कि कम-से-कम समयमें लाखों आबाल-वृद्ध नर-नारियोंके शरीर किस प्रकार नष्ट किये जा सकते हैं । इसी तरह दूसरी ओर संसारके अच्छे-अच्छे मस्तिष्क छल-कपट और कूटनीतिके द्वारा अरबोंका व्यापार करके अपने-अपने देशके करोड़ों भाई-बहिनोंके शरीरको किस प्रकार पाला-पोसा जा सकता है, इसका उपाय सोचनेमें लगे हैं । इन परस्परविरोधी उद्योगोंमें मानव-शरीरकी विडम्बना भरी है या स्तुति, यही समझमें नहीं आता ।

मनुष्य-शरीरकी जो यह दुर्गति या अन्धपूजा हो रही है, उसे देखकर मनमें यह भाव आता है कि यदि इन दोनोंके बीचका कोई रास्ता—मध्यम मार्ग निकल आता तो उससे जगत्‌का वास्तविक कल्याण होता । यहीं 'साधना' का प्रश्न उपस्थित होता है । संसारके सभी संतोंने—चाहे वे हिंदू हों अथवा बौद्ध, सिक्ख हों या ईसाई, पारसी हों या मुसलमान—एक स्वरसे साधनापर जो विशेष जोर दिया है, वह इसलिये नहीं कि वे इन बड़ी-बड़ी बातोंका प्रचार करके अपनेको पुजावें; बल्कि उनका उद्देश्य यह रहा है कि मानव-शरीरकी अवहेलना तथा उपासनाके कारण